पतञ्जलिमुनिविरचितम्

महाभाष्यम्

हिन्दी-व्याख्यया सहितम्

सप्तमो भागः (षष्ठोऽध्यायः)

डॉ॰ सुद्युम्न आचार्यः

ओ३म्

पतञ्जलिमुनि-विरचितम्

व्याकरणमहाभाष्यम्

हिन्दी-व्याख्या-सहितम्

सप्तमो भागः [षष्ठोऽध्यायः]

व्याख्याकार :
राष्ट्रपतिः सम्मानितः

डॉ० सुद्युम्न आचार्यः

पूर्व प्रोफेसर
व्याकरणाचार्य, एम०ए० (अष्टस्वर्णपदक-विजेता), डी० फिल्०,
निदेशक—वेद वाणी वितान, प्राच्य विद्या शोध संस्थान
बैंक कालोनी रोड, कोलगवाँ, सतना-४८५००१ (म०प्र०)
दूरभाष : ०७६७२, २५०६६४, ९७५२७८९२७०
E-mail : drsudyumna.acharya@gmail.com
web: www.vedvanivitan.com

ट्रस्ट के उद्देश्य

प्राचीन भारतीय साहित्य का अन्वेषण, उस की रक्षा
तथा प्रचार एवं भारतीय संस्कृति, भारतीय शिक्षा,
भारतीय विज्ञान और चिकित्सा
द्वारा
जनता की सेवा।

प्रकाशक : **रामलाल कपूर ट्रस्ट**
रेवली, पोस्ट—ई०सी० मुरथल,
जिला—सोनीपत (हरियाणा)
दूरभाष : ७०८२१११४५६
Website : www.rlktrust.com, rlktrust@yahoo.in

संस्करण : प्रथम , ६०० प्रतियाँ
२०७४ विक्रमी संवत्, अगस्त सन् २०१७ ई०

मूल्य : ७००.०० रुपये

टाइप-सैटिंग : **स्वस्ति कम्प्यूटर्स,** करनाल (हरियाणा)
दूरभाष : ०९२५५९-१२३१४

मुद्रक : **जापान आर्ट प्रैस,** नारायणा, दिल्ली-२८

भूमिका

संस्कृत व्याकरण भूषण पातञ्जल महाभाष्य के व्याख्या-क्रम में षष्ठ अध्याय के प्रथम खण्ड के अन्तर्गत प्रथम पाद की व्याख्या प्रस्तुत है। यह **रामलाल कपूर ट्रस्ट** के पवित्र उद्देश्य **'प्राचीन भारतीय साहित्य का अन्वेषण, उसकी रक्षा तथा प्रचार'** को सम्पुष्ट एवं सुप्रचारित करता है। यह पूज्यपाद पं० युधिष्ठिर मीमांसक की वैदुष्य-परम्परा को आगे बढ़ाने का उपक्रम है तथा उनके बचे हुए कार्य को पूर्ण करने का विनम्र प्रयास है।

यह कार्य पूज्य आचार्य विजयपाल जी विद्यावारिधि की प्रेरणा से प्रारम्भ किया गया है। इन पंक्तियों के लेखक के लिये उनकी प्रेरणा आज्ञा के समान थी। उनकी यह हार्दिक इच्छा थी कि वे इस कार्य को पूर्ण देखें। परन्तु हम इस समय अश्रुपात के अलावा कुछ नहीं कह पा रहे हैं कि वे इसे पूर्ण देखे बिना कथावशेष हो गए हैं। हमारा मन यह जानते हुए भी तथा इस प्रकार धीरज बंधाने पर भी सन्तुष्ट नहीं हो पा रहा है कि उनका यश:शरीर संस्कृत साहित्य के आकाश में दीप्तिमान् नक्षत्र की भांति सदा सन्देश देता रहेगा। आनन्द वर्धन के शब्दों में उनका यश:शरीर सदा सर्वदा शोभायमान बना रहेगा।

उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम्।
आस्त एव निरातङ्कं कान्तं यशोमयं वपुः।

पूज्यपाद पण्डित जी तथा पूज्य आचार्य जी की इस प्रेरणा का कारण यह दृढ़ विश्वास था कि पातञ्जल महाभाष्य व्याकरण की उच्चतम मनीषा का मानक ग्रन्थ है। उनके पश्चात् के सैकड़ों प्रख्यात ग्रन्थ उस मनीषा से परिचालित हुए हैं। पर धीरे-धीरे उसके नाम उल्लेख से दूर होते रहे हैं। इस सम्पूर्ण व्याकरण-वृक्ष की सुरक्षा के लिए उसके मूल की सुरक्षा परम आवश्यक है।

पातञ्जल महाभाष्य के प्रस्तुत षष्ठ अध्याय के प्रथम पाद में अनेक ऐसे वचन हैं, जिनसे पाणिनीय व्याकरण को प्रतिष्ठा मिली है। महाभाष्यकार ने अनेक स्थानों पर पाणिनि की समीक्षा, आलोचना की है तथा कहीं-कहीं कुछ सूत्र-वचनों का आनर्थक्य भी बताया है। यह सब होते हुए अन्ततः उनका मानना है कि उनकी सम्पूर्ण समीक्षा, समूची आलोचना वाणी-विलास-मात्र है। वास्तव में वे सम्पूर्ण शास्त्र में कुछ भी अनर्थक नहीं देखते—

सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदस्मिन्
पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्

—'इको यणचि' ६.१.७७ पर महाभाष्य

महाभाष्यकार का यह वचन पिछली शताब्दी के महान्‌तम विज्ञानी आइंस्टाइन की इस कहानी की याद दिलाता है। एक बार कुछ लोगों ने उनसे पूछा कि आपने तो महान् विज्ञानी न्यूटन की बहुत सी गलतियाँ बताई हैं, तो आप उनसे बड़े हो गये। आइंस्टाइन ने कहा कि मेरा वाग्व्यापार वैसा ही है, जैसे कोई बच्चा अपने पिता के कन्धे पर बैठकर उछल-कूद मचावे! कन्धे पर बैठकर कुछ ज्यादा दूरी तक देखने से कोई बच्चा पिता से बड़ा नहीं हो जाता!!

महाभाष्यकार अपनी सूक्तियों, मुहावरों, लौकिक न्यायों के लिये प्रख्यात रहे हैं। वास्तव में उनकी अनेक सूक्तियाँ युगों-युगों तक विद्वानों तथा सामान्य जनों की वाणी की अलङ्कार बनी हैं। प्रस्तुत अध्याय में उनकी यह सूक्ति आगे अनेक रचनाओं की प्रेरणा बनी—

एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति

—'एकः पूर्वपरयोः' ६.१.८४ पर महाभाष्य

अर्थात् भली प्रकार जाना तथा प्रयोग किया गया एक शब्द भी सुन्दर स्थानों में सभी कामनाओं को परिपूर्ण करने वाला होता है।

इसके आधार पर महावैयाकरण भर्तृहरि ने माना कि शुद्ध शब्द परम ज्योति है तथा इसे प्राप्त करने का मार्ग यह व्याकरण है—

प्राप्तरूपविभागाया यो वाचः परमो रसः।

यत्तत् पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः।

—वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड श्लोक १२॥

महाभाष्यकार के अनुसार किसी एक शब्द का बढ़िया सुस्थान में प्रयोग तो केवल उदाहरणमात्र, केवल एक बानगी है। वास्तव में एक शब्द का भी सुन्दर और सटीक प्रयोग सैकड़ों व्याकरणसम्मत शब्दों के भली प्रकार ज्ञान पर निर्भर होता है।

प्रस्तुत अध्याय का विषय—तृतीय से पञ्चम अध्यायों में धातु तथा प्रातिपदिक के साथ प्रत्ययों की संयोजना का निरूपण सम्पन्न हुआ है। इस छठे अध्याय में इस संयोजना के क्रम में ध्वनि-परिवर्तन तथा इस प्रकार सम्पूर्ण शब्द की साधिका को प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय के प्रथम पाद में प्रमुखतः द्विर्वचन, सम्प्रसारण तथा सन्धि-कार्यों का वर्णन है। विशेषतः क्रियावाचक शब्दों के कुछ प्रयोगों में किन्हीं अक्षरों के दोहराव की प्रवृत्ति पाई गई है। इसका विस्तृत वर्णन इस पाद में है।

अन्तःस्थ यण् अक्षरों तथा स्वर इक् अक्षरों के मध्य एक-दूसरे के स्थान में आदिष्ट होने की स्थिति देखी गई है। यण् अक्षर अर्धमात्रिक तथा स्वर अक्षर एकमात्रिक माने जाते हैं। अतः यण् के स्थान में इक् होने की स्थिति में इसकी मात्रा में वृद्धि होती है। अतः सूत्रकार ने इस संक्रिया को अन्वर्थ रूप से 'सम्प्रसारण' नाम प्रदान किया है। साथ ही इक् के स्थान में यण् होने की विलोम संक्रिया किसी तत्काल उपस्थित स्वर की दशा में ही सम्पन्न होती है। अतः सूत्रकार ने इसे संहिता के

अधिकार में अनुशासित किया है। सन्धि के अन्य अनेक प्रकार्य जो कि दैनिक उच्चारण में अनायास सम्पन्न प्रतीत होते हैं, उनका भी विस्तृत निरूपण इस पाद में प्राप्त होता है। इसके साथ ही वेदमन्त्रों की विशेष पहचान—स्वरों का अनुशासन भी इस पाद में उपलब्ध होता है।

अर्थ-विज्ञान के लिए प्रेरणाएँ

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इन सभी विषयों पर गम्भीर चिन्तन प्रस्तुत किया है। साथ ही अर्थ-विज्ञान जैसे अनेक विषयों पर प्राचीन अनेक शास्त्रों तथा आधुनिक भाषा विज्ञान को भी प्रेरणा प्रदान की है। इसके लिए उनके अनेक प्रकरणों को एक साथ रखने पर एक स्पष्ट चित्र उपस्थित होता है।

महाभाष्यकार ने माना कि समाज में उपलब्ध अनेक कारणों से प्रचलित शब्दों का अर्थ-विकास या उनमें अर्थ-परिवर्तन होता रहता है। उन्होंने कुछ प्रसङ्गों में इस परिस्थिति को समास तक सीमित रखा है। '**समर्थः पदविधिः**' (२.१.१) के महाभाष्य में विग्रह वाक्य से समास में जहत्स्वार्था तथा अजहत्स्वार्था के नाम से दो प्रकार के परिवर्तन बताए हैं। प्रस्तुत छठे अध्याय के '**एकाचो द्वे प्रथमस्य**' (६.१.१) में एक वार्तिक की व्याख्या के अवसर पर इन्हीं उपभेदों को तद्गुण-संविज्ञान तथा अतद्गुण-संविज्ञान के रूप में प्रस्तुत किया है।

आगे चलकर दर्शन-शास्त्र के विद्वानों ने अनुभव किया कि ये उपभेद समास के अलावा अन्य शब्दों में भी उपलब्ध होते हैं। अतः उन्होंने सभी शब्दों के ये उपभेद मान्य किये तथा महाभाष्यप्रोक्त के सादृश्य पर जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा ये नाम प्रदान किये। वेदान्त में 'तत्त्वमसि' महावाक्य की व्याख्या के लिये इनका उपयोग किया गया।

न्याय-शास्त्र तथा नव्य व्याकरण में भी इन निरूपणों को आधार बनाया गया तथा साहित्य शास्त्र में अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना इन तीन वृत्तियों का विस्तृत निरूपण किया गया, जिनसे अभिधेय, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य—ये तीन प्रकार के शब्दार्थ सम्पन्न होते हैं। न्याय में लक्ष्यार्थ के सबसे प्रमुख उदाहरण के रूप में 'गङ्गायां घोषः' को प्रस्तुत किया। यह उल्लेख रोचक है कि यह उदाहरण मूलतः '**पुंयोगादाख्यायाम्**' (४.१.४८) के महाभाष्य में प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार महाभाष्यकार 'लक्षणा' शब्द का नाम न लेकर भी लक्ष्यार्थ के सबसे पहले अनुसन्धाता रहे हैं।

इस प्रकार अभिधा, लक्षणा और निरूढलक्षणा से शब्दों में अनेक प्रकार के अर्थ-परिवर्तन होते हैं। पहले कोई शब्द धातु, प्रत्यय के आधार पर किसी मूल अर्थ को प्रस्तुत करता है। पश्चात् कभी-कभी किसी वाक्य में प्रसंगवश वह शब्द तत्सदृश या तत्समीप अर्थ को प्रकट करने लगता है। जैसे—गङ्गायां घोषः में 'गङ्गा' का अर्थ गङ्गासमीप तट होता। आगे चलकर कोई शब्द अपने लक्ष्यार्थ में रूढ हो जाता है। तब वह तत्सामीप्य की अपेक्षा किये बिना भी लक्ष्यार्थ को प्रकट करता है। तब उसे निरूढलक्ष्यार्थ कहते हैं।

इस सम्पूर्ण विवेचना को एकत्र करने पर अर्थ-विकास का क्रम इस प्रकार दृष्टिगोचर होता है—

अर्थ-परिवर्तन के कारण→	अभिधा	लक्षणा	निरूढलक्षणा
	↓	↓	↓
अर्थ-परिवर्तन की दिशाएँ→	यौगिक	योगरूढ	रूढ

महाभाष्यकार ने इन उपभेदों का नाम न लेकर भी इसके उदाहरण इस अध्याय में प्रस्तुत किये हैं—

वपिः प्रकिरणे दृष्टः, छेदने चापि वर्तते—केशान् वपति।

करोतिरयम् अभूतप्रादुर्भावे दृष्टः, निर्मलीकरणे चापि वर्तते—पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु, उन्मृदानेति गम्यते।

अर्थात् वप् धातु बोना अर्थ में है, काटने अर्थ में भी देखी जाती है। कृ धातु नए निर्माण अर्थ में है, साफ करने अर्थ में भी दृष्ट है।

यहाँ वप् धातु का बोना अर्थ मौलिक अथवा अभिधामूलक है। इस प्रक्रिया में बीज का विनाश तथा अंकुर की उत्पत्ति होती है। साथ ही बाल काटने की संक्रिया में भी बालों का छेदन तथा सुन्दर मुण्डित चेहरे का प्राकट्य होता है। अतः इस सादृश्य से लक्षणा द्वारा केश छेदन को भी 'वपति' कहा गया है। इस प्रकार यहाँ निरूढलक्षणा द्वारा इस नए अर्थ का विकास हुआ है।

इसी प्रकार संस्कृत में 'घड़ा बनाता है' इस अर्थ में 'करोति' का प्रयोग होता रहा है। इसके सादृश्य पर किसी भी उपाय से किसी भी अन्य उत्पत्ति के लिये लक्षणा द्वारा 'करोति' का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। यहाँ 'पृष्ठं कुरु' का अर्थ पीठ की मालिश करते हुए सफाई करना, यह है। यहाँ एक विशिष्ट पीठ की उत्पत्ति मानते हुए कृ धातु का प्रयोग किया गया है। संस्कृत में तथा आगे चलकर हिन्दी आदि भाषाओं में भी यह धातु सामान्य क्रियावाचक के रूप में विकसित हुई है। क्योंकि हर क्रिया में कोई नवीन उत्पत्ति होती है। इस प्रकार लक्षणा द्वारा क्रियासामान्य के लिए इस धातु का प्रचलन हो सका है।

महाभाष्य की यह व्याख्या किसी एक स्थान पर उपलब्ध नहीं है। अनेक प्रसङ्गों के संग्रह से तथा उत्तरवर्ती व्याख्याओं को मिलाने से इसकी सम्प्रतीति होती है। प्रत्येक दशा में अर्थ-विकास की मौलिक व्याख्या का श्रेय महाभाष्यकार को प्राप्त होता है।

उपसर्गों का वाचकत्व या द्योतकत्व

महाभाष्यकार ने प्रस्तुत छठे अध्याय में **'सुट् कात् पूर्वः'** (६.१.१३५) सूत्र में तथा इससे पूर्व भी उपसर्गों के वाचक या द्योतक होने का प्रसंग उठाया है। उन्होंने कुछ व्याख्याओं के लिये वाचक पक्ष तथा अन्य के लिये द्योतक पक्ष को प्रमुखता दी है। महाभाष्यकार के इन वचनों से प्रेरणा प्राप्त करके आगे वैयाकरणों ने इसका बहुत

विस्तार किया है। यहाँ सभी ने यह स्वीकार किया है कि, किसी एक पक्ष को मान्यता देकर सम्पूर्ण व्याख्या सम्भव नहीं है। अतः सभी ने अलग-अलग व्याख्याओं के लिए दोनों पक्षों को स्वीकार किया है।

महाभाष्यकार के निम्न वचनों से उपसर्गों के वाचक तथा द्योतक पक्ष की स्थापना होती है—

१. उपसर्गों का वाचकत्व पक्ष→पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन।

२. उपसर्गों का द्योतकत्व पक्ष→पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण।

यहाँ उपसर्गों के वाचकत्व पक्ष में उपसर्गों की उपस्थिति में धातु से भिन्न किसी नए अर्थ के आगमन पर उसका उत्तरदायी उपसर्ग को मानना होगा। जैसे 'प्रहरति' शब्द का अर्थ 'हरति' के 'ले जाना' अर्थ से भिन्न 'मारना' यह होता है। इस नए अर्थ का वाचक 'प्र' उपसर्ग है। अतः इस नए अर्थ के कर्ता को प्रकट करने के लिए धातु का पहले उपसर्ग के साथ सम्बन्ध होना आवश्यक है। इस सम्बन्ध से नए क्रियार्थ को प्राप्त कर लेने पर साधन के साथ सम्बन्ध से उस नए क्रियार्थ का कर्ता, यह बताना सम्भव हो पाता है। इससे भिन्न दशा में द्योतकत्व पक्ष सम्भव होता है।

यहाँ अलग-अलग व्याख्याओं के लिए अलग-अलग पक्षों की स्थापना की गई है। **'उपपदमतिङ्'** (२.२.१९) सूत्र में उपरिलिखित दोनों पक्षों को उठाकर द्वितीय द्योतकत्व पक्ष को मान्य ठहराया है। परन्तु प्रस्तुत छठे अध्याय के **'सुट् कात्पूर्वः'** (६.१.१३५) सूत्र में द्वितीय द्योतकत्व पक्ष का खण्डन करते हुए प्रथम वाचकत्व पक्ष की स्थापना की है।

यहाँ संक्षेप से यह देख लेना आवश्यक है कि अलग-अलग व्याख्याओं के लिए अलग-अलग पक्षों की आवश्यकता क्यों होती है—

१. द्वितीय द्योतकत्व पक्ष की स्थापना का सबसे प्रमुख कारण यह है कि इससे सभी धातुओं के ठीक पूर्व अट् की सिद्धि हो पाती है। व्याकरण में उपसर्गयुक्त 'संहृ' से भी लङ् लकार में हृ से पूर्व अट् हो कर 'समहरत्' आदि रूप बनते हैं। यहाँ कहीं भी उपसर्गों से पूर्व अट् नहीं होता। यह इस स्थापना पर ही सम्भव है कि उपसर्गयुक्त होने पर भी केवल धातु का सीधा सम्बन्ध प्रत्यय के साथ होता है। उपसर्ग केवल द्योतक रूप में उपस्थित होता है।

२. वाचकत्व पक्ष की स्थापना का प्रमुख कारण यह है कि इससे धातु के अकर्मक होने पर भी उपसर्गयुक्त के सकर्मक होने से कर्म में लकार की उत्पत्ति हो जाती है। जैसे—भू धातु अकर्मक है, परन्तु उपसर्गपूर्वक 'अनुभू' सकर्मक है। यहाँ सम्पूर्ण 'अनुभू' को सकर्मक धात्वर्थ माना जाता है। इससे उपसर्गों की वाचकता ज्ञापित होती है।

उपसर्गों की वाचकता उन धातुओं से सर्वथा प्रकट है, जो नियमित रूप से

उपसर्ग से सम्बन्धित होती हैं तथा इस प्रकार वे अलग धातु के रूप में ख्यात हो चुकी हैं। समाज में किसी-किसी धातु का किसी उपसर्ग के साथ नियमित प्रयोग होने लगता था। ऐसी दशा में सोपसर्ग को एक अलग धातु मान लिया जाता था। उदाहरणत:, गति अर्थ में 'ईर' धातु प्रसिद्ध रही है। इससे सम् तथा नि उपसर्ग लगाकर क्रमश: समीर तथा नीर रूप सिद्ध होते हैं। इनका उपसर्गत्व परिज्ञात रहा है। परन्तु इसी ईर धातु का 'वि' उपसर्ग के साथ मिलकर एक विशिष्ट क्रिया अर्थ में इतना नियमित प्रयोग हुआ कि इसका उपसर्गभाव विलुप्त हो गया तथा धातुपाठ में इस सम्पूर्ण 'वीर' को एक धातु के रूप में स्थान प्राप्त हुआ। इस स्थिति में इस उपसर्ग+धातु की मिलकर वाचकता प्रमाणित होती है।

इस विवेचना से प्रकट है कि अलग-अलग कार्यों की सिद्धि के लिये दोनों पक्षों की स्थापना आवश्यक है। महाभाष्यकार ने अलग-अलग प्रसङ्गों में ऐसा ही किया है। इसीलिये परवर्ती वैयाकरणों ने भी दोनों पक्षों को मान्यता प्रदान की है।

महाभाष्यकार के युग में स्वर प्रक्रिया क्षीणता की ओर अग्रसर थी। तभी उन्होंने अन्य प्रसङ्ग में उदात्त आदि के अभेदक पक्ष की स्थापना की है। फिर भी उन्होंने इस पाद में उतनी ही तत्परता के साथ स्वरविधायक सूत्रों की भी व्याख्या की है।

इस प्रकार यह महाभाष्य युगों तक व्याकरण में पाण्डित्य का निकष रहा है। यह वेदों के मुख व्याकरण का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ होने से स्वयं वेदों का सदन या निवास-स्थान बन सका है। अत: इसका अध्ययन करने वाला व्यक्ति वेदों को भली प्रकार जान पाता है, अन्य शास्त्रों की तो बात ही क्या! महाविज्ञानी भास्कराचार्य के शब्दों में—

यो वेद वेदवदनं सदनं हि सम्यक्
ब्राह्मया: स वेदमपि वेद किमन्यशास्त्रम्।

विदुषां विधेय:
सुद्युम्न:

ओ३म्

श्रीमद्भगवत्पतञ्जलिमुनिविरचितम्

व्याकरणमहाभाष्यम्

[हिन्दी-व्याख्या-सहितम्]

एकाचो द्वे प्रथमस्य॥ ६.१.१॥

एकाच इति किमयं बहुव्रीहिः—एकोऽज्यस्मिन्स एकाच्, एकाच इति। आहोस्वित्तत्पुरुषोऽयं समानाधिकरणः—एकोऽच्—एकाच्—एकाच इति। किं चातः? यदि बहुव्रीहिः, सिद्धं—पपाच, पपाठ। इयाय, आरेति न सिध्यति। अथ तत्पुरुषः समानाधिकरणः, सिद्धम्—इयाय, आरेति। पपाच, पपाठेति न सिध्यति॥ अत उत्तरं पठति—

एकाचो द्वे प्रथमस्य॥

भा०—एकाचः [इस पद में] क्या बहुव्रीहि समास है—एकोऽच् यस्मिन् स एकाच्, एकाचः—इस प्रकार। अथवा यह समानाधिकरण तत्पुरुष है—एकोऽच् एकाच्, एकाचः? इससे क्या?

यदि बहुव्रीहि है तो पपाच, पपाठ प्रयोग सिद्ध है, परन्तु इयाय, आर सिद्ध नहीं हो सकेंगे।

विवरण—बहुव्रीहि समास अन्यपदार्थक होने से समास-परिपठित पदों से भिन्न पदार्थ की प्रतीति भी कराता है। यहाँ बहुव्रीहि समास होने पर एक अच् वाला वह अक्षर समूह कहा जाएगा, जिसमें उस अच् के अलावा अन्य हल् भी उपस्थित हों। इससे अच्-हल् समूह वाले 'पच्' का द्विर्वचन तो सिद्ध हो सकेगा। परन्तु हल् से भिन्न केवल एक अच् वाले 'इ' आदि धातु का द्वित्व सिद्ध नहीं हो सकेगा।

भा०—समानाधिकरण तत्पुरुष होने पर 'इयाय, आर' सिद्ध हो जाएगा, पपाच, पपाठ सिद्ध नहीं हो सकेगा। [समानाधिकरण तत्पुरुष समास में मात्र 'इ' आदि एक अच् अभिहित होगा। ऐसी दशा में अच्-अनच् समूह वाले पच् आदि का द्विर्वचन सिद्ध नहीं हो सकेगा।] अतः [वार्त्तिककार] उत्तर देते हैं—

एकाचो द्वे प्रथमस्येति बहुव्रीहिनिर्देशः॥ १॥

'एकाचो द्वे प्रथमस्य' इति बहुव्रीहिनिर्देशोऽयम्॥ एकवर्णेषु कथम्?

एकवर्णेषु व्यपदेशिवद्वचनात्॥ २॥

व्यपदेशिवदेकस्मिन्कार्यं भवतीति वक्तव्यम्। एवमेकवर्णेषु द्विर्वचनं भविष्यति॥

एकाचो द्वे भवत इत्युच्यते, तत्र न ज्ञायते कस्यैकाचो द्वे भवत इति? वक्ष्यति—'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६.१.८) इति। तेन धातोरेकाच इति विज्ञायते। यदि धातोरेकाचः, सिद्धं—पपाच, पपाठ। जजागार, पुपुत्रीयिषतीति न सिध्यति। धातोरिति नैषैकाच्समानाधिकरणा षष्ठी। धातोरेकाच इति। किं तर्हि। अवयवयोगैषा षष्ठी—धातोर्य एकाजवयव इति॥

वा०—'एकाचो द्वे प्रथमस्य' यह बहुव्रीहि निर्देश है।

भा०—'एकाचो द्वे प्रथमस्य' यहाँ [एकाचः में] बहुव्रीहि निर्देश है। [प्रश्न–] तो फिर एक अक्षर वाले [इ आदि का] द्विर्वचन किस प्रकार सिद्ध हो सकेगा?

वा०—एकवर्ण में व्यपदेशिवद् वचन से [सिद्ध होगा]

भा०—एक में व्यपदेशी के समान कार्य होता है, यह कहना चाहिये। इससे एक अक्षर [वाली धातुओं] में द्विर्वचन हो जाएगा।

विवरण—मध्यम, कनिष्ठ, एकाच् आदि व्यवहार को व्यपदेश कहते हैं। इन व्यवहार वाले पदार्थ या वस्तु को 'व्यपदेशी' कहा जाएगा। अनेक की उपस्थिति में जिस प्रकार ये व्यपदेशी पदार्थ बनते हैं, उसी प्रकार एक में भी ये ही व्यपदेशी बन जाते हैं। इससे जिस प्रकार पच्, पठ् यह एकाच् व्यपदेशी है, उसी प्रकार 'इ' भी एकाच् व्यपदेशी होगा।

[प्रसङ्गान्तर—] **भा०**—[प्रश्न–] 'एकाचो द्वे भवतः' यह कहा गया है, यहाँ यह ज्ञात नहीं हो पाता कि किसके एकाच् को द्वित्व होता है?

[उत्तर—] आगे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' यह कहेंगे। इससे धातु एकाच् को द्वित्व होता है, यह समझा जाता है।

[प्रश्न–] यदि धातु एकाच् को [द्विर्वचन होता है] तो पपाच, पपाठ सिद्ध है। 'जजागार, पुपुत्रीयिषति' सिद्ध न होगा। [यहाँ जागृ धातु एक अच् वाली नहीं, अपितु बह्वच् है।]

[उत्तर–] यहाँ धातु में एकाच् से समानाधिकरण रखने वाली षष्ठी अर्थात् धातु जो एकाच् इस प्रकार नहीं है। अपितु यह अवयवयोगा [व्यधिकरण मूलक] षष्ठी है अर्थात् धातु का जो 'एकाच् अवयव' इस प्रकार है।

अवयवयोगैषा षष्ठी चेत्सिद्धं—जजागार, पुपुत्रीयिषतीति। पपाच, पपाठेति न सिध्यति। एषोऽपि व्यपदेशिवद्भावेन धातोरेकाजवयवो भवति॥

'एकाचो द्वे प्रथमस्य' इत्युच्यते तेन यत्रैव प्रथमश्चाप्रथमश्चास्ति तत्र द्विर्वचनं स्यात्—जजागार, पुपुत्रीयिषतीति। पपाच, पपाठेत्यत्र न स्यात्।

प्रथमत्वे च॥ ३॥

प्रथमत्वे च। किम्? व्यपदेशिवद्वचनात्सिद्धमित्येव। स तर्हि व्यपदेशिवद्भावो वक्तव्यः? न वक्तव्यः।

उक्तं वा॥ ४॥

किमुक्तम्? तत्र व्यपदेशिवद्वचनमेकाचो द्वे प्रथमार्थं षत्वे चादेशसंप्रत्ययार्थम्। नैष दोषः। अवचनाल्लोकविज्ञानात्सिद्धमित्येव।

[प्रश्न-] यदि अवयवयोगा षष्ठी हो तो 'जजागार, पुपुत्रीयिषति' सिद्ध होगा, पपाच, पपाठ सिद्ध नहीं होगा। ['जजागार' में जागृ धातु का अवयव 'जाग्' एकाच् है। परन्तु 'पपाच' में 'पच्' धातु स्वयं एकाच् है, उसका कोई अवयव नहीं।]

[उत्तर-] यह भी व्यपदेशिवद्भाव से एकाच् का अवयव कहा जाएगा। [इस प्रकार यहाँ कभी एकाच् वाले को तथा कभी व्यपदेशिवद्भाव से केवल एक अच् को द्वित्व होता है। पुनः कभी धातु के अवयव एकाच् को तथा कभी व्यपदेशिवद्भाव होकर 'धातु एकाच्' को द्वित्व होता है।]

भा०—'एकाचो द्वे प्रथमस्य' कहा गया है। इस स्थिति में [प्रथम के सापेक्ष होने से] जहाँ प्रथम, अप्रथम दोनों हैं, वहाँ ही द्विर्वचन होगा—जजागार, पुपुत्रीयिषति। परन्तु पपाच, पपाठ, यहाँ न हो सकेगा।

वा०—प्रथमत्व में भी।

भा०—'प्रथमत्व' [के सन्दर्भ में] भी। क्या? व्यपदेशिवद्भाव से सिद्ध होगा, यही। तो क्या व्यपदेशिवद्भाव कहना चाहिये? नहीं कहना चाहिये।

वा०—[इस विषय में] कहा जा चुका है। ['आद्यन्तवेदकस्मिन्' सूत्र में]

भा०—क्या कहा है? वहाँ व्यपदेशिवद्वचन कहना होगा, 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' आदि के लिये। (अन्य वार्तिक भाष्य में देखें।) यह दोष नहीं है। इसे कहे बिना यह लौकिक न्याय से सिद्ध होगा।

विशेष—वार्तिककार के अनुसार यह व्यपदेशिवद्भाव सामान्य लौकिक व्यवहार से प्रमाणित है। लोक में अनेक परिस्थितियाँ देखी जाती हैं।

१. किसी सापेक्ष पदार्थ की दृष्टि से सापेक्ष्य में किसी एक धर्म की तथा कभी अनेक सापेक्ष पदार्थों की दृष्टि से एक ही सापेक्ष्य में एक साथ अनेक धर्मों की

योगविभागो वा ॥ ५ ॥

अथवा योगविभागः करिष्यते। एकाचो द्वे भवतः। किमर्थो योग-विभागः ?

एकाज्मात्रस्य द्विर्वचनार्थः ॥ ६ ॥

एकाज्मात्रस्य द्विर्वचनं यथा स्यात्— इयाय, पपाच। ततः प्रथमस्य। प्रथमस्यैकाचो द्वे भवतः। इदमिदानीं किमर्थम् ? नियमार्थम्। यत्र प्रथमश्चाप्रथमश्चास्ति तत्र प्रथमस्यैकाचो द्विर्वचनं यथा स्यादप्रथमस्य मा भूदिति—जजागार, पुपुत्रीयिषतीति ॥

उपलब्धि भी सम्भव होती है। गणित में एक प्रश्न पूछा जाता है कि दो पिता तथा दो पुत्रों के बीच में तीन सेव (काटे बिना) सबको समान रूप से किस प्रकार बाँटे जा सकते हैं। उत्तर है कि यहाँ पहला केवल पिता है, दूसरा केवल पुत्र है, परन्तु तीसरा अलग-अलग सापेक्ष दृष्टि से एक साथ पिता-पुत्र दोनों हैं। इस प्रकार दो पिता, दो पुत्र होकर भी व्यक्ति अन्ततः तीन ही हैं।

२. कभी सापेक्ष पदार्थ की सम्भावना-मात्र होने पर उस दृष्टि से सापेक्ष्य में किसी धर्म की उपलब्धि सम्भव हो सकती है। यहाँ 'पच्' में कोई परिवर्तन लाए बिना उसके पश्चात् किसी अन्य अच् की सम्भावनामात्र से पच् को 'प्रथम' तथा 'एक' अच् वाले धर्म से सम्बोधित किया जा सकता है।

इस न्यायप्राप्त रीति से सम्भव होने पर भी आगे 'तुष्यतु दुर्जन न्याय' से इसे वाचनिक मानकर भी सिद्ध किया जा रहा है—

वा०—अथवा फिर योगविभाग।

भा०—अथवा योग-विभाग (अर्थात् सूत्र-विभाजन) करेंगे। जैसे—'एकाचो द्वे' (अर्थात् एकाच् धातु को द्वित्व होता है।) [प्रश्न-] यह योगविभाग किसलिये ?

वा०—एकाच् मात्र के द्विर्वचन के लिये।

भा०—ताकि केवलमात्र एक स्वर [इ आदि] का (अथवा एक स्वर वाले पच् आदि का) द्विर्वचन हो सके—इयाय, पपाच आदि। इसके पश्चात् प्रथम का।

प्रथम एकाच् को द्विर्वचन होता है। [प्रश्न-] अब यह वचन क्यों ? [सभी प्रथम, अप्रथम एकाच् को द्विर्वचन की प्राप्ति सम्भव होने पर पुनः 'प्रथमस्य' यह निर्देश क्यों—यह प्रश्नाशय है।]

[उत्तर-] नियम के लिये। जहाँ प्रथम तथा अप्रथम दोनों [एकाच्] हैं, वहाँ प्रथम एकाच् को ही द्विर्वचन हो। अप्रथम को नहीं। जैसे जजागार, पुपुत्रीयिषति।

विवरण—विधि सिद्ध होने पर पुनः विधान नियमार्थ होता है—यह व्याकरण का नियम है। यहाँ 'एकाचो द्वे' सूत्र से ही 'जजागार' में द्विर्वचन के सिद्ध होने पर

एकाचोऽवयवैकाच्त्वादवयवानां द्विर्वचनप्रसङ्गः॥ ७॥

एकाचोऽवयवैकाच्त्वादवयवानां द्विर्वचनं प्राप्नोति। नेनिजतीत्यत्र निज्शब्दोऽप्येकाजिज्शब्दोऽप्येकाजिकारोऽप्येकाज्निशब्दोऽपि। तत्र निज्शब्दस्य द्विर्वचने रूपं सिद्धं दोषाश्च न सन्ति। इज्शब्दस्य द्विर्वचने रूपं न सिध्यति दोषाश्च न सन्ति। इकारस्य द्विर्वचने रूपं न सिध्यति दोषाश्च सन्ति। निशब्दस्य द्विर्वचने रूपं सिद्धं दोषास्तु सन्ति॥ तत्र को दोषः?

तत्र जुस्भाववचनम्॥ ८॥

तत्र जुस्भावो वक्तव्यः। अनेनिजुः, पर्यवेविषुः। अभ्यस्ताज्झेर्जुस्भावो भवतीति जुस्भावो न प्राप्नोति जकारेण व्यवधानात्॥

स्वरश्च॥ ९॥

पुनः 'प्रथमस्य' वचन अन्य अप्रथम एकाच् में द्वित्व के निवारण के लिये सिद्ध होता है। मीमांसा में भी ऐसा ही मान्य है—**विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति।**

[प्रसङ्गान्तर-] **वा०**—एकाच् के अवयवैकाच्त्व होने से अवयवों का द्विर्वचन-प्रसङ्ग।

भा०—एकाच् के अवयवों के भी एकाच् बनने से अवयवों को द्विर्वचन की प्राप्ति होती है। [एकाच् शब्द में बहुव्रीहि समास होने से एक अच् वाला कोई भी अक्षरसमूह 'एकाच्' के अन्तर्गत आ सकता है। अतः किसी भी अक्षरसमूह को द्विर्वचन प्राप्त होता है।] 'नेनिजति' यहाँ 'निज्' शब्द भी एकाच् है, इज् शब्द भी एकाच् है, इकार भी एकाच् है, 'नि' शब्द भी।

तब 'निज्' शब्द को द्विर्वचन करने पर रूप भी सिद्ध होता है, कोई दोष भी नहीं है। 'इज्' शब्द को द्विर्वचन करने पर रूप सिद्ध नहीं होता, पर दोष नहीं है। इकार को द्विर्वचन करने पर रूप भी सिद्ध नहीं होता, दोष भी हैं, [जिन्हें आगे बताया जाएगा।] 'नि' शब्द को द्विर्वचन करने पर रूप सिद्ध होता है, पर [अग्रिम वर्णित] दोष है। तब क्या दोष है? (आगे आपतित दोषों को प्रस्तुत कर रहे हैं—)

वा०—तब जुस् भाव-वचन

भा०—तब [इकार अथवा नि को द्विर्वचन करने पर] जुस् भाव कहना होगा। अनेनिजुः, पर्यवेविषुः। अभ्यस्त से उत्तर झि को जुस् होता है, इस विधि से जुस् प्राप्त नहीं होता, जकार के द्वारा व्यवधान होने से। [इकार या नि को द्विर्वचन करने पर 'उभे अभ्यस्तम्' से इ या नि को ही अभ्यस्त कहा जाएगा। 'सिजभ्यस्त..' सूत्र द्वारा इस अभ्यस्त से उत्तर जुस् विधान करने पर जकार का व्यवधान होगा।]

वा०—स्वर भी।

स्वरश्च न सिध्यति। नेनिजति, यत्परिवेविषतीति। अभ्यस्तानामादिरुदात्तो भवत्यजादौ लसार्वधातुक इत्येष स्वरो न प्राप्नोति॥

अद्भावश्च॥ १०॥

अद्भावश्च न सिध्यति नेनिजति, परिवेविषतीति। 'अदभ्यस्तात्' (७.१.४) इत्यद्भावो न प्राप्नोति॥

नुम्प्रतिषेधश्च॥ ११॥

नुम्प्रतिषेधश्च न सिध्यति। नेनिजत्, परिवेविषत्। 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (७.१.७८) इति नुम्प्रतिषेधो न प्राप्नोति, जकारेण व्यवधानात्॥

शास्त्रहानिश्च॥ १२॥

शास्त्रहानिश्च भवति। समुदायैकाचः शास्त्रं हीयते॥

सिद्धं तु तत्समुदायैकाच्त्वाच्छास्त्राहानेः॥ १३॥

सिद्धमेतत्। कथम्? तत्समुदायैकाच्त्वात्। किमिदं तत्समुदायै-

भा०—स्वर भी सिद्ध नहीं होगा। नेनिजति, यत् परिवेविषति ['अभ्यस्तानामादिः' (६.१.१८९) सूत्र से] अभ्यस्त को अजादि लसार्वधातुक परे रहने पर आद्युदात्त होता है, यह स्वर [जकार के व्यवधान होने से] प्राप्त नहीं होता। [यहाँ यत् परिवेविषति में यत् का प्रयोग 'निपातैर्यद्यदि...' (८.१.३०)सूत्र से निघात का प्रतिषेध करने के लिए है।]

वा०—अद्भाव भी।

भा०—अद्भाव भी सिद्ध नहीं होता। नेनिजति, परिवेविषति यहाँ 'अदभ्यस्तात्' (७.१.४) सूत्र से [झि के स्थान में] अत् आदेश प्राप्त नहीं होता।

वा०—नुम् का प्रतिषेध भी

भा०—नुम् का प्रतिषेध भी सिद्ध नहीं होता। नेनिजत्, परिवेविषत्। यहाँ जकार के द्वारा व्यवधान होने से 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (७.१.७८) से नुम् का प्रतिषेध नहीं प्राप्त होता।

वा०—शास्त्रहानि भी।

भा०—शास्त्रहानि भी होती है। समुदाय एकाच् को द्वित्व करने वाला शास्त्र हीन होता है। ['एकाच्' यह शास्त्र सम्पूर्ण अच्-हल् समुदाय वाले अक्षर-समूह के द्विर्वचन का सामर्थ्य रखता है। पर नि या इ को द्वित्व करने पर यह शास्त्र पूरे सामर्थ्य से कार्यशील नहीं हो पाता।]

वा०—तत्समुदायैकाच्त्व के कारण शास्त्राहानि होने से यह सिद्‌ध है।

भा०—यह सिद्ध है। किस प्रकार? तत्समुदायैकाच्त्व होने से। यह तत्समुदायै-

काच्त्वादिति? तस्य समुदायस्तत्समुदायः। एकाज्भाव एकाच्त्वम्। तत्समुदायस्यैकाच्त्वं तत्समुदायैकाच्त्वम्। तत्समुदायैकाच्त्वात्। तत्समुदायैकाचो द्विर्वचनं भविष्यति। कुत एतत्? शास्त्राहानेः। एवं हि शास्त्रमहीनं भवति। ननु च समुदायैकाचोऽपि द्विर्वचने क्रियमाणेऽवयवैकाचः शास्त्रं हीयते। न हीयते। किं कारणम्? अवयवात्मकत्वात् समुदायस्य। अवयवात्मकः समुदायः। अभ्यन्तरो हि समुदायेऽवयवः। तद्यथा— वृक्षः प्रचलन्सहावयवैः प्रचलति॥

तत्र बहुव्रीहिनिर्देशेऽनच्कस्य द्विर्वचनमन्यपदार्थत्वात्॥ १४॥

तत्र बहुव्रीहिनिर्देशेऽनच्कस्य द्विर्वचनं प्राप्नोति—आटतुः, आटुः? किं कारणम्? अन्यपदार्थत्वाद्बहुव्रीहेः। अन्यपदार्थे बहुव्रीहिर्वर्तते, तेन यदन्यदचस्तस्य द्विर्वचनं स्यात्? तद्यथा— चित्रगुरानीयतामित्युक्ते यस्य ता गावः सन्ति, स आनीयते न गावः॥

सिद्धं तु तद्गुणसंविज्ञानात्पाणिनेर्यथा लोके॥ १५॥

सिद्धमेतत्। कथम्? तद्गुणसंविज्ञानाद्भगवतः पाणिनेराचार्यस्य,

काच्त्व क्या है? उसका समुदाय तत्समुदाय। एकाच् का भाव एकाच्त्व है। उस समुदाय का एकाच्त्व होना तत्समुदायैकाच्त्व है। [अर्थात् धातु के एक अच् वाले सम्पूर्ण अक्षरसमुदाय के एकाच् कहे जाने के कारण शास्त्राहानि होगी।] इस प्रकार एक अच् वाले सम्पूर्ण अक्षरसमुदाय को द्विर्वचन होगा। ऐसा क्यों? शास्त्र के अहीन होने से। इससे ही शास्त्र का [सामर्थ्य] अहीन या परिपूर्ण होता है।

[प्रश्न-] क्यों, समुदाय एकाच् का भी द्विर्वचन करने पर अवयव एकाच् का शास्त्र हीन होने लगेगा? नहीं हीन होगा। क्या कारण है? समुदाय के अवयवात्मक होने से। समुदाय अवयवात्मक होता है। अवयव समुदाय के अभ्यन्तर या उसके अन्तर्गत अवस्थित होता है। जैसे वृक्ष चलते हुए अपने अवयवों के साथ चलता है।

[प्रसङ्गान्तर-] **वा०**—बहुव्रीहि-निर्देश होने पर अनच्क का द्विर्वचन, अन्यपदार्थ होने से।

भा०—तब [एकाच् में] बहुव्रीहि-निर्देश होने पर अनच्क (अर्थात् अच् रहित हल् समुदाय) का द्विर्वचन प्राप्त होता है। आटतुः, आटुः। क्या कारण है? बहुव्रीहि के अन्य पदार्थ वाला होने से। बहुव्रीहि अन्यपदार्थ में होता है। अतः जो अच् से अन्य (हल् समुदाय) है, उसे द्विर्वचन होगा। जैसे 'चित्रगुरानीयताम्' ऐसा कहने पर जिस (गोपाल) की वे गाएँ होती हैं, वह लाया जाता है, गाएँ नहीं।

वा०—पाणिनि के तद्गुणसंविज्ञान होने से यह सिद्ध है, जैसे लोक में।

भा०—यह सिद्ध है। किस प्रकार? भगवान् पाणिनि आचार्य के 'तद्गुण—

यथा लोके। तद्यथा—लोके शुक्लवाससमानय, लोहितोष्णीषाः प्रचरन्तीति तद्गुण आनीयते, तद्गुणाश्च प्रचरन्ति। एवमिहापि।

अथ यस्य द्विर्वचनमारभ्यते, किं तस्य स्थाने भवत्याहोस्विद् द्विःप्रयोग इति? कश्चात्र विशेषः?

संविज्ञान' (सिद्धान्त के स्वीकृत) होने से। जैसे लोक में। जैसे लोक में शुक्लवाससम् आनय, लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति—[इन प्रयोगों में क्रमशः 'सफेद कपड़े से युक्त पुरुष को बुलाओ' या 'लाल पगड़ी से युक्त ऋत्विज् यज्ञ कर्म करते हैं' इस अर्थ के होने पर] इस धर्म से युक्त पुरुष को बुलाया जाता है या इस धर्म से युक्त ऋत्विज् यज्ञ कर्म करते हैं—यह अर्थ माना जाता है—इसी प्रकार यहाँ भी होगा।

विशेष—'तद्गुणसंविज्ञान' का अर्थ है कि बहुव्रीहि में जिन पदों का समास किया गया है, उसके गुण-धर्म के सहित अन्य पदार्थ की सम्प्रतीति। यह देखा गया है कि बहुव्रीहि समास में उन धर्मों से रहित तथा उनसे सहित, दोनों प्रकार के अन्य पदार्थों की प्रसङ्गानुसार सम्प्रतीति होती है। अतएव वैयाकरण-निकाय में यह परिभाषा प्रचलित हुई—**'भवति हि बहुव्रीहौ तद्गुणसंविज्ञानमपि'**।

आगे चलकर यह देखा गया कि यह परिस्थिति अनेक लाक्षणिक शब्दों में भी लागू है। जैसे 'गङ्गायां घोषः' में तद्रहित अन्य पदार्थ तट की उपलब्धि होती है। पर 'शोणो धावति' में शोणधर्म सहित अश्व की प्रतीति होती है। इसे देखते हुए समास में जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था के सादृश्य पर इन्हें क्रमशः जहल्लक्षणा तथा अजहल्लक्षणा नाम प्रदान किया गया।

महर्षि पतञ्जलि इन दोनों प्रकार के प्रयोगों से सर्वथा परिचित थे। उन्होंने इन उपभेदों का नाम न लेते हुए भी अजहल्लक्षणा का उदाहरण 'कुन्ताः प्रविशन्ति' तथा जहल्लक्षणा के लिये 'गङ्गायां घोषः' उदाहरण प्रदान किये हैं।

आधुनिक भाषा-विज्ञान के अनुसार ये दोनों 'अर्थ-विस्तार' के उपभेद हैं। इसके चित्र के लिये यदि शब्द के मूल अर्थ को पात्र की पूर्ण रेखा के अन्तर्गत तथा विस्तृत अर्थ को बिन्दु अंकित रेखा से सूचित करें तो इसका स्वरूप इस प्रकार होगा—

तद्गुणसंविज्ञान
या अजहल्लक्षणा

अतद्गुणसंविज्ञान
या जहल्लक्षणा

यह देखना रोचक है कि साहित्य-शास्त्र में इन उपभेदों के विस्तार से रूपक, अतिशयोक्ति जैसे अलंकारों का विकास हुआ।

[भा०—] अच्छा, जिसका द्विर्वचन कहा जाता है, क्या वह [आदेश] उस [स्थानी के] स्थान में होता है, या द्विःप्रयोग द्विर्वचन होता है? यहाँ क्या विशेष है?

स्थाने द्विर्वचने णिलोपवचनं समुदायादेशत्वात्॥ १६॥

स्थाने द्विर्वचने णिलोपो वक्तव्यः। आटिटत्, आशिशत्। किं कारणम्? समुदायादेशत्वात्। समुदायस्य समुदाय आदेशस्तत्र संप्रमुग्धत्वात्प्रकृति-प्रत्ययसमुदायस्य नष्टो णिर्भवतीति 'णेरनिटि' (६.४.५१) इति णिलोपो न प्राप्नोति॥ इदमिह संप्रधार्यम्—द्विर्वचनं क्रियतां णिलोप इति, किमत्र कर्तव्यम्? परत्वाण्णिलोपः। नित्यं द्विर्वचनम्। कृतेऽपि णिलोपे प्राप्नोत्य-

---

विवरण—यहाँ द्विर्वचन के सन्दर्भ में दो पक्ष उठाए गए हैं। प्रथम 'स्थाने-द्विर्वचन' के अनुसार 'पच्' के स्थान पर 'पच्+पच्' आदेश होता है। यहाँ आदिष्ट पच् स्थानी पच् के सदृश होकर भी उससे सर्वथा भिन्न है। जैसे न्याय के क्षणिक शब्द के सिद्धान्त के अनुसार दूसरी बार उच्चरित ककार पहले ककार के सदृश होकर भी तत्त्वतः घट से पट के समान सर्वथा भिन्न है।

द्विःप्रयोग द्विर्वचन के अनुसार प्रथम पच् यथावस्थित रहता है। उसके साथ एक अन्य पच् भी मित्रवत् उपस्थित हो जाता है।

ये दोनों पक्ष सूत्र से ज्ञापित होते हैं। प्रथम पक्ष के लिये 'द्वे' शब्द से संख्येय 'अक्षर समूह रूप' शब्द को विशेषित करते हैं। इस स्थिति में 'षष्ठी स्थानेयोगा' (१.१.४८) के प्रवृत्त हो जाने से 'एकाचः स्थाने द्वे अक्षरसमूहरूपे भवतः' यह अर्थ होता है।

दूसरे पक्ष के लिये 'द्वे' के साथ उच्चारण क्रिया का अध्याहार करते हैं। इस स्थिति में 'एकाचः द्वे उच्चारणे' अथवा 'एकाचः द्विः उच्चारणम्' यह अर्थ होता है।

गणित के अनुसार प्रथम पक्ष में १ एकाच् के स्थान में १+१=२ इस प्रकार सर्वथा नए एकाचों के योग की संक्रिया होती है। पर द्वितीय पक्ष में पहले से वर्तमान एकाच् को १×२=२ के अनुसार दो बार गुणन की संक्रिया होती है। इसी प्रकार के द्विर्दश जैसे अन्य प्रयोगों में १०×२=२० इस प्रकार गुणनसंक्रिया देखी गई है।

वा०—'स्थाने-द्विर्वचन' पक्ष में समुदायादेशत्व होने से णिलोप-वचन।

भा०—स्थाने-द्विर्वचन पक्ष में णिलोप कहना होगा। आटिटत्, आशिशत्। क्या कारण है? समुदायादेशत्व होने से। समुदाय के स्थान में समुदाय आदेश होगा। तब [इस आदेश में] प्रकृति-प्रत्यय समुदाय के एक साथ मिल जाने से 'णि' नष्ट हो जाता है, अतः 'णेरनिटि' (६.४.५१) से णिलोप प्राप्त नहीं होता। [इस पक्ष में आदेश पूर्व स्थानी से सर्वथा भिन्न है। अतः इसमें 'इ' ध्वनि होने पर भी इसे 'णि' नहीं माना जा सकता।]

अच्छा तो फिर यह तय करें—यहाँ पहले द्विर्वचन किया जावे, या णिलोप। क्या करना चाहिये? [उत्तर-] परत्व से पहले णिलोप। [प्रतिवचन-] द्विर्वचन नित्य है। णिलोप करने पर भी पाता है, न करने पर भी। [पुनः प्रतिवचन-]

कृतेऽपि। द्विर्वचनमप्यनित्यम्। अन्यस्य कृते णिलोपे प्राप्नोत्यन्यस्याकृते, शब्दान्तरस्य च प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति। नित्यमेव द्विर्वचनम्। कथम्? रूपस्य स्थानिवत्त्वात्॥

यच्च सन्यडन्तस्य द्विर्वचने॥ १७॥

यच्च सन्यडन्तस्य द्विर्वचने चोद्यं तदिहापि चोद्यम्। किं पुनस्तत्? सन्यडन्तस्येति चेदशेः सन्यनिटः, दीर्घकुत्वप्रसारणषत्वमधिकस्य द्विर्वचनाद्, आबृध्योश्चाभ्यस्तविधिप्रतिषेधः, सङाश्रये च समुदायस्य समुदायादेशत्वाज्झलाश्रये चाव्यपदेश आमिश्रत्वादिति। अस्तु तर्हि द्विःप्रयोगो द्विर्वचनम्।

द्विःप्रयोग इति चेण्णकारषकारादेशादेरेत्त्ववचनं लिटि॥ १८॥

द्विःप्रयोग इति चेण्णकारषकारादेशादेरेत्त्वं लिटि वक्तव्यम्। नेमतुः, नेमुः। सेहे, सेहाते, सेहिरे। अनादेशादेरिति प्रतिषेधः प्राप्नोति। स्थाने

द्विर्वचन भी अनित्य है। णिलोप करने पर अन्य को पाता है, न करने पर अन्य को। परिभाषा के अनुसार–शब्दान्तर को प्राप्त होने वाली विधि अनित्य होती है। [णिलोप करने पर स्थानिवद्भाव से द्वितीय एकाच् वर्तमान रहता है। अतः 'ट् ट्' इस प्रकार द्विर्वचन पाता है। पर णिलोप न करने पर 'टि टि' इस प्रकार प्राप्ति होती है।]

द्विर्वचन नित्य ही है। किस प्रकार? रूप–स्थानिवत्त्व होने से। ['द्विर्वचनेऽचि' (१.१.५८) सूत्र से रूप–स्थानिवत् होने से णिलोप होने पर भी 'टि टि' द्विर्वचन ही होगा। इस प्रकार शब्दान्तर को प्राप्त न होने से द्विर्वचन नित्य होने से वह पहले होगा। इससे रूपसिद्धि हो जाएगी।]

वा०—जो भी सन् यङन्त के द्विर्वचन में कहा है।

भा०—जो भी सन्यङन्त के द्विर्वचन में कहा है, उसे यहाँ भी कहना है। क्या कहा है? [आगे वार्तिकों की व्याख्या "सन्यङोः" (६.१.९)सूत्र में देखें।]

भा०—अच्छा तो फिर द्विःप्रयोग द्विर्वचन स्वीकार किया जावे।

वा०—द्विःप्रयोग पक्ष में णकारादि तथा षकारादि का लिट् परे रहने पर एत्त्व–वचन।

भा०—द्विःप्रयोग पक्ष में लिट् परे रहने पर णकारादि तथा षकारादि का एत्व कहना होगा। नेमतुः, नेमुः। सेहे, सेहाते, सेहिरे। 'अत एकहल्मध्ये....' (६.४.१२०) सूत्र में 'अनादेशादेः' कहने से [एत्व का] प्रतिषेध प्राप्त होता है।

[नेमतुः आदि में 'णो नः' (६.१.६३) सूत्र से णकार के स्थान में नकार आदेश होता है। द्विःप्रयोग द्विर्वचन में यह आदेशादित्व शान्त नहीं होता। अतः 'अनादेशादेः' से एत्व तथा अभ्यासलोप के प्रतिषेध की प्राप्ति होती है।]परन्तु

पुनर्द्विर्वचने सति समुदायस्य समुदाय आदेशस्तत्र संप्रमुग्धत्वात् प्रकृति-प्रत्ययस्य नष्टः स आदेशादिर्भवति॥

द्विःप्रयोगेऽपि द्विर्वचने सति न दोषः। वक्ष्यति तत्र लिड्ग्रहणस्य प्रयोजनम् लिटि य आदेशादिस्तदादेर्नेति॥

इड्वचनं च यङ्लोपे॥ १९॥

इट् च यङ्लोपे वक्तव्यः। बेभिदिता, बेभिदितुम्। 'एकाच उपदेशेऽ-नुदात्तात्' (७.२.१०) इतीट्प्रतिषेधः प्राप्नोति। स्थाने पुनर्द्विर्वचने सति समुदायस्य समुदाय आदेशस्तत्र संप्रमुग्धत्वात्प्रकृतिप्रत्ययस्य नष्टः स भवति य एकाजुपदेशेऽनुदात्तः॥ द्विःप्रयोगेऽपि द्विर्वचने न दोषः। एका-ज्ग्रहणेनाङ्गं विशेषयिष्यामः। एकाचोऽङ्गादिति। ननु चैकैकमत्राङ्गम्? समुदाये या वाक्यपरिसमाप्तिस्तयाङ्गसंज्ञा भविष्यति। कुत एतत्? शास्त्राहानेः। एवं हि शास्त्रमहीनं भवति॥

'स्थाने-द्विर्वचन' पक्ष में समुदाय के स्थान में समुदाय आदेश होता है। अतः प्रकृति-प्रत्यय के मिल जाने से वह पूर्व आदेशादित्व विनष्ट हो जाता है।

द्विःप्रयोग द्विर्वचन पक्ष में भी दोष नहीं है। ['अत एकहल्मध्ये....' (६.४.१२०) सूत्र में] लिट् ग्रहण का प्रयोजन यह बताया है कि लिट् परे रहने पर जो आदेशादित्व होता है, तदादि को एत्व का निषेध होता है। [यहाँ पर 'णो नः' (६.१.६३) से नकार आदेश लिट् परे रहने पर नहीं हुआ है। अतः इसे आदेशादि नहीं माना जाएगा।]

वा०—यङ्लोप में इट् वचन भी।

भा०—यङ्लोप में इट् आगम भी कहना होगा। बेभिदिता, बेभिदितुम्। 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' (७.२.१०) से इट् का प्रतिषेध प्राप्त होता है। [क्योंकि द्विःप्रयोग में द्विर्वचन होने पर भी यह एकाच् बनी रहेगी।] परन्तु स्थाने-द्विर्वचन में समुदाय के स्थान पर समुदाय आदेश होगा। अतः प्रकृति-प्रत्यय के मिल जाने से वह पूर्ववर्ती उपदेश में एकाच् अनुदात्त विनष्ट होगा [इससे उस सूत्र की प्रवृत्ति न होने से 'आर्धधातुकस्येड्.....' (७.२.३५) से इट् हो सकेगा।]

भा०—द्विःप्रयोग द्विर्वचन में भी कोई दोष नहीं है। एकाच् से अङ्ग को विशेषित करेंगे—एकाच् जो अङ्ग उससे। [प्रश्न-] क्यों, [द्विःप्रयोग में तो] एक-एक अङ्ग होगा। [उत्तर-] 'समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः' इस नियम के अनुसार सम्पूर्ण अङ्ग होगा? [प्रश्न-] ऐसा क्यों? [उत्तर-] शास्त्र की अहानि होने से। इससे शास्त्र सम्पूर्ण रूप से कार्यशाली होता है। [इस प्रकार इस द्विरुक्त के एकाच् अङ्ग न बनने से उस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी।]

इड्दीर्घप्रतिषेधश्च॥ २०॥

इटो दीर्घत्वस्य च प्रतिषेधो वक्तव्यः। जरीगृहिता, जरीगृहितुम्। 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' (७.२.३७) इति दीर्घत्वं प्राप्नोति। स्थाने पुनर्द्विर्वचने समुदायस्य समुदाय आदेशस्तत्र संप्रमुग्धत्वात्प्रकृतिप्रत्ययस्य नष्टो ग्रहिः। द्विःप्रयोगेऽपि द्विर्वचने न दोषः। ग्रहिणाङ्गं विशेषयिष्यामः। ग्रहेरङ्गादिति। ननु चैकैकमप्यत्राङ्गम्? समुदाये या वाक्यपरिसमाप्तिस्तयाङ्गसंज्ञा भविष्यति। कुत एतत्? शास्त्राहानेः। एवं हि शास्त्रमहीनं भवति॥

पदादिविधिप्रतिषेधश्च॥ २१॥

पदादिलक्षणविधेः प्रतिषेधो वक्तव्यः। सिषेच, सुष्वाप। 'सात्पदाद्योः' (८.३.१११) इति षत्वप्रतिषेधः प्राप्नोति। स्थाने पुनर्द्विर्वचने सति न दोषः। समुदायस्य समुदाय आदेशस्तत्र संप्रमुग्धत्वात्प्रकृतिप्रत्ययस्य नष्टः स पदादिर्भवति॥

वा०—इट्-दीर्घ का प्रतिषेध भी।

भा०—इट् के दीर्घत्व का भी प्रतिषेध कहना होगा। जरीगृहिता, जरीगृहितुम्। [ग्रह् धातु को यङन्त बना कर उस 'जरीगृह्य' से तृच् तथा तुमुन् है।] यहाँ 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' (७.२.३७) से दीर्घत्व पाता है। [क्योंकि द्विःप्रयोग में पूर्व ग्रह् यथावस्थित है।] पर स्थाने द्विर्वचन में समुदाय के स्थान पर समुदाय आदेश होता है। वहाँ प्रकृति-प्रत्यय के मिल जाने से पूर्व 'ग्रह्' नष्ट हो गया। [अतः दोष नहीं होगा।]

भा०—द्विःप्रयोग द्विर्वचन में भी दोष नहीं है। ग्रह से अङ्ग को विशेषित करेंगे—ग्रह जो अङ्ग उससे। [यहाँ दोनों ग्रह मिलकर अङ्ग है। केवल एक ग्रह नहीं। अतः दोष न होगा।] [प्रश्न-] क्यों, एक-एक ग्रह भी तो अङ्ग हो सकता है? [उत्तर-] 'समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः' के नियम से सम्पूर्ण की मिल कर अङ्ग संज्ञा होगी। ऐसा क्यों? शास्त्र की अहानि होने से। इससे शास्त्र पूर्ण कार्यशील होता है।

वा०—पदादि-विधि का प्रतिषेध भी।

भा०—पदादि लक्षण विधि का प्रतिषेध भी कहना होगा। सिषेच, सुष्वाप। 'सात्पदाद्योः' (८.३.१११) से षत्व का प्रतिषेध प्राप्त होता है। ['सुप्तिङन्तं पदम्' (१.४.१४) सूत्र में 'प्रत्ययग्रहणे यस्मात्'.....परिभाषा लगने से अर्थ होता है कि सुप् तथा तिङ् अन्त वाले तथा इन सुप् तिङ् का विधान जिससे किया गया है, तदादि की पद संज्ञा होती है। द्विः प्रयोग द्विर्वचन में 'सिषेच' का 'सिच्' मूल रूप से अवस्थित है। इस 'सिच्' से लिट् का विधान हुआ है। अतः 'तदादि' अनुसार 'सिच्' पदादि बन जाएगा। अतः इससे षत्व प्रतिषेध प्राप्त होता है।] पर स्थाने द्विर्वचन में दोष नहीं है। समुदाय के स्थान में समुदाय आदेश होता है। वहाँ प्रकृति-प्रत्यय के मिल जाने से 'सिच्' का पदादित्व नष्ट हो जाता है।

द्विःप्रयोगे चापि द्विर्वचने न दोषः। सुप्तिङ्भ्यां पदं विशेषयिष्यामः। यस्मात्सुप्तिङ्विधिस्तदादि सुबन्तं तिङन्तं च। ननु चैकैकस्मादप्यत्र सुप्तिङ्विधिः? समुदाये या वाक्यपरिसमाप्तिस्तया पदसंज्ञा भविष्यति। कुत एतत्? शास्त्राहानेः। एवं हि शास्त्रमहीनं भवति॥

तावेव सुप्तिङौ यौ ततः परौ सैव च प्रकृतिराद्या।
आदिग्रहणं च प्रकृतं समुदायपदत्वमेतेन॥

अजादेर्द्वितीयस्य॥ ६.१.२॥

द्वितीयस्येत्यवचनमजादेरिति कर्मधारयात्पञ्चमी॥ १॥

द्विःप्रयोग द्विर्वचन में भी दोष नहीं है। सुप् तिङ् से पद को विशेषित करेंगे—सुप् तथा तिङ् अन्त वाला पद होता है। इस प्रकार जिससे सुप्-तिङ् का विधान किया गया है तदादि सुबन्त तथा तिङन्त की पद संज्ञा होती है। [यहाँ 'सिसिच्' से तिङ् का विधान माना जाएगा। इससे 'सिसिच्' पदादि कहा जाएगा, 'सिच्' नहीं। इससे दोष न होगा।]

[प्रश्न-] क्यों, यहाँ एक-एक से भी तो सुप्-तिङ् विधि है। [उत्तर-] 'समुदाय में वाक्य परिसमाप्ति' के अनुसार [सम्पूर्ण सिसिच् को पदादि मानते हुए] पद संज्ञा होगी। ऐसा क्यों? शास्त्र की अहानि होने से। इससे शास्त्र परिपूर्ण होता है।

का०—जो प्रकृति से परे, सुप्-तिङ् हैं, वे, वे ही [जो पचति का ति है, वह ही पठति का ति है] हैं। आद्य प्रकृति भी वह ही है। यहाँ [प्रत्ययग्रहणे....परिभाषा में] आदि ग्रहण भी किया है। [इससे तदादि की पद संज्ञा है।] अतः सम्पूर्ण [सिसेच् पदादि] तथा 'सिषेच' समुदाय पद है।

विवरण—यहाँ द्विःप्रयोग द्विर्वचन में दो समाधान प्रस्तुत किये गए हैं। प्रथम मीमांसकों के अनुसार है। उनके अनुसार प्रत्येक पुनरुच्चरित अक्षर में उच्चारण भेद है। पर अक्षरभेद नहीं है। एक ही अक्षर का पुनः-पुनः उच्चारण होता है। इस दशा में 'सिषेच' में 'सि' तथा 'सिच्' पुनरुच्चरित हैं, पर प्रकृतितः एक ही है। अतः उच्चारण और प्रकृति इन दोनों दृष्टियों से 'सि' में पदादित्व होगा। इससे 'सेच्' में षत्व-प्रतिषेध की प्राप्ति नहीं होगी।

दूसरा समाधान वही है, जिसका पहले उल्लेख किया गया है, 'प्रत्ययग्रहणे...' के अनुसार 'सिषेच्' पदादि होगा। इससे भी षत्व-प्रतिषेध की प्राप्ति नहीं होगी।

अजादेर्द्वितीयस्य॥

वा०—'द्वितीयस्य' इसका अवचन, 'अजादेः' इसमें कर्मधारय से पञ्चमी होने से।

द्वितीयस्येति शक्यमवक्तुम्। कथम्? अजादेरिति नैषा बहुव्रीहेः षष्ठी। अच् आदिर्यस्य सोऽयमजादिः, अजादेरिति। किं तर्हि? कर्मधारयात्पञ्चमी। अच् आदिरजादिः, अजादेः परस्येति। तत्रान्तरेण द्वितीयग्रहणं द्वितीयस्यैव भविष्यति॥

द्वितीयद्विर्वचने प्रथमनिवृत्तिः प्राप्तत्वात्॥ २॥

द्वितीयद्विर्वचने प्रथमस्य निवृत्तिर्वक्तव्या अटिटिषति, अशिशिषतीति। किं कारणम्? प्राप्तत्वात्। प्राप्नोति—'एकाचो द्वे प्रथमस्य' (६.१.१) इति॥ ननु च द्वितीयद्विर्वचनं प्रथमद्विर्वचनं बाधिष्यते। कथमन्यस्योच्यमानमन्यस्य बाधकं स्यात्? असति खल्वपि संभवे बाधनं भवत्यस्ति च संभवो यदुभयं स्यात्॥

न वा प्रथमविज्ञाने हि द्वितीयाप्राप्तिरद्वितीयत्वात्॥ ३॥

भा०—[सूत्र में] 'द्वितीयस्य' [पद का] प्रयोग न करना शक्य है। किस प्रकार? 'अजादेः' यहाँ बहुव्रीहि समास से षष्ठी विभक्ति नहीं है—अच् आदिर्यस्य सोऽयम् अजादिः, अजादेः। तो फिर क्या है? कर्मधारय से पञ्चमी है—अच् आदिः अजादिः, अजादेः परस्य। [इस प्रकार 'आदि अच् से उत्तरवर्ती—एकाच् को द्विर्वचन' यह अर्थ होगा।] इससे 'द्वितीयस्य' ग्रहण के बिना भी अगले द्वितीय एकाच् को ही द्विर्वचन होगा।

वा०—द्वितीय-द्विर्वचन में प्रथम की निवृत्ति, प्राप्त होने से।

भा०—द्वितीय [एकाच् को] द्विर्वचन कहने की स्थिति में प्रथम एकाच् को द्विर्वचन का निवारण या प्रतिषेध कहना चाहिये। क्या कारण है? प्राप्त होने से। 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' (६.१.१) की प्राप्ति तो होती ही है। [प्रश्न-] क्यों, द्वितीय-द्विर्वचन, प्रथम एकाच् को होने वाले द्विर्वचन को बाध लेगा। [प्रतिप्रश्न-] अन्य [द्वितीय को] कहा द्विर्वचन अन्य [प्रथम का] बाधक कैसे हो जायेगा। [दोनों की प्राप्ति के] सम्भव न होने पर बाधन होता है। पर यहाँ तो दोनों [द्वितीय तथा प्रथम एकाच् का एक साथ द्विर्वचन] सम्भव है ही। [दो विधियों की एक साथ उपस्थिति की असम्भावना की दशा में बाध्य-बाधकभाव होता है। पर दोनों में विरोध न होने पर एक साथ उपस्थिति सम्भव होने की स्थिति में समुच्चय देखा गया है। जैसे 'कर्मण्यण्' (३.२.१) से अण् आदि प्रत्ययों की कृत्, कृत्य दोनों संज्ञाएं हो जाती हैं। इसी प्रकार यहाँ भी द्वितीय तथा प्रथम दोनों एकाच् को एक साथ द्विर्वचन की प्राप्ति होती है।]

वा०—यह नहीं, प्रथम का विज्ञान होने पर द्वितीय की अप्राप्ति, अद्वितीय होने से।

न वा वक्तव्यम्। किं कारणम्? प्रथमविज्ञाने हि सति द्वितीयस्याप्राप्तिः स्यात्। किं कारणम्? अद्वितीयत्वात्। न हीदानीं प्रथमद्विर्वचने कृते द्वितीयो द्वितीयो भवति। कस्तर्हि? तृतीयः। तद्यथा। द्वयोरासीनयोस्तृतीय उपजायमाने न द्वितीयो द्वितीयो भवति। कस्तर्हि? तृतीयः॥ न हि किंचिदुच्यतेऽकृते द्विर्वचने यो द्वितीयस्तस्य भवितव्यमिति। किं तर्हि? कृते द्विर्वचने यो द्वितीयस्तस्य द्विर्वचनं भविष्यति॥ अनारम्भसममेवं स्यात्। अटः प्रथमस्य द्विर्वचनं स्याद्धलादिशेषो द्वितीयस्य द्विर्वचनं हलादिशेषः। त्रयाणामकाराणां पररूपत्वेऽटिषतीत्येवं रूपं स्यात्॥ नानारम्भसमम्। अटः प्रथमस्य द्विर्वचनं हलादिशेष इत्त्वं द्वितीयस्य द्विर्वचनं हलादिशेष

भा०—इसे कहने की आवश्यकता नहीं। क्या कारण है? प्रथम [एकाच् को द्विर्वचन का] विज्ञान होने पर द्वितीय [एकाच् को द्विर्वचन] प्राप्ति की असम्भावना होने लगेगी। क्या कारण है? अद्वितीय होने से। प्रथम द्विर्वचन कर लेने पर 'द्वितीय' रूप से कहा गया एकाच् 'द्वितीय' नहीं रह जाएगा। तो फिर क्या रहेगा? [उत्तर-] तृतीय। जैसे—दो लोगों के बैठे रहने पर [सर्वादि में] तृतीय के उपस्थित होने पर वह पूर्वोक्त द्वितीय, द्वितीय नहीं रह जाता। तो फिर क्या? [उत्तर-] तृतीय बन जाता है। [इसी प्रकार प्रथम एकाच् को द्विर्वचन होने पर पूर्वोक्त 'द्वितीय' के न बन पाने से 'अजादेर्द्वितीयस्य' यह विधि अनवकाश होकर प्रथम-द्विर्वचन को बाध लेगी—यह समाधान का आशय है। आगे इस समाधान पर पुनः दोष प्रस्तुत कर रहे हैं—]

यहाँ यह कहना नहीं है कि [प्रथम एकाच् को] द्विर्वचन न करने पर जो 'द्वितीय' बनता है, उसे द्विर्वचन होना चाहिए, [पर प्राप्त नहीं होता।] तो फिर क्या? [प्रथम एकाच् को] द्विर्वचन कर लेने पर जो भी 'द्वितीय' बनता है, उसे ही [द्विर्वचन की प्राप्ति होने पर] द्विर्वचन हो जाएगा। [इस प्रकार चाहे अनुचित विधि हो, पर सूत्र तो अनुचित विधि करके भी सावकाश हो जाएगा। तब वह प्रथम-द्विर्वचन का किस प्रकार बाधन कर पाएगा—यह प्रश्नाशय है। आगे इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं।]

तब तो इस सूत्र का आरम्भ अनारम्भ के सदृश होगा। [यदि यह सूत्र प्रथम-द्विर्वचन का बाधन न करे तो] अट् का प्रथम द्विर्वचन [अट् अट्], हलादि शेष [अ अट्], द्वितीय को द्विर्वचन, हलादि शेष [अ अ अट्], तीनों अकारों का 'अतो गुणे' (६.१.९४) से पररूप करने पर वही 'अटिषति' रूप बनने लगेगा! [जो कि इस सूत्र के प्रवृत्त न होने पर भी बनता।]

[समाधान का निवारण—] यह अनारम्भ के सदृश नहीं होगा। अट् के प्रथम को द्विर्वचन, हलादि शेष, ['सन्यतः' (७.४.७९) से] इत्व [इ अट्] द्वितीय-द्विर्वचन,

इत्त्वं द्वयोरिकारयोः सवर्णदीर्घत्वम् 'अभ्यासस्यासवर्णे' (६.४.७८) इतीयङादेश इयटिषतीत्येतद्रूपं यथा स्यादोणेश्चोवोणिषतीति॥ नानिष्टार्था शास्त्रप्रवृत्तिर्भवितुमर्हति॥

यथा वादिविकारेऽलोऽन्त्यविकाराभावः॥ ४॥

यथा वादिविधावलोऽन्त्यविधिर्न भवत्येवं द्वितीयद्विर्वचने प्रथमद्विर्वचनं न भविष्यति॥ विषम उपन्यासः। नाप्राप्तेऽलोऽन्त्यविधावादिविधिरारभ्यते स तस्य बाधको भविष्यति। इदमप्येवंजातीयकम्। नाप्राप्ते प्रथमद्विर्वचने द्वितीयद्विर्वचनमारभ्यते तद्बाधकं भविष्यति॥ यदप्युच्यतेऽसति खल्वपि संभवे बाधनं भवत्यस्ति च संभवो यदुभयं स्यादिति। नैतदस्ति। सत्यपि संभवे बाधनं भवति। तद्यथा— दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयतां तक्रं

हलादि शेष, इत्व [इ इ अट्], दोनों इकारों को सवर्णदीर्घ, 'अभ्यासस्यासवर्णे' (६.४.७८) से इयङ् आदेश [इय् अट्] इससे 'इयटिषति' रूप बने, ओण् से 'उवोणिषति' रूप बने, इसके लिये सूत्र सार्थक होने लगेगा।

[अन्तिम समाधान—] अनिष्ट या [अशुद्ध विधि] के लिये शास्त्र का आरम्भ नहीं हो सकता। [किसी भी अशुद्ध विधि की उपस्थिति करा कर सूत्र की सावकाशता सिद्ध नहीं की जा सकती। क्योंकि सूत्र अशुद्ध कार्यों के लिए नहीं है। इसलिए मानना होगा कि प्रथम-द्विर्वचन होने पर 'अजादेर्द्वितीयस्य' अनवकाश ही होगा। अनवकाश होकर वह अवश्य ही प्रथम द्विर्वचन को बाध लेगा—यह अन्तिम समाधान का आशय है।]

वा०—अथवा जिस प्रकार आदिविकार में अलोऽन्त्य विकार का अभाव।

भा०—[समाधान—] अथवा जिस प्रकार आदि विधि ['आदेः परस्य' (१.१.५३) सूत्र से आदि अक्षर के स्थान में आदेश के प्रवृत्त] होने पर अलोऽन्त्य विधि (१.१.५१) नहीं होती, उसी प्रकार द्वितीय द्विर्वचन की उपस्थिति होने पर प्रथम-द्विर्वचन नहीं होगा।

यह विवरण समुचित नहीं है। क्योंकि अलोन्त्यविधि की अवश्य-प्राप्ति में आदि-विधि का आरम्भ किया गया है। अतः वह [आदि विधि] उसका [अलोऽन्त्य विधि का] बाधक हो जाएगी।

[पुनः समाधान—] **भा०**—यह भी इसी प्रकार का है। प्रथम-द्विर्वचन की अवश्य-प्राप्ति में द्वितीय द्विर्वचन का आरम्भ किया गया है, अतः वह [द्वितीय द्विर्वचन [उस] प्रथम द्विर्वचन का बाधक हो जाएगा। और जो यह कहा है कि सम्भव न होने पर बाधन होता है। यहाँ यह सम्भव है कि दोनों [प्रथम-द्विर्वचन तथा द्वितीय द्विर्वचन] हों। वास्तव में ऐसा नहीं है। अपितु सम्भव होने पर भी बाधन होता है। जैसे—ब्राह्मणों को दही दो, पर कौण्डिन्य [गोत्र वाले ब्राह्मण] को तक्र दो। [इस

कौण्डिन्यायेति सत्यपि दधिदानस्य संभवे तक्रदानं निवर्तकं भवति। एवमिहापि सत्यपि संभवे प्रथमद्विर्वचनस्य द्वितीयद्विर्वचनं बाधिष्यते ॥

तत्र पूर्वस्याचो निवृत्तौ व्यञ्जनस्यानिवृत्तिर्वक्तव्या। अटिटिषतीति। यथैवाचो निवृत्तिर्भवत्येवं व्यञ्जनस्यापि प्राप्नोति।

तत्र पूर्वस्याचो निवृत्तौ व्यञ्जनानिवृत्तिरशासनात्पूर्वस्य॥ ५॥

तत्र पूर्वस्याचो निवृत्तौ व्यञ्जनस्यानिवृत्तिः सिद्धा। कुतः। अशासनात्पूर्वस्य। नेह वयं पूर्वस्य प्रतिषेधं शिष्मः। किं तर्हि? द्वितीयस्य द्विर्वचनमारभामहे। व्यञ्जनानि पुनर्नटभार्यावद्भवन्ति। तद्यथा— नटानां स्त्रियो रङ्गं गता यो यः पृच्छति कस्य यूयं कस्य यूयमिति तं तं तव तवेत्याहुः। एवं व्यञ्जनान्यपि यस्य यस्याचः कार्यमुच्यते तं तं भजन्ते॥

वाक्य में कौण्डिन्य के लिये] दधि- दान सम्भव होने पर भी उसका तक्रदान निवर्तक हो जाता है। इसी प्रकार यहाँ सम्भव होने पर भी द्वितीय द्विर्वचन प्रथम द्विर्वचन का बाधक हो जाएगा।

विशेष—इस तक्र-कौण्डिन्य न्याय का उपयोग प्रमुखतः मीमांसा के तन्त्र-वार्तिक, श्लोक-वार्तिक आदि में पाया जाता है। महाभाष्यकार ने भी इसका अनेकत्र उपयोग किया है। 'दधि ब्राह्मणेभ्यो.....' जैसे वाक्य एक 'दीयताम्' क्रिया की उपस्थिति में एक-वाक्य समझे जाते हैं। इस एक-वाक्य में प्रयुक्त एक कर्म विशेष होकर दूसरे सामान्य कर्म को बाधता है। परन्तु यदि यहाँ दो क्रियाओं का प्रयोग हो तो उन्हें अलग-अलग भिन्न वाक्यों वाला समझा जाएगा। उस दशा में प्रत्येक क्रिया के साथ अन्वित होने से अलग-अलग दोनों कर्म विशिष्ट होंगे। तब कोई किसी का बाधक नहीं होगा।

भा०—[बाध्य-बाधक भाव सुनिश्चित होने पर अग्रिम दोष—] तब [प्रथम एकाच् को द्विर्वचन का बाधन होने से] पूर्व अच् [के द्विर्वचन] की निवृत्ति होने पर [पूर्व अच् से संयुक्त] व्यञ्जनों [के द्विर्वचन] की निवृत्ति नहीं होती, यह कहना चाहिये। अटिटिषति इत्यादि में। जिस प्रकार [प्रथम] अच् [के द्विर्वचन] की निवृत्ति होती है, उसी प्रकार व्यञ्जन की भी निवृत्ति प्राप्त होती है।

वा०—तब पूर्व अच् की निवृत्ति होने पर व्यञ्जन की अनिवृत्ति, पूर्व के अशासन होने से।

भा०—पूर्व अच् की निवृत्ति होने पर व्यञ्जन की अनिवृत्ति सिद्ध है। कैसे? पूर्व का अशासन होने से। हम यहाँ पूर्व [व्यञ्जन के] प्रतिषेध का शासन नहीं करते। फिर क्या? द्वितीय [एकाच्] के द्विर्वचन का आरम्भ करते हैं। व्यञ्जन तो नटभार्या के समान होते हैं। जैसे—रङ्गमञ्च में नाटक करने वाली स्त्रियाँ जो भी कोई पूछता है, तुम किसकी हो, वे उसी की बन जाती हैं। इसी प्रकार व्यञ्जन भी जिस-जिस के अच् का कार्य कहा जाता है, वे उसी के बन जाते हैं।

न्द्रादिप्रतिषेधाच्च॥ ६॥

यदयं 'न न्द्राः संयोगादयः' (६.१.३) इति प्रतिषेधं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यः—पूर्वनिवृत्तौ व्यञ्जनस्यानिवृत्तिरिति॥

तत्र द्वितीयाभावे प्रथमाद्विर्वचनं प्रतिषिद्धत्वात्॥ ७॥

तत्र द्वितीयस्यैकाचोऽभावे प्रथमस्य द्विर्वचनं न प्राप्नोति। आटतुः, आटुः। किं कारणम्? प्रतिषिद्धत्वात्। अजादेर्द्वितीयस्येति प्रतिषेधात्॥

विवरण—'एकाच्' में बहुव्रीहि समास होने से व्यञ्जन सहित अच् लिया जाता है। यह व्यञ्जन किसी भी स्वर के साथ जुड़ सकता है। इस प्रकार 'अट् इ स' यहाँ पर अ भी प्रथम एकाच् है, अट् भी। साथ ही इ भी द्वितीय एकाच् है, टिस् भी। यहाँ शास्त्र को सम्पूर्ण कार्यशाली बनाने के लिए अट् को प्रथम एकाच् मानते हैं। साथ ही इसी हेतु से द्वितीय एकाच् के निरूपण के अवसर पर 'टिस्' को द्वितीय एकाच् मानते हैं। यहाँ द्वितीय एकाच् के अन्तर्गत 'ट्' का सम्मिलन प्रतिषिद्ध तो है नहीं। पर शास्त्र अहानि के तर्क से विहित है। अतः द्वितीय अच् सहित प्रथम अच् भिन्न सम्पूर्ण अच् हल् समूह द्वितीय एकाच् का विषय होता है।

व्याकरण में हल् का किसी के साथ भी योग एक सामान्य घटना है। अतएव 'भूयात्' की सिद्धि में 'भू यास् स् त्' यहाँ पर 'स् स् त्' भी संयोग है तथा स् त् भी। इस प्रकार प्रथम स् को भी तथा द्वितीय 'स्' को भी संयोगादि मानते हुए 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' (८.२.२९) से दोनों का लोप हो जाता है। साहित्य में भी 'अनुदार' शब्द में अन्+उदार विग्रह तथा अनु+दार इस प्रकार व्यञ्जन-सम्मिलन के द्वारा प्रथम का अर्थ 'उदारविहीन' तथा दूसरे का 'स्त्रियों के पीछे भागने वाला' यह अर्थ होता है।

वा०—न्द्रादि प्रतिषेध से भी।

भा०—यह जो 'न न्द्राः संयोगादयः' यह आचार्य प्रतिषेध करते हैं, उससे भी आचार्य ज्ञापित करते हैं कि पूर्व की निवृत्ति होने पर व्यञ्जन की निवृत्ति नहीं होती।

विवरण—'उन्दिदिषति' आदि उदाहरणों में नकार के द्विर्वचन के प्रतिषेध के लिये यह सूत्र है। यदि प्रथम एकाच् के अन्तर्गत आने वाले हल् द्वितीय एकाच् के अन्तर्गत सम्मिलित न हों, तब तो 'नकार' को स्वतः द्विर्वचन नहीं होगा। पुनः नकार को द्विर्वचन का प्रतिषेध पूर्वोक्त का ज्ञापक सिद्ध होता है।

[प्रसङ्गान्तर—] **वा०**—तब द्वितीय का अभाव होने पर प्रथम का अद्विर्वचन, प्रतिषिद्ध होने से।

भा०—[किसी अजादि धातु में] द्वितीय एकाच् का अभाव होने पर प्रथम [एकाच् को] द्विर्वचन प्राप्त नहीं होता। आटतुः, आटुः। क्या कारण है? प्रतिषिद्ध होने से। 'अजादेर्द्वितीयस्य' से प्रतिषेध होने से।

नैष दोषः। सति तस्मिन्प्रतिषेधः। सति द्वितीयद्विर्वचने प्रथमस्य प्रतिषेधः॥

सति तस्मिन्प्रतिषेध इति चेद्धलादिशेषे दोषः॥ ८॥

सति तस्मिन्प्रतिषेध इति चेद्धलादिशेषे दोषो भवति। हलादिशेषे सत्याद्ये हल्यनाद्यस्य लोपः स्यात्। इहैव स्यात्—पपाठ, पपाचेति। इह न स्यात् आटतुः, आटुरिति॥

लोकवद्धलादिशेषे॥ ९॥

लोकवद्धलादिशेषे सिद्धम्। तद्यथा—लोक ईश्वर आज्ञापयति—ग्रामा-

विवरण—इससे पूर्व प्रकरण में कहा गया है कि 'अजादेर्द्वितीयस्य' से द्वितीय एकाच् को विधीयमान द्विर्वचन प्रथम एकाच् के द्विर्वचन को बाध लेता है। ऐसी दशा में जहाँ द्वितीय एकाच् नहीं है, पर अजादि होने से 'अजादेर्द्वितीयस्य' की उपस्थिति सम्भव है, वहाँ भी प्रथम एकाच् के द्विर्वचन का बाधन होने लगेगा। इससे 'आटतुः' आदि में 'अट्' प्रथम एकाच् को द्विर्वचन नहीं हो सकेगा।

यह दोष जाति-पक्ष में है। इस पक्ष में अजादिसामान्य में सूत्र की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार वह प्रत्येक अजादि के प्रति अपनी उपस्थिति दिखाते हुए प्रथम एकाच् के द्विर्वचन का बाधन करने लगेगा।

भा०—यह दोष नहीं है। द्वितीय एकाच् के होने पर [प्रथम में] प्रतिषेध है। द्वितीय के द्विर्वचन होने पर, प्रथम एकाच् के द्विर्वचन का प्रतिषेध या बाध होता है।

विवरण—व्यक्ति पक्ष में समाधान है। इस पक्ष में द्वितीय एकाच् की सम्भावना से सम्बद्ध अजादि के प्रति ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। अतः अन्य एकाच् के प्रति सूत्र की प्रवृत्ति न होने से वह प्रथम एकाच् का बाध भी नहीं करेगा।

वा०— उसके होने पर प्रतिषेध कहें तो हलादि शेष में दोष।

भा०—यदि द्वितीय एकाच् के होने पर प्रथम एकाच् के द्विर्वचन का प्रतिषेध कहें तो हलादिशेष में दोष होगा। हलादिशेष में आद्य हल् होने पर अनाद्य हल् का लोप होगा। इससे पपाच,पपाठ में ही हो सकेगा। पर आटतुः, आटुः में 'हलादिः शेषः' (७.४.६०) से अनादि हल् का लोप नहीं हो पाएगा।

विवरण—'हलादिः शेषः' (७.४.६०) सूत्र अभ्यास के आदि हल् का शेष तथा अनादि हल् का लोप करता है। पर जहाँ आदि हल् है ही नहीं, वहाँ पूर्वोक्त व्यक्ति-पक्ष के अनुसार सूत्र की प्रवृत्ति ही नहीं होगी। इससे आदि हल् के शेष से सम्बद्ध अनादि हल् के लोप वाली विधि भी नहीं हो सकेगी।

वा०—हलादि शेष में लोक के समान।

भा०—हलादिशेष में लोक-व्यवहार के अनुरूप सिद्ध है। जैसे—लोक में राजा आज्ञापित करते हैं—हर गाँव से मनुष्यों को बुला लाओ। परन्तु गंगा से पूर्व

द्ग्रामान्मनुष्या आनीयन्तां प्राग्गङ्गं ग्रामेभ्यो ब्राह्मणा आनीयन्तामिति। येषु तत्र ग्रामेषु ब्राह्मणा न सन्ति न तर्हीदानीं ततोऽन्यस्यानयनं भवति। यथा तत्र क्वचिदपि ब्राह्मणस्य सत्ता सर्वत्राब्राह्मणस्य निवर्तिका भवत्येवमिहापि क्वचिदपि हलाद्यः सन्सर्वस्यानाद्यस्य हलो निवर्तको भवति॥

क्वचिदन्यत्र लोप इति चेद् द्विर्वचनम्॥ १०॥

क्वचिदन्यत्र लोप इति चेद् द्विर्वचनमप्येवं प्राप्नोति। क्वचिदपि द्वितीयः सन्सर्वस्य प्रथमस्य निवर्तकः स्यात्॥ तस्मादस्तु सति तस्मिन्

वाले गांवों से ब्राह्मणों को बुलाओ। अब जिन पूर्ववर्ती गाँवों में ब्राह्मण नहीं है, वहाँ उनसे भिन्न का आनयन नहीं होता। जिस प्रकार वहाँ कहीं भी ब्राह्मण की सत्ता सर्वत्र अब्राह्मण की निवर्तिका हो जाती है, उसी प्रकार कहीं भी आद्य हल् होते हुए सर्वत्र अनाद्य हल् का निवर्तक होता है।

विवरण—जाति-पक्ष में समाधान है। 'गङ्गा से पूर्व गाँवों से ब्राह्मणों को बुलाओ' इस वाक्य में अर्थापत्ति से सम्बद्ध एक अन्य वाक्य भी प्रास होता है—'पूर्व गाँवों से अब्राह्मण मनुष्यों को नहीं बुलाओ।' अब यदि ग्रामत्व जाति वाले किसी एक या दो गाँवों में भी प्रथम वाक्य चरितार्थ हो गया तो उसकी दृष्टि से सभी गाँवों के प्रति द्वितीय वाक्य उपयुक्त हो जाता है। ऐसा नहीं है कि सभी गाँवों के प्रति प्रथम वाक्य के चरितार्थ होने के पश्चात् ही द्वितीय वाक्य प्रयुक्त हो। इस स्थिति में किसी गाँव में प्रथम वाक्य के अनुसार ब्राह्मणों के न होने पर भी द्वितीय वाक्य की उपस्थिति से ब्राह्मणभिन्न का प्रतिषेध हो जाता है।

इसी प्रकार 'हलादिः शेषः' में भी 'आदि हल् शेष होता है' इस प्रथम वाक्य से सम्बद्ध अर्थापत्तिप्रास एक अन्य वाक्य भी निष्पन्न होता है—'अनादि हल् लुस होते हैं'। अब पपाच, पपाठ में प्रथम वाक्य की निष्पत्ति के पश्चात् उसकी दृष्टि से अन्य सभी स्थानों में आटतुः, आटुः में भी द्वितीय वाक्य की निष्पत्ति होती है। ऐसा नहीं है कि हर उदाहरण में प्रथम वाक्य की दृष्टि से द्वितीय वाक्य प्रयुक्त होता है।

वा०—कहीं भी होने पर अन्यत्र लोप, ऐसा कहने पर द्विर्वचन।

भा०—कहीं भी [आदि हल् शेष होता है, इस विधि के चरितार्थ] होने पर अन्यत्र [आदि हल् होने या न होने दोनों दशाओं में अनादि हल् का] लोप, ऐसा मानने पर द्विर्वचन में भी यही स्थिति प्रास होती है। [अजादि होने मात्र से द्वितीय एकाच् होने या न होने दोनों दशाओं में प्रथम एकाच् का द्विर्वचन प्रास नहीं होता।] कहीं भी द्वितीय एकाच् को द्विर्वचन—यह विधि प्रत्येक दशा के प्रथम एकाच् के द्विर्वचन का निवर्तक होने लगेगी।

विवरण—यहाँ पुनः जातिपक्ष में दोष है। 'अजादि धातु के द्वितीय एकाच् को द्विर्वचन' इस विधि के लिये दो परिस्थितियाँ सम्भव हैं—

प्रतिषेध इत्येव। ननु चोक्तं सति तस्मिन्प्रतिषेध इति चेद्धलादिशेषे दोष इति? प्रतिविधास्यते हलादिशेषे॥

न न्द्राः संयोगादयः॥ ६.१.३॥

किमर्थमिदमुच्यते?

न्द्रादेर्द्विर्वचनप्रसङ्गस्तत्र न्द्राणां प्रतिषेधः॥ १॥

न्द्रादेरेकाचो द्विर्वचनं प्राप्नोति तत्र न्द्राणां संयोगादीनां प्रतिषेध उच्यते॥

ईर्ष्यतेस्तृतीयस्य द्वे भवतः॥ २॥

---

१ अजादि है, द्वितीय एकाच् भी है—यहाँ यह विधि कार्यशील होगी।

२. अजादि है, द्वितीय एकाच् नहीं है—यहाँ यह विधि स्वतः कार्यशील नहीं होगी।

इस विधि के साथ अर्थापत्तिप्राप्त एक अन्य वाक्य भी निष्पन्न होता है—'अजादि धातु के प्रथम एकाच् को द्विर्वचन नहीं'।

इस वाक्य के जाति-पक्ष में उपरिलिखित दोनों परिस्थितियों में कार्यशील होने की प्राप्ति होती है। इस स्थिति में 'अटिटिषति' में प्रथम एकाच् में द्विर्वचन के अभाव के समान 'आटतुः' में भी प्रथम को द्विर्वचन प्राप्त नहीं होता, यही दोष है।

भा०—अतः वही पूर्वोक्त 'सति तस्मिन्....' के अनुसार व्यक्ति-पक्ष माना जावे। इस पर तो कहा था कि इस व्यक्ति-पक्ष में हलादि शेष में दोष होगा? [उत्तर—] इसका समाधान 'हलादिः शेषः' सूत्र में देंगे। [लक्ष्यानुसार यहाँ 'अजादेर्द्वितीयस्य' में व्यक्ति-पक्ष तथा 'हलादिः शेषः' में जाति-पक्ष का आश्रय करेंगे।]

इस सम्पूर्ण विमर्श का सारांश इस प्रकार है—

१. अजादि है द्वितीय एकाच् भी है—यह विधि कार्यशील, पूर्वोक्त-विधि का बाध।

२. अजादि है, द्वितीय एकाच् नहीं है—यह विधि स्वतः कार्यशील नहीं, पूर्वोक्त-विधि की प्रवृत्ति।

न न्द्राः संयोगादयः॥

भा०—यह सूत्र क्यों कहा गया है?

वा०—न्द्रादि का द्विर्वचन-प्रसङ्ग है, अतः न् द् र् का प्रतिषेध।

भा०—[द्वितीय एकाच् का द्विर्वचन कहने पर 'उन्दिदिषति' आदि में नकारादि [न्दिष्] एकाच् का द्विर्वचन प्राप्त होता है। [क्योंकि द्वितीय एकाच् के अन्तर्गत संयोगादि नकार वाला अक्षरसमूह परिगृहीत होता है।] अतः इस संयोगादि नकार के द्विर्वचन का प्रतिषेध कहा है।

वा०—ईर्ष्य के तृतीय को द्विर्वचन होता है।

ईर्ष्यतेस्तृतीयस्य द्वे भवत इति वक्तव्यम्। केचित्तावदाहुः—एकाच इति। ईर्ष्यिषिषति। अपर आह— व्यञ्जनस्येति। ईर्ष्यियिषति॥

कण्ड्वादीनां च॥ ३॥

कण्ड्वादीनां च तृतीयस्य द्वे भवत इति वक्तव्यम्। कण्डूयियिषति, असूयियिषति॥

वा नामधातूनाम्॥ ४॥

वा नामधातूनां तृतीयस्य द्वे भवत इति वक्तव्यम्। अश्वीयियिषति, अशिश्वीयिषति॥

अपर आह—यथेष्टं वा। यथेष्टं वा नामधातूनामिति। पुपुत्रीयिषति, पुतित्रीयिषति, पुत्रीयियिषति॥

भा०—ईर्ष्य के तृतीय को द्विर्वचन होता है, यह कहना चाहिये। इस पर कुछ लोग कहते हैं—ईर्ष्य के तृतीय एकाच् को—ईर्ष्यिषिषति। अतः 'स' को द्विर्वचन हुआ। अन्य लोग कहते हैं—तृतीय व्यञ्जन से युक्त एकाच् को—ईर्ष्यियिषति। यहाँ 'यि' को द्विर्वचन हुआ।

वा०—कण्डू आदि को भी।

भा०—कण्डू [से निष्पन्न समुदाय] के तृतीय एकाच् को द्विर्वचन होता है, यह कहना चाहिये। कण्डूयियिषति, असूयियिषति।

वा०—नामधातु के [तृतीय को] विकल्प से।

भा०—[अजादि] नामधातु [से निष्पन्न समुदाय] के तृतीय [एकाच्] को विकल्प से द्विर्वचन होता है, यह कहना चाहिये। अश्वीयियिषति, अशिश्वीयिषति। [यहाँ दूसरे पक्ष में द्वितीय एकाच् को द्विर्वचन हुआ।]

अन्य [आचार्य] कहते हैं—अथवा यथेष्ट।

नामधातु [से निष्पन्न समुदाय] के यथेष्ट [या तो प्रथम, या द्वितीय, या तृतीय] एकाच् को द्विर्वचन होता है। पुपुत्रीयिषति, पुतित्रीयिषति, पुत्रीयियिषति।

विशेष—इच्छा अर्थ में निष्पन्न क्यच् प्रत्ययान्त से पुनः इच्छा अर्थ में सन् प्रत्यय अन्त वाले नामधातु रूप विरल प्रयुक्त होते हैं। लोक में यह परिस्थिति कम देखने में आती है। इसका शाब्दिक अर्थ होगा—पुत्र की इच्छा करने की इच्छा करता है। किसी नवीन गृहस्थी के मन में जीवन से संन्यास के भाव पक्की तरह भर दिये गए हैं। वह गृहस्थी होने के कारण हल्के तौर पर पुत्र चाहता तो है, पर संन्यास के प्रति दृढ़ता के कारण उसकी वह इच्छा पूरी तौर पर जागृत नहीं हो पाती। इस विचित्र स्थिति में वह पुत्र की इच्छा की ही इच्छा करता है। स्पष्टतः ऐसी विचित्र स्थिति बहुत कम देखने में आने से लोक में ऐसे शब्दों का बहुत कम प्रयोग होता है। लोक तथा व्याकरण के नियमों की उपेक्षा करके यथेष्ट किसी भी एकाच् को द्विर्वचन विधान करने वाले इस वार्तिक से यही ध्वनित किया है।

पूर्वोऽभ्यासः ॥ ६.१.४ ॥

पूर्वोऽभ्यास इत्युच्यते, कस्य पूर्वोऽभ्याससंज्ञो भवति? द्वे इति वर्तते। द्वयोरिति वक्तव्यम्॥ स तर्हि तथा निर्देशः कर्तव्यः ? न कर्तव्यः। अर्थाद्विभक्तिविपरिणामो भविष्यति। तद्यथा— उच्चानि देवदत्तस्य गृहाणि, आमन्त्रयस्वैनम्। देवदत्तमिति गम्यते। देवदत्तस्य गावोऽश्वा हिरण्यम्। आढ्यो वैधवेयः। देवदत्त इति गम्यते। पुरस्तात्षष्ठीनिर्दिष्टं सदर्थात्प्रथमानिर्दिष्टं द्वितीयानिर्दिष्टं च भवति। एवमिहापि पुरस्तात्प्रथमानिर्दिष्टं सदर्थात्षष्ठीनिर्दिष्टं भविष्यति॥

उभे अभ्यस्तम्॥ ६.१.५ ॥

अभ्यस्तसंज्ञायां सहवचनम्॥ १ ॥

अभ्यस्तसंज्ञायां सहग्रहणं कर्तव्यम्। उभे अभ्यस्तं सहेति वक्तव्यम्॥ किं प्रयोजनम्?

आद्युदात्तत्वे पृथगप्रसङ्गार्थम्॥ २ ॥

पूर्वोऽभ्यासः॥

भा०—पूर्व की अभ्यास संज्ञा कही है, किससे पूर्व की अभ्यास संज्ञा होती है? [उत्तर-] 'द्वे' की अनुवृत्ति है। द्विरुक्त एकाच् अक्षर समूह के पूर्व की, ऐसा कहना चाहिए।

तो फिर उस प्रकार [षष्ठी विभक्ति अन्तवाला] निर्देश किया जावे। [उत्तर-] नहीं करना चाहिये। अर्थ से विभक्ति-विपरिणाम हो जाएगा। जैसे—'देवदत्त के घर बहुत ऊँचे हैं, उसे बुलाओ। यहाँ 'उसे' यह 'देवदत्त को' इस अर्थ वाला द्वितीयार्थक हो जाता है।

तथा—देवदत्त के गाएँ, घोड़े, सोना है। इस प्रकार यह वैधवेय़ आढ्य है। यहाँ 'देवदत्त का' यह षष्ठी निर्दिष्ट होते हुए अर्थतः प्रथमानिर्दिष्ट या द्वितीयानिर्दिष्ट हो जाता है। इसी प्रकार यहाँ भी पहले प्रथमानिर्दिष्ट [द्वे शब्द] अर्थतः षष्ठी निर्दिष्ट [द्वयोः] इस रूप में हो जायेगा।

उभे अभ्यस्तम्॥

वा—अभ्यस्त संज्ञा में 'सह' ग्रहण।

भा०—'उभे अभ्यस्तं सह' इस प्रकार कहना चाहिये। [ताकि द्विरुक्त सहभूत की एक अभ्यस्त संज्ञा हो। दोनों की दो संज्ञाएँ न हों।] क्या प्रयोजन है?

वा०—आद्युदात्तत्व में पृथक् प्रसङ्ग न हो, इसलिये।

आद्युदात्तत्वं सहभूतयोर्यथा स्यादेकैकस्य मा भूदिति॥ यस्मिन्नेवाभ्यस्तकार्येऽदोषस्तदेव पठितम्। 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (६.१.१५८) इति नास्ति यौगपद्येन संभवः। पर्यायस्तर्हि प्रसज्येत? पर्यायश्च पूर्वस्य तावत्परेण रूपेण व्यवहितत्वान्न भविष्यति। परस्य तर्हि स्यात्? तत्राचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति— न परस्य भवतीति यदयं बिभेत्यादीनां पिति प्रत्ययात्पूर्वमुदात्तं भवतीत्याह। एवं व्यवधानान्न पूर्वस्य ज्ञापकान्न परस्य, उच्यते चेदमभ्यस्तानामादिरुदात्तो भवतीति, तत्र स एव दोषः पर्यायः प्रसज्येत। तस्मात्सहग्रहणं कर्त्तव्यम्॥

न कर्त्तव्यम्। उभेग्रहणं क्रियते तत्सहार्थं विज्ञास्यते। अस्त्यन्यदुभेग्रहणस्य प्रयोजनम्। किम्? उभेग्रहणं संज्ञिनिर्देशार्थम्।

भा०—['अभ्यस्तानामादिः' सूत्र से विहित अभ्यस्त का] आद्युदात्तत्व द्विरुक्त सहभूत को हो। एक-एक को अलग-अलग आद्युदात्त न हो।

यहाँ तो जिस अभ्यस्त कार्य में दोष नहीं है, उसे ही [आपने 'सह' के प्रयोजन के रूप में] पढ़ा है। यहाँ तो 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (६.१.१५८) के अनुसार एक साथ अलग-अलग आद्युदात्तत्व सम्भव ही नहीं है।

तो फिर [सह ग्रहण न करने की स्थिति में] पर्याय से [आद्युदात्तत्व की] प्राप्ति होने लगेगी?

[पर्यायदोष का निवारण—] पर्याय से प्राप्ति की स्थिति में पूर्व अभ्यस्त को तो पर-रूप से व्यवहित होने के कारण आद्युदात्तत्व नहीं होगा। [प्रश्न—] तो फिर पर अभ्यस्त को प्राप्त होगा? [निवारण—] आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापित करती है कि पर [अभ्यस्त] को उदात्त नहीं होता। क्योंकि उन्होंने बिभेति आदि को पित् प्रत्यय से पूर्व उदात्त कहा है ['भीह्रीभृहुमदजन....'(६.१.१९२) से प्रत्यय से पूर्व को उदात्त कहा है। यदि इससे पूर्ववर्ती सूत्र 'अनुदात्ते च' (६.१.१९०) से विधीयमान आद्युदात्त अभ्यस्त के पर-खण्ड को सम्पन्न होता तब तो 'भीह्री....' सूत्र से वही कार्य करने की आवश्यकता ही नहीं थी। फिर भी 'भीह्री...' से किया गया वही कार्य ज्ञापित करता है कि पर-अभ्यस्त को आद्युदात्त नहीं होता।]

इस प्रकार व्यवधान होने से पूर्व [अभ्यस्त] को तथा ज्ञापक से पर [अभ्यस्त] को नहीं हो सकता। फिर भी कहा तो है कि अभ्यस्त को आद्युदात्त होता है। [अतः उसे सावकाश तो होना ही चाहिये।] अतः फिर वही दोष है—पर्याय की प्राप्ति होगी। अतः इसके निवारण के लिए इस सूत्र में 'सह' ग्रहण करना चाहिये।

नहीं करना चाहिए। इस सूत्र में 'उभे' ग्रहण किया है, उसे 'सह' अर्थ में समझ लिया जाएगा। पर 'उभे' ग्रहण का प्रयोजन तो अन्य ही है। क्या? उभे ग्रहण संज्ञी का निर्देश करने के लिये है। [यह बताने के लिये कि आखिर अभ्यस्त संज्ञा

अन्तरेणाप्युभेग्रहणं प्रक्लृप्तः संज्ञिनिर्देशः। कथम्? द्वे इति वर्तते। इदं तर्हि प्रयोजनम्—यत्रोभे शब्दरूपे श्रूयेते तत्राभ्यस्तसंज्ञा यथा स्यात्। इह मा भूत्—ईर्त्सन्ति, ईप्सन्ति। ईर्त्सन्, ईप्सन्। ऐर्त्सन्, ऐप्सन्। किं च स्यात्? अद्भावो नुम्प्रतिषेधो जुस्भाव इत्येते विधयः प्रसज्येरन्॥

अद्भावे तावन्न दोषः। सप्तमे योगविभागः करिष्यते। इदमस्ति 'अदभ्यस्तात्' (७.१.४) इति। तत आत्मनेपदेषु। आत्मनेपदेषु चाद्भवति। अनत इत्युभयोः शेषः॥ यदप्युच्यते नुम्प्रतिषेध इत्येकादेशे कृते व्यपवर्गाभावान्न

किसकी होती है।]

परन्तु 'उभे' ग्रहण के बिना भी संज्ञी का निर्देश सम्पन्न हो सकता है। किस प्रकार? 'द्वे' की अनुवृत्ति है। [उसके विभक्तिविपरिणाम से दोनों की अभ्यस्त संज्ञा होती है, यह अर्थ हो जाएगा।]

अच्छा तो फिर [उभे ग्रहण इस अन्य प्रयोजन के लिए है] कि जहाँ दोनों 'द्विरुक्त' शब्दरूप सुने जाते हैं, वहाँ अभ्यस्त संज्ञा हो, [जहाँ लुप्त हो जाते हैं] वहाँ अभ्यस्त संज्ञा न हो। जैसे ईर्त्सन्ति इत्यादि। [अभ्यस्त संज्ञा हो तो] क्या हो जाएगा? [ईर्त्सन्ति, ईप्सन्ति में] अद्भाव, [ईर्त्सन्, ईप्सन् में] नुम् प्रतिषेध, [ऐर्त्सन्, ऐप्सन् में] जुस् भाव ये विधियाँ प्राप्त होने लगेंगी।

विवरण—जैसे ईर्त्सन्ति, ईप्सन्ति शब्द क्रमशः ऋध् तथा आप् धातु से सन् होने पर 'आप्ज्ञप्यृधामीत्' (७.४.५५) से ईत्व, रपरत्व के पश्चात् ईर् त्स+अ+झि इस दशा में 'त्स' को द्विर्वचन, पश्चात् 'अत्र लोपो....' (७.४.५८) से अभ्यास-लोप द्वारा निष्पन्न हुए हैं। यहाँ यदि अभ्यास-लोप के पश्चात् भी अभ्यस्त संज्ञा हो तो 'अदभ्यस्तात्' (७.१.४) सूत्र से झि के स्थान पर अत् आदेश की प्राप्ति होगी।

भा०—अद्भाव के प्रसङ्ग में तो दोष नहीं है। सप्तम अध्याय में योग विभाग करेंगे—अदभ्यस्तात्, पश्चात् 'आत्मनेपदेषु' आत्मनेपद परे रहने पर भी अत् आदेश होता है। पश्चात्—'अनतः' यह दोनों सूत्रों का शेष है। अतः अर्थ होगा—दोनों सूत्रों से विहित कार्य अनकारान्त से होते हैं। [अतः सनन्त अकारान्त अभ्यस्त से कहीं भी अत् आदेश नहीं होगा।]

[ईर्त्सन्, ईप्सन् शब्द उसी प्रकार क्रमशः ऋध् तथा आप् सनन्त धातुओं से शतृ प्रत्यय द्वारा निष्पन्न हैं। यहाँ अभ्यास-लोप के पश्चात् भी अभ्यस्त संज्ञा होने पर 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (७.१.७८) सूत्र से नुम्-प्रतिषेध की प्राप्ति होती है।]

यह जो कहा है कि नुम् प्रतिषेध की प्राप्ति होती है। [वस्तुतः ऐसा नहीं है। क्योंकि 'ईर्त्स+अ+अन्' यहाँ 'अतो गुणे' (६.१.९४) से पररूप] एकादेश करने के पश्चात् [अभ्यस्त और शतृ के बीच] विवृति न होने से [नुम् प्रतिषेध] नहीं होगा।

भविष्यति॥ इदमिह संप्रधार्यम्—नुम्प्रतिषेधः क्रियतामेकादेश इति किमत्र कर्तव्यम्? परत्वान्नुम्प्रतिषेधः। नित्य एकादेशः। कृतेऽपि नुम्प्रतिषेधे प्राप्नोत्यकृतेऽपि। एकादेशोऽप्यनित्यः। अन्यस्य कृते नुम्प्रतिषेधे प्राप्नोत्यन्यस्याकृते? शब्दान्तरस्य च प्राप्नुवन्विधिरनित्यो भवति। अन्तरङ्गस्तर्ह्येकादेशः। कान्तरङ्गता? वर्णावाश्रित्यैकादेशः, विधिविषये नुम्प्रतिषेधः, विधिश्च नुमः सर्वनामस्थाने, प्राक्तु सर्वनामस्थानोत्पत्तेरेकादेशः। तत्र नित्यत्वाच्चान्तरङ्गत्वाच्चैकादेश एकादेशे कृते व्यपवर्गाभावान्न भविष्यति॥ यदप्युच्यते जुस्भाव इति, एकादेशे कृते व्यपवर्गाभावान्न भविष्यति। एकादेश इत्युच्यते, केन चात्रैकादेशः? अन्तिना। नात्रान्तिभावः प्राप्नोति। किं कारणम्? जुस्भावेन बाध्यते। नात्र जुस्भावः प्राप्नोति। किं कारणम्? शपा व्यवहितत्वात्। एकादेशे कृते नास्ति व्यवधानम्। किं पुनः कारणं

पहले यह सम्प्रधारणा कर लें—पहले ['नाभ्यस्ताच्छतुः से'] नुम् प्रतिषेध करें या ['अतो गुणे से पररूप'] एकादेश। पहले क्या करना चाहिये। [उत्तर—] परत्व होने से नुम् प्रतिषेध। पर एकादेश नित्य है। यह नुम् प्रतिषेध के करने या न करने दोनों दशाओं में प्राप्त होता है। [निवारण—] एकादेश भी अनित्य है, नुम् प्रतिषेध करने पर अन्य [ईर्त्स+अ+अत्] को नुम्प्रतिषेध न करने पर अन्य [ईर्त्स+ अ+अन्] को प्राप्त होता है। परिभाषा है कि शब्दान्तर को प्राप्त होने वाली विधि अनित्य होती है।

तो फिर एकादेश अन्तरङ्ग है। अन्तरङ्गता क्या है? एकादेश दो वर्णों को मानकर होता है। पर नुम्-प्रतिषेध तो जिन परिस्थितियों में नुम् का विधान है, उन्हीं में होता है। नुम् की विधि सर्वनामस्थान परे रहने पर होती है। पर इस सर्वनामस्थान उत्पत्ति से पहले ही एकादेश होता है। अतः नित्य होने तथा अन्तरङ्ग होने से भी एकादेश पहले होगा। एकादेश कर लेने पर व्यपवर्ग न होने से नुम् का प्रतिषेध नहीं होगा। [इस प्रकार इस प्रयोजन के लिये भी 'उभे' ग्रहण की उपयोगिता नहीं है।]

यह जो कहा है कि जुस् भाव के [न होने देने के लिये उभे की उपयोगिता है। ऐर्त्सन्, ऐप्सन् क्रमशः ऋध् तथा आप् धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन के रूप हैं। यहाँ आ+ईर्त्स+अ+झि इस दशा में अभ्यास लोप के पश्चात् भी अभ्यस्त संज्ञा की स्थिति में 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' (३.४.१०९) से जुस् आदेश की प्राप्ति होती है।]

यहाँ एकादेश के पश्चात् व्यपवर्ग न होने से नहीं होगा। [प्रश्न—] पर आप एकादेश कह रहे हैं। यहाँ एकादेश किसके साथ होगा? [उत्तर—] अन्ति के साथ। [प्रतिनिवारण—] यहाँ अन्तिभाव पाता ही नहीं। क्या कारण है? जुस् भाव से बाधा जाता है। यहाँ जुस् भाव प्राप्त नहीं होता। क्या कारण है? शप् के द्वारा व्यवधान होने से। एकादेश के पश्चात् व्यवधान नहीं होगा। [इस उल्लेख के

निमित्तवानन्तिरेकादेशं तावत्प्रतीक्षते न पुनस्तावत्येव निमित्तमस्तीत्यन्तिभावेन भवितव्यम्? इहापि तर्हि तावत्येव निमित्तमस्तीत्यन्तिभावः स्यात्— अनेनिजुः, पर्यवेविषुः? अस्तु। अन्तिभावे कृते स्थानिवद्भावाज्झिग्रहणेन ग्रहणाज्जुस्भावो भविष्यति॥ अथवा यद्यपि निमित्तवानन्तिरयं तस्य जुस्भावोऽपवादो न चापवादविषय उत्सर्गोऽभिनिविशते। पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पश्चादुत्सर्गाः। प्रकल्प्य वापवादविषयं तत उत्सर्गः प्रवर्तते। न तावदत्र कदाचिदप्यन्तिभावो भवति। अपवादं जुस्भावं प्रतीक्षते॥

न खल्वपि क्वचिदभ्यस्तानां झेश्चानन्तर्यम्। सर्वत्र विकरणैर्व्यवधानम्। तेनानेनावश्यं विकरणनाशः प्रतीक्ष्यः, क्वचिल्लुका क्वचिच्श्लुना क्वचिदेकादेशेन। स यथैव श्लुलुकौ प्रतीक्षते, एवमेकादेशमपि प्रतीक्षते॥

अनुसार आ+ईर्त्स+अ+झि इस स्थिति में 'अतो गुणे' (६.१.९४) पररूप के पश्चात् आ ईर्त्स झि बन जाने पर अन्तिभाव को बाध कर जुस् की प्राप्ति होती है—यह दोष प्रदान करने वाले का आशय है।]

क्या कारण है कि [अङ्ग आदि] निमित्त को मान कर होने वाला अन्त् आदेश एकादेश की प्रतीक्षा करता है। ऐसा क्यों नहीं कि एकादेश से पूर्व ही अन्त् आदेश की उपस्थिति की सभी शर्तें मौजूद हैं। अतः पहले अन्त् आदेश हो जावे। [आ ईर्त्स अ झि इस स्थिति में पहले अन्तिभाव हो जाना चाहिये। पुनः एकादेश होने पर व्यपवर्ग न होने से जुस् नहीं होगा, यह दोष के समाधान करने वाले का आशय है।]

तब तो फिर अन्तिभाव की सभी शर्तें वर्तमान हैं इसे देखते हुए अनेनिजुः, पर्यवेविषुः [द्वित्व से पूर्व ही] अन्तिभाव हो जाना चाहिये। [फिर यहाँ भी जुस् किस प्रकार हो पाएगा—यह प्रश्न है।] [समाधान—] ठीक है, अन्तिभाव कर लेने के पश्चात् स्थानिवद्भाव से झि ग्रहण से गृहीत हो जाने से जुस् भाव हो जाएगा। अथवा यद्यपि उस समय अन्त् आदेश की सभी शर्तें उपस्थित हैं फिर भी इस अन्ति का जुस् भाव अपवाद है। अपवाद विषय में उत्सर्ग उपस्थित नहीं होता। पहले अपवाद उपस्थित होता है, पश्चात् उत्सर्ग। अपवाद-विषय को छोड़ कर उत्सर्ग प्रवृत्त होता है। यहाँ पर कभी अन्तिभाव नहीं होता अपितु यह [द्विर्वचन के पश्चात्] प्राप्त होने वाले जुस् भाव की प्रतीक्षा करता है।

दूसरी बात यह है कि [प्रारम्भ में] अभ्यस्त का झि के साथ सीधे आनन्तर्य कभी मिलता ही नहीं। सर्वत्र विकरणों से व्यवधान मिलता है। इसलिये [जुस् भाव को अपनी सावकाशता प्राप्त करने के लिये] विकरणनाश की प्रतीक्षा करनी होगी [वह विकरणनाश] कभी लुक् से, कभी श्लु से, कभी एकादेश से होता है। इस प्रकार जुस् भाव जिस प्रकार श्लु, लुक् की प्रतीक्षा करता है, उसी प्रकार एकादेश की भी प्रतीक्षा करेगा। [जुस् भाव अपनी सावकाशता प्राप्त करने के लिये

एवं तर्हीदमिह व्यपदेश्यं सदाचार्यो न व्यपदिशति। किम्? स्थानिवद्भावम्। स्थानिवद्भावाद्व्यवधानं व्यवधानान्न भविष्यति। पूर्वविधौ स्थानिवद्भावो न चायं पूर्वस्य विधिः। पूर्वस्मादपि विधिः पूर्वविधिः॥ तदेतदसति प्रयोजन उभेग्रहणं सहार्थं विज्ञास्यते॥

कथं कृत्वैकैकस्याभ्यस्तसंज्ञा प्राप्नोति? प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिर्दृष्टेति। तद्यथा—प्रत्येकं वृद्धिगुणसंज्ञे भवतः। ननु चायमप्यस्ति दृष्टान्तः—समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिरिति। तद्यथा—गर्गाः शतं दण्ड्यन्तामिति। अर्थिनश्च राजानो हिरण्येन भवन्ति न च प्रत्येकं दण्डयन्ति।

श्लु, लुक्, एकादेश की प्रतीक्षा करता है। इन विधियों के सम्पन्न होते समय अन्तिभाव उत्सर्ग होने से कार्यशील नहीं होता। इस प्रकार यहाँ उभे ग्रहण न करने पर 'ऐतर्सन्' आदि में एकादेश के पश्चात् जुस् की प्राप्ति होती है। इसके निवारण के लिये 'उभे' ग्रहण करना होगा—यह प्रयोजनवादी का आशय है।]

अच्छा तो फिर यहाँ आचार्य एक व्यपदेशयोग्य तथ्य को प्रकट नहीं कर रहे हैं। क्या? स्थानिवद्भाव को। [एकादेश के] स्थानिवद्भाव होने से [अभ्यस्त और झि के बीच अकार का] व्यवधान है। व्यवधान होने से यहाँ [जुस् भाव] नहीं होगा। ['अचः परस्मिन्.....' (१.१.५६) सूत्र से] पूर्व-विधि में स्थानिवद्भाव होता है, यह तो पूर्वविधि नहीं है। [अकार के स्थानिवद्भाव के द्वारा उसके पूर्व को नहीं, अपितु उसके उत्तर को जुस् भाव का निषेध करना है।]

पूर्व से उत्तर को विधि [इस पञ्चमी तत्पुरुष के द्वारा पूर्व से उत्तर के लिये भी स्थानिवद्भाव मान्य] होता है। [इस प्रकार सिद्ध हुआ कि यहाँ 'उभे' ग्रहण न करने पर भी जुस् भाव नहीं होगा। अतः इसके निवारण के लिए 'उभे' का प्रयोजन नहीं है।] अतः इस प्रयोजन के न होने पर 'उभे' ग्रहण 'सह' अर्थ के लिये जाना जाएगा। [इससे उपरिलिखित पर्यायता वाला दोष नहीं आएगा।]

[प्रतिप्रश्न] यहाँ [पर्याय से] एक-एक की अभ्यस्त संज्ञा किस प्रकार प्राप्त होती है? [समाधान—] प्रत्येक के साथ वाक्य की परिसमाप्ति देखी गई है। जैसे—प्रत्येक की वृद्धि, गुण संज्ञा होती है।

क्यों, यह दृष्टान्त भी तो है—समुदाय में वाक्यपरिसमाप्ति होती है। जैसे—'गार्ग्य' गोत्र वाले लोगों पर सौ रुपये का दण्ड लगाओ। इस प्रकार का राजादेश होने पर, यद्यपि राजगण धन के लोभी होते हैं, फिर भी उनके अधिकारीगण प्रत्येक को दण्डित नहीं करते।

विशेष—किसी वाक्य में एक ही क्रिया का एक कारक वाले अनेक पदों के साथ समानाधिकरण होने पर उस क्रिया का सम्बन्ध उन अनेक पदों के साथ अलग-अलग भी होता है, तथा मिल कर भी होता है। इसका नियम प्रकरण आदि

सत्येतस्मिन्दृष्टान्ते तत्र यदि प्रत्येकमित्युच्यत इहापि सहग्रहणं कर्तव्यम्। अथ तत्रान्तरेण प्रत्येकमिति वचनं प्रत्येकं गुणवृद्धिसंज्ञे भवत इहापि नार्थः सहग्रहणेन॥

जक्षित्यादयः षट्॥ ६.१.६॥

जक्षित्यादिषु सप्तग्रहणं वेवीत्यर्थम्॥ १॥

जक्षित्यादिषु सप्तग्रहणं कर्तव्यम्। सप्त जक्षित्यादयोऽभ्यस्तसंज्ञका भवन्तीति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? वेवीत्यर्थम्। वेवीतेरभ्यस्तसंज्ञा यथा स्यात्। वेव्यते। 'अभ्यस्तानामादिः' (६.१.१८३) इत्याद्युदात्तत्वं भवति।

अपरिगणनं वाऽऽगणान्तत्वात्॥ २॥

से होता है। पर इसकी कोई विशिष्ट पहचान नहीं है। इंग्लिश आदि में इसके लिये अलग-अलग शब्दों को प्रयुक्त माना जाता है। वहाँ and का प्रयोग होने पर क्रिया का सम्बन्ध सामान्यतया अलग-अलग होने से वह कारक बहुवचन माना जाता है—gold and silver are precious metals परन्तु as well as का प्रयोग होने पर क्रिया का सम्बन्ध एक साथ मिलकर कहे जाने से वह कारक एकवचन माना जाता है—Sanskrit as well as Arabic was taught there.

भा०—इस दृष्टान्त के होने पर यदि वहाँ 'प्रत्येक' ग्रहण किया है तो यहाँ भी [उसकी अवगति के लिए] सह ग्रहण करना चाहिये। परन्तु यदि वहाँ 'प्रत्येकम्' ग्रहण के बिना ही [प्रकरण आदि से अवगति होकर] प्रत्येक की गुण-वृद्धि संज्ञा होती है, तो यहाँ भी सह ग्रहण की आवश्यकता नहीं है।

जक्षित्यादयः षट्॥

वा०—जक्षित्यादि सूत्र में सप्त ग्रहण, वेवीति के लिये।

भा०—जक्षित्यादि सूत्र में [षट् के स्थान पर] सप्त ग्रहण करना चाहिए। जक्ष् इत्यादि सात धातुएँ अभ्यस्त संज्ञा वाली होती हैं। यह कहना चाहिये। [अजहत्स्वार्था वृत्ति में 'जक्ष्' को भी सम्मिलित कर लेने पर 'वी' धातु सातवीं बन जाती है, वह छह में परिगृहीत नहीं हो पाती।] क्या प्रयोजन है? 'वेवीति' के लिए। वेवीति की अभ्यस्त संज्ञा हो जावे। वेव्यते। [अभ्यस्त संज्ञा होने से] 'अभ्यस्तानामादिः' (६.१.१८३) से आद्युदात्तत्व हो जावे। [अन्यथा वेवी+अ+त इस दशा में 'धातोः' (६.१.१६२) से 'वेवी' के अन्तिम अक्षर को उदात्त करने पर, यणादेश करने पर 'उदात्तस्वरितयोर्यणः.....' (८.२.४) से अकार को स्वरितत्व की प्राप्ति होती।]

वा०—अथवा परिगणन अनावश्यक, आगणान्तत्व होने से।

न वार्थः परिगणनेन। अस्त्वागणान्तमभ्यस्तसंज्ञा॥ इहापि तर्हि प्राप्नोति—आङः शासु? अस्तु। अभ्यस्तकार्याणि कस्मान्न भवन्ति? भूयिष्ठानि परस्मैपदेष्वात्मनेपदी चायम्। स्वरस्तर्हि प्राप्नोति? यत्राप्यस्यात्मनेपदेष्वभ्यस्तकार्यं स्वरस्तत्राप्यनुदात्तेतः परं लसार्वधातुकमनुदात्तं भवतीत्यनुदात्तत्वे कृते नास्ति विशेषो धातुस्वरेणोदात्तत्वे सत्यभ्यस्तस्वरेण वा॥ षसिवशी छान्दसौ। दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति॥ चर्करीतमभ्यस्तमेव॥ ह्नुङस्तर्हि प्राप्नोति? अस्तु। अभ्यस्तकार्याणि कस्मान्न भवन्ति? भूयिष्ठानि परस्मैपदेष्वात्मनेपदी चायम्। स्वरस्तर्हि प्राप्नोति? अह्न्विङोरिति प्रतिषेधविधानसामर्थ्यात्स्वरो न भविष्यति॥

भा०—अथवा [वेवी का] परिगणन आवश्यक नहीं। उस गण के अन्त तक अभ्यस्त संज्ञा होने से।

तब तो यहाँ भी [अभ्यस्त संज्ञा] प्राप्त होती है—आङ् से उत्तर शास् धातु? हो जावे। अभ्यस्त कार्य क्यों नहीं होते? अधिकांश कार्य परस्मैपद परे रहने पर होते हैं, पर यह धातु तो आत्मनेपदी है।

[अभ्यस्त संज्ञा होने पर 'अभ्यस्तानामादिः' (६.१.१८३) सूत्र से आद्युदात्त] स्वर तो प्राप्त होता है? [समाधान—] [उन उदाहरणों में जहाँ अभ्यस्त संज्ञा होगी] वहाँ आत्मनेपद परे रहने पर अभ्यस्त कार्य आद्युदात्त स्वर पायेगा [तथा अभ्यस्त संज्ञा न करने पर 'तास्यनुदात्तेन्ङित्.....' (६.१.१८०) सूत्र से] अनुदात्तेत् धातु से परे लसार्वधातुक को अनुदात्तत्व होकर 'धातोः' से अन्तोदात्त पायेगा। अतः दोनों ही स्थितियों में आशासाते के 'शा' को ही उदात्त होगा। इस प्रकार धातु स्वर से उदात्त हो या अभ्यस्तस्वर से—अथवा अभ्यस्त संज्ञा न हो या हो, इससे कार्य में कोई विभेद नहीं आता।

षस् तथा वश् धातुएँ छान्दस हैं। छन्द में उदाहरणस्वरूप को देखते हुए तदनुकूल विधि होती है। [इस नियम से वहाँ अभ्यस्त संज्ञा नहीं होगी] चर्करीत [अर्थात् यङ्लुगन्त द्विर्वचन होने से] अभ्यस्त होता ही है।

तो फिर 'ह्नुवाते' उदाहरण के लिए ह्नुङ् की अभ्यस्त संज्ञा पाती है? हो जावे। अभ्यस्त कार्य क्यों नहीं होते? अधिकांश कार्य परस्मैपद परे रहने पर होते हैं। यह तो आत्मनेपदी है। तो फिर पूर्वोक्त के अनुसार स्वर तो पाता है। [यदि अभ्यस्त संज्ञा होगी तो अभ्यस्त धातु को आद्युदात्त होगा, यदि नहीं होगी तो प्रत्यय-स्वर से प्रत्यय को आद्युदात्त होगा]। 'अह्न्विङोः' इस प्रतिषेध-विधान सामर्थ्य से स्वर नहीं होगा। [यदि 'ह्नु' की अभ्यस्त संज्ञा हो, तब तो अभ्यस्त को आद्युदात्त होने पर 'अनुदात्तं पदम्...' (६.१.१५२) से शेष निघात द्वारा प्रत्यय को अनुदात्त होगा ही। पुनः 'तास्यनुदात्तेन्ङित्....' सूत्र में 'अह्न्विङोः' के द्वारा ह्नु

अथवा सप्तैवेमे धातवः पठ्यन्ते। जक्ष् अभ्यस्तसंज्ञो भवति। इत्यादयश्च षट्। जक्षित्यादयः षडिति॥

तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य॥ ६.१.७॥

तुजादिषु च्छन्दःप्रत्ययग्रहणम्॥ १॥

तुजादिषु च्छन्दःप्रत्ययग्रहणं कर्तव्यम्। छन्दसि तुजादीनां दीर्घो भवतीति वक्तव्यम्। अस्मिंश्चास्मिंश्च प्रत्यय इति वक्तव्यम्। इह मा भूत्—तुतोज शबलान्हरीन्॥

अनारम्भो वापरिगणितत्वात्॥ २॥

अनारम्भो वा पुनश्छन्दसि दीर्घत्वस्य न्याय्यः। कुतः? अपरिगणितत्वात्। न हि च्छन्दसि दीर्घस्य परिगणनं कर्तुं शक्यम्। किं कारणम्?

अन्येषां च दर्शनात्॥ ३॥

येषामपि दीर्घत्वं नारभ्यते तेषामपि च्छन्दसि दीर्घत्वं दृश्यते। तद्यथा—पूरुषः, नारक इति॥

से उत्पन्न लसार्वधातुक प्रत्यय के अनुदात्तत्व-निवारण की आवश्यकता ही क्या थी? पुनः यह निषेध ज्ञापित करता है कि यहाँ अभ्यस्त कार्य स्वर नहीं होता।]

अथवा यहाँ सात धातुएँ परिपठित हैं। 'जक्ष्' [यह अविभक्तिक निर्देश है] इसका अर्थ—जक्ष् धातु अभ्यस्तसंज्ञक होती है। पुनः 'इत्यादयश्च षट्'। ['इति' से जक्ष् का परामर्श है तथा आदि शब्द समीपवाचक है। अतः अर्थ होगा—जक्ष् के समीपवर्ती छह धातुएँ अभ्यस्त संज्ञा वाली होती हैं।]

तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य॥

वा०—तुजादि सूत्र के अन्तर्गत छन्द और प्रत्यय-ग्रहण।

भा०—तुजादि सूत्र के अन्तर्गत छन्द तथा प्रत्यय-ग्रहण भी करना चाहिये। तुजादि को दीर्घ छन्द में होता है, यह कहना चाहिये। साथ ही इस इस [निश्चित] प्रत्यय परे रहने पर होता है, यह कहना चाहिये। ताकि यहाँ न हो—तुतोज शबलान् हरीन् (=चितकबरे घोड़ों को चलाया।)

वा०—अथवा अनारम्भ, अपरिगणितत्व होने से।

भा०—अथवा छन्द में दीर्घत्व का आरम्भ न करना समुचित है। क्यों? छन्द में दीर्घ का परिगणन करना शक्य नहीं है। क्या कारण है?

वा०—अन्यों का भी दर्शन होने से।

भा०—जिनके दीर्घत्व का आरम्भ नहीं किया गया, उनका भी छन्द में दीर्घत्व देखा जाता है। जैसे—पूरुषः, नारकः।

अनेकान्तत्वाच्च ॥ ४ ॥

येषां चाप्यारभ्यते तेषामप्यनेकान्तः। यस्मिन्नेव च प्रत्यये दीर्घत्वं दृश्यते तस्मिन्नेव च न दृश्यते। मामहान उक्थपात्रम्। ममहान इति च॥

लिटि धातोरनभ्यासस्य॥ ६.१.८ ॥

धातोरिति किमर्थम्? ईहाञ्चक्रे। नैतदस्ति। लिटीत्युच्यते न चात्र लिटं पश्यामः। प्रत्ययलक्षणेन। न लुमता तस्मिन्निति प्रत्ययलक्षणस्य प्रतिषेधः। इदं तर्हि—ससृवांसो विशृण्विरे॥

लिटि द्विर्वचने जागर्तेर्वावचनम्॥ १ ॥

लिटि द्विर्वचने जागर्तेर्वेति वक्तव्यम्। यो जागार तमृचः कामयन्ते। यो जजागार तमृचः कामयन्ते॥

वा०—अनेकान्तत्व होने से भी।

भा०—जिनके दीर्घत्व का आरम्भ किया, उनका भी [दीर्घत्व] प्रायिक है। जिस प्रत्यय के परे रहने पर दीर्घत्व देखा जाता है, उसी प्रत्यय के परे रहने पर यह नहीं भी देखा जाता। मामहान उक्थपात्रम् (सुपूजित यज्ञीय उक्थपात्र), ममहान उक्थपात्रम्—यह भी।

लिटि धातोरनभ्यासस्य॥

भा०—यहाँ 'धातोः' क्यों कहा गया है? ईहाञ्चक्रे। [यहाँ 'ईहाम्' इस आमन्त के धातु न होने से द्विर्वचन नहीं होता।

यह प्रत्युदाहरण नहीं है। क्योंकि लिट् परे रहने पर द्विर्वचन कहा गया है। पर हम यहाँ लिट् नहीं देखते। [ईहाम् से उत्पन्न लिट् का 'आमः' (२.४.८१) से लुक् हो जाता है।]

प्रत्ययलक्षण से [लिट् का श्रवण होगा]। 'न लुमता तस्मिन्' ('न लुमताङ्गस्य' १.१.६३ पर वार्तिक) से प्रत्ययलक्षण प्रतिषेध होगा। तो फिर यहां—ससृवांसो विशृण्विरे (सरकते हुए उन्होंने सुना) [यहाँ श्रु से उत्पन्न लिट् के स्थान में इरेच् करने पर 'छन्दस्युभयथा' (३.४.११७) से सार्वधातुक होने से 'श्रुवः शृ च' (३.१.७४) से श्नु विकरण तथा शृ आदेश होता है। यहाँ लिट् परे रहने पर 'शृणु' इस विकरणान्त समुदाय के धातु न होने से द्विर्वचन नहीं होता।]

वा०—लिट् परे रहने पर द्विर्वचन में जागर्ति को विकल्प-वचन।

भा०—लिट् परे रहने पर द्विर्वचन के प्रसङ्ग में 'जागृ' धातु को विकल्प से द्विर्वचन होता है, यह कहना चाहिये। यो जागार तमृचः कामयन्ते। (जो जागृत या सचेत है, उसे ही ऋचाएँ पसन्द करती हैं।) [अन्य पक्ष में द्विर्वचन होने पर—]

अनभ्यासस्येति किम्? कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदम्। नोनूयतेर्नोनाव॥

अभ्यासप्रतिषेधानर्थक्यं च च्छन्दसि वावचनात्॥ २॥

अभ्यासप्रतिषेधश्चानर्थकः। किं कारणम्? छन्दसि वावचनात्। अवश्यं छन्दसि वा द्वे भवत इति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्?

प्रयोजनमादित्यान्याचिषामहे॥ ३॥

यियाचिषामह इति प्राप्ते। देवता नो दाति प्रियाणि। ददाति प्रियाणि। मघवा दातु। मघवा ददातु। स नः स्तुतो वीरवद्धातु। वीरवद्दधातु। यावतेदानीं छन्दसि वा द्वे भवत इत्युच्यते, धातुग्रहणेनापि नार्थः। कस्मान्न भवति—ससृवांसो विशृण्विर इति? छन्दसि वावचनात्॥ तदेतद्धातुग्रहणं सांन्यासिकं तिष्ठतु तावत्॥

यो जजागार तमृचः कामयन्ते।

अनभ्यासस्य क्यों कहा है? कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदम् (ऋ० १.७९.२) (कृष्ण वर्ण वाले वर्षण-शील मेघ ने भयंकर शब्द या गर्जन किया)। यहाँ यङन्त 'नोनूय' से [यङ्लुक् होने पर 'नोनू' से लिट् परे रहने पर 'नोनाव' बनता है। 'अनभ्यासस्य' कहने से इससे अभ्यास को द्विर्वचन नहीं होता।]

वा०—अभ्यास-प्रतिषेध का आनर्थक्य भी, छन्द में वावचन होने से।

भा०—अभ्यास-प्रतिषेध भी अनर्थक है। क्या कारण है? छन्द में वावचन होने से। अवश्य ही छन्द में विकल्प से द्वित्व होता है, यह कहना चाहिये। क्या प्रयोजन है?

वा०—प्रयोजन 'आदित्यान् याचिषामहे' [इत्यादि है]।

भा०—'यियाचिषामहे' की प्राप्ति में। [सनन्त याच् से द्विर्वचन होने पर उक्त रूप की प्राप्ति है।] देवता नो दाति प्रियाणि (हमारे देवता प्रिय वस्तु प्रदान करते हैं।) ददाति प्रियाणि [की प्राप्ति है।] मघवा दातु, मघवा ददातु। स नः स्तुतो वीरवद्धातु (वह देव स्तुत होकर हमें वीरवान् बनाए) यहाँ 'वीरवद्दधातु' की प्राप्ति है।

यदि छन्द में विकल्प से द्विर्वचन होता है। यह कहते हैं, तब तो 'धातु' ग्रहण की भी आवश्यकता नहीं। तब फिर 'ससृवांसो विशृण्विरे' में क्यों नहीं होता? छन्द में विकल्प कहने से [एक पक्ष में नहीं होगा।] तब फिर यह धातु ग्रहण सांन्यासिक यथावस्थित होकर बैठा रहे। [प्रयोजन अन्तर्निहित है—धातु ग्रहण न करने पर 'लिट् परे होने पर प्रथम एकाच् को द्वित्व' यह अर्थ होगा। इससे 'पपाच' आदि में ही हो सकेगा। 'जजागार' आदि में न हो पाएगा। क्योंकि प्रथम एकाच् 'जाग्' से अव्यवहित उत्तर लिट् प्राप्त नहीं होता।]

सन्यङोः ॥ ६.१.९ ॥

किमियं षष्ठ्याहोस्वित्सप्तमी ? कुतः संदेहः ? समानो निर्देशः। किं चातः ? यदि षष्ठी सन्यङन्तस्य द्विर्वचनेन भवितव्यम्। अथ सप्तमी सन्यङोः परतः पूर्वस्य द्विर्वचनम्॥ कश्चात्र विशेषः ?

सन्यङोः परत इति चेदिटो द्विर्वचनं परादित्वात्॥ १॥

सन्यङोः परत इति चेदिटो द्विर्वचनं कर्तव्यम्। अटिटिषति, अशिशिषति। किं पुनः कारणं न सिध्यति ? परादित्वात्। इट् परादिः॥

हन्तेश्चेटः॥ २॥

हन्तेश्चेटो द्विर्वचनं कर्तव्यम्। जेघ्नीयते॥ ननु च यस्यापि सन्यङन्तस्य द्विर्वचनं तस्यापि स्थानिवद्भावप्रसङ्गः। ईटि स्थानिवद्भावादीटो द्विर्वचनं न प्राप्नोति ? नैष दोषः। द्विर्वचननिमित्तेऽचि स्थानिवदित्युच्यते न चासौ

सन्यङोः॥

भा०—यहाँ सूत्र में षष्ठी विभक्ति है, या सप्तमी ? यह सन्देह क्यों है ? निर्देश समान है। [दोनों विभक्तियों में एक ही रूप बनता है।] इससे क्या ? यदि षष्ठी है तो सन्यङन्त को द्विर्वचन होना चाहिये। ['प्रत्यय ग्रहणे...' परिभाषा के अनुसार सनन्त तदादि के प्रथम एकाच् को द्विर्वचन होगा।]

यदि सप्तमी है तो सन्-यङ् परे रहने पर [पूर्ववर्ती समूह के प्रथम या द्वितीय एकाच्] को द्विर्वचन होगा। इनमें विशेष क्या है ?

वा०—'सन् यङ् के परे रहने पर' इस पक्ष में इट् को द्विर्वचन, परादि होने से।

भा०—'सन् यङ् परे रहने पर द्विर्वचन' इस पक्ष में इट् को द्विर्वचन कहना होगा। अटिटिषति, अशिशिषति। क्या कारण है कि सिद्ध नहीं होता ? परादित्व होने से। इट् परादि है। [इट् सन् का अङ्ग है, अतः 'इस' परे रहने पर पूर्व द्वितीय एकाच् को द्विर्वचन होना चाहिये। इससे इट् को द्विर्वचन प्राप्त नहीं होता।]

वा०—हन् से उत्तर ईट् को भी।

भा०—हन् से उत्तर ईट् को द्विर्वचन कहना होगा। जेघ्नीयते। ['हन् से उत्तर यङ् को ईट्' इस पक्ष में 'हन्+ईय' इस स्थिति में ईट्-भक्त य परे रहने पर हन् उपधालोप का स्थानिवद्भाव होने से 'हन्' इस रूप को द्विर्वचन-प्राप्ति होती है। जबकि 'ह्नी' का द्विर्वचन अभीष्ट है।] [प्रतिप्रश्न—] क्यों, 'सन् यङन्त का द्विर्वचन' इस पक्ष में भी तो स्थानिवद्भाव की प्राप्ति होती है ? [इस स्थिति में प्रथम एकाच् 'हन्' ही मिलेगा, अतः इस पक्ष में भी 'हन्' को ही द्विर्वचन की प्राप्ति होती है।] ईट् परे रहने पर स्थानिवद्भाव होने से ईट् को द्विर्वचन नहीं पाएगा ? यह दोष नहीं है। द्विर्वचन-निमित्त वाले अच् परे रहने पर स्थानिवत् कहा गया है। यह

द्विर्वचननिमित्तम्। यस्मिन्नपि द्विर्वचनं यस्यापि द्विर्वचनं सर्वोऽसौ द्विर्वचन-निमित्तम्॥ तस्मादीटो द्विर्वचनम्। तस्मादुभाभ्यामेवेटो द्विर्वचनं कर्तव्यं यश्चोभयोर्दोषो न तमेकश्चोद्यो भवति॥

एकाच उपदेशेऽनुदात्तादित्युपदेशवचनमनुदात्तविशेषणं चेत्सन इट्प्रतिषेधः॥ ३॥

'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' (७.२.१०) इत्युपेदशवचनमनुदात्तविशेषणं चेत्सन इट्प्रतिषेधो वक्तव्यः। बिभित्सति, चिच्छित्सति। द्विर्वचने कृत उपदेशेऽनुदात्तादेकाचः श्रूयमाणादितीट्प्रतिषेधो न प्राप्नोति॥

[ईट्] तो द्विर्वचननिमित्त वाला है नहीं। [अतः स्थानिवद्भाव न होने से 'ह्नी' को द्विर्वचन सिद्ध हो जाएगा।] [पुनः दोष-वचन—] जिसके परे रहने पर द्विर्वचन हो तथा जिसे द्विर्वचन हो, वे दोनों द्विर्वचननिमित्त होते हैं। ['कार्यमनुभवन् हि कार्यी....' इस परिभाषा के अनुसार जिसे कार्य का अनुभव हो रहा है, वह निमित्त नहीं माना जाता। पर कार्य का अनुभव न करने वाला कार्यी तो निमित्त हो ही सकता है। सन् यङन्त का द्विर्वचन करने पर 'हन् ई य' कार्यी होगा तथा इसका प्रथम एकाच् कार्य अनुभव करने वाला कार्यी होगा। अतः इससे अतिरिक्त भाग केवल कार्यी होते हुए द्विर्वचननिमित्त कहा जाएगा। इस द्विर्वचननिमित्त ईय परे रहने पर स्थानिवद् भाव होने से 'हन्' को ही द्विर्वचन पाएगा। इससे सिद्ध हुआ कि 'सन् यङन्त का द्विर्वचन' पक्ष में भी पूर्वोक्त दोष बना रहेगा।]

इसलिये ईट् को द्विर्वचन। इसलिये दोनों पक्षों को ईट् [युक्त एकाच् 'ह्नी'] को द्विर्वचन कहना होगा। जो दोष दोनों पक्षों में हो, वह उनमें से किसी एक पक्ष में वचनीय नहीं होता।

वा०—'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' यहाँ उपदेशवचन अनुदात्त का विशेषण होने पर सन् को इट्-प्रतिषेध।

भा०—'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' (७.२.१०) इस सूत्र में यदि उपदेशवचन अनुदात्त का विशेषण हो तो सन्नन्त से इट् का प्रतिषेध कहना होगा। बिभित्सति, चिच्छित्सति। [यहाँ सन् यङ् परे रहने पर प्रथम एकाच् भिद् को] द्विर्वचन करने पर 'उपदेश में अनुदात्त तथा श्रूयमाण एकाच् से [इट् प्रतिषेध वाले सूत्र से] इट् का प्रतिषेध नहीं प्राप्त होता। [परन्तु उपदेश-वचन उभय-विशेषण-पक्ष में दोष नहीं होगा। तब सूत्र का अर्थ होगा—उपदेश में अनुदात्त तथा उपदेश में एकाच् से इट् प्रतिषेध होता है। यह 'भिद् भिद् स' धातु उपदेश में तो एकाच् ही है, अतः इट् का प्रतिषेध हो जाएगा। 'सन्यङन्त का द्विर्वचन' इस पक्ष में स्थानेद्विर्वचन मानने पर भी दोष नहीं है। क्योंकि स्थानेद्विर्वचन में प्रकृति-प्रत्यय के एकाकार सम्प्रमुग्ध हो जाने से अङ्ग के वलादि आर्धधातुक न बन पाने से इट् की प्राप्ति ही नहीं होगी।]

अस्तु तर्हि सन्यङन्तस्य।

सन्यङन्तस्येति चेदशेः सन्यनिटः ॥ ४ ॥

सन्यङन्तस्येति चेदशेः सन्यनिटो द्विर्वचनं वक्तव्यम्। इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः ॥ यस्यापि सन्यङोः परतो द्विर्वचनं तेनाप्यत्रावश्यमिड्भावे यत्नः कर्तव्यः। किं कारणम्? अशेर्हि प्रतिपदमिड्विधीयते 'स्मिपूङ्रञ्ज्वशां सनि' (७.२.७४) इति, तेनैव द्वितीयद्विर्वचनमपि न भविष्यति ॥

अथवा नैतदशे रूपम्। यजेरेष च्छान्दसो वर्णलोपः। तद्यथा— तुभ्येदमग्ने। तुभ्यमिदमग्न इति प्राप्ते। अम्बानां चरुम्। नाम्बानां चरुमिति प्राप्ते।

अच्छा तो फिर सन् यङन्त को द्विर्वचन पक्ष माना जावे।

वा०—'सन् यङन्त का' इस पक्ष में सन् परे रहने पर अनिट् अश् का।

भा०—'सन् यङन्त का द्विर्वचन' इस पक्ष में सन् परे रहने पर अनिट् अश् का द्विर्वचन कहना होगा। इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः (भृगुओं के साथ समान प्रीति रखने वाले सर्वत्र व्याप्त होने की इच्छा रखने वाले देवों ने)।

विवरण—प्रस्तुत षष्ठी पक्ष में 'अश् स' इस स्थिति में 'व्रश्चभ्रस्ज....' (८.२.३६) से ष्, 'षढोः कः सि' (८.२.४१) से क्, 'आदेशप्रत्यययोः' (८.३.५९) से स के स्थान में ष होने पर 'अक्ष' बनने पर सनन्त अक्ष के द्वितीय एकाच् 'क्ष' को द्विर्वचन पाता है। इससे शानच् प्रत्ययान्त 'अचिक्षमाणाः' रूप की प्राप्ति होती है।

सप्तमी पक्ष में 'अश् स' यहाँ स परे रहने पर पूर्व को द्विर्वचन करना है। पूर्व में द्वितीय एकाच् न मिलने पर 'आटतुः' के समान प्रथम एकाच् 'अश्' को द्विर्वचन होगा। पश्चात्, हलादि शेष, अभ्यास को इत्व, 'अभ्यासस्यासवर्णे' (६.४.७८) से इयङ् तथा पूर्ववत् षत्वादि होकर 'इयक्षमाणाः' रूप सिद्ध हो सकेगा।

भा०—[षष्ठी पक्ष में समाधान—] जिसके पक्ष में सन् यङ् परे रहने पर द्विर्वचन होता है, उसके पक्ष में भी इट् अभाव के लिये अवश्य प्रयत्न करना होगा। क्या कारण है? अश् से प्रतिपद इट् का विधान किया है—'स्मिपूङ्रञ्ज्वशां सनि' सूत्र से। यहाँ जिस छान्दसत्व प्रयत्न से इट् का निवारण होगा, उसी छान्दसत्व प्रयत्न से षष्ठी पक्ष में द्वितीय द्विर्वचन का निवारण होगा। [उसके न होने पर प्रथम द्विर्वचन होकर इस पक्ष में भी 'इयक्षमाणा' रूप सिद्ध हो जाएगा।]

अथवा यह रूप अश् का नहीं है। अपितु 'यज्' से छान्दस वर्णलोप [होकर 'यियक्षमाणा' की प्राप्ति में यकार लोप होकर 'इयक्षमाणाः' बना है।] जैसे— 'तुभ्येदमग्ने' यहाँ 'तुभ्यमिदमग्ने' के स्थान पर मकारलोप हुआ है। 'अम्बानां चरुम्' यहाँ 'नाम्बानां चरुम्' का नकार लोप हुआ है। 'आव्याधिनीरुगणाः' शब्द

आव्याधिनीरुगणाः। स्रुगणा इति प्राप्ते। इुष्कर्तारमध्वरस्य। निष्कर्तारमध्वरस्येति प्राप्ते। शिवा उद्रस्य भेषजी। शिवा रुद्रस्य भेषजीति प्राप्ते॥ अश्यर्थो वै गम्यते? कः पुनरशेरर्थः? अश्नोतिर्व्याप्तिकर्मा। यजिरप्यश्यर्थे वर्तते। कथं पुनरन्यो नामान्यस्यार्थे वर्तते? बह्वर्था अपि धातवो भवन्तीति। तद्यथा— वपिः प्रकिरणे दृष्टश्छेदने चापि वर्तते— केशान्वपतीति।

'आव्याधिनीः स्रुगणाः' की प्राप्ति में सकारलोप द्वारा परिनिष्पन्न है। इष्कर्तारमध्वरस्य (ऋग्वेद १०.१४०.५) यह शब्द निष्कर्तारमध्वरस्य की प्राप्ति में नकारलोप द्वारा निर्मित है। 'शिवा उद्रस्य भेषजी' (किसी अप्राप्त शाखा का उद्धरण है। वाजसनेय शुक्ल यजुर्वेद १६.४९ में 'शिवा रुतस्य भेषजी' पाठ है।) यह रूप शिवा रुद्रस्य भेषजी की प्राप्ति में रेफ लोप द्वारा निष्पन्न है।

विशेष—ये अक्षर-लोप के बहुत रोचक उदाहरण हैं। आगे पाली, प्राकृत आदि में यही प्रवृत्ति जारी रही। प्राकृत में अक्षर-लोप के पश्चात् कुछ शब्द तो इतने प्रसिद्ध हुए कि वे पुनः संस्कृत शब्द-भण्डार में सम्मिलित कर लिये गए। उपराग—पराग, नीलमणि—नीलम जैसे शब्द इसके उदाहरण हैं।

भा०—यहाँ [इयक्षमाणाः में तो] अश् धातु का अर्थ प्रतीत होता है। [पुनः इसे यज् से कैसे निष्पन्न मानें?] [प्रतिप्रश्न—] अश् का क्या अर्थ है? अश् धातु व्याप्ति क्रिया वाली है। तो फिर यज् धातु भी अश् अर्थ में है। अन्य धातु अन्य अर्थ में किस प्रकार है? अनेक अर्थ वाली धातुएँ भी होती हैं। जैसे 'वप्' धातु बोने अर्थ में होती है, पर 'काटने' अर्थ में भी है। जैसे—'केशान् वपति'।

विशेष—विपरीत अर्थ वाली धातु के प्रयोग का यह बहुत रोचक उदाहरण है। आधुनिक भाषाविज्ञान के अनुसार किसी शब्द का विपरीत अर्थ में प्रचलन यों ही, अनायास नहीं होता। अपितु उसके पीछे कोई कारण अवश्य होता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में यहाँ 'वप्' का मूल अर्थ 'बोना' है। ऋग्वेद १०.९४.१३ आदि में इसके इस अर्थ में प्रयोग प्राप्त हैं। परन्तु केश कर्म होने पर 'कर्तन' अर्थ में इसके प्रयोग उपलब्ध हैं—

यत् क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु। —अथर्ववेद ८.२.१७

इस सन्दर्भ में यह चिन्तन विकसित हुआ कि मुण्डन के समय पुराने केशों का कर्तन वस्तुतः नए सुन्दर केशों के लिए बीज आधान के समान है। इस अवधारणा के अनुसार महाकवि कालिदास ने 'ज्वलन' को 'बीजप्ररोहजनन' के रूप में बताया। **कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो बीजप्ररोहजननं ज्वलनः करोति।** (रघुवंश ९.८०) इसी प्रकार प्रस्तुत प्रसङ्ग में केश-कर्तन को केश-बीज के वपन के समान मानते हुए इसके लिये 'वपन' का प्रयोग विकसित हुआ। आज कल भी लोग 'बाल काटने' के स्थान पर 'बाल बनवाना' यह कहना अधिक पसन्द करते

ईडिः स्तुतिचोदनायाच्ञासु दृष्ट ईरणे चापि वर्तते—अग्निर्वा इतो वृष्टिमीट्टे मरुतोऽमुतश्च्यावयन्ति। करोतिरयमभूतप्रादुर्भावे दृष्टो निर्मलीकरणे चापि वर्तते—पृष्ठं कुरु। पादौ कुरु। उन्मृदानेति गम्यते। निक्षेपणे चापि दृश्यते—कटे कुरु। घटे कुरु। अश्मानमितः कुरु। स्थापयेति गम्यते॥ एवं तर्हि—

दीर्घकुत्वप्रसारणषत्वमधिकस्य द्विर्वचनात्॥ ५॥

दीर्घत्वं द्विर्वचनाधिकस्य न सिध्यति। चिचीषति, तुष्टूषति। समुदायस्य समुदाय आदेशस्तत्र संप्रमुग्धत्वात्प्रकृतिप्रत्ययस्य नष्टः सन्भवति। तत्राजन्तानां

हैं। इंगलिश में hair cutting के स्थान पर hair dressing कहना अधिक अच्छा माना जाता है।

भा०—ईड् धातु स्तुति, प्रतिकथन, याचना अर्थ में देखी गई है। प्रेरण अर्थ में भी है—'अग्निर्वा इतो....' (ऊष्मा वृष्टि को यहाँ से प्रेरित करती है, हवाएँ वहां से च्युत कर देती हैं।)

'कृ' धातु नए गुण-धर्म उत्पन्न करने में देखी गई है। ['अभूततद्भावे...' (५.४.५०) सूत्र में 'शुक्लीकरोति' आदि शब्दों में यह अर्थ देखा गया है। यह शुद्ध करने अर्थ में भी है—पृष्ठ को धो, पैरों को साफ करो। यहाँ मालिश करते हुए निर्मल करना अर्थ है। ले जाने अर्थ में भी है—चटाई पर, घट में [रख कर] कोई वस्तु ले जाओ। पत्थर को इधर करो। यहाँ 'स्थापित करो' यह अर्थ प्रतीत होता है।

विशेष—कृ धातु अनेक अर्थों में प्रयुक्त देखी जाती है। इसका सामान्य अर्थ क्रिया है। प्रत्येक धात्वर्थ में क्रियात्व-सामान्य वर्तमान होता है। इसके आधार पर यह किसी भी विशेष धात्वर्थ को संसूचित कर सकती है। 'कर्मण्यण्' (३.२.१) आदि सूत्रों के उदाहरणों में इसके अन्य अर्थ दिखाये गये हैं। 'तत्करोति, तदाचष्टे' धातुसूत्र (चुरादि० ३३८, ३३९) से हर पिण्ड में क्रियात्व सामान्य मानते हुए सामान्य करोति अर्थ में णिच् का विधान कर दिया है।

हिन्दी आदि भाषाओं में भी सकर्मक धातुओं में 'करना' धातु तथा अकर्मक धातुओं में 'लगे' धातु से विकसित 'लगना' अति सामान्य है। मन लगना, मिर्ची लगना, चोट लगना आदि शब्द इसमें प्रमाण हैं।

['सन्यङन्तस्य' पक्ष में इस दोष का परिहार होने पर अन्य दोष प्रस्तुत करते हैं—] तो फिर—

वा०—दीर्घ, कुत्व, प्रसारण, षत्व [की असिद्धि], अधिक का द्विर्वचन होने से।

भा०—द्विर्वचन [के द्वारा शब्दान्तर] के अधिक होने से दीर्घत्व सिद्ध नहीं होता। चिचीषति, तुष्टूषति। यहाँ [स्थाने-द्विर्वचन पक्ष में 'चिस्' इस] समुदाय के स्थान में [चिचिस् यह] समुदाय आदेश होता है। तब प्रकृति-प्रत्यय समुदाय के मिल जाने से पूर्व सन् नष्ट हो जाता है। इससे 'अज्झनगमां सनि' (६.४.१६)

सनीति दीर्घत्वं न प्राप्नोति॥ इदमिह संप्रधार्यम्—दीर्घत्वं क्रियतां द्विर्वचनमिति। किमत्र कर्तव्यम्? परत्वाद्दीर्घत्वम्। नित्यं द्विर्वचनम्। कृतेऽपि दीर्घत्वे प्राप्नोत्यकृतेऽपि प्राप्नोति। दीर्घत्वमपि नित्यम्। कृतेऽपि द्विर्वचने प्राप्नोत्यकृतेऽपि प्राप्नोति। अनित्यं दीर्घत्वं न हि कृते द्विर्वचने प्राप्नोति। किं कारणम्? समुदायस्य समुदाय आदेशस्तत्र संप्रमुग्धत्वात्प्रकृतिप्रत्ययस्याजन्तता नास्तीति दीर्घत्वं न प्राप्नोति। द्विर्वचनमप्यनित्यम्। अन्यस्य कृते दीर्घत्वे प्राप्नोत्यन्यस्याकृते, शब्दान्तरस्य च प्राप्नुवन्विधिरनित्यो भवति। उभयोरनित्ययोः परत्वाद्दीर्घत्वम्॥ यत्तर्हि नाकृते द्विर्वचने दीर्घत्वं तन्न सिध्यति—जुहूषतीति॥ कुत्वं द्विर्वचनाधिकस्य न सिध्यति—जिघांसति, जङ्घन्यते। किं कारणम्? समुदायस्य समुदाय आदेशस्तत्र संप्रमुग्धत्वात्प्रकृतिप्रत्ययस्य नष्टो हन्तिर्भवति। तत्राभ्यासाद्धन्तिहकारस्येति कुत्वं न

सूत्र द्वारा अजन्त को सन् परे रहने पर कहा गया दीर्घत्व सिद्ध नहीं होता।

यहाँ यह तय करें कि दीर्घत्व पहले किया जावे या द्विर्वचन। क्या करना चाहिये? परत्व होने से दीर्घत्व। द्विर्वचन नित्य है, दीर्घत्व करने पर भी पाता है, न करने पर भी। दीर्घत्व भी नित्य है, द्विर्वचन करने पर भी पाता है, न करने पर भी।

दीर्घत्व अनित्य है, द्विर्वचन करने पर नहीं पाता। क्या कारण है? समुदाय के स्थान में समुदाय आदेश होता है। [इस प्रकार 'चिचिस् अ' इस दशा में] प्रकृति-प्रत्यय के मिल जाने से अजन्त-अङ्गता नहीं है, अतः दीर्घत्व नहीं पाता।

द्विर्वचन भी अनित्य है। दीर्घत्व करने पर अन्य ['चीस्'] को पाता है, न करने पर अन्य [चिस्] को, शब्दान्तर को प्राप्त होने वाली विधि अनित्य होती है। दोनों के अनित्य होने पर परत्व से दीर्घ सिद्ध हो जाएगा।

[दोषान्तर प्रस्तुति—] अच्छा तो फिर जहाँ द्विर्वचन के बिना दीर्घत्व होता ही नहीं, वहाँ सिद्ध न होगा—जुहूषति। [यहाँ ह्वातुम् इच्छति इस विग्रह के अनुसार 'ह्वा+स' इस दशा में ह्रस्व उकार की अनुपस्थिति में उसके दीर्घत्व का प्रसङ्ग नहीं है। अतः स्वतः ही पहले द्विर्वचन, अभ्यस्त संज्ञा, पुनः 'अभ्यस्तस्य च' (६.१.३३) से सम्प्रसारण होने से 'हुस् हुस् अ' इस दशा में अजन्त अङ्ग न बन पाने से पूर्वोक्त सूत्र से दीर्घत्व सिद्ध नहीं हो सकेगा।]

[पुनः दोषान्तर प्रस्तुति—] द्विर्वचन के द्वारा शब्दान्तर अधिक का कुत्व सिद्ध नहीं होता—जिघांसति, जङ्घन्यते। क्या कारण है? समुदाय के स्थान में समुदाय आदेश होता है। तब प्रकृति-प्रत्यय के मिल जाने से [अङ्ग या अभ्यास-स्वरूप] हन् नष्ट हो जाता है। तब अभ्यास से उत्तर हन् के हकार को निर्दिष्ट कुत्व प्राप्त नहीं होता।

प्राप्नोति ॥ संप्रसारणं च द्विर्वचनाधिकस्य न सिध्यति—जुहूषति, जोहूयते। समुदायस्य समुदाय आदेशस्तत्र संप्रमुग्धत्वात्प्रकृतिप्रत्ययस्य नष्टो ह्वयतिर्भवति। तत्र 'ह्वः संप्रसारणमभ्यस्तस्य...' (६.१.३२) इति संप्रसारणं न प्राप्नोति ॥ नैष दोषः। वक्ष्यति ह्येतद् ह्वोऽभ्यस्तनिमित्तस्येति। यावता चेदानीं ह्वोऽभ्यस्तनिमित्तस्येत्युच्यते सोप्यदोषो भवति यदुक्तं यत्तर्हि नाकृते द्विर्वचने दीर्घत्वं तन्न सिध्यतीति ॥ षत्वं च द्विर्वचनाधिकस्य न सिध्यति—पिपक्षति, यियक्षति। समुदायस्य समुदाय आदेशस्तत्र संप्रमुग्धत्वात्प्रकृति-प्रत्ययस्य नष्टः सन्भवति। तत्रेण्कुभ्यामुत्तरस्य प्रत्ययसकारस्येति षत्वं न प्राप्नोति ॥ इदमिह संप्रधार्यम्—द्विर्वचनं क्रियतां षत्वमिति। किमत्र कर्तव्यम्? परत्वात्षत्वम्। पूर्वत्रासिद्धे षत्वं सिद्धासिद्धयोश्च नास्ति संप्रधारणा ॥

[पुनः दोषान्तर प्रस्तुति—] द्विर्वचन के द्वारा शब्दान्तर अधिक का सम्प्रसारण सिद्ध नहीं होता—जुहूषति, जोहूयते। समुदाय के स्थान में समुदाय आदेश होता है। तब प्रकृति-प्रत्यय के मिल जाने से पूर्व ह्वा नष्ट हो जाता है। तब 'ह्वः सम्प्रसारणम् अभ्यस्तस्य च' (६.१.३२) से सम्प्रसारण प्राप्त नहीं होता। [इससे पूर्व इस स्थिति में दीर्घत्व-असिद्धि का दोष दिया जा चुका है। अब इसी स्थिति में सम्प्रसारण- असिद्धि का दोष दिखा रहे हैं।]

यह दोष नहीं है। यह कहा जाएगा—'ह्वोऽभ्यस्तनिमित्तस्य' अर्थात् अभ्यस्त का कारण जो ह्वा, उसे सम्प्रसारण। [ऐसा कहने से अभ्यस्त और द्विर्वचन से पहले ही, अभ्यस्त का निमित्तमात्र बनने से 'ह्वा' को सम्प्रसारण हो जाएगा।]

ऐसा कहने से वह भी दोष रहित हो जाएगा, जो पहले कहा था—'यत्तर्हि नाकृते द्विर्वचने.....'। ['ह्वोऽभ्यस्तनिमित्तस्य' इस वचन से सर्वप्रथम सम्प्रसारण, पश्चात् परत्व से दीर्घत्व, पुनः 'हूस्+अ' इसका द्विर्वचन होने से 'जुहूषति' सिद्ध होगा। इस प्रकार सम्प्रसारण तथा दीर्घत्व—इन दोनों की असिद्धि वाले दोषों का समाधान हो जाता है।]

द्विर्वचन के द्वारा शब्दान्तर अधिक का षत्व भी सिद्ध नहीं होता—पिपक्षति, यियक्षति। समुदाय[पक्स्] के स्थान पर समुदाय [पपक्स्] आदेश होता है। तब प्रकृति-प्रत्यय के मिल जाने से सन् [प्रत्यय-रूप में] नष्ट हो जाता है। तब इण्, कवर्ग से उत्तर प्रत्यय-सकार को ['आदेशप्रत्यययोः' (८.३.५९) से] सम्पन्न होने वाला षत्व प्राप्त नहीं होता।

यहाँ यह तय करें कि षत्व पहले करें या द्विर्वचन। क्या करना चाहिये? परत्व से षत्व। षत्व पूर्वत्रासिद्ध प्रकरण में है। सिद्ध असिद्ध के बीच सम्प्रधारणा नहीं होती। [अतः दोष यथावस्थित है।]

आबृध्योश्चाभ्यस्तविधिप्रतिषेधः ॥ ६ ॥

आबृध्योश्चाभ्यस्ताश्रयो विधिः प्राप्नोति स प्रतिषेध्यः। ईप्सन्ति, ईर्त्सन्ति। ईप्सन्, ईर्त्सन्। ऐप्सन्, ऐर्त्सन्। किं च स्यात्? अद्भावो नुम्प्रतिषेधो जुस्भाव इत्येते विधयः प्रसज्येरन्॥ नैष दोषः। उक्ता अत्र परिहाराः॥

सङाश्रये च समुदायस्य समुदायादेशत्वाज्झलाश्रये चाव्यपदेश आमिश्रत्वात्॥ ७॥

सङाश्रये च कार्ये समुदायस्य समुदायादेशत्वाज्झलाश्रये चाव्यपदेशः। किं कारणम्? आमिश्रत्वात्। आमिश्रीभूतमिवेदं भवति। तद्यथा— क्षीरोदके संपृक्ते आमिश्रत्वान्न ज्ञायते कियत्क्षीरं कियदुदकमिति, कस्मिन्वावकाशे क्षीरं कस्मिन्नवकाश उदकमिति? एवमिहाप्यामिश्रत्वान्न ज्ञायते का प्रकृतिः, कः प्रत्ययः, कस्मिन्वावकाशे प्रकृतिः, कस्मिन्नवकाशे प्रत्यय इति? तत्र को दोषः? सङि झलीति कुत्वादीनि न सिध्यन्ति॥

वा०—आप् और ऋध् में अभ्यस्त विधि का प्रतिषेध।

भा०—['सन्यङोः' में षष्ठी पक्ष में] आप् और ऋध् में अभ्यस्त-आश्रित विधि प्राप्त होती है, उसका प्रतिषेध करना होगा। [इस पक्ष में 'ईप्सन्ति' आदि उदाहरणों में सन्नन्त धातु के द्वितीय एकाच् 'प्स' को द्विर्वचन अभ्यासलोप होगा। स्थानिवद्भाव से अभ्यस्त संज्ञा होने से तदाश्रित 'अत्' आदि आदेश पायेंगे। सप्तमी पक्ष में 'आप्' को द्वित्व, अभ्यासलोप के पश्चात् 'स' का व्यवधान होने से अत् आदि नहीं होंगे।]

क्या होने लगेगा? अद्भाव, नुम्प्रतिषेध, जुस्भाव—ये विधियाँ पाने लगेंगी। यह दोष नहीं है। इस पर परिहार [उभे अभ्यस्तम्] सूत्र में कहे जा चुके हैं।

वा०—समुदाय के स्थान में समुदाय आदेश होने से सङ् के आश्रय तथा झलाश्रय कार्य में अव्यपदेश, आमिश्र होने से।

भा०—[षष्ठी पक्ष में स्थान में द्विर्वचन मानने पर] समुदाय के स्थान में समुदाय आदेश होने से सङ् के आश्रय तथा झलाश्रय कार्यों में [प्रकृति-प्रत्यय आदि का अलग-अलग] प्रकथन नहीं हो सकेगा। क्या कारण है? आमिश्रण या मिल जाने के कारण। यह मिश्रण जैसा हो जाता है। जैसे—दूध और पानी के मिलित होने पर मिश्रण होने से यह नहीं जाना जा सकता कि कितना दूध है, कितना पानी। अथवा किस ओर दूध है, किस तरफ पानी। इसी प्रकार यहाँ भी आमिश्रण होने से यह नहीं जाना जा सकता कि कौन प्रकृति है, कौन प्रत्यय, किस ओर प्रकृति है, किस ओर प्रत्यय। उससे क्या दोष होगा? सङ् परे रहने पर तथा झल् परे रहने पर कुत्व आदि सिद्ध नहीं होगा। [सङ् प्रत्याहार 'परेश्च घाङ्कयोः'

इदमिह संप्रधार्यम्—द्विर्वचनं क्रियतां कुत्वादीनीति, किमत्र कर्तव्यम्? परत्वात्कुत्वादीनि। पूर्वत्रासिद्धे कुत्वादीनि, सिद्धासिद्धयोश्च नास्ति सम्प्रधारणा॥ एवं तर्हि पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचन इति वक्तव्यम्। तच्चावश्यं वक्तव्यम्। विभाषिताः प्रयोजयन्ति। द्रोग्धा द्रोग्धा। द्रोढा द्रोढा॥ यावता चेदानीं पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचन इत्युच्यते सोऽप्यदोषो भवति यदुक्तं षत्वं न सिध्यतीति॥

इह स्थाने द्विर्वचने णिलोपोऽपरिहृतः। सन्यङोः परतो द्विर्वचन इटो द्विर्वचनं वक्तव्यम्। सन्यङन्तस्य द्विर्वचने हन्तेः कुत्वमपरिहृतम्। तत्र सन्यङन्तस्य द्विर्वचनं द्विःप्रयोगश्चेत्येष पक्षो निर्दोषः।

(८.२.२२) के वार्तिक में कहा गया है। यह 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' (३.१.५) के सन् से लेकर 'तिसस्झि...' (३.४.७८) सूत्र के महिङ् तक माना जाता है। 'चोः कुः' (८.२.३०) से कुत्व के लिये झल् प्रत्याहार को निमित्त माना गया है। 'द्रोग्धा' इत्यादि में 'द्रुह्त्' इस रूप को स्थाने-द्विर्वचन करने पर झलादि प्रत्यय परे रहने पर कुत्व विधि नहीं लग सकेगी।]

यहाँ यह तय करें कि द्विर्वचन पहले करें या कुत्वादि करें? क्या करना चाहिये? परत्व से कुत्वादि। कुत्वादि पूर्वत्रासिद्ध प्रकरण में है। सिद्ध और असिद्ध के मध्य सम्प्रधारणा नहीं होती।

अच्छा तो फिर पूर्वत्रासिद्ध कार्य द्विर्वचन को छोड़कर लागू होते हैं। यह कहना चाहिये। इसे अवश्य कहना होगा। विभाषित उदाहरण प्रयोजन हैं—द्रोग्धा-द्रोग्धा, द्रोढा-द्रोढा। [यहाँ इस वार्तिक के कारण पूर्वत्रासिद्धत्व नहीं होता। अतः 'दादेर्धातोर्घः' (८.२.३२) से कुत्व तथा 'नित्यवीप्सयोः' (८.१.४) के मध्य सम्प्रधारणा होने से परत्व से कुत्व होता है, पश्चात् द्विर्वचन। इससे द्रोग्धा द्रोग्धा बनता है। अन्यथा द्रोग्धा-द्रोढा बनने लगता।]

जब 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने' मान्य होता है तो [इससे पहले 'दीर्घकुत्व...' वाले वार्तिक में] जो यह कहा था कि षत्व सिद्ध नहीं होता, वह भी सिद्ध हो जाता है।

[दोनों पक्षों का उपसंहार—] स्थाने-द्विर्वचन-पक्ष में णिलोप का परिहार नहीं हो सका है। ['एकाचो द्वे प्रथमस्य' सूत्र में 'स्थाने द्विर्वचने णिलोपवचनं...' वार्तिक द्रष्टव्य है।]

सन्यङ् परे रहने पर इस सप्तमी-पक्ष में इट् का द्विर्वचन कहना चाहिये। [इस सूत्र में 'हन्तेश्चेटः' वार्तिक द्रष्टव्य है।] सन्यङन्त का द्विर्वचन इस षष्ठी पक्ष में हन् धातु के कुत्व का परिहार नहीं हो सका है। [षष्ठी-पक्ष में यह तथा अन्य सभी दोष स्थानेद्विर्वचन पक्ष में ही उपस्थित होते हैं।] अतः सन्यङन्त का द्विर्वचन तथा द्विःप्रयोग पक्ष यही निर्दोष है।

तत्रेदमपरिहृतं सन इट्प्रतिषेध इति। एतस्यापि सप्तमे परिहारं वक्ष्यति—'उभयविशेषणत्वात्सिद्धम्' इति। कथं जेघ्नीयते ? वक्ष्यत्येतद्—'यङ्प्रकरणे हन्तेर्हिंसायां घ्नी' इति॥

दाश्वान्साह्वान्मीढ्वाँश्च॥ ६.१.१२॥

दाश्वानिति किं निपात्यते ?

दाशेर्वसौ द्वित्वेट्प्रतिषेधौ॥ १॥

दाशेर्वसौ द्वित्वेट्प्रतिषेधौ निपात्येते। दाश्वांसो दाशुषः सुतम्। दाश्वान्॥ साह्वानिति किं निपात्यते ?

सहेर्दीर्घत्वं च॥ २॥

किं च ? द्वित्वेट्प्रतिषेधौ च। साह्वान्बलाहकः। साह्वान्॥

मीढ्वानिति किं निपात्यते ?

तब इसका परिहार नहीं हुआ—'सन इट् प्रतिषेधः' [सन् परे रहने पर इस सप्तमी-पक्ष में इस पूर्व-वार्तिक में दोष दिया गया है। यह दोष षष्ठी पक्ष में द्विःप्रयोग द्विर्वचन में भी उपस्थित है। अतः इसे यहाँ अपरिहृत बताया गया है।]

इसका भी सप्तम अध्याय (७.२.१०) में परिहार कहेंगे—'उभय विशेषणत्वात् सिद्धम्'। 'जेघ्नीयते' किस प्रकार सिद्ध होगा ? [षष्ठी-पक्ष में भी इस पर दोष दिया गया था।]

आगे (७.४.३०) कहेंगे कि यङ् प्रकरण में 'हन्' के स्थान पर हिंसा में 'घ्नी' आदेश होता है। [इससे 'घ्नी घ्नी' द्विर्वचन होने पर आसानी से 'जेघ्नीयते' बन सकेगा।]

दाश्वान् साह्वान् मीढ्वाँश्च॥

भा०—'दाश्वान्' शब्द में क्या निपातन है ?

वा०—दाश् से वसु परे रहने पर द्वित्व, इट्-प्रतिषेध।

भा०—दाश् से क्वसु परे रहने पर द्वित्व [का प्रतिषेध] तथा इट् प्रतिषेध का निपातन है। दाश्वांसो दाशुषः सुतम् (ऋग्वेद १.३.७) (=फल प्रदान करने वाले देवगण हवि प्रदान करने वाले यजमान के निचोड़े हुए सोम के पास आवें।)

भा०—'साह्वान्' में क्या निपातन है ?

वा०—सह् को दीर्घत्व भी [निपातित है।]

भा०—'च' से अन्य क्या समुच्चय है ? द्वित्व-प्रतिषेध तथा इट्-प्रतिषेध भी। मीढ्वान् में क्या निपातन है ?

मिहेर्ढत्वं च ॥ ३ ॥

यच्च पूर्वयोः। किं च पूर्वयोः ? द्वित्वेट्प्रतिषेधौ दीर्घत्वं च। मीढ्व॑स्तो॒काय॒ तन॑याय मृड। यथेयमिन्द्र मीढ्वः ॥ मह्यर्थो वै गम्यते ? कः पुनर्मह्यर्थः ? महतिर्दानकर्मा। अतः किम् ? इत्वमपि निपात्यम्।

मह्यर्थ इति चेन्मिहेस्तदर्थत्वात्सिद्धम् ॥ ४ ॥

मह्यर्थ इति चेन्मिहिरपि मह्यर्थे वर्तते। कथं पुनरन्यो नामान्यस्यार्थे वर्तते ? बह्वर्था अपि धातवो भवन्तीति। अस्ति पुनरन्यत्रापि क्वचिन्मिहिर्मह्यर्थे वर्तते ? अस्तीत्याह। मिहेर्मेघः। मेघश्च कस्माद्भवति ? अपो ददातीति ॥

द्विर्वचनप्रकरणे कृञादीनां के ॥ ५ ॥

द्विर्वचनप्रकरणे कृञादीनां क उपसंख्यानं कर्तव्यम्। चक्रम्, चिक्लिदम्,

---

वा०—मिह् को ढत्व भी [निपातित है।]

भा०—इससे पहले जो कहा गया, वह भी। पूर्व में क्या कहा गया ? द्वित्व-प्रतिषेध, इट्-प्रतिषेध तथा दीर्घत्व भी [निपातित है।] मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृड (ऋ० २.३३.१४) (कामनाओं के सेचन में समर्थ रुद्र सभी पुत्रों के लिये सुख प्रदान करो।) यथेयमिन्द्र मीढ्वः (ऋ० १०.८५.२५)

पर यहाँ तो मह् का अर्थ गमित हो रहा है ? मह् का क्या अर्थ है ? मह् धातु दान अर्थ में है। इससे क्या ? इत्व भी निपातित करना होगा।

वा०—मह् का अर्थ है, कहें तो मिह् के भी तदर्थ होने से सिद्ध।

भा०—यहाँ मह् धातु का अर्थ है, यदि ऐसा कहें तो मिह् के भी मह् अर्थ वाला होने से सिद्ध है। अन्य धातु अन्य अर्थ में किस प्रकार है ? अनेक अर्थ वाली धातुएँ भी होती हैं। क्या अन्यत्र भी कहीं मिह् धातु मह् अर्थ में है ? हाँ है। मिह् से मेघ बनता है। मेघ किस विग्रह से बनता है ? जल प्रदान करता है। [मेघ शब्द में मिह् धातु का मूल अर्थ सिञ्चन करना है। इस सिञ्चन से जल-प्रदान होता ही है। अतः लाक्षणिक रूप से इसका जल प्रदान करना अर्थ भी है।]

वा०—द्विर्वचन प्रकरण में कृञ् आदि को क परे रहने पर।

भा०—द्विर्वचन प्रकरण में कृञ् आदि को 'क' परे रहने पर द्विर्वचन का उपसङ्ख्यान करना चाहिये। चक्रम् [कृ धातु से 'घञर्थे कविधानम्...' (३.३.५८) वार्तिक से क होकर उसके परे रहने पर द्विर्वचन होता है।] क इत्यादि के परे रहने पर [द्विर्वचन] यह कहना चाहिए।

विशेष—सामान्यतया द्विर्वचन से अधिक-क्रियार्थ की ध्वनि मिलती है। यह 'नित्यवीप्सयोः' (८.१.४) आदि सूत्रों से प्रमाणित है। यहाँ भी 'चक्र' शब्द

चक्रसमिति॥ कादिष्विति वक्तव्यम्। इहापि यथा स्यात्— बभ्रुः, ययुरिति॥

चरिचलिपतिवदीनामच्याक् चाभ्यासस्य॥ ६॥

चरिचलिपतिवदीनामचि द्वे भवत इति वक्तव्यम्। आक् चाभ्यासस्य। चराचरः, चलाचलः, पतापतः, वदावदः॥

हन्तेर्घश्च॥ ७॥

हन्तेर्घश्च वक्तव्यः। अचि द्वे भवत आक् चाभ्यासस्य। घनाघनः॥

पाटेर्णिलुक् च दीर्घश्चाभ्यासस्योक्च॥ ८॥

पाटयतेर्णिलुक् च वक्तव्यः। अचि द्वे भवत इति वक्तव्यं दीर्घश्चाभ्यासस्य ऊक्चागमः। पाटूपटः॥

द्विर्वचनं यणयवायावादेशाल्लोपोपधालोपणिलोप-किकिनोरुत्त्वेभ्यः॥ ९॥

यणयवायावादेशाल्लोपोपधालोपणिलोपकिकिनोरुत्त्वेभ्यो द्विर्वचनं

में द्विर्वचन से यह सूचना प्राप्त होती है कि यह पदाति की तुलना में अधिक गतिशील है।

भा०—यहाँ भी हो जावे—बभ्रुः, ययुः। ['बभ्रुः' में भृ धातु से कु प्रत्यय (उणा० १.२२)। 'ययुः' में 'यो द्वे च' (१.२१) इस उणादि सूत्र से कु प्रत्यय के साथ द्विर्वचन भी विहित है। इस वार्तिक के कहने पर द्विर्वचन-विधान की आवश्यकता न होगी।]

वा०—चर्, चल्, पत्, वद् को अच् परे रहने पर द्विर्वचन, अभ्यास को आक् भी।

भा०—चर्, चल्, पत्, वद् को अच् परे रहने पर द्विर्वचन तथा अभ्यास को आक् आगम भी होता है, यह कहना चाहिये। चराचरः, चलाचलः, पतापतः, वदावदः।

वा०—हन् धातु को घ भी।

भा०—हन् धातु के हकार के स्थान में घ भी कहना चाहिये। अच् परे रहने पर द्विर्वचन तथा अभ्यास को आक् आगम भी। घनाघनः।

वा०—पाटि से णिलुक्, अभ्यास को दीर्घ, ऊक् भी।

भा०—पाटि धातु [पटु से करोति अर्थ में 'णिजन्त नामधातु'] से णिलुक् कहना चाहिये। [नन्दिग्रहिपचादिभ्यो....' (३.१.१३४) से निष्पन्न] अच् परे रहने पर द्विर्वचन, अभ्यास को दीर्घ तथा इस अभ्यास को ऊक् आगम भी कहना चाहिये।

वा०—यण्, अय्, अव्, आय्, आव्, आदेश से.....से पूर्व द्विर्वचन।

भा०—यण् अय् अव् आय् आव् आदेश, आल्लोप, उपधालोप, णिलोप, कि किन् परे रहने पर उत्त्व; इनसे पूर्वविप्रतिषेध द्वारा द्विर्वचन पहले होता है,

भवति (पूर्व)विप्रतिषेधेन॥ द्विर्वचनस्यावकाशः—बिभिदतुः, बिभिदुः। यणादेशस्यावकाशः—दध्यत्र, मध्वत्र। इहोभयं प्राप्नोति—चक्रतुः, चक्रुरिति॥ अयवायावादेशानामवकाशः—चयनम्, चायकः। लवनम्, लावकः। द्विर्वचनस्य स एव। इहोभयं प्राप्नोति—चिचाय, चिचयिथ। लुलाव, लुलविथ॥ आल्लोपस्यावकाशः—गोदः, कम्बलदः। द्विर्वचनस्य स एव। इहोभयं प्राप्नोति—ययतुः, ययुः। तस्थतुः, तस्थुः॥ उपधालोपस्यावकाशः—श्लेष्मघ्नं मधु, पित्तघ्नं घृतम्। द्विर्वचनस्य स एव। इहोभयं प्राप्नोति—जग्मतुः, जग्मुः। जघ्नतुः, जघ्नुः॥ णिलोपस्यावकाशः—कारणा, हारणा। द्विर्वचनस्य स एव। इहोभयं प्राप्नोति—आटिटत्, आशिशत्॥ उत्त्वस्यावकाशः—निपूर्ताः पिण्डाः। द्विर्वचनस्य स एव। इहोभयं प्राप्नोति—मित्रावरुणौ ततुरिः, दूरे ह्यध्वा जगुरिः॥ द्विर्वचनं भवति पूर्वविप्रतिषेधेन॥ स तर्हि पूर्वविप्रतिषेधो वक्तव्यः? न वक्तव्यः।

यह कहना चाहिये।

द्विर्वचन का अवकाश है—बिभिदतुः, बिभिदुः। यणादेश का अवकाश है—दध्यत्र, मध्वत्र। यहाँ दोनों पाते हैं—चक्रतुः, चक्रुः [द्विर्वचन पहले होने से 'कृ कृ अतुस्' बन जाने पर यणादेश से चक्रतुः बनता है]

अय् अव् आदि का अवकाश है—चयनम्, चायकः आदि। द्विर्वचन का वही पूर्वोक्त। यहाँ दोनों की प्राप्ति है—चिचाय आदि। द्विर्वचन पहले होने से रूप-सिद्धि होती है।

आल्लोप ['आतो लोप इटि च' (६.४.६४)] का अवकाश है—गोदः, कम्बलदः। द्विर्वचन का वही। यहाँ दोनों की प्राप्ति है—ययतुः, ययुः। 'या या' इस प्रकार द्विर्वचन पहले होने से रूपसिद्धि।

उपधालोप (६.४.९८) का अवकाश है—श्लेष्मघ्नं मधु आदि। द्विर्वचन का वही। यहाँ दोनों प्राप्त होते हैं—जग्मतुः आदि।

णिलोप (६.४.५१) का अवकाश है—कारणा, हारणा। [णिजन्त 'कारि' धातु से 'ण्यासश्रन्थो युच्' (३.३.१०७) से युच् प्रत्यय 'णेरनिटि' से णिलोप।] द्विर्वचन का वही। यहाँ दोनों पाते हैं—आटिटत्, आशिशत्। द्विर्वचन पहले होता है।

उत्त्व का अवकाश है—निपूर्ताः पिण्डाः। पृ धातु से 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (७.१.१०२) सूत्र से ॠ के स्थान में उकार। द्विर्वचन का वही। मित्रावरुणौ ततुरिः। [तॄ धातु से 'आदृगमहनजनः......' (३.२.१७१) सूत्र से कि प्रत्यय तथा 'बहुलं छन्दसि' (७.१.१०३) से अन्त्य ॠ के स्थान में उकारादेश। यहाँ भी पूर्वविप्रतिषेध से द्विर्वचन होता है।] तो फिर पूर्वविप्रतिषेध कहना चाहिये। नहीं कहना चाहिये।

इष्टवाची परशब्दः। विप्रतिषेधे परं यदिष्टं तद्भवतीति॥

द्विर्वचनात्प्रसारणात्त्वधात्वादिविकाररीत्वेत्वेत्त्वोत्त्वगुण-वृद्धिविधयः॥ १०॥

द्विर्वचनात् प्रसारणात्त्वधात्वादिविकाररीत्वेत्वेत्त्वोत्त्वगुणवृद्धिविधयो भवन्ति विप्रतिषेधेन॥ द्विर्वचनस्यावकाशः—बिभिदतुः, बिभिदुः। सम्प्रसारणस्यावकाशः—इष्टम्, सुप्तम्। इहोभयं प्राप्नोति—ईजतुः, ईजुरिति। नैतदस्ति प्रयोजनम्। अस्त्वत्र द्विर्वचनं, द्विर्वचने कृते परस्य रूपस्य कितीति भविष्यति, पूर्वस्य 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' (६.१.१७) इति। इदं तर्हि—सोषुप्यते। इदं चाप्युदाहरणम्—ईजतुः, ईजुरिति। ननु चोक्तमस्त्वत्र द्विर्वचनं द्विर्वचने कृते परस्य रूपस्य कितीति भविष्यति, पूर्वस्य 'लिट्यभ्यास्योभयेषाम्' इति। न सिध्यति? 'न संप्रसारणे संप्रसारणम्' (६.१.३७) इति प्रतिषेधः प्राप्नोति। अकारेण व्यवहितत्वान्न भविष्यति।

'पर' शब्द इष्टवाचक है। अतः उस सूत्र का अर्थ होता है—विप्रतिषेध होने की स्थिति में 'पर' जो (लक्ष्यानुसार) इष्ट या समुचित हो, वह होता है।

वा०—द्विर्वचन से प्रसारण, आत्व आदि विधियाँ।

भा०—द्विर्वचन से पहले सम्प्रसारण, आत्व, धात्वादिविकार, रीत्व, ईत्व, इत्व, उत्व, गुण, वृद्धि विधियाँ [पर] विप्रतिषेध से होती हैं।

द्विर्वचन का अवकाश है—बिभिदतुः, बिभिदुः। सम्प्रसारण का अवकाश है—इष्टम्, सुप्तम्। यहाँ दोनों प्राप्त होते हैं—ईजतुः, ईजुः। [यजादि होने से 'वचि-स्वपियजादीनां....' से सम्प्रसारण की तथा लिट् परे होने से 'लिटि धातोरनभ्या-सस्य' से द्विर्वचन की प्राप्ति होती है।]

ऐसा नहीं है। यहाँ [यज् यज् इस प्रकार] द्विर्वचन हो जावे। द्विर्वचन हो जाने पर उत्तर वाले यज् को 'वचिस्वपि....किति' (६.१.१५) से तथा पूर्व वाले को 'लिट्यभ्यासस्यो....' (६.१.१७) से सम्प्रसारण सम्पन्न हो जाएगा। अच्छा तो फिर—सोषुप्यते। [यहाँ दोनों रूपों के सम्प्रसारण के लिये द्विर्वचन से पूर्व ही सम्प्रसारण आवश्यक है।]

[परविप्रतिषेध का] यह पूर्वोक्त भी उदाहरण है— ईजतुः ईजुः। [पर यहाँ दोनों रूपों के सम्प्रसारण को पूर्वोक्त रीति से सिद्ध किया जा चुका है।]

नहीं सिद्ध होता है, 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' (६.१.३६) सूत्र से प्रतिषेध की प्राप्ति होती है। [पुनः समाधान—] ['यज् यज्' इस प्रकार द्विर्वचन के पश्चात् पर को सम्प्रसारण, हलादि शेष के अनन्तर 'य्+अ+इज्' इस स्थिति में] अकार से व्यवधान होने से ['न सम्प्रसारणे...' नहीं लगने से प्रतिषेध] नहीं होगा। [अतः

एवं तर्हि समानाङ्गग्रहणं तत्र चोदयिष्यति। आत्वस्यावकाशः—ग्लाता, म्लाता। द्विर्वचनस्य स एव। इहोभयं प्राप्नोति—जग्ले, मम्ले॥ धात्वादिविकाराणामवकाशः—नमति, सिञ्चति। द्विर्वचनस्य स एव। इहोभयं प्राप्नोति—ननाम, सिषेच, सस्नौ॥ रीत्वस्यावकाशः—मात्रीयति, पित्रीयति। द्विर्वचनस्य स एव। इहोभयं प्राप्नोति—चेक्रीयते, जेह्रीयते॥ ईत्त्वस्यावकाशः—पीयते, गीयते। द्विर्वचनस्य स एव। इहोभयं प्राप्नोति—पेपीयते, जेगीयते॥ इत्त्वोत्त्वयोरवकाशः—आस्तीर्णम्, निपूर्ताः। द्विर्वचनस्य स एव। इहोभयं प्राप्नोति—आतेस्तीर्यते, निपोपूर्यते॥

'लिट्यभ्यासस्यो....' से पूर्व यकार को भी सम्प्रसारण सिद्ध हो जाएगा।]

अच्छा तो फिर वहाँ 'समानाङ्ग' ग्रहण किया जाएगा। [इससे समान अङ्ग होने मात्र से निषेध की प्राप्ति होगी। अतः ईजतुः, ईजुः भी पर-विप्रतिषेध का उदाहरण सिद्ध होता है।]

[पर-विप्रतिषेध के अन्य उदाहरण—] ['आदेच उपदेश....' (६.१.४४) सूत्र से] आत्व का अवकाश है—ग्लाता, म्लाता। द्विर्वचन का वही पूर्वोक्त उदाहरण है। यहाँ दोनों की प्राप्ति होती है—जग्ले, मग्ले। [शिद्भिन्न प्रत्यय परे होने से आत्व तथा लिट् परे होने से द्विर्वचन की प्राप्ति है।]

धातु के आदि को होने वाले विकारों के लिये अवकाश है—नमति, सिञ्चति। [धातु के आदि णकार के स्थान में 'णो नः' (६.१.६३) से नकार आदेश तथा 'धात्वादेः षः सः' (६.१.६२) से षकार के स्थान में सकार आदेश है।] द्विर्वचन का पूर्वोक्त वही। यहाँ दोनों प्राप्त होते हैं—ननाम आदि। [परविप्रतिषेध से नत्व होने के पश्चात् 'नम् नम्' इस प्रकार द्विर्वचन होता है।]

रीत्व का अवकाश है—मात्रीयति आदि। [यहाँ 'रीङ् ऋतः' (७.४.२७) सूत्र से 'मातृ' के ऋकार के स्थान में 'री' आदेश है।] द्विर्वचन का वही। यहाँ दोनों प्राप्त होते हैं—'चेक्रीयते' आदि। [यङ् प्रत्ययान्त होने से 'सन्यङोः' से द्विर्वचन तथा पूर्वोक्त से रीत्व की एक साथ प्राप्ति है। परविप्रतिषेध से रीत्व पहले होता है।]

ईत्व का अवकाश है—पीयते, गीयते। [यहाँ 'घुमास्था....' (६.४.६६) से ईकार आदेश हुआ है।] द्विर्वचन का वही। यहाँ दोनों प्राप्त होते हैं—पेपीयते। [परविप्रतिषेध से ईकार आदेश के पश्चात् 'पी पी' द्विर्वचन होता है।]

इत्व, उत्व का अवकाश है—आस्तीर्णम्, निपूर्ताः। ['आस्तीर्णम्' में 'ॠत इद्धातोः' (७.१.१००) से ॠकार के स्थान में इत्व तथा 'निपूर्ताः' में 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (७.१.१०२) से उकार आदेश हुआ है।] द्विर्वचन का वही। यहाँ दोनों प्राप्त होते हैं—आतेस्तीर्यते। ['स्तॄ+य' इस यङन्त धातु में द्विर्वचन से पूर्व इकार आदेश होता है।]

गुणवृद्ध्योरवकाशः— चेता, गौः। द्विर्वचनस्य स एव। इहोभयं प्राप्नोति— चिचाय, चिचयिथ। लुलाव, लुलविथ। नैतदस्ति प्रयोजनम्। अस्त्वत्र द्विर्वचनं, द्विर्वचने कृते परस्य रूपस्य गुणवृद्धी भविष्यतः। इदं तर्हि— इयाय, इययिथ। ननु चात्राप्यस्तु द्विर्वचनं, द्विर्वचने कृते परस्य रूपस्य गुणवृद्धी भविष्यतः ? न सिध्यति। अन्तरङ्गत्वात्सवर्णदीर्घत्वं प्राप्नोति। वार्णादाङ्गं बलीय इति गुणवृद्धी भविष्यतः। किं वक्तव्यमेतत् ? न हि। कथमनुच्यमानं गंस्यते ? आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति वार्णादाङ्गं बलीयो भवतीति, यदयम् 'अभ्यासस्यासवर्णे' (६.४.७८) इत्यसवर्णग्रहणं करोति। कथं कृत्वा ज्ञापकम् ? न ह्यन्तरेण गुणवृद्धी असवर्णपरोऽभ्यासो भवति॥

गुण, वृद्धि का अवकाश है—चेता, गौः। [चेता में 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७.३.८४) से तथा 'गौः' में 'गोतो णित्' (७.१.९०) से विभक्ति के णित्वत् होने से 'अचो ञ्णिति' (७.२.११५) से वृद्धि होती है।] द्विर्वचन का वही। यहाँ दोनों प्राप्त होते हैं—चिचाय...। [लिट् के स्थान पर णल् परे होने पर णित् होने से वृद्धि तथा लिट् परे होने से 'लिटि धातो...' से द्विर्वचन की प्राप्ति है। परविप्रतिषेध से वृद्धि पहले होती है।]

[पर-विप्रतिषेध का] यह प्रयोजन नहीं है। यदि यहाँ पहले द्विर्वचन भी हो जावे, तो भी द्विर्वचन के पश्चात् परस्वरूप को गुण या वृद्धि [होकर चिचाय आदि] बन जायेंगे।

तो फिर यह प्रयोजन है—इयाय, इययिथ।

क्यों, यहाँ भी तो पहले द्विर्वचन हो जावे। इस द्विर्वचन के कर लेने पर ['इ इ अ' इस दशा में] पर स्वरूप को गुण या वृद्धि करने पर रूपसिद्ध हो सकेगा?

नहीं सिद्ध होगा। अन्तरङ्ग होने से ['इ' इ को] सवर्णदीर्घत्व की प्राप्ति होती है। [समाधान—] 'वार्णादाङ्गं बलीयः' परिभाषा के अनुसार पहले गुण, वृद्धि हो सकेंगे।

[तब तो इस परिभाषा को] क्या कहना होगा? नहीं। कहे बिना [इस परिभाषा की] किस प्रकार उपलब्धि होगी? आचार्य की प्रवृत्ति यह ज्ञापित करती है कि वर्ण कार्य से अङ्ग कार्य बलवान् होते हैं। तभी उन्होंने 'अभ्यासस्यासवर्णे' (६.४.७८) सूत्र में 'असवर्ण' ग्रहण किया है। यह ज्ञापक किस प्रकार है? गुण, वृद्धि के बिना असवर्णपरक अभ्यास नहीं मिलता।

विवरण—इस सूत्र में असवर्ण अच् परे रहने पर अभ्यास के इवर्ण के स्थान में इयङ् कहा है। ऐसी दशाओं में यदि अन्तरङ्ग होने से सवर्णदीर्घत्व पहले हुआ करे, तब तो कभी असवर्ण परक अभ्यास मिलेगा ही नहीं। फिर भी इस स्थिति में इयङ् का निषेध करना ज्ञापित करता है कि यहाँ वर्ण कार्य सवर्णदीर्घत्व पहले

नैतदस्ति ज्ञापकम्? अर्त्यर्थमेतत्स्यात्। इयृतः, इयृथः। यत्तर्हि 'दीर्घ इणः किति' (७.४.६९) इति दीर्घत्वं शास्ति? एतस्याप्यस्ति वचने प्रयोजनम्। किम्? सर्वणदीर्घबाधनार्थमेतत्स्यात्। स यथैव तर्हि सवर्णदीर्घत्वं बाधत एवं यणादेशमपि बाधेत।

नहीं होता। तब 'इ इष् अतुस्' इस दशा में इयङ् की प्राप्ति में 'असवर्ण' ग्रहण सार्थक होता है। इससे सिद्ध होता है कि वर्ण कार्य से अङ्ग कार्य बलवान् होता है।

भा०—यह ज्ञापक नहीं है। यह [असवर्ण ग्रहण तो] ऋ धातु के लिये सार्थक हो जाएगा। 'इयृतः' आदि।

विवरण—यहाँ महावैयाकरण नागेश के अनुसार निगूढ अध्ययन से विदित होता है कि यहाँ वस्तुतः सम्पूर्ण सूत्र की निरर्थकता का प्रसङ्ग उपस्थित किया गया है। यदि वर्णकार्य सवर्ण-दीर्घत्व पहले हो तब तो इसके उदाहरण 'इयेष' आदि में भी 'ईष् अ' बन जाने पर इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। ऐसी दशा में सूत्र व्यर्थ होने लगेगा।

इस स्थिति में प्रस्तुत भाष्य द्वारा कहा गया कि यह सूत्र 'इयृतः' के लिए सार्थक हो जाएगा। यहाँ 'ऋ ऋ तस्' इस दशा में पहले सवर्ण-दीर्घ करने पर पूर्व के अन्तवद्भाव (६.१.८२) से अभ्यास मान कर 'अर्तिपिपर्त्योश्च' (७.४.७७) से इकार-आदेश करने पर 'ई तस्' इस दशा में 'अचः परस्मिन्' से स्थानिवद्भाव द्वारा असवर्ण अभ्यास ऋ परे दिखने से यहाँ इयङ् आदेश के लिए सूत्र की सार्थकता हो सकती है।

ऐसी सार्थकता 'इयेष' में लभ्य नहीं है। क्योंकि वहाँ पहले सवर्ण दीर्घत्व होने पर स्थानिवद्भाव के पश्चात् भी असवर्ण अच् परे नहीं मिल सकेगा।

भा०—अच्छा तो फिर 'दीर्घ इणः किति' (७.४.६९) से जो दीर्घत्व का शासन किया है। [यदि यहाँ सवर्ण-दीर्घत्व पहले हो तो यह सूत्र निरर्थक होकर ज्ञापित करेगा कि वर्ण कार्य से पहले अङ्ग कार्य होता है।]

इसके वचन में अन्य प्रयोजन है। क्या? यह सवर्ण दीर्घ के बाधन के लिये होगा। [यह सूत्र निरर्थक होकर केवल यहाँ इस परिस्थिति में सवर्ण-दीर्घत्व का बाधन करेगा। इस प्रकार उपरिलिखित व्यापक परिभाषा को ज्ञापित नहीं कर सकेगा।]

वह जिस प्रकार सवर्ण-दीर्घत्व का बाधन करता है। उसी प्रकार यणादेश का भी बाधन करने लगेगा।

विवरण—'ईयतुः' उदाहरण में 'इ इ अतुस्' इस दशा में सदा सवर्ण-दीर्घत्व की प्राप्ति में यहाँ उसे बाध कर पहले इससे अभ्यास को दीर्घ होगा। पर इस पर प्रश्न है कि तब तो यह बलवान् होकर अन्य सूत्र 'इणो यण्' (६.४.८१) आदि का बाधक होकर यणादेश भी नहीं करने देगा।

एवं तर्हि यणादेशे योगविभागः करिष्यते। इदमस्ति इणो यण्भवति तत एरनेकाचः। एश्चानेकाच इणो यण्भवति। ततोऽसंयोगपूर्वस्य। एरनेकाच इत्येव॥ असवर्णग्रहणमेव तर्हि ज्ञापकम्। ननु चोक्तमर्त्यर्थमेतत्स्यादिति। नैकमुदाहरणमसवर्णग्रहणं प्रयोजयति॥ एवमपि स्थानिवद्भावादियङ् न प्राप्नोति। अथ सत्यपि विप्रतिषेधे यावता स्थानिवद्भावः कथमेवैतत्सिध्यति? कस्मादेवात्र न भवति? योऽनादिष्टादचः पूर्वस्तस्य विधिं प्रति स्थानिवद्भाव आदिष्टाच्चैषोऽचः पूर्वो भवति॥

इति पातञ्जलमहाभाष्ये षष्ठाध्यायस्य प्रथमपादे प्रथममाह्निकम्॥

—०—

भा०—तब फिर यणादेश में योगविभाग करेंगे—यह है—इण् को यण् होता है। पुनः 'एरनेकाचः' इवर्णान्त अनेकाच् इण् को भी यण् होता है। पुनः 'असंयोगपूर्वस्य' यहाँ 'एरनेकाचः' की अनुवृत्ति है। [इस योगविभाग का प्रयोजन यही होगा कि यणादेश अवश्य सम्पन्न हो सके। इससे यह सिद्ध हुआ कि 'दीर्घ इणः किति' (७.४.६९) केवल अपने प्रसङ्ग में सवर्णदीर्घत्व का बाधन कर लेगा। पर पूर्वोक्त व्यापक परिभाषा का ज्ञापन नहीं कर सकेगा।]

तब तो पूर्वोक्त असवर्णग्रहण [से उपलक्षित पूर्वसूत्र ही इस परिभाषा में] ज्ञापक है। इस पर तो यह कहा था कि वह सूत्र [इयृतः में स्थानिवद्भाव से असवर्ण अच् परे रहने पर इयङ् करने के लिये] सार्थक होगा।

केवल एक उदाहरण इस असवर्ण [से उपलक्षित सम्पूर्ण सूत्र] की सार्थकता को सिद्ध नहीं कर सकता।

फिर भी स्थानिवद्भाव से इयङ् नहीं पाता।

विवरण—यदि इस एक उदाहरण के लिये इसे सार्थक बनाना भी चाहें तो भी यह इस एक उदाहरण को भी सिद्ध नहीं कर सकता। 'इयृतः' यहाँ पर 'ऋ ऋ तस्' इस दशा में सवर्ण-दीर्घत्व, इकारादेश होने पर 'ई तस्' इस दशा में स्थानिवद्भाव से 'ई+ऋ' नहीं, अपितु 'ऋ+ऋ+अतुस्' इस प्रकार दृष्टिगोचर होगा। तब पुनः यहाँ भी 'अभ्यासस्यासवर्णे' से इयङ् नहीं प्राप्त हो सकेगा।

भा०—अच्छा, विप्रतिषेध करने पर भी यदि स्थानिवद्भाव होगा तो यह रूप किस प्रकार सिद्ध होगा? यहाँ [स्थानिवद्भाव] क्यों नहीं होगा?

विवरण—'इयाय' उदाहरण में पर विप्रतिषेध से वृद्धि करने पर 'ऐ अ' इस दशा में द्विर्वचन करते समय रूपस्थानिवद् होकर 'इ इ अ' इस स्वरूप में पुनः सवर्णदीर्घत्व की प्राप्ति क्यों नहीं होगी? तब रूप किस प्रकार सिद्ध होगा, यह प्रश्नाशय है।

भा०—जो अनादिष्ट अच् से पूर्व है, उसकी विधि के प्रति स्थानिवद्भाव होता है, यह तो आदिष्ट अच् से पूर्व है (१.१.५६)। [अर्थात् अच् के स्थान में

ष्यङः संप्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे ॥ ६.१.१३ ॥

ष्यङः संप्रसारणे पुत्रपत्योस्तदादावतिप्रसङ्गः ॥ १ ॥

ष्यङः संप्रसारणे पुत्रपत्योस्तदादावतिप्रसङ्गो भवति। पुत्रपत्यादौ संप्रसारणं प्राप्नोति—कारीषगन्ध्यापुत्रकुलम्, कारीषगन्ध्यापतिकुलम्? वर्णग्रहणात्सिद्धम्। वर्णग्रहण एतद्भवति यस्मिन्विधिस्तदादाविति न चेदं वर्णग्रहणम्॥

आदेश से पहले वाली जो स्थिति होती है, उस स्थिति पर किसी विधि के प्रति स्थानिवत् होता है, यहाँ ऐसा नहीं है।]

विवरण—यहाँ 'ऐ+अ' इस दशा में कार्य स्थानिवत् न मानते हुए 'ऐ ऐ अ' इस प्रकार द्विर्वचन करेंगे। इससे सवर्णदीर्घत्व की प्राप्ति नहीं होगी। पुनः अभ्यास ह्रस्वत्व करने से 'इयाय' रूप सिद्ध हो सकेगा। इस प्रकार यहाँ परविप्रतिषेध का आश्रय लेते हुए द्विर्वचन से पहले गुण, वृद्धि होते हैं, यह सिद्धान्त स्थापित हुआ।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि ऊपर प्रश्न में 'द्विर्वचनेऽचि' (१.१.५८) से रूपस्थानिवत् क्यों न हो, यह प्रश्न किया है। पर समाधान में 'योऽनादिष्टादचः...' को उद्धृत करते हुए 'परस्मिन्' से कार्य स्थानिवद् नहीं होगा, यह समाधान दिया है। 'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र से उक्त स्थिति के होने पर कार्यस्थानिवत् होगा, यह समाधान दिया है। क्योंकि यहाँ 'ऐ' इस वृद्धि अजादेश करने से पहले इससे पूर्व कोई अक्षर उपस्थित नहीं है, अतः यहाँ अनादिष्ट अच् से पूर्व वाली स्थिति न होने से स्थानिवत् नहीं होगा।

ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे॥

वा०—ष्यङ् के सम्प्रसारण के प्रसङ्ग में पुत्र, पति परे रहने पर तदादि में अतिप्रसङ्ग।

भा०—ष्यङ् के सम्प्रसारण के सन्दर्भ में पुत्र, पति परे रहने पर तदादि में अतिप्रसङ्ग होता है। पुत्रादि या पत्यादि परे रहने पर सम्प्रसारण प्राप्त होता है—कारीषगन्ध्यापुत्रकुलम्.....आदि।

विवरण—यहाँ 'पुत्रपत्योः' इस वचन में पुत्र या पति शब्द के आनन्तर्यमात्र के आश्रयण के कारण पुत्रादि सम्पूर्ण शब्द, 'पुत्रकुलम्' इत्यादि परे रहने पर भी सम्प्रसारण पाता है। इस प्रकार 'कारीषगन्ध्यायाः पुत्रकुलम्' विग्रह वाले तत्पुरुष में अनिष्ट सम्प्रसारण की प्राप्ति है। पर कारीषगन्धीपुत्रस्य कुलम् विग्रह वाले तत्पुरुष में केवल पुत्र परे रहने पर तो सम्प्रसारण होता ही है। दोनों विग्रहों में अर्थ भेद है। प्रथम विग्रह में वह कुल कारीषगन्ध्या का है; पुत्र चाहे जिसका हो। द्वितीय विग्रह में वह पुत्र निश्चित रूप से कारीषगन्ध्या का ही है।

भा०—वर्णग्रहण से सिद्ध है। वर्णग्रहण में यह होता है—'यस्मिन् विधिस्तदादौ'। [क्योंकि उस परिभाषा में 'अल्ग्रहणे' यह कहा है।] यहाँ [पुत्रपत्योः यह] वर्णग्रहण नहीं है।

वर्णग्रहण इति चेत्तदन्तप्रतिषेधः ॥ २ ॥

वर्णग्रहण इति चेत्तदन्तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। पुत्रपत्यन्ते संप्रसारणं प्राप्नोति। कारीषगन्ध्यापरमपुत्रः, कारीषगन्ध्यापरमपतिः। कौमुदगन्ध्यापरमपुत्रः, कौमुदगन्ध्यापरमपतिः। किं कारणम्? यत्र हि तदादिविधिर्नास्ति तदन्तविधिना तत्र भवितव्यम्॥

सिद्धं तूत्तरपदवचनात्॥ ३ ॥

सिद्धमतेत्। कथम्? उत्तरपदवचनात्। पुत्रपत्योरुत्तरपदयोरिति वक्तव्यम्॥

वा०—'वर्ण ग्रहण' यह कहें तो तदन्तविधिप्रतिषेध।

भा०—'वर्ण-ग्रहण' में [तदादिविधि होती है], ऐसा कहें तो तदन्त में प्रतिषेध कहना होगा। तत्पुरुष के द्वारा सन्निधापित उत्तरपद के पुत्र तथा पति शब्द के द्वारा विशेषित होने से पुत्रान्त या पत्यन्त परे रहने पर सम्प्रसारण प्राप्त होता है। कारीषगन्ध्यापरमपुत्रः, कौमुदगन्ध्यापरमपतिः।

भा०—क्या कारण है? जहाँ तदादिविधि नहीं होती, वहाँ 'येन विधिस्तदन्तस्य' (१.१.७१) से तदन्तविधि होनी चाहिए। [नियमतः अपवाद उत्सर्ग का बाधक होता है। परन्तु जब अपवाद तदादिविधि कार्यशील नहीं होती, तब स्वभावतः उत्सर्ग तदन्तविधि को प्रवृत्त होना ही चाहिये।]

विशेष—कोई जमाना था, जब गन्ध से किसी की पहचान बनती थी। 'कारीषगन्ध्या' का मूल अर्थ तो यही है कि गोबर के समान गन्ध वाले की महिला गोत्रापत्य। वह महिला भी इतनी प्रसिद्ध हुई कि उसके परिवार के अलग-अलग सदस्यों की चर्चा होने लगी!! ऊपर जो उदाहरण दिये गये हैं, उनका अर्थ होगा—इस प्रकार की महिला का सबसे बढ़िया पुत्र तथा फूल के समान गन्ध वाले की महिला गोत्रापत्य का सबसे सुन्दर पति!! महाभारत में 'मत्स्यगन्धा' नाम देखते हुए इस प्रकार के शब्द असम्भावित नहीं हैं।

वा०—सिद्ध है, उत्तरपद वचन से।

भा०—सिद्ध है। किस प्रकार? उत्तरपद वचन से। 'पुत्र, पति उत्तरपद में रहने पर' इस प्रकार कहा जाएगा।

विवरण—'उत्तरपद' का प्रयोग समास में वर्तमान पदों में अगले पद के लिए होता है। यहाँ 'उत्तरपद' वचन करते हुए इसे विशेषण बनाएँगे। इससे अर्थ होगा—उत्तरपद विशिष्ट जो पुत्र, पति। उत्तरपदान्त पुत्र, पति असम्भव होने से यहाँ स्वतः तदन्तविधि नहीं होगी। इससे केवल पुत्र, पति परे रहने पर कार्य होगा। यदि उत्तरपद को विशेष्य बनाते तब 'पुत्रान्त उत्तरपद' यह अर्थ होता। पर यहाँ पर

तत्तर्हि वक्तव्यम्? न वक्तव्यम्। पूर्वपदमुत्तरपदमिति संबन्धिशब्दावेतौ। सति पूर्वपद उत्तरपदं भवति, सति चोत्तरपदे पूर्वपदमिति, न चात्र पुत्रपती उत्तरपदे॥ इहापि तर्हि न प्राप्नोति— कारीषगन्धीपुत्रः, कारीषगन्धीपतिरिति? किं कारणम्? पूर्वपदमित्युच्यते न ह्यत्र ष्यङ् पूर्वपदमस्ति। ष्यङन्तमेतत्पूर्वपदम्। कथम्? प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स तदादेर्ग्रहणं भवतीति॥ यदि प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स तदादेर्ग्रहणं भवतीत्युच्यते परमकारीषगन्धीपुत्रः, परमकारीषगन्धीपतिरिति न सिध्यति?

अभिप्रेत नहीं है। किसी के विशेष्य या विशेषण बनाने का निर्धारण आवश्यकतानुसार सम्पन्न होता है।

भा०—तो फिर इसे [उत्तरपद को] कहा जावे? नहीं कहना चाहिये। पूर्वपद, उत्तरपद ये सम्बन्धी शब्द हैं। पूर्वपद होने पर उत्तरपद होता है, उत्तरपद होने पर पूर्वपद होता है। यहाँ पुत्र, पति उत्तरपद नहीं है।

विवरण—'पूर्वपद' आदि सम्बन्धी का बोधन कराने वाले शब्द हैं। समास में सम्बन्धी की आकांक्षा होती है। अतः इस आकांक्षाबल से पूर्वपद आदि सम्बन्धी की आक्षेप से उपलब्धि होती है। जैसे 'पठसि' कहने पर 'त्वम्' की प्रतीति हो जाती है। इसी प्रकार यहाँ 'उत्तरपद' का प्रयोग न होने पर भी भाषा के स्वाभाविक नियम से 'उत्तरपद' की उपलब्धि हो जाएगी।

भा०—तब यहाँ भी नहीं पाएगा—कारीषगन्धीपुत्रः, कारीषगन्धीपतिः? क्या कारण है? पूर्वपद कहा है। पर यहाँ ष्यङ् पूर्वपद नहीं है। यहाँ तो ष्यङन्त पूर्वपद है।

विवरण—जिस प्रकार पिछले विवरण के अनुसार आक्षेपलभ्य उत्तरपद को विशेषण बनाते हुए 'उत्तरपद जो पुत्र' यह अर्थ होता है, उसी प्रकार आक्षेपलभ्य पूर्वपद को भी समन्वित करने पर 'पूर्वपद जो ष्यङ्' यह अर्थ होगा। तब दोष होगा कि ष्यङन्त पूर्वपद में कार्य नहीं हो सकेगा।

भा०—किस प्रकार? [परिभाषा के अनुसार] प्रत्ययग्रहण होने पर वह प्रत्यय जिससे विहित होता है तदादि को तथा उस प्रत्यय अन्त वाले को कार्य होता है।

विवरण—यह पूर्व दोष का समाधान है। प्रत्ययग्रहण के सन्दर्भ में तो इस परिभाषा के प्रवृत्त होने से ष्यङन्त तदादि पूर्वपद में कार्य होगा। साथ ही पूर्वोक्तानुसार उत्तरपदविशिष्ट पुत्र पति परे रहने पर यह होगा। इससे सर्वत्र अभीष्ट सिद्धि हो सकेगी।

[पुनः दोषकथन—] **भा०**—यदि 'प्रत्ययग्रहणे यस्मात्....' यह परिभाषा है तब तो परमकारीषगन्धीपुत्रः....इत्यादि सिद्ध नहीं होंगे? [इस परिभाषा के अनुसार ष्यङ् प्रत्यय जिससे विहित है तदादि का अर्थात् कारीषगन्ध्या को ष्यङन्त माना जाएगा। परमकारीषगन्ध्या के ष्यङन्त तदादि न होने से यहाँ सम्प्रसारण नहीं हो सकेगा।]

प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स तदादेर्ग्रहणं भवत्यस्त्रीप्रत्ययेनेति॥ यद्यस्त्रीप्रत्ययेनेत्युच्यते अतिक्रान्तः कारीषगन्ध्यामतिकारीषगन्ध्यः तस्य पुत्रोऽतिकारीषगन्ध्यपुत्रः, अतिकारीषगन्ध्यपतिरित्यत्रापि प्राप्नोति? अस्त्रीप्रत्ययेनानुपसर्जनेन। यो ह्युपसर्जनं स्त्रीप्रत्ययो, भवत्येषा तत्र परिभाषा—प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स तदादेर्ग्रहणं भवतीति॥

ष्यङन्ते यावन्तो यणस्तेषां सर्वेषां संप्रसारणं प्राप्नोति—वाराहीपुत्रः, तार्णकर्णीपुत्रः? तत्राप्रत्ययस्थस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः।

यथागृहीतस्यादेशवचनादप्रत्ययस्थे सिद्धम्॥ ४॥

निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीत्येवमप्रत्ययस्थस्य न भविष्यति॥

अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य वा॥ ५॥

भा०—प्रत्ययग्रहणे यस्मात्.....के साथ 'अस्त्रीप्रत्ययेन' कहा जाएगा। [पुनः दोषकथन—] यदि 'अस्त्रीप्रत्ययेन' कहेंगे तो अतिक्रान्तः कारीषगन्ध्याम् अतिकारीषगन्ध्यः [यहाँ 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' ('कुगतिप्रादयः' २.२.१८ पर वार्तिक) के बल से पूर्वपदार्थ प्रधान समास हुआ है। इस प्रकार स्त्रीप्रत्ययान्त कारीषगन्ध्या उपसर्जन है।] तस्य पुत्रः 'अतिकारीषगन्ध्यपुत्रः' यहाँ भी [सम्प्रसारण] प्राप्त होता है।

[समाधानभाष्य—] यह कहेंगे कि—उपसर्जन-भिन्न स्त्रीप्रत्यय से तदादिविधि नहीं होती। पर उपसर्जन स्त्रीप्रत्यय में तो यह परिभाषा प्रवृत्त होती ही है—'प्रत्ययग्रहणे यस्मात्....' इत्यादि। [पूर्वोक्त उदाहरण में कारीषगन्ध्या उपसर्जन होने से इस परिभाषा के लगने से 'अतिकारीषगन्ध्या' ष्यङन्त तदादि नहीं होगा। अतः यहाँ सम्प्रसारण न होने से रूप सिद्ध हो जाएगा। इस प्रकार ष्यङन्त तदादि को सम्प्रसारण सिद्ध होता है।]

[प्रसङ्गान्तर—] ष्यङन्त में जितने यण् हैं उन सभी को सम्प्रसारण प्राप्त होता है। वाराहीपुत्रः....[यहाँ वाराह्या इस ष्यङन्त शब्द के यण् को सम्प्रसारण का विधान होने से र को भी प्राप्ति होती है। इसी प्रकार] तार्णकर्णीपुत्रः में। तब प्रत्यय से भिन्न [यण् का सम्प्रसारण] नहीं होता, इस प्रकार प्रतिषेध करना चाहिये।

वा०—यथागृहीत के आदेशवचन से अप्रत्ययस्थ में सिद्ध।

भा०—जिसका शब्दशः ग्रहण या निर्देश किया गया है, उसके ही स्थान में आदेश कहने से प्रत्यय से भिन्न में स्थित यण् के स्थान में सम्प्रसारण नहीं होगा। [इस प्रकार सूत्रार्थ होगा—ष्यङन्त तदादि शब्दरूप के निर्दिश्यमान ष्यङ् के स्थान में सम्प्रसारण होता है।]

वा०—अथवा अनन्त्यविकार में अन्त्यसदेश का।

अथवानन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य कार्यं भवतीत्येषा परिभाषा कर्तव्या॥ कः पुनरत्र विशेष एषा वा परिभाषा क्रियेताप्रत्ययस्थस्य वा प्रतिषेध उच्येत? अवश्यमेषा परिभाषा कर्तव्या। बहून्येतस्याः परिभाषायाः प्रयोजनानि। कानि?

प्रयोजनं न संप्रसारणे संप्रसारणम्॥ ६॥

'न संप्रसारणे संप्रसारणम्' (६.१.३७) इत्येतन्न वक्तव्यं भवति। कथं व्यधेर्विद्ध इति? अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य कार्यं भवतीति न दोषो भवति॥ नैतदस्ति प्रयोजनम्। क्रियते न्यास एव॥

सान्तमहतो दीर्घत्वे॥ ७॥

सान्तमहतो दीर्घत्वे प्रयोजनम्। पयांसि, यशांसि। प इत्यस्यापि प्राप्नोति। अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य कार्यं भवतीति न दोषो भवति॥ एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। 'नोपधायाः' (६.४.७) इति तत्र वर्तते॥

भा०—अनन्तिम अक्षर के स्थान में विकार या आदेश प्राप्ति की स्थिति में अन्तिम के ठीक या सर्वथा समीप को कार्य होता है, यह परिभाषा कहनी चाहिए। [प्रस्तुत प्रसङ्ग में ष्यङ् का 'य्' अन्त्यसदेश होने से उसे ही सम्प्रसारण होगा।]

यहाँ क्या विशेष है—यह परिभाषा बनावें या प्रत्यय से भिन्न में प्रतिषेध करें? [समाधान—] इस परिभाषा को अवश्य कहना चाहिये। इस परिभाषा के बहुत प्रयोजन हैं। [प्रश्न—] कौन?

वा०—प्रयोजन है—सम्प्रसारण परे रहने पर सम्प्रसारण नहीं।

भा०—इस परिभाषा के कहने पर 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' कहने की आवश्यकता नहीं होती। [प्रश्न—] तब व्यध् से बनने वाले 'विद्धः' शब्द में [वकार के स्थान में सम्प्रसारण क्यों नहीं होगा]? [समाधान—] 'अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य' इस परिभाषा के अनुसार कोई दोष नहीं होगा।

यह प्रयोजन नहीं है। आचार्य ने इस सूत्र का उपदेश तो कर ही दिया है।

वा०—सान्त, महत् का दीर्घत्व में।

भा०—सकारान्त शब्द तथा महत् को दीर्घत्व के प्रसङ्ग में इस परिभाषा का प्रयोजन है। पयांसि....आदि। [यहाँ 'सान्तमहतः संयोगस्य' (६.४.१०) सूत्र से सकारान्त अङ्ग को कहा गया दीर्घ आदेश] प के अकार के स्थान में भी प्राप्त होता है। अनन्त्यविकार में अन्त्यसदेश को कार्य कहने से दोष नहीं होता।

यह प्रयोजन नहीं है। यहाँ 'नोपधायाः' की अनुवृत्ति है। [अतः अर्थ होगा—सकारान्त अङ्ग का जो नकार उसकी उपधा को दीर्घ होता है।]

एवमप्यनांसि मनांसीत्यत्रापि प्राप्नोति ? नैष दोषः । सान्तसंयोगेन नोपधां विशेषयिष्यामः, सान्तसंयोगस्य नोपधाया इति ॥ एवमपि हंसशिरांसि, ध्वंसशिरांसीत्यत्रापि प्राप्नोति ? नैष दोषः । हम्मतेर्हंसः । कः पुनराह हम्मतेर्हंस इति ? किं तर्हि ? हन्तेर्हंसः । हन्त्यध्वानमिति ॥

तो भी अनांसि, मनांसि—यहाँ अ तथा म को दीर्घ पाएगा। [समाधान—] सान्त संयोग से उपधा को विशेषित करेंगे। तब अर्थ होगा—सकारान्त अङ्ग के संयोग का अवयव जो नकार उसकी उपधा को दीर्घ होता है। [यहाँ 'अनन्स्' तथा 'मनन्स्' में संयोग 'न्स्' है। इस प्रकार नकार की उपधा न का अकार ही है। अतः मात्र उसे ही दीर्घ होगा।]

तो भी 'हंसशिरांसि'.....आदि में भी दीर्घत्व प्रास होता है ? [यहाँ 'हंसशिरन्स्' इस सकारान्त अङ्ग का संयोग हंस का 'न्स्' है। उसकी उपधा हकार के अकार को दीर्घ पाता है।] यह दोष नहीं है। हम्म् धातु से हंस बनता है। [इससे नकार की उपधा नहीं मिलेगी।] कौन कहता है, हम्म् से 'हंस' बनता है ? तो फिर किससे ? वस्तुतः हन् से हंस बनता है। क्योंकि वह रास्ता पार करता है।

विशेष—महाभाष्यकार का यह कथन समुचित है कि 'हम्म्' धातु से 'हंस' नहीं बनता। क्योंकि उनके स्वयं के उल्लेख के अनुसार हम्म् धातु का प्रयोग केवल सौराष्ट्र (गुजरात) में होता है। (हम्मतिः सुराष्ट्रेषु....)। इस प्रकार यह 'हन्' धातु से निष्पन्न है।

आधुनिक भाषाविज्ञान के अनुसार 'हन्' से भी प्राचीनतम रूप 'घन्' है। यह रूप 'घ्नन्ति' जैसे रूपों में अब भी जीवित है। यह रूप भारोपीय युग का है। इस रूप से ही ग्रिम नियम (grim's law) के अनुसार यूरोपीय भाषाओं के अनेक शब्द विकसित हुए हैं। इंग्लिश में प्रचलित goose जैसे शब्द इसमें प्रमाण हैं।

वास्तव में महाभाष्यकार ने हंस की इस व्युत्पत्ति के लिए यास्क का अनुसरण किया है।[1] पर साथ ही यह देखना सुखद है कि आज से कम से कम ३,००० वर्ष पहले निरुक्तकार यास्क अनेक प्रसङ्गों में आधुनिक भाषा-विज्ञान के इस निष्कर्ष पर भी पहुँचे थे तथा उन्होंने सघोष महाप्राण अक्षर को मौलिक माना था, हकार को नहीं। जैसे उन्होंने 'गर्भ' शब्द की सिद्धि 'गृभ्' इस मूल धातु से की है।[2] वार्तिककार के समान ग्रह् के हकार के स्थान में भकार नहीं किया है।[3] इसी प्रकार 'बाहु' शब्द की सिद्धि में सघोष महाप्राण वाली बाध् धातु को मौलिक मानते हुए उसके स्थान पर हकार आदेश किया है।[4]

---

१. हंसा हन्तेर्घ्नन्त्यध्वानम्—निरुक्त ४.१३।

२. गर्भो गृभेः—निरुक्त १०.२३।

३. हृग्रहोर्भश्छन्दसि।—वा० ८.२.३५।

४. बाहू कस्मात् प्रबाधत आभ्यां कर्माणि—निरुक्त ३.८।

एवं तर्हि सर्वनामस्थान इति वर्तते। सर्वनामस्थानपरतया सान्तसंयोगं विशेषयिष्यामः, सान्तसंयोगेन नोपधाम्। सर्वनामस्थानपरस्य सान्तसंयोगस्य नोपधाया इति॥

अन्कारान्तस्याल्लोपे॥ ८॥

अन्कारान्तस्याल्लोपे प्रयोजनम्। तक्ष्णा, तक्ष्ण इति। त इत्यत्रापि प्राप्नोति? अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य कार्यं भवतीति न दोषो भवति॥ एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। अनाकारं विशेषयिष्यामः। अनो योऽकार इति॥ एवमप्यनसा, अनस इत्यत्रापि प्राप्नोति? अन्कारेणाङ्गं विशेषयिष्यामोऽनाकारम्—अन्कारान्तस्याङ्गस्यानो योऽकार इति॥ एवमप्यनस्तक्ष्णा, अनस्तक्ष्ण इत्यत्रापि प्राप्नोति?

एवं तर्हि कार्यकालं हि संज्ञापरिभाषं, यत्र कार्यं तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यम्।

भा०—अच्छा तो फिर सर्वनामस्थान की अनुवृत्ति है। 'सर्वनामस्थाने' से सान्तसंयोग को विशेषित करेंगे तथा सान्तसंयोग से नोपधा को। तब अर्थ होगा—सर्वनामस्थान परे रहने वाला अर्थात् उससे ठीक पूर्व जो सान्तसंयोग उसके अवयव नकार की उपधा को दीर्घ होता है। ['हंसशिरस्' में हंस का 'न्स्' संयोग सर्वनामस्थान से ठीक पूर्ववर्ती नहीं है, अतः ह के अ को दीर्घ नहीं होगा।]

वा०—अन्कार अन्त के अल्लोप में।

भा०—अन्कार अन्त वाले शब्द के अकार लोप के सन्दर्भ में इस परिभाषा का प्रयोजन है। तक्ष्णा, तक्ष्णे। [यहाँ 'अल्लोपोऽनः' (६.४.१३४) सूत्र से 'अन्नन्त भसंज्ञक अङ्ग का अकारलोप' इस अर्थ के अनुसार] त के अकार का लोप भी प्राप्त होता है। 'अनन्त्यविकारे....' परिभाषा के अनुसार दोष नहीं होता।

यह भी प्रयोजन नहीं है। अन् से अकार को विशेषित करेंगे। ['भस्य' (६.४.१२९) सूत्र में व्यधिकरण में षष्ठी मानते हुए भ संज्ञा वाले अङ्ग के अन् के अकार का लोप—यह अर्थ करेंगे।]

फिर भी अनसा, अनसे [जहाँ अन् अन्त में नहीं है, उस शब्द के अकार का लोप] प्राप्त होता है। अन्कार से अङ्ग को विशेषित करेंगे, अन् से अकार को। [अन् को दूसरी बार अध्याहृत करेंगे] तब अर्थ होगा—अन्कार अन्त वाले अङ्ग के अन् के अकार का लोप होता है। ['अनसा' में अन्त में अन् न होने से दोष नहीं होगा।]

फिर भी 'अनस्तक्ष्णा' यहाँ पूर्व अन् के अकार के लोप की प्राप्ति होती है। [यहाँ अन् अन्त में है तथा एक अन्य 'अन्' पूर्व में भी उपस्थित है।]

[समाधान—] अच्छा तो फिर 'कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्' के अनुसार संज्ञा सूत्र जहाँ कार्य है, वहाँ उपस्थित हो जाते हैं। अतः 'भस्य' के साथ 'यचि भम्'

भस्येत्युपस्थितमिदं भवति 'यचि भम्' (१.४.१८) इति तत्र यजादिपरतयान्कारं विशेषयिष्यामोऽनाकारम्। यजादिपरस्यानो योऽकार इति॥

मृजेर्वृद्धिविधौ॥ ९॥

मृजेर्वृद्धिविधौ प्रयोजनम्। न्यमार्ट्। अटोऽपि वृद्धिः प्राप्नोति। अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य कार्यं भवतीति न दोषो भवति॥ एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। यथापरिभाषितम् 'इको गुणवृद्धी' (१.१.३) इतीक एव वृद्धिर्भविष्यति॥ एवमपि मिमार्जिषतीत्यत्र प्राप्नोति? अस्तु। अभ्यासनिर्ह्रासेन ह्रस्वो भविष्यति॥

भी उपस्थित होगा। तब 'यचि' से अन्कार को विशेषित करेंगे, अन् से अकार को। तब अर्थ होगा—अन् अन्त वाले अङ्ग के यकारादि अजादि के ठीक पूर्व वाले अन् के अकार का लोप होता है। [नागेश के अनुसार तन्त्र युक्ति से पहले अन् को अङ्ग से तथा पुनः अन् को यकारादि अजादि से समन्वित करेंगे।]

विवरण—महाभाष्य में अन्यत्र 'प्रत्यासत्ति' युक्ति का भी उपयोग किया गया है। उसका आश्रयण करते हुए 'जो अन् अङ्ग के अन्त में है, उसी अन् के अकार का लोप होता है', इस अर्थ के द्वारा भी पूर्वोक्त दोष का समाधान सम्भव है।

वा०—मृज् की वृद्धिविधि में।

भा०—मृज् की वृद्धिविधि में इस परिभाषा का प्रयोजन है। न्यमार्ट् [नि उपसर्ग पूर्वक मृज् धातु के लङ् प्रथम पुरुष एकवचन में 'नि अ मृज् त्' इस दशा में 'मृजेर्वृद्धिः' (७.२.११४) से 'मृज्' को शासित वृद्धि, अट् का मृज् का भाग होने से] अट् को भी प्राप्त होती है। 'अनन्त्यविकारे....' परिभाषा के अनुसार यह दोष नहीं होता।

यह भी प्रयोजन नहीं है। 'इको गुणवृद्धी' इस परिभाषा के अनुसार इक् को ही वृद्धि होगी। [कार्यकाल पक्ष में इस परिभाषा के यहाँ उपस्थित होने से 'मृज् के इक् को वृद्धि' इस अर्थ में कोई दोष न होगा।]

तो भी 'मिमार्जिषति' यहाँ प्राप्त होता है। [मृज् धातु से सन्नन्त में वृद्धियुक्तधातु का द्विर्वचन तथा अभ्यास को 'ह्रस्वः' (७.४.५९) से ह्रस्व के अनन्तर 'सन्यतः' (७.४.७९) से इकारादेश के पश्चात् इससे इकार के स्थान में पुनः वृद्धि प्राप्त होती है।]

[समाधान भाष्य—] हो जावे। 'ह्रस्वः' सूत्र से अभ्यास को पुनः ह्रस्व हो जाएगा। [जिस प्रकार पर्जन्य अथवा मेघ शुष्क तथा जलपूर्ण स्थान में एक साथ पुनः-पुनः प्रवृत्त हो सकते हैं। उसी प्रकार इस न्याय के अनुसार कोई भी सूत्र एक ही स्थान पर पुनः-पुनः प्रवृत्त हो सकता है। इसका आश्रयण करते हुए एक बार अभ्यास कार्य ह्रस्व होने के पश्चात् पुनः वृद्धि होने पर पुनः यही अभ्यास कार्य ह्रस्व सम्पन्न हो सकेगा।]

वसोः संप्रसारणे च॥ १०॥

वसोः संप्रसारणे च प्रयोजनम्। विदुषः पश्य। विदिवकारस्यापि प्राप्नोति? अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्येति न दोषो भवति॥ एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। 'न संप्रसारणे संप्रसारणम्' (६.१.३७) इति प्रतिषेधो भविष्यति। इद्कारेण व्यवहितत्वान्न प्राप्नोति। एवं तर्हि निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीति न भविष्यति॥

युवादीनां च॥ ११॥

युवादीनां च संप्रसारणे प्रयोजनम्। यूनः, यूना, यूने। यकारस्यापि प्राप्नोति? अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्येति न दोषो भवति॥

एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। न संप्रसारणे संप्रसारणमिति न भविष्यति। उकारेण व्यवहितत्वान्न प्राप्नोति। एकादेशे कृते नास्ति व्यवधानम्। एकादेशः

वा०—वसु के सम्प्रसारण में भी।

भा०—वसु के सम्प्रसारण में भी [परिभाषा का] प्रयोजन है। विदुषः पश्य। [यहाँ क्वसु के वकार को 'वसोः सम्प्रसारणम्' (६.४.१३१) से सम्प्रसारण करने के पश्चात् 'विद् उस्' इस दशा में 'वसु अन्त वाले भसंज्ञक अङ्ग के यण् को सम्प्रसारण' यह अर्थ मानने पर पूर्वोक्त सूत्र से] विद् के वकार को भी सम्प्रसारण प्राप्त होता है। 'अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य.....' परिभाषा मानने पर दोष नहीं होता।

यह भी प्रयोजन नहीं है। यहाँ 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' से प्रतिषेध हो जाएगा। [पुनः प्रश्न]—यहाँ ['व् इद् उस्' इस स्थिति में सम्प्रसारण उ से पूर्व] 'इद्' से व्यवधान होने से व् को सम्प्रसारण का प्रतिषेध नहीं प्राप्त होगा।[अन्तिम समाधान—] अच्छा तो फिर 'निर्दिश्यमानस्यादेशा....' परिभाषा द्वारा नहीं होगा। [तब 'वसोः सम्प्रसारणम्' का अर्थ होगा—वसु अन्त वाले भसंज्ञक अङ्ग के निर्दिश्यमान यण् के स्थान में सम्प्रसारण। यहाँ वकार के निर्दिश्यमान न होने से उसे सम्प्रसारण न होगा।]

वा०—युव इत्यादि का भी।

भा०—युव इत्यादि के सम्प्रसारण में भी प्रयोजन है। यूनः, यूना, यूने। [यहाँ 'श्वयुवमघोनाम्....' (६.४.१३३) सूत्र से 'भसंज्ञक युवन् के यण् को सम्प्रसारण' इस अर्थ में] यकार को भी सम्प्रसारण पाता है। 'अनन्त्यविकारे....' परिभाषा से दोष नहीं होता।

यह भी प्रयोजन नहीं है, 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' सूत्र से सम्प्रसारण नहीं होगा। [दोषप्रदर्शन—] [यहाँ वकार को सम्प्रसारण के पश्चात् 'य् उ उ अन्' इस स्थिति में 'उ' और 'य्' के बीच में] उकार के व्यवधान होने से सम्प्रसारण-निषेध नहीं प्राप्त होता। [समाधान—] [उ उ के स्थान में सवर्णदीर्घ] एकादेश के पश्चात् व्यवधान नहीं होगा। [दोष—] 'अचः परस्मिन्...' सूत्र से एकादेश पूर्वविधि में

पूर्वविधौ स्थानिवद्भवतीति स्थानिवद्भावाद्व्यवधानमेव। एवं तर्हि समानाङ्गग्रहणं तत्र चोदयिष्यति॥

वोरुपधाग्रहणं च॥ १२॥

वोश्चोपधाग्रहणं न कर्तव्यं भवति—'वोरुपधाया दीर्घ इकः' (८.२.७६) इति। इह कस्मान्न भवति? अबिभर्भवान्। अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्येति न दोषो भवति॥ एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। क्रियते न्यास एव॥

आदित्यदादिविधिसंयोगादिलोपकुत्वढत्वभष्भावषत्वणत्वेष्वतिप्रसङ्गः॥ १३॥

आदिविधावतिप्रसङ्गो भवति—'धात्वादेः षः सः' (६.१.६४) 'णो नः' (६५)। इहैव स्यात्—नेता, सोता। इह न स्यात्—नमति, सिञ्चतीति? आदि॥ त्यदादिविधि—इहैव स्यात्—तद्—सः। त्यद्—स्य इत्यत्र न स्यात्।

स्थानिवत् होता है, इस नियम से स्थानिवद्भाव होने से व्यवधान ही होगा। [समाधान—] अच्छा तो फिर उस सूत्र में 'समानाङ्ग' ग्रहण करेंगे। [इसके अनुसार सम्प्रसारण से पूर्व एक ही अङ्ग में वर्तमान सभी यणों के सम्प्रसारण का प्रतिषेध होगा। इससे यकार के सम्प्रसारण का प्रतिषेध होने से कोई दोष नहीं होगा।]

वा०—वोरुपधाग्रहण भी।

भा०—'वोरुपधाया दीर्घ इकः' (८.२.७६) सूत्र में उपधा ग्रहण करने की भी आवश्यकता नहीं होगी। अबिभर्भवान् (=आपने हमारा पालन किया।) [यहाँ भृ धातु से लङ्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन में 'अ बि भर् त्' इस स्थिति में 'रेफ या वकार अन्त वाली धातु की उपधा इक् को दीर्घ' इस अर्थ में 'बि' के इकार को दीर्घ नहीं होता। 'अनन्त्यविकारे'....इस परिभाषा के कहने पर 'उपधा' ग्रहण न करने पर भी यह दीर्घ नहीं होगा।]

यह भी दोष नहीं है। सूत्र में 'उपधा' का न्यास किया ही जा चुका है।

[इसके पश्चात् 'अनन्त्यविकारे'... परिभाषा के दोष प्रस्तुत हैं—]

वा०—आदि, त्यदादिविधि, संयोगादिलोप, कुत्व, ढत्व, भष्भाव, षत्व, णत्व में परिभाषा से अतिप्रसङ्ग।

भा०—आदिविधि में अतिप्रसङ्ग होता है— 'धात्वादेः षः सः' 'णो नः' से यहीं नत्वादि होते—नेता, सोता। यहाँ न होते—नमति, सिञ्चति। [क्योंकि यहाँ 'णम्' का णकार 'नेता' की तुलना में अन्त्य के ठीक समीप नहीं है।]

त्यदादिविधि—यहीं पर होता—तद्—[प्रथमा एकवचन में] सः। [यहाँ 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' (७.२.१०६) से त्यद् आदि के त् या द् को विधीयमान सकारादेश सिद्ध हो जाता। परन्तु] स्यः यहाँ त्यद् के तकार को सकार न होता।

त्यदादिविधि॥ संयोगादिलोप—इहैव स्यात्—मङ्क्ता। मङ्क्तव्यमित्यत्र न स्यात्। संयोगादिलोप॥ कुत्व—इहैव स्यात्—पक्ता। पक्तव्यमित्यत्र न स्यात्। कुत्व॥ ढत्व—इहैव स्यात्—लेढा। लेढव्यमित्यत्र न स्यात्। ढत्व॥ भष्भाव—इहैव स्यात्—अभुत्सि। अभुत्सातामित्यत्र न स्यात्। भष्भाव॥ षत्व—इहैव स्यात्—द्रष्टा। द्रष्टव्यमित्यत्र न स्यात्। षत्व॥ णत्व—इहैव स्यात्—माषवापेण। माषवापाणामित्यत्र न स्यात्। णत्व॥

एते दोषाः समा भूयांसो वा तस्मान्नार्थोऽनया परिभाषया॥ न हि दोषाः सन्तीति परिभाषा न कर्तव्या, लक्षणं वा न प्रणेयम्? न हि भिक्षुकाः

[क्योंकि यह तकार अन्त्य के ठीक समीप नहीं है।]

संयोगादिलोप—यहीं पर होता—मङ्क्ता। [यहाँ 'मस् न् ज् ता' इस दशा में 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' (८.२.२९) सूत्र से पद के अन्तिम अक्षर के ठीक समीपवर्ती झल् 'त्' परे रहने पर संयोगादि सकार का लोप सिद्ध होता। परन्तु] मङ्क्तव्यम् यहाँ [पदान्त अक्षर से सापेक्षतः सुदूर झल् परे रहने वाले संयोगादि सकार का लोप] न होता।

कुत्व—यहीं पर होता—पक्ता। पर 'पक्तव्यम्' यहाँ पर ['चोः कुः' (८.२.३०) सूत्र से पूर्वोक्तानुसार] न होता।

ढत्व—यहीं पर ['हो ढः' (८.२.३१) सूत्र से ढत्व] होता—लेढा। पर 'लेढव्यम्' यहाँ न होता।

भष्-भाव—यहीं पर होता—अभुत्सि। [बुध् धातु लुङ् लकार उत्तम पुरुष एकवचन में 'अ बुध् स् इ' इस दशा में 'एकाचो बशो भष्...' (८.२.३७) सूत्र से पद के अन्त्य के ठीक समीपवर्ती स् परे रहने पर बकार को भष्भाव होकर भकार होता।] पर 'अभुत्साताम्' [यहाँ अन्त्य से सुदूर स् परे होने पर] न होता।

षत्व—['व्रश्चभ्रस्ज...' (८.२.३६) सूत्र से] यहीं षकार आदेश होता—द्रष्टा। 'द्रष्टव्यम्' यहाँ पर न होता।

णत्व—['प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च' (८.४.११) सूत्र से पद के अन्त्य के ठीक समीपवर्ती विभक्तिस्थ नकार के स्थान में विधीयमान णकार] यहीं पर होता—माषवापेण। पर माषवापाणाम् [यहाँ पद के अन्त्य से सापेक्षतः सुदूर विभक्तिस्थ नकार को णकार] न होता।

ये दोष [प्रयोजन की तुलना में] चाहे बराबर हों या उससे अधिक हों, इससे दोनों ही दशाओं में इस परिभाषा की आवश्यकता नहीं। [समाधान भाष्य—] दोष हैं, इतने मात्र से परिभाषा न कही जाय या सूत्ररचना न की जाय—ऐसा तो नहीं है। भिक्षुक हैं [माँगने आ आएँगे], इतने मात्र से पकाने के लिये बटलोई न चढ़ाई

सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते, न च मृगाः सन्तीति यवा नोप्यन्ते? दोषाः खल्वपि साकल्येन परिगणिताः, प्रयोजनानामुदाहरणमात्रम्। कुत एतत्? न हि दोषाणां लक्षणमस्ति। तस्माद्यान्येतस्याः परिभाषायाः प्रयोजनानि तदर्थमेषा परिभाषा कर्तव्या, प्रतिविधेयं दोषेषु॥ इदं प्रतिविधीयते—

उदात्तनिर्देशात्सिद्धम्॥ १४॥

यत्रैषा परिभाषेष्यते तत्रोदात्तनिर्देशः कर्तव्यः। ततो वक्तव्यमनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य कार्यं भवत्युदात्तनिर्देश इति॥

स तर्ह्युदात्तनिर्देशः कर्तव्यः? न कर्तव्यः। यत्रैवान्त्यसदेशश्चानन्त्यसदेशश्च युगपत्समवस्थितौ तत्रैषा परिभाषा भवति, दोषेषु चान्यत्रान्त्यसदेशोऽन्यत्रानन्त्यसदेशः, प्रयोजनेषु पुनस्तत्रैवान्त्यसदेशश्चानन्त्यसदेशश्च। तथाजातीयकानि खल्वप्याचार्येण प्रयोजनानि पठितानि यान्युभयवन्ति।

जावे—ऐसा तो नहीं है। मृग हैं [खेत चर जाएंगे] इतने मात्र से जौ न बोए जावें, ऐसा तो नहीं है। और फिर, दोष तो समग्रता के साथ गिनाए गए हैं—प्रयोजन केवल उदाहरण मात्र हैं। ऐसा क्यों? क्योंकि दोषों का लक्षण या पहचान नहीं है। [ऐसा नहीं है कि एक दोष की किसी पहचान के आधार पर सब दोष जाने जा सकें।] इसलिये इस परिभाषा के जो प्रयोजन हैं, उनके लिये यह परिभाषा बनानी चाहिये तथा दोषों के सन्दर्भ में उनका समाधान अंकित करना चाहिये। समाधान यह है—

वा०—उदात्त-निर्देश से सिद्ध।

भा०—जहाँ यह परिभाषा अभीष्ट है, वहाँ उदात्तनिर्देश करना चाहिये। उसके पश्चात् कहना चाहिये—'अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य' यह परिभाषा उदात्त का निर्देश होने पर सम्पन्न होती है। [जिस प्रकार 'स्वरितेनाधिकारः' (१.३.११) सूत्र से स्वरितनिर्देश होने पर अधिकार की अवगति होती है। उसी प्रकार यहाँ उदात्त निर्देश होने पर ही इस परिभाषा की उपस्थिति मान्य होगी।]

तो फिर सभी आवश्यक स्थानों में उदात्तनिर्देश किया जावे? [समाधानभाष्य—] नहीं करना चाहिये। [प्रत्यासत्तिन्याय के आश्रयण से जहाँ विधेय और निषेध्य क्रमशः] अन्त्यसदेश तथा अनन्त्य सदेश एक साथ [एक ही उदाहरण में] उपस्थित हैं, वहाँ यह परिभाषा प्रवृत्त होती है। यहाँ दोष के जितने उदाहरण दिये गये हैं, उन सभी में अन्त्यसदेश अन्य उदाहरण में हैं तथा अनन्त्यसदेश अन्य में। परन्तु प्रयोजनों में अन्त्यसदेश तथा अनन्त्यसदेश एक ही उदाहरण में है।

आचार्य ने उसी प्रकार के प्रयोजन निर्दिष्ट किये हैं, जहाँ एक ही उदाहरण में दोनों स्थितियाँ वर्तमान हैं।

इदमेकं यथा दोषस्तथा वोंरुपधाग्रहणमिति। अबिभर्भवान्। तच्चापि क्रियते न्यास एव॥

बन्धुनि बहुव्रीहौ॥ ६.१.१४॥

मातज्मातृकमातृषु ष्यङ् प्रसार्यो विभाषया॥ १॥

मातच्—कारीषगन्ध्या मातास्य कारीषगन्धीमातः, कारीषगन्ध्यामातः। मातच्॥ मातृक—कारीषगन्धीमातृकः, कारीषगन्ध्यामातृकः। मातृक॥ मातृ—कारीषगन्धीमाता, कारीषगन्ध्यामाता॥

ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च॥ ६.१.१६॥

वयिग्रहणं किमर्थं न वेञ्यजादिषु पठ्यते, वेञश्च वयिरादेशः क्रियते,

---

परन्तु प्रयोजनों के मध्य यह एक दोष बच रहा है—'वोंरुपधाग्रहणम्'। अबिभर्भवान्। पर इसके समाधान के लिए सूत्र में 'उपधा' ग्रहण किया ही जा चुका है। अतः कोई दोष नहीं है।।

बन्धुनि बहुव्रीहौ॥

वा०—मातच्, मातृक, मातृ परे रहने पर ष्यङ् को विकल्प से सम्प्रसारण होता है।

मातच्—उपरिलिखित विग्रह के अनुसार—कारीषगन्धीमातः...[बहुव्रीहि होने से पुत्र विशेष्य होकर सम्बोधित है।]

विशेष—व्याख्याकारों ने माना है कि यहाँ इसी वार्तिकवचन के बल से 'मातच्' आदेश हो जाता है। आधुनिक भाषाविज्ञान के अनुसार सम्बोधन में 'मातः' रूप सामान्य नियम-सिद्ध है। उसके सादृश्य पर यहाँ प्रथमा एकवचन में भी इसी प्रकार का रूप विकसित है। जैसे सदश्वः के सादृश्य पर 'कदश्वः' विकसित है। महर्षि पाणिनि 'कोः कत्तत्पुरुषेऽचि' (६.३.१०१) सूत्र द्वारा इसी नियम की व्याख्या करते हैं।

भा०—मातृक—[उपरिलिखित उदाहरणों में भी विकल्प से सम्प्रसारण किया गया है।]

ग्रहिज्यावयिव्यधि०॥

भा०—सूत्र में 'वय्' ग्रहण क्यों है? क्या वेञ् यजादिगण में परिपठित नहीं है, इसी वेञ् को ही तो ['वेञो वयिः' (२.४.४१) सूत्र से] वय् आदेश किया गया है। इस स्थिति में 'वचिस्वपियजादीनां किति' (६.१.१५) सूत्र से ही

तत्र यजादीनां कितीत्येव सिद्धम्? तत्रैतत्स्यान्ङिदर्थोऽयमारम्भ इति? तच्च न। लिट्ययमादेशो लिट् च किदेव॥ अत उत्तरं पठति—

वयिग्रहणं वेञः प्रतिषेधात्॥ १॥

वयिग्रहणं क्रियते, वेञः प्रतिषेधात्। वेञो लिटि प्रतिषेधं वक्ष्यति स वयेर्मा भूदिति। यथैव हि वेञ्ग्रहणाद्विधिः प्रार्थ्यत एवं प्रतिषेधोऽपि प्राप्नोति?

न वा यकारप्रतिषेधो ज्ञापकोऽप्रतिषेधस्य॥ २॥

न वैष दोषः। किं कारणम्? यदयं 'लिटि वयो यः' (६.१.३८) इति वयेर्यकारस्य संप्रसारणप्रतिषेधं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यो न वेञ्ग्रहणाद्वयेः

सम्प्रसारण सिद्ध हो जाएगा।

इस पर यह कहा जाएगा—इस सूत्र में वय् का उच्चारण ङित् प्रत्यय परे रहने वाली स्थिति के लिए है। पर ऐसा है नहीं। यह वय् आदेश ['वेञो वयिः' सूत्र से] लिट् परे रहने पर ही सम्पन्न होता है। यह लिट् प्रत्यय ['असंयोगाल्लिट् कित्' से] कित् ही होता है।

इसके पश्चात् वार्तिककार उत्तर प्रदान करते हैं—

वा०—वय् का ग्रहण,वेञ् का प्रतिषेध होने से।

भा०—वय् का ग्रहण किया है, वेञ् का प्रतिषेध होने से। ['वेञः' (६.१.४०) सूत्र से] वेञ् का लिट् परे रहने पर [सम्प्रसारण का] प्रतिषेध किया है। वह प्रतिषेध वय् को न हो। जिस प्रकार [वचिस्वपि... सूत्र में] वेञ् ग्रहण से [स्थानिवद्भाव द्वारा सम्प्रसारण की] विधि की अभिकांक्षा की जा रही है, उसी प्रकार [स्थानिवद्भाव द्वारा 'वेञः' सूत्र से] प्रतिषेध भी प्राप्त होता है। [इस प्रकार 'ऊयतुः, ऊयुः' आदि में वचिस्वपि....से अभिकांक्षित सम्प्रसारण का 'वेञः' से प्रतिषेध न हो, अपितु सम्प्रसारण हो ही जावे, इसलिए यहाँ वय् ग्रहण है।]

वा०—ऐसा नहीं। यकार का प्रतिषेध अप्रतिषेध का ज्ञापक होगा।

भा०—यह दोष नहीं है। क्या कारण है? यह जो 'लिटि वयो यः' सूत्र से वय् के यकार के सम्प्रसारण का प्रतिषेध किया है, उससे आचार्य ज्ञापित करते हैं कि वेञ् का नाम लेकर [स्थानिवद्भाव से] सम्प्रसारण का प्रतिषेध नहीं होता। [यदि वेञ् के स्थान में वय् के सम्प्रसारण का 'वेञः' से प्रतिषेध होता तो 'लिटि वयो यः' से प्रतिषेध की कोई आवश्यकता नहीं थी। पुनरपि यह प्रतिषेध यह सिद्ध करता है कि वेञ् के स्थान में वय् के सम्प्रसारण का प्रतिषेध नहीं होता। ऐसी स्थिति में 'वचिस्वपि...' से सम्प्रसारण सिद्ध होने पर 'ग्रहिज्यावयि...' में वय् के सम्प्रसारण विधान की उपयोगिता नहीं है।]

संप्रसारणप्रतिषेधो भवतीति। नैतदस्ति ज्ञापकम्। पित्यभ्यासार्थमेतत्स्यात्। वयेः पित्सु वचनेष्वभ्यासस्य यकारस्य संप्रसारणं मा भूदिति। ननु च वेञ्ग्रहणादेव वयेः पित्स्वपि वचनेष्वभ्यासयकारस्य संप्रसारणप्रतिषेधः सिद्धः ? न सिध्यति। किं कारणम्? कितीति तत्रानुवर्तते॥ एवमपि वयेः पित्सु वचनेष्वभ्यासयकारस्य संप्रसारणं न प्राप्नोति ? किं कारणम्? हलादिशेषेण बाध्यते। नात्र हलादिशेषः प्राप्नोति। किं कारणम्? वक्ष्यति ह्येतद्—अभ्याससंप्रसारणं हलादिशेषाद्विप्रतिषेधेनेति॥ स एष वयेर्यकारस्य संप्रसारणप्रतिषेधः पित्यभ्यासार्थो न ज्ञापकार्थो भवति॥

यह ज्ञापक नहीं है। यह ['लिटि वयो यः' सूत्र] पित् परे रहने पर अभ्यास के लिये सार्थक होगा। ताकि वय् का पित् वचनों के परे रहने पर अभ्यास यकार का सम्प्रसारण न हो। ['उवाय' यहाँ तिप् के स्थान में आदिष्ट णल् पित् है। इससे यह 'असंयोगाल्लिट् कित्' के अनुसार कित् नहीं है। यहाँ किसी अन्य सूत्र से सम्प्रसारणप्रतिषेध प्राप्त नहीं है। अतः यहाँ सम्प्रसारणप्रतिषेध करने के लिए 'लिटि वयो यः' की उपयोगिता होने से यह ज्ञापकार्थ नहीं हो सकता—यह आशय है।]

क्यों, यहाँ भी तो ['वेञः' (६.१३९) सूत्र से] वेञ् ग्रहण से वय् में पित् वचनों के परे रहने पर अभ्यास-यकार के सम्प्रसारण का प्रतिषेध सिद्ध है—

नहीं सिद्ध होता। क्या कारण है? वहाँ ['वश्चास्यान्यतरस्यां किति' (६.१.३८) सूत्र से] किति की अनुवृत्ति है [इस प्रकार 'वेञः' सूत्र से कित् परे रहने पर विधीयमान सम्प्रसारणप्रतिषेध पित् अकित् में करने में समर्थ नहीं है। वहाँ सम्प्रसारण-प्रतिषेध के लिए 'लिटि वयो यः' सार्थक होगा।]

फिर भी वय् को पित् वचनों के परे रहने पर अभ्यास के यकार को सम्प्रसारण प्राप्त ही नहीं होता। [ऐसी स्थिति में सम्प्रसारणप्रतिषेध व्यर्थ होकर ज्ञापकार्थ हो सकेगा।]

क्या कारण है? हलादि शेष के द्वारा बाधा जाता है। ['वय् वय् अ' इस दशा में हलादिशेष होने पर 'व वय् अ' इस दशा में अभ्यास यकार को सम्प्रसारण प्राप्त ही नहीं है।]

यहाँ हलादि शेष प्राप्त नहीं होता। क्या कारण है? ['लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' (६.१.१७) सूत्र में] कहेंगे कि विप्रतिषेध के द्वारा हलादि शेष से पहले अभ्यास को सम्प्रसारण होता है। [उपसंहार भाष्य—] इस प्रकार ['लिटि वयो यः' सूत्र से] वय् के यकार का सम्प्रसारण-प्रतिषेध [उवाय में] पित् [अकित् प्रत्यय] परे रहने पर अभ्यास के यकार के सम्प्रसारण के प्रतिषेध के लिए सार्थक है, इस प्रकार यह ज्ञापकार्थ सिद्ध नहीं होता।

पित्यभ्यासार्थमिति चेन्नाविशिष्टत्वात्॥ ३॥

पित्यभ्यासार्थमिति चेत्तन्न। किं कारणम्? अविशिष्टत्वात्। अविशेषेण प्रतिषेधः। निवृत्तं तत्र कितीति। आतश्चाविशेषेण, वेञोऽपि हि पित्सु वचनेष्वभ्यासस्य संप्रसारणं नेष्यते। ववौ, ववियेति। विकृतिग्रहणं खल्वपि प्रतिषेधे क्रियते, न च विकृतिः प्रकृतिं गृह्णाति॥

वा०—पित् परे रहने पर अभ्यास के लिये कहें तो यह ठीक नहीं, अविशिष्ट होने से।

भा०—पित् [अकित्] परे रहने पर अभ्यास [यकार को सम्प्रसारणप्रतिषेध] के लिये सूत्र को सार्थक कहें, तो यह ठीक नहीं। क्या कारण है? अविशिष्ट होने से। ['वेञः' सूत्र से सम्प्रसारण] प्रतिषेध अविशेष या सामान्य रीति से होता है। वहाँ 'किति' की अनुवृत्ति समाप्त हो गई। यहाँ सचमुच सामान्य रीति से है। क्योंकि [वय् ही नहीं] अपितु वेञ् में भी पित् [अकित्] वचनों में अभ्यास का सम्प्रसारण अभीष्ट नहीं है। [जो कि इसी 'वेञः' से निष्पन्न होता है।] जैसे—ववौ, ववियथ।

साथ ही ['लिटि वयो यः' इस] प्रतिषेध में विकृत [वय् का] ग्रहण किया गया है। पर विकृति से प्रकृति का ग्रहण नहीं होता।

विवरण—यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि 'वेञः' सूत्र की आवश्यकता ही क्या है? इससे विधीयमान ववौ, ववतुः में सम्प्रसारण का प्रतिषेध 'लिटि वयः' इस योगविभाग से सम्पन्न हो जाएगा। इसमें 'वयः' इस आदेश का उल्लेख अपने स्थानी वेञ् को आक्षिप्त कर लेगा। इसका उत्तर देते हुए यहाँ कहा है कि प्रकृति स्थानी से विकृति आदेश आक्षिप्त होता है। 'लः कर्मणिः....' आदि सूत्रों में ल से तिप् आदि का बोध होता है। पर विपरीत नहीं होता। अतः यहाँ आदेश वय् से स्थानी वेञ् का आक्षेप नहीं हो सकेगा। अतः 'वेञः' सूत्र की उपयोगिता स्पष्ट है। पर 'ग्रहिज्यावयि....' सूत्र में वयि के उल्लेख के बिना भी ज्ञापक से वय् को सम्प्रसारण हो सकता है।

विवरण का उपसंहार—'वचिस्वपियजादीनां किति' से 'उतः, उतवान्' आदि उदाहरणों में वेञ् को सम्प्रसारण होता है। 'वेञः' सूत्र से ववौ, ववतुः आदि में इसे सम्प्रसारण का निषेध होता है।

अब यदि इन सूत्रों को वेञ् के स्थान में 'वेञो वयिः' सूत्र से लिट् परे रहने पर वय् आदेश के सन्दर्भ में समन्वित करें तो स्थिति यह बनती है—ऊयतुः, ऊयुः आदि में वय् को स्थानिवद्भाव से 'वचिस्वपि....' से सम्प्रसारण प्राप्त होता है। 'वेञः' सूत्र से इसी स्थानिवद्भाव से इसका निषेध प्राप्त होता है। पर 'लिटि वयो यः' सूत्र से उवाय, ऊयतुः आदि में यकार के सम्प्रसारण-प्रतिषेध से ज्ञापित होता

लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्॥ ६.१.१७॥

ग्रहिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनामविशेषः॥ यदुच्यते वृश्चेरविशेष इति तन्न। यद्यत्र रेफस्य संप्रसारणं न स्याद्वकारस्य प्रसज्येत। रेफस्य पुनः संप्रसारणे सत्युरदत्त्वस्य स्थानिवद्भावाद् 'न संप्रसारणे संप्रसारणम्' (६.१.३७) इति प्रतिषेधः सिद्धो भवति। तस्माद्वक्तव्यं ग्रहेरविशेषः पृच्छतिभृज्जत्योरविशेष इति॥

अथोभयेषांग्रहणं किमर्थम्? उभयेषामभ्यासस्य संप्रसारणं यथा स्याद्व-चिस्वपियजादीनां ग्रहादीनां च। नैतदस्ति प्रयोजनम्। प्रकृतमुभयेषांग्रहणमनु-

---

है कि यहाँ 'वेञः' से सम्प्रसारण-प्रतिषेध नहीं होता। अर्थात् वय् के वकार को तो सम्प्रसारण होता ही है। इसी तथ्य को 'ग्रहिज्यावयि...' में स्पष्टार्थ उल्लेख किया गया है। महाभाष्यकार के अनुसार इस स्थिति में इस सूत्र में वय् के उल्लेख के बिना भी काम चल सकता है।

लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्॥

भा०—ग्रह, व्रश्च्, प्रच्छ्, भ्रस्ज् [धातुओं के लिये इस सूत्र की रचना करें या न करें, दोनों दशाओं में] कोई अन्तर नहीं है। [जैसे ग्रह में सम्प्रसारण करने पर 'गृ ग्रह् अ' इस दशा में उरदत्व करने पर जग्राह बनेगा। सम्प्रसारण न करने पर 'ग ग्रह् अ' इस स्थिति में भी यही बनेगा।]

यह जो कह रहे हैं कि व्रश्च् में अविशेष है यह ठीक नहीं। [भाष्यकार का यह विवरण 'व्रश्च् में रेफ को सम्प्रसारण हो या न हो, दोनों दशाओं में कोई अन्तर नहीं है' यह मान कर कहा गया है।]

यदि यहाँ [परत्व से हलादिशेष पहले हो तथा इस प्रकार 'व व्रश्च् अ' यह दशा हो तो] रेफ को सम्प्रसारण न होने की स्थिति में वकार को सम्प्रसारण पाएगा? पर यदि [पूर्वविप्रतिषेध से सम्प्रसारण पहले हो तो] रेफ को सम्प्रसारण होकर उरदत्व होकर इसके स्थानिवद्भाव के द्वारा 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' से वकार को प्रतिषेध सिद्ध हो जाएगा।

इसलिए [इस पक्ष में] कहना चाहिये कि ग्रह में अविशेष है, तथा पृच्छति, भृज्जति में अविशेष है।

[प्रसङ्गान्तर—] यहाँ 'उभयेषाम्' ग्रहण किसलिये है? दोनों [सूत्रों में वर्णित धातुओं] के अभ्यास को सम्प्रसारण होवे—वचि स्वपियजादि के भी तथा ग्रहादि के भी।

यह प्रयोजन नहीं है। दोनों का ग्रहण अधिकृत होने से अनुवृत्त है। [प्रश्न—]

वर्तते॥ यद्यनुवर्तते 'ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च' इति यजादीनां ङित्यपि प्राप्नोति ? नैष दोषः। संबन्धमनुवर्तिष्यते। वचिस्वपियजादीनां किति। ग्रहादीनां ङिति च वचिस्वपियजादीनां किति। ततो लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्। किति ङितीति निवृत्तम्॥ अथवा मण्डूक-गतयोऽधिकाराः। यथा मण्डूका उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छन्ति तद्वदधिकाराः॥ अथवैकयोगः करिष्यते। वचिस्वपियजादीनां किति ग्रहादीनां ङिति चेति। ततो लिट्यभ्यासस्येति। न चैकयोगेऽनुवृत्तिर्भवति॥ अथवोभयं निवृत्तं तदपेक्षिष्यामहे॥

इदं तर्ह्युभयेषांग्रहणस्य प्रयोजनमुभयेषामभ्यासस्य संप्रसारणमेव यथा स्याद्यदन्यत् प्राप्नोति तन्मा भूदिति। किं चान्यत् प्राप्नोति ? हलादिशेषः। अभ्याससंप्रसारणं हलादिशेषाद्विप्रतिषेधेनेति वक्ष्यति स पूर्वविप्रतिषेधो न पठितव्यो भवति॥

अभ्याससंप्रसारणं हलादिशेषाद्विप्रतिषेधेन॥ १॥

यदि अनुवृत्त है तो 'ग्रहिज्या....ङिति च' [सूत्र में 'वचिस्वपि...' की अनुवृत्ति होने से] यजादि को ङित् परे रहने पर भी सम्प्रसारण प्राप्त होता है। [समाधान—] यह दोष नहीं है। सम्बन्ध विशिष्ट का अनुवर्तन करेंगे—'वचिस्वपियजादीनां किति' के पश्चात् 'ग्रहादीनां ङिति' इस सूत्र में 'वचिस्वपियजादीनां किति' पूरा सूत्र अनुवृत्त होगा। उसके पश्चात् 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' में केवल किति, ङिति निवृत्त होगा।

अथवा—अधिकार मण्डूक या मेंढक के समान गति वाले भी होते हैं। जिस प्रकार मेंढक उछल-उछल कर चलते हैं, उस प्रकार के अधिकार होते हैं। अथवा एक सूत्र बनाएँगे—'वचिस्वपि...' से लेकर '...ङिति च' तक एक सूत्र होगा। एक सूत्र में अनुवृत्ति नहीं होती। अथवा—दोनों की निवृत्ति हो गई है। उसकी अपेक्षा करेंगे।

विवरण—आकांक्षा एक मानस तत्त्व है। वैयाकरणों ने इसे शाब्दबोध में सहकारि-कारण माना है। इस आकांक्षा की उपस्थिति में आकांक्षाभास्य किसी अन्य शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार यहाँ भी उक्त पदों को आकांक्षा द्वारा गमित करेंगे। उनका स्पष्टतः प्रयोग नहीं करेंगे।

भा०—अच्छा तो फिर 'उभयेषाम्' का प्रयोजन यह है—दोनों के अभ्यास को सम्प्रसारण ही हो, जो भी कुछ अन्य प्राप्त होता है, वह न हो। अन्य क्या प्राप्त होता है ? हलादि शेष। आगे 'अभ्याससम्प्रसारणं.....' यह वार्तिक कहेंगे, उस पूर्वविप्रतिषेध के कहने की आवश्यकता नहीं होगी।

वा०—विप्रतिषेध से हलादिशेष से पूर्व अभ्याससम्प्रसारण।

अभ्याससंप्रसारणं हलादिशेषाद्भवति विप्रतिषेधन। अभ्याससंप्रसारणस्यावकाशः—इयाज, उवाप। हलादिशेषस्यावकाशः—बिभिदतुः, बिभिदुः। इहोभयं प्राप्नोति—विव्याध, विव्यधिथ। अभ्याससंप्रसारणं भवति पूर्वविप्रतिषेधेन॥ स तर्हि पूर्वविप्रतिषेधो वक्तव्यः ?

न वा संप्रसारणाश्रयबलीयस्त्वादन्यत्रापि॥ २॥

न वा वक्तव्यः। किं कारणम् ? संप्रसारणाश्रयस्य बलीयस्त्वादन्यत्रापि। संप्रसारणं संप्रसारणाश्रयं च बलीयो भवतीति वक्तव्यम्। अन्यत्रापि नावश्यमिहैव वक्तव्यम्॥ किं प्रयोजनम् ?

प्रयोजनं रमाल्लोपेयङ्यणः॥ ३॥

रम्—भृष्टः, भृष्टवान्। संप्रसारणं च प्राप्नोति रम्भावश्च। परत्वाद्रम्भावः स्यात्। संप्रसारणं बलीयो भवतीति वक्तव्यं संप्रसारणं यथा स्यात्॥ आल्लोपः—जुहुवतुः, जुहुवुः। संप्रसारणं च प्राप्नोत्याल्लोपश्च।

भा०—[पूर्व] विप्रतिषेध से हलादिशेष से पहले अभ्यास को सम्प्रसारण होता है। अभ्याससम्प्रसारण का अवकाश है—इयाज, उवाप। [इयाज में यज् लिट् प्रथम पुरुष एकवचन में 'यज् यज् अ' इस दशा में हलादिशेष के पश्चात् भी य का सम्प्रसारण सर्वथा सम्भव होने से यह अभ्याससम्प्रसारण का अवकाश है।]

हलादिशेष का अवकाश है—बिभिदतुः, बिभिदुः [जहाँ अभ्याससम्प्रसारण प्राप्त नहीं है।] यहाँ दोनों प्राप्त हैं—विव्याध [यहाँ हलादिशेष के पश्चात् यकार का सम्प्रसारण सम्भव नहीं है।] पूर्वविप्रतिषेध से अभ्यास को सम्प्रसारण होता है।

तो फिर यह पूर्वविप्रतिषेध कहा जावे ?

वा०—ऐसा नहीं, सम्प्रसारण आश्रय के बलीयान् होने से, अन्यत्र भी।

भा०—इसे कहने की आवश्यकता नहीं। क्या कारण है ? सम्प्रसारण आश्रय के बलवान् होने से अन्यत्र भी। सम्प्रसारण तथा सम्प्रसारण के आश्रय होने वाले कार्य अन्य कार्यों से बलवान् होते हैं, यह कहना चाहिये। यह स्थिति अन्यत्र भी है। अतः केवल यहाँ के लिये ही नहीं है। अन्यत्र कहाँ प्रयोजन है ?

वा०—रम्, आल्लोप, इयङ् यण् प्रयोजन हैं।

भा०—रम्—भृष्टः, भृष्टवान्। [भृष्टः में 'भ्रस्ज् त' इस दशा में 'ग्रहिज्यावयि...' से र के स्थान में] सम्प्रसारण भी पाता है, ['भ्रस्जो रोपधयो....' (६.४.४७)] से रम् आदेश भी। परत्व से रम् आदेश होता। सम्प्रसारण बलवान् होता है, यह कहना चाहिये। ताकि सम्प्रसारण हो जावे।

आल्लोप—जुहुवतुः। [यहाँ 'ह्वा ह्वा अतुस्' इस दशा में 'अभ्यस्तस्य च' से] सम्प्रसारण भी प्राप्त होता है, ['आतो लोप इटि च'(६.४.६४) से] आकार का लोप भी।

परत्वादाल्लोपः स्यात्। संप्रसारणं बलीयो भवतीति वक्तव्यं संप्रसारणं यथा स्यात्॥ संप्रसारणे कृते पूर्वत्वं च प्राप्नोत्याकारलोपश्च। परत्वादाल्लोपः स्यात्। संप्रसारणाश्रयं च बलीयो भवतीति वक्तव्यं पूर्वत्वं यथा स्यात्॥ इयङ्—शुशुवतुः, शुशुवुः। संप्रसारणं च प्राप्नोतीयङादेशश्च। परत्वादियङादेशः स्यात्। संप्रसारणं बलीयो भवतीति वक्तव्यं संप्रसारणं यथा स्यात्॥ यण्—संप्रसारणे कृते पूर्वत्वं च प्राप्नोति यणादेशश्च। परत्वाद्यणादेशः स्यात्। संप्रसारणाश्रयं च बलीयो भवतीति वक्तव्यं पूर्वत्वं यथा स्यात्॥

नैतानि सन्ति प्रयोजनानि। यत्तावदुच्यते रम् इति, इदमिह संप्रधार्यम्—रम्भावः क्रियतां संप्रसारणमिति, किमत्र कर्तव्यम्? परत्वाद्रम्भावः। नित्यं संप्रसारणम्। कृतेऽपि रम्भावे प्राप्नोत्यकृतेऽपि। रम्भावोऽपि नित्यः। कृतेऽपि संप्रसारणे प्राप्नोत्यकृतेऽपि। कथम्? योऽसावृकारे रेफस्तस्य चोपधायाश्च प्राप्नोति। अनित्यो रम्भावो न हि कृते संप्रसारणे प्राप्नोति। किं कारणम्?

परत्व से आकार लोप होता। सम्प्रसारण बलवान् होता है, यह कहना चाहिये, ताकि पहले सम्प्रसारण हो सके।

सम्प्रसारण कर लेने पर ['हु आ हु आ अतुस्' इस दशा में 'सम्प्रसारणाच्च' (६.१.१०८) से] पूर्वरूप भी पाता है, आकार लोप भी। सम्प्रसारणाश्रय कार्य बलवान् होते हैं, यह कहना चाहिये। ताकि पूर्वरूप हो सके।

इयङ्—शुशुवतुः। ['श्वि अतुस्' इस दशा में 'विभाषा श्वेः' (६.१.३०) से] सम्प्रसारण भी प्राप्त होता है, ['अचि श्नु....' (६.४.७७) से इकार को] इयङ् आदेश भी। परत्व से इयङ् आदेश होता। यहाँ सम्प्रसारण बलवान् होता है, यह कहना चाहिये, ताकि सम्प्रसारण हो जावे।

यण्—सम्प्रसारण कर लेने के पश्चात् 'शु इ अतुस्' इस दशा में 'सम्प्रसारणाच्च' (६.१.१०८) से पूर्वरूप भी पाता है, 'एरनेकाचोः...' (६.४.८२) से इकार को यणादेश भी। परत्व से यणादेश होता। सम्प्रसारणाश्रित कार्य बलवान् होते हैं, यह कहना चाहिए, ताकि पूर्वरूप हो सके।

ये प्रयोजन नहीं हैं। यह जो रम् प्रयोजन कहा गया है, उसके लिये यह तय करें कि पहले रम् आदेश करें या सम्प्रसारण? क्या करना चाहिये? परत्व से रम् आदेश। सम्प्रसारण तो नित्य है। रम् भाव करने पर भी पाता है, न करने पर भी। रम् आदेश भी नित्य है, सम्प्रसारण करने पर भी पाता है, न करने पर भी। किस प्रकार? [रेफ के स्थान पर सम्प्रसारण ऋकार हो जाने पर रेफ के स्थान पर कहा गया रम् किस प्रकार प्राप्त होता है—यह प्रश्नाशय है। आगे इसका उत्तर देते हैं—]

जो ऋकार में रेफ है, उसे तथा उपधा को प्राप्त होता है। रम् आदेश नित्य नहीं है, सम्प्रसारण कर लेने पर नहीं पाता। क्या कारण है? वर्णों के एकदेश वर्णग्रहण

न हि वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते। अथापि गृह्यन्त एवमप्यनित्यः। उपदेश इति वर्तते। तच्चावश्यमुपदेशग्रहणमनुवर्त्यं, बरीभृज्ज्यत इत्येवमर्थम्॥ आल्लोपेयङ्यणः—इति। नित्यं संप्रसारणम्। अन्तरङ्गं पूर्वत्वम्॥

तदेतदनन्यार्थं संप्रसारणाश्रयं बलीयो भवतीति वक्तव्यं पूर्वविप्रतिषेधो वा वक्तव्यः॥ उभयं न वक्तव्यम्। उक्तमत्रोभयेषांग्रहणस्य प्रयोजनमुभयेषामभ्यासस्य संप्रसारणमेव यथा स्याद्यदन्यत्प्राप्नोति तन्मा भूदिति॥

व्यचेः कुटादित्वमनस्यञ्णिति संप्रसारणार्थम्॥ ४॥

व्यचेः कुटादित्वमनसीति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? अञ्णिति संप्रसारणार्थम्। अञ्णिति संप्रसारणं यथा स्यात्। उद्विचिता, उद्विचितुम्,

---

से गृहीत नहीं होते। [इसे 'ऐऔच्' सूत्र के भाष्य में स्थापित किया जा चुका है।]

[यदि वर्णों के एकदेश वर्ण ग्रहण से] गृहीत होते हैं, तो भी रम् आदेश अनित्य है। ['भ्रस्जो रोपधयोः.....' सूत्र में] उपदेश की अनुवृत्ति है। [अतः उपदेश के रेफ को ही होगा, सम्प्रसारण के ऋ को नहीं।] उस 'उपदेश' ग्रहण की अनुवृत्ति अवश्य लानी होगी—'बरीभृज्ज्यते' के लिये। [यङ् प्रत्ययान्त भ्रस्ज धातु में धातु को द्विर्वचन तथा अभ्यास को 'रीगृदुपधस्य च' (७.४.९०) से रीक् आगम करने पर इस रेफ के उपदेश में न होने से इसके स्थान पर मित् रम् आदेश नहीं होता। इस प्रकार रम् भाव के अनित्य होने तथा सम्प्रसारण के नित्य होने से वह पहले होगा। इससे कोई दोष नहीं होगा।]

आल्लोप, इयङ्, यण्—यहाँ भी सम्प्रसारण नित्य है तथा पूर्वरूप अन्तरङ्ग है। [अतः वे कार्य पहले होने से कोई दोष नहीं होगा।] इस प्रकार केवल एक कार्य के लिए [पूर्वोक्त हलादिशेष से पहले अभ्यास को सम्प्रसारण करने के लिये] सम्प्रसारण या सम्प्रसारणाश्रित कार्य को बलवान् कहना होगा, अथवा पूर्वविप्रतिषेध कहना होगा।

दोनों नहीं कहना होगा। इससे पहले 'उभयेषाम्' ग्रहण का प्रयोजन कहा जा चुका है—दोनों के अभ्यास का सम्प्रसारण ही हो, जो भी अन्य प्राप्त होता है, वह न हो।

[प्रसङ्गान्तर-] **वा०**—व्यच् का कुटादित्व, अनस् में, अञ्णित् परे रहने पर सम्प्रसारण के लिये।

भा०—व्यच् धातु को कुटादि के अन्तर्गत परिपठित करना चाहिये, अस् प्रत्यय परे रहने को छोड़कर। क्या प्रयोजन है? ञित्, णित् से भिन्न प्रत्यय परे रहने पर सम्प्रसारण के लिये। [कुटादित्व होने पर अञ्णित् प्रत्यय 'गाङ्कुटादिभ्यो....' (१.२.१) सूत्र के अनुसार ङित् होंगे। इससे इन प्रत्ययों के परे रहने पर भी 'ग्रहिज्या...' से सम्प्रसारण सिद्ध हो सकेगा।] उद्विचिता आदि।

उद्विचितव्यम्। अनसीति किमर्थम्? उरुव्यचाः कण्टकः।

स्वापेश्चङि॥ ६.१.१८॥

चङ्ग्रहणं शक्यमकर्तुम्। कथम्? ङितीति वर्तते, न चान्यः स्वापेर्ङिदस्त्यन्यदतश्चङः॥

न वशः॥ ६.१.२०॥

वशेर्यङि प्रतिषेधः॥ १॥

वशेर्यङि प्रतिषेधो वक्तव्यः संप्रसारणस्य। वावश्यते। क्व मा भूत्? उष्टः, उशन्तीति॥ स तर्हि तथा प्रतिषेधो वक्तव्यः? न वक्तव्यः। यङीति वर्तते। एवं तर्ह्यन्वाचष्टे यङीति वर्तत इति। नैतदन्वाख्येयमधिकारा अनुवर्तन्त इति। एष एव न्यायो यदुताधिकारा अनुवर्तेरन्निति॥

यहाँ 'अनसि' क्यों कहा है? उरुव्यचाः कण्टकः यहाँ पर सम्प्रसारण न हो। [यहाँ उरु उपपद होने पर व्यच् धातु से 'मिथुनेऽसिः' (४.२२४) इस उणादि सूत्र से असि प्रत्यय हुआ है। यहाँ सम्प्रसारण नहीं होता।]

स्वापेश्चङि॥

भा०—सूत्र में चङ् ग्रहण का पाठ किये बिना भी कार्य सिद्ध हो सकता है। किस प्रकार? यहाँ [ग्रहिज्यावयि....' से] ङिति की अनुवृत्ति लाएँगे। स्वाप् णिजन्त धातु से चङ् के अलावा कोई ङित् नहीं है। [यहाँ 'वचिस्वपि...' से अनुवृत्त 'किति' की अनुवृत्ति नहीं है, केवल 'ङिति' की है, इसे व्याख्यान से संसूचित करेंगे।]

न वशः॥

वा०—वश् से यङ् परे रहने पर प्रतिषेध।

भा०—वश् धातु से यङ् परे रहने पर प्राप्त सम्प्रसारण का इस सूत्र से प्रतिषेध होता है, यह कहना चाहिये। वावश्यते। कहाँ [प्रतिषेध] न हो? उष्टः, उशन्ति। [यहाँ पर 'स्वापेश्चङि' के भाष्य अनुसार 'ङिति' की अनुवृत्ति नहीं आती। अपितु 'स्वपिस्यमि...' इस पूर्व सूत्र से 'यङि' की अनुवृत्ति आती है, यह कहना चाहिये।]

तो फिर इस प्रकार [यङ् परे रहने पर] प्रतिषेध कहा जावे? नहीं कहना चाहिए। पूर्व सूत्र से 'यङि' की अनुवृत्ति है। अच्छा तो फिर इसी तथ्य का अन्वाख्यान कर रहे हैं कि 'यङि' की अनुवृत्ति है। इस अन्वाख्यान की आवश्यकता नहीं है—अधिकार तो स्वभावतः अनुवृत्त होते हैं। यही न्याय है कि अधिकार अनुवृत्त हों।

शृतं पाके॥ ६.१.२७॥

किं निपात्यते?

श्राश्रप्योः शृभावः॥ १॥

श्राश्रप्योः शृभावो निपात्यते॥

क्षीरहविषोरिति वक्तव्यम्। शृतं क्षीरम्, शृतं हविः। क्व मा भूत्? श्राणा यवागूः। श्रपिता यवागूरिति॥

श्रपेः शृतमन्यत्र हेतोः॥ २॥

श्रपेः शृतमन्यत्र हेतोरिति वक्तव्यम्। इह मा भूत्—श्रपितं क्षीरं देवदत्तेन यज्ञदत्तेनेति॥

शृतं पाके॥

भा०—यहाँ क्या निपातन है?

वा०—श्रा और श्रप् का शृ भाव।

भा०—श्रा और श्रप् इस णिजन्त धातु का शृ आदेश निपातन है।

विवरण—धातुपाठ में 'श्रा पाके' (अदा० ४६) धातु परिपठित है। इसका अर्थ 'पकना' यह है। इस अर्थ में यह अकर्मक है। अतः इस अकर्मक से भाव में क्त प्रत्यय होता है। इस 'पकना की प्रेरणा' अर्थात् 'पकाना' अर्थ में इससे णिच् प्रत्यय होता है। तब इसका 'श्रपयति' (भ्वा० ५५०) प्रयोग होता है। इस दशा में इसके सकर्मक होने पर इससे कर्म में क्त प्रत्यय होता है। प्रस्तुत निपातन के अनुसार क्त प्रत्ययान्त में श्रा तथा श्रप् इन दोनों के स्थान पर 'शृ' का प्रयोग अभीष्ट है। अतः यह निपातन है।

भा०—क्षीर और हवि अभिधेय में, यह कहना चाहिये।

शृतं क्षीरम् [='दूध पक गया' अथवा 'देवदत्त ने दूध पकाया' इन दोनों अर्थों में एक ही 'शृतम्' रूप बनेगा।]

कहाँ न हो? श्राणा यवागूः (=लपसी पक गई)। श्रपिता यवागूः (=देवदत्त द्वारा लपसी पकाई गई) [इन दोनों अर्थों में अलग-अलग रूप बनेंगे।]

वा०—श्रप् को 'शृत' रूप, हेतु से अन्यत्र।

भा०—श्रप् को 'शृत' रूप प्रयोजक [अर्थात् पकाने वाले का प्रेषणादि लक्षण] व्यापार [अर्थात् पकवाना] इस अर्थ को छोड़ कर होता है। श्रपितं क्षीरं देवदत्तेन यज्ञदत्तेन [=देवदत्त के द्वारा यज्ञदत्त ने दूध पकवाया।]

विवरण—पकाने का प्रेषण अर्थात् पकवाना इस अर्थ में श्रप् इस णिजन्त धातु से पुनः णिच् प्रत्यय होता है। इस प्रयोजक व्यापार में शृ आदेश नहीं होता। यहाँ पकाने वाला देवदत्त तथा पकवाने वाला यज्ञदत्त ये दोनों कर्त्ता अनभिहित हैं।

प्यायः पी॥ ६.१.२८॥

आङ्पूर्वादन्धूधसोः॥ १॥

आङ्पूर्वादन्धूधसोरिति वक्तव्यम्। आपीनोऽन्धुः। आपीनमूधः। किं प्रयोजनम्? नियमार्थम्। आङ्पूर्वादन्धूधसोरेव। क्व मा भूत्? आप्यानश्चन्द्रमा इति॥ उभयतो नियमश्चायं द्रष्टव्यः। आङ्पूर्वादेवान्धूधसोः। अन्धूधसो-रेवाङ्पूर्वादिति। क्व मा भूत्? प्रप्यानोऽन्धुः। प्रप्यानमूधः॥ आङ्पूर्वाच्चैष नियमो द्रष्टव्यः। भवति हि पीनं मुखम्, पीनाः शम्बट्यः, श्लक्ष्णपीनमुखी कन्येति॥

अतः दोनों में तृतीया होती है।

विशेष—संस्कृत में श्रा धातु का 'पकना' अर्थ है। पर 'पच्' धातु का पकाना अर्थ है। अतः पच् को श्रा के समतुल्य बनाने के लिये पच् का कर्मकर्त्ता में प्रयोग करना होता है। परन्तु श्रा को पच् के समतुल्य करने के लिये श्रा से णिच् प्रत्यय लाना होता है। यहाँ पच् का जो सामान्य अथवा प्राकृत अर्थ है, वह निवृत्तप्रेषण अर्थ वाली श्रा धातु से णिच् प्रत्यय लाने पर गतार्थ होता है। अतः कहा है—

निवृत्तप्रेषणाद् धातोः प्राकृतेऽर्थे णिजुच्यते।

इस स्थिति को चार्ट से प्रदर्शित करते हैं—

अर्थ	**श्रा धातु**	**पच् धातु**
पका	शृतं हविः, श्राणा यवागूः	अपच्यत हविः, यवागूः वा स्वयमेव
पकाया	शृतं हविः, श्रपिता यवागूः	अपचत् हविः, यवागूं वा
पकवाया	श्रपितं हविः देवदत्तेन यज्ञदत्तेन	अपाचयत् हविः देवदत्तः यज्ञदत्तेन

प्यायः पी॥

वा०—आङ्पूर्वक से अन्धु, ऊधस् में।

भा०—आङ्पूर्वक [प्या धातु से] अन्धु, ऊधस् अभिधेय में [प्या के स्थान में पी आदेश होता है।] आपीनोऽन्धुः (=बहुत बड़ा गड्ढा)। आपीनमूधः (=विस्तृत या बड़ा गाय आदि के थनों का आयन)। क्या प्रयोजन है? नियम के लिये। आङ्पूर्वक से अन्धु, ऊधस् में ही। कहाँ न हो? आप्यानश्चन्द्रमाः। यहाँ उभयतोनियम समझना चाहिये। आङ्पूर्वक से ही अन्धु, ऊधस् में। [अब अन्धु, ऊधस् अभिधेय में आङ् के अलावा नहीं होगा] अन्धु, ऊधस् में ही आङ्पूर्व से [अब आङ्पूर्व अन्धु, ऊधस् अभिधेय से भिन्न नहीं होगा। प्रथम नियम के अनुसार] कहाँ न हो? प्रप्यानोऽन्धुः, प्रप्यानमूधः। [यहाँ पी आदेश नहीं होता है। इस प्रथम नियम से उपसर्गान्तर का निवारण होता है। केवल प्या का नहीं। अतः उस केवल प्या का पी आदेश तो होता ही है।] अतः पीनं मुखम् आदि में पी आदेश होता है।

विभाषा श्वेः ॥ ६.१.३० ॥

श्वेर्लिट्यभ्यासलक्षणप्रतिषेधः ॥ १ ॥

श्वेर्लिट्यभ्यासलक्षणं संप्रसारणं नित्यं प्राप्नोति, तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। शिश्वियतुः, शिश्वियुः ॥ किमुच्यते लिट्यभ्यासलक्षणस्येति, न पुनः किल्लक्षणस्यापि, किल्लक्षणमपि हि नित्यमत्र प्राप्नोति ? किल्लक्षणं श्वयतिलक्षणं बाधिष्यते। यथैव तर्हि किल्लक्षणं श्वयतिलक्षणं बाधत एवमभ्यासलक्षणमपि बाधेत ॥ न ब्रूमोऽपवादत्वात् श्वयतिलक्षणं किल्लक्षणं बाधिष्यत इति। किं तर्हि ? परत्वात्। श्वयतिलक्षणस्यावकाशः पिति वचनानि—शुशाव, शुशविथ। शिश्वाय, शिश्वयिथ। किल्लक्षणस्यावकाशोऽन्ये कितः—शूनः, शूनवान्। इहोभयं प्राप्नोति—शिश्वियतुः,

---

विभाषा श्वेः ॥

वा०—श्वि का लिट् परे रहने पर अभ्यासलक्षणप्रतिषेध।

भा०—श्वि धातु का लिट् परे रहने पर [लिट्यभ्यासस्यो...' से] नित्य सम्प्रसारण की प्राप्ति होती है, इसका प्रतिषेध कहना चाहिये। शिश्वियतुः...। [प्रकृत सूत्र से सम्प्रसारण पक्ष में तो अभ्यास सहित दोनों श्वि को सम्प्रसारण होता ही है। उस पक्ष में दोष नहीं है। पर इससे सम्प्रसारणाभाव पक्ष में 'लिट्यभ्यासस्यो...' से अभ्यास को नित्य सम्प्रसारण प्राप्त होता है। यह दोष प्रस्तुत है।]

केवल अभ्यास-लक्षण सम्प्रसारण प्राप्ति का दोष क्यों दे रहे हैं। [वचिस्वपि...' से प्राप्त] किल्लक्षण प्राप्ति का क्यों नहीं, किल्लक्षण से नित्य सम्प्रसारण प्राप्त होता है ? [प्रकृत सूत्र से विकल्प कहने पर 'वचिस्वपि...' से नित्य सम्प्रसारण पाता है—यह दोष है।]

श्वयतिलक्षण ['विभाषा श्वेः' सूत्र] किल्लक्षण [वचिस्वपि...] सूत्र को बाध लेगा। तब तो जिस प्रकार श्वयतिलक्षण किल्लक्षण को बाधता है, इसी प्रकार अभ्यासलक्षण [लिट्यभ्यासस्यो...] को भी [अपवाद बन कर] बाध लेगा ? [तब उपरिलिखित वार्तिकोक्त दोष न होगा।]

हम यह नहीं कहते कि अपवाद होने से श्वयतिलक्षण किल्लक्षण को बाध लेगा। [श्वयतिलक्षण को अपवाद नहीं बता रहे हैं। अपितु तुल्यबलविरोध विप्रतिषेध द्वारा किल्लक्षण का बाधक बता रहे हैं। ऐसी दशा में अभ्यासलक्षण का बाधक न बन पाने से दोष बना रहेगा—यह आशय है।]

श्वयतिलक्षण के अवकाश हैं—पित् वचन [जहाँ कित्त्व नहीं है ऐसी श्वि धातु]। शुशाव आदि। किल्लक्षण का अवकाश है [लिट् के अलावा] अन्य कित्—शूनः, शूनवान्। यहाँ दोनों पाते हैं—शिश्वियतुः...आदि। [क्योंकि श्वि

शिश्वियुरिति। श्वयतिलक्षणं भवति विप्रतिषेधेन॥ अभ्यासलक्षणादपि तर्हि श्वयतिलक्षणं भविष्यति विप्रतिषेधेन? अभ्यासलक्षणस्यावकाशोऽन्ये यजादयः—इयाज, उवाप। श्वयतिलक्षणस्यावकाशः परं धातुरूपम्—शुशुवतुः, शुशुवुः, शुशविथ। श्वयतेरभ्यासस्योभयं प्राप्नोति—शिश्वियतुः, शिश्वियुः। श्वयतिलक्षणं भविष्यति विप्रतिषेधेन॥ नैष युक्तो विप्रतिषेधः। न हि श्वयतेरभ्यासस्यान्ये यजादयोऽवकाशः। श्वयतेर्यजादिषु यः पाठः सोऽनवकाशस्तस्यानवकाशत्वादयुक्तो विप्रतिषेधः। तस्मात् सुष्ठूच्यते—श्वयतेर्लिट्यभ्यासलक्षणप्रतिषेध इति॥

ह्वः संप्रसारणमभ्यस्तस्य च॥ ६.१.३२-३३॥

ह्वः संप्रसारणे योगविभागः॥ १॥

धातु भी है, कित् परे भी है।] विप्रतिषेध से श्वयतिलक्षण कार्यशील होगा।

अभ्यासलक्षण से भी श्वयतिलक्षण विप्रतिषेध से सम्पन्न होगा। [अतः तुल्यबलविरोध विप्रतिषेध द्वारा श्वयतिलक्षण अभ्यासलक्षण का बाधक हो जाएगा—इससे कोई दोष नहीं होगा।] अभ्यासलक्षण का अवकाश है—लिट् परे रहने पर शिव के अलावा] अन्य यजादि—इयाज, उवाप। श्वयतिलक्षण का [लिट् परे रहने पर] अवकाश है—पर धातुरूप। [लिट्यभ्यासस्यो...' से केवल अभ्यास को सम्प्रसारण होगा। उससे परे वाले को सम्प्रसारण के लिए 'विभाषा श्वेः' सार्थक होगा।]

शिव धातु से अभ्यास को दोनों प्राप्त होते हैं—शिश्वियतुः, शिश्वियुः। विप्रतिषेध से श्वयतिलक्षण होगा।

यह विप्रतिषेध ठीक नहीं है। शिव धातु के अभ्यास की सावकाशता को अन्य यजादि निर्मित नहीं कर सकते। यजादि में 'शिव' धातु का जो पाठ है, वह अनवकाश है। उसके अनवकाश होने से विप्रतिषेध ठीक नहीं है।

विवरण—'यजादि' में व्यवस्थावाची आदि शब्द का प्रयोग है। अतः उसमें परिपठित प्रत्येक के सापेक्ष यजादि कहा गया है। अतः प्रत्येक धातु को सम्प्रसारण द्वारा सावकाश होना अनिवार्य है। अन्यथा प्रश्न होगा कि उस गण में उस सूत्र के लिये शिव की सार्थकता किस प्रकार है। अथवा उसके सापेक्ष यजादित्व किस प्रकार है।

इस दृष्टि से शिव के प्रति अभ्यासलक्षण निरवकाश होने से अपवाद बनकर श्वयतिलक्षण को बाधने लगेगा—यह दोष होगा।

भा०—अतः इसके निवारण के लिए वार्तिककार ने समुचित कहा है कि 'श्वयतेः....' आदि।

ह्वः सम्प्रसारणम् अभ्यस्तस्य च॥

वा०—ह्वा के सम्प्रसारण के प्रसङ्ग में योग-विभाग।

ह्वः संप्रसारणे योगविभागः कर्तव्यः। ह्वः संप्रसारणं भवति णौ च संश्चङोः। ततोऽभ्यस्तस्य च। अभ्यस्तस्य च ह्वः संप्रसारणं भवतीति॥ किमर्थो योगविभागः?

णौ च संश्चङ्विषयार्थः॥ २॥

णौ च संश्चङ्विषये ह्वः संप्रसारणं यथा स्यात्। जुहावयिषति, अजूहवत्॥ किं पुनः कारणं न सिध्यति? ह्वोऽभ्यस्तस्येत्युच्यते न चैतद्ध्वोऽभ्यस्तम्। कस्य तर्हि? ह्वाययतेः। ह्व एतदभ्यस्तम्। कथम्? 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' (६.१.१)। एवं तर्हि ह्वयतेरभ्यस्तस्येत्युच्यते न चात्र ह्वयतिरभ्यस्तः। कस्तर्हि? ह्वाययतिः। ह्वयतिरेवात्राभ्यस्तः। कथम्? एकाचो द्वे प्रथमस्येति॥ एवमपि—

भा०—ह्वा के सम्प्रसारण के प्रसङ्ग में सूत्र का विभाजन करना चाहिए। 'ह्वः सम्प्रसारणम्' का अर्थ होगा 'सन् परक या चङ्परक णि परे रहने पर ह्वा को सम्प्रसारण'। इसके पश्चात् 'अभ्यस्तस्य च' अर्थात् 'अभ्यस्त ह्वा को भी सम्प्रसारण होता है'।

विवरण—एक सूत्र होने पर पूर्वोक्त अर्थ नहीं बन पाएगा। क्योंकि उस दशा में सन् परक णि परे रहने पर 'ह्वा' अभ्यस्त नहीं मिलेगा। णिजन्त अभ्यस्त होगा। ऐसी स्थिति में 'संश्चङोः' की अनुवृत्ति छोड़नी होगी तथा द्वितीय अर्थ में 'जुहाव' ही बन सकेगा, 'जुहावयिषति' सिद्ध न होगा।

भा०—योगविभाग किसके लिये?

वा०—णि परे रहने पर सन् चङ् विषय वाले के लिये।

भा०—सन् चङ् विषय वाले णि परे रहने पर ह्वा को सम्प्रसारण हो जावे। जुहावयिषति....आदि। क्या कारण है कि सिद्ध नहीं होता? ह्वा के अभ्यस्त को कहा गया है। यह [णिजन्त] ह्वा का अभ्यस्त नहीं है। तो फिर किसका है? 'ह्वायि' [इस णिजन्त] का है। यह ह्वा का ही अभ्यस्त है। किस प्रकार? 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' सूत्र से।

विवरण—सन् परे रहने पर 'ह्वायि' धातु बनने पर भी इसके प्रथम एकाच् 'ह्वाय्' को ही द्विर्वचन होगा। अतः 'ह्वा' अभ्यस्त बनने से सनन्त को द्विर्वचन सिद्ध हो सकेगा—योगविभाग की आवश्यकता नहीं। इसके आगे का भाष्य पुनरुक्त है। पहले 'ह्वा का अभ्यस्त' कहकर विवेचना की है। आगे ह्वयति का अभ्यस्त कह कर वही बात कही है। महाविद्वान् व्याख्याकार कैयट ने भी इसे पुनरुक्त माना है। इसके पश्चात् किसी तरह पुनरुक्ति का परिहार करते हुए कहा है कि पिछले भाष्य में कहा है कि जुहाव तथा जुहावयिषति में अर्थभेद होने पर भी जुहावयिषति में सन् परे रहने पर णिजन्त ह्वायि धातु के प्रथम एकाच् ह्वा को द्विर्वचन होने से सम्प्रसारण हो जाएगा। इसके पश्चात् अग्रिम भाष्य में कहा है कि जिह्वायकीयिषति

अभ्यस्तनिमित्तेऽनभ्यस्तप्रसारणार्थम्॥ ३॥

अभ्यस्तनिमित्त इति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? अनभ्यस्तप्रसारणार्थम्। अनभ्यस्तस्य प्रसारणं यथा स्यात्। जुहूषति, जोहूयते॥

अभ्यस्तप्रसारणे ह्वाभ्यासप्रसारणाप्राप्तिः॥ ४॥

अभ्यस्तप्रसारणे ह्वाभ्यासप्रसारणस्याप्राप्तिः स्यात्। 'न संप्रसारणे संप्रसारणम्' (६.१.३७) इति प्रतिषेधः प्रसज्येत? नैष दोषः। व्यवहितत्वान्न भविष्यति।

समानाङ्गे प्रसारणप्रतिषेधात्प्रतिषेधः॥ ५॥

समानाङ्गे प्रसारणप्रतिषेधात् प्रतिषेधः प्राप्नोति। समानाङ्गग्रहणं तत्र चोदयिष्यति॥

कृदन्तप्रतिषेधार्थं च॥ ६॥

कृदन्तप्रतिषेधार्थं चाभ्यस्तनिमित्त इति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्?

में सन् परे रहने पर अव्यवहित ह्वा न मिलने से सम्प्रसारण नहीं होगा। पर यह महतो वंशस्तम्बाल्लट्वाऽनुकृष्यते' वाली व्याख्या है। क्योंकि उक्त उदाहरण का यहाँ उल्लेख नहीं है। साथ ही इसके लिये अलग वार्तिक बनाया गया है।

वा०—'अभ्यस्तनिमित्त' होने पर, यह भी। अनभ्यस्त के प्रसारण के लिये।

भा०—'अभ्यस्तनिमित्ते' यह कहना चाहिये। [अर्थात् अभ्यस्त के कारण सन् आदि के परत्व मात्र होने पर अभ्यस्त बनने से पूर्व ही।] क्या प्रयोजन है? [अभ्यस्त बनने से पूर्व की स्थिति] अनभ्यस्त को सम्प्रसारण हो जावे। जुहूषति, जोहूयते।

वा०—अभ्यस्तप्रसारण में अभ्यासप्रसारण की अप्राप्ति।

भा०—अभ्यस्त का सम्प्रसारण कहने पर अभ्यास के सम्प्रसारण की अप्राप्ति होगी। 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' से प्रतिषेध की प्राप्ति होगी। यह दोष नहीं है। ['ह्वा हु स' इस दशा में अगले सम्प्रसारण से पूर्व 'व्' के मध्य अवर्ण तथा हकार के द्वारा] व्यवहित होने से [निषेध] नहीं होगा।

वा०—समानाङ्ग में प्रसारण का प्रतिषेध होने से प्रतिषेध।

भा०—[प्रसारण से पूर्व] उसी अङ्ग में वर्तमान [व्यवहित या अव्यवहित यण् की उपस्थिति में] प्रसारण का प्रतिषेध होने से उस सूत्र से प्रतिषेध की प्राप्ति होती है। उस सूत्र में 'समानाङ्ग' ग्रहण किया जाएगा।

वा०—कृदन्त के प्रतिषेध के लिए भी।

भा०—कृदन्त के प्रतिषेध के लिए भी 'अभ्यस्तनिमित्ते' कहना चाहिए।

ह्वायकमिच्छति ह्वायकीयति। ह्वायकीयतेः सन् जिह्वायकीयिषति॥

स तर्हि निमित्तशब्द उपादेयः, न ह्यन्तरेण निमित्तशब्दं निमित्तार्थो गम्यते ? अन्तरेणापि निमित्तशब्दं निमित्तार्थो गम्यते। तद्यथा—दधित्रपुसं प्रत्यक्षो ज्वरः, ज्वरनिमित्तमिति गम्यते। नड्वलोदकं पादरोगः, पादरोग-निमित्तमिति गम्यते। आयुर्घृतम्, आयुषो निमित्तमिति गम्यते॥ अथवाकारो मत्वर्थीयः। अभ्यस्तमस्मिन्नस्ति सोऽयमभ्यस्तः, अभ्यस्तस्येति॥

अथवाभ्यस्तस्येति नैषा ह्वयतिसमानाधिकरणा षष्ठी। का तर्हि ? सम्बन्धषष्ठी। अभ्यस्तस्य यो ह्वयतिः। किं चाभ्यस्तस्य ह्वयतिः ? प्रकृतिः।

क्या प्रयोजन है ? 'बुलाने वाले को चाहता है' इस अर्थ में ['ह्वायक' शब्द से क्यच् प्रत्यय होकर 'ह्वायकीयति' बना। इससे सन् प्रत्यय लाने पर 'जिह्वायकीयिषति'। यहाँ अभ्यस्त निमित्त सन् से पूर्व ह्वा के मध्य 'अक' और 'य' का व्यवधान है। अतः इस वार्तिक से सम्प्रसारण नहीं होता।

विशेष—इस प्रकार के उदाहरण केवल व्याकरण की साधनिका के लिये हैं। ऐसा नहीं लगता कि इनका लोक में प्रयोग होता होगा। कोई बुलाने वाला मित्र है। दूसरा मित्र उस पहले वाले को अभी चाहता भी नहीं है। वह कोशिश कर रहा है कि इसके चाहने की इच्छा पैदा हो जाय! इस प्रकार इच्छा की इच्छा कब होगी तथा वह कब उसे पूरा कर पाएगा, यह सोचने का विषय है!!

भा०—तो फिर 'निमित्त' शब्द का प्रयोग किया जावे। 'निमित्त' शब्द के प्रयोग के बिना निमित्त अर्थ प्रतीत नहीं होगा। निमित्त शब्द के प्रयोग के बिना भी निमित्त अर्थ प्रतीत होता है। जैसे दही और खीरा का मेल एकदम साफ ज्वर है। [अलग-अलग जमाने की बात है। आज कल तो लोग दही, खीरा का रायता बनाकर खाते हैं!] इसका अर्थ 'ज्वर का कारण है' यह होता है। नरकुल का पानी साफ पैर का रोग है। इसका अर्थ पैर के रोग का कारण है। घी तो बस आयु है। यहाँ भी आयु का कारण है, यह समझा जाता है। [इसी प्रकार यहाँ 'निमित्त' शब्द के प्रयोग किये बिना निमित्त अर्थ समझा जाएगा।]

अथवा ['अभ्यस्त' शब्द में 'अर्शआदिभ्योऽच्' (५.२.१२७) से] मत्वर्थ में अ प्रत्यय है। [इससे शब्दरूप नहीं बदलता। पर मत्वर्थ प्रकट होने लगता है। अतः अर्थ होगा—] अभ्यस्त [की कारणता है] जहाँ पर वह 'ह्वा' धातु ही अभ्यस्त होगी।

अथवा 'अभ्यस्तस्य' इसका ह्वयति के साथ समानाधिकरण षष्ठी नहीं है। [अभ्यस्त जो ह्वयति, उसका—इस प्रकार]। तो फिर क्या ? [व्यधिकरण में] सम्बन्ध षष्ठी है। अभ्यस्त का जो ह्वयति। अभ्यस्त की ह्वयति क्या है ? [कारण] प्रकृति।

ह्वोऽभ्यस्तस्य प्रकृतेरिति॥ योगविभागस्तु कर्तव्य एव। नात्र ह्वयतिरभ्यस्तस्य प्रकृतिः। किं तर्हि? ह्वाययतिः॥

अपस्पृधेथामानृचुरानृहुश्चिच्युषे तित्याज श्राताः श्रितमाशीराशीर्ताः॥ ६.१.३६॥

अपस्पृधेथामिति किं निपात्यते? स्पर्धेर्लङ्यात्मनेपदानां मध्यमपुरुषस्य द्विवचन आथामि द्विर्वचनं संप्रसारणमकारलोपश्च निपात्यते। इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथाम् (ऋ० ६.६९.८)। अस्पर्धेथामिति भाषायाम्॥

अभ्यस्त का कारण जो ह्वा प्रकृति, उसे। [इस प्रकार अभ्यस्त बनने से पूर्व ही ह्वा को सम्प्रसारण हो जाएगा।]

पर योगविभाग तो करना ही होगा। यहाँ ['जुहावयिषति' में] अभ्यस्त की प्रकृति ह्वा नहीं है। तो फिर क्या है? णिजन्त 'ह्वायि' है [अतः इसके सम्प्रसारण के लिए योगविभाग-करण स्थापित हुआ। क्योंकि इस व्यधिकरण षष्ठी में योगविभाग के बिना सिद्धि नहीं होती।]

विवरण उपसंहार—१. यदि योगविभाग नहीं करें तथा समानाधिकरण में षष्ठी मानें तो जुहाव, जुहावयिषति में सम्प्रसारण सिद्ध तो होगा, परन्तु अभ्यास में 'सम्प्रसारण के निषेध की भी प्राप्ति होगी।

२. यदि योगविभाग नहीं करे तथा व्यधिकरण में षष्ठी मानें तो जुहाव, जुहूषति आदि सिद्ध हो जाएंगे, क्योंकि द्विर्वचन या अभ्यस्त बनने से पहले ही सम्प्रसारण हो जाएगा। परन्तु 'जुहावयिषति' में सम्प्रसारण की प्राप्ति नहीं होगी। क्योंकि अभ्यस्त की प्रकृति 'ह्वाय्' है 'ह्वा' नहीं।

३. यदि योगविभाग करें तथा व्यधिकरण में 'षष्ठी' मानें तो उपरिलिखित सभी प्रयोग सिद्ध होंगे तथा 'जुहावयिषति' भी सिद्ध हो सकेगा।

काशिकाकार ने माना है कि इस योगविभाग के बल से सन् से पूर्व ऐसे प्रत्यय जो कि अभ्यस्त के निमित्त हैं, उनके व्यवधान होने पर सम्प्रसारण नहीं होगा। इससे जिह्वाकीयिषति में सम्प्रसारण का निवारण हो सकेगा।

अपस्पृधेथामानृचुरानृहुश्चिच्युषे तित्याज श्राताः....॥

भा०—'अपस्पृधेथाम्' यहाँ क्या निपातन है? स्पर्ध धातु से लङ् में आत्मनेपद के मध्यम पुरुष द्विवचन के 'आथाम्' परे रहने पर द्विर्वचन, सम्प्रसारण [होने पर 'अ+प+स्प+ऋध् आथाम्' इस दशा में] अकारलोप निपातित है। इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथाम् (ऋ० ६.६९.८)। भाषा में [सम्प्रसारण न होने पर] अस्पर्धेथाम् बनेगा।

अपर आह। अपपूर्वात्स्पर्धेर्लङ्यात्मनेपदानां मध्यमपुरुषस्य द्विवचन आथामि संप्रसारणमकारलोपश्च निपात्यते। इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथाम्। अपास्पर्धेथामिति भाषायाम्॥

श्रातः, श्रितमिति किं निपात्यते? श्रीणातेः क्ते श्राभावश्रिभावौ निपात्येते। क्व पुनः श्राभावः, क्व वा श्रिभावः? सोमे श्राभावोऽन्यत्र श्रिभावः। न तर्हीदानीमिदं भवति—श्रितः सोम इति? बहुवचने श्राभावः। न तर्हीदानीमिदं भवति—श्रिता नो ग्रहाः? सोमबहुत्वे श्राभावोऽन्यत्र श्रिभावः॥

अन्य आचार्य कहते हैं—अप उपसर्ग पूर्वक स्पर्ध धातु से लङ् में आत्मनेपद के मध्यम पुरुष द्विवचन के 'आथाम्' परे रहने पर सम्प्रसारण [होने पर अप+स्प+ऋध्+आथाम्' इस दशा में] अकार लोप निपातित है। उदाहरण पूर्वोक्त हैं।

'श्राताः', 'श्रितम्' यहाँ क्या निपातन है? क्र्यादि गण वाली श्री (३) धातु को क्त परे रहने पर श्रा आदेश तथा श्रि आदेश निपातित हैं। श्राभाव कहाँ होता है तथा श्रिभाव कहाँ? सोम अभिधेय में श्रा आदेश होता है, अन्यत्र श्रिभाव। तो क्या यहाँ [श्रिभाव] नहीं होता— श्रितः सोमः? बहुवचन में श्राभाव होता है [तथा अन्यत्र एकवचन में श्रिभाव।] तो क्या यहाँ नहीं होता—श्रिता नो ग्रहाः?

सिद्धान्त **भा०**—बहुत्व में हो तो सोम के ही बहुत्व में श्राभाव, अन्यत्र [सोम से अन्य के बहुत्व में, सोम या किसी भी अन्य के एकत्व में] श्रिभाव होता है।

विशेष—इस विवरण के अनुसार सोमबहुत्व में श्रा आदेश होकर 'श्राताः सोमाः' बनेगा। श्री धातु के सकर्मक होने से यह प्रयोग कर्मवाच्य में है। इससे पूर्व 'शृतं पाके' सूत्र में अकर्मक श्रा धातु कही जा चुकी है। अतः इनके अलग-अलग प्रयोग इस प्रकार हैं—

	श्रा धातु-अकर्मक	श्रा धातु-अकर्मक	श्री धातु-सकर्मक	श्री धातु-सकर्मक
पका १.	शृतं हविः (कर्त्ता में क्त)	श्राणा यवागूः (कर्त्ता में क्त)	श्राताः सोमाः स्वयमेव (कर्मकर्त्ता में क्त)	श्रितः सोमः स्वयमेव (कर्मकर्त्ता में क्त)
पकाया २. गया	शृतं हविः देवदत्तेन (कर्म में क्त)	श्रपिता यवागूः देवदत्तेन (कर्म में क्त)	श्राताः सोमाः यजमानेन (कर्म में क्त)	श्रितः सोमः यजमानेन (कर्म में क्त)
			श्रिता नो ग्रहाः (कर्म में क्त)	श्रितः अपूपः (कर्म में क्त)

न संप्रसारणे संप्रसारणम्॥ ६.१.३७॥

किमर्थमिदमुच्यते? वचिस्वपियजादीनां ग्रहादीनां च संप्रसारणमुक्तम्। तत्र यावन्तो यणः सर्वेषां संप्रसारणं प्राप्नोति। इष्यते च परस्य यथा स्यान्न पूर्वस्य, तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यतीति न संप्रसारणे संप्रसारणम्। एवमर्थमिदमुच्यते॥ किमन्येऽप्येवं विधयो न भवन्ति। 'अतो दीर्घो यञि', 'सुपि च' (७.३.१०१, १०२) इति। घटाभ्याम्। अकारमात्रस्य दीर्घत्वं कस्मान्न भवति? अस्त्यत्र विशेषः। इयमत्र परिभाषोपतिष्ठते—'अलोऽन्त्यस्य' (१.१.५२) इति। ननु चेदानीमेतया परिभाषयेहापि शक्यमुपस्थातुम्? नेत्याह। न हि वचिस्वपियजादीनां ग्रहादीनां चान्त्यो यणस्ति। एवं तर्ह्यनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य कार्यं भवतीत्यन्त्यसदेशो यो यण् तस्य कार्यं भविष्यति। नैतस्याः परिभाषायाः सन्ति प्रयोजनानि॥

आगे की प्राकृत भाषाओं में श्री धातु का सकर्मक रूप जीवित रहा। अतः हिन्दी आदि में भी 'पूड़ी सेराता है या पूड़ियाँ सेराता है' जैसे प्रयोग निष्पन्न हैं। पर इस अर्थ में कर्मकर्ता रूप प्रचलित नहीं हुआ। 'ठण्डा होना' अर्थ में 'शीतल' शब्द की नामधातु के कर्मकर्ता से 'पूड़ी सेरा गई' या 'पूड़ी सील गई' जैसे प्रयोग अकर्मक में प्रचलन को प्राप्त हुए।

न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्॥

भा०—इस सूत्र की रचना किसलिए है? वच्, स्वप्, यजादि तथा ग्रहादि का सम्प्रसारण कहा गया है। इन प्रत्येक धातुओं में जितने यण् हैं, उन सभी को सम्प्रसारण प्राप्त होता है। इष्ट यह है कि केवल पर यण् को हो, पूर्व यण् को नहीं। यह बिना प्रयत्न के सिद्ध नहीं होता। इसलिये इस सूत्र की रचना है।

तो फिर इसी प्रकार की अन्य विधियाँ प्रत्येक के स्थान में क्यों नहीं होती? 'अतो दीर्घो...' आदि। घटाभ्याम्। दोनों अकारों को दीर्घत्व क्यों नहीं होता? यहाँ अन्यों से अन्तर है। यहाँ यह परिभाषा उपस्थित होती है—'अलोऽन्त्यस्य'। [अतः अर्थ होता है—अकारान्त अङ्ग के अन्त्य को दीर्घ होता है।] तो यह परिभाषा इस सूत्र में भी तो लग सकती है। नहीं लग सकती। क्योंकि वच्, स्वप् आदि का अन्त्य यण् है ही नहीं। तो फिर 'अनन्त्यविकारे...' इस परिभाषा के अनुसार अन्त्य के ठीक समीप जो यण् उसे सम्प्रसारण कार्य होगा। इस परिभाषा के प्रयोजन नहीं है। [इससे पूर्व सभी प्रयोजनों का निवारण किया जा चुका है।]

एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—न सर्वस्य यणः संप्रसारणं भवतीति यदयं प्यायः पीभावं शास्ति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्? पीभाववचन एतत्प्रयोजनमापीनोऽन्धुः, आपीनमूधः—एतद्रूपं यथा स्यादिति। यदि चात्र सर्वस्य यणः संप्रसारणं स्यात् पीभाववचनमनर्थकं स्यात्। संप्रसारणे कृते संप्रसारणपरपूर्वत्वे च द्वयोरिकारयोरेकादेशे सिद्धं रूपं स्यादापी-नोऽन्धुः, आपीनमूध इति। पश्यति त्वाचार्यो न सर्वस्य यणः संप्रसारणं भवतीति, ततः प्यायः पीभावं शास्ति॥ नैतदस्ति ज्ञापकम्। सिद्धे हि विधिरारभ्यमाणो ज्ञापकार्थो भवति, न च प्यायः संप्रसारणेन सिध्यति। संप्रसारणे हि सत्यन्त्यस्य प्रसज्येत॥ एवमपि ज्ञापकमेव। कथम्? प्याय इति नैषा स्थानषष्ठी। का तर्हि? विशेषणषष्ठी। प्यायो यो यणिति।

अच्छा तो फिर आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापित करती है कि सभी यणों को सम्प्रसारण नहीं होता। क्योंकि उन्होंने प्याय् के स्थान में पी-भाव का शासन किया है। यह ज्ञापक किस प्रकार है? पी-आदेश का प्रयोजन यह है कि आपीनोऽन्धुः... आदि में [पी-आदेश होकर] यह प्रयोग बन जावे। यदि यहाँ सभी यणों को सम्प्रसारण होता तो पी-आदेश करण व्यर्थ होने लगता। [प्याय् के दोनों यकारों को] सम्प्रसारण कर लेने पर [प् इ आ इ इस दशा में 'सम्प्रसारणाच्च' (६.१.१०४) से] पूर्वरूप कर लेने पर दोनों इकारों को एकादेश से आपीनोऽन्धुः सिद्ध हो जाता। परन्तु आचार्य देखते हैं कि सभी यण् के स्थान में सम्प्रसारण नहीं होता, तभी प्याय् को पी भाव का शासन किया है।]

भा०—यह ज्ञापक नहीं है। विधि सिद्ध होने पर पुनः उस विधि का शासन ज्ञापक के लिये होता है। पर यहाँ प्याय् को सम्प्रसारण से सिद्ध नहीं होता। सम्प्रसारण होने पर अन्त्य को प्राप्त होता।

विवरण—प्याय् के स्थान में पी-आदेश यदि किसी अन्य उपाय से गतार्थ होने लगे तो वह आदेश निरर्थक होकर ज्ञापकार्थ बनने लगेगा। उपरिलिखित भाष्य का कहना है कि यह पी-आदेश सम्प्रसारणविधान से गतार्थ हो जाएगा। पर अग्रिम भाष्य का कहना है कि यदि यहाँ सम्प्रसारण विधान करेंगे तो 'अलोऽन्त्यस्य' की उपस्थिति में उसका अर्थ होगा कि यणन्त प्याय् अङ्ग के अन्तिम अक्षर के स्थान में सम्प्रसारण होता है। इस स्थिति में पूर्व यकार का सम्प्रसारण न होने से रूप सिद्ध न हो सकेगा। इस प्रकार पीभाव निरर्थक न होकर ज्ञापकार्थ नहीं बन सकेगा।

भा०—तो भी यह ज्ञापक ही है। किस प्रकार? प्यायः यहाँ स्थान षष्ठी नहीं है। [इस प्रकार 'विवरण' प्रोक्त अर्थ नहीं होगा।] तो फिर क्या? व्यधिकरण विशेषण में षष्ठी करेंगे—प्याय् [का अवयव] जो यण्। [अब यहाँ 'अलोऽन्त्यस्य' नहीं लगेगा। जिस प्रकार 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७.३.८६) में नहीं लगता। ऐसा

तदेतज्ज्ञापयत्याचार्यो न सर्वस्य यणः संप्रसारणं भवतीति यदयं प्यायः पीभावं शास्ति॥ एवमप्यनैकान्तिकमेतत्। एतावज्ज्ञाप्यते न सर्वस्य यणः संप्रसारणं भवतीति। तत्र कुत एतत्परस्य भविष्यति न पूर्वस्येति?

उच्यमानेऽप्येतस्मिन्कुत एतत्परस्य भविष्यति न पूर्वस्येति? एकयोगलक्षणं खल्वपि संप्रसारणम्? तद्यदि तावत्परमभिनिर्वृत्तं पूर्वमप्यभिनिर्वृत्तमेव? प्रसक्तस्य चानभिनिर्वृत्तस्य प्रतिषेधेन निवृत्तिः शक्या कर्तुं, नाभिनिर्वृत्तस्य? यो हि भुक्तवन्तं ब्रूयान्मा भुङ्क्था इति किं तेन कृतं स्यात्?

अर्थ करने पर दोनों यकारों को सम्प्रसारणविधान से रूप सिद्धि होने पर 'पी' विधान ज्ञापकार्थ बन जाएगा।]

तो भी यह अनैकान्तिक (=नियमित रूप से बना न रहने वाला) ज्ञापक होगा। इससे इतना मात्र ज्ञापित होता है कि सभी दोनों यण् को सम्प्रसारण नहीं होता। पर इससे यह कहाँ ज्ञापित होता है कि पर वाले यण् को सम्प्रसारण होता है, पूर्व वाले को नहीं होता? १. इस ['न सम्प्रसारणे...' सूत्र] के कहने पर भी इससे यह कैसे प्रकट है कि पर को होता है, पूर्व को नहीं होता? ['न सम्प्रसारणे...' से पहले उपस्थित होने वाले 'वचिस्वपि...' सूत्र से पूर्व 'य्' के न होने का सङ्केत नहीं मिलता।]

विवरण—ज्ञापक से प्राप्त निष्कर्ष केवल सांकेतिक होता है। वह केवल उस विधि की ओर संकेत करता है, जिससे उसकी सार्थकता सिद्ध हो जाय। 'प्यायः पी' सूत्र से केवल यह ज्ञापित होता है कि दोनों यण् को सम्प्रसारण नहीं होता। इससे यह संकेत नहीं मिलता कि दोनों में से किसे होता है किसे नहीं। दोनों में से किसी भी यण् को सम्प्रसारण से पी-भाव की सार्थकता सिद्ध हो जाएगी। इस प्रकार ज्ञापक से प्राप्त संकेत अपूर्ण है—यह भाष्य का आशय है। यहाँ तक भाष्य से यह मान लिया गया कि ज्ञापक से काम नहीं चलेगा। 'न सम्प्रसारणे...' कहना पड़ेगा। अतः आगे १. उच्यमानेऽप्येतस्मिन् भाष्य से 'न सम्प्रसारणे...' कहने पर भी दोष की उद्भावना कर रहे हैं। २. दूसरी बात यह है कि 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' अपना कार्य करने में अशक्त है। क्योंकि—

भा०—[वचिस्वपि...आदि] एक सूत्र से [एक साथ दोनों को] सम्प्रसारण होता है। अब यदि उस सूत्र से पर वाले को सम्प्रसारण हुआ तो [उसी सूत्र से उसी काल में] दूसरे यण् को भी होगा ही। [एक यण् में लगने वाले सूत्र को दूसरे यण् के प्रति कैसे रोक लेंगे।] इसके साथ यह भी एक तथ्य है कि प्रसक्त परन्तु अपरिनिष्पन्न की प्रतिषेध से निवृत्ति हो सकती है, निष्पन्न की नहीं। जो व्यक्ति 'भोजन किये हुए मनुष्य से कहे कि मत खाओ', उससे क्या हो जाएगा? [इसी प्रकार जब 'वचिस्वपि....' से दोनों को सम्प्रसारण हो चुका, उसके बाद 'न

अथापि पूर्वमनभिनिर्वृत्तं परमप्यनभिनिर्वृत्तमेव? तत्र निमित्तसंश्रयोऽनुपपन्नो न संप्रसारणे संप्रसारणमिति॥ नैष दोषः। यत्तावदुच्यत उच्यमानेऽप्येतस्मिन्कुत एतत् परस्य भविष्यति न पूर्वस्येति? इहेङ्गितेन चेष्टितेन निमिषितेन महता वा सूत्रप्रबन्धेनाचार्याणामभिप्रायो गम्यते। एतदेव ज्ञापयति परस्य भविष्यति न पूर्वस्येति यदयं न संप्रसारणे संप्रसारणमिति प्रतिषेधं शास्ति॥ यदप्युच्यत एकयोगलक्षणं खल्वपि संप्रसारणं तद्यदि तावत्परमभिनिर्वृत्तं पूर्वमप्यभिनिर्वृत्तमेव, प्रसक्तस्य चानभिनिर्वृत्तस्य प्रतिषेधेन निवृत्तिः शक्या कर्तुमिति? अस्तूभयोरभिनिर्वृत्तिः। न वयं पूर्वस्य प्रतिषेधं शिष्मः। किं तर्हि? संप्रसारणाश्रयं यत्प्राप्नोति तस्य प्रतिषेधम्। ततः पूर्वत्वे प्रतिषिद्धे यणादेशेन सिद्धम्॥ यदप्युच्यतेऽथापि पूर्वमनभिनिर्वृत्तं परमप्यनभिनिर्वृत्तमेव, तत्र निमित्तसंश्रयोऽनुपपन्न इति? तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यं भविष्यति। तद्यथा—इन्द्रार्था स्थूणेन्द्र इति। एवमिहापि संप्रसारणार्थं संप्रसारणम्। तद्यत् प्रसारणार्थं प्रसारणं तस्मिन्प्रतिषेधो भविष्यति॥

सम्प्रसारणे...' कहे कि मत होवे, इससे क्या लाभ होगा?]

भा०—[३. अन्य स्थिति में यदि 'वचिस्वपि....' सूत्र प्रवृत्त नहीं हुआ तो पूर्व यण् को सम्प्रसारण न होने पर एक साथ पर को भी निष्पन्न नहीं होगा। तब सम्प्रसारणनिमित्तत्व अनुपपन्न होने पर भी 'न सम्प्रसारणे...' प्रवृत्त नहीं हो सकेगा।]

यह दोष नहीं, इससे पूर्व १. 'उच्यमानेऽप्येतस्मिन्' के अन्तर्गत जो प्रथम तथ्य कहा है, उस पर कहना है कि केवल संकेत चेष्टा से, आंखों को झपकाने से भी बड़े सूत्र की रचना से भी आचार्यों का अभिप्राय लक्षित होता है। [यह पश्चात् काल में उपस्थित होने वाला 'न सम्प्रसारणे...'] यह संकेत देता है कि [पहले उपस्थित 'वचिस्वपि....' से सम्प्रसारण] पर यण् को होगा, पूर्व यण् को नहीं।

यह जो २. 'एकयोगलक्षणं...' से द्वितीय बात कही है, उस पर कहना है कि ठीक है, दोनों का सम्प्रसारण हो जावे। हम पूर्व के सम्प्रसारण का निषेध नहीं करते। तो फिर क्या? सम्प्रसारण के आश्रय जो अन्य कार्य पाते हैं, उनका प्रतिषेध है। ['व्यध्+त' यहाँ दोनों का सम्प्रसारण होकर 'उ इ ध्+त' इस दशा में 'सम्प्रसारणाच्च' (६.१.१०४) से पूर्वरूप का प्रतिषेध है।] इस पूर्वत्व के प्रतिषिद्ध होने पर यणादेश से सिद्ध हो जाएगा।

यह जो ३. 'अथापि पूर्वम्...' से तीसरी बात कही है, उस पर कहना है कि उस (क) के लिए जो वस्तु (च) है उस (च) का उस (क) शब्द से व्यवहार होता है। जैसे इन्द्र के लिए स्थूणा को इन्द्र कहते हैं। इसी प्रकार 'व्यध्' में पर यण् 'य्' को सम्प्रसारण होने से पहले इसे सम्प्रसारण कहा जाएगा। इससे 'न सम्प्रसारणे...' की प्रवृत्ति हो जाएगी।

अथ संप्रसारणमिति वर्तमाने पुनः संप्रसारणग्रहणं किमर्थम् ?

प्रसारणप्रकरणे पुनः प्रसारणग्रहणमतोऽन्यत्र प्रसारणप्रतिषेधार्थम्॥ १ ॥

संप्रसारणमिति वर्तमाने पुनः प्रसारणग्रहण एतत्प्रयोजनं विदेशस्थमपि यत्संप्रसारणं तस्यापि प्रतिषेधो यथा स्यात्। 'व्यथो लिटि' (७.४.६८)— विव्यथे॥ नैतदस्ति प्रयोजनम्। हलादिशेषापवादोऽत्र संप्रसारणम्॥ इदं तर्हि—'श्वयुवमघोनामतद्धिते' (६.४.१३३)—यूना, यूने॥ उच्यमाने-

---

विशेष—जनमेजय ने सर्पयज्ञ में भयंकर नागों की आहुति प्रदान की। अन्त में इससे बचने के लिए नागराज तक्षक इन्द्र के पूजन के लिए बनाई गई स्थूणा या खम्भे पर चढ़ गया। जनमेजय ने इस स्थूणा को इन्द्र बताते हुए 'सेन्द्राय तक्षकाय स्वाहा' इस जाप द्वारा स्थूणा सहित तक्षक की यज्ञ में आहुति प्रदान की थी। आचार्य मम्मट ने काव्य प्रकाश २.११ में माना कि इस प्रकार के उदाहरण सादृश्य से भिन्न सम्बन्ध से लक्षणा के प्रयोजक होते हैं। अतएव ये शुद्धा सारोपा लक्षणा के अन्तर्गत हैं। इनसे लाक्षणिक शब्दों का तथा रूपक अलङ्कार का भी विकास हुआ है।

भा०—इसी प्रकार यहाँ भी सम्प्रसारण से पूर्व जो यण् है। वह पहले ही सम्प्रसारण कहा जाएगा। इस प्रसारण के लिए यण् अक्षर परे रहने पर पूर्व यण् को 'न सम्प्रसारणे...' से प्रतिषेध हो जाएगा।

[प्रसङ्गान्तर—] पूर्व सूत्र से 'सम्प्रसारणम्' की अनुवृत्ति होने पर भी यहाँ पुनः सम्प्रसारण ग्रहण क्यों है?

वा०—प्रसारण प्रकरण में पुनः प्रसारण ग्रहण यहाँ से अन्यत्र प्रसारण-प्रतिषेध के लिए।

भा०—'ष्यङः सम्प्रसारणं....' से इसकी अनुवृत्ति होने पर भी इसका पुनः ग्रहण का प्रयोजन यह है कि अन्य देश में स्थित जो सम्प्रसारण-विधि उसका भी प्रतिषेध होवे। जैसे 'व्यथो लिटि' सूत्र से 'विव्यथे' में वकार का सम्प्रसारण नहीं होता।

यह प्रयोजन नहीं है। हलादिशेष है अपवाद जिसका, ऐसा यह सम्प्रसारण है। [हलादिशेषापवादः में बहुव्रीहि समास है। अतः भावार्थ होगा—सम्प्रसारण का अपवाद हलादि शेष है। अतः आदि हल् शेष होगा। उसमें सम्प्रसारण की प्रवृत्ति नहीं होगी।]

अच्छा तो फिर—'श्वयुवमघोनाम्...' यूना, यूने। [यहाँ 'युवन्' में व् को सम्प्रसारण के पश्चात् य् को नहीं होता।]

ऽप्येतस्मिन्न सिध्यति। किं कारणम्? उकारेण व्यवधानात्। एकादेशे कृते नास्ति व्यवधानम्। एकादेशः पूर्वविधौ स्थानिवद्भवतीति स्थानिवद्भावाद् व्यवधानमेव॥ एवं तर्हि—

समानाङ्गग्रहणं च॥ २॥

समानाङ्गग्रहणं च कर्तव्यम्। न संप्रसारणे संप्रसारणं समानाङ्ग इति वक्तव्यम्॥

तत्रोपोषुषि दोषः॥ ३॥

तत्रोपोषुषि दोषो भवति। उपोषुषा, उपोषुषे, उपोषुषीति॥

न वा यस्याङ्गस्य प्रसारणप्राप्तिस्तस्मिन्प्राप्तिप्रतिषेधात्॥ ४॥

न वैष दोषः। किं कारणम्? यस्याङ्गस्य प्रसारणप्राप्तिस्तस्मिन्द्वितीया या प्राप्तिः सा प्रतिषिध्यते। अत्र च वसिः क्वसावङ्गं क्वस्वन्तं पुनर्विभक्तौ॥

भा०—यहाँ इस सूत्र की प्रवृत्ति के पश्चात् भी कार्य सिद्ध नहीं होता। क्या कारण है? ['य् उ उ अन्' इस दशा में सम्प्रसारण उ परे रहने पर पूर्ववर्ती] उकार के द्वारा व्यवधान होने से। एकादेश करने पर व्यवधान नहीं होगा। [अचः परस्मिन्...] सूत्र से एकादेश पूर्वविधि में स्थानिवत् होता है, अतः स्थानिवद्भाव से व्यवधान ही होगा। अच्छा तो फिर—

वा०—समानाङ्ग ग्रहण भी।

भा०—'समानाङ्गे' यह भी ग्रहण करना चाहिए। [अतः अर्थ होगा सम्प्रसारण परे रहने पर उसी अङ्ग में वर्तमान (व्यवहित या अव्यवहित) यण् के स्थान में सम्प्रसारण नहीं होता। इस प्रकार व्यवहित यण् में भी प्रतिषेध होने से 'यूनः' में सम्प्रसारणप्रतिषेध सिद्ध हो जाएगा।]

वा०—तब 'उपोषुष्' में दोष।

भा०—तब 'उपोषुष्' से बनने वाले शब्दरूपों में दोष होगा। [यहाँ उप उपसर्गपूर्वक वस् धातु से 'भाषायां सद...' (३.२.१०८) से क्वसु से तृतीया एकवचन 'टा' विभक्ति परे रहने पर 'वसोः सम्प्रसारणम्' (६.४.१३१) से वसु को सम्प्रसारण होता है। तब 'उप+वस्+उस्+आ' इस दशा में 'वचिस्वपि...' सूत्र से वस् के 'व्' को सम्प्रसारण करना है। यहाँ 'स्' का व्यवधान होने पर भी समानाङ्ग ग्रहण के कारण व् को सम्प्रसारणनिषेध की प्राप्ति होती है।]

वा०—जिस अङ्ग को प्रसारणप्राप्ति है उसके परे प्राप्ति का प्रतिषेध कहने से दोष नहीं।

भा०—यह दोष नहीं है। क्या कारण है? [जिस प्रत्यय को मान कर] जिस अङ्ग को प्रसारण प्राप्ति है, [उसी प्रत्यय को मानकर उसी अङ्ग की] द्वितीय जो प्राप्ति है, उसका प्रतिषेध होता है। [जैसे विद्धः में क्त को मानकर य् को प्राप्ति तथा उसी क्त को मानकर व् में द्वितीय सम्प्रसारण-प्राप्ति का निषेध है।] यहाँ तो क्वसु प्रत्यय परे रहने पर वस् अङ्ग है, तथा विभक्ति परे रहने पर क्वस्वन्त अङ्ग है।

अथवा यस्याङ्गस्य प्रसारणप्राप्तिरित्यनेन किं क्रियते? यावद् ब्रूयात् प्रसक्तस्यानभिनिर्वृत्तस्य प्रतिषेधेन निवृत्तिः शक्या कर्तुमिति। अत्र च यदा वसेर्न तदा क्वसोर्यदा च क्वसोरभिनिर्वृत्तं तदा वसेर्भवति॥ अथवा यस्याङ्गस्य प्रसारणप्राप्तिरित्यनेन किं क्रियते? यावद् ब्रूयादसिद्धं बहिरङ्ग-मन्तरङ्ग इति। असिद्धत्वाद्बहिरङ्गलक्षणस्य वसुसंप्रसारणस्यान्तरङ्गलक्षणः प्रतिषेधो न भविष्यति॥

ऋचि त्रेरुत्तरपदादिलोपश्छन्दसि॥ ५॥

ऋचि त्रेः संप्रसारणं वक्तव्यम्। उत्तरपदादिलोपश्छन्दसि वक्तव्यः। तृचं सूक्तम्। तृचं साम। छन्दसीति किम्? त्र्यृचानि॥

रयेर्मतौ बहुलम्॥ ६॥

अथवा 'यस्याङ्गस्य....' के द्वारा क्या किया जाता है? यदि कहें कि प्रसक्त परन्तु अनिष्पन्न की इस प्रतिषेध के द्वारा निवृत्ति होती है। यहाँ तो जब वस् को सम्प्रसारण हुआ तब क्वसु को सम्प्रसारण हुआ नहीं। तथा जब क्वसु को हुआ, उससे पहले वसु को सम्प्रसारण हो चुका। [तात्पर्य यह है कि 'वस्' धातु को सम्प्रसारण पहले तथा क्वसु प्रत्यय को सम्प्रसारण पश्चात् होगा।]

अथवा 'यस्याङ्गस्य...' के द्वारा क्या किया जाता है? यदि कहें कि 'असिद्धं बहिरङ्गम्...' यह किया जाता है। तो बहिरङ्गलक्षण क्वसु सम्प्रसारण के असिद्ध होने से अन्तरङ्गलक्षण प्रतिषेध नहीं होगा। [तात्पर्य यह है कि पहले क्वसु को ही सम्प्रसारण होगा। पर जब इस सम्प्रसारण के परे रहने पर वस् धातु के सम्प्रसारण का प्रतिषेध करेंगे, तब क्वसु का सम्प्रसारण असिद्ध हो जाएगा। इससे 'वस्' धातु को सम्प्रसारण का प्रतिषेध नहीं होगा।]

वा०—छन्द में ऋच् परे रहने पर त्रि का सम्प्रसारण तथा उत्तरपद का आदि लोप।

भा०—छन्द में ऋच् परे रहने पर त्रि [के यण् र्] का सम्प्रसारण कहना चाहिये तथा उत्तरपद [ऋच्] के आदि [ऋ] का लोप कहना चाहिए। तृचं सूक्तम्... आदि। [तिस्र ऋचोऽस्मिन्] इस विग्रह के अनुसार बहुव्रीहि समास करने पर 'ऋक्पूरब्धूः....' (५.४.७४) से समासान्त अ प्रत्यय करने पर 'त्रि ऋच् अ' इस दशा में र् का सम्प्रसारण-पूर्वरूप तथा उत्तरपद के ऋ का लोप करने पर 'तृ+च्+अ' बनने पर यह रूप सिद्ध होता है।

'छन्द में' यह क्यों कहा है? त्र्यृचानि। [यहाँ इकार के स्थान पर यणादेश होता है।

वा०—रयि शब्द को मतुप् परे रहने पर बहुल से।

रयेर्मतौ संप्रसारणं बहुलं वक्तव्यम्। आ रे॒वानेतु नो॒ विशः। न च भवति— रयि॒मान्पुष्टि॒वर्धनः॥ (वा० सं० ३.४०)

कक्ष्यायाः संज्ञायाम्॥ ७॥

कक्ष्यायाः संज्ञायां मतौ संप्रसारणं वक्तव्यम्। क॒क्षीवन्तं॒ य औशि॒जः (ऋ० १.१८.१)। कण्वः कक्षीवान्। संज्ञायामिति किमर्थम्? कक्ष्यावान् हस्ती॥

वश्चास्यान्यतरस्यां किति॥ ६.१.३९॥

वश्चास्यग्रहणं शक्यमकर्तुम्। अन्यतरस्यां किति वेञो न संप्रसारणं भवतीत्येव सिद्धम्। कथम्? प्रसारणे कृत उवङादेशे च द्विर्वचनं सवर्ण-दीर्घत्वम्। तेन सिद्धं— ववतुः, ववुः, ऊवतुः, ऊवुः। वयेरपि नित्यं

भा०—'रयि' शब्द को मतुप् परे रहने पर बहुल से सम्प्रसारण कहना चाहिये। आरेवानेतु नो विशः (=धन सम्पत्ति वाले राजा हम प्रजाओं के पास आवें।) कभी-कभी सम्प्रसारण नहीं भी होता—रयिमान् पुष्टिवर्धनः।

विशेष—महर्षि पाणिनि ने 'रायो हलि' (७.२.८५) सूत्र में 'रै' शब्द की सूचना दी है। यहाँ महर्षि कात्यायन के अनुसार 'रयि' शब्द का अस्तित्व परिज्ञात होता है।

वा०—कक्ष्या को संज्ञा में।

भा०—कक्ष्या को संज्ञा में मतुप् परे रहने पर सम्प्रसारण कहना चाहिए। कक्षीवन्तं य औशिजः (=उशिक् के पुत्र कक्षीवान् को) कण्व कक्षीवान् है। 'संज्ञायाम्' किसलिये है? कक्ष्यावान् हस्ती (=बहुत बड़े प्रमाण वाला हाथी) [यह किसी का नाम नहीं है, अतः सम्प्रसारण नहीं हुआ।]

वश्चास्यान्यतरस्यां किति॥

भा०—यहाँ 'वश्चास्य' ग्रहण न करें तो भी कार्य सिद्ध हो सकता है। 'कित् परे रहने पर वेञ् को विकल्प से सम्प्रसारण का निषेध होता है', इससे ही सिद्ध हो जाएगा।

विवरण—यहाँ 'वश्चास्य' को छोड़ कर अग्रिम 'वेञः' को संयुक्त करके 'अन्यतरस्यां किति वेञः' इतना सूत्र होगा। अर्थ होगा—कित् लिट् परे रहने पर वेञ् को विकल्प से सम्प्रसारण होता है।

भा०—[वेञ् को एक पक्ष में सम्प्रसारण नहीं होगा। दूसरे पक्ष में वेञ् को] प्रसारण करके उवङ् आदेश, द्विर्वचन, सवर्णदीर्घत्व होगा। इससे [सम्प्रसारण के अभाव पक्ष में] सिद्ध होगा—ववतुः ववुः। [सम्प्रसारण पक्ष में वेञ् को सम्प्रसारण करके 'उ+अतुस्' इस दशा में उवङ् आदेश, द्विर्वचन, अभ्यास लोप करके 'उ+उव्+अतुस्' इस दशा में सवर्णदीर्घ करके] ऊवतुः, ऊवुः सिद्ध होगा।

वय् [आदिष्ट धातु] से [लिटि वयो यः सूत्र से] यकार के सम्प्रसारण का

यकारस्य प्रतिषेधः संप्रसारणस्य—ऊयतुः, ऊयुः। त्रैशब्द्यं चेह साध्यं तच्चैवं सति सिद्धं भवति॥ यद्येवं ववौ, ववियेति न सिध्यति। 'ल्यपि च' (६.१.४१) इत्यनेन चकारेण लिडनुकृष्यते। तस्मिन्नित्ये प्रसारण-प्रतिषेधे प्राप्त इयं किति विभाषारभ्यते॥

इति पातञ्जलमहाभाष्ये षष्ठाध्यायस्य प्रथमपादे द्वितीयमाह्निकम्॥

—०—

नित्य प्रतिषेध होकर ऊयतुः, ऊयुः सिद्ध होंगे। यहाँ तीन प्रकार के शब्द सिद्ध करने हैं, वे इस रीति से सिद्ध होते हैं।

विवरण—वेञ् धातु तथा उसके स्थान में आदिष्ट वय् धातु से कित् लिट् परे रहने पर तीन प्रकार के रूप बनते हैं। उन्हें दो प्रकार से सिद्ध किया जा सकता है—

पाणिनि प्रोक्त रीति—

१. वेञ् धातु	ववतुः, ववुः	'वेञः' से सम्प्रसारण प्रतिषेध
२. वय् आदिष्ट धातु	ऊयतुः, ऊयुः	'ग्रहिज्या...' से सम्प्रसारण, 'लिटि वयो यः' से यकार का सम्प्रसारण-प्रतिषेध।
३. वय् आदिष्ट धातु	ऊवतुः, ऊवुः	'वश्चास्यान्यतरस्यां किति' से एक पक्ष में वकार आदेश।

महाभाष्यकार-प्रोक्त रीति—

१. वेञ् धातु	ववतुः, ववुः	'अन्यतरस्यां किति वेञः' से एक पक्ष में सम्प्रसारण-प्रतिषेध
२. वेञ् धातु	ऊवतुः, ऊवुः	पूर्वोक्त सूत्र से एक पक्ष में सम्प्रसारण
३. वय् आदिष्ट धातु	ऊयतुः, ऊयुः	'ग्रहिज्या...' से सम्प्रसारण, 'लिटि वयो यः' से यकार का सम्प्रसारण-प्रतिषेध।

भा०—यदि ऐसा है तो [अकित् प्रत्ययों के परे रहने पर] ववौ, वविथ [में सम्प्रसारण-प्रतिषेध] सिद्ध नहीं होगा। [वेञ् धातु से लिट् में णल् आदि अकित् प्रत्ययों के परे रहने पर 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' से सम्प्रसारण की प्राप्ति होती है। उसका 'वेञः' सूत्र से निषेध होता है। पर इस नई महाभाष्योक्त परिस्थिति में यह सूत्र पूर्व से जुड़ कर केवल कित् में कार्यशील होता है। अतः यहाँ सम्प्रसारण-प्रतिषेध सिद्ध नहीं होता।]

'ल्यपि च' यहाँ चकार से लिट् का भी अनुकर्षण करते हैं। [इससे लिट् में सर्वत्र कित् अकित् में प्रसारण का प्रतिषेध करेंगे।] इससे सर्वत्र नित्य प्रसारण-प्रतिषेध की प्राप्ति में इस [नवीन सूत्र] से कित् परे रहने पर विकल्प करेंगे।

आदेच उपदेशेऽशिति॥ ६.१.४५॥

कथमिदं विज्ञायते—एज् य उपदेश इति, आहोस्विदेजन्तं यदुपदेश इति? किं चातः? यदि विज्ञायत एज् य उपदेश इति, ढौकिता, त्रौकिता—अत्रापि प्राप्नोति। अथ विज्ञायत एजन्तं यदुपदेश इति, न दोषो भवति॥ ननु चैजन्तं यदुपदेश इत्यपि विज्ञायमानेऽत्रापि प्राप्नोति। एतदपि हि व्यपदेशिवद्भावेनैजन्तं भवत्युपदेशे। अर्थवता व्यपदेशिवद्भावः॥ ननु चैज्य उपदेश इत्यपि विज्ञायमाने न दोषो भवति। अशितीत्युच्यते न चात्राशितं पश्यामः। ननु च ककार एवात्राशित्। न ककारे भवितव्यम्। किं कारणम्? नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः। नञ्युक्तमिवयुक्तं चान्यस्मिंस्तत्सदृशे कार्यं विज्ञायते तथा ह्यर्थो गम्यते।

आदेच उपदेशेऽशिति॥

भा०—यहाँ किस प्रकार समझा जाता है? उपदेश में वर्तमान जो एच् उसमें अथवा एजन्त उपदेश में?

विवरण—'उपदेश' शब्द यदि करणसाधन में हो तो इससे 'उपदिश्यते अनेन' इस विग्रह के अनुसार शास्त्र कहा जाता है। इस पक्ष में एच् का उपदेश के साथ समानाधिकरण सम्बन्ध न होने से तदन्तविधि नहीं होगी। इस अर्थ के अनुसार व्यधिकरण सम्बन्ध होगा। कर्मसाधन 'उपदेश' शब्द से उपदिष्ट धातु आदि कहे जाएँगे। इस स्थिति में 'एजन्त उपदेश धातु' आदि अर्थ सम्भव हो सकेगा।

भा०—यदि यह माना जाता है कि 'उपदेश में जो एच्' तो 'ढौकिता' आदि में भी प्राप्त होता है। [क्योंकि धातुपाठ शास्त्र की धातु 'ढौक्' में कहीं न कहीं एच् अवस्थित है ही।] यदि यह मानें कि 'एजन्त जो उपदेश' तो कोई दोष नहीं होता। क्यों, 'एजन्त उपदेश' मानने पर भी तो यहाँ (ढौकिता में) प्राप्त होता है। क्योंकि यह भी उपदेश में व्यपदेशिवद्भाव से एजन्त हो जाएगा? [एक ही अक्षर की उपस्थिति में वही आदि तथा वही अन्त माना जाता है। 'ढौक्' में एक ही एच् है। अतः स्वरों में (ध्यान रहे ढौक् शब्द की दृष्टि से नहीं) वही औ एजन्त भी कहा जाएगा।]

समाधान- **भा०**—अर्थवान् से व्यपदेशिवद्भाव होता है। अतः औ को एजन्त नहीं कह सकेंगे।

क्यों, 'उपदेश में जो एच्' यह अर्थ मानने पर भी दोष नहीं होता। क्योंकि यहाँ अशित् परे रहने पर कहा है। यहाँ 'औ' के पश्चात् हम अशित् नहीं देखते। क्यों, परे वाला ककार ही अशित् है। ककार को अशित् मानकर नहीं हो सकता। क्या कारण है? 'नञिवयुक्तम्....' यह परिभाषा कार्यान्वित होगी। नञ् से युक्त या इव से युक्त होने पर अन्य, परन्तु अन्य सदृश में कार्य समझा जाता है, उससे ही वाक्यार्थ बोधित होता है।

तद्यथा—लोकेऽब्राह्मण-मानयेत्युक्ते ब्राह्मणसदृशमानयति नासौ लोष्ट-मानीय कृती भवति। एवमि-हाप्यशितीति शित्प्रतिषेधादन्यस्मिन्नशिति शित्सदृशे कार्यं विज्ञास्यते। किं चान्यदशिच्छित्सदृशम्? प्रत्ययः॥ इह तर्हि—ग्लै—ग्लानीयम्, म्लै—म्लानीयम्, वेञ्—वानीयम्, शो—निशानीयम्, परत्वादायादयः प्राप्नुवन्ति? ननु चैजन्तं यदुपदेश इत्यपि विज्ञायमाने परत्वादायादयः प्राप्नुवन्ति? सन्तु। आयादिषु कृतेषु स्थानिवद्भावादेज्ग्रहणेन ग्रहणात्पुनरात्त्वं भविष्यति।

ननु चैज्य उपदेश इत्यपि विज्ञायमाने परत्वादायादिषु कृतेषु स्थानिवद्भावादेज्ग्रहणेन ग्रहणादात्त्वं भविष्यति? न भविष्यति। अनल्विधौ स्थानिवद्भावोऽल्विधिश्चायम्॥ एवं तर्ह्येजन्तं यदुपदेश इत्यपि विज्ञायमाने हूतः, हूतवानित्यत्रापि प्राप्नोति? भवत्येवात्रात्वम्। श्रवणं कस्मान्न भवति? पूर्वत्वमस्य भवति। न सिध्यति। इदमिह संप्रधार्यम्—आत्त्वं क्रियतां पूर्वत्वमिति,

---

जैसे—लोक में 'अब्राह्मणमानय' कहने पर [ब्राह्मण भिन्न] ब्राह्मण-सदृश को लाते हैं। कोई भी उसके कार्यान्वयन में मिट्टी का ढेला को लेकर कृतार्थ नहीं होता। इसी प्रकार यहाँ भी 'अशिति' इस प्रतिषेध से शित् सदृश में कार्य समझा जाता है। अन्य अशित्-शित् सदृश क्या है? प्रत्यय।

अच्छा तो फिर ['उपदेश में जो एच् इस पक्ष में] ग्लै—ग्लानीयम्... आदि में परत्व से अय् आदि प्राप्त होते हैं। [क्योंकि 'अशिति' पर्युदास पक्ष में आत्व तथा आय् आदि दोनों परनिमित्तक होने से तुल्य-बल वाले हैं।]

क्यों, 'एजन्त जो उपदेश में' ऐसा मानने पर भी तो परत्व से आय् आदि प्राप्त होते हैं? हो जावें, आय् आदि करने के पश्चात् स्थानिवद्भाव से एच् ग्रहण से गृहीत होने से पुनः आत्व हो जाएगा? क्यों, 'उपदेश में जो एच्' कहने पर भी तो परत्व से आय् आदि कर लेने पर स्थानिवद्भाव से एच् ग्रहण से गृहीत होने से आत्व हो जाएगा? नहीं होगा। अनल्विधि में स्थानिवत् होता है, यह तो अल्-विधि है।

विवरण—'उपदेश में एच्' कहने पर सीधे 'एच् के स्थान में आत्व' कहने से षष्ठी 'अलः विधिः' है। पर 'एजन्त उपदेश के अन्त को आत्व' कहने पर सीधे अलः विधिः नहीं है।

भा०—अच्छा तो फिर, [एजन्त उपदेश पक्ष में दोष—] 'एजन्त उपदेश में' यह मानने पर हूतः, हूतवान् यहाँ भी [ह्वे धातु के एकार को आत्व] प्राप्त होता है। यहाँ आत्व होता ही है। फिर उसका श्रवण क्यों नहीं होता? ['ह् उ आ त' इस दशा में 'सम्प्रसारणाच्च' (६.१.१०४) से] पूर्वरूप हो जाता है। नहीं सिद्ध होता। यहाँ यह सम्प्रधारणा करें कि आत्व पहले हो या पूर्वरूप?

किमत्र कर्तव्यम्? परत्वात्पूर्वत्वम्। एवं तर्हीदमिह संप्रधार्यम्—आत्त्वं क्रियतां संप्रसारणमिति, किमत्र कर्तव्यम्? परत्वादात्त्वम्। नित्यं संप्रसारणम्। कृतेऽप्यात्त्वे प्राप्नोत्यकृतेऽपि। आत्त्वमपि नित्यम्। कृतेऽपि संप्रसारणे प्राप्नोत्यकृतेऽपि। अनित्यमात्त्वं न हि कृते संप्रसारणे प्राप्नोति। किं कारणम्? अन्तरङ्गं पूर्वत्वं तेन बाध्यते। यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते न तदनित्यम्। न च संप्रसारणमेवात्त्वस्य निमित्तं विहन्ति। अवश्यं लक्षणान्तरं पूर्वत्वं प्रतीक्ष्यम्। उभयोर्नित्ययोः परत्वादात्त्वे कृते संप्रसारणं संप्रसारण-पूर्वत्वम्। कार्यकृतत्वात्पुनरात्त्वं न भविष्यति। अथापि कथंचिदात्त्वमनित्यं स्यात्, एवमपि न दोषः। उपदेशग्रहणं न करिष्यते॥

क्या करना चाहिये? परत्व से पूर्वरूप। अच्छा तो यह सम्प्रधारणा करें कि पहले आत्व हो या सम्प्रसारण। क्या करना चाहिये? परत्व से सम्प्रसारण। सम्प्रसारण नित्य है, आत्व करने पर भी पाता है, न करने पर भी। आत्व भी नित्य है, सम्प्रसारण करने पर भी पाता है, न करने पर भी। आत्व अनित्य है, सम्प्रसारण करने पर नहीं पाता। क्या कारण है? पूर्वरूप अन्तरङ्ग है, उसके द्वारा बाधा जाता है।

विवरण—इस प्रकार यह स्थापित हुआ कि यदि आत्व के अनित्य होने से सम्प्रसारण पहले हो तथा पूर्वरूप अन्तरङ्ग होने से वह भी आत्व से पहले हो तो 'ह्+उ+त' इस दशा में 'एजन्तं यदुपदेशे' इस पक्ष में उकार के स्थान में आत्व प्राप्त होता है। क्योंकि यह उपदेश में तो एजन्त था ही। इस प्रकार अभी तक इस पक्ष में दोष की स्थापना हुई है। आगे समाधान प्रस्तुत करते हैं—

भा०—जिसका अन्य लक्षण से [भाष्य में 'च' यह तु के अर्थ में है। क्योंकि यह दोष नहीं अपितु समाधान-भाष्य है।] निमित्त का विघात हो, वह अनित्य नहीं होता। यहाँ सम्प्रसारण आत्व के निमित्त का विघात नहीं करता, अपितु अन्य लक्षण-पूर्वत्व की प्रतीक्षा करनी होगी। दोनों के नित्य होने पर परत्व से आत्व होकर सम्प्रसारण, सम्प्रसारण पूर्वत्व होगा। [अब 'आत्व-विधि' एक बार अपना कार्य पूर्ण कर चुकी है, अतः 'एजन्तं यदुपदेशे' पक्ष में दुबारा आत्व की प्राप्ति होने पर भी 'सकृल्लक्ष्ये लक्षणं प्रवर्तते' इस न्याय से] कृतकार्य होने से पुनः आत्व नहीं होगा। [इस न्याय के अनुसार कोई भी सूत्र एक बार प्रवृत्त होकर अपनी सावकाशता पूर्ण करने के पश्चात् दूसरी बार प्रवृत्त नहीं होता। इस प्रकार आत्व के नित्य होने से उसके पहले प्रवृत्त होने से कोई दोष नहीं होगा, यह समाधान प्रस्तुत हुआ।]

यदि किसी प्रकार आत्व अनित्य भी हो तो भी कोई दोष नहीं है—उपदेश ग्रहण नहीं करेंगे। [इससे सम्प्रसारण-पूर्वत्व हो जाने पर एजन्त रहा ही नहीं, अतः दोष न होगा।]

यदि न क्रियते चेता, स्तोतेत्यत्रापि प्राप्नोति ? नैष दोषः। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—न परनिमित्तकस्यात्त्वं भवतीति, यदयं क्रीङ्जीनां णावात्त्वं शास्ति। नैतदस्ति ज्ञापकम्। नियमार्थमेतत्स्यात्। क्रीङ्जीनां णावेवेति। यत्तर्हि 'मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च' (५०) इत्यत्रैज्ग्रहणमनुवर्तयति ? इह तर्हि—ग्लै—ग्लानीयम्, म्लै—म्लानीयम्, वेञ्—वानीयम्, शो—निशानीयम्, परत्वादायादयः प्राप्नुवन्ति ? अत्राप्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—नायादय आत्त्वं बाधन्त इति यदयमशितीति प्रतिषेधं शास्ति। यदि हि बाधेरञ्शित्यपि बाधेरन्॥

यदि [उपदेश-ग्रहण] नहीं करेंगे तो चेता, स्तोता यहाँ भी [आत्व] प्राप्त होता है। आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापित करती है कि पर को निमित्त मान कर निर्मित होने वाले एच् के स्थान में आत्व नहीं होता। जो 'क्रीङ्जीनां णौ' से आत्व का शासन किया है। [यदि ऐसी दशा में भी आत्व होता, तब तो णिच् परे रहने पर वृद्धि द्वारा निर्मित ऐकार के स्थान में स्वतः आत्व हो जाता। पुनः यह सूत्र ऐसी दशा में आत्व न होने को ज्ञापित करता है।]

यह ज्ञापक नहीं है। यह तो नियमार्थ हो सकता है, क्री इत्यादि का णि परे रहने पर ही आत्व होता है। [विधि सिद्ध होने पर नियमार्थ होती है, यह प्रकट है।]

तो फिर 'मीनातिमिनोति....' सूत्र में जो एच् की अनुवृत्ति लाते हैं, [वह इसका ज्ञापक है। अनुवृत्ति द्वारा इस सूत्र से एच् के स्थान में आत्व होता है। पर यह कार्य तो 'आदेचः अशिति' द्वारा हो ही जाता। पुनः इससे आत्व-करण ज्ञापकार्थ सिद्ध होता है।]

अच्छा तो फिर ग्लै—ग्लानीयम्... आदि में परत्व से आय् आदि प्राप्त होते हैं। [उपदेश ग्रहण न करने पर यह दोष होगा। उपदेश ग्रहण करने पर आय् आदि के पश्चात् भी उपदेश में तो एच् था ही, यह मान कर आत्व हो सकेगा।]

यहाँ आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापक है कि आयादि आत्व को नहीं बाधते, जो 'अशिति' इस प्रतिषेध का शासन किया है। यदि [आयादि आत्व को] बाधते तब तो शित् में भी बाध लेते। ['अशिति' इस प्रतिषेध का आरम्भ 'ग्लायति' आदि में आत्व के निवारण के लिये है। यदि यहाँ आयादि आत्व को बाधते तब तो 'अशिति' प्रतिषेध की आवश्यकता ही नहीं थी। इससे ज्ञापित होता है कि आयादि आत्व को नहीं बाधते।]

विवरण—इससे पूर्व 'एज्य उपदेशे' इस पक्ष में यह दोष प्रदान किया गया था। वहाँ अल्विधि में स्थानिवत् न होने से आत्व की अप्राप्ति का दोष माना था। वहाँ 'एजन्तं यदुपदेशे' पक्ष में इस दोष को समाहित मान लिया था। परन्तु यहाँ

अथवा पुनरस्त्वेज्य उपदेश इति। ननु चोक्तं—ग्लै—ग्लानीयम्, म्लै—म्लानीयम्, वेञ्—वानीयम्, शो—निशानीयम्, परत्वादायादयः प्राप्नुवन्तीति ? अत्रापि शित्प्रतिषेधो ज्ञापको नायादय आत्त्वं बाधन्त इति॥

आत्त्व एश्युपसंख्यानम्॥ १॥

पक्षान्तर मानते हुए इस पक्ष में इसी दोष को प्रस्तुत कर रहे हैं। यहाँ यह मान रहे हैं कि अप्रधान रूप से अलाश्रय होने पर भी वह अल्विधि होती है तथा वहाँ भी स्थानिवत् का प्रतिषेध होता है। इस प्रकार इस पक्ष में भी दोष की प्रस्तुति मानते हुए 'अशिति' ज्ञापक का नया समाधान दिया है। पर यदि इसे ज्ञापक से सिद्ध करना है तब तो इसी ज्ञापक से 'एज्य उपदेशे' पक्ष में भी दोष नहीं होगा। इस तथ्य को आगे प्रस्तुत कर रहे हैं—

भा०—अथवा 'एज्य उपदेशे' यही पक्ष मान्य हो। इस पक्ष में तो ग्लानीयम् आदि में परत्व से आयादि का दोष प्रस्तुत किया था ? यहाँ भी पूर्वोक्त रीति से शित् प्रतिषेध ज्ञापक है कि आयादि आत्व का बाधन नहीं करते।

विशेष—प्रस्तुत विवेचना-क्रम में पक्षान्तर का उपयोग करते हुए अपने पक्ष के स्थापन के पश्चात् उसे बदल कर अन्य पक्ष में अपनी बातें प्रस्तुत की हैं—

इसमें 'उपदेश में जो एच्' तथा 'एजन्त जो उपदेश में' ये दो पक्ष उठाए गए हैं। यहाँ 'उपदेश में जो एच्' पक्ष में 'ग्लानीयम्' में आत्व की अप्राप्ति का दोष दिया है। क्योंकि यहाँ अल्-विधि में स्थानिवद्भाव नहीं हो सकेगा। एजन्त उपदेश पक्ष में इस दोष को समाहित मान लिया है।

पर आगे चल कर इसी 'एजन्त उपदेश' पक्ष में यही दोष प्रस्तुत किया है। इसे भी अल्-विधि मानते हुए इसे असमाहित मान लिया है। इस प्रकार यह दोष स्थिर किया गया कि परत्व से आयादि के पश्चात् आत्व-प्राप्ति नहीं हो सकेगी।

परन्तु हूतः, हूतवान् में 'अन्तरङ्गं पूर्वत्वं तेन बाध्यते' यहाँ तक दोष-प्रस्तुति के समय यह मान लिया गया कि सम्प्रसारण और पूर्वत्व के पश्चात् भी आत्व की प्राप्ति होगी। इस दोष की प्रस्तुति अन्य सूत्रार्थ को मान कर—'उपदेशे यदेजन्तं दृष्टम्' अर्थात् उपदेश में यदि एजन्त देखा गया तो आगे उसके न दिखने पर भी आत्व—अर्थ मानकर किया गया है। इस प्रकार यह 'ह्वे' धातु उपदेश में तो एजन्त थी ही—ऐसा मानकर दोष दिया गया।

अलग-अलग रीति से विचार-विमर्श के पश्चात् अन्त में समुचित समाधान प्रस्तुत किया गया है। 'ग्लानीयम्' 'अशिति' प्रतिषेध के ज्ञापक से आयादि से पूर्व ही आत्व होता है। 'हूतः' में परत्व से आत्व के पश्चात् सम्प्रसारण-पूर्वत्व होने से आत्व का श्रवण नहीं होगा।

वा०—आत्व में एश् परे रहने पर उपसङ्ख्यान।

आत्त्व एश्युपसंख्यानं कर्तव्यम्। जग्ले, मम्ले। अशितीति प्रतिषेधः प्राप्नोति॥ नैष दोषः। नैवं विज्ञायते शकार इद्यस्य सोऽयं शित्, न शिद्—अशित्, अशितीति। कथं तर्हि? शकार इत्—शित्, न शिद्—अशित्, अशितीति। यद्येवं स्तनंधय इत्यत्रापि प्राप्नोति? अत्रापि शप् शिद्भवति॥

किं पुनरयं पर्युदासो यदन्यच्छित इति, आहोस्वित्प्रसज्यायं प्रतिषेधः शिति नेति? कश्चात्र विशेषः?

अशित्येकादेशे प्रतिषेध आदिवत्त्वात्॥ २॥

भा०—आत्व के सन्दर्भ में एश् परे रहने पर [आत्व का] उपसङ्ख्यान करना चाहिये। जग्ले, मम्ले। [यहाँ ग्लै से लिट् के स्थान में 'लिटस्तझयो...' (३.४.८१) से एश् आदेश करने पर] 'अशिति' से प्रतिषेध की प्राप्ति होती है। यह दोष नहीं है। इसे इस प्रकार [बहुव्रीहि समास के रूप में] नहीं समझा जाता—शकार इत् है जिसका...इस रूप में। तो फिर किस प्रकार? शकार ही जो इत्....[इस प्रकार समानाधिकरण समास है। बहुव्रीहि समास करने से पूरा प्रत्यय कहा जाता है। समानाधिकरण समास से इत् विशिष्ट केवल एक अक्षर कहा जाता है। इससे 'यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे' परिभाषा के लगने से शिदादि प्रत्यय परे रहने पर आत्व-निषेध कार्य होता है। एश् के शिदादि न होने से आत्व निषेध नहीं होगा।]

तब तो 'स्तनन्धयः' यहाँ [धे धातु के पश्चात् खश् प्रत्यय के शिदादि न होने से आत्व-प्रतिषेध न होने से आत्व] प्राप्त होता है। यहाँ भी शप् शिदादि है। [अतः आत्व-प्रतिषेध हो जाएगा।]

[प्रसङ्गान्तर—] क्या यहाँ पर्युदास-प्रतिषेध है—शित् से भिन्न में होता है। अथवा प्रसज्य-प्रतिषेध है—शित् में नहीं होता।

विवरण—इसकी व्याख्या 'सुडनपुंसकस्य' आदि सूत्रों में अनेकधा उपलब्ध है। पर्युदास में नञ् का सम्बन्ध सत्त्ववाचक उत्तरपद के साथ होता है। इस दशा में गमक होने से समर्थ-समास होता है। अतः इसमें 'नञिवयुक्तम्...' परिभाषा अन्वित होने से शिद्भिन्न शित्सदृश में कार्य होता है। इस दशा में यह सूत्र शित् में निषेध नहीं करता, अपितु तद्भिन्न तत्सदृश में विधान करता है। अतः यदि कहीं शित् अशित् दोनों की उपस्थिति है, वहाँ शित् आश्रित निषेध नहीं होगा। अपितु शित् सदृश आश्रित आत्व-विधान होगा।

प्रसज्य-प्रतिषेध में नञ् का सम्बन्ध क्रिया के साथ होता है। यहाँ उत्तरपद के साथ सीधा सम्बन्ध न होने से असमर्थ समास होता है। तब शित् परे रहने पर निषेध होता है। इस स्थिति में शिद्भिन्न शित्सदृश की उपस्थिति में यदि शित् भी उपस्थित है तो तदाश्रित निषेध अवश्य होगा।

वा०—अशित् होने पर एकादेश में प्रतिषेध, आदिवत् होने से।

अशित्येकादेशे प्रतिषेधो वक्तव्यः। ग्लायन्ति, म्लायन्ति। किं कारणम्? आदिवत्त्वात्। शिदशितोरेकादेशोऽशित आदिवत्स्यात्। अस्त्यन्यच्छित इति कृत्वात्त्वं प्राप्नोति॥

प्रत्ययविधिः॥ ३॥

प्रत्ययविधिश्च न सिध्यति। सुग्लः, सुम्लः। आकारान्तलक्षणः प्रत्ययविधिर्न प्राप्नोति। अनिष्टे प्रत्ययेऽवस्थित आत्त्वम्। अनिष्टस्य प्रत्ययस्य श्रवणं प्रसज्येत॥

अभ्यासरूपं च॥ ४॥

अभ्यासरूपं च न सिध्यति। जग्ले, मम्ले। इवर्णाभ्यासता प्राप्नोति॥

भा०—'अशित्' [इस प्रकार पर्युदास-पक्ष में] एकादेश में प्रतिषेध कहना चाहिये। ग्लायन्ति...आदि। क्या कारण है? आदिवत् होने से। शित्-अशित् का एकादेश अशित् का आदिवत् होगा। इस स्थिति में शित् से भिन्न तो है ही, अतः आत्व प्राप्त होता है। [यहाँ 'ग्लाय् अ अन्ति' इस दशा में 'अतो गुणे' (६.१.९४) से पररूप होकर 'ग्लाय् अन्ति' बनता है। यह पररूप 'अ' 'अन्तादिवच्च' (६.१.८२) से पर अशित् के आदि के समान मान्य होने से अशित् कहा जाएगा। अतः आत्व प्राप्त होगा। प्रसज्य-प्रतिषेध-पक्ष में यह पूर्व के अन्तवत् द्वारा शित् भी है। अतः शित् में निषेध कार्यशील होने से कोई दोष नहीं होगा।]

वा०—प्रत्यय-विधि भी।

भा०—प्रत्यय-विधि भी सिद्ध नहीं होगी—सुग्लः आदि। [आतश्चोपसर्गे (३.१.१३६) से] आकारान्त लक्षण प्रत्ययविधि 'क' नहीं पाती। अपितु अनिष्ट प्रत्यय ['नन्दिग्रहि...' (३.१.१३४) से अच् की उपस्थिति में आत्व होगा।] इससे अनिष्ट प्रत्यय के श्रवण की प्राप्ति होगी। [पर्युदास पक्ष में शित् सदृश किसी प्रत्यय का परे होना अनिवार्य है अतः इससे आत्व से पूर्व ही कोई प्रत्यय लाना होगा। इस प्रकार अनिष्ट अच् परे रहने पर आत्व करें तो कित् परे न होने से आकारलोप न होने से अनिष्ट रूप बनेगा।]

वा०—अभ्यासरूप भी।

भा०—अभ्यासरूप भी सिद्ध नहीं होता। जग्ले आदि। इवर्णाभ्यासता प्राप्त होती है। [इस पर्युदास पक्ष में एश् जैसे किसी प्रत्यय की पर-उपस्थिति में ही आत्व होगा। इस प्रकार 'ग्ला ए' इस दशा में द्विर्वचनेऽचि से स्थानिवद्भाव के साथ द्विर्वचन होने पर 'ग्लै ग्ला ए' दशा में हलादिशेष होने पर इवर्णसहित अभ्यासरूप बनेगा। प्रसज्य प्रतिषेध में एश् प्रत्यय से पहले ही आत्व होगा। इस प्रकार द्विर्वचन का निमित्त जो 'एश्' अच् है, वह अजादेश का निमित्त नहीं है, इसलिये स्थानिवद्भाव न होने से दोष नहीं होगा।]

अयवायावां प्रतिषेधश्च॥ ५॥

अयादीनां च प्रतिषेधो वक्तव्यः। ग्लै—ग्लानीयम्, म्लै—म्लानीयम्, शो—निशानीयम्, वेञ्—वानीयम्। परत्वादायादयः प्राप्नुवन्ति। अस्तु तर्हि प्रसज्यप्रतिषेधः—शिति नेति।

शिति प्रतिषेधे श्लुलुकोरुपसंख्यानं ररीध्वम् त्राध्वम् शिशीते॥ ६॥

शिति प्रतिषेधे श्लुलुकोरुपसंख्यानं कर्तव्यम्। दिवो नों वृष्टिं मरुतो ररीध्वम्। लुक्। त्राध्वं नो देवा निजुरो वृकस्य। शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे॥ नैष दोषः। इह तावद्—दिवो नो वृष्टिं मरुतो ररीध्वमिति। नैतद्रै इत्यस्य रूपम्। कस्य तर्हि? रातेर्दानकर्मणः।

वा०—अय् अव् आदि का प्रतिषेध।

भा०—अय् आदि का प्रतिषेध भी कहना होगा। ग्लै—ग्लानीयम् आदि। परत्व से आयादि प्राप्त होते हैं। [पर्युदास में शित् भिन्न प्रत्यय परत्व होने पर ही आत्व होगा। प्रत्यय आने के पश्चात् परत्व से आयादि प्राप्त होंगे।]

अच्छा तो फिर प्रसज्य-प्रतिषेध है—शित् परे रहने पर नहीं।

वा०—शित् परे रहने पर प्रतिषेध में श्लु, लुक् में उपसङ्ख्यान—ररीध्वम्...आदि।

भा०—[प्रसज्य-प्रतिषेध में वाक्यभेद से] शित् परे रहने पर प्रतिषेध में श्लु, लुक् में उपसङ्ख्यान करना चाहिये। दिवो नो वृष्टिं मरुतो ररीध्वम् (ऋ० ५.८३.६ अर्थ—मरुद्गण द्युलोक से हमारे लिये वृष्टि प्रदान करें)। लुक्—त्राध्वं नो देवा निजुरो वृकस्य (ऋ० २.२९.६ अर्थ—देवगण हननशील भेडियों से हमें बचावें)। शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे (ऋ० ५.२.९) अर्थ—राक्षसों के विनाश के लिये वृषभ या अग्नि अपनी शृंग सदृश ज्वाला को तीक्ष्ण करती है)।

यह दोष नहीं है। यहाँ 'दिवो नो वृष्टिं...' में यह [भ्वादि परस्मैपद] 'रै शब्दे' (६४९) धातु का रूप नहीं है। तो फिर किसका? [अदादि परस्मैपद] दानकर्मा 'रा' (५०) धातु का रूप है।

विवरण—'रै शब्दे' का रूप मानने पर रै से लोट्, व्यत्यय से आत्मनेपद में मध्यम पुरुष बहुवचन का 'ध्वम्' प्रत्यय। शप् का 'बहुलं छन्दसि' (२.४.७६) से श्लु। 'रै+ध्वम्' इस दशा में प्रत्ययलक्षण से शप्—शित् परे मानते हुए आत्वनिषेध की प्राप्ति होती है। पर पर्युदास में शिद्भिन्न ध्वम् परे रहने पर आत्व सिद्ध होता है। 'रा' धातु से सिद्ध करने पर आत्व की आवश्यकता नहीं। इस दशा में 'ई हल्यघोः' (६.४.११३) से ईत्व होकर 'ररीध्वम्' सिद्ध होगा। यहाँ 'प्रदान करना' अर्थ सुसङ्गत होने से भाष्यकार द्वारा 'रा दाने' से सिद्ध करना अत्यन्त समीचीन है।

शिशीते शृङ्गे इति नैतच्छ्यते रूपम्। कस्य तर्हि? शीङः। श्यत्यर्थो वै गम्यते। कः पुनः श्यतेरर्थः? श्यतिर्निशाने वर्तते। शीङपि श्यत्यर्थे वर्तते। कथं पुनरन्यो नामान्यस्यार्थे वर्तते? बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति। तद्यथा— वपिः प्रकिरणे दृष्टश्छेदने चापि वर्तते—केशान्वपतति। ईडिः स्तुतिचोदना-याच्ञासु दृष्टः, प्रेरणे चापि वर्तते—अग्निर्वा इतो वृष्टिमीट्टे मरुतोऽमुत-श्च्यावयन्ति। करोतिरभूतप्रादुर्भावे दृष्टो निर्मलीकरणे चापि वर्तते—पृष्ठं कुरु। पादौ कुरु। उन्मृदानेति गम्यते। निक्षेपणे चापि वर्तते—घटे कुरु। कटे कुरु। अश्मानमितः कुरु। स्थापयेति गम्यते॥ सर्वेषामेव परिहारः— शितीत्युच्यते न चात्र शितं पश्यामः। प्रत्ययलक्षणेन। न लुमता तस्मिन्निति प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधः॥ त्राध्वमिति लुङेष व्यत्ययेन भविष्यति॥

भा०—'शिशीते' यह 'शो तनूकरणे' (दिवा० ३६) वाली धातु का रूप नहीं है। तो फिर किसका है? शीङ् (अदा० २५) का। [शो धातु से लट्, व्यत्यय से आत्मनेपद, शप्, उसका श्लु। 'शो त' इस दशा में पर्युदास पक्ष में आत्व सिद्ध होता है। पुनः द्विर्वचन, 'बहुलं छन्दसि' (७.४.७८) से अभ्यास को इकार तथा 'ई हल्यघोः' (६.४.११३) से ईत्व होकर 'शिशीते' सिद्ध होता है। 'शीङ्' धातु से यह स्वतः सिद्ध है।]

पर यहाँ [मन्त्र में] तो श्यति का अर्थ प्रकट होता है। शो धातु का क्या अर्थ है? शो धातु निशान=तेज करना अर्थ में है। 'शीङ्' भी श्यति='तेज करना' अर्थ में है। [यह भाष्यकार वचन प्रामाण्य से है। साहित्य में या लोक में सोना अर्थ वाले 'शेते' शब्द 'तेज करना' अर्थ में नहीं देखा गया है।]

अन्य शब्द अन्य अर्थ में किस प्रकार है? धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं। जैसे 'वप्' धातु बोने अर्थ में है, पर काटने अर्थ में भी है। जैसे केशान् वपति [इस सम्पूर्ण प्रकरण का अर्थ तथा विशेष वक्तव्य 'सन्यडोः' (६.१.९) सूत्र में कहा जा चुका है। वहीं देखें।]

सभी का परिहार यह है— वहाँ शित् परे रहने पर [निषेध] कहा है। यहाँ शित् परे नहीं है। [इससे 'शिशीते शृङ्गे' आदि शो धातु से सिद्ध हो सकेंगे।] प्रत्ययलक्षण से शित्-परत्व प्राप्त होता है। 'न लुमता तस्मिन्' से प्रत्यय-लक्षण प्रतिषेध होगा।

'त्राध्वम्' में व्यत्यय से लुङ् होगा। [त्रै धातु से व्यत्यय से लुङ्, उसके स्थान में ध्वम्, 'च्लेः सिच्' (३.१.४४) से सिच्। 'त्रै स् ध्वम्' इस दशा में 'धि च' (८.२.२५) से सकारलोप, 'बहुलं छन्दसि...' (६.४.७५) से अडभाव। यहाँ लुङ् परे होने से शप् नहीं हुआ है। अतः अशित् परे होने से आत्व हो गया।]

अथवा पुनरस्तु पर्युदासः। ननु चोक्तमशित्येकादेशे प्रतिषेध आदिवत्त्वादिति? नैष दोषः। एकादेशः पूर्वविधौ स्थानिवद्भवतीति स्थानिवद्भावाद् व्यवधानम्। यदपि प्रत्ययविधिरिति, आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—भवत्येजन्तेभ्य आकारान्तलक्षणः प्रत्ययविधिरिति यदयं 'ह्वावामश्च' (३.२.२.) इत्यणं कबाधनार्थं शास्ति॥ यदप्यभ्यासरूपमिति, प्रत्याख्यायते स योगः। अथापि क्रियते। एवमपि न दोषः। कथम्? लिटीत्यनुवर्तते द्विलकारकश्चायं निर्देशः। लिटि लकारादाविति। एवं च कृत्वा सोऽप्यदोषो भवति यदुक्तमात्त्व एश्युपसंख्यानमिति॥

यदप्युक्तमयवायावां प्रतिषेधश्चेति, शिति प्रतिषेधो ज्ञापको नायादय आत्त्वं बाधन्त इति॥

अथवा पर्युदास पक्ष मान्य होवे। इस पर तो 'अशित्येकादेशे...' दोष दिया गया था? यह दोष नहीं है। एकादेश पूर्वविधि में स्थानिवद् होता है [इस 'अचः परस्मिन्....' के नियम से] स्थानिवत् होने से [अशित् का] व्यवधान होगा। [इस प्रकार सीधे शित् परे मिलने से आत्व का प्रतिषेध हो जाएगा।]

यह जो 'प्रत्ययविधि' दोष कहा है। इस पर आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापित करती है कि एजन्त धातुओं से आकारान्त लक्षण प्रत्ययविधि होती है, जो 'ह्वावामश्च' सूत्र से 'क' का बाधन करने के लिये अण् का शासन किया है। [यदि 'ह्वे' धातु को आत्व तथा उसे मान कर होने वाले 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३.२.३) से पहले अण् होता तो इस सूत्र से अण् के शासन की आवश्यकता नहीं थी। फिर भी इस सूत्र के आरम्भ से ज्ञात होता है कि आत्व पहले होता है।]

यह जो 'अभ्यासरूपम्' कहा है, उस पर कहना है कि [द्विर्वचनेऽचि] सूत्र का प्रत्याख्यान किया गया है। यदि प्रत्याख्यान नहीं करते हैं, तो भी दोष नहीं है। किस प्रकार? [इस सूत्र में 'लिटि वयो यः' सूत्र से] लिटि की अनुवृत्ति है। साथ ही उस सूत्र में [ल्लिटि] इस प्रकार द्विलकार निर्देश है। इससे अर्थ होगा—शिद्भिन्न शित्सदृश परे रहने पर आत्व होता है, पर लिट् में तो लकारादि लिट् परे रहने पर आत्व होता है। इस प्रकार यह अजादेश द्विर्वचन-निमित्तक अच् परे रहने पर नहीं हुआ है। एश् द्विर्वचन का निमित्त है, पर उसके परे रहने पर अजादेश नहीं है। अतएव स्थानिवत् नहीं होगा। ऐसा मानने पर उस पर भी दोष नहीं आता—जो कहा था—'आत्वे एश्युपसङ्ख्यानम्'। [इस नए पक्ष में शिदादि प्रत्यय की अपेक्षा से नहीं, अपितु लकारादि लिट् की अपेक्षा से आत्व होगा।]

यह जो कहा था कि 'आय् आदि में प्रतिषेध'। यहाँ पूर्वोक्त रीति से शित् प्रतिषेध ज्ञापक है कि आयादि आत्व का बाधन नहीं करते हैं।

विवरण—इस प्रकार यहाँ दोनों पक्ष सिद्ध कर दिये गए हैं। परन्तु प्रसज्य-

प्रातिपदिकप्रतिषेधः ॥ ७ ॥

प्रातिपदिकानां प्रतिषेधो वक्तव्यः। गोभ्याम्, गोभिः। नौभ्याम्, नौभिः॥ स तर्हि वक्तव्यः ? न वक्तव्यः। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—न प्रातिपदिकानामात्त्वं भवतीति, यदयं 'रायो हलि' (७.२.८५) इत्यात्त्वं शास्ति। नैतदस्ति ज्ञापकम्। नियमार्थमेतत्स्यात्। रायो हल्येवेति। यत्तर्हि 'औतोऽम्शसोः' (६.१.९३) इत्यात्वं शास्ति। एतस्याप्यस्ति वचने प्रयोजनम्। अमि वृद्धिबाधनार्थमेतत्स्याच्छसि प्रतिषेधार्थं च। तस्मात्प्रातिपदिकानां प्रतिषेधो वक्तव्यः॥ न वक्तव्यः।

धात्वधिकारात्प्रातिपदिकस्याप्राप्तिः ॥ ८ ॥

धात्वधिकारात्प्रातिपदिकस्यात्त्वं न भविष्यति। धातोरिति वर्तते।

प्रतिषेध अनायास-गम्य होने से ज्यायान् है।

वा०—प्रातिपदिक-प्रतिषेध।

भा०—प्रातिपदिकों के [आत्व का] प्रतिषेध करना चाहिये। गोभ्याम् इत्यादि। [गो जैसे शब्दों में गम् धातु से औणादिक 'डो' (२.६८) प्रत्यय होने से यह ओकार उपदेश में एच् होने से इसे आत्व की प्राप्ति होती है।]

तो फिर इसे कहना चाहिये ? नहीं कहना चाहिये। आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापित करती है कि प्रातिपदिकों के [एच् को] आत्व नहीं होता। जो 'रायो हलि' का शासन किया है। [यदि प्रातिपदिक को आत्व होता तो इस सूत्र से रै प्रातिपादिक को आत्व करना निरर्थक होता।]

यह ज्ञापक नहीं है। यह तो नियम के लिए सार्थक हो सकता है—यदि रै प्रातिपदिक को हो तो हल् परे रहने पर ही हो। अच्छा तो फिर 'औतोऽम्शसोः' सूत्र से जो [ओकारान्त शब्दों को] आत्व का शासन किया है [वह पूर्वोक्त रीति से ज्ञापकार्थ हो सकता है।] इसके वचन में भी प्रयोजन हो सकता है—अम् परे रहने पर वृद्धि बाधन के लिये यह हो सकता है, शस् परे रहने पर प्रतिषेध के लिये भी। [अम् परे रहने पर 'गोतो णित्' (७.१.९०) से णित्वत् होने से वृद्धि की प्राप्ति होती है। शस् परे रहने पर 'आदेच...' सूत्र में 'अशिति' कहने से आत्व-निषेध की प्राप्ति होती है। इनका बाधन करते हुए आत्व के लिए 'औतोऽम्शसोः' सार्थक हो सकता है।] अतः प्रातिपदिकों को आत्व का प्रतिषेध कहना चाहिये। नहीं कहना चाहिये।

वा०—धात्वधिकार होने से प्रातिपदिक को अप्राप्ति।

भा०—'धातु' का अधिकार होने से प्रातिपदिक को आत्व नहीं होगा। 'धातोः'

क्व प्रकृतम् ? 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६.१.८) इति॥ अथापि निवृत्तम्। एवमप्यदोषः। उपदेश इत्युच्यत उद्देशश्च प्रातिपदिकानां नोपदेशः॥

क्रीङ्जीनां णौ॥ ६.१.४८॥

आत्त्वे णौ लीयतेरुपसंख्यानं प्रलम्भनशालीनीकरणयोः॥ १॥

आत्त्वे णौ लीयतेरुपसंख्यानं कर्तव्यम्। किं प्रयोजनम् ? प्रलम्भने चार्थे शालीनीकरणे च नित्यमात्त्वं यथा स्यात्। प्रलम्भने तावत्— जटाभिरालापयते। श्मश्रुभिरालापयते। शालीनीकरणे—श्येनो वर्तिकामुल्लापयते। रथी रथिनमपलापयते॥

सिध्यतेरपारलौकिके॥ ६.१.४९॥

सिध्यतेरज्ञानार्थस्य॥ १॥

की अनुवृत्ति है। यह कहाँ से प्रकृत है ?'लिटि धातोरनभ्यासस्य' से। यदि निवृत्त भी हो तो भी कोई दोष नहीं है। सूत्र में 'उपदेशे' कहा गया है। प्रातिपदिकों के प्रत्यय आदि उद्देश है, 'उपदेश' नहीं।

विशेष—अनिर्ज्ञातस्वरूप वाली वस्तु का स्पष्ट स्वरूप ज्ञापन करते हुए अपूर्व उच्चारण को उपदेश कहते हैं। किन्हीं गुण धर्मों को बताते हुए सङ्केत से प्रतिपादन को 'उद्देश' कहते हैं। आचार्यों ने उणादिशब्दों को अव्युत्पन्न बताते हुए यह माना है कि इनके विधायक सूत्र प्रायः किसी स्पष्ट नियम से संचालित नहीं होते, अपितु केवल उस शब्दविशेष के गुण-धर्म को देखकर प्रत्येक के लिये अलग-अलग व्युत्पत्ति का संकेत प्रदान करते हैं। आचार्यों ने इस स्थिति को उद्देश कहा है।

क्रीङ्जीनां णौ॥

वा०—णि परे रहने पर आत्व में ली का उपसङ्ख्यान, प्रलम्भन, शालीनीकरण में।

भा०—णिच् परे रहने पर आत्व के प्रसङ्ग में ली धातु का उपसङ्ख्यान करना चाहिये, प्रलम्भन=फुसलाना, शालीनीकरण=दबाना या तिरस्कार करना अर्थ में। क्या प्रयोजन है ? ['विभाषा लीयतेः' (६.१.५०) सूत्र से विकल्प की प्राप्ति में] प्रलम्भन तथा शालीनीकरण अर्थ में नित्य आत्व हो जावे। प्रलम्भन में—जटाभिरालापयते=जटाओं से फुसलाता है। शालीनीकरण में—श्येनो वर्तिकामुल्लापयते=बाज बत्तख को झपट कर दबाता है। रथी रथिनमपलापयते=रथी दूसरे रथी को आक्रमण करके दबाता है। [यहाँ नित्य आत्व हुआ]

सिध्यतेरपारलौकिके॥

वा०—सिध् अज्ञानार्थक का।

सिध्यतेरज्ञानार्थस्येति वक्तव्यम्॥

इतरथा ह्यनिष्टप्रसङ्गः॥ २॥

अपारलौकिक इत्युच्यमानेऽनिष्टं प्रसज्येत। अन्नं साधयति ब्राह्मणेभ्यो दास्यामीति॥ अस्ति पुनरयं सिध्यतिः क्वचिदन्यत्रापि ज्ञानार्थे वर्तते? अस्तीत्याह—तपस्तापसं सेधयति, ज्ञानमस्य प्रकाशयति। स्वान्येवैनं कर्माणि सेधयन्ति, ज्ञानमस्य प्रकाशयन्तीत्यर्थः।

भा०—सिध् धातु अज्ञानार्थक का [आत्व होता है] ऐसा कहना चाहिये। [ताकि पारलौकिक हो या अपारलौकिक, पर ज्ञानभिन्न हो तो आत्व हो जावे।]

वा०—अन्यथा अनिष्ट-प्रसङ्ग।

भा०—'अपारलौकिके' कहने पर अनिष्ट की प्राप्ति होगी। [ज्ञानभिन्न पारलौकिक में आत्व नहीं पाएगा।] अन्नं साधयति, ब्राह्मणेभ्यो दास्यामि (=भोजन बनाता है ताकि ब्राह्मणों को दान दे सके, ताकि परलोकप्राप्ति हो सके।) [यहाँ पारलौकिक होने से आत्व नहीं पाएगा। पर वार्तिककार के अनुसार ज्ञानभिन्न होने से आत्व हो जाएगा। यहाँ साधयति का अर्थ 'जानना' नहीं, अपितु 'बनाना' है।]

क्या यह सिध् धातु कहीं अन्यत्र भी [अपारलौकिकभिन्न अर्थात् पारलौकिक] ज्ञान अर्थ में है? [जहाँ सूत्रकार, वार्तिककार दोनों की दृष्टि से आत्व न होता हो।]

हाँ, है। तपस्तापसं.... (=तपस्या तपस्वी के ज्ञान को प्रकाशित करती है।) स्वान्येवैनं... (=इसके अपने कर्म ही इसके ज्ञान को प्रकाशित करते हैं।) [इस प्रकार यहाँ सूत्रकार, वार्तिककार दोनों समान हैं।]

विवरण—प्रस्तुत स्थिति को तालिका द्वारा प्रदर्शित करते हैं—

सूत्रकार	साम्य	वार्तिककार
१. अपारलौकिक में आत्व।		ज्ञानभिन्न में आत्व।
समान उदाहरण-अन्नं साधयति		समान उदाहरण-अन्नं साधयति
२. अपारलौकिकभिन्न अर्थात् पारलौकिक में आत्व नहीं।		ज्ञान अर्थ में आत्व नहीं।
समान उदाहरण-तपस्तापसं सेधयति		समान उदाहरण-तपस्तापसं सेधयति
	वैषम्य	
१. ज्ञानभिन्न पारलौकिक में आत्वप्राप्ति नहीं।		ज्ञानभिन्न पारलौकिक में आत्व सिद्ध।
अन्नं साधयति, ब्राह्मणेभ्यो दास्यामि		अन्नं साधयति, ब्राह्मणेभ्यो दास्यामि

इससे प्रकट है कि वैषम्य वाले इस उदाहरण में आत्व सिद्ध करने के लिये वार्तिक का आरम्भ किया गया है। इसके लिये काशिकाकार ने माना है कि भोजन बनाने मात्र से पारलौकिकता की सिद्धि नहीं होती। अपितु उस निर्मित भोजन को

मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च॥ ६.१.५०॥

मीनात्यादीनामात्त्व उपदेशवचनं प्रत्ययविध्यर्थम्॥ १॥

मीनात्यादीनामात्व उपदेशिवद्भावो वक्तव्यः। उपदेशावस्थायामात्त्वं भवतीति व्यक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? प्रत्ययविध्यर्थम्। उपदेशावस्थायामात्त्वे कृत इष्टः प्रत्ययविधिर्यथा स्यात्॥ के पुनः प्रत्यया उपदेशिवद्भावं प्रयोजयन्ति? काः। कास्तावन्न प्रयोजयन्ति। किं कारणम्? एच इत्युच्यते न च केष्वेजस्ति॥ णघञ्युज्विधयस्तर्हि प्रयोजयन्ति। ण—अवदायः। आत इति णः सिद्धो भवति। ण। घञ्—अवदायो वर्तते। आत इति घञ् सिद्धो भवति। किं च भो आत इति घञुच्यते?

ब्राह्मणों के लिए दान करने से होती है। इस प्रकार 'साधयति' प्रयोग तक पारलौकिकता न होने से स्वतः आत्व नहीं होगा। अतः यहाँ वार्तिक की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि॥

वा०—मीनाति आदि के आत्व में 'उपदेश में' यह वचन, प्रत्यय विधि के लिये।

भा०—'मीनाति' आदि धातुओं के आत्व के प्रसङ्ग में उपदेशिवद्भाव कहना चाहिये। [जिस प्रकार उपदेश में वर्तमान या, वा धातुओं (उपदेशी) में आकारान्तत्व के आधार पर तदाश्रित प्रत्यय होते हैं, उसी प्रकार 'मी' आदि को भी प्रारम्भ में ही आकारान्त बनाकर तदाश्रित प्रत्यय होवें। भाष्यकार ने वार्तिककार के ही अर्थ को अन्य प्रकार से प्रकट किया है।]

उपदेश अवस्था में आत्व होता है, यह कहना चाहिये। क्या प्रयोजन है? प्रत्ययविधि के लिये। उपदेश अवस्था में आत्व करके इष्ट प्रत्ययविधि हो जावे।

कौन प्रत्यय उपदेशिवद्भाव के प्रयोजन बनते हैं? क, क तथा अङ्। [दोनों 'क' का एकशेष तथा 'अ' के साथ सवर्णदीर्घ। 'आतश्चोपसर्गे' (३.१.१३६) से क, 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३.२.३) से पुनः क तथा 'आतश्चोपसर्गे' (३.३.१०६) से अङ् का ग्रहण है।]

ये 'क' इत्यादि प्रयोजन नहीं बनते। क्या कारण है? [सूत्र में अनुवृत्ति द्वारा] 'एचः' कहा है। [अतः एच् के विषय में ही आत्व होता है।] पर 'क' परे रहने पर [मी आदि धातुओं में] एच् नहीं मिलता। [क्योंकि 'क्ङिति च' (१.१.५) से गुण का प्रतिषेध हो जाता है।]

तो फिर ण, घञ्, युच् विधियाँ इसके प्रयोजन हैं। ण—अवदायः [उपदेश में ही आत्व करने से 'श्याद्व्यधास्रु...' (३.१.१४१) से] ण सिद्ध हो जाता है। घञ्—अवदायो वर्तते। 'आतः' से घञ् सिद्ध हो जाता है। क्यों? घञ् आकारान्त से कहा है क्या?

न खल्वप्यात इत्युच्यते, आतस्तु विज्ञायते। कथम्? अविशेषेण घञुत्सर्गस्तस्येवर्णान्तादुवर्णान्ताच्चाजपावपवादौ। तत्रोपदेशावस्थाया-मात्त्वे कृतेऽपवादस्य निमित्तं नास्तीति कृत्वोत्सर्गेण घञ्सिद्धो भवति। एवं च कृत्वा न चात इत्युच्यत आतस्तु विज्ञायते। युच्—ईषदवदानम् स्ववदानम्। आत इति युच् सिद्धो भवति॥

इदं विप्रतिषिद्धमेच उपदेश इति। यद्येचो नोपदेशेऽथोपदेशे नैचः। एचश्चोपदेशे चेति विप्रतिषिद्धम्॥ नैतद्विप्रतिषिद्धम्। आहायमेच उपदेश इति। यद्येचो नोपदेशेऽथोपदेशे नैचः। ते वयं विषयं विज्ञास्यामः। एज्विषय इति॥

तत्तर्ह्युपदेशग्रहणं कर्तव्यम्? न कर्तव्यम्। प्रकृतमनुवर्तते। क्व प्रकृतम्? 'आदेच उपदेशेऽशिति' (४५) इति। तद्वै प्रकृतिविशेषणं विषयविशेषणेन

आकारान्त से कहा नहीं, पर आकारान्त से समझ लिया जाता है। किस प्रकार? ['भावे' सूत्र से] सामान्य सभी धातुओं से उत्सर्ग घञ् कहा है। उसके इवर्णान्त से [एरच् (३.३.५६) सूत्र से] अच् तथा उवर्णान्त से [ॠदोरप् (३.३.५७) से] अप् अपवाद है। यहाँ उपदेशावस्था में आत्व कर लेने पर ['दी' ईकारान्त से 'एरच्'] अपवाद का निमित्त नहीं है, अतः उत्सर्ग [भावे से] घञ् सिद्ध होता है। इस प्रकार ['भावे' से घञ्] आकारान्त से कहा नहीं गया है, पर आकारान्त से समझा जाता है। युच्—ईषदवदानम्... आदि। [आतो युच् (३.३.१२८) सूत्र से] युच् सिद्ध हो जाता है।

[प्रस्तुत वार्तिक में प्रसङ्गान्तर—] यह विप्रतिषिद्ध है—'एच उपदेशे'। यदि एच् के स्थान में है तो उपदेश में नहीं है। यदि उपदेश में है तो एच् के स्थान में नहीं है। 'एच्' के स्थान में तथा 'उपदेश में' ये दोनों विप्रतिषिद्ध हैं। [मीनाति आदि तीनों धातुएँ उपदेश में एच् अन्त वाली नहीं हैं।]

यह विप्रतिषिद्ध नहीं है। यहाँ 'एच उपदेशे' कहा है। एच् के स्थान में हो तो उपदेश में नहीं, उपदेश में हो तो एच् के स्थान में नहीं। अतः हम 'विषय में' समझेंगे। एच् के विषय में। [जिस प्रत्यय की उपस्थिति में एच् बनने की सम्भावनाएँ निहित हों, उस प्रत्यय से पूर्व ही।]

तो फिर 'उपदेश' ग्रहण किया जावे? नहीं करना चाहिये। यह प्रकृत का अनुवर्तन है। कहाँ से प्रकृत है? 'आदेच उपदेशेऽशिति' से। वहाँ तो [उपदेश] प्रकृति का विशेषण है, यहाँ यह विषय से विशिष्ट है। ['आदेच उपदेशे' में अर्थ है—उपदेश में एजन्त धातु के अन्त्य को आत्व। यहाँ 'मीनाति...' का अर्थ है—एच् विषय होने पर उपदेश में ही मीनाति आदि धातुओं के अन्त्य को आत्व।]

चेहार्थः। न चान्यार्थं प्रकृतमन्यार्थं भवति। न खल्वप्यन्यत्प्रकृतमनुवर्तनादन्यद्भवति। न हि गोधा सर्पन्ती सर्पणादहिर्भवति॥ यत्तावदुच्यते न चान्यार्थं प्रकृतमन्यार्थं भवतीत्यन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं भवति। तद्यथा—शाल्यर्थं कुल्याः प्रणीयन्ते, ताभ्यश्च पानीयं पीयत उपस्पृश्यते च शालयश्च भाव्यन्ते। यदप्युच्यते न खल्वप्यन्यत्प्रकृतमनुवर्तनादन्यद्भवति न हि गोधा सर्पन्ती सर्पणादहिर्भवतीति भवेद् द्रव्येष्वेतदेवं स्यात्। शब्दस्तु खलु येन येनाभिसंबध्यते तस्य तस्य विशेषको भवति। तद्यथा—गौः शुक्लः। अश्वश्च। शुक्ल इति गम्यते॥

निमिमीलियां खलचोः प्रतिषेधः॥ २॥

निमिमीलियां खलचोः प्रतिषेधो वक्तव्यः। ईषन्निमयम्। सुनिमयम्। निमयो वर्तते। निमयः। मि॥ मी—ईषत्प्रमयम्। सुप्रमयम्। प्रमयो वर्तते। प्रमयः। मी॥ ली—ईषद्विलयम्। सुविलयम्। विलयो वर्तते। विलयः॥

अन्य के लिए प्रकृत अन्य के लिए नहीं होता। साथ ही कोई अन्य, आगे चलकर अन्य नहीं बन जाता। कोई गोह 'सरकते-सरकते' सांप नहीं बन जाती!!

यह जो कहा है—अन्य के लिए प्रकृत अन्य के लिए नहीं होता—वास्तव में अन्य के लिए प्रकृत अन्य के लिए भी होता है। जैसे—धान के लिए नहरें, नालियाँ बनाई जाती हैं, उनसे पानी भी पिया जाता है, आचमन-स्नानादि भी किया जाता है, धान भी उगाए जाते हैं।

विशेष—कुल्या का अर्थ छोटी नहरें अथवा नालियाँ हैं। महाभाष्यकार ने यहाँ बताया है कि शालि नामक विशेष प्रकार के धान की सिंचाई के लिए छोटी नहरों का खूब उपयोग होता है। काशिकाकार ने ३.२.११४ सूत्र में मगध के शालि खाने का उल्लेख करते हुए वहाँ के विशेष शालि का संकेत दिया है। यहाँ उनकी सिंचाई के लिए इसी मगध अर्थात् दक्षिणी बिहार की नहरों का वर्णन है।

भा०—यह जो कहा है कि कोई अन्य आगे चलकर अन्य नहीं बन जाता...। हो सकता है, द्रव्यों में ऐसा ही हो। पर शब्द तो जिस-जिस के साथ सम्बन्धित होता है, उस-उसका विशेषक होता है। जैसे 'गौः शुक्लः' के पश्चात् 'अश्वश्च' कहने पर [वही शुक्ल अश्व का विशेषक होने से] वह शुक्ल ऐसा समझा जाता है।

वा०—निमि, मी, ली को खल्, अच् में प्रतिषेध।

भा०—नि उपसर्गपूर्वक मि, मी तथा ली धातुओं को खल् तथा [पचाद्यच् (३.१.१३४) एवं एरच् (३.३.५६) से विहित] अच् परे रहने पर आत्व का प्रतिषेध कहना चाहिये। ईषन्निमयम्.... [यहाँ खल् है।] निमयो वर्तते, निमयः। इत्यादि। [यहाँ क्रमशः पचाद्यच् तथा एरच् हैं।]

विभाषा लीयतेः ॥ ६.१.५१ ॥

किमिदं लीयतेरिति ? लिनातिलीयत्योर्यका निर्देशः ॥

बिभेतेर्हेतुभये ॥ ६.१.५६ ॥

हेतुभय इति किमर्थम् ? कुञ्चिकयैनं भाययति। अहिनैनं भाययति॥ हेतुभय इत्युच्यमानेऽप्यत्र प्राप्नोति। एतदपि हि हेतुभयम्। हेतुभय इति नैवं विज्ञायते—हेतोर्भयं, हेतुभयम्—हेतुभय इति।

विभाषा लीयतेः ॥

भा०—यहाँ 'लीयतेः' यह क्या है। [उत्तर—] [क्र्यादि गण वाली] लिनाति (३३) तथा [दिवादिगणीय] 'लीयति' (२९) इन दोनों का यक् से निर्देश है।

विवरण—यहाँ धातु से 'श्तिप्' प्रत्यय के द्वारा निर्देश है। इस प्रत्यय के परे रहने पर यदि कर्तृवाच्य में निर्देश करते तो श्ना अथवा श्यन् में से कोई एक विकरण लगाना पड़ता। तब उससे अन्य गण वाली धातु अविशेषित होती। अत: यहाँ कर्मवाच्य में श्तिप् प्रत्यय मानते हुए सामान्य यक् विकरण के द्वारा निर्देश है। इससे दोनों धातुएँ विशेषित हो जाती हैं। श्तिप् के अभाव तथा अकर्मवाची होने पर भी यक् विकरण की उत्पत्ति सूत्रकार-वचन-प्रामाण्य से होती है।

बिभेतेर्हेतुभये ॥

भा०—'हेतुभये' क्यों कहा है ? कुञ्चिकयैनं भाययति (=कुञ्जी से डराता है) [जहाँ कर्ता के प्रयोजक साक्षात् हेतु से भय हो, अथवा यह कहें कि साक्षात् हेतु भय का अपादान हो, वहाँ आत्व होता है। जब किसी कुञ्जी आदि करण से भय हो, वहाँ न हो।]

'हेतुभये' ऐसा कहने पर भी यहाँ पाता है। यह भी हेतुभय। [उत्तर—] 'हेतुभये' यहाँ यह नहीं माना गया है, हेतु का भय, हेतुभय [षष्ठी समास]।

विवरण—यहाँ 'हेतुभये' में पञ्चमी-समास मानकर दोष नहीं है। पञ्चमी-समास मानने पर हेतु से साक्षात् भय होने पर ही आत्व होगा। इससे 'कुञ्चिकयैनं भाययति' में असाक्षात् भय में आत्व-प्राप्ति का दोष न होगा। अत: यहाँ विमलमति महाभाष्यकार ने 'हेतु का भय' इस विग्रह में षष्ठी-समास पक्ष में दोष प्रदान किया है। यहाँ कुञ्चिका आदि करण का भी हेतु के साथ परम्परा से सम्बन्ध तो है ही। 'मुण्ड की कुञ्जी से डर' परम्परा से मुण्डसम्बन्धित डर है। अत: षष्ठी-समास में दोष होने से यहाँ इसका निवारण है।

कथं तर्हि ? हेतुरेव भयं, हेतुभयम्—हेतुभय इति। यदि स एव हेतुर्भयं भवतीति ॥

सृजिदृशोर्झल्यमकिति ॥ ६.१.५८ ॥

अमि सङ्ग्रहणम् ॥ १ ॥

अमि सङ्ग्रहणं कर्तव्यम्। किमिदं सङिति ? प्रत्याहारग्रहणम्। क्व संनिविष्टानां प्रत्याहारः ? सनः प्रभृत्यामहिङो ङकारात्। किं प्रयोजनम् ?

क्विप्प्रतिषेधार्थम् ॥ २ ॥

क्विबन्तस्य मा भूत्—रज्जुसृड्भ्याम्, रज्जुसृड्भिः। देवदृग्भ्याम्, देवदृग्भिः ॥

उक्तं वा ॥ ३ ॥

भा०—तो फिर क्या ? हेतु ही भय हेतुभय, हेतुभये। [समानाधिकरण-समास है।] यदि वही हेतु भय भी हो। [इस पक्ष में दोष नहीं है।]

विवरण—इस पक्ष में 'भय' शब्द में अपादान में प्रत्यय है। अतः विग्रह होगा—'बिभेत्यस्मात्'। इस अर्थ में स्वयं हेतु ही भय कहा जावेगा। इस स्थिति में समानाधिकरण-समास हो सकता है। अर्थ होगा—जब हेतु स्वयं भय क्रिया का अपादान हो। यह ध्यान देने योग्य है कि यह अर्थ पञ्चमी-समास में 'हेतु से भय' इस अर्थ से बिल्कुल भी भिन्न नहीं है। अतः स्पष्टतः पञ्चमी-समास में दोष नहीं हो सकता। अतः उपरिलिखित अनुसार षष्ठी-समास में दोष प्रस्तुत करने का महाभाष्य का आशय है।

सृजिदृशोर्झल्यमकिति ॥

वा०—अम् में सङ् ग्रहण।

भा०—'अम्' के प्रसङ्ग में [झल्यकिति के स्थान पर] सङ् ग्रहण करना चाहिए। यह 'सङ्' क्या है ? प्रत्याहार ग्रहण है। कहाँ पर सन्निविष्ट का प्रत्याहार है। [गुप्तिज्किद्भ्यः सन् (३.१.५) के] सन् से लेकर [तिप्तस्झि...' (३.४.७८) के] महिङ् के ङकार तक। क्या प्रयोजन है ?

वा०—क्विप् के प्रतिषेध के लिए।

भा०—क्विबन्त को न हो। रज्जुसृड्भ्याम्...। [जहाँ रज्जु उपपद वाली सृज् धातु से क्विप्, सर्वापहारी-लोप के पश्चात् प्रातिपदिक-संज्ञा होने से भ्याम् परे रहने पर 'अकित् झल्' परे रहने से 'अम्' पाता है। 'सङ् परे रहने पर' कहने से दोष नहीं होता।]

वा०—इस पर कहा गया है।

किमुक्तम् ? धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्ययविज्ञानात्सिद्धमिति ॥

शीर्षंश्छन्दसि ॥ ६.१.६० ॥

शीर्षन्छन्दसि प्रकृत्यन्तरम्॥ १ ॥

शीर्षन्छन्दसि प्रकृत्यन्तरं द्रष्टव्यम्। किं प्रयोजनम् ?

आदेशप्रतिषेधार्थम्॥ २ ॥

आदेशो मा विज्ञायि, प्रकृत्यन्तरं यथा विज्ञायेत। किं च स्यात्? अस्कारान्तस्य च्छन्दसि श्रवणं न स्यात्। शिरों मे शीर्यतें मुखें। इदं ते शिरों भिनद्मीति। तद्वा अंथर्वणः शिरः (अथर्व० १०.२.२७)॥

ये च तद्धिते ॥ ६.१.६१ ॥

ये च तद्धिते शिरस आदेशार्थम्॥ १ ॥

ये च तद्धित इत्यत्र शिरसो ग्रहणं कर्तव्यम्। किं प्रयोजनम् ? आदेशार्थम्। आदेशो यथा विज्ञायेत प्रकृत्यन्तरं मा विज्ञायि। किं च स्यात् ? यकारादौ तद्धिते ऽस्कारान्तस्य श्रवणं प्रसज्येत। शीर्षण्यो हि मुख्यो भवति। शीर्षण्यः स्वरः ॥

भा०—[मृजेर्वृद्धिः (७.२.११४) सूत्र में कहा है कि] धातोः स्वरूपग्रहणे... [इसकी व्याख्या वहीं देखें।]

शीर्षंश्छन्दसि ॥

वा०—छन्द में शीर्षन् प्रकृत्यन्तर।

भा०—छन्द में 'शीर्षन्' शब्द अन्य प्रकृति समझना चाहिए। क्या प्रयोजन है ?

वा०—आदेश के प्रतिषेध के लिए।

भा०—[इस सूत्र से शिरस् के स्थान में शीर्षन्] आदेश न समझा जाए। अपितु अन्य प्रातिपदिक समझा जाए। [यदि आदेश समझेंगे तो] क्या हो जाएगा ? छन्द में 'अस्' अन्त वाले [शिरस् शब्द का] श्रवण नहीं हो सकेगा। शिरो मे... आदि उदाहरण हैं।

ये च तद्धिते ॥

वा०—'ये च तद्धिते' के साथ 'शिरसः' कहें, आदेश के लिए।

भा०—'ये च तद्धिते' इस सूत्र में 'शिरस् के स्थान में' यह कहना चाहिये। क्या प्रयोजन है ? आदेश के लिए। इसे आदेश समझा जाए। अन्य प्रातिपदिक न समझा जाए। क्या हो जाता ? यकारादि तद्धित परे रहने पर अस् अन्त वाले [शिरस् के] श्रवण की प्राप्ति होती।

वा केशेषु॥ २॥

वा केशेषु शिरसः शीर्षन्भावो वक्तव्यः। शीर्षण्याः केशाः। शिरस्याः॥

अचि शीर्षः॥ ३॥

अचि परतः शिरसः शीर्षभावो वक्तव्यः। हास्तिशीर्षिः, स्थौलशीर्षिः, पैलुशीर्षिः॥

छन्दसि च॥ ४॥

छन्दसि च शिरसः शीर्षभावो वक्तव्यः। द्वे शीर्षे॥

इह हास्तिशीर्ष्या, पैलुशीर्ष्येति शिरसो ग्रहणेन ग्रहणाच्शीर्षन्भावः प्राप्नोति। अस्तु। 'नस्तद्धिते' (६.४.१४४) इति टिलोपो भविष्यति। न सिध्यति। 'ये चाभावकर्मणोः' (६.४.१६८) इति प्रकृतिभावः प्रसज्येत॥

विवरण—यकारादि तद्धिते परे रहने पर 'शिरस्' शब्द का कभी प्रयोग नहीं होता। अतः इस सूत्र में 'शीर्षन्' आदेश मानते हैं। वैसे यहाँ आदेश-विधान की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। यहाँ 'अनभिधान' हेतु से शिरस् का प्रयोग नहीं होगा। महाभाष्यकार ने अनेकत्र इस हेतु का प्रयोग किया है। यदि लोक में यकारादि तद्धित परे रहने पर शिरस् का प्रयोग प्रचलित नहीं है तो उसके निवारण की कोई उपयोगिता नहीं है।

वा०—केश में विकल्प।

भा०—केश अभिधेय होने पर शिरस् के स्थान में 'शीर्षन्' आदेश विकल्प से कहना चाहिए। शीर्षण्याः... आदि उदाहरण।

वा०—अच् परे रहने पर शीर्ष।

भा०—अच् अर्थात् अजादि तद्धित परे रहने पर शिरस् के स्थान पर 'शीर्ष' आदेश कहना चाहिए। हास्तिशीर्षिः, पैलुशीर्षिः (=हाथी के समान सिर वाले या ताड़ के समान सिर वाले का अपत्य)।

वा०—छन्द में भी।

भा०—[छन्द में भी] शिरस् के स्थान पर शीर्ष आदेश कहना चाहिए। द्वे शी॒र्षे (ऋ० ४.५८.३)। [जो अजादि होकर भी तद्धित नहीं हैं, उनके परे रहने पर 'शीर्ष' आदेश के लिए यह वचन है।]

यहाँ हास्तिशीर्ष्या... आदि में [इञ् परे रहने पर पूर्वोक्त वार्तिक से 'शीर्ष' आदेश के पश्चात् हास्तिशीर्षि से 'य' ['अणिञोरनार्षयोर्गुरूपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्रे' (४.१.७८)] प्रत्यय लाने पर 'हास्तिशीर्षि य' इस दशा में स्थानिवद्भाव से शिरस् मान लेने पर 'ये च तद्धिते' से] शीर्षन् आदेश प्राप्त होता है।

हो जावे, 'नस्तद्धिते' से टिलोप हो जाएगा। नहीं सिद्ध होता। 'ये चाभावकर्मणोः'

यदि पुनर्येऽचि तद्धित इत्युच्येत। किं कृतं भवति? इञि शीर्षन्भावे कृते टिलोपेन सिद्धम्। नैवं शक्यम्। इह हि स्थूलशिरस इदं स्थौलशीर्षमिति 'अन्' (६.४.१६७) अणीति प्रकृतिभावः प्रसज्येत। तस्मान्नैवं शक्यम्। न चेदेवं शिरसो ग्रहणेन ग्रहणाच्छीर्षन्भावः प्राप्नोति॥ पाक्षिक एष दोषः। कतरस्मिन्पक्षे? ष्यङ्विधौ द्वैतं भवति। अणिञोर्वादेशः ष्यङ् अणिञ्भ्यां वा पर इति। तद्यदा तावदणिञोरादेशस्तदैष दोषः। यदा ह्यणिञ्भ्यां परो न तदा दोषो भवत्यणिञ्भ्यां व्यवहितत्वात्॥

पद्दन्नोमासूहृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्ना-सञ्छस्प्रभृतिषु॥ ६.१.६३॥

से प्रकृतिभाव की प्राप्ति होगी। [इससे अन्त में 'अन्' का श्रवण पाएगा।]

यदि यहाँ 'येऽचि तद्धिते' कहें तो। [इससे यकारादि के अलावा अजादि तद्धित इञ् परे रहने पर भी शीर्षन् आदेश होगा।] इससे क्या होगा? इञ् परे रहने पर शीर्षन् आदेश के पश्चात् [नस्तद्धिते से] टिलोप से सिद्ध हो जाएगा।

यह सम्भव नहीं है। यहाँ 'स्थूलशिरस इदम्' इस विग्रह के अनुसार 'स्थौलशीर्षम्' यहाँ अण् परे रहने पर 'अन्' सूत्र से विधीयमान प्रकृतिभाव प्राप्त होगा। इसलिए यह सम्भव नहीं है। यदि नहीं है तो पूर्वोक्त उदाहरण में शिरस् के ग्रहण से गृहीत होने से शीर्षन् आदेश प्राप्त होता है।

भा०—यह दोष पाक्षिक है। किस पक्ष में? ष्यङ् विधि में द्विविध पक्ष हैं। अण्, इञ् के स्थान में ष्यङ् आदेश होता है या अण्, इञ् से परे होता है। यदि अण्, इञ् के स्थान में ष्यङ् आदेश होता है, तब यह दोष है। [क्योंकि तब सीधे यकारादि तद्धित परे मिल जाएगा।] पर यदि अण्, इञ् से परे ष्यङ् होता है, तब दोष नहीं है। अण्, इञ् से व्यवधान होने के कारण।

पद्दन्नोमासूहृन्निशसन्यूषन्दोषन्य...॥

विशेष—इस सूत्र से पाद आदि के स्थान में पत् इत्यादि आदेशों का विधान किया गया है। इससे अन्य सूत्र भी इस कार्य के लिए प्रयुक्त हैं। जैसे 'पद्यत्यतदर्थे' (६.३.५२) आदि से अन्य दशाओं में पत् आदेश का तथा 'पादस्य पदाज्याति...' (६.३.५१) से 'पद' आदि का विधान है। इन सभी की सार्थकता तभी है जब पत्, पद शब्द प्रकृत्यन्तर अथवा अन्य प्रातिपदिक न हों।

अथवा यदि पत्, पद प्रकृत्यन्तर हैं तो इस सूत्र की सार्थकता इन आदेशों के विधान में नहीं, अपितु विहित परिस्थिति से भिन्न में निवारण के लिए हो सकती है। जैसे 'पद्दन्नो...' का उपयोग अशस्प्रभृति में पत् आदि के निषेध के लिए सम्भव है। पर महाभाष्यकार ने अशस्प्रभृति में भी इनके प्रयोग की चर्चा की है। साथ ही

शस्प्रभृतिष्वित्युच्यतेऽशस्प्रभृतिष्वपि दृश्यते—शला॑ दोष॑णी (काठ० सं० १६.२१)। क॒कु॒द्दो॒षणी॑ याचते महादे॒वः॥

पदादिषु मांस्पृत्स्नूनामुपसंख्यानम्॥ १॥

पदादिषु मांस्पृत्स्नूनामुपसंख्यानं कर्तव्यम्। मांस्—यन्नीक्ष॑णं मा॒ंस्पच॑न्याः (ऋ० १.१६२.१३)। मांसपचन्या इति प्राप्ते। मांस्॥ पृत्—पृ॒त्सु मर्त्य॑म् (ऋ०

लोक, वेद दोनों में पद्वत्, पद्रथः जैसे प्रयोग देखे जाते हैं। 'आजि' आदिपरक के अलावा पद का प्रयोग भी देखा गया है। इसके लिए निरुक्तकार का यह प्रसिद्ध वचन द्रष्टव्य है—

तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च।

निरुक्त १.१।

सूत्रकार पाणिनि ने 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१.४.१४) से पद के स्वतन्त्र प्रयोग वाली संज्ञा का विधान भी किया है। ऐसी दशा में 'पादस्य पदाज्याति...' आदि से इन आदेशों के विधान की उपयोगिता सन्दिग्ध प्रतीत होती है।

वास्तविकता यह है कि पाद इत्यादि के साथ-साथ पद, पत् भी स्वतन्त्र प्रातिपदिक रहे हैं। पर महर्षि पाणिनि के युग में पद, पत् का प्रयोग सीमित हो चला था। अतः उन्होंने विशेष परिस्थितियों में इन्हें आदेश मानने का उपक्रम किया। फिर भी कुछ उदाहरण बचे रहे जहाँ इनका स्वतन्त्र प्रयोग होता रहा।

अन्य भाषाओं में भी ऐसी स्थिति देखी गई है। किन्हीं समानार्थक दो शब्दों में से एक के सीमित होने पर दोनों को मिलाकर 'नष्टाश्वदग्धरथवत्' न्याय से उन्हें मिला कर काम चलाया जाता है। इस न्याय का आशय यह है कि किसी का घोड़ा मर गया तथा किसी का रथ जल गया तो दोनों ने एक-दूसरे के अवशेष को जोड़ कर एक रथ बना लिया। इंग्लिश में 'जाना' अर्थ में went तथा go इन धातुओं का प्रयोग होता था। पर इन दोनों का प्रयोग सीमित होने पर दोनों को मिलाकर go, went, gone इस प्रकार रूप चलाए जाते हैं!!

भा०—'शस्प्रभृतिषु' कहा है, पर 'शस्प्रभृति' से भिन्न प्रत्यय परे रहने पर भी ['पद्' आदि आदेश] देखे जाते हैं। शला दोषणी (=शलाका के समान बाहें) [यहाँ छान्दस 'का' लोप हुआ है।] ककुद्दोषणी याचते महादेवः (=महादेव बैल के ककुत् के समान स्थूल भुजाओं की आकांक्षा करते हैं।)

वा०—पत् आदि में मांस्, पृत, स्नु का उपसङ्ख्यान।

भा०—पत् आदि आदेशों के प्रसङ्ग में मांस्, पृत्, स्नु इन आदेशों का उपसङ्ख्यान करना चाहिए। यन्नीक्षणं मांस्पचन्याः (=मांस पचन का या उसके लिए पात्र का अवलोकन)। यहाँ 'मांसपचन्याः' रूप की प्राप्ति थी। पृत्सु मर्त्यम् (=सेना में

१.२७.७)। पृतनासु मर्त्यमिति प्राप्ते। पृत्॥ स्नु—न ते दि॒वो न पृ॑थि॒व्या अधि॒ स्नुषु॑ (मा० सं० १७.७४)। अधि सानुष्विति प्राप्ते॥

नस्नासिकाया यत्तस्क्षुद्रेषु॥ २॥

यत्तस्क्षुद्रेषु परतो नासिकाया नस्भावो वक्तव्यः। यत्—नस्यम्। यत्॥ तस्—नस्तः। तस्। क्षुद्र—नःक्षुद्रः॥

अवर्णनगरयोरिति वक्तव्यम्। इह मा भूत्—नासिक्यो वर्णः। नासिक्यं नगरम्॥ तत्तर्हि वक्तव्यम्? न वक्तव्यम्। इह तावन्नासिक्यो वर्ण इति परिमुखादिषु पाठः करिष्यते। नासिक्यं नगरमिति संकाशादिषु पाठः करिष्यते॥

मरणधर्मा लोग), यहाँ 'पृतनासु मर्त्यम्' की प्राप्ति थी। न ते दिवो न पृथिव्या अधि स्नुषु (=तुम्हारे द्युलोक तथा पृथिवी लोक की चोटी या शिखर पर भी नहीं)। यहाँ 'अधि सानुषु' प्रयोग की प्राप्ति थी।

वा०—यत्, तस्, क्षुद्र परे होने पर नासिका के स्थान में नस्।

भा०—यत्, तस्, क्षुद्र शब्दों के परे होने पर नासिका के स्थान में नस् आदेश कहना चाहिए। नस्यम् (=नासिका के हित के लिए ओषधि आदि) ['शरीरावयवाद्यत्' (५.१.६) से यत् प्रत्यय], नस्तः (=नासिका से) ['अपादाने चाहीयरुहोः' (५.४.४५) से अपादान में तस् प्रत्यय।], नःक्षुद्रः (=नासिका के कारण क्षुद्र) ['सुप् सुपा' से समास]।

विशेष—वार्तिककार के समय 'नस्' शब्द के सीमित प्रयोग की दशा में वे इस तथ्य से अवहित नहीं रहें हैं कि इनसे पूर्व 'नस्' का स्वतन्त्र प्रयोग भी था। इस स्वतन्त्र प्रयोग में 'नसोऽर्मे प्राणोऽस्तु' जैसे अनेक प्रयोग प्रमाण हैं। वास्तव में 'नस्' के अप्रचलित होने की दशा में वाचनिक रूप से 'नस्यम्' आदि सिद्धि का यह प्रयास है।

भा०—यह नस् आदेश वर्ण, नगर अभिधेय को छोड़ कर कहना चाहिए। नासिक्यो वर्ण...आदि। [यहाँ नस् आदेश नहीं हुआ।] तो फिर कहा जावे? नहीं कहना चाहिए। 'नासिक्यो वर्णः' के लिए इस शब्द का पाठ परिमुखादि गण में करेंगे। [इससे 'अव्ययीभावाच्च' (४.३.५९) में परिपठित परिमुखादि शब्दों से विहित ञ्य प्रत्यय हो सकेगा। अब यत् परे न होने से 'नस्' आदेश नहीं होगा।] 'नासिक्यं नगरम्' के लिए संकाशादि में पाठ करेंगे। [इससे 'वुञ्छण्...' (४.२.८०) आदि सूत्र से ञ्य प्रत्यय हो सकेगा।]

विशेष—नस् आदेश को वाचनिक मानने पर अनेकानेक परिस्थितियों में निवारण की आवश्यकता होती ही है। पर लौकिक न्यायप्राप्त मानने पर तथा 'नस्' के प्रकृत्यन्तर मानने पर यहाँ 'अनभिधान' हेतु से ही दोष नहीं होगा। जब वर्ण अभिधेय में 'नस्' का प्रयोग ही नहीं होता है तो इसके निवारण की उपयोगिता

धात्वादेः षः सः ॥ ६.१.६४॥

धातुग्रहणं किमर्थम्? इह मा भूत्—षोडन्, षण्डः, षडिकः ॥ अथादिग्रहणं किमर्थम्? इह मा भूत्—पेष्टा, पेष्टुम्। नैतदस्ति प्रयोजनम्। अस्त्वत्र सत्वं सत्वे कृत इण उत्तरस्यादेशसकारस्येति षत्वं भविष्यति॥ इदं तर्हि—लषिता, लषितुम्। इदं चाप्युदाहरणम्—पेष्टा, पेष्टुम्। ननु चोक्तमस्त्वत्र सत्वं सत्वे कृते इण उत्तरस्यादेशसकारस्येति षत्वं भविष्यतीति, नैवं शक्यम्। इह हि पेक्ष्यतीति षत्वस्यासिद्धत्वात् 'षढोः कः सि' (८.२.४१) इति कत्वं न स्यात्॥

सादेशे सुब्धातुष्ठिवुष्वष्कतीनां प्रतिषेधः॥ १॥

ही क्या है? महाभाष्यकार ने स्वयं इस हेतु का प्रयोग करते हुए अनेक स्थानों में शब्दसिद्धि की है।

धात्वादेः षः सः॥

भा०—सूत्र में धातु ग्रहण किसलिए है? यहाँ न हो—षोडन्, षण्डः, षडिकः।

विवरण—'षोडन्' शब्द 'षड् दन्ता अस्य' विग्रह के अनुसार बहुव्रीहि समास करने पर 'वयसि दन्तस्य दतृ' (५.४.१४१) से दन्त के स्थान में दत् आदेश तथा 'षष उत्वं दतृदशधासूत्तरपदादेः ष्टुत्वं च' (६.३.१०९) वार्तिक के अनुसार उत्व और ष्टुत्व होकर 'षोडन्' बनता है। सूत्र में धातुग्रहण होने से इस आदि षकार को सकार नहीं होता।

'षण्डः' (=नपुंसक) अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है। 'षडिकः' यहाँ अनुकम्पितः षडङ्गुलिः (=दया का पात्र छंगा, छह उंगलियों वाला) [यहाँ 'षडङ्गुलि' शब्द से 'बह्वचो मनुष्य....' (५.३.७८) से ठच् तथा 'ठाजादावूर्ध्वं....' (५.३.८३) से 'ङ्गुलि' शब्द का लोप, 'ठस्येकः' (७.३.५०) से प्रत्यय को इक आदेश तथा ड के अकार का यस्येति लोप से यह रूप सिद्ध है।]

भा०—सूत्र में 'आदि' ग्रहण किसलिए है? पेष्टा,पेष्टुम् [यहाँ अन्त्य षकार को न हो]। यह प्रयोजन नहीं है। यहाँ सत्व हो जावे। सत्व के पश्चात् [आदेशप्रत्यययोः ८.३.५९) से] इण् से उत्तर आदेश-सकार को षत्व के नियमानुसार षत्व हो जाएगा। अच्छा तो फिर—लषिता, लषितुम् [यहाँ सत्व न हो]। यह भी उदाहरण है—पेष्टा, पेष्टुम्। इसके लिए अभी तो ऊपर कह चुके हैं। यह सम्भव नहीं है। यहाँ 'पेक्ष्यति' में आदिष्ट षत्व के असिद्ध होने से 'षढोः कः सि' से कत्व नहीं हो पाएगा। [इसलिए आदि-ग्रहण करना चाहिए।]

वा०—सादेश में सुब्धातु, ष्ठिवु, ष्वष्क का प्रतिषेध।

सादेशे सुब्धातुष्ठिवुष्वष्कतीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः। सुब्धातु—षोडीयति, षण्डीयति। ष्ठिवु—ष्ठीवति। ष्वष्क—ष्वष्कते॥ सुब्धातूनां तावन्न वक्तव्यः। उपदेश इति वर्तत उद्देशश्च प्रातिपदिकानां नोपदेशः॥ यद्येवं नार्थो धातुग्रहणेन। कस्मान्न भवति—षोडन्, षण्डः, षडिक इति? उपदेश इति वर्तते उद्देशश्च प्रातिपदिकानां नोपदेशः॥ ष्ठिवेरपि द्वितीयो वर्णष्ठकारः। यदि ठकारस्तेष्ठीव्यत इति न सिध्यति। एवं तर्हि थकारः। यदि थकारष्टुष्ठ्यूषति, टेष्ठीव्यत इति न सिध्यति। एवं तर्हि द्वाविमौ ष्ठिवू। एकस्य द्वितीयो वर्णष्ठकारोऽपरस्य थकारः। यस्य थकारस्तस्य सत्वं प्राप्नोति॥

भा०—सकार आदेश के प्रसङ्ग में नामधातु, ष्ठिव्, ष्वष्क् का प्रतिषेध कहना चाहिए। [षोडन्तमाचष्टे (छह दांत वाले से कहता है) इस विग्रह के अनुसार णिच्, टिलोप, पचाद्यच् करने पर 'षोडमिच्छति' विग्रह के अनुसार क्यच् तथा 'क्यचि च' (७.४.३३) से ईत्व होकर] षोडीयति। [यहाँ सत्व न होवे।] ष्ठीवति... आदि भी उदाहरण हैं।

नामधातु से सत्व-निषेध की आवश्यकता नहीं। यहाँ उपदेश की अनुवृत्ति है। और प्रातिपदिकों का उद्देश है, उपदेश नहीं। [नामधातु का साक्षात् उच्चारण नहीं, अपितु लक्षण से साङ्केतिक प्रतिपादन होने से यह उद्देश है।] तब तो फिर धातु-ग्रहण की आवश्यकता नहीं। 'षोडन्' आदि में क्यों न होगा। उपदेश की अनुवृत्ति है, यह उद्देश है, उपदेश नहीं।

ष्ठिव् धातु में भी द्वितीय अक्षर ठकार है। [इस स्थिति में धात्वादि को सकार करने के पश्चात् 'ष्टुना ष्टुः' (८.४.४०) से ष्टुत्व होकर पुनः षकार हो जाएगा।] यदि ठकार है तो 'तेष्ठीव्यते' सिद्ध न होगा। [धात्वादि को तकार नहीं हो सकेगा।] अच्छा तो फिर थकार है। यदि थकार है तो 'टुष्ठ्यूषति..' आदि सिद्ध न होंगे। [धात्वादि को टकार नहीं हो सकेगा।] अच्छा तो फिर 'ष्ठिव्' ये दो धातुएँ हैं—एक का द्वितीय अक्षर ठकार है, अन्य का थकार है। जिस धातु का द्वितीय अक्षर थकार है, उसका सत्व प्राप्त होता है।

विवरण—तेष्ठीव्यते, टेष्ठीव्यते ये दो रूप सिद्ध करने हैं। ठकार मानने पर तेष्ठीव्यते नहीं बन पाता। थकार मानने पर टेष्ठीव्यते सिद्ध नहीं होता। 'अभ्यासे चर्च' (८.४.५३) से अपने वर्ग का ही चर् होगा। साथ ही थकार मानने पर तेष्ठीव्यते भी सिद्ध न होगा। धात्वादि को सकार आदेश के पश्चात् ष्टुत्व न पाने से षकार नहीं हो सकेगा। इस प्रकार—

१. ठकार मानने पर—

टेष्ठीव्यते सिद्ध होगा। तेष्ठीव्यते सिद्ध नहीं होगा।

२. थकार मानने पर—

एवं तर्हि द्वाविमौ द्विषकारौ ष्ठिवुष्वष्कती। किं कृतं भवति? पूर्वस्य सत्वे कृते परेण संनिपाते ष्टुत्वं भविष्यति। नैवं शक्यम्। इह हि श्वलिट् ष्ठीव्यति मधुलिट् ष्वष्कते ष्टुत्वस्यासिद्धत्वाद् 'डः सि धुट्' (८.३.२९) इति धुट् प्रसज्येत॥ एवं तर्हि यकारादी ष्ठिवुष्वष्कती। किं यकारो न श्रूयते? लुप्तनिर्दिष्टो यकारः॥

अथ किमर्थं षकारमुपदिश्य तस्य सकार आदेशः क्रियते, न सकार एवोपदिश्येत? लघ्वर्थमित्याह। कथम्? अविशेषेणायं षकारमुपदिश्य सकारमादेशमुक्त्वा लघुनोपायेन षत्वं निर्वर्तयति—'आदेशप्रत्यययोः (८.३.५९) इति। इतरथा हि येषां षत्वमिष्यते तेषां तत्र ग्रहणं कर्तव्यं स्यात्॥

के पुनः षोपदेशा धातवः? पठितव्याः। कोऽत्र भवतः पुरुषकारः? यद्यन्तरेण पाठं किंचिच्छक्यते वक्तुं तदुच्यताम्। अन्तरेणापि पाठं किंचिच्छ-

---

टेष्ठीव्यते सिद्ध नहीं होगा। 'तेष्ठीव्यते' में भी धात्वादि को सत्व कर लेने पर इसे षत्व नहीं हो सकेगा।

भा०—अच्छा तो फिर ष्ठिव्, ष्वष्क् ये दोनों आदि में दो षकार वाली हैं। उससे क्या होगा? पूर्व षकार का सत्व करने के पश्चात् पर 'ष्' के साथ संयोग होने पर इस पूर्व 'स' को ष्टुत्व करने से ष् हो जाएगा। यह सम्भव नहीं है। श्वलिट् ष्ठीवति आदि में ष्टुत्व के असिद्ध होने से [पूर्व सकार के दृश्य होने पर] 'डः सि धुट्' से धुट् की प्राप्ति होगी।

अच्छा तो फिर ष्ठिव्, ष्वष्क् यकारादि हैं। [इससे उपदेश में धात्वादि न मिलने से सत्व नहीं होगा।] तो फिर यकार सुनाई क्यों नहीं पड़ता? ['लोपो व्योर्वलि' (६.१.६४) सूत्र से] यकार को लुप्त करके निर्देश किया गया है। [इस प्रकार ष्ठिव्, ष्ठष्क् के धात्वादि 'ष्' के स्थान में सकार आदेश का प्रतिषेध सिद्ध हुआ।]

[प्रसङ्गान्तर—] अच्छा, यहाँ [पहले धातुपाठ में] धात्वादि षकार का उपदेश करके पश्चात् उसके स्थान में सकार आदेश क्यों करते हैं? क्या [धातुपाठ में सीधे] सकार का उपदेश करने से सम्पूर्ण कार्य गतार्थ नहीं होगा? यह तो लघुता के लिए है। किस प्रकार? धातुपाठ में सामान्यतया धात्वादि षकार का उपदेश करके इस सूत्र से सकार आदेश कह कर [आदेश सकार बनाकर] लघु उपाय से 'आदेश-प्रत्यययोः' से षत्व विहित कर पाते हैं। अन्यथा [आदेश सकार न बन पाने पर इण् कवर्ग से उत्तर] जिनका षत्व अभीष्ट है, उन सबका उस सूत्र में ग्रहण करना पड़ता।

षोपदेश धातुएं कौन-सी हैं? पढ़नी होंगी। यह पाठ करने में आपका क्या श्रम है? [वह तो सूत्रकार ने कर ही दिया है।] यदि पाठ के बिना भी [किसी नियम के द्वारा] आप कुछ बता सकें तो बताइए। बिना पाठ के भी नियम द्वारा कुछ

क्यते वक्तुम्। कथम्? अज्दन्त्यपराः सादयः षोपदेशाः, स्मिङ्स्वदिस्विदिस्वञ्जिस्वपयश्च सृपिसृजिस्तृस्त्यासेकृसृवर्जम्॥

णो नः॥ ६.१.६५॥

अथ किमर्थं णकारमुपदिश्य तस्य नकार आदेशः क्रियते, न नकार एवोपदिश्येत? लघ्वर्थमित्याह। कथम्? अविशेषेणायं णकारमुपदिश्य तस्य नकारमादेशमुक्त्वा तस्य लघुनोपायेन णत्वं निर्वर्तयति—'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' (८.४.१४) इति। इतरथा हि येषां णत्वमिष्यते तेषां तत्र ग्रहणं कर्तव्यं स्यात्?

के पुनर्णोपदेशा धातवः? पठितव्याः। कोऽत्र भवतः पुरुषकारः? यद्यन्तरेण पाठं किंचिच्छक्यते वक्तुं तदुच्यताम्। अन्तरेणापि पाठं किंचिच्छक्यते वक्तुम्। कथम्? सर्वे नादयो णोपदेशाः, नृतिनन्दिनर्दिनक्किनाटिनाथृनाधृनॄवर्जम्॥

बता सकते हैं। किस प्रकार? अच्परक या दन्त्यपरक सादि षोपदेश हैं, साथ ही स्मिङ्, स्वद्.... आदि भी, सृप्, सृज... आदि को छोड़ कर।

णो नः॥

भा०—अच्छा, यहाँ [धातुपाठ में] णकार का उपदेश करके पुनः उसके स्थान में इससे नकार आदेश क्यों करते हैं। धातुपाठ में ही नकार का उपदेश क्यों न कर दिया जावे? यह लघुता के लिए है। किस प्रकार? धातुपाठ में सामान्यतया णकार का उपदेश करके, उसके स्थान में नकार आदेश का विधान करके [इसे णोपदेश बनाते हुए विशिष्ट परिस्थितियों में] लघु उपाय से णत्व विधान कर पाते हैं—'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' सूत्र द्वारा। अन्यथा [णोपदेश न बनाने पर] जहाँ-जहाँ णत्व इष्ट है, वहाँ पाठपूर्वक णत्व-विधान करना पड़ता? [नृत्, नन्द जैसी धातुओं के णोपदेश न होने से वहाँ 'उपसर्गादसमासेऽपि...' सूत्र नहीं लगता। परन्तु नी, नम् आदि के णोपदेश होने से यह प्रवृत्त होता है। यदि इन्हें णोपदेश न बनाते तो इनका नाम लेकर णत्व-विधान करना पड़ता।]

भा०—णोपदेश धातुएं कौन-सी हैं? पढ़नी होंगी। यह पाठ करने में आपका क्या श्रम है? [वह तो सूत्रकार ने कर ही दिया है।] यदि पाठ के बिना भी [किसी नियम के द्वारा] आप कुछ बता सकें तो बताइये। बिना पाठ के भी [नियम के द्वारा] कुछ बता सकते हैं। किस प्रकार? सभी नकारादि (धातुएं) णोपदेश हैं, नृति, नन्दि, नर्दि, नक्कि, नाटि, नाथृ, नाधृ और नॄ को छोड़कर।

लोपो व्योर्वलि॥ ६.१.६६ ॥

व्योर्लोपे क्वावुपसंख्यानम्॥ १ ॥

व्योर्लोपे क्वावुपसंख्यानं कर्तव्यम्। इहापि यथा स्यात्—कण्डूयतेर-प्रत्ययः कण्डूरिति। किं पुनः कारणं न सिध्यति? वलीत्युच्यते न चात्र वलादिं पश्यामः। ननु चायं क्विबेव वलादिर्भवति? क्विब्लोपे कृते वलाद्यभावान्न प्राप्नोति॥ इदमिह सम्प्रधार्यम्—क्विब्लोपः क्रियतां यलोप इति किमत्र कर्तव्यम्? परत्वात् क्विब्लोपो नित्यत्वाच्च। नित्यः खल्वपि क्विब्लोपः। कृतेऽपि यलोपे प्राप्नोत्यकृतेऽपि प्राप्नोति। नित्यत्वात् परत्वा-च्च क्विब्लोपः। क्विब्लोपे कृते वलाद्यभावाद्यलोपो न प्राप्नोति॥ एवं तर्हि प्रत्ययलक्षणेन भविष्यति। वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम्। यदि वा कानिचिद्वर्णाश्रयाणि प्रत्ययलक्षणेन भवन्ति तथेदमपि भविष्यति॥

लोपो व्योर्वलि॥

वा०—व् य् के लोप में क्वि परे होने पर उपसङ्ख्यान।

भा०—व् य् के लोप के प्रसङ्ग में क्विप् परे होने पर उपसङ्ख्यान करना चाहिए। कण्डूय से अप्रत्यय [लुप्त प्रत्यय होने से प्रत्यय-भिन्न परन्तु प्रत्ययलक्षण से प्रत्ययसदृश क्विप्] होकर कण्डूः। [यहाँ यकार लोप हो जावे] क्या कारण है कि सिद्ध नहीं होता? सूत्र में 'वल् परे रहने पर' कहा गया है। पर यहाँ हम कोई वलादि प्रत्यय परे नहीं देखते। क्यों, यह 'क्विप्' ही वलादि है। क्विप् का लोप कर लेने पर वलादि प्रत्यय परे न होने के कारण प्राप्त नहीं होता। अच्छा तो फिर यह सम्प्रधारणा करें—यहाँ पहले क्विप् लोप किया जावे या यलोप। क्या करना चाहिए? परत्व से क्विप् लोप। नित्य होने से भी। क्विप् लोप नित्य है। यलोप करने पर भी पाता है, न करने पर भी। नित्य होने से तथा पर होने से क्विप् लोप पहले होगा। क्विप् लोप कर लेने पर वलादि परे न होने के कारण यलोप नहीं प्राप्त होता।

अच्छा तो फिर प्रत्ययलक्षण से क्विप् को परे मानते हुए यलोप हो जाएगा। वर्णाश्रय में प्रत्ययलक्षण नहीं होता। [समाधान-भाष्य—] यदि कोई अन्य भी वर्णाश्रय कार्य प्रत्ययलक्षण से होते हैं, तो यह भी हो जाएगा।

विवरण—इस भाष्य से इस परिभाषा के अनित्य होने का संकेत दिया है। इसके अनित्य होने से कहीं-कहीं वर्णाश्रय में भी प्रत्ययलक्षण हो जाने से 'अतृणेट्' में तिप् के हल्ङ्यादिलोप हो जाने पर भी तिप् को प्रत्ययलक्षण मानते हुए 'तृणह इम्' (७.३.९२) से इम् आगम हो जाता है। इसी प्रकार यहाँ भी क्विप् लोप होने पर भी यलोप हो जाएगा।

अथवैवं वक्ष्यामि—लोपो व्योर्वलि। ततो वेः। व्यन्तयोश्च व्योर्लोपो भवति। ततोऽपृक्तस्य। अपृक्तस्य च लोपो भवति। वेरित्येव॥

वलोपाप्रसिद्धिरूङ्भाववचनात्॥ २॥

वलोपस्याप्रसिद्धिः। आस्त्रेमाणम्, जीरदानुरिति। किं कारणम्? ऊङ्-भाववचनात्। 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' (६.४.१९) इत्यूठ् प्राप्नोति॥

अतिप्रसङ्गो व्रश्चादिषु॥ ३॥

व्रश्चादिषु चातिप्रसङ्गो भवति। इहापि प्राप्नोति—व्रश्चनः, व्रीहिः, व्रण इति॥ उपदेशसामर्थ्यात्सिद्धम्। उपदेशसामर्थ्याद् व्रश्चादिषु लोपो न भविष्यति।

उपदेशसामर्थ्यात्सिद्धमिति चेत्संप्रसारणहलादिशेषेषु सामर्थ्यम्॥ ४॥

उपदेशसामर्थ्यात्सिद्धमिति चेदस्त्यन्यदुपदेशवचने प्रयोजनम्।

भा०—अथवा यों कहेंगे—'लोपो व्योर्वलि'। पश्चात् 'वेः' वि [क्विप्] अन्त वाले व् य् का भी लोप होता है। पश्चात् 'अपृक्तस्य' अपृक्त वि का भी लोप होता है।

[प्रसङ्गान्तर—] **वा०**—वलोप की प्रसिद्धि नहीं, ऊङ् आदेश के वचन से।

भा०—वलोप की प्रसिद्धि नहीं हो पाती। आस्त्रेमाणम्, जीरदानुः। क्या कारण है? ऊठ् आदेश का वचन होने से [अर्थात् ऊठ् आदेश द्वारा बाधित होने से] 'च्छ्वोः शूठ्...' से ऊठ् पाता है। ['आस्त्रेमाणम्' शब्द में 'आ स्रिव् मन्' इस दशा में वलोप को बाधकर ऊठ् पाता है। परन्तु 'जीरदानुः' में तो जीव् धातु से रदानु प्रत्यय करने पर झलादि क्ङित् परे न होने से ऊठ् नहीं पाता। फिर भी इस प्रसङ्ग में इसके उल्लेख का भाष्याशय यह है कि 'जीरदानुः' में वलोप के सावकाश हो जाने से 'आस्त्रेमाणम्' में परत्व से ऊठ् की प्राप्ति होने से यहाँ वलोप प्राप्त नहीं होता।]

वा०—व्रश्च् आदि में अतिप्रसङ्ग।

भा०—व्रश्च् आदि में अतिप्रसङ्ग होता है। यहाँ भी [वकारलोप] पाता है—व्रश्चनः...इत्यादि। उपदेशसामर्थ्य से सिद्ध है। उपदेश-सामर्थ्य से व्रश्च् आदि में लोप नहीं होगा। [यदि यहाँ वकार लोप हो तो धातुपाठ में आदि वकार का पाठ व्यर्थ होने लगेगा।]

वा०—उपदेशसामर्थ्य से सिद्ध है, ऐसा कहें तो सम्प्रसारण, हलादि शेष में सामर्थ्य है।

भा०—उपदेश सामर्थ्य से सिद्ध है, ऐसा कहें तो उपदेश में वकार-पाठ का प्रयोजन

संप्रसारण-हलादिशेषेषु कृतेषु वकारस्य श्रवणं यथा स्यात्। वृक्णः, वृक्णवान्, वृश्चति, विव्रश्चिषतीति॥

न वा बहिरङ्गलक्षणत्वात्॥ ५॥

न वैतत् प्रयोजनमस्ति। किं कारणम्? बहिरङ्गलक्षणत्वात्। बहिरङ्गाः संप्रसारणहलादिशेषाः। अन्तरङ्गो लोपः। असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे॥

अनारम्भो वा॥ ६॥

अनारम्भो वा पुनर्वलोपस्य न्याय्यः। कथमास्रेमाणम्, जीरदानुरिति?

आस्रेमाणं जीरदानुरिति वर्णलोपात्॥ ७॥

आस्रेमाणम्, जीरदानुरिति च्छान्दसाद्वर्णलोपात्सिद्धम्।

यथा संस्फानो गयस्फानः॥ ८॥

तद्यथा—संस्फायनः—संस्फानः। गयस्फायनो—गयस्फान इति॥

[अथवा उसका सामर्थ्य] अन्यत्र चरितार्थ है। सम्प्रसारण-हलादिशेष कर लेने पर वकार का श्रवण हो जावे। वृक्णः, वृक्णवान् [यहाँ रेफ को सम्प्रसारण के पश्चात् वल् परे न होने से वकारलोप नहीं पाता। अतः यहाँ वकार उपदेश चरितार्थ है।] इसी प्रकार विव्रश्चिषति। [यहाँ हलादिशेष के पश्चात् वकार लोप नहीं पाता।]

वा०—बहिरङ्गलक्षण होने से नहीं।

भा०—यह प्रयोजन नहीं है। क्या कारण है? बहिरङ्गलक्षण होने से। सम्प्रसारण, हलादिशेष बहिरङ्ग हैं। लोप अन्तरङ्ग है। असिद्धं...[परिभाषा यहाँ लगेगी। अतः सम्प्रसारण, हलादिशेष से पूर्व ही यहाँ वलोप की प्राप्ति होगी। तब वह उपदेशसामर्थ्य से नहीं होगा।]

वा०—अथवा अनारम्भ।

भा०—अथवा वलोप को आरम्भ करने की आवश्यकता नहीं। तो फिर आस्रेमाणम्.... आदि में [वलोप] कैसे होगा?

वा०—आस्रेमाणम्, जीरदानुः यह वर्णलोप से।

भा०—आस्रेमाणम्, जीरदानुः—ये छान्दस वर्णलोप से सिद्ध हैं।

वा०—जिस प्रकार संस्फानः, गयस्फानः।

भा०—जैसे संस्फायनः—संस्फानः आदि। यहाँ वृद्धि अर्थ वाली स्फाय् धातु के यकार का एक पक्ष में लोप हुआ है।

विवरण—यहाँ वार्तिककार का आशय है कि जब वलोप विधान करने पर भी छान्दस मानकर ऊठ् का निवारण करना ही पड़ता है तो इससे अच्छा यह है कि वलोप का विधान न करके सर्वत्र छान्दस वलोप मान लेवें। पर काशिकाकार

वेरपृक्तस्य ॥ ६.१.६७ ॥

दर्विजागृव्योः प्रतिषेधो वक्तव्यः । दर्विः, जागृविः ॥ किमुच्यते दर्विजागृव्योः प्रतिषेधो वक्तव्य इति यदापृक्तस्येत्युच्यते ? भवति वै किंचिदाचार्याः क्रियमाण-मपि चोदयन्ति। तद्वा कर्तव्यं दर्विजागृव्योर्वा प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥

वेर्लोपे दर्विजागृव्योरप्रतिषेधोऽनुनासिकपरत्वात् ॥ १ ॥

वेर्लोपे दर्विजागृव्योरप्रतिषेधः । अनर्थकः प्रतिषेधोऽप्रतिषेधः ।

ने 'दिदिवान्' इत्यादि प्रयोगों के लिए वलोप-विधान की अनिवार्यता बताई है। यलोप के लिए तो वार्तिककार के मत से भी सूत्र का आरम्भ आवश्यक है।

वार्तिककार ने जीव् धातु से औणादिक 'रदानुक्' (दशपाद्युणादि १.१६३) प्रत्यय मानते हुए वकार लोप की आवश्यकता मानी है। पर यह प्रत्यय-विधान प्रत्ययत्व की अथवा आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक Morpheme की परिभाषा के अनुकूल नहीं है। वार्तिककार स्वयं इससे असन्तुष्ट होकर १.१.४ सूत्र में रक् परे रहने पर ज्या धातु को सम्प्रसारण द्वारा जीर शब्द को सिद्ध करते हैं।

इस सन्दर्भ में नैरुक्त प्रक्रिया अत्यन्त समीचीन एवं वैज्ञानिक प्रतीत होती है। निरुक्त में क्षिप्र या शीघ्र अर्थ में 'जीर' शब्द की सिद्धि की है। पञ्चपादी उणादिसूत्र (२.२४) में इसे 'जु' धातु से इस अर्थ में निष्पन्न माना है। ऋग्वेद १०.१२०.६ आदि में दाता अर्थ में 'दानु' शब्द का प्रयोग है। अतः निरुक्त ११.२२ में 'सस दानून्' शब्द का 'सस दातॄन्' यह अर्थ किया है। अब यदि जीर तथा दानु इन दो शब्दों को समस्त माना जावे तो इसका अर्थ 'शीघ्र दान देने वाला' यह होता है। इस सुसङ्गत अर्थ के सम्भव होने पर भी परम्परा के लुप्त होने पर वार्तिककार तथा अन्य व्याख्याकारों को कितनी खींचतान करनी पड़ी है, इसका यह एक प्रमाण है।

वेरपृक्तस्य ॥

भा०—यहाँ दर्विः, जागृविः में [विलोप का] प्रतिषेध कहना चाहिए। दर्विः, जागृविः [इनमें औणादिक विन् तथा क्विन् प्रत्यय हुआ है।] आप यह क्या कह रहे हैं—दर्वि, जागृवि का प्रतिषेध कहना चाहिए—जबकि 'अपृक्तस्य' कहा गया है ? [दर्वि का वि अपृक्त न होने से स्वतः इस सूत्र से लोप नहीं होगा।] ऐसा भी कभी होता है—आचार्य किये हुए को भी पुनः कहते हैं—उसे [अपृक्तस्य को] कहा जावे, अथवा दर्वि, जागृवि को प्रतिषेध कहा जावे। [दोनों में कौन अधिक समुचित है, इस विचार के लिए यह प्रसङ्ग है।]

वा०—विलोप में दर्वि, जागृवि का अप्रतिषेध, अनुनासिक-परत्व होने से।

भा०—विलोप के प्रसङ्ग में दर्वि, जागृवि का प्रतिषेध अनर्थक है। [क्योंकि

लोपः कस्मान्न भवति? अनुनासिकपरत्वात्। अनुनासिकपरस्य विशब्दस्य ग्रहणं, न चात्रानुनासिकपरो विशब्दः, शुद्धपरश्चात्र विशब्दः॥ यद्यनुनासिकपरस्य विशब्दस्य ग्रहणमित्युच्यते, घृतस्पृक्, दलस्पृक् अत्र न प्राप्नोति। न ह्येतस्माद्विशब्दादनुनासिकं परं पश्यामः। अनुनासिकपरत्वादिति नैवं विज्ञायते अनुनासिकः परोऽस्मात्सोऽयमनुनासिकपरः, अनुनासिकपरत्वादिति। कथं तर्हि? अनुनासिकः परोऽस्मिन्सोऽयमनुनासिकपरः, अनुनासिकपरत्वादिति॥ एवमपि प्रियदर्वि अत्र प्राप्नोति। असिद्धोऽत्रानुनासिकः॥ एवमपि धात्वन्तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। इवि, दिवि, धिवि।

उपरिलिखित के अनुसार 'अपृक्तस्य' तथा 'दर्वि, जागृवि का प्रतिषेध' ये समान स्तर के हैं अतः वार्तिककार द्वारा 'दर्वि, जागृवि के प्रतिषेध' को अनर्थक कहने का आशय है कि 'अपृक्तस्य' की आश्यकता नहीं है।]

फिर यहाँ 'दर्वि' आदि में वि का लोप क्यों नहीं प्राप्त होगा? अनुनासिकपरत्व होने से। जिस वि शब्द का पर अर्थात् अवयव इकार अनुनासिक है [अतएव इत्संज्ञक है] उसका यहाँ ग्रहण है। यहाँ वि शब्द अनुनासिक अवयव वाला नहीं है, अपितु शुद्ध अवयव वाला वि शब्द है।

यदि अनुनासिकपर वि शब्द का ग्रहण है, ऐसा कहते हैं तो घृतस्पृक्, दलस्पृक् यहाँ नहीं पाता। यहाँ हम इस वि शब्द से पर अनुनासिक को नहीं देखते। [विस्तार आगे उल्लिखित है—]

'अनुनासिकपरत्व' में यह नहीं माना गया है कि अनुनासिक पर है जिससे, वह अनुनासिकपर है। [यहाँ पञ्चम्यन्त अन्यपदार्थ वाला बहुव्रीहिसमास नहीं है। ऐसा मानने पर जिस 'वि' शब्द से परे अनुनासिक है, उस वि का लोप होगा। इससे दर्वि में लोप नहीं होगा, क्योंकि इस वि से परे अनुबन्ध अनुनासिक लुप्त हो चुका है। साथ ही घृतस्पृक् में भी क्विन् के वि का लोप नहीं पाएगा। क्योंकि इस वि से परे भी अनुनासिक अनुबन्ध दृष्ट नहीं है।]

तो फिर क्या माना गया है? 'अनुनासिकः परोऽस्मिन्' [इस प्रकार सप्तम्यन्त अन्यपदार्थ में बहुव्रीहिसमास है। अतः उस 'वि' में वर्तमान उसका अवयव इकार अनुनासिक होने पर लोप होता है। इससे 'दर्विः' में नहीं होगा। घृतस्पृक् में सिद्ध हो जाएगा।]

फिर भी 'प्रियदर्वि' यहाँ भी लोप पाता है। [वि के इकार को 'अणोऽप्रगृह्यस्य...' (८.४.५६) से अनुनासिक कर लेने पर लोप की प्राप्ति होती है।] यहाँ 'प्रिया दर्विर्यस्य' के अनुसार बहुव्रीहिसमास है।] यहाँ पर [लोप की दृष्टि में] अनुनासिक असिद्ध हो जाएगा। तो भी धात्वन्त [अनुनासिक इकार होने पर लोप का] प्रतिषेध कहना होगा। जैसे—इवि....आदि धातुएँ।

धात्वन्तस्य चार्थवद्ग्रहणात्॥ २॥

अर्थवतो विशब्दस्य ग्रहणं न धात्वन्तोऽर्थवान्॥

वस्य वानुनासिकत्वात्सिद्धम्॥ ३॥

अथवा वकारस्यैवेदमनुनासिकस्य ग्रहणम्। सन्ति हि यणः सानुनासिका निरनुनासिकाश्च॥

हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्॥ ६.१.६८॥

यदि पुनरयमपृक्तलोपः संयोगान्तलोपो विज्ञायेत ! किं कृतं भवति? द्विहलपृक्तग्रहणं तिस्योश्च ग्रहणं न कर्तव्यं भवति।

हलन्तादपृक्तलोपः संयोगान्तलोपश्चेन्नलोपाभावो यथा पचन्निति॥ १॥

हलन्तादपृक्तलोपः संयोगान्तलोपश्चेन्नलोपाभावः। राजा, तक्षा। संयोगान्त-

---

वा०—धात्वन्त का अर्थवत् ग्रहण से।

भा०—अर्थवान् वि शब्द का ग्रहण है, धात्वन्त अर्थवान् नहीं है। [इस प्रकार अर्थवान् वि के अवयव अनुनासिक होने पर लोप होता है। यहाँ धातु का 'वि' अर्थवान् नहीं है।]

वा०—अथवा व् के ही अनुनासिक होने से सिद्ध।

भा०—अथवा यहाँ व् ही अनुनासिक का ग्रहण है। यण् सानुनासिक, निरनुनासिक दोनों होते हैं। जिस क्विप् आदि का वकार अनुनासिक प्रतिज्ञात होगा, वहीं लोप होगा। अन्यत्र यह प्रतिज्ञात नहीं होगा।

हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्॥

भा०—यदि यह अपृक्तलोप संयोगान्तलोप समझा जावे तो! [हल् से उत्तर अपृक्त सु ति सि संयोगान्त बन जाते हैं। अतः 'संयोगान्तस्य लोपः' (८.२.२३) से इनका लोप सिद्ध हो जाएगा।] इससे क्या हो जाएगा? दो हल्, अपृक्त तथा सु ति सि का ग्रहण नहीं करना पड़ेगा। [केवल 'ङ्यापो दीर्घात् सोः' इतना ही सूत्र कहेंगे। हल् से उत्तर संयोगान्तलोप से सु आदि लोप सिद्ध हो जाएगा। ङी, आप् से उत्तर ति, सि होते ही नहीं। अतः उनके लिए लोपविधान की स्वयं ही आवश्यकता न होगी।]

वा०—हलन्त से अपृक्तलोप संयोगान्तलोप हो तो नलोप का अभाव, जैसे पचन्।

भा०—हलन्त से अपृक्तलोप को यदि संयोगान्तलोप मानें तो नलोप नहीं हो सकेगा। राजा, तक्षा संयोगान्तलोप [राजन् के पश्चात् स् के लोप के]

लोपस्यासिद्धत्वान्नलोपो न प्राप्नोति। यथा—पचन्निति। तद्यथा—पचन्, यजन्नित्यत्र संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वान्नलोपो न भवति॥ नैष दोषः। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—सिद्धः संयोगान्तलोपो नलोप इति यदयं 'न ङिसंबुद्ध्योः' (८.२.८) इति संबुद्धौ प्रतिषेधं शास्ति। इहापि तर्हि प्राप्नोति—पचन्, यजन्? तुल्यजातीयस्य ज्ञापकं भवति। कश्च तुल्यजातीयः? यः संबुद्धावनन्तरः॥

वस्वादिषु दत्वं संयोगादिलोपबलीयस्त्वात्

वस्वादिषु दत्वं न सिध्यति। उखास्त्रत्, पर्णध्वत्। किं कारणम्? संयोगादिलोपबलीयस्त्वात्। संयोगान्तलोपात्संयोगादिलोपो बलीयान्॥

असिद्ध हो जाने के कारण नलोप नहीं प्राप्त होता। [संयोगान्तलोप के असिद्ध होने पर सकार दृश्य होगा, तब पदान्त नकार न बन पाने से नलोप नहीं पाएगा।] जैसे 'पचन्, यजन्' यहाँ पर संयोगान्तलोप [तकारलोप] के असिद्ध होने से नकारलोप नहीं होता।

यह दोष नहीं है। आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापित करती है कि नलोप करने में संयोगान्तलोप सिद्ध होता है—जो उन्होंने 'न ङिसम्बुद्ध्योः' से सम्बुद्धि में नकारलोप के प्रतिषेध का शासन किया है। [यदि संयोगान्तलोप के असिद्ध होने से नकारलोप नहीं होता तो 'न ङिसम्बुद्ध्योः' से उसका निवारण क्यों करते? पुनरपि यह निषेध संयोगान्तलोप के सिद्ध होने को ज्ञापित करता है।]

तब तो यहाँ भी [नलोप] प्राप्त होता है—पचन्, यजन्? तुल्यजातीय में ज्ञापक होगा। तुल्यजातीय क्या है? जो सम्बुद्धि परे रहने पर अनन्तर न् है। [सम्बुद्धि परे रहने पर उससे ठीक पूर्व जो 'न्' है, उस जैसी स्थिति प्रथमा एकवचन में 'राजन् स्' इस दशा में असिद्धत्व का निवारण होगा। 'पचन् त् स्' इस रूप में व्यवहित वाली स्थिति में नहीं। ज्ञापक का स्वरूप होगा—सम्बुद्धि-भिन्न परन्तु सम्बुद्धि-सदृश प्रथमा एकवचन वाली स्थिति में असिद्धत्व नहीं होता।]

वा०—वसु आदि परे होने पर दत्व, संयोगादिलोप के अधिक बलवान् होने से।

भा०—वसु आदि परे रहने पर दत्व भी सिद्ध नहीं होता। उखास्त्रत्... आदि। क्या कारण है? संयोगादिलोप के अधिक बलवान् होने से। संयोगान्तलोप से संयोगादिलोप अधिक बलवान् होता है।

विवरण—उखायाः स्रंसते (=बटलोई में से छलकने वाली दाल आदि) विग्रह के अनुसार 'क्विप् च' (३.२.७६) से क्विप्, सर्वापहारीलोप, सु-विभक्ति आने पर 'उखास्रस् स्' इस दशा में यदि यहाँ हल्ङ्यादिलोप न हो तो संयोगान्तलोप को बाध कर 'स्कोः संयोगाद्यो...' (८.२.२९) से संयोगादिलोप द्वारा पूर्व सकार-लोप की प्राप्ति होती है। तब विभक्ति सकार स्रंस् का अवयव नहीं है, अतः 'वंसुस्रंसु....' (८.२.७२) से दत्व नहीं पाएगा।

यथा कूटतडिति॥ २॥

तद्यथा—कूटतट्, काष्ठतडित्यत्र संयोगान्तलोपात्संयोगादिलोपो बलीयान्भवति॥

ननु च दत्वे कृते न भविष्यति? असिद्धं दत्वं तस्यासिद्धत्वात् प्राप्नोति। सिद्धकाण्डे पठितं वस्वादिषु दत्वं सौ दीर्घत्व इति। तत्र सौ दीर्घत्वग्रहणं न करिष्यते। वस्वादिषु दत्वमित्येव॥ एवमप्यपदान्तत्वान्न प्राप्नोति। अथ सावपि पदं भवति ! राजा, तक्षा नलोपे कृते विभक्तेः श्रवणं प्राप्नोति। सैषोभयतस्पाशा रज्जुर्भवति॥

रात्तलोपो नियमवचनात्॥ ३॥

रात्तलोपो वक्तव्यः। अबिभर्भवान्, अजागर्भवान्। किं पुनः कारणं न सिध्यति?

वा०—जैसे कूटतट् आदि।

भा०—जैसे कूटतट्, काष्ठतट् (=लकड़ी छीलने वाला बढ़ई) [यहाँ काष्ठ तक्ष् से क्विप् तथा पश्चात् सु लाने पर 'काष्ठ तक्ष् स्' इस दशा में दोनों की प्राप्ति में संयोगादि कलोप होने पर ष् को जश्त्व होकर काष्ठतट् बनता है।] यहाँ संयोगान्तलोप से संयोगादिलोप बलवान् होता है।

क्यों, [उखास्रत् में 'उखास्रस् स्' इस दशा में अग्रलिखित विधि के अनुसार 'उखास्रस्' को पद बनाकर इसके अन्तिम अक्षर सकार के स्थान में पहले दत्व कर लेंगे।] इस प्रकार दत्व कर लेने पर अब [संयोगादिलोप] नहीं होगा? दत्व असिद्ध है, उसके असिद्ध होने से अब भी [संयोगादि लोप] पाता है। सिद्ध काण्ड में ['स्वरितो वानुदात्ते पदादौ' (८.२.६) सूत्र में] 'वस्वादिषु दत्वं...' कहा गया है। वहाँ 'सौ दीर्घत्वे' नहीं कहेंगे। केवल 'वस्वादिषु दत्वं' कहेंगे। [उसका अर्थ होगा—वसु आदि परे होने पर दत्व सिद्ध होता है। इस प्रकार संयोगादिलोप नहीं होगा।] तो भी ['उखास्रस् स्' यहाँ स्रस् का स्] पद का अन्त न होने से दत्त्व नहीं पाता। [पर यदि 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१.४.१७) में पठित 'स्वादिषु' इस प्रकार योगविभाग के अनुसार] सु के पूर्व भी पद हो तब तो राजा, तक्षा [यहाँ 'राजन् स्' इस दशा में राजन् के पद तथा उसके अन्त में नकार होने से] नलोप करने पर विभक्ति का श्रवण पाता है। इस प्रकार यह 'उभयतस्पाशा रज्जु' (=ऐसी रस्सी जिसके दोनों ओर गाँठ हो) होती है। [हल्ङ्याादिलोप न मानने पर यदि सु से पूर्व पद हो तो 'राजा' में विभक्ति का श्रवण पाता है, यदि सुबन्त-पद हो तो 'उखास्रत्' में दत्व नहीं पाता।]

वा०—र से उत्तर तलोप, नियम-वचन से।

भा०—र से उत्तर 'त' का लोप कहना चाहिए। अबिभर्भवान् (=आपने पालन पोषण किया) आदि। क्या कारण है कि सिद्ध नहीं होता?

नियमवचनात्। 'रात्सस्य' (८.२.२४) इत्येतस्मान्नियमान्न प्राप्नोति॥ नैष दोषः। रात्सस्येत्यत्र तकारोऽपि निर्दिश्यते। यद्येवं कीर्तयतेरप्रत्ययः कीरिति प्राप्नोति, कीर्त् इति चेष्यते। यथालक्षणमप्रयुक्ते॥

रोरुत्त्वं च॥ ४॥

रोश्चोत्त्वं वक्तव्यम्। अभिनोऽत्र। अच्छिनोऽत्र। संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वादतोऽतीत्युत्वं न प्राप्नोति॥

न वा संयोगान्तलोपस्योत्त्वे सिद्धत्वात्

न वैष दोषः। किं कारणम्? संयोगान्तलोपस्योत्त्वे सिद्धत्वात्। संयोगान्तलोप उत्त्वे सिद्धो भवति॥

नियमवचन से। 'रात्सस्य' इस नियम से नहीं पाता। [भृ धातु से लङ् लकार, प्रथम पुरुष एकवचन में 'अबि–भर् त्' इस दशा में हल्ङ्यादिलोप न मानने की दशा में 'रात्सस्य' से रेफ से उत्तर सकार का ही लोप होता है, इस नियम के कारण तकार–लोप नहीं पाएगा।] यह दोष नहीं है। 'रात्सस्य' में तकार का भी निर्देश है। [अतः रेफ से उत्तर तलोप भी सिद्ध होता है।] तो भी णिजन्त कीर्ति धातु से अप्रत्यय [क्विप्] करने पर 'कीः' यह प्राप्त होता है, जबकि 'कीर्त्' यह इष्ट है।

[समाधान–भाष्य—]अप्रयुक्त होने की दशा में सूत्र के अनुसार शब्द–शासन करना चाहिए। (अप्रयुक्ते यथालक्षणं पदं कर्तव्यम्) [समाज में कीः या कीर्त् दोनों का प्रयोग नहीं होता। अतः जैसा सूत्र नियमित करे, वैसा ही मान लेना चाहिए। समाज में प्रयोग न होने की स्थिति में समाज में इष्ट या अनिष्ट को नहीं जाना जा सकता। ऐसी दशा में सूत्रसम्मत व्यवस्था को ही सर्वोपरि समझना चाहिए।]

वा०—रु का उत्व भी।

भा०—रु का भी उत्व कहना होगा। अभिनोऽत्र (=यहाँ काटा) [भिद् धातु से लङ् लकार, मध्यमपुरुष, एकवचन में भिद् से श्नम् विकरण की दशा में 'अ भिनद् स्' इस दशा में हल्ङ्यादिलोप न होने पर संयोगान्तलोप, पुनः 'दश्च' (८.२.७५) सूत्र से 'द्' के स्थान में 'रु' आदेश। 'अभिनरु+अत्र' इस दशा में रु के स्थान में उ करना है। परन्तु वह] संयोगान्त 'स्' लोप के असिद्ध होने से [स् का व्यवधान होने से 'अतो रोर...' (६.१.१०९) में] 'अति' की अनुवृत्ति होने से उत्व नहीं पाता।

वा०—उत्व में संयोगान्त–लोप के सिद्ध होने से ऐसा नहीं।

भा०—यह दोष नहीं है। क्या कारण है? उत्व में संयोगान्तलोप सिद्ध होता है—इस वचन के अनिवार्य होने से उत्व में संयोगान्तलोप सिद्ध होता है—

यथा हरिवो मेदिनमिति॥ ५॥

तद्यथा—हरिवो मेदिनं त्वा—इत्यत्र संयोगान्तलोप उत्त्वे सिद्धो भवति॥

स एव तर्हि दोषः— सैषोभयतस्पाशेति। तस्मादशक्योऽपृक्तलोपः संयोगान्तलोपो विज्ञातुम्। न चेद्विज्ञायते द्विहलपृक्तग्रहणं तिस्योश्च ग्रहणं कर्तव्यमेव॥

एङ्ह्रस्वात्संबुद्धेः॥ ६.१.६९॥

संबुद्धिलोपे डतरादिभ्यः प्रतिषेधः॥ १॥

संबुद्धिलोपे डतरादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः। हे कतरत्। हे कतमत्॥ किमुच्यते डतरादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्य इति यदापृक्तस्येत्यनुवर्तते?

वा०—जैसे 'हरिवो मेदिनम्'।

भा०—जैसे हरिवो मेदिनं त्वा (तै०सं० ४.७.१४.४) अर्थ—घोड़े वाले ने धरती वाले तुम राजा को) यहाँ पर उत्व करने में संयोगान्तलोप सिद्ध होता है। [हरि शब्द से 'हरयोऽस्य सन्ति' इस विग्रह के अनुसार मतुप् करने पर 'छन्दसीरः' (८.२.१५) से वकार आदेश के पश्चात् सु। सु विभक्ति परे होने पर नुम् आगम। 'हरिवन्त् स्' इस दशा में हल्ङ्यादिलोप द्वारा सुलोप तथा संयोगान्तलोप द्वारा तलोप करने पर 'हरिवन्' इस दशा में 'मतुवसो रुः....' (८.३.१) से नकार को रु आदेश करने पर 'हरिव+रु' इस स्थिति में संयोगान्तलोप के असिद्ध होने से 'हशि च' (६.१.११०) उकारादेश नहीं पाता। वार्तिक द्वारा सिद्ध कहने से यह आदेश होता है।]

तब वही दोष अवस्थित है—सैषा उभयतस्पाशा। इसीलिए हल् अपृक्तलोप को संयोगादिलोप नहीं समझा जा सकता। यदि नहीं समझा जाता तो दो बार हल्, अपृक्त ग्रहण तथा ति, सि का ग्रहण करना ही पड़ेगा।

एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः॥

वा०—सम्बुद्धिलोप में डतर आदि से प्रतिषेध।

भा०—सम्बुद्धि-लोप के प्रसङ्ग में डतर आदि से उत्तर [सम्बुद्धि-लोप का] प्रतिषेध कहना चाहिए। हे कतरत्....आदि। ['कतर+सु' इस दशा में 'अद्ड्डतरादिभ्य...' (७.१.२५) से सु के स्थान में अत् आदेश तथा पररूप करने पर 'कतरत्' इस दशा में 'ह्रस्वान्त से परे सम्बुद्धि-हल् का लोप' इस अर्थ के अनुसार लोप की प्राप्ति होती है।]

यह क्या कह रहे हैं—डतर आदि से उत्तर प्रतिषेध—कहना चाहिए, जबकि 'अपृक्तस्य' की अनुवृत्ति है? [यहाँ 'अत्' अपृक्त नहीं है।]

अपृक्ताधिकारस्य निवृत्तत्वात्॥ २॥

निवृत्तोऽपृक्ताधिकारः॥ किं डतरादिभ्यः प्रतिषेधं वक्ष्यामीत्यतोऽपृक्ताधिकारो निवर्त्यते? नेत्याह।

तच्चामर्थम्॥ ३॥

स चावश्यमपृक्ताधिकारो निवर्त्यः। किमर्थम्? अमर्थम्। अमो लोपो यथा स्यात्। हे कुण्ड। हे पीठ॥ निवृत्तेऽपि वा अपृक्ताधिकारेऽमो लोपो न प्राप्नोति। किं कारणम्? न हि लोपः सर्वापहारी। मा भूत्सर्वस्य लोपः। अलोऽन्त्यस्य विधयो भवन्तीत्यन्त्यस्य लोपे कृते द्वयोरकारयोः पररूपेण सिद्धं रूपं स्यात्। हे कुण्ड, हे पीठेति॥ यद्येतल्लभ्येत कृतं स्यात्। तत्तु न लभ्यम्। किं कारणम्? अत्र हि 'तस्मादित्युत्तरस्य' 'आदेः परस्य' (१.१.६७, ५४) इत्यकारस्य लोपः प्राप्नोति। अकारलोपे च सति मकारे 'अतो दीर्घो यञि', 'सुपि च' (७.३.१०१, १०२) इति दीर्घत्वे हे कुण्डाम्, हे पीठामित्येतद्रूपं प्रसज्येत॥ एवं तर्हि हलो लोपः संबुद्धिलोपः।

वा०—अपृक्त-अधिकार के निवृत्त होने से [डतर आदि से उत्तर सम्बुद्धि-लोप का प्रतिषेध कहना चाहिए।]

भा०—क्या डतर आदि से प्रतिषेध कहा जाएगा, इसलिए अपृक्त अधिकार की निवृत्ति कर रहे हैं। नहीं,

वा०—[वह अपृक्त-अधिकार की निवृत्ति] अम् के लिए।

भा०—उस अपृक्त-अधिकार की निवृत्ति अवश्य कहनी होगी। किसलिए? अम् के लिए। अम् का लोप हो जावे। 'हे कुण्ड....' आदि। [नपुंसक कुण्ड से विहित सु के स्थान में 'अतोऽम्' (७.१.२४) से अम् हो जाने पर उसका इस सूत्र से लोप हो जावे।]

अपृक्त अधिकार की निवृत्ति के पश्चात् भी अम् का लोप नहीं पाता। क्या कारण है? इस सूत्र से अम् का लोप सम्पूर्ण अम् का अपहरण करने वाला नहीं हो सकता। ठीक है, सम्पूर्ण का लोप न हो। [षष्ठीनिर्दिष्ट] अल् के अन्त्य को विधियाँ होती हैं, इसके अनुसार अन्त्य का लोप करने पर दोनों अकारों को ['अतो गुणे' से] पररूप से सिद्ध हो जाएगा—हे कुण्ड...आदि।

यदि ऐसा हो पाए तब तो कार्य पूर्ण ही हो जाएगा। पर यही तो सम्भव नहीं है। क्या कारण है? यहाँ 'तस्मा...' 'आदेः परस्य' के नियम से अकार का लोप प्राप्त होता है। अकारलोप होने पर तथा मकार परे रहने पर 'अतो...', 'सुपि च' से दीर्घत्व होने पर हे कुण्डाम्...आदि रूप प्राप्त होंगे।

अच्छा तो फिर सम्बुद्धिलोप वास्तव में उसके हल् का लोप है।

तद्धल्ग्रहणं कर्तव्यम्? न कर्तव्यम्। प्रकृतमनुवर्तते। क्व प्रकृतम्? 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' (६८) इति। तद्वै प्रथमानिर्दिष्टं षष्ठीनिर्दिष्टेन चेहार्थः! नैष दोषः। एङ्ह्रस्वादित्येषा पञ्चमी हलित्यस्याः प्रथमायाः षष्ठीं प्रकल्पयिष्यति तस्मादित्युत्तरस्येति। एवमपि प्रथमयोः पूर्वसवर्णदीर्घत्वे कृते हे कुण्डा, हे पीठा इत्येतद्रूपं प्रसज्येत! अमि पूर्वत्वमत्र बाधकं भविष्यति। अमीत्युच्यते न चात्रामं पश्यामः। एकदेशविकृतमनन्यवद्भवतीति॥ अथवेदमिह संप्रधार्यम्—संबुद्धिलोपः क्रियतामेकादेश इति? किमत्र कर्तव्यम्? परत्वादेकादेशः। एवमप्येकादेशे कृते व्यपवर्गाभावात्संबुद्धिलोपो न प्राप्नोति! अन्तादिवद्भावेन व्यपवर्गो भविष्यति। उभयत आश्रये नान्तादिवत्। नोभयत आश्रयः करिष्यते। कथम्? नैवं विज्ञायते ह्रस्वादुत्तरस्याः संबुद्धेर्लोपो भवतीति। कथं तर्हि? ह्रस्वादुत्तरस्य हलो लोपो भवति स चेत्संबुद्धेरिति॥

तो फिर हल् ग्रहण करना चाहिए। नहीं करना चाहिए। प्रकृत हल् अनुवृत्त है। कहाँ से प्रकृत है? 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्...' सूत्र से। वह तो प्रथमानिर्दिष्ट है, और यहाँ तो षष्ठी निर्दिष्ट की उपयोगिता है। यह दोष नहीं है। 'एङ्ह्रस्वात्' यह पञ्चमी 'हल्' इस प्रथमा को षष्ठी में बदल देगी, 'तस्मा....' सूत्र से। ['तस्मा...' का अर्थ होगा—पञ्चमी-निर्दिष्ट होने पर इससे उत्तर शब्द षष्ठी-विभक्ति में होता है।]

तो भी [हल् का लोप करने पर भी] प्रथमा-द्वितीया विभक्ति परे रहने पर [हल् म् के लोप के पश्चात्] पूर्व-सवर्णदीर्घ करने पर 'हे कुण्डा...' रूप की प्राप्ति होगी। यहाँ 'अमि पूर्वः' (६.१.१०३) से पूर्वत्व बाधक हो जाएगा। 'अमि' कहा है, [यहाँ म् लुप्त होने से] अम् परे तो देखते नहीं। एकदेशविकृत अनन्य-पूर्व-सदृश ही होगा।

अथवा यह सम्प्रधारणा करें—सम्बुद्धि-लोप करें या [पूर्वरूप] एकादेश। क्या करना चाहिए? परत्व से एकादेश। फिर भी [इस पूर्वरूप] एकादेश करने के पश्चात् [ह्रस्व तथा सम्बुद्धि के बीच] व्यपवर्ग या विवृति न होने से सम्बुद्धि-लोप नहीं प्राप्त होता। अन्तादिवद्भाव से [पूर्व का अन्तवत् मानने से ह्रस्व, पर का आदिवत् मानने से सम्बुद्धि प्राप्त होगी।] व्यपवर्ग हो जाएगा। परिभाषा करेंगे—दोनों [अन्तवत्, आदिवत्] का आश्रयण करने पर अन्तादिवत् नहीं होता। उभयतः आश्रयण नहीं करेंगे। किस प्रकार? यह नहीं समझा जाता—ह्रस्व से उत्तर [हल् विशिष्ट] सम्बुद्धि का लोप होता है। तो फिर क्या? ह्रस्व से उत्तर सम्बुद्धि के हल् का लोप होता है। [हल् को विशेष्य बनाएंगे।] [इस प्रकार सिद्ध हुआ कि हे कुण्ड....आदि के लिए अपृक्त-अधिकार की निवृत्ति की आवश्यकता नहीं।

स तर्हि प्रतिषेधो वक्तव्यः ? न वक्तव्यः ।

उक्तं वा ॥ ४ ॥

किमुक्तम् ? सिद्धमनुनासिकोपधत्वादिति ॥ एवमपि दलोपः साधीयः प्राप्नोति । दुक्करणाद्वा । अथवा दुग्डतरादीनामिति वक्ष्यामि ॥ डित्करणाद्वा । अथवा डिदच्छब्दः करिष्यते । स तर्हि डकारः कर्तव्यः ? न कर्तव्यः । क्रियते

इसकी निवृत्ति न होने पर भी अपृक्त सम्बुद्धि हल् 'म्' का लोप सिद्ध हो जाएगा। पर अपृक्त की निवृत्ति करने पर 'कतरत्' में दोष यथावस्थित रहा। अतः उसके निवारण के लिए] डतर आदि से [सम्बुद्धि-लोप] का प्रतिषेध कहना होगा? नहीं कहना चाहिए।

विशेष—वार्तिककार तथा आगे चलकर काशिकाकार के अनुसार 'अपृक्त' की निवृत्ति हो जाती है। इससे 'हे कुण्ड' सिद्ध होता है। कतरत् की सिद्धि के लिए डित् आदेश करना होता है।

महाभाष्यकार के अनुसार अपृक्त की अनुवृत्ति बने रहने पर भी अन्य उपाय से 'हे कुण्ड' की सिद्धि होती है। पर अपृक्त की निवृत्ति करने पर अग्रिम दोष मानते हुए डित् आदेश वाला समाधान प्रस्तुत करते हैं। वास्तव में महाभाष्यकार को इस समाधान की प्रस्तुति की आवश्यकता नहीं है। स्थिति यह है—

१. अपृक्त की निवृत्ति होने पर—१. हे कुण्ड (सिद्ध), २. कतरत् (असिद्ध)

२. अपृक्त की अनुवृत्ति होने पर—(वार्तिककार-) १. हे कुण्ड (असिद्ध), २. कतरत् (सिद्ध)

महाभाष्यकार—१. हे कुण्ड (सिद्ध) २. कतरत् (सिद्ध)

फिर भी महाभाष्यकार निवृत्ति-पक्ष में कतरत् को असिद्ध मानते हुए वार्तिककार-प्रोक्त डित् आदेश वाला समाधान भी आगे प्रस्तुत करते हैं—

वा०—अथवा कहा है।

भा०—क्या कहा है? सिद्ध है, अनुनासिक उपधा वाला होने से ['अद्' की उपधा 'अ' अनुनासिक है, अतः इत्संज्ञा होकर लोप हो जाएगा।] तब तो और अच्छी तरह दलोप पाएगा। ['कतर+अद्' यहाँ अलोप करने पर 'कतर+द्'। अब 'ह्रस्वान्त से उत्तर हल् का लोप' इस अर्थ में आसानी से दलोप प्राप्त होता है।] अथवा दुक्करण से। अथवा डतर आदि को दुक् होता है, यह कहेंगे। [इससे 'कतर' के अन्त में दुक् आगम अवस्थित होता है। इससे सम्बुद्धि-लोप होने पर भी रूप सिद्ध हो जाता है।] अथवा डित्करण से। अथवा अत् शब्द को डित् कर देंगे। [इससे कतर+अत् इस दशा में 'टेः' (६.४.१४३) सूत्र से कतर के अन्तिम अकार का लोप हो जाएगा। अब ह्रस्व से उत्तर न होने से सम्बुद्धि-लोप नहीं होगा।] तो फिर वह डकार किया जावे? नहीं करना चाहिए, [क्योंकि] किया

न्यास एव। द्विडकारको निर्देशः। अदड्डुतरादिभ्य इति॥ एवमपि लोपः प्राप्नोति। विहितविशेषणं ह्रस्वग्रहणम्। यस्माद् ह्रस्वात्संबुद्धिर्विहितेति॥

अपृक्तसंबुद्धिलोपाभ्यां लुक्॥ ५॥

अपृक्तसंबुद्धिलोपाभ्यां लुग्भवति विप्रतिषेधेन। अपृक्तलोपस्यावकाशः—गोमान्, यवमान्। लुकोऽवकाशः— त्रपु, जतु। इहोभयं प्राप्नोति— तद् ब्राह्मणकुलम् यद् ब्राह्मणकुलम्। संबुद्धिलोपस्यावकाशः—हे अग्ने, हे वायो। लुकः स एव। इहोभयं प्राप्नोति—हे त्रपु। हे जतु। लुग्भवति विप्रतिषेधेन॥ स तर्हि विप्रतिषेधो वक्तव्यः? न वक्तव्यः।

न वा लोपलुकोर्लुगवधारणाद्यथानडुह्यत इति॥ ६॥

न वार्थो विप्रतिषेधेन। किं कारणम्? लोपलुकोर्लुगवधारणात्।

ही गया है—दो डकार वाला निर्देश है—'अदड्डतरादिभ्यः...' (७.१.२५) इस प्रकार। तो भी लोप प्राप्त होता है। [अत् के अ को ह्रस्व तथा उससे उत्तर 'त्' को सम्बुद्धि का अवयव अर्थात् सम्बुद्धि मानकर तलोप का प्रश्न उठाया जा रहा है।] ह्रस्वग्रहण विहित का विशेषण है—जिस ह्रस्वान्त से सम्बुद्धि विहित है। [उसी ह्रस्वान्त से उत्तर सम्बुद्धि का लोप। यहाँ टिलोप करने पर उस ह्रस्वान्त से उत्तर सम्बुद्धि नहीं है, अतः लोप नहीं होगा।

इस प्रकार 'अपृक्तस्य' की निवृत्ति-पक्ष में कतरत् में सम्बुद्धि-लोप का समाधान पूर्ण हुआ।]

वा०—अपृक्त-सम्बुद्धि-लोप से पहले लुक्।

भा०—अपृक्त-लोप तथा सम्बुद्धि-लोप से लुक् पहले हो जाता है, विप्रतिषेध से। अपृक्त-लोप का अवकाश है—गोमान्...। [यहाँ नपुंसकभिन्न से लोप होने से हल्ङ्यादि-लोप (६.१.६६) का अवकाश है।] लुक् का अवकाश है—त्रपु, जतु। [यहाँ अहलन्त से लोप होने से 'स्वमोर्नपुंसकात्' (७.१.२३) का अवकाश है।] यहाँ [हलन्त नपुंसक से] दोनों पाते हैं—तत् ब्राह्मणकुलम्...।

सम्बुद्धिलोप का अवकाश है—[नपुंसकभिन्न—] हे अग्ने, हे वायो। लुक् का वही [जो सम्बुद्धि नहीं है।] नपुंसक तथा सम्बुद्धि में दोनों पाते हैं—हे त्रपु.... आदि। [इन दोनों में] विप्रतिषेध से लुक् हो जाता है। [लुक् होने से प्रत्ययलक्षण] प्रतिषेध हो जाता है। अतः सम्बुद्धि को मान कर 'ह्रस्वस्य गुणः' (७.३.१०८) से होने वाला गुण नहीं होता।]

वा०—लोप और लुक् में लुक् का अवधारण होने से यह नहीं, जिस प्रकार अनडुह्यते।

भा०—यहाँ विप्रतिषेध की आवश्यकता नहीं। क्या कारण है? क्योंकि लोप और लुक् के मध्य लुक् को ही प्रबल सुनिश्चित किया जाता है—

लोपलुकोर्हि लुगवधार्यते। लुग्लोपयणयवायावेकादेशेभ्यः। यथा—अनडुह्यत इति। तद्यथा—अनड्वानिवाचरति—अनडुह्यत इत्यत्र लोप-लुकोर्लुगवधार्यते। एवमिहापि॥

शेश्छन्दसि बहुलम्॥ ६.१.७०॥

अयं योगः शक्योऽवक्तुम्। कथम्—अग्ने त्री ते वाजिना त्री षधस्था। ता ता पिण्डानाम् इति? पूर्वसवर्णेनाप्येतत्सिद्धम्॥ न सिध्यति। नुमा व्यवहितत्वात्पूर्वसवर्णो न प्राप्नोति॥ छन्दसि नंपुसकस्य पुंवद्भावो वक्तव्यः—मधोर्गृह्णाति, मधोस्तृप्ता इवासत इत्येवमर्थम्। तत्र पुंवद्भावेन नुमो निवृत्तिः। नुमि निवृत्ते पूर्वसवर्णेन सिद्धम्॥ भवेत्सिद्धम्—अग्ने त्री ते वाजिना त्री षधस्था इति। इदं तु न सिध्यति—ता ता पिण्डानाम् इति॥ इदमपि सिद्धम्। कथम्? साप्तमिके पूर्वसवर्णे कृते पुनः षाष्ठिको भविष्यति॥ एवमपि जसि

'लुग्लोप...' आदि वार्तिक से। [इस वार्तिक से यह सङ्केत मिलता है कि अन्तरङ्ग विधियों को भी बहिरङ्ग लुक् बाध लेता है। अतः यहाँ भी लुक् ही होगा। अतुल्यबल होने से विप्रतिषेध की आवश्यकता नहीं।] जैसे अनडुह्यते। यहाँ 'अनड्वानिव आचरति' इस अर्थ में 'अनडुह्' से उत्पन्न 'सु' का लुक् होता है। लोप होने पर प्रत्ययलक्षण से नुम् आगम होता है। लुक् होने से प्रत्ययलक्षण-प्रतिषेध होने से नुम् नहीं होता है।

शेश्छन्दसि बहुलम्॥

भा०—यह सूत्र न कहें तो काम चल सकता है। यह किस प्रकार बनेगा—'अग्ने त्री ते...' (=हे अग्ने, तुम्हारे तीन वाजिन (=दूध के फटने पर पानी वाला भाग) हैं, तीन उसके साथ हैं, वे वे पिण्डों के हैं।)

यह पूर्वसवर्ण से भी सिद्ध हो जाएगा। नहीं सिद्ध होता। [वाजिन को नुम् आगम होने पर 'वाजिन न् इ' इस दशा में] नुम् से व्यवहित होने से पूर्वसवर्ण नहीं पाता। [समाधान-भाष्य—] छन्द में नपुंसक का पुंवद्भाव कहना चाहिए। मधोर्गृह्णाति, मधोस्तृप्ता इवासते (=शहद से मानो तृप्त होकर बैठे हैं) के लिए। तब पुंवद्भाव से नुम् की निवृत्ति होगी। नुम् की निवृत्ति होने पर [वा छन्दसि ६.१.१०६ से] पूर्वसवर्ण से सिद्ध होगा।

ठीक है, 'अग्ने त्री ते...' सिद्ध होगा। पर यह तो सिद्ध नहीं होगा—'ता ता पिण्डानाम्'। [क्योंकि पुंवद्भाव नित्य-नपुंसक को होगा, इसे नहीं।] यह भी सिद्ध है। किस प्रकार? साप्तमिक ['सुपां सुलुक्...' (७.१.३९) से] पूर्वसवर्ण करने पर ['ता अ' बनने पर] षाष्ठिक ['प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (६.१.९८)] हो जाएगा। फिर भी [अग्ने त्री ते... यहाँ त्री में अकार परे मिलने से 'जसि च' ७.३.१०९

गुणः प्राप्नोति॥ वक्ष्यत्येतद्—'जसादिषु च्छन्दोवावचनं प्राङ्णौ चङ्युपधाया' इति॥

ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्॥ ६.१.७१॥

तुकि पूर्वान्ते नपुंसकोपसर्जनह्रस्वत्वं द्विगुस्वरश्च॥ १॥

तुकि पूर्वान्ते नपुंसकोपसर्जनह्रस्वत्वं द्विगुस्वरश्च न सिध्यति। आराशस्त्रि च्छत्रम्, धानाशष्कुलिच्छत्रम्। निष्कौशाम्बिच्छत्रम्, निर्वाराणसिच्छत्रम्। द्विगुस्वर—पञ्चारत्निच्छत्रम्, दशारत्निच्छत्रम्। तुकि कृतेऽनन्त्यत्वादेते विधयो न प्राप्नुवन्ति॥

न वा बहिरङ्गलक्षणत्वात्॥ २॥

न वैष दोषः। किं कारणम्? बहिरङ्गलक्षणत्वात्। बहिरङ्गलक्षणस्तुक्। अन्तरङ्गा एते विधयः। असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे॥ इह तर्हि ग्रामणिपुत्रः, सेनानिपुत्र इति ह्रस्वत्वे कृते तुक् प्राप्नोति॥

से] गुण पाता है। आगे कहेंगे—छन्द में जस् आदि परे रहने पर 'णौ चङ्युपधायाः' (७.४.१) से पूर्व-सूत्रों में विकल्प होता है। [इससे गुण नहीं होगा, केवल पूर्वसवर्ण-दीर्घ होने से सिद्ध होगा।]

ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्॥

वा०—तुक् के पूर्वान्त करने में नपुंसक-उपसर्जनह्रस्वत्व तथा द्विगु स्वर।

भा०—तुक् के पूर्वान्त करने में [ककार अनुबन्ध के द्वारा पूर्व के अन्तिम अक्षर का भाग करने पर] नपुंसक तथा उपसर्जन को विधीयमान ह्रस्वत्व तथा द्विगुस्वर भी सिद्ध नहीं होगा। आराशस्त्रिच्छत्रम्...' [यहाँ 'आराशस्त्री' के दीर्घ ईकार को 'दीर्घात् पदान्ताद्वा' से तुक् हुआ है। यदि यह तुक् अन्तिम अक्षर ईकार का भाग हो तो अब 'ह्रस्वो नपुंसके....' (१.२.४७) से अन्तिम अक्षर को विधीयमान ह्रस्व नहीं पाता] 'निष्कौशाम्बिच्छत्रम्...' [यहाँ 'गोस्त्रियो...' से ह्रस्व नहीं पाता।] द्विगुस्वर-पञ्चारत्निच्छत्रम् [यहाँ 'संख्यापूर्वो द्विगुः' (२.१.५२) से द्विगुसमास के पश्चात् पूर्वान्त] तुक् होने पर [अन्त में इक् न बन पाने से 'इगन्त काल...' (६.२.२९) से पूर्वपद-प्रकृतिस्वर] नहीं प्राप्त होता।

वा०—बहिरङ्गलक्षणत्व से [दोष] नहीं।

भा०—यह दोष नहीं है। क्या कारण है? बहिरङ्गलक्षणत्व होने से। तुक् बहिरङ्गलक्षण है, ये विधियाँ अन्तरङ्ग हैं। अन्तरङ्ग की दृष्टि में बहिरङ्ग असिद्ध होता है। ['पूर्वपर नित्या...' परिभाषा से ये अन्तरङ्ग विधियाँ पहले होंगी। उसके पश्चात् तुक् हो जाएगा।]

अच्छा। तो फिर 'ग्रामणिपुत्रः...' आदि में ह्रस्वत्व कर लेने पर तुक् पाता है।

ग्रामणिपुत्रादिषु चाप्राप्तिः ॥ ३ ॥

ग्रामणिपुत्रादिषु चाप्राप्तिः । किं कारणम् ? बहिरङ्गलक्षणत्वादेव ॥ अथवा परादिः करिष्यते ॥

परादौ संयोगादेरित्यतिप्रसङ्गः ॥ ४ ॥

परादौ संयोगादेरित्यतिप्रसङ्गो भवति। अपच्छायात्। 'वान्यस्य संयोगादेः' (६.४.६८) इत्येत्वं प्रसज्येत ॥

विलोपवचनं च ॥ ५ ॥

वेश्च लोपो वक्तव्यः। अग्निचित्, सोमसुत्। अपृक्तस्येति वेर्लोपो न प्राप्नोति ॥ नैष दोषः। अपृक्तग्रहणं न करिष्यते। यदि न क्रियते! दर्विः, जागृविः, अत्रापि प्राप्नोति ? अनुनासिकपरस्य विशब्दस्य ग्रहणं शुद्धपर श्चात्र विशब्दः। एवमपि सतुक्कस्य लोपः प्राप्नोति। निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीत्येवं न भविष्यति ॥

[यहाँ 'इको ह्रस्वो....' (६.३.६१) से विधीयमान ह्रस्व बहिरङ्ग है। क्योंकि यह पूर्वपद, उत्तरपद दोनों की अपेक्षा करता है। तुक् अन्तरङ्ग हैं। ह्रस्व करने के पश्चात् निमित्त की उपस्थिति होने से ह्रस्वत्व करने पर तुक् पाता है।]

वा०—ग्रामणिपुत्र आदि में अप्राप्ति।

भा०—'ग्रामणि-पुत्र' आदि में प्राप्ति नहीं। क्या कारण है ? बहिरङ्गलक्षण होने से ही। [यहाँ निमित्त के उपस्थित होने पर ह्रस्व के पश्चात् तुक् पाता है। पर तुक् की दृष्टि में वह निष्पन्न ह्रस्व असिद्ध होने से तुक् नहीं होता।]

वा०—परादि-पक्ष में 'संयोगादेः' यह अतिप्रसङ्ग।

भा०—परादि-पक्ष में 'संयोगादेः' सूत्र से अतिप्रसङ्ग होता है। अपच्छायात्। [यहाँ तुक् के परादि छ का भाग होने पर 'च्छा' संयोगादि बन जाने से] 'वाऽन्यस्य...' से एत्व की प्राप्ति होगी।

वा०—विलोपवचन भी।

भा०—वि का भी लोप कहना होगा। अग्निचित्। [यहाँ तुक् के क्विप् का भाग होने पर अपृक्त वि न बन पाने से] 'वेरपृक्तस्य' (६.१.६५) से विलोप की प्राप्ति नहीं होगी। यह दोष नहीं है। 'अपृक्त' ग्रहण नहीं करेंगे। यदि नहीं करेंगे तो 'दर्विः...' यहाँ भी लोप पाएगा। अनुनासिक अवयव वाले 'वि' शब्द का यहाँ ग्रहण है। यह तो शुद्ध अवयव वाला है। फिर भी तुक् सहित का लोप प्राप्त होता है। 'निर्दिश्यमानस्य...' परिभाषा से नहीं होगा।

इट्प्रतिषेधश्च॥ ६॥

इट्प्रतिषेधश्च वक्तव्यः। परीतत्। सतुक्कस्य वलादिलक्षण इट् प्रसज्येत॥ एवं तर्ह्यभक्तः करिष्यते।

अभक्ते स्वरः॥ ७॥

यद्यभक्तस्तर्हि स्वरे दोषो भवति। दधिच्छादयति। मधुच्छादयति। 'तिङ्ङतिङः' (८.१.२८) इति निघातो न प्राप्नोति। ननु च तुगेवातिङ्। न तुकः परस्य निघातः प्राप्नोति। किं कारणम्? नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः। नञ्युक्त इवयुक्ते वान्यस्मिंस्तत्सदृशे कार्यं विज्ञायते, तथा ह्यर्थो गम्यते। तद्यथा—अब्राह्मणमानयेत्युक्ते ब्राह्मणसदृशमेवानयति, नासौ लोष्टमानीय कृती भवति। एवमिहाप्यतिङिति तिङ्प्रतिषेधादन्यस्मादतिङस्तिङ्सदृशात्कार्यं विज्ञास्यते। किं चान्यदतिङ् तिङ्सदृशम्? पदम्॥

वा०—इट् प्रतिषेध भी।

भा०—इट् का प्रतिषेध भी कहना होगा। परीतत्। [यहाँ परि उपसर्ग तन् धातु से क्विप् कर लेने पर 'क्वौ च गमादीनाम्' से अनुनासिक-लोप होता है। तब यहाँ परादि तुट् करने पर वह प्रत्यय का भाग होगा। इससे इसके वलादि-आर्धधातुक बनने पर] वलादिलक्षण इट् की प्रासि होगी।

तो फिर इसे अभक्त करेंगे।

वा०—अभक्त में स्वर।

भा०—यदि अभक्त है तो स्वर में भेद होता है। 'दधिच्छादयति' [यहाँ दधि के पश्चात् अभक्त तुक् का व्यवधान होने से अतिङ्से उत्तर तिङ्को] 'तिङ्ङतिङः' से विधीयमान निघात नहीं प्रास होता। क्यों, यहाँ तुक् ही अतिङ् है? ['दधि त्' इतने को अतिङ् मान लेंगे] तुक् से परे निघात नहीं पाता। क्या कारण है? 'नञिवयुक्तम्...' इस परिभाषा से। नञ् से युक्त या इव से युक्त होने पर अन्य, परन्तु उस अन्य के सदृश में कार्य समझा जाता है। जैसे 'अब्राह्मणमानय' यहाँ ब्राह्मणसदृश लाया जाता है। कोई व्यक्ति ढेला लाकर चरितार्थ नहीं होता। इसी प्रकार यहाँ 'अतिङ्' इस प्रतिषेध से तिङ्भिन्न तिङ्सदृश के प्रति कार्य समझा जाएगा। यहाँ 'अतिङ्' से तिङ्सदृश क्या है? पद।

[इस प्रकार तुक् को अभक्त मानने पर दधि के पश्चात् 'त्' का व्यवधान ही होगा। उसे अतिङ्नहीं माना जा सकेगा। इससे अभक्त पक्ष में भी दोष होने से यथा न्यास पूर्वान्त-पक्ष ही समुचित है।]

संहितायाम्॥ ६.१.७२॥

अयं योगः शक्योऽवक्तुम्। कथम्? अधिकरणं नाम त्रिप्रकारं—व्यापकमौपश्लेषिकं वैषयिकमिति। शब्दस्य च शब्देन कोऽन्योऽभिसंबन्धो भवितुमर्हत्यन्यदत उपश्लेषात्। 'इको यणचि' (६.१.७७) अच्युपश्लिष्टस्येति। तत्रान्तरेण संहिताग्रहणं संहितायामेव भविष्यति॥

संहितायाम्॥

भा०—यह सूत्र न कहें तो काम चल सकता है। किस प्रकार? अधिकरण तीन प्रकार का होता है—व्यापक, औपश्लेषिक तथा वैषयिक।

विवरण—१. व्यापक का अर्थ है जो अपने सम्पूर्ण अवयवों में सर्वथा परिव्याप्त हो। जैसे—दूध में घी, तिलों में तेल इत्यादि। २. औपश्लेषिक के दो भेद हैं—(क) जो अपने सम्पूर्ण अवयवों में परिव्याप्त न हो। जैसे—चटाई पर देवदत्त। यहाँ वह [देवदत्त] पूरी चटाई पर अवस्थित नहीं है। (ख) जो लक्षणा द्वारा मुख्य आधार के समीपस्थ आधार हो वह द्वितीय भेद के अन्तर्गत है। जैसे—गङ्गायां घोषः। ३. जो संयोग, समवाय दोनों सम्बन्धों वाला न हो, केवल कल्पित सम्बन्ध वाला हो, वह वैषयिक है। जैसे—गुरौ वसति=गुरु के अधीन इच्छा पर प्रकल्पित आधारित है।

भा०—शब्द (वर्ण) का शब्द (=वर्ण) के साथ अन्य क्या अभिसम्बन्ध हो सकता है, सिवाय उपश्लेष के। 'इको यणचि' (६.१.७७)—यहाँ अच् से उपश्लिष्ट के स्थान में। [इक् तथा अच् दो वर्ण कहे गये हैं। इनमें इक् अक्षर 'अच्' पर आधारता- सम्बन्ध से नहीं रह सकता। अतः २ (ख) के अनुसार तत्समीप में अवस्थित माना जाएगा। संहितायाम् के द्वारा यही कार्य करना चाहते हैं। अतः] संहिता-ग्रहण के बिना भी संहिता में ही कार्य होगा।

विशेष—यहाँ महाभाष्यकार ने अतितीक्ष्ण-बुद्धि वालों के लिए इस सूत्र का खण्डन किया है। पर सामान्यतया इसकी उपयोगिता है ही। यहाँ वर्णों के प्रसङ्ग में कालकृत समीपता उपस्थित होती है। 'गङ्गायां घोषः' के समान देशकृत नहीं। इस कालकृत समीपता का निर्धारण करना देशकृत की तुलना में कुछ अधिक कठिन होता है। अतः सूत्रकार का कहना है कि इतनी कालकृत समीपता जिससे अधिक समीपता हो न सके। इसे ही सूत्रकार ने 'परः सन्निकर्षः संहिता' (१.४.१०८) में पर शब्द से प्रकट किया है।

सूत्रकार का निगूढ आशय है कि इतनी अधिक समीपता में एक के स्थान में अन्य वर्ण-परिवर्तन स्वाभाविक-रूप से होता ही है। इससे हर्ष, उद्वेग आदि मनोभावों का स्वाभाविक प्राकट्य होता है। माना कोई व्यक्ति मृत्यु-शय्या पर पड़ा है। वह दो घण्टे पश्चात् भी जीवित है। इसकी सूचना देने के लिए वह व्यक्ति

आङ्माडोश्च ॥ ६.१.७४ ॥

अथ किमर्थमाङ्माङोः सानुबन्धकयोर्निर्देशः ?

आङ्माङोः सानुबन्धकनिर्देशो गतिकर्मप्रवचनीयप्रतिषेध-संप्रत्ययार्थः ॥ १ ॥

आङ्माङोः सानुबन्धकयोर्निर्देशः क्रियते—आङो गतिकर्मप्रवचनीय-संप्रत्ययार्थो माङः प्रतिषेधसंप्रत्ययार्थः। इह मा भूत्—आ छाया मानयति। प्रमा छन्दः ॥

दीर्घात् ॥ ६.१.७५ ॥

पदान्ताद्वा ॥ ६.१.७६ ॥

खुशी से उछल कर कहता है—जीवत्यहो !! यहाँ वह यणादेश स्वतः हो जाता है, जिसे 'इको यणचि' ने कहा है। पर औपश्लेशिक अधिकरण में 'जीवति अहो' इस प्रकार उदासीनता से कहे गए वाक्य में हम यह नहीं जान सकते यहाँ वर्णों की समीपता मानते हुए यणादेश करें या नहीं।

आङ्माडोश्च ॥

भा०—यहाँ आङ्, माङ् का सानुबन्धक निर्देश क्यों किया है ?

वा०—आङ्, माङ् का सानुबन्धक-निर्देश गति-कर्मप्रवचनीय तथा प्रतिषेध-सम्प्रत्यय के लिए।

भा०—आङ्, माङ् का सानुबन्धक निर्देश किया है—आङ् के गति, कर्मप्रवचनीय-सम्प्रतीति के लिए तथा माङ् के प्रतिषेध-सम्प्रतीति के लिए।

विवरण—ङित् आङ् क्रियायोग में गतिसंज्ञक होने पर, मर्यादा, अभिविधि में, 'आङ् मर्यादावचने' (१.४.८९) से कर्मप्रवचनीय होने पर सम्पन्न होता है। इस अर्थ में तथा व्याख्याकारों के अनुसार ईषत् अर्थ में भी आङ् के ङित् होने से इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। वाक्य, स्मरण में आङ् के ङित् न होने से इस अर्थ में यह सूत्र नहीं लगता। साथ ही माङ् के प्रतिषेध अर्थ में होने पर यह सूत्र प्रवृत्त होता है। अतः

भा०—यहाँ [नित्य तुक] नहीं होता। आ छायामानयति (ओ ! यह छाया का साधन छत्र आदि लाता है)। प्रमा छन्दः। [यहाँ प्र उसर्ग पूर्वक मा धातु से 'आतश्चोपसर्गे' (३.३.१०६) से अङ् तथा इसके पश्चात् टाप् हुआ है। यहाँ इन अर्थों के न होने से तुक् नित्य नहीं अपितु (६.१.७६) से विकल्प से होगा]

दीर्घात् पदान्ताद्वा ॥

दीर्घात्पदान्ताद्वा विश्वजनादीनां छन्दसि॥ १॥

'दीर्घात्पदान्ताद्वा' इत्यत्र विश्वजनादीनां छन्दस्युपसंख्यानं कर्तव्यम्। विश्वजनस्य छत्रम्, विश्वजनस्य च्छत्रम्। न छायां करवोऽपरम्। न च्छा॒यां क॑र॒वोऽप॑राम् (अथर्व० १३.१.५६)॥

इको यणचि॥ ६.१.७७॥

इग्ग्रहणं किमर्थम्? इह मा भूत्—अग्निचिदत्र, सोमसुदत्र। नैतदस्ति प्रयोजनम्। जश्त्वमत्र बाधकं भविष्यति।

जश्त्वं न सिद्धं यणमत्र पश्य

असिद्धमत्र जश्त्वं तस्यासिद्धत्वाद्यणादेशः प्राप्नोति॥

यश्चापदान्तो हलचश्च पूर्वः।

यश्चापदान्तो हलचश्च पूर्वस्तस्य प्राप्नोति। पचतीति॥ एवं तर्हि—

दीर्घस्य यण्

दीर्घस्य यणादेशं वक्ष्यामि। तद्दीर्घग्रहणं कर्तव्यम्? न कर्तव्यम्। प्रकृतमनुवर्तते। क्व प्रकृतम्? 'दीर्घात्' 'पदान्ताद्वा' (७५, ७६) इति।

वा०—'दीर्घात् पदान्ताद्वा' यहाँ पर विश्वजन आदि को छन्द में।

भा०—'दीर्घात् पदान्ताद्वा' यहाँ पर विश्वजन आदि को छन्द में उपसङ्ख्यान करना चाहिए। विश्वजनस्य छत्रम्... आदि। [यहाँ 'छे च' से नित्य तुक् नहीं, अपितु इसके अनुसार विकल्प से होता है।]

इको यणचि॥

भा०—इक् ग्रहण किसलिए है? यहाँ [अन्तिम हल् के स्थान में यण्] न हो—अग्निचिदत्र...आदि। यह प्रयोजन नहीं है। यहाँ [पर होने से 'झलां जशोऽन्ते' (८.२.३९) से विहित] जश्त्व बाधक हो जाएगा।

का०—जश्त्व असिद्ध है, अतः यहाँ यण् को देखो।

भा०—यहाँ [पूर्वत्रासिद्धम् (८.२.१)] से जश्त्व असिद्ध है, अतः यणादेश प्राप्त होता है।

का०—साथ ही अच् से पूर्व जो अपदान्त हल्।

भा०—साथ ही अच् से पूर्व जो अपदान्त हल् उसे यण् पाता है। [पच्+अति इस स्थिति में] पचति। अच्छा तो फिर—

का०—दीर्घ के स्थान में यण्।

भा०—दीर्घ के स्थान में यण् आदेश कहेंगे। तो फिर दीर्घ ग्रहण किया जावे? नहीं करना चाहिए। प्रकृत अनुवृत्त है। कहाँ से प्रकृत है? 'दीर्घात् पदान्ताद्वा' से।

तद्वै पञ्चमीनिर्दिष्टं षष्ठीनिर्दिष्टेन चेहार्थः। अचीत्येषा सप्तमी दीर्घादिति पञ्चम्याः षष्ठीं प्रकल्पयिष्यति 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (१.१.६६) इति॥ भवेत्सिद्धं—कुमार्यत्र, ब्रह्मबन्ध्वर्थमिति। इदं तु न सिध्यति—दध्यत्र, मध्वत्रेति।

ह्रस्व इति प्रवृत्तं

ह्रस्वग्रहणमपि प्रकृतमनुवर्तते। क्व प्रकृतम्? 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (७१) इति॥ यदि तदनुवर्तते दीर्घात्पदान्ताद्वा ह्रस्वस्येति—ह्रस्वादपि पदान्ताद्विकल्पेन प्राप्नोति।

संबन्धवृत्त्या

संबन्धमनुवर्तिष्यते। 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (७१)। 'संहितायाम्' (७२) ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्। 'छे च' (७३) ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्। 'आङ्माङोश्च' (७४) ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्। 'दीर्घात्' 'पदान्ताद्वा' (७५, ७६) ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्। तत इको यणचि। ह्रस्वस्येति वर्तते पिति कृति तुगिति निवृत्तम्॥ इह तर्हि प्राप्नोति—चयनम्,

---

वह तो पञ्चमी-निर्दिष्ट है यहाँ षष्ठी-निर्दिष्ट की उपयोगिता है। 'अचि' यह सप्तमी 'दीर्घात्' इस पञ्चमी को षष्ठी में बदल देगी—'तस्मिन्निति...' के अनुसार।

ठीक है, इससे यह तो सिद्ध है—कुमार्यत्र...आदि। पर यहाँ [ह्रस्व इकार को यणादेश] सिद्ध नहीं होता—दध्यत्र आदि।

का०—'ह्रस्व' यह अनुवृत्त है।

भा०—ह्रस्व ग्रहण भी प्रकृत होकर अनुवृत्त है। कहाँ से प्रकृत है? 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' सूत्र से। यदि वह अनुवृत्त है तो 'दीर्घात् पदान्ताद्वा' सूत्र में 'ह्रस्वस्य' [के भी अनुवृत्त होने से] ह्रस्व पदान्त से भी विकल्प से [तुक्] प्राप्त होता है।

का०—सम्बन्ध-वृत्ति से।

भा०—सम्बन्ध [पूर्वक] अनुवर्तन करेंगे। 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्'। 'संहितायाम्' तथा 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्'। 'छे च' तथा 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्'। 'आङ्माङोश्च' तथा 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्'। 'दीर्घात् पदान्ताद्वा' तथा 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्'। इसके पश्चात् 'इको यणचि' यहाँ पर 'ह्रस्वस्य' की अनुवृत्ति है। 'पिति कृति तुक्' की निवृत्ति हो गई है। [इस प्रकार सूत्र का अर्थ होगा—'दीर्घ के स्थान में तथा ह्रस्व के स्थान में अच् परे रहने पर यण् होता है।]

तब तो यहाँ भी [यणादेश] पाएगा—चयनम्... आदि। [व्यक्ति-पक्ष में

चायकः। लवनम्, लावकः? अयादयोऽत्र बाधका भविष्यन्ति॥ इह तर्हि प्राप्नोति—खट्वेन्द्रः, मालेन्द्रः। खट्वैलका, मालैलका?

गुणवृद्धिबाध्यः॥

गुणवृद्धी अत्र बाधिके भविष्यतः॥ इदं तर्हि प्रयोजनमिकोऽचि यणेव यथा स्याद्यदन्यत् प्राप्नोति तन्मा भूदिति। किं चान्यत् प्राप्नोति? शाकलम्। सिन्नित्यसमासयोः शाकलप्रतिषेधं चोदयिष्यति स न वक्तव्यो भवति॥

यणादेशः प्लुतपूर्वस्य च॥ १॥

यणादेशः प्लुतपूर्वस्य चेति वक्तव्यम्। अग्ना३इ इन्द्रम्—अग्ना३यिन्द्रम्। पटा३उ उदकम्—पटा३वुदकम्। अग्ना३इ आशा—अग्ना३याशा। पटा३उ आशा—पटा३वाशा। किं पुनः कारणं न सिध्यति?

प्रत्येक उदाहरण के प्रति–सूत्र को सावकाश होना चाहिए। अतः दोनों को सावकाशता प्रदान करने के लिए पर्याय से यण् तथा अयादि आदेश प्राप्त होंगे।] [समाधान-भाष्य—] यहाँ अयादि बाधक हो जाएंगे। [व्यक्ति–पक्ष में भी उत्सर्ग–अपवाद-भाव अवश्य मान्य होता है।] तब तो यहाँ भी प्राप्त होता है—'खट्वेन्द्रः'... आदि। [यहाँ खट्वा इन्द्र तथा खट्वा+एलका इस दशा में दीर्घ आकार के स्थान में यणादेश प्राप्त होगा।]

का०—गुण–वृद्धि के द्वारा बाध्य।

भा०—यहाँ गुण, वृद्धि बाधक हो जाएँगे। अच्छा तो फिर [इक् का] यह प्रयोजन है कि इक् को अच् परे रहने पर यण् ही हो, जो भी कुछ अन्य प्राप्त होता है, वह न हो। अन्य क्या प्राप्त होता है? शाकल ['इकोऽसवर्णे...' (६.१.१२७) सूत्र से शाकल्य के मत में प्रकृति–भाव तथा ह्रस्व प्राप्त होता है। इसके निवारण के लिए] 'सिन्नित्यसमासयोः...' वार्तिक से शाकल प्रतिषेध कहेंगे, उसे कहने की आवश्यकता नहीं होगी। [इस प्रकार यहाँ विधि के इक् के स्थान में सिद्ध होने पर पुनः इक् वचन नियमार्थ होगा—इक् के स्थान में यण् ही होता है। इससे शाकल–विधि सिद्ध हो जाएगी।]

प्रसङ्गान्तर—**वा०**—प्लुत–पूर्व को यणादेश।

भा०—प्लुत–पूर्व वाले [इकार उकार के स्थान में] यणादेश कहना चाहिए। अग्ना३ इ इन्द्रम्...आदि। [यहाँ 'अग्ने इन्द्रम्' इस दशा में 'एचोऽप्रगृह्यस्य...' (८.२.१०७) से ए, ओ की पूर्व अर्ध मात्रा के स्थान में प्लुत आकार तथा अगली अर्ध मात्रा के स्थान में इकार, उकार आदेश होते हैं। इस प्रकार 'अग्ना३ इ इन्द्रम्' इस नवीन आदिष्ट इकार के स्थान में यणादेश करना है।] क्या कारण है कि यह सिद्ध नहीं होता? [एकार, ओकार की अर्ध मात्रा के स्थान में कहा गया आकार

असिद्धः प्लुतः प्लुतविकारौ चेमौ ॥ सिद्धः प्लुतः, स्वरसंधिषु। कथं ज्ञायते? यदयं 'प्लुतप्रगृह्या अचि..' (६.१.१२५) इति प्लुतस्य प्रकृतिभावं शास्ति, तज्ज्ञापयत्याचार्यः—सिद्धः प्लुतः स्वरसंधिष्विति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्? सतो हि कार्यिणः कार्येण भवितव्यम्॥ इदं तर्हि प्रयोजनम्—

दीर्घशाकलप्रतिषेधार्थम्॥ २॥

दीर्घत्वं शाकलं च मा भूदिति॥ एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। आरभ्यते प्लुतपूर्वस्य यणादेशः—'तयोर्य्वावचि संहितायाम्' (८.२.१०८) इति, तद्दीर्घशाकलप्रतिषेधार्थं भविष्यति॥ तन्न वक्तव्यं भवति॥ ननु च तस्मिन्नप्युच्यमान इदं न वक्तव्यं भवति॥ अवश्यमिदं वक्तव्यं यौ प्लुतपूर्वाविदुतावप्लुतविकारौ तदर्थम्। भो३इ इन्द्रम्—भो३यिन्द्रम्। भो३इ इह—भो३यिहेति॥

तथा उसे विधीयमान] प्लुत असिद्ध होता है। ये प्लुत सहित विकार [इ, उ] हैं, [ये भी असिद्ध होते हैं। अतः यणादेश प्राप्त नहीं होता।]

स्वर सन्धि में प्लुत [तथा उसके विकार] सिद्ध होते हैं। कैसे ज्ञात होता है? यह जो 'प्लुतप्रगृह्या अचि...' से प्लुत को प्रकृतिभाव का शासन किया है, उससे आचार्य ज्ञापित करते हैं कि स्वरसन्धि में प्लुत सिद्ध होता है। यह ज्ञापक किस प्रकार है? कार्यी [आदिष्ट प्लुत आकार तथा इकार] के होने पर ही कार्य [प्रकतिभाव आदि] होना चाहिए।

भा०—अच्छा तो फिर ['यणादेशः प्लुतपूर्वस्य च' वार्तिक का] यह प्रयोजन है—

वा०—दीर्घ, शाकल के प्रतिषेध के लिए।

भा०—दीर्घत्व तथा शाकल विधि न होवे। ['अग्ना३ इ इन्द्रम्' इस दशा में आदेश के सिद्ध होने से 'अकः सवर्णे दीर्घः' (६.१.९७) से दीर्घत्व पाता है। 'अग्ना३ इ आशा' यहाँ 'इकोऽसवर्णेः...' (६.१.१२३) से शाकल प्रकृतिभाव पाता है। उसके निवारण के लिए वार्तिक होगा।]

यह भी प्रयोजन नहीं है। प्लुत-पूर्व वाले के स्थान में यणादेश कहा गया है—'तयोर्य्वावचि संहितायाम्' से। वही दीर्घ, शाकल, प्रतिषेध के लिए भी हो जाएगा। उसे नहीं कहना होगा। क्यों? उस [सूत्र को] कहने पर इस [वार्तिक को] नहीं कहना होगा। इसे भी अवश्य कहना होगा—जो प्लुतपूर्व इ, उ तो हैं, पर वे प्लुत के विकार नहीं है। 'भो ३ इ इन्द्रम्' आदि। ['भो ३ इ इन्द्रम्' यहाँ 'इ' निपात का प्रयोग है, उससे पूर्व ओकार को छान्दस प्लुत हुआ है। यहाँ प्लुत सहित विकार न होने से 'तयोर्य्वावचि...' प्राप्त नहीं होता। अतः यह वार्तिक तो बनाना ही होगा।]

यदि तर्ह्यस्य निबन्धनमस्तीदमेव वक्तव्यं, तन्न वक्तव्यम्॥ तदप्यवश्यं स्वरार्थं वक्तव्यम्। अनेन हि सति 'उदात्तस्वरितयोर्यणः...' (८.२.४) इत्येष स्वरः प्रसज्येत। तेन पुनः सत्यसिद्धत्वान्न भविष्यति॥ यदि तर्हि तस्य निबन्धनमस्ति तदेव वक्तव्यमिदं न वक्तव्यम्। ननु चोक्तमिदमप्यवश्यं वक्तव्यं यौ प्लुतपूर्वाविदुतावप्लुतविकारौ तदर्थं भो३यिन्द्रम्, भो३यिहेति। छान्दसमेतद्, दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति। यत्तर्हि न च्छान्दसम्—भो३यिन्द्रम्, भो३यिहेति साम गायति। एषोऽपि च्छन्दसि दृष्टस्यानुप्रयोगः क्रियते॥

जश्त्वं न सिद्धं यणमत्र पश्य यश्चापदान्तो हलचश्च पूर्वः।
दीर्घस्य यण्ह्रस्व इति प्रवृत्तं संबन्धवृत्त्या गुणवृद्धिबाध्यः॥ १॥
नित्ये च यः शाकलभाक् समासे तदर्थमेतद्भगवांश्चकार।
सामर्थ्ययोगान्न हि किंचिदस्मिन्पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्॥ २॥

वान्तो यि प्रयत्ये॥ ६.१.७९॥

वान्तादेशे स्थानिनिर्देशः॥ १॥

यदि इस वार्तिक की अनिवार्यता है तो इसे ही कहा जावे, उसे न कहा जावे। उसे भी अवश्य ही स्वर के लिए कहना चाहिए। इससे होने पर 'उदात्तस्वरित-योर्यणः...' से स्वर की प्राप्ति होगी। [इससे यणादेश होने पर स्वर के करने में यह यणादेश सिद्ध होगा। अतः स्वर की प्राप्ति होगी। पर 'तयोर्य्वावचि...' से यण् करने पर यह यणादेश असिद्ध हो जाएगा। अतः 'उदात्तस्वरितयोः...' की दृष्टि में यणादेश अदृष्ट होने से यह स्वर नहीं होगा।]

यदि उस [सूत्र] की अनिवार्यता है, तो उसे ही कहा जावे, इसे न कहा जावे। इस पर अभी तो कहा है—इसे भी अवश्य कहना होगा, जो प्लुत पूर्व इदुत् अप्लुतविकार हैं, उनके लिए—भो३यिन्द्रम्... आदि। यह छान्दस प्रयोग है। छन्द में जिस प्रकार देखा गया, उसी प्रकार विधि होती है। ['सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते' इस वचन से यहाँ प्रकृतिभाव, सवर्णदीर्घत्व न होकर यण् हो जाएगा।] अच्छा तो जो प्रयोग छान्दस नहीं है—'भो३यिन्द्र' इत्यादि [वहाँ किस प्रकार होगा?] [समाधान-भाष्य—] यह भी छन्द में दृष्ट-प्रयोग का अनुकरण है। ['प्रकृतिवदनुकरणं भवति' इस नियम के अनुसार अनुकरण शब्दों का प्रकृति के अनुसार जैसा का तैसा प्रयोग होता है।]

वान्तो यि प्रत्यये॥

वा०—वान्त आदेश में स्थानि-निर्देश।

वान्तादेशे स्थानिनिर्देशः कर्तव्यः। ओकारौकारयोरिति वक्तव्यम्। एकारैकारयोर्मा भूदिति॥ स तर्हि कर्तव्यः ? न कर्तव्यः। वान्तग्रहणं न करिष्यते। एचो यि प्रत्ययेऽयादयो भवन्तीत्येव सिद्धम्। यदि वान्तग्रहणं न क्रियते, चेयम्, जेयमित्यत्रापि प्राप्नोति। 'क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे' (६.१.८१) इत्येतन्नियमार्थं भविष्यति। क्षिज्योरेवैच इति। तयोस्तर्हि शक्यार्थादन्यत्रापि प्राप्नोति ? क्षेयं पापम्, जेयो वृषल इति। उभयतो नियमो विज्ञास्यते। क्षिज्योरेवैचः। तयोश्च शक्यार्थ एवेति। इहापि तर्हि नियमान्न प्राप्नोति—लव्यम्, पव्यम्। अवश्यलाव्यम्, अवश्यपाव्यम् ? तुल्यजातीयस्य नियमः। कश्च तुल्यजातीयः ? यथाजातीयकः क्षिज्योरेच्। कथंजातीयकः क्षिज्योरेच् ? एकारः।

भा०—[अव्, आव् इन] वकारान्त आदेश के सन्दर्भ में स्थानी का निर्देश करना चाहिए। ओकार, औकार के स्थान में कहना चाहिए, ताकि एकार, ऐकार के स्थान में न हों।

तो क्या वह निर्देश किया जावे ? नहीं करना चाहिए। वान्त ग्रहण नहीं करेंगे। 'एच् के स्थान में यकारादि प्रत्यय परे होने पर अय् आदि होते हैं, यही कहा जाएगा।' यदि वान्त ग्रहण नहीं करते हैं तो चेयम्, जेयम् यहाँ भी [अयादि आदेश] पाएँगे। 'क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे' यह सूत्र नियमार्थ हो जाएगा—'यदि एच् के एकार को हो तो क्षि, जि के एच् के एकार को ही हो'।

तब तो इन [क्षि, जि के एकार को] शक्य अर्थ से अन्यत्र भी [अय् आदेश] प्राप्त होता है—क्षेयं पापम् (=क्षीण होने योग्य पाप) [नियम इस प्रकार होगा—यदि एच् को हो तो शक्य अर्थ में होने पर क्षि, जि के एकार को ही हो। पर शक्य अर्थ में न होने पर यह नियम नहीं लगेगा। अतः वहाँ 'क्षेयं पापम्' आदि में अय् आदेश की प्राप्ति होगी।]

उभयतो नियम समझेंगे—क्षि जि के ही एच् को तथा शक्यार्थ में ही वर्तमान क्षि, जि को ही।

तब तो यहाँ भी नियम से नहीं पाएगा—लव्यम्, पव्यम् आदि। [क्षि, जि के एकार से भिन्न सभी एच्-ए के साथ ओ के अवादेश का भी प्रतिषेध करने लगेगा।] तुल्यजातीय का नियम होता है। तुल्यजातीय कौन है ? जिस प्रकार का क्षि, जि का एच् है। किस प्रकार का क्षि, जि का एच् है ? एकार [रूपवाला] है। [नियम यह होगा—क्षि जि के एकार को ही हो अन्य तुल्यजातीय एत्व जाति वाले ए, ऐ को न हो। इससे ओकार के स्थान में अवादेश का प्रतिषेध न होने से लव्यम् आदि सिद्ध हो जाएँगे।]

एवमपि—रायमिच्छति—रैयति—अत्रापि प्राप्नोति? रायिश्छान्दसः, दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति॥

गोर्यूतौ छन्दसि॥ २॥

गोर्यूतौ छन्दस्युपसंख्यानं कर्तव्यम्। आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्। (ऋ० ३.६२.१६) गोयूतिमित्येवान्यत्र॥

अध्वपरिमाणे च॥ ३॥

अध्वपरिमाणे च गोर्यूतावुपसंख्यानं कर्तव्यम्। गव्यूतिमध्वानं गतः। गोयूतिमित्येवान्यत्र॥

तो भी 'रायमिच्छति रैयति' यहाँ भी [नियम] पाता है। [अतः इस ऐ को आयादेश का प्रतिषेध होने लगेगा। अतः यहाँ 'राय्' रूप नहीं बन सकेगा।] [समाधान-भाष्य—] 'राय्' रूप छान्दस है। वेद में जिस प्रकार का रूप देखा गया, वैसी ही विधि हो जाती है।

वा०—गो शब्द को 'यूति' परे रहने पर छन्द में।

भा०—गो शब्द को 'यूति' परे होने पर छन्द में [अवादेश का] उपसङ्ख्यान करना चाहिए। आ नो मित्रावरुणा.... (ऋ० ३.६२.१६) (=हे मित्रावरुण, हमारी गायों के गमन-मार्ग को दुग्ध-धारा से सिञ्चित करो।) [यहाँ गमन-मार्ग अर्थ वाले 'यूति' परे रहने पर गो के ओकार को अवादेश हुआ है। 'यूति' शब्द का प्रयोग 'ऊतियूतिजूति....' (३.३.९७) सूत्र में सम्पन्न हुआ है।]

वा०—अध्व-परिमाण में भी।

भा०—अध्व अर्थात् मार्ग के परिमाण अर्थ में भी गो शब्द को 'यूति' परे रहने पर अवादेश का उपसङ्ख्यान करना चाहिए। गव्यूतिमध्वानं गतः (=एक 'गव्यूति' =लगभग दो कोस या चार मील (आप्टे कोश) रास्ता पार गया) अन्यत्र गोयूति बनेगा।

विशेष—उपरिलिखित मन्त्र से प्रकट है कि गव्यूति' शब्द मूलतः गायों के गमन-मार्ग का वाचक है। आगे चलकर गाएँ अपने गोष्ठ से चलकर वन प्रान्त के गोचर स्थान तक सामान्यतः जितना मार्ग तय करती थीं, उतनी दूरी के परिमाण के लिए यह शब्द प्रचलित हो गया। इसका सङ्केत वार्तिककार ने इस दूसरे वार्तिक से प्रदान किया है।

भाषा में परिमाणी-वाचक शब्द परिमाणवाचक के रूप में तथा कभी इसके विपरीत परिमाणवाचक शब्द परिमाणी-वाचक के रूप में भी विकसित होते रहे हैं। Greek भाषा में stadia शब्द 202 yards की दूरी का वाचक था। लगभग इतनी ही दूरी वाले खेल के मैंदान बना करते थे। अतः आगे चलकर इस दूरी वाले खेल के मण्डप के लिए यह शब्द प्रचलित हो गया। इंग्लिश में तथा अब सामान्य

धातोस्तन्निमित्तस्यैव ॥ ६.१.८० ॥

एवकारः किमर्थः ? नियमार्थः। नैतदस्ति प्रयोजनम्। सिद्धे विधिरारभ्यमाणोऽन्तरेणैवकारं नियमार्थो भविष्यति॥ इष्टतोऽवधारणार्थस्तर्हि। यथैवं विज्ञायेत—धातोस्तन्निमित्तस्यैवेति। मैवं विज्ञायि—धातोरेव तन्निमित्तस्येति। किं च स्यात्? अधातोस्तन्निमित्तस्य न स्यात्—शङ्कव्यं दारु। पिचव्यः कार्पास इति॥

क्रय्यस्तदर्थे ॥ ६.१.८२ ॥

तदित्यनेन किं प्रतिनिर्दिश्यते? स एव क्रीणात्यर्थः। इह मा भूत्—क्रेयं नो धान्यं, न चास्ति क्रय्यमिति॥

हिन्दी में इस अर्थ में stadium शब्द का खूब प्रयोग है।

धातोस्तन्निमित्तस्यैव ॥

भा०—'एव' किसलिए लगाया गया है? नियम के लिए। यह प्रयोजन नहीं है। सिद्ध होने पर भी पुनः आरम्भ की गई विधि 'एव' के बिना भी नियम के लिए होगी। [यहाँ वान्त अवादेश की विधि पूर्वोक्त 'वान्तो यि प्रत्यये' से ही सिद्ध है। पुनः विधि नियमार्थ होगी।] तो फिर इष्ट अवधारण के लिए 'एव' का प्रयोग है। ताकि यह समझा जावे—धातु को तन्निमित्त को ही। यह न समझा जावे—तन्निमित्त धातु को ही। क्या हो जाता? तन्निमित्त अधातु को न होता। शङ्कव्यं दारु (=किसी लम्बे, गोल, नुकीले आकार को बनाने के लिए लकड़ी।) पिचव्यः कार्पासः (=गद्दा बनाने के लिए रुई)। [यहाँ 'शङ्कु य' ('उगवादिभ्यो यत् ५.१.२') इस दशा में 'य' को निमित्त मान कर 'ओर्गुणः' (६.४.१४६) से गुण होकर एच् ओकार बनता है। इस प्रकार यकारादि प्रत्यय निमित्त वाला एच् है। पर यह एच् प्रातिपदिक का है। 'तन्निमित्त धातु को ही' इस प्रकार नियम बनने पर इस प्रातिपदिक के एच् को अवादेश का निवारण होने लगता।]

क्रय्यस्तदर्थे ॥

भा०—यहाँ तत् के द्वारा किसका निर्देश किया गया है? [समाधान—] वही क्री धातु का अर्थ। [शब्द के प्रयोग से अर्थ की उपलब्धि तो होती है। अतः क्री धातु का अर्थ 'क्रय' तो स्वतः ही लब्ध हो जाएगा। पुनः अर्थ ग्रहण करने से 'क्रय के लिए प्रसारित जो धान्य' इस अर्थ में अयादेश होता है।] यहाँ न हो—क्रेयं नो धान्यम्, न चास्ति क्रय्यम्। (=हमारा धान्य क्रययोग्य है, पर वह क्रय के लिए आपण में प्रसारित नहीं है।) [इस प्रकार तादर्थ्य की प्रतीति के लिए 'तत्' का ग्रहण है।]

भय्यप्रवय्ये च च्छन्दसि॥ ६.१.८३॥

भय्यादिप्रकरणे ह्रदय्या उपसंख्यानम्॥ १॥

भय्यादिप्रकरणे ह्रदय्या उपसंख्यानं कर्तव्यम्। ह्रदय्या आपः॥

अव्शरस्य च॥ २॥

शरस्य च ह्रदस्य चातोऽव्वक्तव्यः। ह्रदव्या आपः। शरव्या वै तेजनम्। शरव्यस्य पशूनभिघातुकः स्यात्॥

शरुवृत्ताद्वा सिद्धम्॥ ३॥

शरुवृत्ताद्वा पुनः सिद्धमेतत्॥

ऋञ्जती शरुरित्यपि दृश्यते॥ ४॥

ऋञ्जती शरुरित्यपि शरुशब्दप्रवृत्तिर्दृश्यते॥

शरुहस्त इति च लोके॥ ५॥

शरुहस्त इति च लोके शरहस्तमुपाचरन्ति॥

इति पातञ्जलमहाभाष्ये षष्ठाध्यायस्य प्रथमपादे तृतीयमाह्निकम्॥

—०—

भय्यप्रवय्ये च च्छन्दसि॥

वा०—भय्य आदि के प्रकरण में 'ह्रदय्या' उपसङ्ख्यान।

भा०—भय्य आदि के प्रकरण में 'ह्रदय्या' इसका उपसङ्ख्यान करना चाहिए। ह्रदय्या आपः। (=ह्रद या तालाब में होने वाला जल) [यहाँ 'ह्रदे भवाः' इस विग्रह के अनुसार 'भवे च्छन्दसि' (४.४.११०) से यत् प्रत्यय है। उसके परे रहने पर अकार के स्थान में अयादेश है।]

वा०—शर को भी अव्।

भा०—शर तथा ह्रद के अकार को अवादेश कहना चाहिए। [यकारादि प्रत्यय परे रहने पर]। ह्रदव्या आपः। शरव्या वै तेजनम्। शरव्यस्य पशून्....आदि।

वा०—अथवा शरु वृत्त से सिद्ध।

भा०—अथवा शरु शब्द की प्रवृत्ति से यह रूप सिद्ध है। [पूर्वोक्त 'वान्तो यि प्रत्यये' से वान्त आदेश द्वारा रूप सिद्ध है।]

वा०—'ऋञ्जती शरुः' यह भी देखा जाता है।

भा०—'ऋञ्जती शरुः' यहाँ भी 'शरु' की प्रवृत्ति देखी जाती है।

वा०—लोक में भी शरुहस्त।

भा०—लोक में भी 'शरुहस्त' कहने पर शर='बाण हाथ वाला पुरुष' यह अर्थ समझते हैं।

एकः पूर्वपरयोः ॥ ६.१.८४ ॥

एकवचनं किमर्थम्?

एकवचनं पृथगादेशप्रतिषेधार्थम्॥ १ ॥

एकवचनं क्रियते, एक आदेशो यथा स्यात्, पृथगादेशो मा भूदिति॥

न वा द्रव्यवत्कर्मचोदनायां द्वयोरेकस्याभिनिर्वृत्तेः ॥ २ ॥

न वैतत्प्रयोजनमस्ति। किं कारणम्? द्रव्यवत्कर्मचोदनायां द्वयोरेकस्याभिनिर्वृत्तेरेक आदेशो भविष्यति। तद्यथा—द्रव्येषु कर्मचोदनायां द्वयोरेकस्याभिनिर्वृत्तिर्भवति। अनयोः पूलयोः कटं कुरु। अनयोर्मृत्पिण्डयोर्घटं कुर्विति। न चोच्यत एकमित्येकं चासौ करोति॥ किं पुनः कारणं द्रव्येषु कर्मचोदनायां द्वयोरेकस्याभिनिर्वृत्तिर्भवति?

विशेष—वार्तिककार के कथन से स्पष्ट है कि लोक-वेद में शर के साथ-साथ शरु का प्रयोग भी उपलब्ध है। इसके लिए 'श॒रव्या॒या इषुका॒रम्' (यजुर्वेद ३०.७) आदि प्रमाण हैं। अकारान्त शब्दों के स्थान में उकारान्त शब्द के प्रयोग की प्रवृत्ति कमण्डल >कमण्डलु जैसे अनेक शब्दों में देखी गई है।

—०—

एकः पूर्वपरयोः

भा०—[सूत्र में] 'एक' वचन किसलिये है?

वा०—एक-वचन पृथक् आदेश के प्रतिषेध के लिए।

भा०—'एक' वचन किया गया है, ताकि [पूर्व-पर इन दो स्थानी के स्थान में भी] एक ही आदेश हो, पृथक् आदेश न होवें।

वा०—द्रव्य के समान कर्म-कथन में दो के स्थान में एक की अभिनिर्वृत्ति होने से यह नहीं।

भा०—यह प्रयोजन नहीं है। क्या कारण है? जिस प्रकार दो द्रव्यों में किसी क्रिया ['द्रव्येष्विव द्रव्यवत्' इस प्रकार सप्तम्यर्थ में वति] के कथन होने पर दो के स्थान पर एक क्रिया की निर्मिति होती है, उसी प्रकार यहाँ भी एक आदेश होगा। जैसे—इन पूलों के स्थान में चटाई बनाओ, इन मृत्पिण्डों का घट बनाओ—यहाँ यह नहीं कहते कि एक घट बनाओ—पर वह एक ही बनाता है।

क्या कारण है कि द्रव्य में क्रिया कथन होने पर दो के स्थान पर एक ही निर्मिति होती है।

तच्चैकवाक्यभावात्॥ ३॥

एकवाक्यभावाद् द्रव्येषु कर्मचोदनायां द्वयोरेकस्याभिनिर्वृत्तिर्भवति। आतश्चैकवाक्यभावाद्, व्याकरणेऽपि ह्यन्यत्र द्वयोः स्थानिनोरेक आदेशो भवति। 'ज्वरत्वरस्त्रिव्यविमवामुपधायाश्च' (६.४.२०), 'भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम्' (६.४.४७) इति॥ यत्तावदुच्यते—एकवाक्यभावादिति, तन्न। अर्थात्प्रकरणाद्वा लोके द्वयोरेकस्याभिनिर्वृत्तिर्भवति। अर्थो वास्यैकेन भवति, प्रकृतं वा तत्र भवतीदमेकमेव कर्तव्यमिति। आतश्चार्थात्प्रकरणाद्वा, व्याकरणेऽपि ह्यन्यत्र द्वयोः स्थानिनोर्द्वावादेशौ भवतः। 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' (८.२.४२), 'उभौ साभ्यासस्य' (८.४.२१) इति।

कथं यत्तदुक्तं व्याकरणेऽपि ह्यन्यत्र द्वयोः स्थानिनोरेक आदेशो भवति—'ज्वरत्वरस्त्रिव्यविमवामुपधायाश्च', 'भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम्' इति? इह तावद्—'ज्वरत्वरस्त्रिव्यविमवामुपधायाश्च' इति, स्तां द्वावूठौ नास्ति दोषः, सवर्णदीर्घत्वेन सिद्धम्। इह—'भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम्' इति,

---

वा०—और वह एक-वाक्य-भाव होने से।

भा०—एक-वाक्य-भाव होने से द्रव्य में क्रिया-कथन होने पर दो के स्थान पर एक की निर्मिति होती है। यह सचमुच एक-वाक्य-भाव होने से ही होता है। व्याकरण में भी अन्यत्र दो स्थानी के स्थान में एक आदेश होता है—'ज्वरत्वर...' यहाँ [अन्तिम तथा उपधा अक्षर के स्थान में एक ही ऊठ् होता है।] 'भ्रस्जो रोपधयो ....' यहाँ रेफ तथा उपधा के स्थान में विहित एक ही रम् होता है।

यह जो कहा है कि एकवाक्यभाव होने से....यह ठीक नहीं। वास्तव में लोक में अर्थ से या प्रकरण से दो के स्थान में एक की निर्मिति होती है। वहाँ या तो [आक्षिप्त] अर्थ एक से सम्बन्धित होता है। अथवा वह पूर्वप्रसङ्ग से प्रकृत होता है कि यह एक ही करना है। सचमुच आक्षिप्त तथा पूर्वप्रसङ्गागत होने पर ऐसा होता है। अन्यत्र [जहाँ आक्षेप आदि नहीं हैं, वहाँ] व्याकरण में भी दो स्थानी के स्थान में दो आदेश होते हैं। जैसे 'रदाभ्यां निष्ठातो...' [यहाँ निष्ठा-तकार तथा पूर्व दकार के स्थान में दो नकार आदेश], उभौ साभ्यासस्य—[यहाँ दो नकार के स्थान में दो णकार आदेश होते हैं। [आशय यह है कि आक्षेप या प्रसङ्ग होने पर दो स्थानी के स्थान में एक आदेश तथा यह न होने पर दो आदेश होते हैं। एक आदेश होने में एकवाक्यता प्रभावी नहीं है।]

तो फिर यह कैसे कहा था कि अन्यत्र दो स्थानी के स्थान में [एक-वाक्य होने से] एक आदेश होते हैं। 'ज्वरत्वर...' आदि। [यहाँ आक्षेप का प्रयोग सम्भव न होने से उससे भी एक आदेश नहीं हो सकता, यह मानकर प्रश्न है।] यहाँ 'ज्वरत्वर...' आदि में दो ऊठ् हों तो भी कोई दोष नहीं, सवर्ण-दीर्घत्व से सिद्ध हो जाएगा। यहाँ 'भ्रस्जो रोपधयो...'।

वक्ष्यति ह्येतद्—भ्रस्जो रोपधयोर्लोप आगमो रम्विधीयत इति॥ यदुच्यते—अर्थात्प्रकरणाद्वेति, तन्न। किं कारणम्? एकवाक्यभावादेव लोके द्वयोरेकस्याभिनिर्वृत्तिर्भवति। आतश्चैकवाक्यभावात्। अङ्ग हि भवान्ग्राम्यं पांसुरपादमप्रकरणज्ञमागतं ब्रवीतु—अनयोः पूलयोः कटं कुरु, अनयोर्मृत्पिण्डयोर्घटं कुरु, इति, एकमेवासौ करिष्यति।

कथं यदुक्तं व्याकरणेऽपि ह्यन्यत्र द्वयोः स्थानिनोर्द्वावादेशौ भवतः—'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' 'उभौ साभ्यासस्य' इति? इह तावद्—'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च द' इति, द्वे वाक्ये। कथम्? योगविभागः करिष्यते। रदाभ्यां निष्ठातो नः। ततः पूर्वस्य च द इति। इहापि—'उभौ साभ्यासस्य' इत्युभौग्रहणसामर्थ्याद् द्वावादेशौ भविष्यतः॥

सूत्र पर यह कहेंगे कि—भ्रस्ज के र और उपधा के स्थान में लोप तथा रम् आगम का विधान होता है। [इस प्रकार यहाँ दो के स्थान में दो अलग-अलग विधान होने से एक आदेश तथा एक आगम सिद्ध हो जाएगा।]

यह जो कहा है कि अर्थ अथवा प्रकरण से [एक आदेश होते हैं।] यह ठीक नहीं है। क्या कारण है? वास्तव में एकवाक्यभाव से लोक में दो के स्थान में एक आदेश की निर्मिति होती है। यह सच है कि एक वाक्यभाव से [एक आदेश की निर्मिति होती है।] जरा आप अर्थ से अनभिज्ञ, पैरों में मिट्टी लगे [होने से प्रकटतः अभी-अभी दूर से] आए हुए अप्रकरणज्ञ से यह कहें कि इस पूले की चटाई बनाओ, इस मृत्पिण्ड का घट बनाओ—वह एक ही बनाएगा। [इससे यह स्थापित हुआ कि आक्षेप या प्रसंग न होने पर भी एकवाक्यता होने पर एक आदेश तथा एक वाक्य न होने पर दो आदेश होते हैं। इस प्रकार एक आदेश होने में एकवाक्यता प्रभावी है।]

तो फिर यह कैसे कहा है कि [आक्षेप या प्रसङ्ग से] अन्यत्र दो स्थानी के स्थान में दो आदेश होते हैं। 'रदाभ्यां...' आदि। [समाधान भाष्य—] यहाँ 'रदाभ्यां निष्ठातो नः' यह तथा 'पूर्वस्य च दः' ये दो वाक्य हैं। किस प्रकार? योगविभाग करेंगे—'रदाभ्यां....' इत्यादि। यहाँ भी 'उभौ साभ्यासस्य' में 'उभौ' ग्रहण सामर्थ्य से दो णकार आदेश होंगे। [अन्यथा 'उभौ' का कोई प्रयोजन नहीं रहेगा। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि एक-वाक्य से एक-आदेश तथा एक-वाक्य न होने से दो-आदेश होते हैं। इसमें आक्षेप आदि हेतु प्रभावी नहीं है। प्रस्तुत 'आद्गुणः' आदि सूत्रों में अ तथा अच् इन पूर्व-पर दो स्थानी के साथ गुण-आदेश की एकवाक्यता होने से एक ही गुण-आदेश होगा, दो नहीं। अतः इस सूत्र में 'एकः' कहने की आवश्यकता नहीं है।]

तत्रावयवे शास्त्रार्थसंप्रत्ययो यथा लोके॥ ४॥

तत्रावयवे शास्त्रार्थसंप्रत्ययः प्राप्नोति यथा लोके। तद्यथा लोके— 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' इति सकृदाधाय कृतः शास्त्रार्थ इति कृत्वा पुनः प्रवृत्तिर्न भवति। तथा—'गर्भाष्टमे ब्राह्मण उपनेय' इति सकृदुपनीय कृतः शास्त्रार्थ इति कृत्वा पुनः प्रवृत्तिर्न भवति। तथा—'त्रिर्हृदयंगमाभिरद्भिर-शब्दाभिरुपस्पृशेत्' इति सकृदुपस्पृश्य कृतः शास्त्रार्थ इति कृत्वा पुनः प्रवृत्तिर्न भवति। एवमिहापि—खट्वेन्द्रे कृतः शास्त्रार्थ इति कृत्वा मालेन्द्रादिषु न स्यात्॥

प्रसङ्गान्तर-**वा०**—तब अवयव में शास्त्रार्थ की सम्प्रतीति, जैसे लोक में।

भा०—तब [अनेक उदाहरणों में से] किसी एक उदाहरण खण्ड में शास्त्र के प्रयोजन [की चरितार्थता] का अवबोध होगा, जैसे लोक में भी ऐसा ही देखा जाता है।

विशेष—महाभाष्य में इससे पूर्व भी व्यक्ति-पक्ष तथा जाति-पक्ष का प्रसङ्ग उठाया जाता रहा है। संक्षेपतः, भाषा के प्रत्येक शब्द व्यक्ति-पदार्थ तथा जाति-पदार्थ वाले होते हैं। अलग-अलग वाक्यों में अलग-अलग पदार्थ की प्रमुखता होती है। इसीलिए 'गाय को बाँधो' इस वाक्य में 'गाय' का जो अर्थ है, उससे 'गाय को नहीं मारना चाहिये' इस वाक्य में 'गाय' का अर्थ कुछ भिन्न है। प्रथम वाक्य में केवल एक गाय व्यक्ति का 'बाँधना' क्रिया से सम्बन्ध होता है। पर द्वितीय-वाक्य में गोत्व से अवच्छिन्न सकल गायों का 'न मारने' से सम्बन्ध अभिप्रेत है। इन वाक्यों में पदार्थ का विपर्यास करने पर अभिप्रेत अर्थ अशुद्ध हो जाता है। सूत्रों में भी ऐसी ही स्थिति है। इस प्रसङ्ग में ऐसे विपर्यास की सम्भावना प्रकट करके सिद्धान्त-पक्ष में माना है कि अर्थ एवं प्रकरण के अनुसार अलग-अलग पदार्थों का प्राधान्य मानना चाहिए।

भा०—जैसे लोक में [व्यक्ति-पक्ष का उदाहरण—]

'वसन्त में ब्राह्मण अग्नि का आधान करे' यहाँ पर एक बार आधान करने के पश्चात् शास्त्र का प्रयोजन परिपूर्ण हो गया। अतः पुनः [आधान की] प्रवृत्ति नहीं होती। इसी प्रकार 'गर्भ से अष्टम वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन करे, यहाँ एक बार उपनयन के पश्चात् शास्त्र का प्रयोजन परिपूर्ण होने से पुनः प्रवृत्ति नहीं होती। इसी प्रकार 'हृदय तक स्पर्श करने वाले ध्वनि-विरहित जल से तीन बार उपस्पर्शन (आचमन) करे' यहाँ पर एक बार [त्रिक उपस्पर्शन से] शास्त्र का प्रयोजन पूर्ण होने से शास्त्र की पुनः प्रवृत्ति नहीं होती।

इसी प्रकार यहाँ भी 'खट्वेन्द्रः' में 'आद्गुणः' शास्त्र का प्रयोजन परिपूर्ण हो गया, अतः मालेन्द्रः में प्रवृत्ति नहीं होगी।

सिद्धं तु धर्मोपदेशनेऽनवयवविज्ञानाद्यथा लौकिकवैदिकेषु॥ ५॥

सिद्धमेतत्। कथम्? धर्मोपदेशनमिदं शास्त्रं, धर्मोपदेशने चास्मिञ्छास्त्रेऽनवयवेन शास्त्रार्थः संप्रतीयते, यथा लौकिकेषु वैदिकेषु च कृतान्तेषु॥ लोके तावद्—ब्राह्मणो न हन्तव्यः, सुरा न पेया—इति, ब्राह्मणमात्रं न हन्यते, सुरामात्रं च न पीयते। यदि चावयवेन शास्त्रार्थसंप्रत्ययः स्याद्, एकं च ब्राह्मणमहत्वैकां च सुरामपीत्वान्यत्र कामचारः स्यात्। तथा—पूर्ववया ब्राह्मणः प्रत्युत्थेय इति, पूर्ववयोमात्रं प्रत्युत्थीयते। यदि चावयवेन शास्त्रार्थसंप्रत्ययः स्याद्, एकं पूर्ववयसं प्रत्युत्थायान्यत्र कामचारः स्यात्॥ तथा वेदे खल्वपि—'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निष्टोमादिभिः क्रतुभिर्यजेत' इत्यग्न्याधाननिमित्तं वसन्ते वसन्त इज्यते। यदि चावयवेन शास्त्रार्थसंप्रत्ययः स्यात्, सकृदिष्ट्वा

विवरण—सामान्यतः यह प्रश्न अचरज भरा लगता है। पर यदि 'गां बधान' वाक्य में 'गो' के अर्थ को सर्वत्र लागू करके देखें तो प्रश्न सार्थक लगता है। इस वाक्य के अनुसार एक गाय को बाँधने के पश्चात् यह समझ लिया जाता है कि वाक्यार्थ का प्रयोजन परिपूर्ण हो गया। अतः इस वाक्य का परिपालन करते हुए दूसरी बार यह क्रिया सम्पन्न नहीं की जाती। इसी प्रकार इस सूत्र में भी एक उदाहरण में कृतकार्यता के पश्चात् अन्य उदाहरणों के प्रति प्रवृत्ति नहीं होगी।

वा०—धर्मोपदेश में अनवयव-विज्ञान से सिद्ध है जैसे लौकिक, वैदिक में।

भा०—यह [जाति-पक्ष में] सिद्ध है। किस प्रकार? यह शास्त्र [साधु शब्दोपदेशरूपी] धर्म का उपदेश करने वाला है। इस धर्मोपदेश करने वाले शास्त्र में अखण्ड अथवा साकल्य से शास्त्र का प्रयोजन सम्प्रतीत होता है। जिस प्रकार लौकिक, वैदिक सिद्धान्तों में भी देखा जाता है।

जैसे— ब्राह्मण का हनन न करे, सुरा न पिये, यहाँ ब्राह्मणमात्र का हनन नहीं होता, सुरामात्र का पान नहीं होता। यदि सखण्ड रूप से शास्त्र-प्रयोजन की सम्प्रतीति होती तो एक ब्राह्मण को न मार कर तथा एक सुरा का पान न करके अन्यत्र कामचार होता।

इसी प्रकार, न्यून वयः वाले ब्राह्मण को [अधिक वयः वाले ब्राह्मण के प्रति सम्मान में] खड़े होना चाहिये। यहाँ सभी न्यून वयः वाले प्रत्युत्थान करते हैं। यदि खण्डशः शास्त्र-प्रयोजन का अवबोध होता तो एक न्यून वयः वाला प्रत्युत्थान करता तथा अन्यों के प्रति यह विधान कामचार होता।

वेद में भी, वसन्त में ब्राह्मण अग्निष्टोम आदि क्रतुओं से यज्ञ करे। अग्नि के आधान कारण वाले अग्निष्टोम आदि का प्रत्येक वसन्त में यजन किया जाता है। यदि खण्डशः शास्त्र का प्रयोजन अवबोधित हो तो एक बार यज्ञ कार्य में प्रवृत्त

पुनरिज्या न प्रवर्तेत॥ उभयथेह लोके दृश्यते—अवयवेनापि शास्त्रार्थ-संप्रत्ययोऽनवयवेनापि। कथं पुनरिदमुभयं लभ्यम्? लभ्यमित्याह। कथम्? इह तावद्—'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' इत्यग्न्याधानं यज्ञमुखप्रति-पत्त्यर्थम्। सकृदाधाय कृतः शास्त्रार्थः प्रतिपन्नं यज्ञमुखमिति कृत्वा पुनः-प्रवृत्तिर्न भवति। अतोऽत्रावयवेन शास्त्रार्थः संप्रतीयते। तथा—'गर्भाष्टमे ब्राह्मण उपनेय' इत्युपनयनं संस्कारार्थम्। सकृच्चासावुपनीतः संस्कृतो भवति। अतोऽत्राप्यवयवेन शास्त्रार्थः संप्रतीयते। तथा—'त्रिर्हृदयंगमा-भिरद्भिरशब्दाभिरुपस्पृशेद्' इत्युपस्पर्शनं शौचार्थम्। सकृच्चासावुपस्पृश्य शुचिर्भवति। अतोऽत्राप्यवयवेन शास्त्रार्थः संप्रतीयते॥

इहेदानीम्—'ब्राह्मणो न हन्तव्यः, सुरा न पेया' इति, ब्राह्मणवधे सुरापाने च महान् दोष उक्तः। स ब्राह्मणवधमात्रे सुरापानमात्रे च प्रसक्तः। अतोऽत्रानवयवेन शास्त्रार्थः संप्रतीयते। तथा—पूर्ववया ब्राह्मणः प्रत्युत्थेय इति, पूर्ववयसोऽप्रत्युत्थाने दोषः उक्तः, प्रत्युत्थाने च गुणः। कथम्?

होने के पश्चात् पुनः इसमें प्रवृत्त न होता।

इस प्रकार लोक में तो दोनों प्रकार का व्यवहार देखा जाता है—कभी तो खण्डशः शास्त्र का प्रयोजन बोधित होता है तथा कभी साकल्य से भी। यह दोनों किस प्रकार प्राप्त हो सकता है? यह प्राप्य है। किस प्रकार? [प्रकरण के अनुसार व्यक्ति-पक्ष में खण्डशः कार्य होता है।] जैसे—वसन्ते ब्राह्मण...आदि। यहाँ अग्नि का आधान यज्ञ के द्वारा, उसके उपाय की सम्पन्नता के लिए है। एक बार आधान करने के पश्चात् यह उपाय परिपूर्ण हो गया, अतः पुनः प्रवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार यहाँ खण्डशः शास्त्र का प्रयोजन बोधित होता है।

इसी प्रकार 'गर्भाष्टमे...' यहाँ पर 'उपनयन' संस्कार के लिए है। एक बार वह ब्राह्मण उपनीत होकर संस्कृत हो जाता है। अतः यहाँ भी खण्डशः शास्त्र-प्रयोजन का बोध होता है।

इसी प्रकार 'त्रिर्हृदय....' यहाँ पर एक बार उपस्पर्शन से पवित्रता हो जाती है। अतः यहाँ भी खण्डशः शास्त्र-प्रयोजन का बोध होता है।

पर यहाँ [उस प्रकार का प्रकरण होने से जति-पक्ष में साकल्येन कार्य होता है।] ब्राह्मणो न हन्तव्यः... आदि में ब्राह्मण-वध तथा सुरापान में बहुत बड़ा दोष कहा है। वह दोष ब्राह्मण-वध मात्र में तथा सुरापान-मात्र में प्रसक्त होता है। अतः यहाँ साकल्य से शास्त्र का प्रयोजन सम्प्रतीत होता है।

इसी प्रकार 'पूर्ववयाः...' आदि में। न्यून वयः वाले के द्वारा प्रत्युत्थान न करने में दोष तथा प्रत्युत्थान में गुण बताया है। किस प्रकार?

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यत इति॥

स च पूर्ववयोमात्रे प्रसक्तः। अतोऽत्राप्यनवयवेन शास्त्रार्थः संप्रतीयते। तथा—'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निष्टोमादिभिः क्रतुभिर्यजेत' इतीज्यायाः किंचित्प्रयोजनमुक्तम्। किम्? स्वर्गे लोकेऽप्सरस एनं जाया भूत्वोपशेरत इति। तच्च द्वितीयस्यातृतीयस्याश्चेज्यायाः फलं भवितुमर्हति। अतोऽत्राप्यनवयवेन शास्त्रार्थः संप्रतीयते। तथा—शब्दस्यापि ज्ञाने प्रयोगे प्रयोजनमुक्तम्। किम्? 'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति' इति। यद्येकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति किमर्थः द्वितीयस्तृतीयश्च प्रयुज्यते? न वै कामानां तृप्तिरस्ति॥

'स्थविर अर्थात् वृद्ध पुरुष के आगमन होने पर युवा पुरुष के प्राण ऊपर उठने लगते हैं। वह युवा प्रत्युत्थान तथा अभिवादन से उन प्राणों को पुनः यथावस्थित रख पाता है। यह उत्क्रमण तथा यथावस्थान पूर्ववयः मात्र में प्राप्त होता है। अतः यहाँ भी शास्त्र का प्रयोजन साकल्य से सम्प्रतीत होता है। इसी प्रकार 'वसन्ते ब्राह्मणः...' आदि। यहाँ यजन का कुछ प्रयोजन कहा गया है। क्या? स्वर्गलोक में अप्सराएँ इस [यजमान] की पत्नी बन कर इसके साथ लेटती हैं। यह फल दूसरे तथा तीसरे यजन का भी हो सकता है। अतः यहाँ भी साकल्य से शास्त्र का प्रयोजन सम्प्रतीत होता है। इसी प्रकार शब्द के ज्ञान में कुछ प्रयोजन कहा है। क्या? एक भी शब्द, शास्त्र की प्रक्रिया से समन्वित भली प्रकार जाना गया हो तथा सुन्दर रीति से प्रयुक्त किया गया हो तो वह स्वर्ग लोक में फल प्रदान करने वाला होता है।

यदि एक ही शब्द, शास्त्र से अन्वित, भली प्रकार प्रयुक्त होकर स्वर्ग लोक में कामनाओं को पूर्ण करने वाला होता है, तो दूसरे तथा तीसरे [सही] शब्द का प्रयोग क्यों किया जाता है? [समाधान-] क्योंकि कामनाओं की तृप्ति की पूर्णता नहीं है।

विवरण—शुद्ध एवं सुन्दर वचन का यह अपनी रीति से प्रतिपादन है। वास्तव में शास्त्रों के प्रति अपार भक्ति अगाध श्रद्धा से ही शास्त्रों की तथा शास्त्रपूर्वक शब्द प्रयोग के प्रति आग्रह से ही संस्कृत के शब्दार्णव की सुरक्षा सम्भव हो पाई है। कार्यसिद्धि के हजारों उपायों में से समुचित शब्द प्रयोग सबसे बढ़िया उपाय है—**'इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्'** सूनृता वाणी से आज भी हजारों कार्य सिद्ध होते हैं। अतः यह अब भी सचमुच कामदुघा वाणी है।

अथ पूर्वपरग्रहणं किमर्थम् ?

पूर्वपरग्रहणं परस्यादेशप्रतिषेधार्थम्॥ ६॥

पूर्वपरग्रहणं क्रियते, परस्यादेशप्रतिषेधार्थम्। परस्यादेशो मा भूत्। 'आद्गुणः' (६.१.८७) इति॥ कथं च प्राप्नोति ?

पञ्चमीनिर्दिष्टाद्धि परस्य॥ ७॥

पञ्चमीनिर्दिष्टाद्धि परस्य कार्यमुच्यते। तद्यथा—'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' (६.३.९७) इति॥

षष्ठीनिर्दिष्टार्थं तु॥ ८॥

षष्ठीनिर्देशार्थं च पूर्वपरग्रहणं क्रियते। षष्ठीनिर्देशो यथा प्रकल्पेत॥

अनिर्दिष्टे हि षष्ठ्यर्थाप्रसिद्धिः॥ ९॥

अक्रियमाणे हि पूर्वपरग्रहणे षष्ठ्यर्थस्याप्रसिद्धिः स्यात्।

इन विस्तृत उदाहरणों से प्रकट है कि लोक में एक ही शब्द प्रसङ्गानुसार कभी तो व्यक्ति-पदार्थ तथा कभी जाति-पदार्थ के रूप में प्रयुक्त होता है। हर वाक्य में एक ही पदार्थ का प्रयोग कभी वाञ्छित नहीं हो सकता। इसलिए यहाँ 'आद् गुणः' आदि सूत्रों में जाति-पदार्थ को प्रधान मानते हुए प्रत्येक उदाहरण के प्रति इस सूत्र की प्रवृत्ति होगी।

प्रकरणान्तर-**भा०**—अच्छा, यहाँ 'पूर्वपरयोः' ग्रहण किसलिये है ?

वा०—पूर्व-पर ग्रहण पर के स्थान में आदेश के प्रतिषेध के लिए।

भा०—पूर्व-पर ग्रहण किया है, [केवल] पर के स्थान में आदेश के प्रतिषेध के लिए। [मात्र] पर के स्थान में [ही] आदेश न हो [अपितु पूर्व, पर दोनों के स्थान में हो] जैसे 'आद् गुणः' यहाँ पर। किस प्रकार [केवल एक के स्थान में] प्राप्त होता है ?

वा०—पञ्चमी निर्दिष्ट से पर के स्थान में।

भा०—पञ्चमी निर्दिष्ट से पर के स्थान में कार्य कहा जाता है। जैसे 'द्व्यन्तरूप...' [यहाँ द्वि आदि पञ्चमीनिर्दिष्ट से उत्तर अप् के स्थान में ईत्व होता है।]

वा०—षष्ठी-निर्देश के लिए भी।

भा०—षष्ठी-निर्देश के लिए भी पूर्व-पर ग्रहण किया जाता है। ताकि षष्ठी-निर्देश बन जावे। [षष्ठी-निर्देश न होने पर पूर्व-पर दोनों के स्थान में आदेश नहीं हो सकेगा, यह अनिष्ट की प्राप्ति होगी।]

वा०—अनिर्दिष्ट होने पर षष्ठ्यर्थ की अप्रसिद्धि।

भा०—'पूर्व-पर' ग्रहण न करने पर षष्ठी के अर्थ की प्रसिद्धि नहीं हो पाएगी।

कस्य ? स्थानेयोगत्वस्य॥ नैष दोषः। आदित्येषा पञ्चम्यचीति सप्तम्याः षष्ठीं प्रकल्पयिष्यति 'तस्मादित्युत्तरस्य' (१.१.६७) इति। तथाचीत्येषा सप्तम्यादिति पञ्चम्याः षष्ठीं प्रकल्पयिष्यति 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (१.१.६६) इति॥ एवं तर्हि सिद्धे सति यत्पूर्वपरग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो नोभे युगपत् प्रकल्पिके भवत इति। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् ? यदुक्तं सप्तमीपञ्चम्योश्च भावादुभयत्र षष्ठीप्रक्लृप्तिस्तत्रोभयकार्यप्रसङ्ग इति स न दोषो भवति॥

अन्तादिवच्च॥ ६.१.८५॥

किमर्थमिदमुच्यते ?

अन्तादिवद्वचनमामिश्रस्यादेशवचनात्॥ १॥

अन्तादिवदित्युच्यत आमिश्रस्यादेशवचनात्। आमिश्रस्यायमादेश उच्यते, स नैव पूर्वग्रहणेन गृह्यते, नापि परग्रहणेन। तद्यथा—क्षीरोदके संपृक्ते आमिश्रत्वान्नैव क्षीरग्रहणेन गृह्येते नाप्युदकग्रहणेन। इष्यते च

किसकी ? स्थानेयोगत्व की। यह दोष नहीं है। ['आद् गुणः सूत्र में'] आत् यह पञ्चमी 'अचि' इस सप्तमी को षष्ठी में बदल लेगी—'तस्मादित्युत्तरस्य' के अनुसार। साथ ही 'अचि' यह सप्तमी 'आत्' इस पञ्चमी को षष्ठी में बदल देगी—'तस्मिन्निति...' सूत्र के अनुसार। [इस प्रकार आत् और 'अचि' ये दोनों 'स्थानेयोग' के प्रकल्पक षष्ठी में बदल जाएँगे।]

अच्छा तो फिर, इस प्रकार सिद्ध होने पर भी जो 'पूर्व-पर' ग्रहण किया है, उससे आचार्य ज्ञापित करते हैं कि दोनों [पञ्चमी, सप्तमी] एक साथ [षष्ठी की] प्रकल्पक नहीं होती। इसके ज्ञापन में क्या प्रयोजन है ? ['तस्मादित्युत्तरस्य' सूत्र में] 'सप्तमीपञ्चम्योश्च...' इत्यादि से ['आने मुक्', 'ईदासः' (७.२.८२,८३) सूत्रों में] दोनों में षष्ठी-प्रकल्पन होने से दोनों के स्थान में आदेश-कार्य के प्रसङ्ग का जो दोष उठाया है, वह नहीं होता।

अन्तादिवच्च॥

भा०—इस सूत्र की रचना किसलिये की गई है ?

वा०—अन्तादिवद् वचन आमिश्र का आदेश वचन होने से।

भा०—अन्तादिवद् वचन करते हैं, आमिश्र अर्थात् समुदाय का आदेश वचन होने से। [पूर्व-पर] समुदाय के स्थान में एक आदेश कहते हैं, वह [आदेश] न ही पूर्व [अक्षर] के ग्रहण से गृहीत हो सकता है, न ही पर [अक्षर] के ग्रहण से। जैसे—दूध और पानी को मिला देने पर उसके समुदित हो जाने से [वह समुदाय] न तो दूध के ग्रहण से गृहीत होता है, न पानी के ग्रहण से। पर यहाँ

ग्रहणं स्यादिति। तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यतीत्यन्तादिवद्वचनम्। एवमर्थ-मिदमुच्यते॥ अस्ति प्रयोजनमेतत्? किं तर्हीति?

तत्र यस्यान्तादिवत्तन्निर्देशः॥ २॥

तत्र यस्यान्तादिवद्भाव इष्यते तन्निर्देशः कर्तव्यः। अस्यान्तवद्भवति, अस्यादिवद्भवतीति वक्तव्यम्॥

सिद्धं तु पूर्वपराधिकारात्॥ ३॥

सिद्धमेतत्। कथम्? पूर्वपराधिकारात्। पूर्वपरयोरिति वर्तते। पूर्वस्य

अभीष्ट है कि [वह आदेश पूर्व या पर अवयव के] ग्रहण से गृहीत हो। यह यत्न के बिना सिद्ध नहीं होता, अतः अन्तादिवद्‌वचन है। इसलिए सूत्र का आरम्भ है।

विवरण—विमलमति महाभाष्यकार का यह वचन, निरूपण के दो प्रकारों में से एक प्रकार अथवा पक्ष है। प्रथम-पक्ष के अनुसार दूध और पानी मिला देने पर ग्वाला कहता है 'यह तो दूध ही है'। पर क्रेता कहता है यह तो केवल पानी है। इस प्रकार यह अवयव ग्रहण से गृहीत होता है। शास्त्र में भी 'उरण् रपरः' सूत्र पर महाभाष्यकार ने कहा है कि जो दोनों के स्थान में होता है, वह किसी एक के व्यपदेश से गतार्थ हो जाता है। (यो ह्युभयोः स्थाने भवति, लभतेऽसावन्यतरतो व्यपदेशम्)।

द्वितीय-पक्ष के अनुसार उक्त उदाहरण के प्रति लोग यह भी कहते हैं कि 'यह पानी नहीं है या दूध नहीं है'। इस प्रकार वे यहाँ अवयव के स्थानित्व का निवारण करते हैं। शास्त्र में भी 'स्थानिवदादेशः...' सूत्र साक्षात् तथा स्पष्टतः किसी एक स्थानी के स्थान पर आदेश होने पर स्थानिवत्त्व का विधान करता है। परन्तु असाक्षात् स्थानी होने पर आदेश को स्थानी के समान नहीं कहता।

प्रस्तुत निरूपण में महाभाष्यकार ने द्वितीय-पक्ष के अनुसार निरूपण प्रस्तुत किया है। साथ ही यह माना कि यहाँ स्थानिवत् न होने से पूर्व का अन्तवत् बन पाना सम्भव नहीं है। अतः इस सूत्र का प्रणयन आवश्यक है।

भा०—क्या यह प्रयोजन है? और क्या?

वा०—तब जिसका अन्तादिवत् उसका निर्देश।

भा०—तब जिस [अवयवी] का अन्तवत् तथा आदिवत् इष्ट है, उसका निर्देश करना चाहिए। इसका अन्तवत् होता है, इसका आदिवत् होता है, यह कहना चाहिए। [अन्त और आदि अवयवविशेषवाची सापेक्ष शब्द हैं। अतः बताना होगा कि यहाँ किस अवयवी का अन्त अथवा आदि कहा जा रहा है।]

वा०—सिद्ध है, पूर्व-पर अधिकार होने से।

भा०—यह सिद्ध है। किस प्रकार? 'पूर्व पर' अनुवृत्त है। अतः पूर्व के

कार्यं प्रत्यन्तवद्भवति। परस्य कार्यं प्रत्यादिवद्भवति॥ अथ यत्रोभयमाश्रीयते, किं तत्र पूर्वस्यान्तवद्भवत्याहोस्वित्परस्यादिवद्भवति ? उभयत आश्रये नान्तादिवत्। किं वक्तव्यमेतत् ? न हि। कथमनुच्यमानं गंस्यते ? लौकिकोऽयं दृष्टान्तः। तद्यथा—लोके यो द्वयोस्तुल्यबलयोरेकः प्रेष्यो भवति स तयोः पर्यायेण कार्यं करोति। यदा तु तमुभौ युगपत्प्रेषयतो नानादिक्षु च कार्ये भवतस्तत्र यद्यसावविरोधार्थी भवति, तत उभयोर्न करोति ? किं पुनः कारणमुभयोर्न करोति ? यौगपद्यासंभवात्। नास्ति यौगपद्येन संभवः॥

अथान्तवत्त्वे कानि प्रयोजनानि ?

अन्तवत्त्वे प्रयोजनं बह्वच्पूर्वपदाट्ठज्विधाने॥ ४॥

कार्य के प्रति [उस पूर्व के] अन्त के समान होता है। पर के कार्य के प्रति [उस पर के] आदि के समान होता है। [जैसे 'वृक्षौ' यहाँ पर 'वृक्ष+औ' इस स्थिति में 'अ औ' के 'औ' इस एकादेश को पर के आदि के समान मानने से सुप् मान लेने पर सम्पूर्ण की पद संज्ञा सिद्ध हो जाती है।]

अन्य प्रश्न- **भा०**—अच्छा, जहाँ दोनों [अन्तवत् तथा आदिवत्] का आश्रय लिया जाता है, वहाँ पूर्व का अन्तवत् होता है या पर का आदिवत् होता है ? समाधान—दोनों का आश्रय लेने पर [दोनों कार्य] अन्तवत् तथा आदिवत् नहीं होते। क्या इसे कहा जावे ? नहीं। बिना कहे किस प्रकार प्रतीति होगी ? यह लौकिक दृष्टान्त है। जैसे—दो समान बल वाले [मालिकों] का एक कार्यकारी भृत्य होता है। वह उनका कार्य बारी-बारी से करता है। पर जब वे दोनों उसे एक साथ एक ही समय में भेजते हैं तथा वे कार्य अलग-अलग विपरीत दिशाओं में सम्पाद्य होते हैं, तब यदि वह विरोध नहीं चाहता तो दोनों का कार्य नहीं करता। क्या कारण है कि दोनों का नहीं करता ? एक साथ असम्भव होने से। क्योंकि यौगपद्य से सम्भव नहीं है।

विवरण—एकादेश को एक साथ अन्तवत् तथा आदिवत् मान लेने में विरोध है। इसलिए दोनों नहीं माने जाते। जैसे—'अतीयात्' में 'अति+इ यात्' यहाँ दीर्घ एकादेश कर लेने पर यदि इस एकादेश को पूर्व का अन्तवत् मानें तो उपसर्ग दृश्य होगा, पर का आदिवत् मानने पर इ धातु दृश्य होगी। इन दोनों के रूप में मानने की स्थिति में 'एतेर्लिङि' (७.४.२४) से ह्रस्वत्व की प्राप्ति होगी। पर इस परिभाषा के अनुसार ऐसा न मानने से यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होता।

प्रसङ्गान्तर-**भा०**—अच्छा, इस अन्तवत्त्व में क्या प्रयोजन है ?

वा०—बह्वच् पूर्वपद से ठच् विधान के विषय में अन्तवत्त्व के प्रति [सूत्र का] प्रयोजन है।

अन्तवत्त्वे बह्वच्पूर्वपदाट्ठज्विधाने प्रयोजनम्। द्वादशान्यिकः। पूर्वपदोत्तरपदयोरेकादेशः पूर्वपदस्यान्तवद्भवति। यथा शक्येत कर्तुं—बह्वच्पूर्वपदाट्ठज्भवतीति। क्व तर्हि स्यात्? यत्र कृतेऽप्येकादेशे बह्वच् पूर्वपदं भवति। त्रयोदशान्यिकः।

प्रत्ययैकादेशः पूर्वविधौ॥ ५॥

प्रत्ययैकादेशः पूर्वविधौ प्रयोजनम्। मधु पिबन्ति। शिदशितोरेकादेशः शितोऽन्तवद्भवति। यथा शक्येत कर्तुं—शितीति पिबादेशः। क्व तर्हि स्यात्? यत्रैकादेशो न भवति। पिबति॥

वैभक्तस्य णत्वे॥ ६॥

वैभक्तस्य णत्वे प्रयोजनम्। क्षीरपेण, सुरापेण। उत्तरपदविभक्त्योरेकादेश उत्तरपदस्यान्तवद् भवति। यथा शक्येत कर्तुम्—एकाजुत्तरपदे णो भवतीति। क्व तर्हि स्यात्? यत्रैकादेशो न भवति—क्षीरपाणाम्, सुरापाणाम्॥

भा०—इस स्थिति में प्रयोजन है। द्वादशान्यिकः। पूर्वपद तथा उत्तरपद का एकादेश पूर्व के अन्त के समान होता है। [इससे पूर्वपद में बह्वच् बन जाने से] यह बह्वच् पूर्वपद से ठच् कार्य सम्पन्न हो जाता है। [अन्तवत् न होने पर] यह कार्य कहाँ सम्पन्न हो पाता? [समाधान-] जहाँ एकादेश करने के पश्चात् भी बह्वच् पूर्वपद बन जाता है—त्रयोदशान्यिकः।

वा०—पूर्वविधि में प्रत्यय का एकादेश।

भा०—पूर्व को विधि करने में प्रत्यय के स्थान में एकादेश [अन्तवत् का] प्रयोजन है। यहाँ शित् [शप्] तथा अशित् [अन्ति] के 'अ अ' के स्थान में एकादेश शित् के अन्त के समान होता है। इससे यह कार्य सम्पन्न हो पाता है—शित् परे रहने पर विधीयमान [पाघ्राध्मा...(७.३.७८) सूत्र से पा के स्थान में] पिब आदेश। तो फिर [अन्तवत् न होने पर] यह विधान कहाँ सम्पन्न हो पाता? [समाधान-] पिबति [यहाँ एकादेश न होने से स्पष्टतः शित् परे मिल जाता है।]

वा०—वैभक्त के णत्व में।

भा०—विभक्ति में होने वाला अर्थात् विभक्ति में स्थित [नकार के स्थान में] णत्व में [अन्तवत् का] प्रयोजन है। क्षीरपेण... आदि। यहाँ [क्षीरप के] उत्तरपद [प] तथा विभक्ति [इन के 'अ इ' का] एकादेश उत्तरपद के अन्त [अ] के समान होता है। [इससे उत्तरपद 'प' के एकाच् बन जाने से] 'एकाजुत्तरपदे णः' (८.४.१२) सूत्र से [एकाच् उत्तरपद वाले समास में विभक्ति के न को विधीयमान] णत्व सिद्ध हो जाता है। तो फिर [अन्तवत् न होने पर] यह विधि कहाँ सम्पन्न हो पाती? [समाधान-] जहाँ पर एकादेश होता ही नहीं। क्षीरपाणाम्

अदस ईत्वोत्वे॥ ७॥

अदस ईत्वोत्वे प्रयोजनम्। अमी अत्र, अमी आसते। अमू अत्र, अमू आसते। अदस्विभक्त्योरेकादेशोऽदसोऽन्तवद्भवति। यथा शक्येत कर्तुम्—'अदसोऽसेर्दादु दो मः, एत ईद्बहुवचने' (८.२.८०, ८१) इति। क्व तर्हि स्यात्? यत्रैकादेशो न भवति। अमीभिः, अमूभ्याम्॥

स्वरितत्वे प्रयोजनम्। कार्या, हार्या। तिदतितोरेकादेशस्तितोऽन्तवद् भवति। यथा शक्येत कर्तुं—'तित्स्वरितम्' (६.१.१८५) इति।

[यहाँ उत्तरपद के स्थान में एकादेश न होने से स्पष्टतः उत्तरपद में एकाच्त्व प्राप्त हो जाता है।]

वा०—अदस् के ईत्व, ऊत्व में।

भा०—अदस् के ईत्व, ऊत्व में प्रयोजन है। अमी अत्र...आदि। [यहाँ 'अमी' में 'अदस् जस्' इस दशा में 'त्यदादीनामः' (७.२.१०२) से 'स्' के स्थान में अकार होने पर 'अद अ' इस दशा में पूर्वरूप एकादेश के पश्चात् जस् के स्थान में 'जसः शी' (७.१.१७) से शी आदेश होने पर 'आद् गुणः' से गुण एकादेश होने पर 'अदे' इस दशा में 'एत ईद् बहुवचने' (८.२.८१) से अदस् के दकार के स्थान में मकार तथा एकार के स्थान में ईकार आदेश करना है।] यहाँ अदस्, विभक्ति का गुण-एकादेश अदस् के अन्त के समान हो जाता है। [इससे यह 'अदे' 'अद' के समान गतार्थ होता है। ऐसा होने पर 'अदस् के अवयव दकार के स्थान में मकार' इस अर्थ के अनुसार]। यह सूत्र प्रवृत्त हो सकता है—'अदसोऽसेः...' इत्यादि। तो फिर अन्यथा यह सूत्र कहाँ प्रवृत्त हो पाता? [समाधान-] जहाँ एकादेश नहीं होता। अमीभिः आदि। [यहाँ एत्व आदेश के 'अदे भिस्' इस दशा में अदस् का अवयव दकार तथा उससे स्पष्टतः उत्तर विभक्ति उपस्थित होने से अन्तवत् के बिना भी मीत्व सिद्ध हो जाता है।]

स्वरितत्व में प्रयोजन है—कार्या, हार्या [यहाँ विभज्यान्वाख्यान पक्ष में 'कार्य आ' इस दशा में एकादेश के पश्चात् स्वरित करना है।] यहाँ तित् [ण्यत्] तथा अतित् [टाप्] का एकादेश तित् के अन्त के समान हो जाता है। इससे 'तित् स्वरितम्' (६.१.१८५) सूत्र प्रवृत्त हो जाता है।

विवरण—सामान्यतः, स्वर के अन्तरंग होने से पहले स्वर तथा पश्चात् टाप् लाया जाता है। व्याकरण में विभज्यान्वाख्यान यह भी एक अलग पक्ष है। इसके अनुसार प्रातिपदिक से स्त्री प्रत्यय, विभक्ति आदि की उपस्थिति के पश्चात् तदाश्रित कार्य सम्पन्न किये जाते हैं। ये तदाश्रित कार्य स्त्रीलिङ्गता या विभक्त्यर्थ के अन्तर्गत विवक्षित हैं, यह इस पक्ष में तर्क है। इस के अनुसार यह प्रयोजन कहा गया है।

क्व तर्हि स्यात्? यत्रैकादेशो न भवति। कार्यः, हार्यः॥

स्वरितत्वं विप्रतिषेधात्॥ ८॥

स्वरितत्वं क्रियतामेकादेश इति किमत्र कर्तव्यम्? परत्वात्स्वरितत्वं भविष्यति विप्रतिषेधेन॥ नैष युक्तो विप्रतिषेधः। नित्य एकादेशः। कृतेऽपि स्वरितत्वे प्राप्नोत्यकृतेऽपि। अनित्य एकादेशः। अन्यथास्वरस्य कृते स्वरितत्वे प्राप्नोत्यन्यथास्वरस्याकृते स्वरितत्वे प्राप्नोति, स्वरभिन्नस्य च प्राप्नुवन्विधिरनित्यो भवति। अन्तरङ्गस्तर्ह्येकादेशः। कान्तरङ्गता? वर्णावाश्रित्यैकादेशः, पदस्य स्वरितत्वम्। स्वरितत्वमप्यन्तरङ्गम्। कथम्? उक्तमेतत्पदग्रहणं परिमाणार्थमिति। उभयोरन्तरङ्गयोः परत्वात् स्वरितत्वं स्वरितत्वे कृते आन्तर्यतः स्वरितानुदात्तयोरेकादेशः स्वरितो भविष्यति॥

लिङ्गविशिष्टग्रहणाद्वा॥ ९॥

अथवा प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं भवतीत्येवमत्र

भा०—तो फिर [अन्तवत् न होने पर] यह कार्य कहाँ सावकाश होता? [समाधान-] जहाँ एकादेश नहीं होता—कार्यः, हार्यः।

वा०—विप्रतिषेध से स्वरितत्व।

भा०—स्वरितत्व करें या एकादेश। यहाँ क्या करना चाहिये? परत्व से स्वरितत्व होगा—विप्रतिषेध के अनुसार।

भा०—यह विप्रतिषेध ठीक नहीं है। एकादेश नित्य है, स्वरितत्व करने पर भी पाता है, न करने पर भी।

एकादेश अनित्य है। स्वर कर लेने पर अन्य स्वर वाले को तथा न करने पर अन्य स्वर वाले को प्राप्त होता है। स्वरभिन्न को प्राप्त होने वाली विधि अनित्य होती है। ['शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्यः' यहाँ स्वरान्तर का भी उपलक्षण है।]

तो फिर एकादेश अन्तरङ्ग है। अन्तरङ्गता क्या है? वर्णों के आश्रित एकादेश होता है, पद का स्वरितत्व होता है। स्वरित भी अन्तरङ्ग है। किस प्रकार? वहाँ कहा है कि पद ग्रहण परिमाण के लिए है। ['तित्स्वरितम्' सूत्र की 'अनुदात्तं पदम्...' से एकवाक्यता मान कर यह कहा है। 'अनुदात्तं पदम्...' (६.१.१५२) का पद ग्रहण केवल परिमाण बताने के लिए है, इस निर्देश के लिए नहीं कि अनुदात्तत्व पद बन जाने पर हो।] दोनों के अन्तरङ्ग होने पर परत्व से स्वरितत्व होगा। स्वरितत्व कर लेने पर आन्तर्य से स्वरित और अनुदात्त का एकादेश स्वरित ही होगा। [क्योंकि स्वरित में अनुदात्तत्व भी उपस्थित होता है।]

वा०—अथवा लिङ्गविशिष्ट ग्रहण से।

भा०—प्रातिपदिक-ग्रहण में लिङ्ग-विशिष्ट का ग्रहण होता है। इस परिभाषा

स्वरितत्वं भविष्यति॥

पूर्वपदान्तोदात्तत्वं च प्रयोजनम्। गुडोदकम्, मथितोदकम्। पूर्वपदोत्तरपदयोरेकादेशः पूर्वपदस्यान्तवद्भवति। यथा शक्येत कर्तुम्—'उदकेऽकेवले' पूर्वपदस्यान्त उदात्तो भवतीति। क्व तर्हि स्यात्? यत्रैकादेशो नास्ति—उदश्विदुदकम्॥

पूर्वपदान्तोदात्तत्वं च॥ १०॥

पूर्वपदान्तोदात्तत्वं च विप्रतिषेधात्। पूर्वपदान्तोदात्तत्वं क्रियतामेकादेश इति, किमत्र कर्तव्यम्? परत्वात्पूर्वपदान्तोदात्तत्वम्। पूर्वपदान्तोदात्तत्वस्यावकाशः—उदश्विदुदकम्। एकादेशस्यावकाशः—दण्डाग्रम्, क्षुपाग्रम्। इहोभयं प्राप्नोति—मथितोदकम्, गुडोदकम्। पूर्वपदान्तोदात्तत्वं भवति विप्रतिषेधेन॥ स चावश्यं विप्रतिषेध आश्रयितव्यः।

एकादेशे हि स्वरिताप्रसिद्धिः॥ ११॥

एकादेशे हि स्वरितस्याप्रसिद्धिः स्यात्। यो हि मन्यतेऽस्त्वत्रैकादेश एकादेशे कृते पूर्वपदान्तोदात्तत्वं भविष्यतीति स्वरितत्वं तस्य

के अनुसार स्वरितत्व हो जाएगा। [एकादेश के पश्चात् भी, लिङ्गविशिष्ट का कार्य होने से स्वरितत्व सम्पन्न हो जाएगा।]

पूर्वपद का अन्तोदात्तत्व भी प्रयोजन है—गुडोदकम्...आदि। पूर्वपद [के अन्त का अकार], उत्तरपद [के आदि के उकार] का एकादेश पूर्वपद के अन्त [पूर्वपद गुड] के समान होता है। इससे 'उदकेऽकेवले' (६.२.९६) सूत्र द्वारा पूर्वपद के अन्तिम अक्षर को उदात्त सिद्ध होता है। तो फिर [अन्तवत् न होने पर] यह कहाँ कृतकार्य होता? जहाँ पर एकादेश नहीं है—'उदश्विदुदकम्' यहाँ पर।

वा०—पूर्वपद का अन्तोदात्तत्व भी।

भा०—पूर्वपद का अन्तोदात्तत्व भी विप्रतिषेध से सिद्ध होगा। पूर्वपद का अन्तोदात्तत्व करें या एकादेश, क्या करना चाहिए? परत्व से पूर्वपद का अन्तोदात्तत्व। पूर्वपद के अन्तोदात्तत्व का अवकाश है—उदश्विदुदकम्। एकादेश का अवकाश है—दण्डाग्रम्, क्षुपाग्रम्। यहाँ दोनों प्राप्त होते हैं—गुडोदकम्। विप्रतिषेध से पूर्वपद का अन्तोदात्तत्व होता है। इस विप्रतिषेध का अवश्य आश्रय लेना होगा।

वा०—एकादेश में स्वरित की अप्रसिद्धि।

भा०—एकादेश [पहले] मानने पर स्वरित की प्रसिद्धि नहीं होगी। जो यह मानता है कि यहाँ पर [पहले] एकादेश हो जावे। एकादेश कर लेने के पश्चात् [अन्तवद्भाव से] पूर्वपद का अन्तोदात्तत्व सिद्ध हो जाएगा। इसके पक्ष में स्वरितत्व

न सिध्यति—'स्वरितो वानुदात्ते पदादौ' (८.२.६.) इति। गुडोदकम्, मथितोदकम्॥

कृदन्तप्रकृतिस्वरत्वं च प्रयोजनम्। प्राटिता, प्राशिता। कृद्गत्योरेकादेशो गतेरन्तवद्भवति। यथा शक्येत कर्तुं—गतिकारकोपपदात्कृदन्तमुत्तरपदं प्रकृतिस्वरं भवतीति। क्व तर्हि स्यात्? यत्र नैकादेशः—प्रकारकः, प्रकरणम्॥

कृदन्तप्रकृतिस्वरत्वं च॥ १२॥

कृदन्तप्रकृतिस्वरत्वं च विप्रतिषेधात्। कृदन्तप्रकृतिस्वरत्वं क्रियतामेकादेश इति, किमत्र कर्तव्यम्? परत्वात्कृदन्तप्रकृतिस्वरत्वं भवति विप्रतिषेधेन। कृदन्तप्रकृतिस्वरस्यावकाशः—प्रकारकः, प्रकरणम्। एकादेशस्यावकाशः—दण्डाग्रम्, क्षुपाग्रम्। इहोभयं प्राप्नोति—प्राटिता, प्राशिता। कृदन्तप्रकृतिस्वरत्वं भवति विप्रतिषेधेन॥ स चावश्यं विप्रतिषेध आश्रयितव्यः।

एकादेशे ह्यप्रसिद्धिरुत्तरपदस्यापरत्वात्॥ १३॥

सिद्ध नहीं होगा—'स्वरितो वानुदात्ते पदादौ' सूत्र से। गुडोदकम् आदि। [एकादेश के पश्चात् अन्तोदात्त करने पर 'गुडोदकम्' का 'डो' उदात्त होगा। अन्तोदात्त पहले करने पर 'गुड+उदकम्' का ड उदात्त तथा शेष अन्य अक्षर 'अनुदात्तं पदम्...' सूत्र से अनुदात्त हो जाएँगे। अब अनुदात्त पदादि 'उ' के परे रहने पर उदात्त के साथ होने वाला एकादेश 'स्वरितो वानुदात्ते पदादौ' से स्वरित हो सकेगा।]

कृदन्त प्रकृतिस्वरत्व भी प्रयोजन है। प्राटिता, प्राशिता। कृत् [अन्त वाले अटिता का आदि अक्षर 'अ' तथा गति 'प्र'] का एकादेश गति के अन्तिम अक्षर [अ] के समान होता है। जिससे गति, कारक, उपपद से उत्तर कृदन्त उत्तरपद को विधीयमान प्रकृतिस्वर सम्पन्न होता है। तो फिर [अन्तवत् न होने पर] यह सूत्र कहाँ प्रवृत्त होता? जहाँ एकादेश नहीं—प्रकारकः आदि।

वा०—कृदन्त-प्रकृतिस्वरत्व भी।

भा०—कृदन्त का प्रकृतिस्वरत्व भी विप्रतिषेध से सम्पन्न होगा। कृदन्त का प्रकृतिस्वरत्व करें, या एकादेश। यहाँ क्या करना चाहिये। विप्रतिषेध से कृदन्त का प्रकृतिस्वरत्व ही होगा। कृदन्त प्रकृतिस्वर का अवकाश है—प्रकारकः आदि। [जहाँ एकादेश नहीं हुआ है।] एकादेश का अवकाश है—दण्डाग्रम्। [जहाँ उत्तरपद कृदन्त नहीं है।] यहाँ दोनों पातें हैं—प्राटिता आदि। विप्रतिषेध से कृदन्त को प्रकृतिस्वर होता है। यह विप्रतिषेध अवश्य मानना होगा।

वा०—एकादेश होने पर उत्तरपद पर न होने से अप्रसिद्धि।

यो हि मन्यतेऽस्त्वत्रैकादेशः, एकादेशे कृते कृदन्तप्रकृतिस्वरत्वं भविष्यतीति, कृदन्तप्रकृतिस्वरत्वं तस्य न सिध्यति। किं कारणम्? उत्तरपदस्यापरत्वात्। न हीदानीमेकादेशे कृत उत्तरपदं परं भवति। ननु चान्तादिवद्भावेन परम्? उभयत आश्रये नान्तादिवत्॥

उत्तरपदवृद्धिश्चैकादेशात्॥ १४॥

उत्तरपदवृद्धिश्चैकादेशाद्भवति विप्रतिषेधेन। उत्तरपदवृद्धेरवकाशः—पूर्वत्रैगर्तकः, अपरत्रैगर्तकः। एकादेशस्यावकाशः—दण्डाग्रम् क्षुपाग्रम्। इहोभयं प्राप्नोति—पूर्वैषुकामशमः, अपरैषुकामशमः। उत्तरपदवृद्धिर्भवति विप्रतिषेधेन॥

भा०—जो यह मानते हैं कि यहाँ पहले एकादेश हो जावे, उसके कर लेने पर [अन्तवत् द्वारा] कृदन्त प्रकृतिस्वरत्व सिद्ध हो जाएगा। वास्तव में यह कृदन्तप्रकृति-स्वरत्व सिद्ध नहीं होता। क्या कारण है? उत्तरपद के पर न होने से। एकादेश कर लेने पर उत्तरपद पर नहीं रह जाता। [प्राटिता में एकादेश के पश्चात् अन्तवत् करने से प्र गति पूर्वपद मिल जाता है, पर कृदन्त उत्तरपद नहीं मिलता।] क्यों, यहाँ अन्तवत् के साथ-साथ आदिवत् होने से उत्तरपद पर मिल जाएगा। प्रत्युत्तर—दोनों ओर का आश्रय करने पर अन्तादिवद्भाव नहीं होता। [अतः विप्रतिषेध से प्रकृतिस्वर पहले करना समुचित है। यहाँ इस सूत्र का प्रयोजन नहीं है।]

[पूर्व-पर-भाष्य-सङ्गतिकरण—उपर्युक्त उदाहरण में विप्रतिषेध से प्रकृतिस्वर होता है। अन्तरङ्ग होने से एकादेश नहीं होता। इसे सिद्ध करने के लिए पूर्वोक्त सदृश एक अन्य प्रकरण प्रस्तुत कर रहे हैं—]

वा०—एकादेश से उत्तरपद-वृद्धि भी।

भा०—एकादेश से [पहले] उत्तरपद-वृद्धि भी विप्रतिषेध से होती है। उत्तरपद- वृद्धि का अवकाश है—पूर्वत्रैगर्तकः...। एकादेश का अवकाश है—दण्डाग्रम्। यहाँ दोनों प्राप्त होते हैं—पूर्वैषुकामशमः। यहाँ विप्रतिषेध से उत्तरपदवृद्धि पहले होती है। [यहाँ पूर्वस्याम् इषुकामशम्यां भवः, इस विग्रह में तद्धितार्थ-विषय में 'तद्धितार्थोत्तरपद...' से समास, पश्चात् भव अर्थ में 'अण्'। 'पूर्व इषुकामशमी अ' इस स्थिति में एकादेश तथा 'प्राचां ग्रामनगराणाम्' (७.३.१४) से उत्तरपदवृद्धि की प्राप्ति में विप्रतिषेध से वृद्धि पहले होती है। यहाँ व्याख्याकारों ने समुचित प्रश्न उपस्थित किया है कि यहाँ 'प्राचां ग्रामनगराणाम्' की सावकाशता दिखानी चाहिये। पर त्रिगर्त शब्द के ग्रामनगरवाची न होने अपितु जनपदवाची होने से इसकी सावकाशता का 'पूर्वत्रैगर्तकः' उदाहरण किस प्रकार समुचित है? इसका समाधान यह दिया है कि यहाँ उत्तरपदवृद्धि प्रकरण का तथा एकादेश का विप्रतिषेध मानते हुए यह उदाहरण प्रस्तुत किया है।]

एकादेशप्रसङ्गस्त्वन्तरङ्गबलीयस्त्वात्॥ १५॥

एकादेशस्तु प्राप्नोति। किं कारणम्? अन्तरङ्गस्य बलीयस्त्वात्। अन्तरङ्गं बलीयो भवति॥ तत्र को दोषः?

तत्र वृद्धिविधानम्॥ १६॥

तत्र वृद्धिर्विधेया॥ नैष दोषः। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—पूर्वपदोत्तरपदयोस्तावत् कार्यं भवति नैकादेश इति, यदयं—'नेन्द्रस्य परस्य' (७.३.२२) इति प्रतिषेधं शास्ति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्? इन्द्रे द्वावचौ। तत्रैको यस्येति लोपेन ह्रियतेऽपर एकादेशेन। अनच्क इन्द्रः संपन्नः। तत्र को वृद्धेः प्रसङ्गः? पश्यति त्वाचार्यः—पूर्वपदोत्तरपदयोस्तावत्कार्यं भवति नैकादेश इति,

---

वा०—अन्तरङ्गबलीयस्त्व होने से एकादेश का प्रसङ्ग।

भा०—फिर भी एकादेश तो [पहले] प्राप्त होता है। क्या कारण है? अन्तरङ्ग के अधिक बलशाली होने से। अन्तरङ्ग अधिक बलवान् होता है। इसमें क्या दोष है?

वा०—तब वृद्धिविधान।

भा०—तब वृद्धि का विधान करना होगा।

विवरण—यदि एकादेश को अन्तरङ्ग होने से बलवान् मानते हुए प्रथम एकादेश करें तो उत्तरपदवृद्धि नहीं हो सकेगी। इस वृद्धि के लिए पूर्व का अन्तवत् तथा पर का आदिवत् दोनों मानना होगा, जो कि पूर्वोक्त 'उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्' परिभाषा के अनुसार प्रतिषिद्ध है।

इस प्रकरण की पूर्व भाष्य से सङ्गति यह है कि 'प्राटिता' में भी अन्तरङ्ग होने से एकादेश पहले करें तो वहाँ भी इस परिभाषा के अनुसार कृदन्त-प्रकतिस्वर नहीं हो सकेगा। इस प्रकार दोनों स्थानों में एक ही प्रकार का दोष प्रस्तुत करके आगे समाधान कहते हैं—

भा०—यह दोष नहीं है। आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापित करती है कि पूर्वपद या उत्तरपद को मानकर सम्पादित होने वाले अलग-अलग कार्य पहले होते हैं। एकादेश पहले नहीं होता। तभी तो 'नेन्द्रस्य परस्य' सूत्र में प्रतिषेध का शासन किया है।

यह ज्ञापक किस प्रकार है?

इन्द्र में दो अच् हैं। एक का 'यस्येति लोपः' से अपहरण हो जाता है, दूसरे का एकादेश से। [जैसे 'सौमेन्द्रः' आदि उदाहरण में इन्द्र के इकार का एकादेश से एकार हो जाता है तथा अन्तिम अकार का अण् परे रहने पर लोप हो जाता है।] अब तो 'इन्द्र' शब्द अच्विहीन हो गया। तब वृद्धि का क्या प्रसङ्ग है? पर आचार्य देखते हैं कि पूर्वपद या उत्तरपद को मानकर होने वाले कार्य पहले होते हैं, एकादेश नहीं।

ततो नेन्द्रस्य परस्येति प्रतिषेधं शास्ति॥

अथादिवत्त्वे कानि प्रयोजनानि?

आदिवत्त्वे प्रयोजनं प्रगृह्यसंज्ञायाम्॥ १७॥

आदिवत्त्वे प्रगृह्यसंज्ञायां प्रयोजनम्। अग्नी इति, वायू इति। द्विवचनाद्विवचनयोरेकादेशो द्विवचनस्यादिवद्भवति। यथा शक्येत कर्तुम्—'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' (१.१.११) इति। क्व तर्हि स्यात्? यत्रैकादेशो न भवति। त्रपुणी इति, जतुनी इति॥

सुप्तिङाब्विधिषु॥ १८॥

सुप्तिङाब्विधिषु प्रयोजनम्। सुप्—वृक्षे तिष्ठति। प्लक्षे तिष्ठति। सुबसुपोरेकादेशः सुप आदिवद्भवति। यथा शक्येत कर्तुं—सुबन्तं पदमिति। क्व तर्हि स्यात्? यत्रैकादेशो न भवति—वृक्षस्तिष्ठति। प्लक्षस्तिष्ठति। सुप्॥

[तभी एकादेश से पहले इन्द्र के इकार को वृद्धि की प्राप्ति में] 'नेन्द्रस्य परस्य' से प्रतिषेध का शासन करते हैं। [इस प्रकार यह भी 'अन्तादिवच्च' का वास्तविक प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ। अतः इससे पहले के प्रयोजनों के लिए पूर्व का अन्तवत् विधान सार्थक है।]

[प्रसङ्गान्तर—] अच्छा आदिवत् विधान में क्या प्रयोजन है?

वा०—प्रगृह्यसंज्ञा में आदिवत् का प्रयोजन।

भा०—प्रगृह्यसंज्ञा के विधान में आदिवत् शासन का प्रयोजन है। 'अग्नी इति' यहाँ द्विवचन [औ] अद्विवचन [इ] का [ई] एकादेश द्विवचन के आदि [औ] के समान हो जाता है। इससे 'ईदूदेत्...' सूत्र में प्रोक्त द्विवचनान्त के प्राप्त हो जाने से उसकी प्रवृत्ति की जा सकती है। [यदि आदिवत् न होता तो यह सूत्र] कहाँ प्रवृत्त होता? जहाँ एकादेश नहीं होता। 'त्रपुणी इति...' [यहाँ एकादेश के बिना द्विवचन 'ई' अवस्थित है।]

वा०—सुप् तिङ् आप्-विधि में।

भा०—सुप् तिङ् आप्-विधि में [आदिवत् का] प्रयोजन है। **सुप्**—'वृक्षे तिष्ठति....' यहाँ सुप् [इ] असुप् [अ] का [ए] एकादेश सुप् के आदिवत् [इ के समान] हो जाता है। इससे [सुप् अन्त बन जाने से] 'सुबन्तं पदम्' से पद संज्ञा हो सकती है। [यदि यह आदिवत् न होता तो] तो यह सूत्र कहाँ लगता? जहाँ एकादेश नहीं होता। वृक्षस्तिष्ठति...[यहाँ विभक्ति का 'स्' एकादेश से निष्पन्न नहीं है।]

तिङ्—पचे, यज इति। तिङतिङोरेकादेशस्तिङ आदिवद्भवति। यथा शक्येत कर्तुं—तिङन्तं पदमिति। क्व तर्हि स्यात्? यत्रैकादेशो न भवति। पचति, यजति। तिङ्॥ आप्—खट्वा, माला। आबनापोरेकादेश आप आदिवद्भवति। यथा शक्येत कर्तुम्—आबन्तात्सोर्लोपो भवतीति। क्व तर्हि स्यात्? यत्रैकादेशो न। क्रुञ्चा, उष्णिहा, देवविशा॥

आङ्ग्रहणे पदविधौ॥ १९॥

आङ्ग्रहणे पदविधौ प्रयोजनम्। अद्याहते। कदाहते। आङनाङोरेकादेश आङ आदिवद्भवति। यथा शक्येत कर्तुम्—'आङो यमहनः (१.३.२८) इत्यात्मनेपदं भवतीति। क्व तर्हि स्यात्? यत्रैकादेशो न। आहते॥

आटश्च वृद्धिविधौ॥ २०॥

आटश्च वृद्धिविधौ प्रयोजनम्। अद्यैहिष्ट, कदैहिष्ट। आटोऽद्यशब्दस्य चैकादेश आट आदिवद्भवति। यथा शक्येत कर्तुम्—आटश्चाचि

तिङ्—पचे, यजे। यहाँ 'तिङ्' [इ], अतिङ् [अ] का एकादेश [ए] तिङ् के आदि [इ] के समान होता है। इससे 'तिङ्' अन्त वाला बन जाने से 'तिङन्तं पदम्' के अनुसार पद संज्ञा होती है। [यदि यह आदिवत् न होता तो] यह कहाँ प्रवृत्त होता? जहाँ एकादेश नहीं होता। पचति...। [यहाँ 'ति' एकादेश से निष्पाद्य नहीं है।]

आप्—खट्वा...। यहाँ आप् तथा अनाप् [खट्वा का आ] का एकादेश [आ] आप् के आदि के समान होता है। इससे यह कार्य सम्पन्न हो सकता है—[हल्ङ्याब्भ्यो...] से आबन्त से उत्तर सु का लोप। यदि यह न होता तो यह सूत्र कहाँ लगता? जहाँ एकादेश नहीं है। क्रुञ्चा...[यहाँ 'क्रुञ्च्' इस हलन्त से विहित आ एकादेश-निष्पाद्य नहीं है।]

वा०—आङ् ग्रहण में पद-विधि में।

भा०—आङ् का ग्रहण करते हुए पद की किसी विधि के करने में भी [आदिवत् का] प्रयोजन है। अद्याहते...। [यहाँ 'अद्य आ हन् ल्' इस दशा में एकादेश करते हैं। यह 'वाक्य-संस्कार' नामक एक पक्ष के अनुसार है, जिसमें सभी पदों को एक साथ रख कर पुनः पदाश्रित कार्य किये जाते हैं।] यहाँ आङ् अनाङ् का एकादेश आङ् के आदि के समान होता है। जिससे 'आङो यमहनः' से आत्मनेपद किया जा सकता है। [आदिवत् न होने पर यह सूत्र] कहाँ कृतकार्य होता? जहाँ एकादेश के बिना ही [आङ् उपस्थित है]—आहते।

वा०—आट् की वृद्धिविधि में।

भा०—आट् के स्थान में वृद्धि का विधान करने में भी [आदिवत् का] प्रयोजन है। अद्यैहिष्ट...। [यहाँ वाक्य-संस्कार पक्ष में 'अद्य आ ईहि स् त' इस दशा में] आट् तथा 'अद्य' शब्द का एकादेश करते हैं। यह एकादेश आट् के आदि के समान माना जाता है। इससे यह विधि हो सकती है—'आट् से अच् परे रहने

वृद्धिर्भवतीति। क्व तर्हि स्यात्? यत्रैकादेशो न—ऐहिष्ट, ऐक्षिष्ट॥

कृदन्तप्रातिपदिकत्वे च॥ २१॥

कृदन्तप्रातिपदिकत्वे च प्रयोजनम्। धारयः, पारयः। कृदकृतोरेकादेशः कृत आदिवद्भवति। यथा शक्येत कर्तुं—कृदन्तं प्राति- पदिकमिति। क्व तर्हि स्यात्? यत्रैकादेशो न—कारकः, हारकः॥

नाभ्यासादीनां ह्रस्वत्वे॥ २२॥

अभ्यासादीनां ह्रस्वत्वे नान्तादिवद्भवतीति वक्तव्यम्। के पुनरभ्यासादयः? अभ्यासोहाम्बार्थनदीनपुंसकोपसर्जनह्रस्वत्वानि। अभ्यासह्रस्वत्वम्—उपेयाज, उपोवाप। ऊहेर्ह्रस्वत्वम्—उपोह्यते, प्रोह्यते, परोह्यते। अम्बार्थनदीनपुंसकोपसर्जनह्रस्वत्वानि—अम्बात्र, अक्कात्र।

पर पूर्व पर को वृद्धि' यह। अन्यथा यह सूत्र कहाँ सावकाश होता? [जहाँ वृद्धि से पूर्व-आट् का] एकादेश नहीं है—ऐहिष्ट...इत्यादि।

वा०—कृदन्त प्रातिपदिकत्व में भी।

भा०—कृदन्त के प्रातिपदिकत्व विधान में भी [आदिवत् का] प्रयोजन है। धारयः...आदि। [यहाँ 'धारयति' इस अर्थ में अनुपसर्गाल्लिम्प...(३.१.१३८) से श तथा उसके परे रहने पर शप् होने पर 'धारि अ अ' इस दशा में 'अतो गुणे' (६.१.९४) से पररूप एकादेश होने पर।] कृत् अकृत् का यह एकादेश कृत् 'अ' के आदि के समान होता है। इससे यह विधि सम्पन्न की जाती है—कृदन्त का प्रातिपदिकत्व। [आदिवत् न होने पर] यह विधि कहाँ लगती? जहाँ एकादेश नहीं है—कारकः आदि।

[प्रसङ्गान्तर-] **वा०**—अभ्यास आदि के ह्रस्वत्व में नहीं।

भा०—अभ्यास-आदि के ह्रस्वत्व करने में अन्तादिवत् नहीं होता, यह कहना चाहिये। अभ्यास-आदि कौन है? अभ्यास, ऊह...इत्यादि। अभ्यास-ह्रस्वत्व—उपेयाज...। [यहाँ 'उप+इयाज' इस स्थिति में पूर्व-पर को गुण-एकादेश कर लेने पर यदि इस एकादेश को आदिवद्भाव से अभ्यास का अङ्ग माना जावे तो 'ह्रस्वः' (७.४.५९) से ह्रस्वत्व की प्राप्ति होती है।] ऊह् का ह्रस्वत्व—उपोह्यते...। [यहाँ 'उप ऊह् य त' इस दशा में गुण-एकादेश होने पर यदि इसका अन्तादिवद्भाव हो तो उपसर्ग से उत्तर ऊह् के प्रास हो जाने से 'उपसर्गाद्ध्रस्व ऊहतेः' (७.४.२३) से ह्रस्व की प्राप्ति होती है। यह दोष 'उभयत आश्रयणे...' इस परिभाषा की उपेक्षा करके प्रदान किया गया है।]

अम्बार्थ...आदि का ह्रस्वत्व—अम्बात्र...आदि। [यहाँ सम्बुद्धि अम्बा को 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' (७.३.१०७) से ह्रस्व करने के पश्चात् 'अम्ब अत्र' इस दशा

कुमारीदम्, किशोरीदम्। आराशस्त्रीदम्, धानाशष्कुलीदम्। निष्कौशाम्बीदम्, निर्वाराणसीदम्। अभ्यासोहाम्बार्थनदीनपुंसकोपसर्जनग्रहणेन ग्रहणाद् ह्रस्वत्वं प्राप्नोति॥

न वा बहिरङ्गलक्षणत्वात्॥ २३॥

न वैतद्वक्तव्यम्। किं कारणम्? बहिरङ्गलक्षणत्वात्। अन्तरङ्गं ह्रस्वत्वम्, बहिरङ्गा एते विधयः। असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे॥

वर्णाश्रयविधौ च॥ २४॥

वर्णाश्रयविधौ च नान्तादिवद्भवतीति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्?

प्रयोजनं खट्वाभिर्जुहावास्या अश्व इति॥ २५॥

इह खट्वाभिः, मालाभिः—अतो भिस ऐस् भवतीत्यैस्भावः

में दीर्घ-एकादेश कर लेने पर यदि आदिवद्-भाव हो तो पुनः अम्ब-स्वरूप दृष्टिगत होने से उससे पुनः ह्रस्व की प्राप्ति होती है।] कुमारीदम्...आदि। [यहाँ 'कुमारी' शब्द की सम्बुद्धि में पूर्वोक्त सूत्र से ह्रस्वत्व के पश्चात् एकादेश करने पर आदिवद् होने की स्थिति में पुनः उसी से ह्रस्वत्व की प्राप्ति होती है।] आराशस्त्रीदम्...आदि [यहाँ नपुंसक-ह्रस्वत्व के पश्चात् उसी प्रकार पुनः ह्रस्वत्व की प्राप्ति है।] 'निष्कौशाम्बीदम्' में ['गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' (१.२.४८) से उपसर्जनह्रस्वत्व के पश्चात् पुनः ह्रस्वत्व की प्राप्ति होती है।]

वा०—बहिरङ्गलक्षण होने से नहीं।

भा०—इसे कहने की आवश्यकता नहीं। क्या कारण है? बहिरङ्गलक्षणत्व हेतु से। [प्रथम उपस्थित] ह्रस्वत्व अन्तरङ्ग है तथा इसके पश्चात् पुनः प्राप्त ये विधियाँ बहिरङ्ग हैं। अन्तरङ्ग के प्रति बहिरङ्ग असिद्ध होता है। [तात्पर्य यह है कि एक बार ह्रस्वत्व की प्रवृत्ति हो जाने के पश्चात् 'सकृल्लक्ष्ये लक्षणं प्रवर्तते' अर्थात् सूत्र की उदाहरण के प्रति एक बार ही प्रवृत्ति होती है। अतः पुनः ह्रस्वत्व की प्राप्ति नहीं होगी। इस दृष्टि से ये विधियाँ असिद्ध या अवर्तमान रहेंगी।]

वा०—वर्णाश्रय-विधि में भी।

भा०—वर्णाश्रय-विधि में भी अन्तादिवत् नहीं होता, यह कहना चाहिये। क्या प्रयोजन है?

वा०—खट्वााभिः, जुहाव, अस्या अश्वः प्रयोजन हैं।

भा०—यहाँ खट्वाभिः...आदि में ['खट्व आ भिस्' इसे एकादेश करने के पश्चात् यदि यह एकादेश पूर्व का अन्तवत् हो तो यह 'खट्व' इस रूप में ह्रस्व अकारान्त दृष्टिगोचर होगा।] तब 'अतो भिस ऐस्' (७.१.९) से ऐस् आदेश की

प्राप्नोति! नैष दोषः। तपरकरणसामर्थ्यान्न भविष्यति। अस्त्यन्यत्तपरकरणे प्रयोजनम्। किम्? कीलालपाभिः, शुभंयाभिः। जुहाव—'आत औ णलः' (७.१.३४) इत्यौत्वं प्राप्नोति॥ अस्या अश्व इति—'एङः पदान्तादति' (६.१.१०९) इति पूर्वत्वं प्राप्नोति॥

न वाऽताद्रूप्यातिदेशात्॥ २६॥

न वा वक्तव्यम्। किं कारणम्? अताद्रूप्यातिदेशात्। नेह ताद्रूप्यमतिदिश्यते। रूपाश्रया वा एते विधयोऽताद्रूप्यान्न भविष्यन्ति॥

प्राप्ति होती है! यह दोष नहीं है। [सूत्र में 'अतः' शब्द में] तपरकरण सामर्थ्य से नहीं होगा। [तपर-करण का प्रयोजन ही यह है कि मूलतः शुद्ध अकारान्त से ऐस् हो। अन्तवत् द्वारा कृत्रिम रूप से बनाए गए अकारान्त से नहीं।] तपर-करण का अन्य प्रयोजन वर्तमान है। क्या? कीलालपाभिः (=मांस रस पीने वालों के द्वारा) [यहाँ शुद्ध अनकारान्त से ऐस् न हो। इस प्रकार वार्तिक का प्रयोजन स्थिर है।]

जुहाव [यहाँ ह्वा धातु के लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन में धातु को 'अभ्यस्तस्य च' (६.१.३३) से सम्प्रसारण होने पर 'हु आ अ' इस दशा में 'सम्प्रसारणाच्च' (६.१.१०८) से पूर्वरूप एकादेश होने पर 'हु अ' इस दशा में यदि इस एकादेश का आदिवत् भाव हो तो] 'आत औ णलः' (७.१.३४) से [णल् के स्थान में] औकार-आदेश की प्राप्ति होती है।

अस्या अश्वः [यहाँ इदम् शब्द के चतुर्थी एकवचन में 'अस्य आ ए' इस दशा में दीर्घ-एकादेश वृद्धि-एकादेश के पश्चात् ऐ के स्थान में आय् तथा यकार का 'लोपः शाकल्यस्य' (८.३.१९) से लोप होकर 'अस्या अश्वः' बनने पर यदि पूर्वोक्त वृद्धि-एकादेश पर का आदिवत् हो तो पदान्त एङ् की प्रसिद्धि हो जाने से]। 'एङः पदान्तदति' (६.१.१०५) से पूर्वरूप की प्राप्ति होती है। [इस वार्तिक से नहीं होती।]

वा०—अताद्रूप्य अतिदेश से नहीं।

भा०—इसे नहीं कहना चाहिये। क्या कारण है? यहाँ ताद्रूप्य का अतिदेश नहीं होता। ये विधियाँ [अवयव] रूप के आश्रित हैं। [अवयव] रूप के आश्रित [का अतिदेश] न होने के कारण यहाँ नहीं होगा।

विवरण—इस सूत्र से अन्त या आदि से आक्षिप्त पूर्व समुदाय को विहित संज्ञाओं के सदृश वर्तमान समुदाय को माना जाता है। अतः इससे वर्तमान समुदाय में पूर्वसमुदायकृत कार्य अतिदिष्ट होते हैं। जैसे पूर्वोक्त 'धारयः' में इस सूत्र से सम्पूर्ण को प्रातिपदिक माना गया है। परन्तु इससे वर्तमान आदिष्ट अक्षर को पूर्व अक्षर के सदृश नहीं माना जाता। अतः प्रस्तुत वार्तिक के उदाहरणों में अन्तादिवद्-भाव नहीं होता। इन उदाहरणों के सभी कार्य पूर्व अक्षरों के आश्रय हैं।

षत्वतुकोरसिद्धः ॥ ६.१.८६ ॥

किमर्थमिदमुच्यते ?

षत्वतुकोरसिद्धवचनमादेशलक्षणप्रतिषेधार्थमुत्सर्ग-लक्षणभावार्थं च॥ १॥

षत्वतुकोरसिद्धत्वमुच्यते,आदेशलक्षणप्रतिषेधार्थमुत्सर्गलक्षणभावार्थं च। आदेशलक्षणप्रतिषेधार्थं तावत्—कोऽसिञ्चत्, योऽसिञ्चत्। एकादेशे कृत इण इति षत्वं प्राप्नोति, असिद्धत्वान्न भवति। उत्सर्गलक्षणभावार्थं च—अधीत्य, प्रेत्य। एकादेशे कृते ह्रस्वस्येति तुग्न प्राप्नोति, असिद्धत्वा-द्भवति॥ अस्ति प्रयोजनमेतत्? किं तर्हीति?

तत्रोत्सर्गलक्षणाप्रसिद्धिरुत्सर्गाभावात्॥ २॥

तत्रोत्सर्गलक्षणस्य कार्यस्याप्रसिद्धिः। अधीत्य, प्रेत्येति। किं

प्रस्तुत-वार्तिक और भाष्य में 'ताद्रूप्य' का अर्थ समुदाय-रूप-कार्य से है। वार्तिक का कहना है कि इन प्रस्तुत उदाहरणों में समुदाय-रूप-कार्य का अतिदेश नहीं हो रहा है। जबकि इस सूत्र से अन्तादिवद्भाव द्वारा समुदाय-रूप-कार्य का अतिदेश होता है।

षत्वतुकोरसिद्धः ॥

भा०—यह सूत्र किसलिये कहा गया है?

वा०—षत्वतुकोरसिद्धत्व-वचन आदेशलक्षणप्रतिषेधार्थ तथा उत्सर्गलक्षण-भावार्थ भी है।

भा०—षत्व तथा तुक् के प्रति असिद्धत्व कहा गया है, आदेश के द्वारा लक्षित कार्यों के प्रतिषेध के लिए तथा उत्सर्ग अर्थात् स्थानी (साधारण्य से अवबोधित होने के कारण) से लक्षित कार्यों के विधान के लिए भी है। जैसे प्रथम के लिए—'कोऽसिञ्चत्'...। यहाँ 'क+उ' को गुण-एकादेश कर लेने के पश्चात् 'इणः' [के अधिकार में 'आदेशप्रत्यययोः' (८.३.५९) से सकार के स्थान में] षत्व प्राप्त होता है। [एकादेश के] असिद्ध होने से नहीं होता।

द्वितीय के लिए जैसे—अधीत्य, प्रेत्य। यहाँ 'इ इ' के स्थान में एकादेश कर लेने पर 'ह्रस्वस्य पिति कृति' (६.१.६९) से तुक् नहीं पाता। [इस दीर्घ-एकादेश के] असिद्ध होने से हो जाता है। क्या यह प्रयोजन है? और क्या?

वा०—तब उत्सर्ग-लक्षण की अप्रसिद्धि, उत्सर्ग न होने से।

भा०—तब स्थानी से लक्षित कार्य प्रसिद्ध नहीं हो सकेंगे। अधीत्य...। क्या

कारणम्? उत्सर्गाभावात्। ह्रस्वस्येत्युच्यते, न चात्र ह्रस्वं पश्यामः॥ ननु चात्राप्यसिद्धवचनात्सिद्धम्।

असिद्धवचनात्सिद्धमिति चेन्नान्यस्यासिद्धवचनादन्यस्य भावः॥ ३॥

असिद्धवचनात्सिद्धमिति चेत्तन्न। किं कारणम्? नान्यस्यासिद्धवचनादन्यस्य भावः। न ह्यन्यस्यासिद्धवचनादन्यस्य प्रादुर्भावो भवति। न हि देवदत्तस्य हन्तरि हते देवदत्तस्य प्रादुर्भावो भवति॥

तस्मात्स्थानिवद्वचनमसिद्धत्वं च॥ ४॥

तस्मात्स्थानिवद्भावो वक्तव्योऽसिद्धत्वं च। अधीत्य, प्रेत्येति स्थानिवद्भावः। कोऽसिञ्चत्, योऽसिञ्चदित्यत्रासिद्धत्वम्॥

स्थानिवद्वचनानर्थक्यं शास्त्रासिद्धत्वात्॥ ५॥

स्थानिवद्वचनमनर्थकम्। किं कारणम्? शास्त्रासिद्धत्वात्। नानेन कार्यासिद्धत्वं क्रियते। किं तर्हि? शास्त्रासिद्धत्वमनेन क्रियते। एकादेशशास्त्रं तुक्शास्त्रेऽसिद्धं भवतीति॥

कारण है? स्थानी के न होने से। यहाँ सूत्र में 'ह्रस्वस्य' कहा है। पर यहाँ हम ह्रस्व नहीं देखते। क्यों, यहाँ भी असिद्धवचन से सिद्ध हो जाएगा। [शास्त्रासिद्ध-पक्ष में यह प्रश्न है। इस पक्ष में सवर्ण-दीर्घ करने वाला शास्त्र ही असिद्ध होता है। अत: उसके न लगने पर पूर्ववर्ती ह्रस्व-स्थिति दृष्टिगोचर होती है।]

वा०—असिद्धवचन से सिद्ध कहें तो अन्य के असिद्धवचन से अन्य का भाव नहीं।

भा०—असिद्ध-वचन से सिद्ध है—यह नहीं। क्या कारण है? अन्य के असिद्ध होने पर अन्य का प्रादुर्भाव नहीं होता। देवदत्त के मारने वाले के मृत हो जाने पर देवदत्त का प्रादुर्भाव नहीं होता। [कार्यासिद्ध-पक्ष में यह वचन है। इस पक्ष में उस कार्य (ख) के सम्पन्न होने के अनन्तर पहला कार्य (क) विलुप्त हो चुका है। अब उस कार्य (ख) के असिद्ध होने के पश्चात् पहले कार्य (क) का आविर्भाव नहीं हो सकता।]

वा०—इसलिए स्थानिवत्-वचन तथा असिद्धत्व भी।

भा०—इसलिए स्थानिवद्भाव भी कहना चाहिए, असिद्धत्व भी। अधीत्य, प्रेत्य में स्थानिवद्भाव, 'कोऽसिञ्चत्' आदि के लिए असिद्धत्व।

वा०—स्थानिवद्वचन का आनर्थक्य, शास्त्रासिद्ध होने से।

भा०—स्थानिवद्वचन अनर्थक है। क्या कारण है? शास्त्रासिद्ध होने से। इस सूत्र से कार्य का असिद्धत्व नहीं किया जाता। तो फिर क्या? इससे शास्त्र का असिद्धत्व किया जाता है। एकादेश-शास्त्र तुक्-शास्त्र के प्रति असिद्ध होता है।

संप्रसारणङीट्सु सिद्धः। संप्रसारणङीट्सु सिद्ध एकादेश इति वक्तव्यम्। शकहूषु, परिवीषु। संप्रसारण। ङि—वृक्षेच्छत्रम्, वृक्षेछत्रम्। ङि। इट्—अपचेच्छत्रम्, अपचे छत्रम्॥

संप्रसारणङीट्सु सिद्धः पदान्तपदाद्योरेकादेशस्यासिद्धवचनात्॥ ६॥

संप्रसारणङीट्सु सिद्ध एकादेशः। कुतः? पदान्तपदाद्योरेकादेशस्यासिद्धवचनात्। पदान्तपदाद्योरेकादेशोऽसिद्धो भवतीत्युच्यते, न चैष पदान्तपदाद्योरेकादेशः॥ यदि पदान्तपदाद्योरेकादेशोऽसिद्धः—सुसस्या ओषधीस्कृधि, सुपिप्पला ओषधीस्कृधि, अत्र षत्वं प्राप्नोति। तुग्विधिं प्रति पदान्तपदाद्योरेकादेशोऽसिद्धः, षत्वं प्रत्येकादेशमात्रमसिद्धं भवति॥

भा०—सम्प्रसारण, ङि, इट् के स्थान में होने वाला एकादेश सिद्ध होता है, यह कहना चाहिए। सम्प्रसारण—शकहूषु। [यहाँ 'शकान् ह्वयति' विग्रह के अनुसार क्विप् कर लेने पर 'वचिस्वपि...' (६.१.१५) से सम्प्रसारण, 'सम्प्रसारणाच्च' (६.१.१०८) से पूर्व-रूप, 'हलः' (६.४.२) से दीर्घ करने पर 'शकहू+सु' इस स्थिति में यदि पूर्वरूप-एकादेश असिद्ध हो तो इण् से उत्तर विधीयमान षत्व नहीं पाता।]

ङि—वृक्षेच्छत्रम्। [यहाँ गुण-एकादेश के पश्चात् इसके असिद्ध होने पर 'ह्रस्वस्य...' से नित्य तुक् पाता है। जबकि 'दीर्घात्...' से विकल्प अभीष्ट है।] इट्—अपचेच्छत्रम्। [आत्मनेपद पच् धातु के लङ् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन में अपचे बनने पर पूर्व के समान दोष है।]

वा०—सम्प्रसारण, ङि इट् में सिद्ध, पदान्त-पदादि में एकादेश के असिद्धवचन से।

भा०—सम्प्रसारण, ङि, इट् के स्थान में होने वाला एकादेश सिद्ध होगा। क्यों? पदान्त-पदादि में एकादेश को असिद्ध कहने से। [वार्तिककार की दृष्टि से यह वचन अधिक व्यापक तथा अनायास लभ्य है।] पदान्त-पदादि के एकादेश को असिद्ध कहते हैं। यह पदान्त-पदादि का एकादेश नहीं है।

यदि पदान्त-पदादि के एकादेश को असिद्ध कहते हैं तो सुसस्या ओषधीस्कृधि... यहाँ षत्व पाता है। [यहाँ 'ओषधि' शब्द के द्वितीया बहुवचन में 'ओषधेश्च विभक्तौ...' (६.३.१३१) से अन्त्य को दीर्घ होने पर 'ओषधी अस्' इस दशा में पूर्व-सवर्ण-दीर्घ, रुत्व, विसर्जनीय, 'कः करत्...' (८.३.५०) से विसर्जनीय के स्थान में सकार 'ओषधीस्' इस दशा में यदि पदान्त-पदादि के एकादेश को असिद्ध हो तो यहाँ असिद्धत्व नहीं हो सकेगा। तब इण् से उत्तर विधीयमान सकार को षत्व प्राप्त होने लगेगा। पर इस नियम के न होने पर प्रस्तुत-सूत्र से एकादेश असिद्ध हो तो षत्व का निवारण हो सकेगा।]

अतः तुक्-विधि के प्रति पदान्त-पदादि के एकादेश को असिद्ध कहेंगे। परन्तु षत्व के प्रति एकादेश-मात्र को असिद्ध कहेंगे।

यदि षत्व के प्रति एकादेश-मात्र का असिद्ध कहेंगे तो 'शकहूषु' आदि में षत्व नहीं पाता। [विवरण पूर्वोक्त है।]

अच्छा तो फिर सामान्यतः [सर्वत्र पदान्त-पदादि-एकादेश को असिद्ध कहेंगे।]

यदि षत्वं प्रत्येकादेशमात्रमसिद्धं शकहूषु, परिवीषु—अत्र षत्वं न प्राप्नोति! अस्तु तर्ह्यविशेषेण। कथं—सुसस्या ओषधीस्कृधि, सुपिप्पला ओषधीस्कृधीति? नैष दोषः। भ्रातुष्पुत्रग्रहणं ज्ञापकमेकादेशनिमित्तात् षत्वप्रतिषेधस्य। यदयं कस्कादिषु भ्रातुष्पुत्रग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो नैकादेशनिमित्तात् षत्वं भवतीति। यद्येतज्ज्ञाप्यते, शकहूषु, परिवीष्वित्यत्र षत्वं न प्राप्नोति। तुल्यजातीयस्य ज्ञापकम्। किं च तुल्यजातीयम्? यः कुप्वोः॥ यद्येवं, वेञोऽप्रत्यये परत उरिति प्राप्नोति, उदिति चेष्यते। यथालक्षणमप्रयुक्ते।

अथवा नैवं विज्ञायते—पूर्वस्य च पदादेः परस्य च पदान्तस्येति। कथं तर्हि? परस्य च पदादेः, पूर्वस्य च पदान्तस्येति॥

इस पर तो 'ओषधीस्कृधि' में दोष दिया गया है। यह दोष नहीं है। [षत्व के लिए कस्कादिगण (८.३.४८) में] 'भ्रातुष्पुत्र' ग्रहण ज्ञापक है कि एकादेश निमित्त से षत्त्व नहीं होता। ['भ्रातुः पुत्रः' इस विग्रह के अनुसार षष्ठी समास, 'ऋतो विद्यायोनि...' (६.३.२३) से षष्ठी का अलुक्। 'ऋत उत्' (६.१.१११) से पूर्व-पर के स्थान में उकार-एकादेश, रपरत्व। 'भ्रातुर् स्' इस स्थिति में 'रात् सस्य' (८.२.२४) से सलोप। रेफ को विसर्जनीय। यहाँ पदान्त-पदादि का एकादेश न होने से असिद्ध नहीं होगा। अतः 'इदुदुपधस्य...' (८.३.४१) से षत्व सिद्ध है। पुनरपि षत्वविधान के लिए इसका कस्कादिगण में पाठ यह सिद्ध करता है कि अन्यत्र एकादेश से परे रहने वाले विसर्जनीय का षत्व नहीं होता।]

यदि यह ज्ञापक है तो 'शकहूषु...' यहाँ षत्व नहीं पाता। तुल्यजातीय का ज्ञापक है। तुल्यजातीय कौन है? जो कवर्ग, पवर्ग परे रहने पर है। तब तो ['सम्प्रसारणङीट्सु...' इस वार्तिक के प्रत्याख्यान करने पर तथा पदान्त-पदादि के एकादेश असिद्ध कहने पर तो] वेञ् से क्विप् प्रत्यय परे रहने पर 'उः' रूप प्राप्त है। जबकि 'उत्' अभीष्ट है। [वेञ् से क्विप् का लोप होने पर सम्प्रसारण प्रथमा एकवचन में सु। 'उ आ स्' इस दशा में पूर्वरूप-एकादेश होकर 'उस्'। यह पदान्त-पदादि का एकादेश है। यदि यहाँ असिद्ध हो तो इस एकादेश के असिद्ध होने से 'आ रूप' दृष्ट होने से तुक् नहीं पाता।] **समाधान**—शब्द के लोक में प्रयोग न होने की स्थिति में जिस प्रकार सूत्र से सिद्धि हो, उसी प्रकार स्वीकार कर लेना चाहिए।

अथवा यह नहीं माना जाता—पूर्व का पदादि तथा पर का पदान्त। तो फिर किस प्रकार? पर का पदादि तथा पूर्व का पदान्त।

विवरण—इस सूत्र में 'अन्तादिवत्' तथा 'पूर्वपरयोः' की अनुवृत्ति है। इनका यथासङ्ख्य सम्बन्ध होगा। इससे अर्थ होगा कि पूर्व-पद के अन्त का तथा पर पद के आदि का एकादेश असिद्ध होता है। प्रस्तुत उदाहरण में आकार पदादि नहीं है तथा उकार पदान्त नहीं है। अतः असिद्ध न होने से तुक् हो जाता है।

आद् गुणः ॥ ६.१.८७॥

गुणग्रहणं किमर्थं? नादेको भवतीत्येवोच्येत?

आदेकश्चेद्गुणः केन?

आदेकश्चेद्गुणः केनेदानीं भविष्यति—खट्वेन्द्रः, मालेन्द्रः। खट्वोदकम्, मालोदकम्॥

स्थानेऽन्तरतमो हि सः।

स्थाने प्राप्यमाणानामन्तरतम आदेशो भवति॥ ऐदौतावपि तर्हि प्राप्नुतः।

ऐदौतौ नैचि तावुक्तौ।

ऐदौतौ न भविष्यतः। किं कारणम्? एचि ह्यैदौतावुच्येते॥ इह तर्हि—खट्वर्श्यः, मालर्श्यः—ॠकारस्तर्हि प्राप्नोति?

ॠकारो नोभयान्तरः॥ १॥

उभयोर्योऽन्तरतमस्तेन भवितव्यं, न च ॠकार उभयोरन्तरतमः॥

आद् गुणः॥

भा०—गुण-ग्रहण किसलिये है? क्यों न 'आदेकः' इतना ही कह दिया जावे! [अभिप्रायः आगे उल्लिखित है।]

का०—'आदेकः' हो तो गुण किससे?

भा०—यदि 'आत् एकः' कहें तो गुण किससे होगा—खट्वेन्द्रः...., आदि।

का०—वह स्थानेऽन्तरतम होता है।

भा०—[उस (१.१.४९) सूत्रार्थ के अनुसार] किसी के स्थान में प्राप्त होने वाले आदेश अन्तरतम या सदृशतम होते हैं। [अतः अ+इ के स्थान में सदृशतम कण्ठ्यतालव्य एकार ही होगा।] तब तो ऐकार, औकार एकादेश भी पाते हैं! [क्योंकि ये भी कण्ठ्यतालव्य आदि हैं।]

का०—ऐ, औ नहीं, वे एच् परे रहने पर कहे गये हैं।

भा०—ऐकार, औकार नहीं होंगे। क्या कारण है? एच् परे रहने पर ऐकार औकार कहे गये हैं। ['आदेकः' से सिद्ध होने पर 'वृद्धिरेचि' (६.१.८५) सूत्र उभयतो नियमार्थ होगा—'एच् परे रहने पर ही वृद्धि' तथा 'एच् परे रहने पर वृद्धि ही' होती है। अतः प्रथम नियम के अनुसार एच् परे न होने पर वृद्धि नहीं होगी।]

भा०—अच्छा तो फिर 'खट्वर्श्यः...' आदि में ॠकार आदेश पाता है!

का०—ॠकार दोनों का अन्तरतम नहीं है।

भा०—[पूर्व-पर दोनों के स्थान में विहित होने से] जो आदेश दोनों का अन्तरतम हो वह आदिष्ट होगा। परन्तु ॠकार दोनों का अन्तरतम नहीं है। [अपितु

आकारस्तर्हि प्राप्नोति ?

आकारो नर्ति धातौ सः ।

आकारो न भविष्यति। किं कारणम् ? ऋति धातावाकार उच्यते, तन्नियमार्थं भविष्यति। ऋकारादौ धातावेव नान्यत्रेति॥ प्लुतस्तर्हि प्राप्नोति!

प्लुतश्च विषये स्मृतः ।

विषये प्लुत उच्यते। यदा च स विषयः, भवितव्यमेव तदा प्लुतेन॥

आन्तर्यात् त्रिचतुर्मात्राः ।

इदं तर्हि प्रयोजनम्—आन्तर्यतस्त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्र-चतुर्मात्रा आदेशा मा भूवन्निति—खट्वा इन्द्रः=खट्वेन्द्रः । खट्वा उदकं= खट्वोदकम्। खट्वा ईषा=खट्वेषा। खट्वा ऊढा=खट्वोढा। खट्वा एलका=खट्वैलका। खट्वा ओदनः=खट्वौदनः। खट्वा ऐतिकायनः= खट्वैतिकायनः। खट्वा औपगवः=खट्वौपगवः॥ अथ क्रियमाणेऽपि गुणग्रहणे कस्मादेवात्र त्रिमात्र-चतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा आदेशा न भवन्ति ?

केवल पर का है। परन्तु अकार आदेश तो विधीयमान ही रपर हो जाता है। अतः 'अर्' आदेश पूर्व पर दोनों का सदृशतम हो सकेगा।] तब तो आकार [अर्थात् 'आर्'] भी पाता है ? [क्योंकि वह भी सदृशतम है।]

का०—आकार नहीं, वह ऋत् धातु के परे रहने पर है।

भा०—आकार [आर्] आदेश नहीं होगा। क्या कारण है ? 'उपसर्गादृति धातौ' (६.१.९१) से ऋकारादि धातु परे रहने पर आकार कहा है। [वह 'आदेकः' से सिद्ध होने की स्थिति में नियमार्थ होगा-] ऋकारादि धातु परे रहने पर ही वृद्धि होती है। अतः यहाँ आर् वृद्धि नहीं होगी। अच्छा तो फिर प्लुत प्राप्त होता है ?

का०—प्लुत-विषय में स्मृत है।

भा०—प्लुत [दूराद्धूत=दूर से बुलाना (८.२.८४) इत्यादि] विषय में कहा गया है। जब वह विषय हो, तब प्लुत होना ही चाहिए।

का०—आन्तर्य से तीन या चार मात्राएँ।

भा०—अच्छा तो फिर यह प्रयोजन है कि तीन या चार मात्रा वाले स्थानी के स्थान में आन्तर्य से तीन या चार मात्रा वाले आदेश न होवें। खट्वा इन्द्रः=खट्वेन्द्रः आदि उदाहरण हैं। [केवल शब्द-सिद्धि के लिये ये उदाहरण परिकल्पित हैं। ऐसा नहीं लगता कि इनका प्रयोग होता रहा होगा।]

भा०—अच्छा, गुण-ग्रहण करने पर भी यहाँ त्रिमात्र, चतुर्मात्र-स्थानी के स्थान में त्रिमात्र, चतुर्मात्र आदेश क्यों नहीं होते ?

तपरत्वान्न ते स्मृताः॥ २॥

तपरे गुणवृद्धी। ननु च तः परो यस्मात्सोऽयं तपरः ? नेत्याह। तादपि परस्तरः। यदि तादपि परस्तपरः—'ॠदोरप्' (३.३.५७) इहैव स्यात्—यवः, स्तवः। लवः, पव इत्यत्र न स्यात्। नैष तकारः। कस्तर्हि? दकारः। किं दकारे प्रयोजनम्? अथ किं तकारे? असंदेहार्थस्तकारः। यद्यसंदेहार्थस्तकारो दकारोऽपि। अथ मुखसुखार्थस्तकारो दकारोऽपि॥

गुणे ङिशीटामुपसंख्यानं दीर्घत्वबाधनार्थम्॥ १॥

गुणे ङिशीटामुपसंख्यानं कर्तव्यम्। ङि—वृक्ष इन्द्रः, प्लक्ष इन्द्रः। शी—य इन्द्रम्, त इन्द्रम्। इट्—अपच इन्द्रम्, अयज इन्द्रम्। किं प्रयोजनम्? दीर्घत्वबाधनार्थम्। सवर्णदीर्घत्वं मा भूदिति॥

का०—तपर होने से वे स्मृत नहीं।

भा०—['अदेङ् गुणः' इस गुण संज्ञा विधान में] गुण-वृद्धि के संज्ञी 'अ, ए, ओ तथा आ, ऐ, औ' को तपर कहा गया है।

क्यों, 'तः परो यस्मात्' इस बहुव्रीहि-समास होने से [अकार ही तो] तपर होगा। नहीं, 'तादपि परः' इस पञ्चमी-तत्पुरुष-समास से त् से उत्तर ए ओ भी तपर कहे जाएँगे। [अतः त्रिमात्र ए की गुण संज्ञा ही नहीं होगी।] यदि 'तादपि परः' यह विग्रह है तो 'ॠदोरप्' (३.३.५७) में ॠ से उत्तर उकार भी तपर कहा जाएगा। [तब तो दीर्घ ऊकारान्त से अप् प्रत्यय नहीं हो सकेगा।] इससे यहीं होगा—यवः, स्तवः। लवः, पवः में अप् सिद्ध नहीं हो सकेगा।

भा०—यह तकार नहीं है। तो फिर क्या है? दकार है। 'द' कहने में क्या प्रयोजन है? आप स्वयं बताएँ—तकार लगाने में क्या प्रयोजन है? तकार असन्देह के लिए है। यदि असन्देह के लिए तकार है तो दकार भी। यदि मुखसुखार्थ तकार है तो दकार भी। [इस प्रकार इस सूत्र में 'गुण' ग्रहण के बिना भी काम चल सकता है।]

[प्रसङ्गान्तर-] **वा०**—गुण में ङि, शी, इट् का उपसङ्ख्यान, दीर्घत्व-बाधन के लिए।

भा०—गुण के प्रसङ्ग में ङि, शी, इट् का उपसङ्ख्यान करना चाहिए। वृक्ष इन्द्रः...। [यहाँ 'वृक्ष इ इन्द्रः' इस दशा में 'आद् गुणः' से अ+इ को गुण तथा 'अकः सवर्णे...' से इ+इ को सवर्णदीर्घत्व की एक साथ प्राप्ति में शब्द-पर-विप्रतिषेध से दीर्घत्व की प्राप्ति में गुण का विधान है।] शी—य इन्द्रम् [यहाँ 'यत् जस्' स्थिति में जस् को शी करने के पश्चात् 'य ई इन्द्रम्' इस दशा में वार्तिक की प्रवृत्ति है।] अपच इन्द्रम्। [पच् धातु के लङ् लकार उत्तम पुरुष एकवचन में 'अ पच् अ इ इन्द्रम्' इस दशा में गुणविधानार्थ वार्तिक है।] क्या प्रयोजन है? दीर्घत्व-बाधन के लिए। [शब्द-पर-विप्रतिषेध से] सवर्णदीर्घत्व न होवे।

न वा बहिरङ्गलक्षणत्वात्॥ २॥

न वा कर्तव्यम्। किं कारणम्? बहिरङ्गलक्षणत्वात्। बहिरङ्गलक्षणं सवर्णदीर्घत्वम्। अन्तरङ्गो गुणः। असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे॥

आदेकश्चेद्गुणः केन स्थानेऽन्तरतमो हि सः।
ऐदौतौ नैचि तावुक्तावृकारो नोभयान्तरः॥ १॥
आकारो नर्ति धातौ स प्लुतश्च विषये स्मृतः।
आन्तर्यात्त्रिचतुर्मात्रास्तपरत्वान्न ते स्मृताः॥ २॥

एत्येधत्यूठ्सु॥ ६.१.८९॥

किमिदमेत्येधत्यो रूपग्रहणमाहोस्विद्धातुग्रहणम्? किं चातः? यदि रूपग्रहणं, सिद्धम्—उपैति, प्रैति। उपैषि, प्रैषि, उपैमि, प्रैमीति न सिध्यति। अथ धातुग्रहणं सिद्धमेतद्भवति? किं तर्हीति?

इणीकारादौ वृद्धिप्रतिषेधः॥ १॥

इणीकारादौ वृद्धेः प्रतिषेधो वक्तव्यः। उपेतः, प्रेत इति॥

वा०—बहिरङ्गलक्षण होने से नहीं।

भा०—नहीं करना चाहिए। क्या कारण है? सवर्णदीर्घत्व बहिरङ्गलक्षण है। गुण अन्तरङ्ग है। [एकपदाश्रित होने से।] अन्तरङ्ग की दृष्टि में बहिरङ्ग असिद्ध होता है। [अतः अन्तरङ्ग कार्य गुण पहले होगा।]

एत्येधत्यूठ्सु॥

भा०—क्या एति, एधति में रूप ग्रहण है, या धातुग्रहण है? [प्रश्न यह है कि क्या 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा (१.१.६७) के अनुसार' 'एति' इस रूप की उपस्थिति में ही वृद्धि होती है, अथवा 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे (३.३.१०८ वा०) के अनुसार' इस धातु के किसी भी रूप की उपस्थिति में। यह प्रश्न वस्तुतः केवल 'एति' विषयक है। एध् धातु के आत्मनेपदी होने से व्यवहार में 'एधति' रूप बनता ही नहीं। सूत्र में तो 'इक्श्तिपौ...' इस वार्तिक के अनुसार श्तिप् परे रहने पर 'एधति' रूप परिपठित है।]

इससे क्या? यदि रूप-ग्रहण है तो उपैति, प्रैति सिद्ध है। 'उपैषि...' आदि सिद्ध नहीं होते। यदि धातु-ग्रहण है तो सिद्ध हो जाता है? और क्या?

वा०—इकारादि इण् परे रहने पर प्रतिषेध।

भा०—इकारादि इण् [धातुरूप] के परे रहने पर पूर्व-पर के स्थान में वृद्धि का प्रतिषेध कहना चाहिए। उपेतः...आदि।

योगविभागात् सिद्धम्॥ २॥

योगविभागः करिष्यते। 'वृद्धिरेचि' (८८)। तत एत्येधत्योः। एत्येधत्योश्चैचि वृद्धिर्भवति। तत ऊठि। ऊठि च वृद्धिर्भवतीति॥ एवमपि—आ इतः=एतः, उपेतः, प्रेत इत्यत्रापि प्राप्नोति? आङि पररूपमत्र बाधकं भविष्यति। नाप्राप्ते पररूप इयं वृद्धिरारभ्यते सा यथैङि पररूपं बाधत एवमाङि पररूपं बाधेत? न बाधते। किं कारणम्? येन नाप्राप्ते तस्य बाधनं भवति, न चाप्राप्त एङि पररूप इयं वृद्धिरारभ्यत आङि पररूपे पुनः प्राप्ते चाप्राप्ते च। अथवा पुरस्तादपवादा अनन्तरान्विधीन् बाधन्त इतीयं वृद्धिरेङि पररूपं बाधिष्यते, नाङि पररूपम्॥

अक्षादूहिन्याम्॥ ३॥

अक्षादूहिन्यां वृद्धिर्वक्तव्या। अक्षौहिणी॥

वा०—योगविभाग से सिद्ध।

भा०—योगविभाग करेंगे। 'वृद्धिरेचि' के पश्चात् एत्येधत्योः [कहेंगे। यहाँ 'एचि' की अनुवृत्ति होगी। अतः] अर्थ है—एति, एधति के एच् परे रहने पर वृद्धि होती है। इसके पश्चात् 'ऊठि'। ऊठ् परे रहने पर भी वृद्धि होती है।

तो भी आ+इतः=एतः से बनने वाले रूप 'उपेतः' आदि में भी वृद्धि पाती है। [यहाँ 'ओमाङोश्च' (६.१.९५) से] आङ् परे रहने पर विहित पररूप बाधक हो जाएगा।

नहीं हो पाएगा। पररूप की अवश्य-प्राप्ति में इस वृद्धि का आरम्भ किया गया है। वह जिस प्रकार 'एङि पररूपम्' (६.१.९१) का बाधन करता है, उसी प्रकार आङ् परे रहने पर पररूप को भी बाधेगा। नहीं बाधेगा। क्या कारण है? जिसकी (ख) अवश्य प्राप्ति में जिस विधि (क) का आरम्भ हो, वह (क) उस विधि (ख) का बाधक होता है। 'एङि पररूपम्' की अवश्य-प्राप्ति में इस वृद्धि का आरम्भ है। आङ् परे रहने पर पररूप की प्राप्ति में भी तथा अप्राप्ति में भी। ['येन नाप्राप्ते...' परिभाषा अवश्य प्राप्ति वाले कार्यविशेष के प्रति बाधन का नियमन करती है, कार्यमात्र की प्राप्ति के प्रति नहीं।]

अथवा पूर्वदेश में विहित अपवाद समीपवर्ती विधियों के बाधक होते हैं। अतः यह वृद्धि एङ् परे रहने पर पररूप की बाधक होगी, आङ् परे रहने पर पररूप की नहीं।

वा०—अक्ष से ऊहिनी परे रहने पर।

भा०—अक्ष से ऊहिनी परे रहने पर वृद्धि कहनी चाहिए। अक्षौहिणी। ['अक्षान् ऊहते अवश्यम्' इस विग्रह के अनुसार आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः

प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु ॥ ४ ॥

प्रादूह ऊढ ऊढि एष एष्येत्येतेषु वृद्धिर्वक्तव्या। प्रौहः, प्रौढः, प्रौढिः, प्रैषः, प्रैष्यः॥

स्वादीरेरिणोः ॥ ५ ॥

स्वादीर ईरिनित्येतयोर्वृद्धिर्वक्तव्या। स्वैरः, स्वैरी॥ ईरिन्ग्रहणं शक्य-मकर्तुम्। कथं स्वैरीति? इनिनैतन्मत्वर्थीयेन सिद्धम्—स्वैरोऽस्यास्तीति स्वैरी॥

ऋते च तृतीयासमासे॥ ६ ॥

ऋते च तृतीयासमासे वृद्धिर्वक्तव्या। सुखार्तः, दुःखार्तः। ऋत इति किम्? सुखेतः। दुःखेतः। तृतीयाग्रहणं किम्? परमर्तः। समास इति किम्? सुखेनर्तः॥

(३.३.१७०) से णिनि तथा 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' (२.१.३२) से सम्बद्ध २.१.३३ के वार्तिक 'साधनं कृता' से समास है। यह शब्द सेना अर्थ में है। इस विग्रह का अर्थ अक्ष= रथ, पदाति को वहन करने वाली सेना यह है।]

वा०—प्र से ऊह, ऊढ, ऊढि, एष, एष्य परे रहने पर।

भा०—प्र से उक्त के परे रहने पर पूर्व-पर के स्थान में वृद्धि कहनी चाहिए। प्रौहः... आदि उदाहरण हैं।

वा०—स्व से ईर, ईरिन् परे रहने पर।

भा०—स्व से ईर, ईरिन् परे रहने पर पूर्व-पर के स्थान में वृद्धि कहना चाहिए। स्वैर...आदि। [स्वेन आत्मना ईर्ते अवश्यम्=स्वच्छन्द-रूप से व्यापार करने वाला। इस अर्थ में पूर्वोक्त सूत्र 'अवश्यका...' से णिनि प्रत्यय है।]

यहाँ 'ईरिन्' ग्रहण की आवश्यकता नहीं। तब 'स्वैरी' किस प्रकार बनेगा? [स्वैर शब्द से मत्वर्थीय इनि के द्वारा सिद्ध है।] स्वैर=स्वेच्छाचारिता जिसमें हैं, वह स्वैरी।

विशेष—वैयाकरणों में शब्द-सिद्धि का एक यह उपाय भी प्रचलित रहा है। इसके अनुसार अन्यत्र वार्तिक (३.१.९६) से तव्य प्रत्यय के स्थान में वास्तु से यत् प्रत्यय द्वारा वास्तव्य सिद्ध किया है। इस प्रकार त्याग, राग से इनि प्रत्यय द्वारा भी त्यागी, रागी सिद्ध हो सकते हैं तथा 'करण' से छ प्रत्यय द्वारा भी 'करणीयम्' आदि गतार्थ हो सकते हैं। पर महर्षि पाणिनि द्वारा स्पष्टतः एक प्रत्यय के माध्यम से निष्पादन सरल मार्ग है।

वा०—ऋत परे रहने पर तृतीया-समास में।

भा०—ऋत परे रहने पर तृतीया-समास में [पूर्व-पर के स्थान में] वृद्धि कहना चाहिये। सुखार्तः...आदि। ऋत परे रहने पर क्यों? 'सुखेतः...' आदि में [इतः परे रहने पर] न हो। तृतीया-ग्रहण क्यों? 'परमर्तः' आदि में समानाधिकरण-समास में न हो। समास-ग्रहण क्यों? 'सुखेनर्तः' आदि में विग्रह-वाक्य में वृद्धि न हो।

प्रवत्सतरकम्बलवसनानां चर्णे॥ ७॥

प्रवत्सतरकम्बलवसनानां चर्णे वृद्धिर्वक्तव्या। प्रार्णम्, वत्सतरार्णम्, कम्बलार्णम्, वसनार्णम्॥

ऋणदशाभ्यां च॥ ८॥

ऋणदशाभ्यां च वृद्धिर्वक्तव्या। ऋणार्णम्, दशार्णम्॥

आटश्च॥ ६.१.९०॥

किमर्थश्चकारः? वृद्धेरनुकर्षणार्थः। नैतदस्ति प्रयोजनम्। प्रकृता वृद्धिरनुवर्तिष्यते॥ इदं तर्हि प्रयोजनमाटोऽचि वृद्धिरेव यथा स्याद्यदन्यत्राप्नोति तन्मा भूदिति। किं चान्यत्प्राप्नोति? पररूपम्। उस्योमाङ्क्ष्वाटः पररूपप्रतिषेधं चोदयिष्यति स न वक्तव्यो भवति॥

वा०—प्र, वत्सतर...आदि को ऋण परे रहने पर।

भा०—प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन को ऋण परे रहने पर पूर्व-पर को वृद्धि कहना चाहिए। प्रार्णम्, वत्सतरार्णम्...आदि। [स्पष्टतः छोटे बछड़े गाय की सुरक्षा के लिए, शीत ऋतु में कम्बल के लिए ऋण लिये जाते थे।]

वा०—ऋण, दश से भी।

भा०—ऋण, दश से ऋण परे रहने पर पूर्व, पर को वृद्धि कहना चाहिए। ऋणार्णम्...आदि।

विशेष—'ऋणार्णम्' का अर्थ 'ऋण के लिए ऋण' यह है। १० मुद्रा पर एक मास में ११ मुद्रा जैसे 'दशैकादशिक' ऋणों की उपस्थिति में यह दशा स्वाभाविक थी। 'कुसीद' शब्द से प्रकट है कि ऐसे ऋणों की अवस्थिति निन्दित तो थी। पर उसके बिना काम भी नहीं चलता था। इस प्रकार के भारी भरकम ऋणों पर चक्रवृद्धि ब्याज से यदि ऋण मूलधन के बराबर हो गया हो तो उस ऋण को चुकाने के लिए 'ऋणार्ण' को अच्छा समझा जाता था। इससे चक्रवृद्धि की भी बचत होती थी तथा ऋण लेने वाले की साख भी बनी रहती थी।

आटश्च॥

भा०—यहाँ चकार किसलिए है? वृद्धि के अनुकर्षण के लिए है। यह प्रयोजन नहीं है। वृद्धि प्रकृत है, उसका अनुवर्तन करेंगे। अच्छा तो फिर आट् को अच् परे रहने पर वृद्धि ही हो, जो अन्य प्राप्त होता है, वह न हो। अन्य क्या प्राप्त होता है? पररूप। [ओमाङोश्च (६.१.९५) सूत्र में] उस के पररूप के प्रसङ्ग में ओमाङ् के आट् के [पररूप का] प्रतिषेध कहेंगे, उसे कहने की आवश्यकता नहीं होती।

उपसर्गादृति धातौ ॥ ६.१.९१ ॥

धाताविति किमर्थम्? इह मा भूत्—प्रर्षभं वनम्।

उपसर्गाद्वृद्धिविधौ धातुग्रहण उक्तम्॥ १ ॥

किमुक्तम्? गत्युपसर्गसंज्ञाः क्रियायोगे यत्क्रियायुक्ताः प्रादयस्तं प्रतीति वचनमिति॥ क्रियमाणेऽपि धातुग्रहणे प्रर्च्छक इति प्राप्नोति। यत्क्रियायुक्ताः प्रादयस्तं प्रतीति वचनान्न भवति॥

इदं तर्हि प्रयोजनमुपसर्गादृति धातौ वृद्धिरेव यथा स्याद्यदन्यत्प्राप्नोति तन्मा भूदिति। किं चान्यत्प्राप्नोति? ह्रस्वत्वम् 'ऋत्यकः' (६.१.१२८) इति। ऋति ह्रस्वादुपसर्गाद्वृद्धिः पूर्वविप्रतिषेधेनेति चोदयिष्यति, स न वक्तव्यो भवति॥

छे तुकः संबुद्धिगुणः ॥ २ ॥

छे तुग्भवतीत्यस्मात्संबुद्धिगुणो भवति विप्रतिषेधेन। छे

उपसर्गादृति धातौ॥

भा०—यहाँ 'धातौ' यह किसलिए कहा गया है? यहाँ न हो—प्रर्षभं वनम्। ['प्रगता ऋषभा अस्मात्' इस विग्रह के अनुसार मध्यमपदलोपी बहुव्रीहि-समास है। यहाँ धातु का लोप होने पर वृद्धि न हो।]

वा०—उपसर्ग से वृद्धिविधि में धातु-ग्रहण के प्रसङ्ग में कहा है।

भा०—क्या कहा है? [लक्षणेत्थम्भूताख्यान...(१.४.८९) में कहा है कि] क्रियायोग में होने वाली गति, उपसर्ग संज्ञाएँ, जिस क्रिया के प्रति 'प्र' आदि होते हैं, केवल उसी के प्रति होती हैं, यह कहना चाहिए। [क्योंकि यदि इसे न कहें तो] धातु ग्रहण करने पर भी 'प्रर्छकः' यहाँ वृद्धि पाती है। [यहाँ 'प्रगता ऋच्छका अस्मात्' इस विग्रह के अनुसार उसी प्रकार बहुव्रीहि है। यदि उपरिलिखित वचन अन्वित न हो तो ऋच्छक धातु के परे 'प्र' उपसर्ग होने लगेगा, तब वृद्धि की प्राप्ति होगी।] 'यत्क्रियायुक्ता...' वचन से ऐसा नहीं होता।

अच्छा तो फिर यह प्रयोजन है कि उपसर्ग से उत्तर ऋकारादि धातु परे होने पर वृद्धि ही हो, जो कुछ अन्य पाता है, वह न हो। अन्य क्या पाता है? 'ऋत्यकः' से ह्रस्वत्व। उस सूत्र में 'ऋति ह्रस्वात्...' इस वार्तिक से पूर्वविप्रतिषेध द्वारा वृद्धि कहेंगे, उसे नहीं कहना होगा।

[प्रसङ्गान्तर-] **वा०**—छे तुक् से सम्बुद्धि-गुण।

भा०—'छ' परे रहने पर तुक् से पहले सम्बुद्धिगुण होता है, विप्रतिषेध से। छ परे

तुग्भवतीत्यस्यावकाशः—इच्छति, गच्छति। संबुद्धिगुणस्यावकाशः—अग्ने, वायो। इहोभयं प्राप्नोति—अग्ने च्छत्रम्, अग्ने छत्रम्। वायो च्छत्रम्, वायो छत्रम्। संबुद्धिगुणो भवति विप्रतिषेधेन॥ स तर्हि विप्रतिषेधो वक्तव्यः ?

न वा बहिरङ्गलक्षणत्वात्॥ ३॥

न वा वक्तव्यः। किं कारणम्? बहिरङ्गलक्षणत्वात्॥ बहिरङ्गलक्षणस्तुक्। अन्तरङ्गलक्षणः संबुद्धिगुणः। असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे॥ अन्तरेण विप्रतिषेधमन्तरेणापि चैतां परिभाषां सिद्धम्। कथम्? इदमिह संप्रधार्यम्—संबुद्धिलोपः क्रियतां गुण इति किमत्र कर्तव्यम्? परत्वाद्गुणः। नित्यः संबुद्धिलोपः। कृतेऽपि गुणे प्राप्नोत्यकृतेऽपि। गुणोऽपि नित्यः। कृतेऽपि संबुद्धि लोपे प्राप्नोत्यकृतेऽपि। अनित्यो गुणः, न हि कृते संबुद्धिलोपे प्राप्नोति। तावत्येव छेनानन्तर्यं, तत्र तुका भवितव्यम्। तस्मात्सुष्ठूच्यते—छे तुकः संबुद्धिगुणः, न वा बहिरङ्गलक्षणत्वादिति॥

तुक् का अवकाश है—'इच्छति...'। ['ह्रस्वस्य गुणः' (७.३.१०८) से] सम्बुद्धि-गुण का अवकाश है—'अग्ने:'। यहाँ दोनों पाते हैं—अग्नेच्छत्रम्।...आदि। विप्रतिषेध से सम्बुद्धि गुण होता है। [यहाँ 'अग्निस् छत्रम्' इस दशा में 'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' (६.१.६९) से सुलोप के पश्चात् यदि पहले तुक् होता तो ह्रस्वान्त न रह जाने से गुण न पाता। गुण पहले होने पर 'दीर्घात् पदान्ताद्वा' (६.१.७६) से विकल्प से तुक् सिद्ध हो जाता है।] तो फिर यह विप्रतिषेध कहा जावे ?

वा०—बहिरङ्गलक्षणत्व होने से नहीं।

भा०—इसे नहीं कहना चाहिए। क्या कारण है? बहिरङ्गलक्षणत्व से। तुक् बहिरङ्गलक्षण है। [द्विपद के आश्रित होने से।] सम्बुद्धि-गुण अन्तरङ्गलक्षण है। अन्तरङ्ग की दृष्टि में बहिरङ्ग असिद्ध होता है। [अतः अन्तरङ्ग-गुण पहले होगा।]

विप्रतिषेध के बिना तथा इस परिभाषा के भी बिना यह कार्य सिद्ध है। किस प्रकार? यह सम्प्रधारणा करें कि यहाँ सम्बुद्धि-लोप पहले करें या गुण? क्या करना चाहिए? परत्व से गुण। सम्बुद्धि-लोप नित्य है। गुण करने पर भी पाता है, न करने पर भी। गुण भी नित्य है, सम्बुद्धि-लोप करने पर भी पाता है, न करने पर भी। गुण अनित्य है। सम्बुद्धि-लोप करने पर नहीं पाता। सम्बुद्धि-लोप के तत्काल पश्चात् [ह्रस्व का छ से] अव्यवधान हो जाता है। अतः तुक् की प्राप्ति होती है। ['यस्य च लक्षणान्तरेण...' इस परिभाषा की उपेक्षा करके यह कहा है। इस प्रकार सम्बुद्धि-लोप पहले होने पर तुक् की प्राप्ति होगी ही। उसके निवारण के लिए बहिरङ्गलक्षणत्व आदि का सहारा लेना ही होगा।] अतः पूर्वोक्त वार्तिक 'छे तुकः...' आदि समुचित कहा है।

संप्रसारणदीर्घत्वण्यल्लोपाभ्यासगुणादयश्च॥ ४॥

संप्रसारणदीर्घत्वण्यल्लोपाभ्यासगुणादयश्च तुको भवन्ति विप्रतिषेधेन॥ संप्रसारणदीर्घत्वस्यावकाशः—हूतः, जीनः, संवीतः, शूनः। तुकोऽवकाशः—अग्निचित्, सोमसुत्। इहोभयं प्राप्नोति—परिवीषु, शकहूषु॥ णिलोपस्यावकाशः—कारणा, हारणा। तुकः स एव। इहोभयं प्राप्नोति—प्रकार्य गतः। प्रहार्य गतः॥ अल्लोपस्यावकाशः—चिकीर्षिता, जिहीर्षिता। तुकः स एव। इहोभयं प्राप्नोति—प्रचिकीर्ष्य गतः, प्रजिहीर्ष्य गतः॥ अभ्यासगुणादयश्च तुको भवन्ति विप्रतिषेधेन। के पुनरभ्यासगुणादयः? ह्रस्वत्वात्त्वेत्त्वगुणाः। ह्रस्वत्वस्यावकाशः—पपतुः, पपुः। तस्थतुः, तस्थुः। तुकः स एव। इहोभयं प्राप्नोति—अपचच्छतुः, अपचच्छुः।

वा०—सम्प्रसारण, दीर्घत्व...आदि भी।

भा०—सम्प्रसारण-दीर्घत्व, णिलोप, अल्लोप, अभ्यास-गुण आदि भी विप्रतिषेध द्वारा तुक् से पहले होते हैं।

[हलः (६.४.२) सूत्र से] सम्प्रसारणदीर्घत्व का अवकाश है—हूतः...आदि। तुक् का अवकाश है—अग्निचित्...। [जहाँ हल् से उत्तर सम्प्रसारण भी है, पित्, कृत् परे भी है] वहाँ दोनों पाते हैं—परिवीषु, शकहूषु। [ह्वा से क्विप् परे रहने पर सम्प्रसारण, पूर्वरूप-एकादेश के पश्चात् यह प्राप्ति है।]

['णेरनिटि' (६.४.५१) सूत्र से] णिलोप का अवकाश है—कारणा...। तुक् का वही। [जहाँ अनिडादि आर्धधातुक भी तथा पित्, कृत् परे भी है] वहाँ दोनों पाते हैं—'प्रकार्य गतः...'। [प्र उपसर्ग-पूर्वक णिजन्त कारि धातु से पूर्वकाल में क्त्वा, उसके स्थान में ल्यप् है।]

['अतो लोपः' (६.४.४८) से] अल्लोप का अवकाश है— प्रचिकीर्षिता...। तुक् का वही। यहाँ दोनों पाते हैं—प्रचिकीर्ष्य गतः...। [प्र उपसर्ग पूर्वक, सन्नन्त चिकीर्ष से क्त्वा, उसके स्थान में ल्यप्।]

अभ्यास [को होने वाले कार्य] तथा गुण आदि विप्रतिषेध द्वारा तुक् से पहले होते हैं। अभ्यास-गुण आदि कौन हैं? ह्रस्व, अत्व, इत्व, गुण। [अभ्यास को] ह्रस्वत्व का अवकाश है—पपतुः...। तुक् का वही। यहाँ दोनों पाते हैं—अपचच्छतुः...। [अप उपसर्ग-पूर्वक छो धातु से लिट् लकार में 'आतो लोप इटि च' (६.४.६४) से आलोप तथा द्विर्वचन के पश्चात् 'अप छा छ् अतुस्' इस दशा में यदि पहले 'दीर्घात्' (६.१.७५) से तुक् हो तो अभ्यास में अजन्तत्व न होने से ह्रस्वत्व नहीं हो सकेगा।]

अत्त्वस्यावकाशः—चक्रतुः, चक्रुः। तुकः स एव। इहोभयं प्राप्नोति—अपचच्छृदतुः, अपचच्छृदुः। इत्त्वस्यावकाशः—पिपक्षति, यियक्षति। तुकः स एव। इहोभयं प्राप्नोति—चिच्छादयिषति, चिच्छर्दयिषति। गुणस्यावकाशः—लोलूयते, बेभिद्यते। तुकः स एव। इहोभयं प्राप्नोति—चेच्छिद्यते, चोच्छुप्यते॥

यणादेशादाद्गुणः॥ ५॥

यणादेशादाद्गुणो भवति विप्रतिषेधेन। यणादेशस्यावकाशः—दध्यत्र, मध्वत्र। आद्गुणस्यावकाशः—खट्वेन्द्रः, खट्वोदकम्। इहोभयं प्राप्नोति—वृक्षोऽत्र, प्लक्षोऽत्र॥

इरुर्गुणवृद्धिविधयश्च॥ ६॥

इरुर्गुणवृद्धिविधयश्च यणादेशाद्भवन्ति विप्रतिषेधेन॥ इरुरो-

['उरत्' (७.४.६६) से] अत्व का अवकाश है—चक्रतुः। तुक् का वही। यहाँ दोनों पाते हैं—अपचच्छृदतुः। [अप उपसर्गपूर्वक छृद् धातु से लिट् लकार में द्विर्वचन, हलादि-शेष के पश्चात् 'अप छृ+छृद+अतुस्' इस दशा में यदि पहले तुक् हो तो ऋकारान्त न बनने से अत्व नहीं हो सकेगा।]

['सन्यतः' (७.४.७९) से] इत्व का अवकाश है—पिपक्षति...। तुक् का वही। यहाँ दोनों पाते हैं—चिच्छादयिषति...। [यहाँ छादि णिजन्त धातु के सनन्त में 'छ छादि इ स्' इस दशा में यदि पहले तुक् हो तो इत्व नहीं हो सकेगा।]

['गुणो यङ्लुकोः' (७.४.८२) से] गुण का अवकाश है—लोलूयते...। तुक् का वही। यहाँ दोनों पाते हैं—चेच्छिद्यते। [यहाँ पहले तुक् होने पर इगन्त अभ्यास न बन पाने से गुण नहीं हो सकेगा।]

वा०—यणादेश से 'आद् गुणः'।

भा०—यणादेश से पहले अकार से उत्तर गुण सम्पन्न होता है, विप्रतिषेध से। यणादेश का अवकाश है—दध्यत्र...। 'आद् गुणः' का अवकाश है—खट्वेन्द्रः...। यहाँ दोनों पाते हैं—वृक्षोऽत्र। ['वृक्ष स्+अत्र' इस दशा में रुत्व के पश्चात् 'अतो रोर...' से उत्व होने पर 'वृक्ष उ अत्र' इस दशा में यण् तथा गुण दोनों की प्राप्ति में गुण पहले होता है।]

वा०—इर्, उर्, गुण, वृद्धि विधियाँ भी।

भा०—इर्, उर्, गुण, वृद्धि—ये विधियाँ भी विप्रतिषेध द्वारा यणादेश से पहले होती हैं।

['ऋत इद्धातोः' (७.१.१००) से] इर् का, ['बहुलं छन्दसि' (७.१.१०३)

रवकाशः—आस्तीर्णम्, निपूर्ताः पिण्डाः। यणादेशस्यावकाशः— चक्रतुः, चक्रुः। इहोभयं प्राप्नोति—दूरे ह्यध्वा जगुरिः (ऋ० १०.१०८.१)। मित्रावरुणा ततुरिम् (ऋ० ४.३९.२)। किरति, गिरति॥ गुणवृद्ध्योरवकाशः—चेता, गौः। यणादेशस्य स एव। इहोभयं प्राप्नोति—चयनम्, चायकः। लवनम्, लावकः॥

भलोपधातुप्रातिपदिकप्रत्ययसमासान्तोदात्तोदात्तनिवृत्तिस्वरा एकादेशाच्च॥ ७॥

भलोपधातुप्रातिपदिकप्रत्ययसमासान्तोदात्तोदात्तनिवृत्तिस्वरा एकादेशाच्च यणादेशाच्च भवन्ति विप्रतिषेधेन। भलोपस्यावकाशः—गार्ग्यः, वात्स्यः। एकादेशयणादेशयोरवकाशः—दधीन्द्रः, मधूदकम्। दध्यत्र, मध्वत्र। इहोभयं प्राप्नोति—दाक्षी, दाक्षायणः। प्लाक्षी, प्लाक्षायणः॥ धातुस्वरस्यावकाशः—पचति, पठति। एकादेशयणादेशयोः स एव। इहोभयं

से] उर् का क्रमशः अवकाश है—आस्तीर्णम्, निपूर्ताः। यणादेश का अवकाश है—चक्रतुः आदि। यहाँ दोनों पाते हैं—किरति..., जगुरिः...। [यहाँ 'गृ' धातु से 'आदृगम...' (३.२.१७१) से कि प्रत्यय होकर 'गृ इ' इस दशा में उर् तथा यण् की प्राप्ति में, पहले उर् होता है।]

गुण, वृद्धि का अवकाश है—चेता, गौः। ['गोतो णित्' (७.१.९०) से णित्वत् होने से 'अचो ञ्णिति' (७.२.११५) से वृद्धि।] यणादेश का वही। यहाँ दोनों पाते हैं—चयनम्...। ['चि+अन' इस दशा में दोनों की प्राप्ति में, पहले गुण होता है।]

वा०—भलोप, धातुस्वर...आदि एकादेश से भी।

भा०—भलोप, धातुस्वर, प्रातिपदिकस्वर, प्रत्ययस्वर, समासान्तोदात्त, उदात्तनिवृत्तिस्वर—ये सभी एकादेश तथा यणादेश से पहले होते हैं—विप्रतिषेध द्वारा। भलोप का अवकाश है—गार्ग्यः आदि। एकादेश...आदि का अवकाश है—दधीन्द्रः आदि। यहाँ दोनों पाते हैं—दाक्षी, दाक्षायणः आदि। [दक्ष से स्त्री-अपत्य अर्थ में 'अत इञ्' (४.१.९५) से इञ्, 'इतो मनुष्यजातेः', (४.१.६५) से ङीष् होने पर 'दक्ष इ ई' इस दशा में सवर्णदीर्घ से पहले 'यस्येति च' (६.४.१४८) से भसंज्ञक अकार का लोप पहले होता है। दाक्षायणः में 'दाक्षेरपत्यं युवा' इस विग्रह के अनुसार दाक्षि से 'यञिञोश्च' (४.१.१०१) से फक् तथा उसे आयन आदेश। 'दाक्षि आयन' इस दशा में यणादेश से पहले भसंज्ञक इकार का 'यस्येति लोप' होता है।]

धातुस्वर का अवकाश है—पचति...। एकादेश यणादेश का वही। यहाँ दोनों

प्राप्नोति—श्र्यर्थम्, श्रीषा॥ प्रातिपदिकस्वरस्यावकाशः—आम्रः, शालः। एकादेशयणादेशयोः स एव। इहोभयं प्राप्नोति—अग्न्युदकम्, वृक्षार्थम्॥ प्रत्ययस्वरस्यावकाशः—चिकीर्षुः, औपगवः। एकादेशयणादेशयोः स एव। इहोभयं प्राप्नोति—चिकीर्ष्वर्थम्, औपगवार्थम्। समासान्तोदात्तस्यावकाशः—राजपुरुषः, ब्राह्मणकम्बलः। एकादेशयणादेशयोः स एव। इहोभयं प्राप्नोति—राजवैद्यर्थम्, राजवैदीहते॥ उदात्तनिवृत्तिस्वरस्यावकाशः—नदी, कुमारी।

पाते हैं—श्र्यर्थम्...आदि। [यहाँ श्री+अर्थम्' इस दशा में 'अर्थे' (६.२.४४) सूत्र से पूर्वपद प्रकृति-स्वर, धातुस्वर से 'श्री' उदात्त होता है। पश्चात् यणादेश होने पर 'उदात्तस्वरितयोर्यणः...' (८.२.४) से यण् से उत्तर अनुदात्त को स्वरित हो जाता है। 'श्रीषा' में 'श्रीरीषा यस्याः' इस विग्रह के अनुसार बहुव्रीहि। 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (६.२.१) से पूर्वपद-प्रकृतिस्वर—धातुस्वर होता है। इसे एकादेश करने पर 'स्वरितो वानुदात्ते पदादौ' (८.२.६) से स्वरित या अनुदात्त सिद्ध होता है।

प्रातिपदिकस्वर का अवकाश है—आम्रः...। [यहाँ 'फिषोऽन्तोदात्तः' इस फिट्सूत्र के अनुसार प्रातिपदिक का अन्तिम अक्षर उदात्त है।] एकादेश यणादेश का वही। यहाँ दोनों पाते हैं—अग्न्युदकम्...। [यहाँ 'अग्निरुदकम् (दाहकत्वात्) यस्मिन्' इस विग्रह के अनुसार बहुव्रीहि। 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या...' से पूर्वपद-प्रकृतिस्वर से प्रातिपदिक को अन्तोदात्त। पश्चात् यणादेश करने से 'उदात्तस्वरितयोः' (८.२.४) से स्वरित सिद्ध होता है। 'वृक्षार्थम्' में पूर्वोक्त 'अर्थे' सूत्र से अन्तोदात्त के पश्चात् एकादेश करने से 'स्वरितो वानुदात्ते पदादौ' से स्वरित सिद्ध होता है।]

प्रत्ययस्वर का अवकाश है—चिकीर्षुः। [यहाँ 'सनाशंसभिक्ष उः' (३.२.१६८) से विहित उ प्रत्यय उदात्त है। औपगवः में अण् प्रत्यय उदात्त है।] एकादेश यणादेश का वही। यहाँ दोनों पाते हैं—चिकीर्ष्वर्थम्...। [प्रत्यय उदात्त के पश्चात् यण् करने से 'उदात्तस्वरितयोर्यणः...' लगता है। औपगवार्थम् में 'स्वरितो वानुदात्ते पदादौ' लगता है।]

समास-अन्तोदात्त का अवकाश है—राजपुरुषः...। [यहाँ 'समासस्य' (६.१.२२३) से अन्तोदात्त है।] एकादेशयणादेश का वही। यहाँ दोनों पाते हैं—राजवैद्यर्थम्...। [यहाँ राजवैदी का अर्थम्' के साथ चतुर्थी तदर्थार्थ...' से समास के पश्चात् पूर्वोक्त कार्य।] 'राजवैदीहते' में 'राजवैदी ईहते' इस दशा में पूर्ववत् समास-अन्तोदात्त, ईहते को 'तिङ्ङतिङः' (८.१.२८) से निघात होने पर एकादेश के पश्चात् पूर्वोक्त कार्य।

उदात्तनिवृत्तिस्वर का अवकाश है—नदी, कुमारी। [यहाँ अन्तोदात्त 'कुमार' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'ई' आने पर 'कुमार ई' इस दशा में यस्येति लोप से उदात्त लोप होने पर 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' (६.१.१६१) के द्वारा उदात्तनिवृत्तिस्वर

एकादेशयणादेशयोः स एव। इहोभयं प्राप्नोति—कुमार्यर्थम्, कुमारीहते॥

अल्लोपाल्लोपौ चार्धधातुके॥ ८॥

अल्लोपाल्लोपौ चार्धधातुक एकादेशाद्भवतो विप्रतिषेधेन। अल्लोपस्यावकाशः—चिकीर्षिता, जिहीर्षिता। एकादेशस्यावकाशः—पचन्ति, पठन्ति। इहोभयं प्राप्नोति—चिकीर्षकः, जिहीर्षकः। आल्लोपस्यावकाशः—पपिः सोमं ददिर्गाः (ऋ० ६,२३.४)। एकादेशस्यावकाशः—यान्ति, वान्ति। इहोभयं प्राप्नोति—ययतुः, ययुः॥

इयङुवङ्गुणवृद्धिटित्किन्मित्पूर्वपदविकाराश्च॥ ९॥

इयङुवङ्गुणवृद्धिटित्किन्मित्पूर्वपदविकाराश्चैकादेशयणादेशाभ्यां भवन्ति विप्रतिषेधेन। इयङुवङोरवकाशः—श्रियौ, श्रियः,। भ्रुवौ, भ्रुवः। एकादेशयणादेशयोः स एव। इहोभयं प्राप्नोति—चिक्षियिव, चिक्षियिम। लुलुवतुः, लुलुवुः। पुपुवतुः, पुपुवुः॥ गुणवृद्ध्योरवकाशः—चेता, गौः। एकोदशयणादेशयोः स एव। इहोभयं प्राप्नोति—साधुचायी, सुचायी।

से ईकार उदात्त होता है।] एकादेश यणादेश का वही। यहाँ दोनों पाते हैं—कुमार्यर्थम्...। उदात्तनिवृत्तिस्वर पहले हो जाने से पूर्वोक्त कार्य सिद्ध होते हैं।

वा०—आर्धधातुक परे रहने पर अल्लोप, आल्लोप।

भा०—आर्धधातुक परे रहने पर अकारलोप तथा आकारलोप विप्रतिषेध द्वारा एकादेश से पहले होते हैं। ['अतो लोपः' (६.४.४८) से अकारलोप का अवकाश है—चिकीर्षिता आदि। ['अतो गुणे' (६.१.९७) से पररूप] एकादेश का अवकाश है—पचन्ति आदि। [आर्धधातुक परे तथा पूर्व-पर में 'अ अ' होने पर] दोनों पाते हैं—चिकीर्षकः आदि।

['आतो लोप इटि च' (६.४.६४) से] आल्लोप का अवकाश है—पपिः सोमम्...। [दीर्घ] एकादेश का अवकाश है—यान्ति...। [अजादि क्ङित्-परे तथा पूर्व-पर में सवर्ण अकार होने पर] दोनों पाते हैं—ययतुः। [विप्रतिषेध से आकारलोप होता है।]

वा०—इयङ्, उवङ् आदि भी।

भा०—इयङ्, उवङ्, गुण, वृद्धि, टित्-कित्-मित् [आगम] तथा पूर्वपद को होने वाले विकार—ये विप्रतिषेध द्वारा एकादेश-यणादेश से पहले होते हैं।

इयङ्, उवङ् का अवकाश है—श्रियौ...। एकादेश-यणादेश का वही। यहाँ दोनों पाते हैं—चिक्षियिव...। [क्षि धातु, लिट् लकार, उत्तम पुरुष द्विवचन में 'क्षि इ व' इस दशा में सवर्ण-दीर्घ-एकादेश को बाधकर विप्रतिषेध से इयङ्।]

गुण, वृद्धि का अवकाश है—चेता...। एकादेश, यणादेश का वही। यहाँ दोनों पाते हैं—साधुचायी...[साधु उपपद रहते चि धातु से 'साधुकारिणि च'

नग्नंभावुकोऽध्वर्युः। शयिता, शयितुम्॥ टितोऽवकाशः—षण्णाम्, पञ्चानाम्, सप्तानाम्। एकादेशयणादेशयोः स एव। इहोभयं प्राप्नोति—वृक्षाणाम्, प्लक्षाणाम्। अग्नीनाम्, इन्दूनाम्॥ कितोऽवकाशः—साधुदायी, सुष्ठुदायी। एकादेशयणादेशयोः स एव। इहोभयं प्राप्नोति—दायकः, धायकः॥ मितोऽवकाशः—त्रपुणी, जतुनी। एकादेशयणादेशयोः स एव। इहोभयं प्राप्नोति—अस्थीनि, दधीनि। अतिसखीनि ब्राह्मणकुलानि। पूर्वपदविकाराणामवकाशः—होतापोतारौ। एकादेशयणादेशयोः स एव। इहोभयं प्राप्नोति—नेष्टोद्गातारौ, आग्नेन्द्रम्॥

उत्तरपदविकाराश्चेति वक्तव्यम्। उत्तरपदविकारणामवकाशः—समीपम्, दुरीपम्। एकादेशयणादेशयोः स एव। इहोभयं प्राप्नोति—नीपम्, वीपम्। प्रेपम्, परेपम्॥

(३.२.७८ वा०) से णिनि। 'साधु चि इन्' इस दशा में विप्रतिषेध से वृद्धि। 'नग्नंभावुकः' में 'अनग्नो नग्नो भवति' इस विग्रह के अनुसार 'कर्तरि भुवः...' (३.२.५७) से खुकञ् होने पर 'नग्न म् भू उक' इस दशा में सवर्णदीर्घ की प्राप्ति में वृद्धि।]

टित् [आगम] का अवकाश है—षण्णाम्...आदि। एकादेश-यणादेश का वही। यहाँ दोनों पाते हैं—वृक्षाणाम् [यहाँ 'वृक्ष आम्' इस दशा में 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (७.१.५४) से टित् नुट् आगम तथा सवर्णदीर्घ की प्राप्ति में नुट्।

कित् का अवकाश है—साधुदायी...। एकादेश, यणादेश का वही। यहाँ दोनों पाते हैं—दायकः...। [यहाँ 'दा अक' इस दशा में 'आतो युक्चिण् कृतोः' (७.३.३३) से कित् युक् तथा सवर्णदीर्घ की प्राप्ति में युक्।]

मित् का अवकाश है—त्रपुणी...। एकादेश-यणादेश का वही। यहाँ दोनों पाते हैं—अस्थीनि [अस्थि शब्द के प्रथमा बहुवचन में 'अस्थि+इ' इस दशा में 'नपुंसकस्य झलचः' (७.१.७२) से मित् नुम् परत्व से सवर्णदीर्घत्व को बाध लेता है।]

पूर्वपद के स्थान में विकार का अवकाश है—होतापोतारौ। एकादेश-यणादेश का वही। यहाँ दोनों प्राप्त होते हैं—नेष्टोद्गातारौ...। [यहाँ 'नेष्टृ+उद्गातृ' इन पदों के द्वन्द्व समास के पश्चात् 'आनङ् ऋतो द्वन्द्वे' (६.३.२५) से पूर्वपद के अन्तिम अक्षर के स्थान में विधीयमान आनङ्-आदेश यणादेश को बाध लेता है। 'आग्नेन्द्रम्' में 'देवताद्वन्द्वे च' (६.३.२६) से आनङ्-आदेश के पश्चात् पूर्वोक्त कार्य है।]

उत्तरपद के विकार भी [एकादेश, यणादेश से पहले होते हैं।] ऐसा कहना चाहिए। उत्तरपद-विकार का अवकाश है—समीपम्...। एकादेश, यणादेश का वही। यहाँ दोनों पाते हैं—वीपम्...। [यहाँ समास करने पर 'वि+अप्' इस स्थिति में द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप-ईत् (६.३.९७) से उत्तरपद के अप् के अकार को ईकार यणादेश को बाधकर सम्पन्न होता है।]

औतोऽम्शसोः ॥ ६.१.९३ ॥

ओतस्तिङि प्रतिषेधः ॥ १ ॥

ओतस्तिङि प्रतिषेधो वक्तव्यः। अचिनवम्, असुनवम्॥ स तर्हि प्रतिषेधो वक्तव्यः ? न वक्तव्यः। गोग्रहणं करिष्यते। आ गोत इति वक्तव्यम्।

गोग्रहणे द्योरुपसंख्यानम्॥ २ ॥

ग्रोग्रहणे द्योरुपसंख्यानं कर्तव्यम्। द्यां गच्छ॥

समासाच्च प्रतिषेधः ॥ ३ ॥

समासाच्च प्रतिषेधो वक्तव्यः। चित्रगुं पश्य, शबलगुं पश्य॥ ननु चौत इत्युच्यमानेऽपि समासात्प्रतिषेधो वक्तव्यः! न वक्तव्यः। ह्रस्वत्वे कृते न भविष्यति। इदमिह संप्रधार्यम्—आत्वं क्रियतां ह्रस्वत्वमिति, किमत्र कर्तव्यम्? परत्वादात्वम्।

न वा बहिरङ्गलक्षणत्वात्॥ ४॥

औतोऽम्शसोः ॥

वा०—ओकार को तिङ् परे रहने पर प्रतिषेध।

भा०—ओकार के स्थान में [आकार का] तिङ् परे रहने पर प्रतिषेध कहना चाहिए। अचिनवम्...। [चि धातु लङ्लकार, उत्तम पुरुष एकवचन में 'अ चि नो अम्' इस दशा में ओकार के स्थान में आत्व की प्राप्ति है।] तो यह प्रतिषेध कहना चाहिए? नहीं कहना चाहिए। 'गो' का ग्रहण करेंगे। 'आ गोतः' इस प्रकार कहेंगे। [अर्थात् गो के ओकार तथा 'अम्-शस्' के अच् के स्थान में आकार एकादेश होता है।]

वा०—'गो' ग्रहण में द्यो का उपसङ्ख्यान।

भा०—'गो' ग्रहण करने पर द्यो का उपसङ्ख्यान करना होगा। द्यां गच्छ [यहाँ आत्व अभीष्ट है।]

वा०—समास से भी प्रतिषेध।

भा०—समास से भी प्रतिषेध कहना होगा। चित्रगुं पश्य। [ऐसा कहने से यहाँ आत्व की अतिव्याप्ति भी होती है।]

क्यों, 'आ ओतः' कहने पर भी तो समास से प्रतिषेध कहना होगा! ['गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' (१.२.४८) से ह्रस्वत्व करने पर नहीं होगा] अच्छा तो फिर यह सम्प्रधारणा करें कि यहाँ पहले आत्व करें या ह्रस्वत्व। क्या करना चाहिये? परत्व से आत्व। [इस प्रकार दोष अवस्थित होने पर अग्रिम समाधान—]

वा०—बहिरङ्गलक्षण होने से नहीं।

न वा वक्तव्यः। किं कारणम्? बहिरङ्गलक्षणत्वात्। बहिरङ्गलक्षण-मात्वम्। अन्तरङ्गं ह्रस्वत्वम्। असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे॥ ननु चाऽऽगोत इत्युच्यमानेऽपि समासात्प्रतिषेधो न वक्तव्यः। कथम्? ह्रस्वत्वे कृते न भविष्यति। स्थानिवद्भावात्प्राप्नोति। ननु चौत इत्युच्यमानेऽपि स्थानि-वद्भावात्प्राप्नोति। नेत्याह। अनल्विधौ स्थानिवद्भावः। आ गोत इत्युच्यमा-नेऽपि न दोषः। प्रतिषिध्यतेऽत्र स्थानिवद्भावः। गोः पूर्वणित्त्वात्वस्वरेषु स्थानिवन्न भवतीति॥

स एव तर्हि दोषो गोग्रहणे द्योरुपसंख्यानमिति। सूत्रं च भिद्यते॥ यथान्यासमेवास्तु। ननु चोक्तमोतस्तिङि प्रतिषेध इति?

सुबधिकारात्सिद्धम्॥ ५॥

सुपीति वर्तते। क्व प्रकृतम्? 'वा सुप्यापिशलेः' (९२) इति॥ यद्यनुवर्तत इहापि विभाषा प्राप्नोति। सुब्ग्रहणमनुवर्तते वाग्रहणं निवृत्तम्। कथं पुनरेकयोगनिर्दिष्टयोरेकदेशोऽनुवर्तत एकदेशो न।

एकयोगे चैकदेशानुवृत्तिरन्यत्रापि॥ ६॥

भा०—इसे नहीं कहना चाहिए। क्या कारण है? आत्व बहिरङ्ग-लक्षण है [प्रातिपदिक तथा विभक्ति दोनों की अपेक्षा होने से।] ह्रस्वत्व अन्तरङ्ग है। अन्तरङ्ग के प्रति बहिरङ्ग असिद्ध होता है।

क्यों, 'आ गोतः' कहने पर भी तो समास से प्रतिषेध नहीं कहना होगा। क्यों? ह्रस्वत्व करने पर नहीं होगा। स्थानिवद्भाव से पाता है। क्यों, 'ओतः' कहने पर भी तो स्थानिवद्भाव से पाता है? नहीं, स्थानिवद्भाव अल्विधि में नहीं होता। ['ओतः' कहने पर यह अल्विधि हो जाएगी।] 'आ गोतः' कहने पर भी दोष नहीं है। यहाँ स्थानिवदा० (१.१.५६) सूत्र में 'गोः पूर्वणित्वात्व...' द्वारा स्थानिवत् का प्रतिषेध कहा गया है।

तब फिर वही दोष है—गो ग्रहण करने पर द्यो का उपसङ्ख्यान। सूत्रभेद भी होता है। जैसा न्यास है वैसा ही रहने दें। इस पर तो 'ओतस्तिङि...' दोष दिया जा चुका है?

वा०—सुप् के अधिकार से सिद्ध।

भा०—प्रकृत 'सुपि' अनुवृत्त है। कहाँ से प्रकृत है? 'वा सुप्यापिशलेः' सूत्र से। यदि अनुवृत्त है तो [सहचरित 'वा' की भी अनुवृत्ति होने से] यहाँ भी विकल्प प्राप्त होता है। 'सुप्' ग्रहण अनुवृत्त है। 'वा' की अनुवृत्ति समाप्त हो गई। यह किस प्रकार होता है कि एक ही सूत्र में निर्दिष्ट का एक भाग अनुवृत्त हो, अन्य भाग नहीं?

वा०—एक योग में एकदेश की अनुवृत्ति, अन्यत्र भी।

एकयोगनिर्दिष्टानामप्येकदेशानुवृत्तिर्भवति। अन्यत्रापि नावश्यमिहैव। क्वान्यत्र? अलुगधिकारः प्रागानङः, उत्तरपदाधिकारः प्रागङ्गाधिकारात्॥ एवमपि—

अम्युपसंख्यानं वृद्धिबलीयस्त्वात्॥ ७॥

अम्युपसंख्यानं कर्तव्यम्। गां पश्य। किं पुनः कारणं न सिध्यति? वृद्धिबलीयस्त्वात्। परत्वाद्वृद्धिः प्राप्नोति॥

न वानवकाशत्वात्॥ ८॥

न वा वक्तव्यम्। किं कारणम्? अनवकाशत्वात्। अनवकाशमात्वं वृद्धिं बाधिष्यते॥ सावकाशमात्वम्। कोऽवकाशः? द्यां गच्छ॥

द्योश्च सर्वनामस्थाने वृद्धिविधिः॥ ९॥

द्योश्च सर्वनामस्थाने वृद्धिर्विधेया। किं प्रयोजनम्?

यद्द्याव इन्द्रेति दर्शनात्॥ १०॥

भा०—एक ही सूत्र में निर्दिष्ट के एक भाग की अनुवृत्ति होती है। ऐसा अन्यत्र भी होता है, केवल यहाँ ही नहीं। अन्यत्र कहाँ? ['अलुगुत्तरपदे' (६.३.१) सूत्र में] 'अलुक्' का अधिकार 'आनङ् ऋतो द्वन्द्वे' (६.३.२५) से पूर्व तक, पर उत्तरपद का अधिकार अङ्गाधिकार से पूर्व तक होता है। तो भी—

वा०—अम् परे रहने पर उपसङ्ख्यान, वृद्धिबलीयस्त्व होने से।

भा०—अम् परे रहने पर [गो शब्द में वृद्धि के अभाव का] उपसङ्ख्यान करना चाहिये। गां पश्य। क्या कारण है कि सिद्ध नहीं होता? वृद्धि के अधिक बलवान् होने से। परत्व से वृद्धि प्राप्त होती है। ['गोतो णित्' (७.१.९०) से णित्वत् होने से 'अचो ञ्णिति' (७.२.११५) से वृद्धि प्राप्त है।]

वा०—अनवकाशत्व होने से नहीं।

भा०—नहीं कहना चाहिये। क्या कारण है? अनवकाश होने से आत्व वृद्धि को बाध लेगा। आत्व सावकाश है। कहाँ अवकाश है? द्यां गच्छ।

वा०—द्यो को भी सर्वनामस्थान में वृद्धि-विधान।

भा०—द्यो को भी सर्वनामस्थान में वृद्धि का विधान करना होगा। ['गोतो णित्' के स्थान में 'ओतो णित्' सूत्र पढ़ना होगा। ताकि ओकारान्तमात्र से वृद्धि हो सके।] क्या प्रयोजन है?

वा०—'यद् द्याव इन्द्र' यह देखे जाने से।

यद्द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः (ऋ० ८.७०.५)। यावता चेदानीं द्योरपि सर्वनामस्थाने वृद्धिरुच्यतेऽनवकाशमात्वं वृद्धिं बाधिष्यते॥

एङि पररूपम्॥ ६.१.९४॥

पररूपप्रकरणे तुन्वोर्वि निपात उपसंख्यानम्॥ १॥

पररूपप्रकरणे तु नु इत्येतयोर्वकारादौ निपात उपसंख्यानं कर्तव्यम्। तु-वै=त्वै। नु-वै=न्वै। वकारादाविति किमर्थम्? त्वावत् न्वावत्। निपातः इति किमर्थम्? तु वानि। नु वानि॥

न वा निपातैकत्वात्॥ २॥

न वा कर्तव्यम्। किं कारणम्? निपातैकत्वात्। एक एवायं निपातः—त्वै, न्वै॥

एवे चानियोगे॥ ३॥

एवे चानियोगे पररूपं वक्तव्यम्। इह एव—इहेव। अद्येव। अनियोग इति किमर्थम्? इहैव भव मा स्म गाः। अत्रैव त्वमिह वयं सुशेवाः (तै० आ० ६.१.३)॥

भा०—यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः (ऋ० ८.७०.५) [यहाँ प्रथमा बहुवचन में द्यो को वृद्धि हो सके।] अब जबकि द्यो को भी सर्वनामस्थान परे रहने पर वृद्धि कहते हैं तो [यहाँ अम् शस् परे होने पर प्रस्तुत सूत्र से] अनवकाश आत्व वृद्धि का बाधक हो जाएगा।

एङि पररूपम्

वा०—पररूप-प्रकरण में तु नु को वि निपात में उपसङ्ख्यान।

भा०—पररूप-प्रकरण में तु नु इनको वकारादि-निपात में [पूर्वपर के स्थान में पररूप का] उपसङ्ख्यान करना चाहिये। तु वै=त्वै, नु वै=न्वै। वकारादि क्यों कहा है? त्वावत्...। [यहाँ 'तु आवत्' इस दशा में पररूप न हो। ['निपाते' क्यों कहा है? तु वानि...। [वा धातु से लोट्, उत्तम पुरुष, एकवचन में निष्पन्न-रूप होने पर पररूप न हो।]

वा०—निपातैकत्व होने से नहीं।

भा०—नहीं करना चाहिये। क्या कारण है? यह एक अलग निपात है—त्वै, न्वै।

वा०—अनियोग में एव में भी।

भा०—अनियोग में 'एव' के परे रहते भी पररूप कहना चाहिये। [नियोग का अर्थ अवश्यंभाव है। उससे भिन्न अर्थ में पररूप।] इहेव, अद्येव [यहाँ एव शब्द अनवक्लृप्ति या असम्भावना में है। व्यञ्जना से असम्भावना प्रकट होती है। हिन्दी में भी ऐसी व्यञ्जना होती है] अनियोग किसलिये है? इहैव भव...=यहीं रहो, अन्यत्र कहीं मत जाओ।

शकन्ध्वादिषु च॥ ४॥

शकन्ध्वादिषु च पररूपं वक्तव्यम्। शक अन्धुः—शकन्धुः। कुल अटा—कुलटा। सीम अन्तः—सीमन्तः। केशेष्विति वक्तव्यम्। यो हि सीम्नोऽन्तः, सीमान्तः स भवति॥

ओत्वोष्ठयोः समासे वा॥ ५॥

ओत्वोष्ठयोः समासे वा पररूपं वक्तव्यम्। स्थूलौतुः, स्थूलोतुः। बिम्बौष्ठी, बिम्बोष्ठी॥

एमनादिषु च्छन्दसि॥ ६॥

एमनादिषु च्छन्दसि पररूपं वक्तव्यम्। अ॒पां त्वेम॑न्सादयाम्य॒पां त्वोद्म॑न्सादयामि॥ (वा० सं० १३.५३)

ओमाङोश्च॥ ६.१.९५॥

किमर्थश्चकारः ? एङीत्यनुकृष्यते। किं प्रयोजनम् ? इह मा भूत्—अद्य आ ऋश्यात्—अद्यार्श्यात्, कदार्श्यात्॥ नैतदस्ति प्रयोजनम्। अद्यर्श्यादित्येव भवितव्यम्। एवं हि सौनागाः पठन्ति—चोऽनर्थकोऽनधिकारादेङः॥

वा०—शकन्ध्वादि में भी।

भा०—शकन्ध्वादि में भी पररूप कहना चाहिये। शक अन्धुः—शकन्धुः=गोबर का ढेर। कुल अटा—कुलटा (=जो हर घर में स्वैरतः चली जावे।) सीम अन्तः—सीमन्त। इसे केश अभिधेय में कहना चाहिये। [बालों की सीमा के लिए कहेंगे।] जो किसी भी सीमा का अन्त है, वह सीमान्त होगा।

वा०—ओतु, ओष्ठ परे रहने पर समास में।

भा०—ओतु, ओष्ठ परे रहने पर समास में विकल्प से पररूप कहना चाहिये। स्थूल ओतु—स्थूलौतु (=मोटी बिल्ली), बिम्बोष्ठी...। (=बिम्ब-फल के समान अवरक्त ओष्ठ वाली)।

वा०—एमन् आदि परे रहने पर छन्द में।

भा०—एमन् आदि परे रहने पर छन्द में [पूर्व-पर के स्थान में] पररूप कहना चाहिये। अ॒पां त्वेम॑न् सादयामि (यजुः० १३.५३)

ओमाङोश्च॥

भा०—चकार किसलिये लगाया गया है ? 'एङि' का अनुकर्षण करते हैं। क्या प्रयोजन है ? यहाँ न हो—अद्य आ ऋश्यात्—अद्यार्श्यात् [सवर्णदीर्घ होता है, पररूप नहीं।] यह प्रयोजन नहीं है। [पररूप होकर] 'अद्यर्श्यात्' ही होना चाहिए। सौनाग आचार्य कहते हैं—यहाँ 'च' अनर्थक है, क्योंकि एङ् का अधिकार नहीं है।

उस्योमाङ्क्ष्वाटः प्रतिषेधः॥ १॥

उसि पररूप ओमाडोश्चाटः प्रतिषेधो वक्तव्यः। औस्त्रीयत्, औढीयत्, औङ्कारीयत्॥ स तर्हि प्रतिषेधो वक्तव्यः? न वक्तव्यः। उक्तम् 'आटश्च' (९०) इत्यत्र चकारस्य प्रयोजनं वृद्धिरेव यथा स्याद्यदन्यत्प्राप्नोति तन्मा भूदिति॥

उस्यपदान्तात्॥ ६.१.९६॥

अपदान्तादिति किमर्थम्? का उस्रा कोस्रा॥ अपदान्तादिति शक्यमकर्तुम्। कस्मान्न भवति—का उस्रा—कोस्रा? अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्येति। नैषा परिभाषेह शक्या विज्ञातुम्। इह हि दोषः स्यात्—भिन्द्या उस्—भिन्द्युः। छिन्द्या उस्—छिन्द्युः॥ एवं तर्हि लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैवेत्येवं न भविष्यति॥ उत्तरार्थं तर्ह्यपदान्तग्रहणं कर्तव्यम्। 'अतो गुणे' (९७) अपदान्ताद्यथा स्यादिति। इह मा भूत्—दण्डाग्रम्, क्षुपाग्रमिति॥

वा०—उस् परे पररूप के प्रसङ्ग में ओम् आङ् परे रहने पर आट् का प्रतिषेध।

भा०—उस् परे पररूप के प्रसङ्ग में ओम् आङ् परे रहने पर भी आट् के [पररूप का] प्रतिषेध कहना चाहिए। औस्त्रीयत्। [उस्रा शब्द से क्यच्, तदन्त के धातु बनने पर 'उस्रीय' से लङ् प्रथम पुरुष, एकवचन में 'आ उस्रीय त्' इस दशा में, पररूप का प्रतिषेध।] 'औढीयत्' [यहाँ पूर्ववत् 'आ ऊढीयत्' इस स्थिति में पूर्वोक्त कार्य।] औङ्कारीयत्। ['आ ओङ्कारीय त्' यह स्थिति है।]

उस्यपदान्तात्॥

भा०—यहाँ 'अपदान्तात्' किसलिये है। 'का उस्रा' कोस्रा। [यहाँ 'का' पदान्त से उत्तर 'उस्' है।] 'अपदान्तात्' न कहें तो काम चल सकता है। 'का उस्रा-कोस्रा' यहाँ [पररूप] क्यों नहीं होता? अर्थवान् के ग्रहण के प्रसङ्ग में अनर्थक का ग्रहण नहीं होता। यह परिभाषा यहाँ कृतकार्य नहीं हो सकती। यहाँ दोष होगा—भिन्द्या उस्-भिन्द्युः। [यहाँ यासुट् के उस् प्रत्यय का भाग होने से 'या उस्' सम्पूर्ण सार्थक है, अवयव नहीं।] अच्छा तो फिर लाक्षणिक तथा प्रतिपदोक्त के मध्य प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण होता है। ['उस्रा' का उस् प्रतिपदोक्त न होने से यहाँ पररूप नहीं होगा।]

भा०—अच्छा तो फिर 'अपदान्त' ग्रहण उत्तरार्थ है। 'अतो गुणे'—अपदान्त से हो। दण्डाग्रम् [यहाँ 'दण्ड' सम्बुद्धि पदान्त है। अतः पररूप नहीं होता।]

अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ ॥ ६.१.९८ ॥

इतावनेकाज्ग्रहणं श्रदर्थम् ॥ १ ॥

इतावनेकाज्ग्रहणं कर्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? श्रदर्थम्। इह मा भूत्—श्रदिति ॥

नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा ॥ ६.१.९९ ॥

नित्यमाम्रेडिते डाचि ॥ १ ॥

नित्यमाम्रेडिते डाचि पररूपं कर्तव्यम्। पटपटायति ॥

अकारान्तानुकरणाद्वा ॥ २ ॥

अथवाकारान्तमेतदनुकरणम् ॥ भवेत्सिद्धं यदाकारान्तं, यदा तु खल्वच्शब्दान्तं तदा न सिध्यति। विचित्रास्तद्धितवृत्तयः। नातस्तद्धित उत्पद्यते ॥

अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ ॥

वा०—इति परे रहने पर अनेकाच् ग्रहण, श्रत् के लिये।

भा०—इति परे रहने पर अनेकाच् का ग्रहण करना चाहिये। क्या प्रयोजन है? श्रत् के लिए। यहाँ कार्य न हो—श्रदिति।

नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा ॥

वा०—डाच् परक आम्रेडित परे होने पर नित्य।

भा०—डाच् परक आम्रेडित परे होने पर [अव्यक्तानुकरण के अत् शब्द के अन्तिम तकार का] नित्य पररूप कहना चाहिए। पटपटायति। [यहाँ डाजन्त पटत् शब्द से 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्' (३.१.१३) से क्यष् तथा 'डाचि बहुलं द्वे' (८.१.१२ पर वार्तिक) के अनुसार द्विर्वचन, 'तस्य परमाम्रेडितम्' (८.१.२) से पर वाले की आम्रेडित संज्ञा होने पर 'पटत् पटत् आ य' इस दशा में प्रस्तुत वार्तिक से पररूप होने पर 'पटपटाय' बनता है।]

वा०—अथवा अकारान्त अनुकरण होने से।

भा०—अथवा यह अकारान्त ['पट' इस प्रकार] अनुकरण है। यह सिद्ध होगा जब अकारान्त अनुकरण हो। पर जब 'अत्' शब्दान्त अनुकरण हो तब सिद्ध नहीं होता। तद्धित की वृत्तियाँ विचित्र हैं। इस [अत् शब्दान्त से] तद्धित [डाच्] उत्पन्न नहीं होता।

अकः सवर्णे दीर्घः ॥ ६.१.१०१ ॥

सवर्णदीर्घत्व ऋति ऋवावचनम्॥ १॥

सवर्णदीर्घत्व ऋति ॠ वा भवतीति वक्तव्यम्? होतृ ऋकारः—होतॄकारः॥

लृति लृवावचनम्॥ २॥

लृति ॡ वा भवतीति वक्तव्यम्। होतृ लृकारः होत्ॡकारः॥

इति पातञ्जलमहाभाष्ये षष्ठाध्यायस्य प्रथमपादे चतुर्थमाह्निकम्॥

—०—

विशेष—यह सर्वथा समुचित एवं स्वाभाविक है कि किसी बाहरी आवाज का अनुकरण कहीं 'पटत्' रूप में तथा कहीं 'पट' रूप में हो। सर्वत्र एक ही प्रकार का अनुकरण होगा, यह आग्रह बिल्कुल अनावश्यक है। अतः अलग-अलग परिस्थिति में अलग-अलग प्रकार के अनुकरण से पररूप आदि के विधान के बिना ये शब्द स्वाभाविक रूप से निष्पन्न होते हैं। व्यक्ति भेद से या समाज भेद से अलग-अलग अनुकरण देखे जाते हैं। भारतीय लोगों ने कोयल की आवाज का एक विशेष अनुकरण करते हुए 'कोकिल' शब्द प्रदान किया। पर यूरोप के लोगों ने इसके अन्य अनुकरण के आधार पर Cuckoo शब्द विकसित किया। अतः पूर्वोक्त वार्तिक सर्वथा अनावश्यक है।

अकः सवर्णे दीर्घः॥

वा०—सवर्णदीर्घत्व में ऋत् परे रहने पर विकल्प से ॠ।

भा०—सवर्ण-दीर्घत्व के प्रसङ्ग में ह्रस्व ऋकार परे रहने पर पूर्व-पर के स्थान में विकल्प से 'ॠ' आदेश होता है। होतृ ऋकारः—होतॄकारः। एक पक्ष में ह्रस्व ऋकार आदेश के लिए वचन है।

वा०—लृत् परे रहने पर विकल्प से ॡ।

भा०—लृत् परे रहने पर [पूर्व पर के स्थान में] विकल्प से ॡ आदेश होता है। होतृ लृकारः—होत्ॡकारः।

—०—

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः ॥ ६.१.१०२ ॥

प्रथमयोरित्युच्यते। कयोरिदं प्रथमयोर्ग्रहणं किं विभक्त्योराहोस्वित्प्रत्यययोः? विभक्त्योरित्याह। कथं ज्ञायते? अचीति वर्तते। न चाजादी प्रथमौ प्रत्ययौ स्तः। ननु चैवं विज्ञायते—अजादी यौ प्रथमावजादीनां वा यौ प्रथमाविति। यत्तर्हि 'तस्माच्छसो नः पुंसि' (१०३) इत्यनुक्रान्तं पूर्वसवर्णं प्रतिनिर्दिशति, तज्ज्ञापयत्याचार्यः—विभक्त्योर्ग्रहणमिति। अथवा सुपीति वर्तते॥

अथ किमर्थं पूर्वसवर्णदीर्घोऽमि पूर्वत्वं चोच्यते न प्रथमयोः पूर्वसवर्ण इत्येव सिद्धम्? न सिध्यति। प्रथमयोः पूर्वसवर्ण इत्युच्यमानेऽम्यपि दीर्घः प्राप्नोति। वृक्षम्, प्लक्षम्।

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः॥

भा०—यहाँ 'प्रथमयोः' कहा गया है। किस प्रथम का ग्रहण है? क्या प्रथम विभक्ति का, या प्रथम प्रत्यय का? [समाधान—] [प्रथम दो] विभक्तियों [प्रथमा तथा द्वितीया] का ग्रहण है। कैसे ज्ञात होता है? 'अचि' की अनुवृत्ति है। [सु, औ अजादि प्रत्यय नहीं हो सकते तथा औ जस्] अजादि प्रथम प्रत्यय नहीं हो सकते। [परन्तु औ से शस् तक अजादि प्रथम विभक्तियाँ कही जा सकती हैं। अतः उनका ही ग्रहण है।]

क्यों, यहाँ इस तरह व्याख्या करेंगे—अजादि जो प्रथम या अजादियों में जो प्रथम। [अर्थात् वे अजादि जो प्रथम व्यपदेश को धारण कर सकते हैं। अथवा निर्धारण में अजादियों में से जो प्रथम अजादित्व को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार औ, जस्—प्रथम अजादि, जस्, अम् द्वितीय अजादि प्रत्ययद्वय कहे जाएँगे।]

अच्छा तो फिर 'तस्माच्छसो...' सूत्र से जो पूर्वोक्त पूर्वसवर्ण का परिग्रहण किया है, उससे आचार्य ज्ञापित करते हैं कि यहाँ प्रथम दो विभक्तियों का ग्रहण है। [क्योंकि प्रथम अजादि प्रत्ययों में शस् नहीं आता।] अथवा ['वा सुप्यापिशलेः' (६.१.८९) सूत्र से] 'सुपि' की अनुवृत्ति है। ['दीर्घाज्जसि च' (६.१.१०१) के निषेध से सुप् का परिग्रह ज्ञापित होने पर भी पुनः सुप् का ग्रहण सुप् के प्रसिद्ध धर्म को सङ्केतित करेगा। 'सुपः', 'विभक्तिश्च' के अनुसार विभक्ति-धर्म वाले सुप् का ग्रहण होगा।]

[प्रसङ्गान्तर-] यहाँ 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' के पश्चात् 'अमि पूर्वः' को भी किसलिए कहा गया है? क्या 'प्रथमयोः...' से ही सिद्ध नहीं है। [खट्वाम्, कुमारीम् आदि में अमि पूर्वत्व न होने पर भी पूर्वसवर्णमात्र से रूपसिद्धि देखते हुए प्रश्न है।] नहीं सिद्ध होता। 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' [मात्र इसे ही] कहने पर अम् परे रहने पर भी दीर्घत्व की प्राप्ति होती है—वृक्षम्, प्लक्षम्।

नैष दोषः। यत्पूर्वस्मिन्योगे दीर्घग्रहणं तदुत्तरत्र निवृत्तम्। एवमपीदमिह पूर्वसवर्णग्रहणं क्रियते तेनाम्यपि पूर्वसवर्णः प्रसज्येत—वृक्षम्, प्लक्षम्। द्विमात्रः प्राप्नोति? नैष दोषः। सवर्णग्रहणं न करिष्यते। यदि सर्वणग्रहणं न क्रियते कुतो व्यवस्था? आन्तर्यतः। यद्येवम्—अग्नी, वायू—त्रिमात्रः प्राप्नोति? वृक्षम्, प्लक्षम्—द्विमात्रः? तस्मात्सवर्णग्रहणं कर्तव्यं, तस्मिंश्च क्रियमाणे दीर्घग्रहणमनुर्वतते, तस्मिन्ननुवर्तमानेऽमि पूर्व इत्यपि वक्तव्यम्॥ अथ किमर्थं पृथगुच्यते, नेहैवोच्येत प्रथमयोः पूर्वसवर्णोऽमि चेति? यदि प्रथमयोः पूर्वसवर्णदीर्घो भवत्यमि चेत्युच्यते, तेनाम्यपि दीर्घः प्रसज्येत—वृक्षम्, प्लक्षम्? नैष दोषः। दीर्घग्रहणं निवर्तयिष्यते। एवमपि पूर्वसवर्णः प्रसज्येत। सवर्णग्रहणं न करिष्यते। यदि सवर्णग्रहणं न क्रियते, पूर्वस्मिन्योगे विप्रतिषिद्धम्। यदि पूर्वो न दीर्घोऽथ दीर्घो न पूर्वः, पूर्वो दीर्घश्चेति विप्रतिषिद्धम्। तस्मादुभयमारब्धव्यं पृथक् च वक्तव्यम्॥

यह दोष नहीं है। जो पूर्व-सूत्र [अकः सवर्णे दीर्घः] में दीर्घ-ग्रहण है, वह आगे के इन सूत्रों में निवृत्त हो गया। फिर भी इस सूत्र से जो पूर्वसवर्ण किया गया है, वह अम् परे रहने पर भी [स्थानी का अन्तरतम] पूर्व सवर्ण प्राप्त होता है। वृक्षम्, प्लक्षम्—द्विमात्र [दीर्घ आकार] प्राप्त होता है?

यह दोष नहीं है। सवर्णग्रहण नहीं करेंगे। यदि सवर्णग्रहण नहीं करेंगे तो व्यवस्था किस प्रकार होगी? [किसके स्थान पर कौन आदेश होगा।] [समाधान-] आन्तर्य से ['स्थानेऽन्तरतमः' के अनुसार सदृशतम आदेश होगा।] तब तो 'अग्नी', 'वायू'—यहाँ ['इ+औ' इस त्रिमात्र के स्थान में होने वाला आदेश] त्रिमात्र [प्लुत] प्राप्त होता है। अतः सवर्ण ग्रहण करना होगा। उसके करने पर 'दीर्घ' ग्रहण की अनुवृत्ति भी लानी होगी। उसकी अनुवृत्ति होने पर 'अमि पूर्वः' भी कहना होगा।

[प्रसङ्गान्तर-] यहाँ इन्हें अलग-अलग क्यों कहा है? यहीं इस प्रकार क्यों न कह दें—'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः', 'अमि च'।

यदि ऐसा कहते हैं तो अम् परे रहने पर भी दीर्घत्व प्राप्त होगा—वृक्षम्...। यह दोष नहीं है। ['अमि च' इस वाक्यांश में] दीर्घ-ग्रहण को निवृत्त कर देंगे। फिर भी ['कुमारीम्' आदि उदाहरणों में] पूर्वसवर्ण [प्लुत] प्राप्त होने लगेगा। सवर्ण-ग्रहण नहीं करेंगे। यदि सवर्णग्रहण नहीं करेंगे तो पूर्व-योग ['प्रथमयोः पूर्वः' इस वाक्यांश] में विप्रतिषिद्ध होगा—यदि पूर्व है तो दीर्घ नहीं, यदि दीर्घ है तो पूर्व नहीं, पूर्व और दीर्घ विप्रतिषिद्ध है।

विवरण—समाधान यह देना चाहते हैं कि 'प्रथममयोः पूर्वः, अमि च' यह एक सूत्र होगा। इसमें 'प्रथमयोः पूर्वः' वाक्यांश में दीर्घ की अनुवृत्ति होगी, 'अमि

प्रथमयोरिति योगविभागः सवर्णदीर्घार्थः॥ १ ॥

प्रथमयोरिति योगविभागः कर्तव्यः। प्रथमयोरकः सवर्णदीर्घो भवति। ततः पूर्वसवर्णः। पूर्वसवर्णदीर्घो भवत्यकः प्रथमयोरिति। किमर्थो योगविभागः? सवर्णदीर्घार्थः। सवर्णदीर्घत्वं यथा स्यात्—वृक्षाः, प्लक्षाः। वृक्षान्, प्लक्षान्॥

एकयोगे हि जस्शसोः पररूपप्रसङ्गः॥ २ ॥

एकयोगे हि सति जस्शसोः पररूपं प्रसज्येत—वृक्षाः, प्लक्षाः। वृक्षान्, प्लक्षान्॥ ननु च पूर्वसवर्णदीर्घत्वं पररूपं बाधिष्यते! नोत्सहते बाधितुम्। किं कारणम्?

आद्गुणयणादेशयोरपवादा वृद्धिसवर्णदीर्घपूर्वसवर्णादेशास्तेषां पररूपं स्वरसंधिषु॥ ३ ॥

च' में नहीं। इससे 'अग्नी' इत्यादि में 'इ औ' के स्थान में पूर्व अक्षर के समान दीर्घ होगा। 'अग्निम्' में 'अमि च' से पूर्व-पर के स्थान में पूर्व-अक्षर के समान रूप होगा।

दोष यह है कि सूत्र में पूर्व-आकृति का अतिदेश है तो 'कुमारीम्' आदि में आन्तर्य से इत्व आकृति के अन्तर्गत प्लुत का अतिदेश होगा। यदि पूर्व-व्यक्ति का अतिदेश है तो 'प्रथमयोः पूर्वः' में 'पूर्वः दीर्घः' का विरोध होगा। क्योंकि 'अग्नी' में जो पूर्व-व्यक्ति ह्रस्व है, वह दीर्घ नहीं है। यह सम्भव नहीं है कि एक ही सूत्र में 'प्रथमयोः पूर्वः' यह पूर्व-आकृति का अतिदेश हो, 'अमि च' में पूर्व-व्यक्ति का। अतः दोष अवस्थित है।

वा०—'प्रथमयोः' यह योगविभाग, सवर्णदीर्घ के लिए।

भा०—'प्रथमयोः' यह योगविभाग करना चाहिये। 'प्रथमा, द्वितीया विभक्ति परे रहने पर अक् को सवर्ण-दीर्घ होता है। पश्चात् 'पूर्वसवर्णः' इन्हें पूर्वसवर्ण-दीर्घ होता है। यह योगविभाग किसलिये है? सवर्ण-दीर्घ के लिए। [पररूप को बाध कर] सवर्णदीर्घत्व हो—वृक्षाः....।

वा०—एक सूत्र होने पर जस्, शस् में पररूप-प्रसङ्ग।

भा०—एक सूत्र होने पर जस् शस् परे होने पर पररूप प्राप्त होगा। ['अतो गुणे' सूत्र से।] वृक्षाः...। क्यों, यहाँ पूर्वसवर्णदीर्घत्व पररूप को बाध लेगा! बाधन के लिए उत्साहित नहीं हो पाएगा। क्या कारण है?

वा०—स्वरसन्धि में आद्गुण, यणादेश के अपवाद वृद्धि, सवर्णदीर्घ, पूर्वसवर्ण आदेश उनका [अपवाद] पररूप है।

आद्गुणयणादेशावुत्सर्गौ। तयोरपवादा वृद्धिसवर्णदीर्घपूर्वसवर्णादेशाः। तेषां सर्वेषां पररूपमपवादः, तत्सर्वबाधकम्। सर्वबाधकत्वात्प्राप्नोति॥ अथ क्रियमाणेऽपि योगविभागे यावता पररूपमपवादः कस्मादेव न बाधते? योगविभागोऽन्यशास्त्रनिवृत्त्यर्थः। योगविभागोऽन्यशास्त्रनिवृत्यर्थो विज्ञायते॥

योगविभागोऽन्यशास्त्रनिवृत्त्यर्थश्चेदम्यतिप्रसङ्गः॥ ४॥

योगविभागोऽन्यशास्त्रनिवृत्त्यर्थश्चेदम्यतिप्रसङ्गो भवति—वृक्षम्, प्लक्षम्। यथैव हि योगविभागः पररूपं बाधते, एवममि पूर्वत्वमपि बाधेत॥

नकाराभावश्च तस्मादित्यनन्तरनिर्देशात्॥ ५॥

नत्वस्य चाभावः—वृक्षान्, प्लक्षान्। किं कारणम्? तस्मादित्यनन्तर-निर्देशात्। तस्मादित्यनेनानन्तरो योगः प्रतिनिर्दिश्यते। किं पुनः कारणं तस्मादित्यनेनानन्तरो योगः प्रतिनिर्दिश्यते? इह मा भूत्—एतान् गाः पश्य॥

भा०—आद्गुण, यणादेश उत्सर्ग हैं। उनके अपवाद वृद्धि, सवर्ण-दीर्घ, पूर्वसवर्ण आदेश हैं। उन सबका अपवाद पररूप है। [इस प्रकार पररूप के तृतीय कक्षा वाला होने से] वह सबका बाधक है। सबका बाधक होने से वह [पररूप] प्राप्त होता है।

भा०—अच्छा, योगविभाग करने पर भी जब पररूप अपवाद है तो वह [पूर्वसवर्ण-दीर्घ को] क्यों नहीं बाध लेता? योगविभाग अन्य शास्त्र-कार्यों की निवृत्ति के लिए समझा जाएगा।

वा०—योगविभाग अन्यशास्त्र की निवृत्ति के लिए कहें तो अम् में अति-प्रसङ्ग।

भा०—योगविभाग अन्यशास्त्र की निवृत्ति के लिए कहें तो अम् परे रहने पर अति-प्रसङ्ग होता है। वृक्षम्...। जिस प्रकार यह योगविभाग पररूप का बाधन करता है, उसी प्रकार अमि पूर्वत्व का भी बाधन करने लगेगा। [क्योंकि 'अमि पूर्वः' सूत्र 'अग्निम्' आदि में सावकाश है।]

वा०—नकार का अभाव भी 'तस्मात्' इससे अनन्तर-निर्देश होने से।

भा०—नत्व का भी अभाव होगा—वृक्षान्...। क्या कारण है? क्योंकि 'तस्मात्' से अव्यवहित सूत्र का प्रतिनिर्देश है। [योगविभाग करने पर 'पूर्वसवर्णः' यह अनन्तर सूत्र होगा। 'गिरीन्' इत्यादि में इससे विहित पूर्वसवर्ण से उत्तर नत्व होगा। पर 'प्रथमयोः' से विहित 'वृक्षान्' इत्यादि में अनन्तर न होने से नत्व नहीं हो सकेगा। 'प्रथमयोः' सूत्र ऐसे इन उदाहरणों के लिए पररूप को बाध कर सवर्ण-दीर्घ करने के लिए कार्यशील माना जाएगा।]

क्या कारण है कि 'तस्मात्' से अनन्तर सूत्र का प्रतिनिर्देश है? एतान् गाः...।

अस्तु तर्ह्येकयोग एव। ननु चोक्तमेकयोगे हि जस्शसोः पररूपप्रसङ्ग इति? नैष दोषः।

इज्ग्रहणं तु ज्ञापकं पररूपाभावस्य॥ ६॥

यदयं 'नादिचि' (१०४) इतीज्ग्रहणं करोति—तज्ज्ञापयत्याचार्यः—न जस्शसोः पररूपं भवतीति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्? इज्ग्रहणस्यैतत्प्रयोजनमिह मा भूत्—वृक्षाः, प्लक्षाः। वृक्षान्, प्लक्षान्। यदि च जस्शसोः पररूपं स्यादिज्ग्रहणमनर्थकं स्यात्। पश्यति त्वाचार्यः—न जस्शसोः पररूपं भवतीति, तत इज्ग्रहणं करोति॥ नैतदस्ति ज्ञापकम्। उत्तरार्थमेतत्स्यात्—'दीर्घाज्जसि च' (१०५) इचि चेति। यद्युत्तरार्थमेतत्स्यात्तत्रैवायमिज्ग्रहणं कुर्वीत। इहापि तर्हि क्रियमाणं यद्युत्तरार्थं, न ज्ञापकं भवति॥

['गाः' में 'औतोऽम्शसोः' से आकार-आदेश विहित होने पर नत्व न हो।]

अच्छा तो फिर एक सूत्र ही हो। इस पर तो कहा था—एक सूत्र होने पर...। यह दोष नहीं है।

वा०—इच्-ग्रहण पररूप के अभाव का ज्ञापक है।

भा०—यह जो 'नादिचि' सूत्र में इच् ग्रहण किया है, उससे आचार्य ज्ञापित करते हैं कि जस्, शस् परे रहने पर पररूप नहीं होता। यह ज्ञापक किस प्रकार है? 'इच्' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि यहाँ [पूर्व-सवर्ण-दीर्घ का प्रतिषेध] न हो—वृक्षाः...। पर यदि जस्, शस् परे रहने पर पररूप होता हो, तब तो इच्-ग्रहण व्यर्थ होता। परन्तु आचार्य तो यह देखते हैं कि जस्, शस् परे रहने पर पररूप नहीं होता, तभी इच्-ग्रहण करते हैं। [इस सूत्र में 'इचि' कहने से अकार परे रहने पर पूर्वसवर्णदीर्घ का प्रतिषेध नहीं होता। परन्तु यदि इस स्थिति में पररूप होता हो, पूर्वसवर्ण-दीर्घ होता ही न हो तो यह 'नात्' प्रतिषेध स्वतः कार्यशील नहीं होगा। तब इसके निवारण के लिए 'इचि' की उपयोगिता नहीं है। फिर भी यहाँ 'इचि' ग्रहण पररूप न होने को ज्ञापित करता है।]

यह ज्ञापक नहीं है। [यह इच् ग्रहण] अग्रिम-सूत्र के लिए प्रयोजनशाली होगा—'दीर्घाज्जसि च' 'इचि च'। [ताकि दीर्घ से इच् परे रहने पर ही पूर्वसवर्ण-दीर्घ का प्रतिषेध हो। अकारादि शस् परे रहने पर 'कुमारी+अस्'=कुमारीः में न हो। इस प्रकार यहाँ पूर्वसवर्ण-दीर्घ सिद्ध हो जावे।] यदि यह अग्रिम के लिए है तब तो उसी सूत्र में इच् ग्रहण करते। यहाँ [नादिचि में] रखते हुए यदि यह 'इचि' आगे के लिए है तो [यह अकार परे रहने पर पररूप के अभाव का] ज्ञापक नहीं हो सकता।

एवं तर्हि यद्युत्तरार्थमेतत्स्यान्नैवायमिज्ग्रहणं कुर्वीत नापि जस्ग्रहणम्। एतावदयं ब्रूयाद्—दीर्घाच्छसि पूर्वसवर्णो भवतीति। तन्नियमार्थं भविष्यति—दीर्घाच्छस्येव, नान्यत्रेति। सोऽयमेवं लघीयसा न्यासेन सिद्धे यदिज्ग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः—न जस्शसोः पररूपं भवतीति॥

अथवा पुनरस्तु योगविभागः। ननु चोक्तं योगविभागोऽन्यशास्त्रनिवृत्त्यर्थश्चेदम्यतिप्रसङ्ग इति? नैष दोषः। अम्यपि योगविभागः करिष्यते। अमि। अमि यदुक्तं तन्न भवतीति। ततः पूर्वः। पूर्वश्च भवत्यमीति॥ यदप्युच्यते नकाराभावश्च तस्मादित्यनन्तरनिर्देशादिति? कः पुनरर्हति तस्मादित्यनेनानन्तरं योगं प्रतिनिर्देष्टुम्। एवं किल प्रतिनिर्दिश्येत तस्मात्पूर्वसवर्णदीर्घादिति। तच्च न। एवं प्रतिनिर्दिश्यते तस्मादको दीर्घादिति। अथवा तस्मात्प्रथमयोर्दीर्घादिति॥ अथवा पुनरस्त्वम्येकयोगः। ननु चोक्तं योगविभागोऽन्यशास्त्रनिवृत्त्यर्थश्चेदम्यतिप्रसङ्ग इति?

तब तो फिर यदि यह 'इच्' आगे के लिए होता तब तो न तो 'नादिचि' में इच् ग्रहण की जरूरत है, न ही 'दीर्घाज्जसि च' में जस् ग्रहण की। केवल इतना ही कहते 'दीर्घ से शस् परे रहने पर पूर्वसवर्ण होता है। वह नियमार्थ हो जाएगा—दीर्घ से शस् परे रहने पर ही होता है। अन्यत्र नहीं। [यदि यहाँ 'इचि' की अनुवृत्ति केवल में शस् में प्रतिषेध के निवारण के लिए है, तब तो प्रस्तुत नियम से भी कार्य सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार इस सूत्र के लिए भी 'इचि' की उपयोगिता नहीं रहती है।]

इस प्रकार इस लघुतर न्यास से सिद्ध होने पर भी जो इच्-ग्रहण किया है, उससे आचार्य ज्ञापित करते हैं कि जस्, शस् के परे रहने पर पररूप नहीं होता।

अथवा योग-विभाग-पक्ष ही परिचालित होवे। इस पर दोष कहा था—योगविभाग होने पर अम् परे रहने पर पूर्वसवर्ण-दीर्घ का अतिप्रसङ्ग। यह दोष नहीं है। 'अमि पूर्वः' सूत्र में भी योगविभाग करेंगे—'अमि' अम् परे रहने पर जो भी [योगविभाग से सवर्ण-दीर्घत्व] प्राप्त हो, वह नहीं होता। पश्चात् 'पूर्वः' वहाँ पूर्वरूप भी होता है।

यह जो 'नकाराभावश्च...' दोष दिया है। तस्मात् से अनन्तर-सूत्र का निर्देश किस पक्ष में सम्भव हो सकता है? इस प्रकार प्रतिनिर्देश होगा—तस्मात्=पूर्वसवर्ण-दीर्घ से। पर यह पक्ष मान्य नहीं करेंगे। इस प्रकार प्रतिनिर्देश मान्य करेंगे—तस्मात्= अक् से उत्तर [पूर्वोक्त तीन सूत्रों से विहित] दीर्घ से। अथवा तस्मात्='प्रथमयोः' इस प्रकार नाम लेकर विहित दीर्घ से।

अथवा अमि [पूर्वः] यह एकसूत्रपक्ष मान्य होवे। इस पर तो पूर्वोक्त दोष कहा था?

नैषः दोषः। मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते इत्येवं योगविभागः पररूपं बाधिष्यतेऽमि पूर्वत्वं न बाधिष्यते। यद्येतदस्ति मध्येऽपवादाः पुरस्तादपवादा इति नार्थ एकेनापि योगविभागेन। पुरस्तादपवादा अनन्तरान्विधीन् बाधन्त इत्येवं पररूपं सवर्णदीर्घत्वं बाधिष्यते प्रथमयोः पूर्वसवर्णदीर्घत्वं न बाधिष्यते॥

अथवा सप्तमे योगविभागः करिष्यते। इदमस्ति—'अतो दीर्घो यञि', 'सुपि च' (७.३.१०१, १०२) इति। ततो वक्ष्यामि बहुवचने। बहुवचने चातो दीर्घो भवति। ततो झल्येत्। एकारश्च भवति बहुवचने झलीति॥ इहापि तर्हि प्राप्नोति, वृक्षाणाम्, प्लक्षाणाम्? तत्र को दोषः? दीर्घत्वे कृते ह्रस्वाश्रयो नुण्न प्राप्नोति। इदमिह संप्रधार्यम्—दीर्घत्वं क्रियतां नुडिति, किमत्र कर्तव्यम्? परत्वाद्दीर्घत्वम्। नित्यं खल्वपि दीर्घत्वम्। कृतेऽपि नुटि प्राप्नोत्यकृतेऽपि। नित्यत्वात्परत्वाच्च दीर्घत्वे कृते

यह दोष नहीं है। मध्य में विहित अपवाद पूर्व-विधि का बाधन करते हैं' इस परिभाषा के अनुसार यह योगविभाग पररूप का बाधन करेगा, अम् परे रहने पर पूर्वत्व का नहीं।

यदि ये परिभाषाएँ—मध्येऽपवादाः, 'पुरस्तादपवादाः' मान्य है तब तो एक भी योगविभाग की आवश्यकता नहीं है। 'पूर्व-स्थान में प्रोक्त अपवाद समीपवर्ती विधियों के बाधक होते हैं, इस परिभाषा के अनुसार यह [पूर्व-स्थान प्रोक्त] पररूप [समीपवर्ती] 'अकः सवर्णे दीर्घः' का बाधक होगा। [दूरवर्ती] 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से विहित दीर्घत्व का बाधक नहीं होगा।

अथवा—सप्तम-अध्याय में योगविभाग करेंगे। इस प्रकार 'अतो दीर्घो यञि', 'सुपि च'। उसके पश्चात् कहेंगे—'बहुवचने'। बहुवचन परे रहने पर अकारान्त अङ्ग को दीर्घ होता है। [इससे प्रथमा बहुवचन में 'वृक्ष अस्' इस दशा में, इससे दीर्घ होकर 'वृक्षा अस्' बनने पर अब पररूप की प्राप्ति नहीं है। 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ होगा। यहाँ 'दीर्घाज्जसि च' पूर्व-सवर्ण-दीर्घ का प्रतिषेध होने से 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ होगा। परन्तु द्वितीया बहुवचन में इस योगविभाग से दीर्घ हो जाने पर पूर्व-सवर्ण-दीर्घ होकर रूप-सिद्ध हो सकेगा।] उसके पश्चात् 'झल्येत्' झलादि बहुवचन परे रहने पर एकार होता है।

तब तो यहाँ भी पाता है—[वृक्ष+आम् इस दशा में] 'वृक्षाणाम्' रूप में। तो उसमें क्या दोष है? दीर्घत्व करने के पश्चात् ['ह्रस्वनद्यापो नुट्' (७.१.५४) से] ह्रस्व के आश्रित नुट् नहीं पाता? इस पर सम्प्रधारणा करें—पहले दीर्घत्व करें या नुट्। क्या करना चाहिए? परत्व से दीर्घत्व। दीर्घत्व नित्य भी है। नुट् करने पर भी पाता है, न करने पर भी। नित्य होने से तथा पर होने से, दीर्घत्व करने के पश्चात्

ह्रस्वाश्रयो नुण्न प्राप्नोति। एवं तर्ह्याद्ग्रहणमिहापि प्रकृतमनुवर्तते। क्व प्रकृतम्? 'आज्जसेरसुक्' (७.१.५०) इति। तेन कृतेऽपि दीर्घत्वे नुड्-भविष्यति। इहापि तर्हि प्राप्नोति—कीलालपाम्, शुभंयाम्। आतो लोपोऽत्र बाधको भविष्यति। इदमिह संप्रधार्यम्—लोपः क्रियतां नुडिति? किमत्र कर्तव्यम्? परत्वान्नुट्। एवं तर्हि ह्रस्वनद्यापो नुडित्यत्र 'आतो धातोः (६.४.१४०) इत्यातो लोपः सम्बन्धमनुवर्तिष्यते। इहापि तर्हि प्राप्नोति—कालीलपानां ब्राह्मणकुलानाम्। नपुंसकस्य नेत्यप्यनुवर्तिष्यते॥

तस्माच्छसो नः पुंसि॥ ६.१.१०३॥

ह्रस्व के आश्रित नुट् नहीं पाता। अच्छा तो फिर प्रकृत 'आत्' ग्रहण यहाँ भी अनुवृत्त होता है। कहाँ से प्रकृत है? 'आज्जसेरसुक्' सूत्र से। इससे दीर्घत्व कर लेने पर भी [सवर्ण-ग्रहण द्वारा दीर्घ-आकार का भी ग्रहण होने से] नुट् हो सकेगा। तब तो यहाँ भी [नुट्] प्राप्त होता है—'कीलालपाम्...'। ['कीलालपा+आम्' इस दशा में दीर्घ आकारान्त होने से।] यहाँ 'आतो धातोः' (६.४.१४०) से विहित लोप बाधक हो जाएगा। यह सम्प्रधारणा करें कि पहले लोप करें या नुट्। क्या करना चाहिए? परत्व से नुट् [इससे दोष तदवस्थित है।] अच्छा तो फिर 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (७.१.५४) इस सूत्र में 'आतो धातोः' (६.४.१४०) इस सूत्र के सम्बन्ध का अनुवर्तन करेंगे। ['आतो धातोः' इस पूरे सूत्र की अनुवृत्ति 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इस सुदूर सूत्र तक ले जाएंगे। 'महतो वंशस्तम्बाल्लट्वाऽनुकृष्यते' इसी को कहते होंगे!! इससे नुट् करते समय आकारान्त-धातु के आकार का तो लोप ही होगा।]

तब तो फिर यहाँ भी पाता है—कीलालपानां ब्राह्मणकुलानाम्। [यहाँ नपुंसक-शब्द होने से 'ह्रस्वो नपुंसके...' (१.२.४७) से ह्रस्व होने के पश्चात् पूर्वोक्त 'बहुवचने' योगविभाग से पुनः दीर्घत्व होगा। इस सम्बन्ध-अनुवर्तन से इस आकार का लोप प्राप्त होगा। नुट् नहीं हो सकेगा।] 'नपुंसकस्य न' इसका भी सम्बन्ध अनुवर्तन करेंगे। ['स्वमोर्न-पुंसकात्' (७.१.२३) से नपुंसक ग्रहण तथा 'नेतराच्छन्दसि' (७.१.२६) से 'न' का सम्बन्ध अनुवर्तन करेंगे।]

विशेष—यह समझना आसान नहीं है कि पूर्वोक्त परिभाषा से आसान-विधि से सिद्ध होने पर भी सप्तम में योगविभाग से सिद्ध करने के लिए इतनी असम्भावित परिकल्पना क्यों करना चाहिए! इसके लिए 'नपुंसकात्' का विभक्ति-विपरिणाम भी करना होगा तथा इसके साथ 'न' की अनुवृत्ति के लिए अनुवर्तन के सह-प्रवर्तन के सिद्धान्त का विरोध भी करना होगा।

तस्माच्छसो नः पुंसि॥

किमिदं नत्वं पुंसां बहुत्वे भवत्याहोस्वित्पुंशब्दाद्बहुषु? कश्चात्र विशेषः?

नत्वं पुंसां बहुत्वे चेत्पुंशब्दादिष्यते स्त्रियाम्।

तन्न सिध्यति। भ्रूकुंसान्पश्येति॥

नपुंसके तथैवेष्टं

तन्न सिध्यति। षण्ढान् पश्य। पण्डकान् पश्येति॥

स्त्रीशब्दाच्च प्रसज्यते॥ १॥

भा०—क्या यह नत्व पुल्लिङ्ग के बहुत्व में होता है या पुल्लिङ्ग-शब्द से [जिस किसी के भी] बहुत्व में होता है।

विवरण—कुछ शब्द नित्य-पुल्लिङ्ग या नित्य-स्त्रीलिङ्ग होते हैं। ऐसे शब्दों का लिङ्ग नियत होने से वे पुल्लिङ्ग में बने रहते हैं पर स्त्रीलिङ्ग के एकत्व आदि को प्रकट करते हैं। या स्त्रीलिङ्ग में बने रह कर पुल्लिङ्ग के वचन को ज्ञापित करते हैं।

यहाँ भाष्यप्रोक्त प्रथम-पक्ष के लिए शस् से बोधित बहुत्व का अध्याहार करना होता है। इस प्रकार पुम्बहुत्व से शस् को विशेषित करते हैं—पुम्बहुत्व में वर्तमान शस् को नकार। इस पक्ष में यदि नित्य-पुल्लिङ्ग शब्द से उत्पन्न शस् प्रत्यय स्त्रीलिङ्ग के बहुत्व को प्रकट करे तो वहाँ नत्व नहीं हो सकेगा। द्वितीय-पक्ष में पुम् से प्रकृति को विशेषित करते हैं। अतः 'पुम् प्रकृति से उत्पन्न किसी भी लिङ्ग के बहुत्व में वर्तमान शस् को नकार' यह अर्थ होता है। इसके अनुसार यदि शस् प्रत्यय स्त्रीलिङ्ग के बहुत्व को प्रकट करे, पर वह शब्द नियत-पुल्लिङ्ग में वर्तमान हो तो वह नत्व का भागी हो जाएगा।

भा०—इन दोनों पक्षों में क्या विशेष है?

का०—यदि पुल्लिङ्ग के बहुत्व में वर्तमान [शस् को] नत्व है, यह कहें तो [नित्य] पुंशब्द से स्त्रीलिङ्ग के [बहुत्व में उपस्थित शस् को नत्व] अभीष्ट है, वह सिद्ध नहीं होता। भ्रूकुंसान् पश्य। ['भ्रूकुंस' स्त्रीवेशधारी पुरुष नर्तक को कहते हैं। यहाँ 'भ्रूकुंस' शब्द पुल्लिङ्ग है, पर शस् प्रत्यय स्त्रीत्व विशिष्ट के बहुत्व को प्रकट करता है। यहाँ नत्व नहीं पाता।]

का०—नपुंसक में भी उसी प्रकार इष्ट है।

भा०—वह भी सिद्ध नहीं होता। 'षण्ढान् पश्य...'। ['षण्ढ' शब्द प्रसव में असमर्थ नपुंसक का वाचक है। यहाँ 'षण्ढ' शब्द पुल्लिङ्ग है, पर यह नपुंसक के बहुत्व को प्रकट करता है।]

का०—स्त्री शब्द से प्राप्त होता है।

स्त्रीशब्दाच्च प्राप्नोति—चञ्चाः पश्य। वध्रिकाः पश्य। खरकुटीः पश्य॥ अस्तु तर्हि पुंशब्दाद्बहुषु।

पुंशब्दादिति चेदिष्टं स्थूरापत्यं न सिध्यति।

स्थूरान् पश्येति॥

कुण्डिन्या अररकायाः

अपत्यं च न सिध्यति। कुण्डिनान् पश्य, अररकान् पश्य॥

पुंस्प्राधान्यात्प्रसिध्यति॥ २॥

पुंस्प्रधाना एते शब्दास्ततो नत्वं भविष्यति॥

भा०—जैसे चञ्चाः पश्य...। [=खेतों में चिड़ियों को भगाने के लिए आकृति (तृणपुरुष) के समान मनुष्य-आकृति को देखो।) [यह चञ्चा-शब्द नियत-स्त्रीलिङ्ग में है, पर शस्-प्रत्यय पुम्बहुत्व को प्रकट करता है। अतः यहाँ नत्व प्राप्त होता है।]

अच्छा तो फिर द्वितीय-पक्ष 'पुम् शब्द से किसी के भी बहुत्व में' मान्य हो।

का०—पुंशब्द से इष्ट हो तो स्थूरा के अपत्य में सिद्ध नहीं होता।

भा०—स्थूरान् पश्य (=स्थूरा के अपत्यों को देखो।) [यहाँ 'स्थूराया अपत्यानि' विग्रह के अनुसार 'स्थूरा' से 'गर्गादिभ्यो यञ्' (४.१.१०५) से यञ्। उसका 'यञञोश्च' (२.४.६४) से लुक्। उसके लुक् होने पर 'लुक् तद्धितलुकि' (१.२.४९) से टाप् का भी लुक्। यहाँ टाप् के लुक् होने पर भी 'स्थूर' शब्द स्त्रीलिङ्ग में है। शस् प्रत्यय पुल्लिङ्ग अपत्यगत बहुत्व को प्रकट करता है, यह मान कर दोष दे रहे हैं।]

का०—कुण्डिन्याः, अररकायाः।

भा०—अपत्यम् इस अर्थ में निष्पन्न शब्द भी सिद्ध नहीं होता। कुण्डिनान् पश्य...। ['कुण्डिन्या अपत्यम्' इस विग्रह के अनुसार 'कुण्डिनी' शब्द से पूर्वोक्त-सूत्र से यञ्। 'आगस्त्यकौण्डिन्ययो...' (२.४.७०) से यञ् का लुक् तथा कुण्डिनी को 'कुण्डिन' आदेश। यह स्त्रीलिङ्ग के स्थान में आदिष्ट होने से मूलतः स्त्रीलिङ्ग शब्द है। इसी प्रकार 'अररकाया अपत्यम्' विग्रह अनुसार भी पूर्ववत् यञ्, लुक् आदि हुए हैं।]

वा०—पुल्लिङ्ग के प्राधान्य होने से सिद्ध होता है।

भा०—ये शब्द पुल्लिङ्ग प्रधान वाले हैं, अतः नत्व हो जाएगा।

विवरण—'स्थूरान् पश्य' जैसे उदाहरणों में टाप् प्रत्यय के विलोप से स्त्रीलिङ्ग की तथा यञ् प्रत्यय के विलोप से पुल्लिङ्ग की सूचना मिलती है। कभी-कभी अभाव भी सूचना देने में सहायक होते हैं। जैसे अनुदात्त तथा स्वरित चिह्नों के

पुंस्प्राधान्ये त एव स्युर्ये दोषाः पूर्वचोदिताः।

भ्रूकुंसान् पश्य। षण्ढान् पश्य। पण्डकान् पश्य। चञ्चाः पश्य। वध्रिकाः पश्य। खरकुटीः पश्येति॥ तस्माद्यस्मिन्पक्षेऽल्पीयांसो दोषास्तमास्थाय प्रतिविधेयं दोषेषु॥

नत्वं पुंसां बहुत्वे चेत्पुंशब्दादिष्यते स्त्रियाम्।
नपुंसके तथैवेष्टं स्त्रीशब्दाच्च प्रसज्यते॥ १॥
पुंशब्दादिति चेदिष्टं स्थूरापत्यं न सिध्यति।
कुण्डिन्या अररकायाः पुंस्प्राधान्यात्प्रसिध्यति॥ २॥
पुंस्प्राधान्ये त एव स्युर्ये दोषाः पूर्वचोदिताः।
तस्मादर्थे भवेन्नत्वं वध्रिकादिषु युक्तवत्॥ ३॥

अभाव से उदात्त स्वर का सङ्केत प्राप्त होता है। इस प्रक्रिया से प्रस्तुत उदाहरण में 'स्थूर' शब्द स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिङ्ग दोनों है। पर व्याकरण में उत्तरवर्ती प्रत्यय का अर्थ प्रधान होता है। अतः 'स्थूर' को पुल्लिङ्ग या पुम् प्रकृति वाला शब्द माना जाएगा। इससे इस द्वितीय-पक्ष में नत्व सिद्ध हो जाएगा।

का०—पुल्लिङ्ग के प्राधान्य होने पर वे ही दोष होंगे जो पहले कहे गए हैं। भ्रूकुंसान् पश्य...।

विवरण—पूर्वोक्त व्याख्या के अनुसार 'चञ्चा' आदि में मनुष्य अर्थ की प्रधानता होने से इसे पुम् प्रकृतिवाला शब्द माना जाएगा। तब तो इस पक्ष में यहाँ भी नत्व की प्राप्ति होगी।

भा०—अतः जिस पक्ष में कम दोष हैं, उसे स्वीकार करते हुए उन दोषों का समाधान कर लेना चाहिए।

का०—इसलिए [शास्त्रीय] अर्थ में नत्व होता है। वध्रिका आदि में युक्तवत् होने से [नत्वाभाव होता है।]

विवरण—वास्तव में शास्त्रीय अर्थ पक्ष मानने पर किसी भी उदाहरण में दोष नहीं है। इसके अनुसार प्रधान अप्रधान आदि सभी विषयों को छोड़ते हुए जो शब्द जिस लिङ्ग वाले के रूप में शास्त्र में मान्य है तथा लोक में प्रचलित है, उसे उसी प्रकृति वाला स्वीकार कर लिया जाएगा। इसी व्याख्या के अनुसार 'नपुंसक' वाचक 'षण्ढ' शब्द भी पुल्लिङ्ग है तथा स्त्रीवाचक भ्रूकुंस शब्द भी पुल्लिङ्ग है। इसी के अनुसार 'स्थूर' शब्द प्रधान पुमर्थ का वाचक होकर पुल्लिङ्ग है तथा 'चञ्चा' शब्द प्रधान पुमर्थ का वाचक होने पर भी स्त्रीलिङ्ग माना जाएगा। तदनुसार नत्व की व्यवस्था होगी।

चञ्चा, वध्रिका आदि शब्दों के प्रधान पुमर्थ होने पर भी इनके स्त्रीलिङ्ग

अमि पूर्वः ॥ ६.१.१०७॥

वा छन्दसीत्येव। यमीं च यम्यं च। शमीं च (काठ० सं० ३६.६), शम्यं च। गौरीं च गौर्यं च (ऋ० ४.१२.६)। किशोरीं च किशोर्यं च॥

संप्रसारणाच्च ॥ ६.१.१०८ ॥

वा छन्दसीत्येव। मित्रावरुणौ यज्यमानः। मित्रावरुणौ इज्यमानः ॥

संप्रसारणात्परपूर्वत्वे समानाङ्गग्रहणमसमानाङ्गप्रतिषेधार्थम्॥ १ ॥

संप्रसारणात्परपूर्वत्वे समानाङ्गग्रहणं कर्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? असमानाङ्गप्रतिषेधार्थम्। असमानाङ्गस्य मा भूदिति—शकह्वर्थम्, परिव्यर्थम्॥

सिद्धमसंप्रसारणात्॥ २ ॥

मानने की 'लुपि युक्तवत्...' (१.२.५१) से शास्त्रीय व्यवस्था भी है। वास्तव में यह व्यवस्था लोक में प्रचलित लिङ्ग की शास्त्रीय स्वीकृति मात्र है। इससे भी वध्रिका आदि में नत्व नहीं होगा।

अमि पूर्वः ॥

भा०—छन्द में विकल्प से—इसकी अनुवृत्ति होगी। अतः 'यमीं च यम्यं च' आदि दोनों प्रकार के रूप बनते हैं।

सम्प्रसारणाच्च ॥

भा०—छन्द में विकल्प से होता है—इसकी अनुवृत्ति होगी। इससे 'मित्रावरुणौ यज्यमानः...' आदि दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

वा०—सम्प्रसारण से उत्तर पूर्वत्व में समानाङ्गग्रहण असमानाङ्ग के प्रतिषेध के लिए।

भा०—सम्प्रसारण से उत्तर [पूर्व-पर के स्थान में] पूर्वरूपत्व के प्रसङ्ग में समानाङ्ग-ग्रहण करना चाहिए। [ताकि सम्प्रसारण तथा उससे परे अच् एक अङ्ग में होने पर ही पूर्वरूप-एकादेश हो।] क्या प्रयोजन है? असमान अङ्ग में [पूर्वरूप] न हो। शकह्वर्थम्। [यहाँ 'शकह्वा' के व् को सम्प्रसारण के पश्चात् 'शकहु+आ' इस दशा में, प्रस्तुत-सूत्र से पूर्वरूप होने पर 'शकहू+अर्थम्' इस दशा में 'अन्तादिवच्च' से ऊकार-एकादेश अन्तवत् होने से सम्प्रसारण माना जाएगा। अतः इससे उत्तर अन्य अङ्ग अकार को पूर्वरूप प्राप्त होता है। इस वार्तिक से नहीं होता।]

वा०—असम्प्रसारण होने से सिद्ध।

सिद्धमेतत्। कथम्? असंप्रसारणात्? कथमसम्प्रसारणम्? वाक्यस्य संप्रसारणसंज्ञा, न वर्णस्य॥ अथ वर्णस्य संप्रसारणसंज्ञायां दोष एव। वर्णस्य च संप्रसारणसंज्ञायां न दोषः। कथम्? अन्योऽयं संप्रसारणासंप्रसारणयोः स्थान एक आदिश्यते॥

कार्यकृतत्वाद्वा॥ ३॥

अथवा सकृत्कृतं पूर्वत्वमिति कृत्वा पुनर्न भविष्यति। तद्यथा—वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीतेति सकृदाधाय कृतः शास्त्रार्थ इति कृत्वा पुनः प्रवृत्तिर्न भवति॥ विषम उपन्यासः। युक्तं यत्तस्यैव पुनः प्रवृत्तिर्न भवति। यत्तु तदाश्रयं प्राप्नोति न तच्छक्यं बाधितुम्।

भा०—यह सिद्ध है। किस प्रकार? असम्प्रसारण होने से। यह असम्प्रसारण किस प्रकार है? वाक्य की सम्प्रसारण-संज्ञा है, वर्ण की नहीं।

विवरण—इससे 'यण् के स्थान में इक् होता है' इस वाक्य का अर्थ सम्प्रसारण-संज्ञक होता है। इस अर्थ के मानने पर इस वाक्यार्थ से उत्तर अच् न होने से यहां पूर्वरूप नहीं होगा।

'इग्यणः सम्प्रसारणम्' सूत्र में वर्णित इस वाक्यार्थ पक्ष में भी 'सम्प्रसारण से निर्वृत्त अक्षर से उत्तर पूर्वपर का पूर्वरूप' यह 'सम्प्रसारणाच्च' सूत्र का अर्थ मानना ही पड़ता है। तभी 'इष्टः', 'उक्तः' में पूर्वरूपत्व बन पाता है। परन्तु इस अर्थ को मानने पर पुनः शकहृर्थम् में पूर्वरूप की प्राप्ति होती है। अतः वर्ण की सम्प्रसारण संज्ञा के अदोष को सिद्ध करने के लिए अग्रिम भाष्य प्रस्तुत है—

वर्ण की सम्प्रसारणसंज्ञा में तो दोष ही है? वर्ण की सम्प्रसारणसंज्ञा में भी दोष नहीं है। किस प्रकार? यह सम्प्रसारण तथा असम्प्रसारण के स्थान पर कोई अन्य ही आदिष्ट होता है। [पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप होने के पश्चात् निर्मित ऊकार को सम्प्रसारण नहीं कहा जा सकता। वर्णविधि में अन्तादिवद्भाव का प्रतिषेध होने से अन्तवत् नहीं हो सकता। इस प्रकार जो स्वयं सम्प्रसारण नहीं है, उसके स्थान में 'हलः' (६.४.२) से निर्मित दीर्घ-ऊकार सम्प्रसारण नहीं कहा जा सकता।]

वा०—अथवा कार्य के कृतत्व होने से।

भा०—अथवा एक बार पूर्वरूपत्व कार्य कर लिया गया, अतः यह पुनः नहीं होगा। जैसे—'वसन्त में ब्राह्मण अग्नि का आधान करे'—एक बार आधान कर लेने पर शास्त्र का प्रयोजन पूर्ण हो गया, अतः पुनः प्रवृत्ति नहीं होती।

यह कथन समुचित नहीं। यह तो ठीक है कि [एक फल देने वाले कार्य की उसी फल के लिये] पुनः प्रवृत्ति नहीं होती। परन्तु यत्तु=जो कार्य तदाश्रयं=अलग-अलग फलों के आश्रय प्राप्त होता है, तत्=वह पुनः-पुनः किया गया कार्य बाधित नहीं हो सकता।

तद्यथा—वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निष्टोमादिभिः क्रतुभिर्यजेतेत्यग्न्याधाननिमित्तं वसन्ते वसन्त इज्यते। तस्मात्पूर्वोक्त एव परिहारः—सिद्धमसंप्रसारणादिति॥ यदि तर्हि नेदं संप्रसारणं, हूत इति दीर्घत्वं न प्राप्नोति।

दीर्घत्वं वचनप्रामाण्यात्॥ ४॥

अनवकाशं दीर्घत्वं तद्वचनप्रामाण्याद्भविष्यति॥

अन्तवत्त्वाद्वा॥ ५॥

अथवा पूर्वस्य कार्यं प्रत्यन्तवद्भवतीति दीर्घत्वं भविष्यति॥

आटो वृद्धेरियङ्॥ ६॥

आटो वृद्धिर्भवतीत्येतस्मादियङ् भवति विप्रतिषेधेन। आटो

जैसे—वसन्त में ब्राह्मण अग्निष्टोम आदि क्रतुओं से यज्ञ करे। यहाँ अग्न्याधान-निमित्तम्=अग्नि का आधान है कारण जिस फल का उस अलग-अलग फल के अधीन बार-बार हर वसन्त में यजन किया जाता है।

विवरण—एक फल के लिए किया गया यज्ञीय-कार्य एक बार सम्पन्न होता है। परन्तु उस कार्य से अन्य फल की सम्भावना दूसरी बार उपस्थित होने पर वह यज्ञीय-कार्य पुनः सम्पादित किया जाता है। अतः 'वसन्ते ब्राह्मण...' इस एक वचन के आधार पर हर वसन्त में पुनः-पुनः अग्नि का आधान होता है। प्रस्तुत उदाहरण में भी प्रथम पूर्वरूप से जो फल निष्पन्न होता है, उससे भिन्न फल अन्य पूर्वरूप से होता है। अतः दूसरी बार पूर्वरूप की प्राप्ति होती है। इस प्रकार दोष सुस्थिर रहा।

भा०—अतः पूर्वोक्त परिहार ही समुचित है—सिद्धम् असम्प्रसारणात्।

यदि यह [सम्प्रसारण के स्थान में पूर्वरूप-एकादेश] सम्प्रसारण नहीं है तो 'हूतः' यहाँ ['हलः' (६.४.२) से] दीर्घत्व नहीं पाता।

वा०—दीर्घत्व वचनप्रामाण्य से।

भा०—दीर्घत्व अनवकाश है। [सर्वत्र ऐसे ही उदाहरणों में दीर्घत्व होना है।] अतः वचन-प्रामाण्य से हो जाएगा।

वा०—अथवा अन्तवत् होने से।

भा०—अथवा पूर्व-कार्य के प्रति अन्तवत् होता है, अतः दीर्घत्व हो जाएगा। ['हलः' इस ज्ञापक से ऐसे उदाहरणों के लिए वर्णाश्रय-विधि में अन्तवत्त्व का निषेध मान लिया जाएगा।]

[प्रसङ्गान्तर-] **वा०**—आट् की वृद्धि से पहले इयङ्।

भा०—आट् की वृद्धि होती है, इससे पहले विप्रतिषेध से इयङ् हो जाता है। आट्

वृद्धिर्भवतीत्यस्यावकाशः—ऐक्षिष्ट, ऐहिष्ट। इयङोऽवकाशः—अधीयाते, अधीयते। इहोभयं प्राप्नोति—अध्यैयाताम्, अध्यैयत। इयङादेशो भवति विप्रतिषेधेन॥ नैष युक्तो विप्रतिषेधः। अन्तरङ्गाटो वृद्धिः। कान्तरङ्गता? वर्णावाश्रित्याटो वृद्धिरङ्गस्येयङादेशः। एवं तर्हीदमिह संप्रधार्यम्—आट् क्रियतामियङादेश इति, किमत्र कर्तव्यम्? परत्वादियङ्। नित्य आडागमः। कृतेऽपीयङि प्राप्नोत्यकृतेऽपि। इयङपि नित्यः। कृतेऽप्याटि प्राप्नोत्यकृतेऽपि। अनित्य इयङ्, न हि कृते आटि प्राप्नोति। किं कारणम्? अन्तरङ्गाटो वृद्धिः। यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते न तदनित्यम्। न चात्राडेवेयङो निमित्तं विहन्त्यवश्यं लक्षणान्तरमाटो वृद्धिः प्रतीक्ष्या। उभयोर्नित्ययोः परत्वादियङादेशः॥

आद्गुणात्सवर्णदीर्घत्वमाङभ्यासयोः॥ ७॥

की वृद्धि होती है, इसका अवकाश है—ऐक्षिष्ट...। ['आ ईक्षिष्ट' इस दशा में जहाँ कित् ङित् परे नहीं है।] इयङ् का अवकाश है—अधीयाते ['अधि इ आते' इस दशा में जहाँ आट् से अच् नहीं है।] यहाँ दोनों पाते हैं—अध्यैयाताम्। [अधि उपसर्गपूर्वक इङ् धातु से लङ् प्रथम पुरुष द्विवचन में 'अधि आ इ आताम्' इस दशा में इयङ् पहले होने से 'अधि आ इय् आताम्' इस दशा में पूर्वपर को वृद्धि होने से यह रूप बनता है। यदि वृद्धि पहले होती तो आय् आदेश की प्राप्ति होती।]

यह विप्रतिषेध समुचित नहीं है। आट् की वृद्धि अन्तरङ्ग है। अन्तरङ्गता किस प्रकार है? केवल दो वर्णों को मानकर आट् की वृद्धि होती है, पर इयङ् आदेश अङ्ग को मानकर होता है।

अच्छा तो फिर यह सम्प्रधारणा करें—आट् करें या इयङ्-आदेश। क्या करना चाहिए? परत्व से इयङ्। आट्-आगम नित्य है, इयङ् करने पर भी पाता है, न करने पर भी। इयङ् भी नित्य है, आट् करने पर भी पाता है, न करने पर भी। इयङ् अनित्य है, आट् करने पर नहीं पाता। क्या कारण है? आट् की वृद्धि अन्तरङ्ग है। जिसका अन्य लक्षण से निमित्त का विघात होता है, वह अनित्य नहीं होता [यह एक परिभाषा है।] यहाँ पर आट् स्वयं इयङ् के निमित्त का विघात नहीं करता। अवश्य ही अन्य लक्षण—आट् की वृद्धि की प्रतीक्षा करनी होगी। [आट् की पूर्व-पर के स्थान में वृद्धि से ही इयङ् होने में व्यवधान आता है।] दोनों के नित्य होने पर परत्व से इयङ्-आदेश होगा। [इस प्रकार कोई दोष नहीं है।]

वा०—आङ् तथा अभ्यास में आद्गुण से पहले सवर्णदीर्घत्व।

आद्गुणात्सवर्णदीर्घत्वं भवति विप्रतिषेधेन। क्व? आङभ्यासयोः। आद्गुणस्यावकाशः—खट्वेन्द्रः, खट्वोदकम्। सवर्णदीर्घत्वस्यावकाशः—दण्डाग्रम्, क्षुपाग्रम्। इहोभयं प्राप्नोति—अद्य आ ऊढा=अद्योढा। कदा आ ऊढा=कदोढा। उप इ इजतुः=उपेजतुः। उप उ उपतुः=उपोपतुः, उपोपुरिति। सवर्णदीर्घत्वं भवति विप्रतिषेधेन॥ अभ्यासार्थेन तावन्नार्थः। अस्त्वत्राद्गुणोऽयवौ च, हलादिशेषः, पुनराद्गुणो भविष्यति। भवेत्सिद्धम्—उपेजतुः, उपेजुरिति। इदं तु न सिध्यति—उपोपतुः, उपोपुरिति। अत्र ह्याद्गुणे कृत ओदन्तो निपात इति प्रगृह्यसंज्ञा, प्रगृह्यः प्रकृत्येति प्रगृह्याश्रयः प्रकृतिभावः प्राप्नोति। पदान्तप्रकरणे प्रकृतिभावः, न चैष पदान्तः। पदान्तभक्तः पदान्तग्रहणेन ग्राहिष्यते। एवं तर्ह्येतदेवात्र नास्त्योदन्तो निपात इति। किं कारणम्? लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैवेति॥ इहापि तर्हि—अद्योढा, कदोढेति, भवेद्रूपं सिद्धं स्यात्।

भा०—विप्रतिषेध द्वारा आद्गुण से पहले सवर्णदीर्घत्व होता है। कहाँ पर? आङ् तथा अभ्यास में। आद्गुण का अवकाश—खट्वा+इन्द्रः=खट्वेन्द्रः इत्यादि। सवर्णदीर्घत्व का अवकाश है—दण्डाग्रम् आदि। यहाँ दोनों पाते हैं—अद्य आ ऊढा-अद्योढा। [अभ्यास-] उप इ इजतुः—उपेजतुः [उप उपसर्गपूर्वक यज् धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, द्विवचन। सम्प्रसारण, द्विर्वचन, अभ्यास लोप के पश्चात् यह प्राप्ति है।] विप्रतिषेध से सवर्णदीर्घत्व होता है।

अभ्यास के लिए [विप्रतिषेध की] उपयोगिता नहीं है। यहाँ 'आद्गुणः' हो जावे। (उपे+इजतुः)। अय् अव् भी (उपय् इजतुः) हलादिशेष (उप इजतुः) होने पर पुनः 'आद् गुणः' हो जाएगा।

ठीक है, यह सिद्ध होगा—उपेजतुः...। यह सिद्ध नहीं होगा—उपोपतुः। यहाँ 'आद्गुणः' कर लेने पर (उपो+उपतुः) [ओत् (१.१.१५) सूत्र से] ओकारान्त निपात की प्रगृह्य संज्ञा, [प्लुतप्रगृह्या...(६.१.१२५) अनुसार प्रगृह्य के आश्रित प्रकृतिभाव पाता है।

पदान्त के प्रकरण में प्रकृति-भाव होता है। [इस सूत्र में पदान्त की अनुवृत्ति लाएँगे।] पदान्त का भाग [पूर्व के अन्तवद्भाव के द्वारा] पदान्त के ग्रहण से गृहीत होगा। अच्छा तो फिर यहाँ यही नहीं है—ओदन्त निपात। क्या कारण है? लाक्षणिक और प्रतिपदोक्त के मध्य प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण होता है। [यहाँ यह ओकारान्तता लाक्षणिक या सूत्र से निर्मित है। अतः इसका ग्रहण नहीं होगा।]

तब तो फिर 'अद्योढा...' यहाँ [विप्रतिषेध मानने पर] भी ठीक है, रूप सिद्ध हो जाएगा।

स्वरे दोषस्तु ॥ ८ ॥

स्वरे तु दोषो भवति। अद्योढा एवं स्वरः प्रसज्येत, अद्योढा इति चेष्यते॥ आङि पररूपवचनं चेदानीमनर्थकं स्यात्। नानर्थकम्। ज्ञापकार्थम्। किं ज्ञाप्यम्?

आङि पररूपवचनं तु ज्ञापकमन्तरङ्गबलीयस्त्वस्य॥ ९॥

एतज्ज्ञापयत्याचार्यः—अन्तरङ्गं बलीयो भवतीति। किं पुनरिहान्तरङ्गं किं बहिरङ्गं, यावता द्वे पदे आश्रित्य सवर्णदीर्घत्वमपि भवत्याद्गुणोऽपि। धातूपसर्गयोर्यत्कार्यं तदन्तरङ्गम्। कुत एतत्? पूर्वमुसर्गस्य हि धातुना योगो

वा०—स्वर में दोष तो।

भा०—परन्तु स्वर में दोष तो होता है। 'अद्योढा' यह स्वर प्राप्त होगा। 'अद्योढा' यह अभीष्ट है।

विवरण—'अद्य' शब्द प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त है। 'आङ्' 'गतिरनन्तरः' (६.२.४९) से पूर्वपद प्रकृतिस्वर से उदात्त है। अब यदि यहाँ विप्रतिषेध से सवर्ण- दीर्घ पहले हो तो दोनों उदात्तों का एकादेश उदात्त होगा। उसके पश्चात् 'आद्गुणः' होने पर 'स्वरितो वानुदात्ते पदादौ' (८.२.६) से एक पक्ष में गुण-एकादेश के स्वरितत्व की प्राप्ति होगी। पर यदि पहले आद्गुणः हो तथा पश्चात् 'ओमाङोश्च' (६.१.९२) से पररूप हो तो 'ओमाङोश्च' के करते समय 'स्वरितो वानुदात्ते...' सूत्र 'पूर्वत्रासिद्धम्' से असिद्ध होगा। अतः अस्वरक तथा उदात्त के स्थान में होने वाला पररूप-आदेश आन्तरतम्य से नित्य उदात्त को प्राप्त हो सकेगा।

भा०—दूसरा तथ्य यह है कि [यदि विप्रतिषेध से सवर्णदीर्घ पहले हो तो] आङ् परे रहने पर पररूप-वचन अनर्थक होने लगेगा।

यह अनर्थक नहीं है, ज्ञापनार्थ है।

विवरण—विप्रतिषेध से सवर्णदीर्घ पहले होने पर पररूप-वचन व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है कि अन्तरङ्ग-कार्य 'आद् गुणः' पहले होता है। इस प्रकार यहाँ विप्रतिषेध का निरूपण सवर्ण-दीर्घ का विधान करने के लिए नहीं, अपितु 'आद् गुणः' के पहले होने का संकेत देने के लिए है। अतः पूर्वोक्त स्वर-दोष नहीं होगा।

भा०—क्या ज्ञापनीय है?

वा०—आङ् परे रहने पर पररूप-वचन अन्तरङ्गबलीयस्त्व का ज्ञापक है।

भा०—आचार्य यह ज्ञापित करते हैं कि अन्तरङ्ग अधिक बलवान् होता है। यहाँ क्या अन्तरङ्ग है, क्या बहिरङ्ग, जबकि दो पदों का आश्रयण करके सवर्णदीर्घत्व भी होता है, 'आद् गुणः' भी। [समाधान-] धातु और उपसर्ग को मानकर निष्पादित कार्य अन्तरङ्ग है। ऐसा क्यों? उपसर्ग (आ) का धातु (ऊढा) के साथ योग

भवति, नाद्यशब्देन। किमर्थं तर्ह्यद्यशब्दः प्रयुज्यते? अद्यशब्दस्यापि समुदायेन योगो भवति॥ किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्?

प्रयोजनं पूर्वसवर्णपूर्वत्वतहिलोपटेनङेर्यङिस्मिन्ङिणलौत्व-मन्तरङ्गं बहिरङ्गलक्षणाद्वर्णविकारात्॥ १०॥

पूर्वसवर्णः प्रयोजनम्—अग्नी अत्र। वायू अत्र। पूर्वसवर्णश्च प्राप्नोति, बहिरङ्गलक्षणश्च वर्णविकार आवादेशः। पूर्वसवर्णदीर्घत्वं भवत्यन्तरङ्गतः। पूर्वसवर्ण॥ पूर्वत्व—शकह्वर्थम्, परिव्यर्थम्। पूर्वत्वं च प्राप्नोति, बहिरङ्गलक्षणश्च वर्णविकारः सवर्णदीर्घत्वम्। पूर्वत्वं भवत्यन्तरङ्गतः। पूर्वत्व॥ तहिलोप—अकार्यत्र, अहार्यत्र। पचेदम्। तहिलोपौ च प्राप्नुतः, बहिरङ्गलक्षणश्च वर्णविकारः सवर्णदीर्घत्वम्। तहिलोपौ भवतोऽन्तरङ्गतः। तहिलोप॥ टेन—वृक्षेणात्र, प्लक्षेणात्र। इनादेशश्च प्राप्नोति, बहिरङ्गलक्षणश्च वर्णविकारः सवर्णदीर्घत्वम्। इनादेशो भवत्यन्तरङ्गतः।

पहले होता है। अद्य शब्द के साथ नहीं। [यदि अद्य के साथ योग ही नहीं होता,] तो उसका प्रयोग किसलिए किया जाता है? अद्य शब्द का समुदाय के साथ [आङ् विशिष्ट ऊढा के साथ] तो योग होता ही है। इसके [अन्तरङ्गबलीयस्त्व के] ज्ञापन में क्या प्रयोजन है?

वा०—प्रयोजन यह है कि पूर्वसवर्ण, पूर्वत्व...आदि अन्तरङ्गलक्षण होकर बहिरङ्गलक्षण वर्णविकार से पहले होते हैं।

भा०—पूर्वसवर्ण प्रयोजन है—अग्नी अत्र..। ['अग्नि औ अत्र' इस दशा में 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (६.१.१०२) से] पूर्वसवर्ण भी पाता है, बहिरङ्गलक्षण वर्ण-विकार आवादेश भी। [अन्तरङ्ग होने से पूर्वसवर्ण पहले] पूर्वत्व—शकह्वर्थम्... [शकहु+आ+अर्थम् इस दशा में 'सम्प्रसारणाच्च' से] पूर्वरूपत्व भी पाता है, बहिरङ्गनिमित्तक वर्णविकार सवर्णदीर्घत्व भी। अन्तरङ्ग होने से पूर्वरूपत्व होता है।

तहिलोप—अकार्यत्र...[में 'अ कार् इ त अत्र' इस दशा में, 'चिणो लुक्' (६.४.१०४) से] तलोप तथा पचेदम् [में 'पच् अ हि अत्र' इस दशा में 'अतो हेः' (६.४.१०५) से] हिलोप भी पाता है, बहिरङ्गलक्षण वर्णविकार सवर्ण-दीर्घत्व भी। अन्तरङ्ग होने से त-हि-लोप पहले होते हैं।

टा के स्थान में इन—वृक्षेणात्र...[टाङसिङसाम्...(७.१.१२) से] इन आदेश भी प्राप्त होता है, बहिरङ्गलक्षण वर्ण-विकार सवर्णदीर्घत्व भी। अन्तरङ्ग होने से इन आदेश पहले होता है।

टेन॥ ङेर्य—वृक्षायात्र, प्लक्षायात्र। ङेर्यादेशश्च प्राप्नोति—बहिरङ्ग-लक्षणश्चः—वर्णविकार 'एङः पदान्तादति' (६.१.१०९) इति परपूर्वत्वम्। ङेर्यादेशो भवत्यन्तरङ्गतः। ङेर्य॥ ङिस्मिन्। यस्मिन्निदम् तस्मिन्निदम्। स्मिन्भावश्च प्राप्नोति, बहिरङ्गलक्षणश्च वर्णविकारः सवर्णदीर्घत्वम्। स्मिन्भावो भवत्यन्तरङ्गतः। ङिस्मिन्॥ ङ्णलौत्वम्—अग्नाविदम्, ययावत्र। ङ्णलौत्वं प्राप्नोति, बहिरङ्गलक्षणश्च वर्णविकारः सवर्णदीर्घत्वम्। औत्वं भवत्यन्तरङ्गतः॥ नैतानि सन्ति प्रयोजनानि। विप्रतिषेधेनाप्येतानि सिद्धानि। इदं तर्हि प्रयोजनम्—वृक्षा अत्र, प्लक्षा अत्र। पूर्व- सवर्णश्च प्राप्नोति बहिरङ्गलक्षणश्च वर्णविकारः—'अतो रोरप्लुतादप्लुते' (६.२.११३) इत्युत्वम्। पूर्वसवर्णो भवत्यन्तरङ्गतः। न चावश्यमिदमेव प्रयोजनम्। आद्ये योगे बहूनि प्रयोजनानि सन्ति, यदर्थमेषा परिभाषा कर्तव्या। प्रतिविधेयं दोषेषु॥

ङे के स्थान में य—वृक्षायात्र...['वृक्ष ए अत्र' इस दशा में 'ङेर्यः' (७.१.१३) से] ङे के स्थान में य आदेश भी प्राप्त होता है। बहिरङ्ग लक्षण वर्ण-विकार—'एङः पदान्तादति' से पर को पूर्वरूप भी। अन्तरङ्ग होने से ङे के स्थान में य आदेश पहले होता है। [इस आदेश के पश्चात् पूर्वरूप आदि प्राप्त नहीं होते।]

ङि के स्थान में स्मिन्—यस्मिन्निदम्...। ['य इ इदम्' इस दशा में 'ङसिङ्योः...' (७.१.१५) से] स्मिन्-भाव भी प्राप्त होता है, बहिरङ्गलक्षण वर्णविकार सवर्णदीर्घत्व भी। अन्तरङ्ग होने से स्मिन् आदेश पहले होता है।

ङि; णल् के स्थान में औत्व—अग्नाविदम्—'अग्नि इ इदम्' इस स्थिति में, 'औदच्च घेः' (७.३.११८) से] ङि के स्थान में तथा [ययावत्र [में 'या अ अत्र' इस स्थिति में 'आत औ णलः' (७.१.३४) से] णल् के स्थान में औत्व पाता है, बहिरङ्गलक्षण वर्णविकार सवर्णदीर्घत्व भी। अन्तरङ्ग होने से औत्व पहले होता है।

ये प्रयोजन नहीं है। ये सभी [पर] विप्रतिषेध से भी सिद्ध हैं।

तो फिर यह प्रयोजन है—वृक्षा अत्र। ['वृक्ष अर् अत्र' इस दशा में] पूर्वसवर्ण भी पाता है, बहिरङ्गलक्षण वर्ण-विकार 'अतो रोर...' से उत्व भी। अन्तरङ्ग होने से पूर्वसवर्ण पहले होता है।

ऐकान्तिक रूप से केवल यही प्रयोजन नहीं है। आद्ययोग=विप्रतिषेध (१.४.२) सूत्र में इसके अनेक प्रयोजन कहे गये हैं, जिसके लिए यह परिभाषा कहनी चाहिए। अगर कहीं दोष उपस्थित हों तो उनका समाधान कर लेना चाहिए।

ख्यत्यात्परस्य॥ ६.१.११२॥

किमिदं ख्यत्यादिति? सखिपत्योर्विकृतग्रहणम्। किं पुनः कारणं सखिपत्योर्विकृतग्रहणं क्रियते, न सखिपतिभ्यामित्येवोच्येत? नैवं शक्यम्। गरीयांश्चैव हि निर्देशः स्यात्। इह च प्रसज्येत—अतिसखेरागच्छति। अतिसखेः स्वम्। इह च न स्यात्—सखीतयेरप्रत्ययः=सख्युः, पत्युः। लूनीयतेरप्रत्ययः=लून्युः, पून्युः॥

अतो रोरप्लुतादप्लुते॥ ६.१.११३॥

किमर्थमप्लुतादप्लुत इत्युच्यते? प्लुतात्परस्य प्लुते वा परतो मा भूदिति। प्लुतात्परस्य—सुस्रोता३ अत्र न्वसि। प्लुते परतः—तिष्ठतु पय आ३ग्निदत्त।

ख्यत्यात् परस्य॥

भा०—यह ख्यत्यात् क्या है? [यणादेश किये गये] विकृत सखि, पति का ग्रहण है। क्या कारण है कि विकृत सखि, पति का ग्रहण है, क्यों न 'सखिपतिभ्याम्' इस प्रकार स्पष्ट-निर्देश कर दिया जावे।

यह सम्भव नहीं है। एक तो इससे [मात्रा का] अधिक गौरव होगा। साथ ही इससे यहाँ प्राप्त होगा—अतिसखेरागच्छति ['सखीम् अतिक्रान्तः अतिसखिः तस्मात्' इस विग्रह में 'सखि' के (सखि शब्द से 'सख्यशिश्वीति' (४.१.६२) से ङीष् तथा तदन्त को उपसर्जन ह्रस्वत्व होकर) लाक्षणिक होने से 'शेषो घ्यसखि' से घिसंज्ञा का प्रतिषेध नहीं होगा। अपितु घिसंज्ञा होगी। अतः गुण आदि होने पर यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होता।]

साथ ही यहाँ न होता—सखीयतेरप्रत्ययः—सख्युः...। [यहाँ 'विद्यमानं खम् अस्य' विग्रह के अनुसार 'सखः'। 'तम् आत्मनः इच्छति' विग्रह के अनुसार क्यच्, 'क्यचि च' (७.४.३३) से ईत्व होने पर 'सखीय' धातु से क्विप्, 'अतो लोपः' (६.४.४८) से अलोप, 'लोपो व्योर्वलि' (६.१.६४) से यलोप होने पर क्विप् का सम्पूर्ण लोप, कृदन्त होने से प्रातिपदिकसंज्ञा होकर विभक्ति आने पर सखी+अस्, यणादेश होने पर 'सख्यस्' बन जाने पर इस सूत्र से उत्व न होता। क्योंकि यह निर्मित 'सखी' लाक्षणिक रूप है।]

अतो रोरप्लुतादप्लुते॥

भा०—यहाँ 'अप्लुतादप्लुते' किसलिये कहा है? [समाधान-] प्लुत से परे या प्लुत परे रहने पर न हो। प्लुत से परे—सुस्रोता३ अत्र न्वसि। प्लुत परे रहने पर—तिष्ठतु पय आ३ग्निदत्त।

अतोऽतीत्युच्यते, कः प्रसङ्ग प्लुतात्परस्य प्लुते वा परतः स्यात्? असिद्धः प्लुतस्तस्यासिद्धत्वात्प्राप्नोति? अथाप्लुतादप्लुत इत्युच्यमानेऽपि यावतासिद्धः प्लुतः कस्मादेवात्र न प्राप्नोति? अप्लुतभाविनोऽप्लुतभाविनीत्येवमेतद्विज्ञायते॥ नैतदस्ति प्रयोजनम्। सिद्धः प्लुतः स्वरसंधिषु। कथं ज्ञायते? यदयं प्लुतः प्रकृत्येति प्लुतस्य प्रकृतिभावं शास्ति। सतो हि कार्यिणः कार्येण भवितव्यम्॥

अप्लुतादप्लुतवचनेऽकारहशोः समानपदे प्रतिषेधः॥ १॥

अप्लुतादप्लुतवचनेऽकारहशोः समानपदे प्रतिषेधो वक्तव्यः। पयो३ट् पयो३द॥

सूत्र में 'अतः, अति' कहा है। [अतः तपर करण से तत्काल का ग्रहण होने से] क्या प्रसङ्ग है कि प्लुत से परे या प्लुत परे रहने पर [उत्व] प्राप्त हो।

[इस सूत्र की दृष्टि में] प्लुत असिद्ध होगा। उसके असिद्ध होने से [उत्व] प्राप्त होता है। [तपरकरण दीर्घ-आकार से उत्व के निवारण के लिए सार्थक होगा।]

अच्छा, अप्लुतात् अप्लुते कहने पर भी यदि प्लुत असिद्ध है तो यहाँ [उत्व] क्यों नहीं प्राप्त होगा? [अप्लुतात्...वचन-सामर्थ्य से] अप्लुतभावी अर्थात् 'जिस अकार को प्लुत नहीं होना है उसके परे रहने पर' यह अर्थ होगा। [उपचार से प्लुत होने से पूर्व उसके स्थानी को प्लुत कहा जाएगा।]

यह प्रयोजन नहीं है। स्वरसन्धि में प्लुत सिद्ध होता है। किस प्रकार ज्ञात होता है? यह जो [प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् (६.१.१२५) से] प्लुत को प्रकृतिभाव का शासन करते हैं। क्योंकि कार्यी (प्लुत) के होने पर ही कार्य [प्रकृतिभाव] होना चाहिए। [इससे सिद्ध है कि स्वरसन्धि करते समय प्लुत उपलब्ध रहता है। इस प्रकार तपरकरण से ही प्लुत में उत्व का निवारण सिद्ध होने से इस पक्ष में 'अप्लुताद- प्लुते' प्रत्याख्यात है।]

वा०—'अप्लुतादप्लुते' वचन में अकार हश् में समान पद में प्रतिषेध। [यहाँ वार्तिककार 'अप्लुतादप्लुते' को समर्थित मानते हुए उसकी उपस्थिति में दोष प्रस्तुत कर रहे हैं—]

भा०—'अप्लुतादप्लुते' इस वचन के सन्दर्भ में समानपद या एक ही पद में अवस्थित निमित्तभूत अकार, हश् परे रहने पर [उत्व के प्रतिषेध का] प्रतिषेध कहना चाहिये। 'पयो३ट्' [यहाँ 'पयोऽटति' इस विग्रह के अनुसार क्विप् करने पर, उसका सम्पूर्ण लोप, कृदन्त होने से प्रातिपदिक होने से सम्बुद्धि, उसका हल्ङ्यादि- लोप। इसके पश्चात् 'दूराद्धूते च' (८.२.८४) से वाक्य की टि को प्लुत होना है। अतः प्लुतभावी होने से यहाँ पहले ही उत्व प्राप्त नहीं होता है।] 'पयो३द'।

न वा बहिरङ्गलक्षणत्वात्॥ २॥

न वा वक्तव्यः। किं कारणम्? बहिरङ्गलक्षणत्वात्। बहिरङ्गः प्लुतः। अन्तरङ्गमुत्त्वम्। असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे॥ इहापि तर्हि प्राप्नोति—सुस्त्रोता३अत्र न्वसि। अन्तरङ्गोऽत्र प्लुतो बहिरङ्गमुत्त्वम्॥ क्व पुनरिहान्तरङ्गः प्लुतः, क्व वा बहिरङ्गमुत्त्वमुत्त्वं वान्तरङ्गं प्लुतो वा बहिरङ्गः? वाक्यान्तस्य वाक्यादावन्तरङ्गः प्लुतो बहिरङ्गमुत्त्वम्। समानवाक्ये पदान्तस्य पदादावुत्त्वमन्तरङ्गं बहिरङ्गः प्लुतः॥ किं पुनः कारणं बहिरङ्गत्वमुत्त्वे हेतुर्व्यपदिश्यते न पुनरसिद्धत्वमपि। यथैव ह्ययं बहिरङ्ग एवमसिद्धोऽपि? एवं मन्यते। असिद्धः प्लुत आश्रयात्सिद्धो भवति।

[यहाँ 'पयो ददाति' इस विग्रह के अनुसार 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३.२.३) से 'क' कर लेने पर 'गुरोरनृतो...' (८.२.८६) से प्लुत होना है। अतः 'हशि च' (६.१.११४) से पहले ही उत्व नहीं हो सकेगा। 'अप्लुतभावी' अर्थ मानने पर यह दोष उपस्थित होता है।]

वा०—बहिरङ्गलक्षण होने से नहीं।

भा०—नहीं कहना चाहिए। क्या कारण है? प्लुत बहिरङ्ग है, उत्व अन्तरङ्ग है। [इस प्रकार इस उत्व की दृष्टि में बहिरङ्ग प्लुत के असिद्ध होने से यह प्लुतभावी नहीं है।]

तब तो यहाँ भी पाता है—सुस्त्रोता३ अत्र न्वसि। [समाधान-] यहाँ प्लुत अन्तरङ्ग, उत्व बहिरङ्ग है। [अतः इसे प्लुतभावी माना जाएगा।] कहाँ पर प्लुत अन्तरङ्ग होता है, उत्व बहिरङ्ग। अथवा कहाँ उत्व अन्तरङ्ग होता है, प्लुत बहिरङ्ग? (समाधान-) वाक्यादि परे रहने पर वाक्यान्त का प्लुत [पदान्तर की अपेक्षा न करने के कारण] अन्तरङ्ग है। परन्तु उत्व [दो पदों की अपेक्षा करने के कारण] बहिरङ्ग है।

परन्तु एक ही वाक्य में [पयो३द आदि में] पदादि पर रहने पर पदान्त का उत्व अन्तरङ्ग है। परन्तु [दूराद्धूत आदि अर्थों की अपेक्षा करने के कारण] प्लुत बहिरङ्ग है।

क्या कारण है कि [इस वार्तिक में] उत्व करने में बहिरङ्ग प्लुत है, यह हेतु प्रदान किया जा रहा है, असिद्धत्व हेतु क्यों नहीं? जिस प्रकार [पयो३द आदि में प्लुत] बहिरङ्ग है, उसी प्रकार असिद्ध भी तो है?

यह समझते हैं कि प्लुत असिद्ध है, पर वह आश्रय से [अप्लुतादप्लुते इस वचन-सामर्थ्य से] सिद्ध माना जाएगा। इसलिए बहिरङ्ग हेतु प्रदान किया जा रहा है। [यह मान रहे हैं कि वचन-सामर्थ्य से प्रत्यासन्न पाणिनीय सूत्र में कहा गया

अथवा यस्यां नाप्राप्तायां परिभाषायामुत्त्वमारभ्यते साश्रयात्सिद्धा स्यात्। कस्यां च नाप्राप्तायाम्? असिद्धपरिभाषायाम्। बहिरङ्गपरिभाषायां पुनः प्राप्तायामप्राप्तायां च॥

नान्तःपादमव्यपरे॥ ६.१.११५॥

कस्यायं प्रतिषेधः? नान्तःपादमिति सर्वप्रतिषेधः। नान्तःपादमिति

'पूर्वत्रासिद्धम्' को अमान्य किया जाएगा। परन्तु सुदूरवर्ती परिभाषा अमान्य नहीं होगी। अतः तदाश्रित असिद्धत्व हो जाएगा।]

अथवा जिस परिभाषा की अवश्यप्राप्ति में उत्व का आरम्भ है, वह आश्रय= वचन-सामर्थ्य से सिद्ध होगी। किसकी अवश्यप्राप्ति में? असिद्ध परिभाषा—'पूर्वत्रासिद्धम्' की अवश्यप्राप्ति में। ['अतो रोर...' सूत्र के प्लुत वाले हर प्रत्युदाहरण में असिद्धत्व योग्य अष्टम अध्याय वाले प्लुत की अवश्यप्राप्ति है।]

पर बहिरङ्गपरिभाषा की तो कहीं प्राप्ति में कहीं अप्राप्ति में इसका आरम्भ है। [दूराद्धूत में प्लुत बहिरङ्ग असिद्धत्व योग्य है, अन्यत्र नहीं।

विवरण—यह वार्तिक तथा भाष्य 'अप्लुतादप्लुते' को समर्थित मान कर प्रस्तुत किया गया है। इस पक्ष में 'अप्लुतादप्लुते' वचन-सामर्थ्य से 'पूर्वत्रासिद्धम्' की प्रवृत्ति नहीं होती। अतः इस सूत्र की प्रवृत्ति के समय प्लुत सिद्ध होता है। ऐसा मानने से सुस्रोता३ अत्र न्वसि में इससे उत्व का प्रतिषेध सिद्ध हो जाता है।

परन्तु पयो३ट्, पयो३द आदि कुछ ऐसे उदाहरण हैं जहाँ उत्व अभीष्ट है। इसके समाधान में कहा है कि यहाँ उत्व अन्तरङ्ग है, पर प्लुत बहिरङ्ग है। क्योंकि प्लुत सुदूरवर्ती अर्थ की अपेक्षा करता है। अतः बहिरङ्ग के असिद्ध होने से उत्व करने में प्लुत दृश्य नहीं होगा। इससे उत्व हो जाएगा।

यह माना गया है कि यहाँ (क) 'अप्लुतादप्लुते' वचन-सामर्थ्य से यह सूत्र समीपवर्ती 'पूर्वत्रासिद्धम्' का निषेधक होगा, सुदूरवर्ती 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' का नहीं।

(ख) अथवा 'पूर्वत्रासिद्धम्' की अवश्य-प्राप्ति में विहित होने से यह सूत्र इस 'पूर्वत्रासिद्धम्' का बाधक होगा। परन्तु 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' की कहीं प्राप्ति तथा कहीं अप्राप्ति होने से यह इसका बाधक नहीं होगा। अतः 'पयो३द' में इस परिभाषा की प्रवृत्ति हो जाने से 'अप्लुतादप्लुते' प्रतिषेध नहीं लगेगा।

नान्तः पादमव्यपरे॥

भा०—यह किसका प्रतिषेध है? [क्या समीपवर्ती 'एङः पदान्तादति' का या पूर्ववर्ती सभी का प्रतिषेध है, यह प्रश्नाशय है।] 'नान्तः पादम्' यह

सर्वस्यायं प्रतिषेधः। कथम्? अचीति वर्तते। अचि यत्प्राप्नोति तस्य प्रतिषेधः।

नान्तःपादमिति सर्वप्रतिषेधश्चेदतिप्रसङ्गः॥ १॥

नान्तःपादमिति सर्वप्रतिषेधश्चेदतिप्रसङ्गो भवति। इहापि प्राप्नोति—अन्वग्निरुषसामग्रमख्यत्। प्रत्यग्निरुषसामग्रमख्यत्॥ एवं तर्ह्यतीति वर्तते। अकाराश्रयं यत्प्राप्नोति तस्य प्रतिषेधः।

अकाराश्रयमिति चेदुत्त्ववचनम्॥ २॥

अकाराश्रयमिति चेदुत्त्वं वक्तव्यम्। कालो अश्वः। शतधारो अयं मणिः॥

अयवोः प्रतिषेधश्च॥ ३॥

अयवोश्च प्रतिषेधो वक्तव्यः। सुजाते अश्वसूनृते। अध्वर्यो अद्रिभिः सुतम्। शुक्रं ते अन्यत्॥ एङ्प्रकरणात्सिद्धम्। एङोऽतीति वर्तते। एङोऽति यत् प्राप्नोति तस्य प्रतिषेधः।

एङ्प्रकरणात्सिद्धमिति चेदुत्त्वप्रतिषेधः॥ ४॥

एङ्प्रकरणात्सिद्धमिति चेदुत्त्वस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। अग्नेरत्र।

सभी का प्रतिषेध है? किस प्रकार? 'अचि' की अनुवृत्ति है। अतः अच् परे रहने पर जो भी प्राप्त है, उन सबका प्रतिषेध है।

वा०—'नान्तः पादम्' यह सबका प्रतिषेध हो तो अतिप्रसङ्ग।

भा०—यह सबका प्रतिषेध हो तो अतिप्रसङ्ग होता है। यहाँ भी प्राप्त होता है—'अन्वग्नि...' [यहाँ 'अनु' में यणादेश का प्रतिषेध प्राप्त होता है।]

अच्छा तो फिर 'अति' की अनुवृत्ति है। अकार के आश्रित [अर्थात् केवल अकार के आश्रित] जो प्राप्त होता है, उसका प्रतिषेध है। [सम्पूर्ण अच् को निमित्त मानकर विहित यणादेश का प्रतिषेध नहीं है।]

वा०—अकार के आश्रय हो तो उत्व-वचन।

भा०—अकार के आश्रय [प्रतिषेध] हो तो उत्व कहना होगा। कालो अश्व...। ['अतो रोर...' से प्राप्त उत्व का प्रतिषेध पाता है।]

वा०—अय् अव् का भी प्रतिषेध।

भा०—अय् अव् आदेश का भी प्रतिषेध कहना होगा। सुजाते...। [अय् अव् आदेश अच् को मान कर हैं। अतः उनका इससे प्रतिषेध नहीं हो सकेगा।] एङ् प्रकरण से सिद्ध है। अतः एङ् से उत्तर अकार परे रहने पर जो भी प्राप्त है, उसका प्रतिषेध होगा।

वा०—एङ्-प्रकरण से सिद्ध कहें तो उत्व का प्रतिषेध।

भा०—एङ्-प्रकरण से सिद्ध है, यह मानने पर उत्व का प्रतिषेध कहना होगा। अग्नेरत्र...।

वायोरत्र। 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' (११३) एङश्चेत्युत्त्वं प्राप्नोति॥

पुनरेङ्ग्रहणात्सिद्धम्॥ ५॥

पुनरेङ्ग्रहणं कर्तव्यम्॥ तत्तर्हि कर्तव्यम्? न कर्तव्यम्। प्रकृतमनुवर्तते। ननु चोक्तमेङ्प्रकरणात्सिद्धमिति चेदुत्त्वप्रतिषेध इति। नैष दोषः। पदान्ताभिसंबद्धमेङ्ग्रहणमनुवर्तते, न चैङः पदान्तात्परो रुरस्ति॥

अवङ् स्फोटायनस्य॥ ६.१.१२३॥

गोरग्वचनं गवाग्रे स्वरसिद्ध्यर्थम्॥ १॥

गोरग्वक्तव्यः। किं प्रयोजनम्? गवाग्रे स्वरसिद्ध्यर्थम्। गवाग्रे स्वरसिद्धिर्यथा स्यात्। गवा॑ग्रम्॥

अवङादेशे हि स्वरे दोषः॥ २॥

'अतो रोर...' यहाँ 'एङ...' के भी अनुवृत्त होने से उत्व पाता है। [यदि इस सूत्र में एङः की अनुवृत्ति हो तो मध्यवर्ती 'अतो रोर...' में भी अवश्य अनुवृत्त होगा। अतः यहाँ भी उत्व की प्राप्ति होगी।]

वा०—पुनः एङ्-ग्रहण से सिद्ध।

भा०—[इस सूत्र में] पुनः एङ्-ग्रहण करना चाहिए। तो फिर इसे कहना चाहिये? नहीं कहना चाहिए। प्रकृत अनुवृत्त है। इस पर तो 'एङ् प्रकरणात्...' दोष दिया था। यह दोष नहीं है। पदान्त से सम्बन्ध एङ्-ग्रहण अनुवृत्त है। यहाँ पदान्त एङ् से परे रु नहीं है। [इस समाधान के अनुसार 'अतो रोर...' सूत्र में 'पदान्त एङ्' की मण्डूकानुवृत्ति होगी। इससे वहाँ दोष नहीं होगा। वस्तुतः यदि मण्डूक-अनुवृत्ति ही करनी है तो सीधे इस प्रस्तुत-सूत्र में 'एङः' की अनुवृत्ति करें। 'अतो रोर...' में अनुवृत्ति करेंगे ही नहीं। इससे आसानी से सिद्ध है। काशिकाकार ने ऐसा ही किया है।]

अवङ् स्फोटायनस्य॥

वा०—गो को अक्-वचन 'गवाग्र' में स्वर-सिद्धि के लिए।

भा०—गो को अक् [आगम] कहना चाहिए। क्या प्रयोजन है? ताकि 'गवाग्र' में स्वर-सिद्धि हो जावे। ग्रवा॑ग्रम्। [यहाँ गो शब्द 'फिषोऽन्तोदात्तः' इस फिट् सूत्र (१.१) अनुसार अन्तोदात्त है। इसे विहित अक्-आगम 'आगमा अनुदात्ता भवन्ति' वचन के अनुसार अनुदात्त होगा। इसे अग्र के साथ बहुव्रीहि-समास होने पर 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या...' (६.२.१) से पूर्वपद-प्रकृति-स्वर होने पर आद्युदात्त सिद्ध होता है।]

वा०—अवङ्-आदेश में स्वर में दोष।

अवङादेशे हि स्वरे दोषः स्यात्। अन्तोदात्तस्यान्तर्यतोऽन्तोदात्त आदेशः प्रसज्येत! कथं पुनरयमन्तोदात्तो यदैकाच्? व्यपदेशिवद्भावेन। यथैव तर्हि व्यपदेशिवद्भावेनान्तोदात्त एवमाद्युदात्तोऽपि, तत्रान्तर्यत आद्युदात्तस्याद्युदात्त आदेशो भवति। सत्यमेवमेतत्। न त्विदं लक्षणमस्ति—प्रातिपदिकस्यादिरुदात्तो भवतीति। इदं पुनरस्ति—प्रातिपदिकस्यान्त उदात्तो भवतीति। सोऽसौ लक्षणेनान्तोदात्तस्तत्रान्तर्यतोऽन्तोदात्तस्यान्तोदात्त आदेशः प्रसज्येत॥

यदि पुनर्गमेर्डो विधीयेत। किं कृतं भवति? प्रत्ययाद्युदात्तत्वे कृत आन्तर्यत आद्युदात्तस्याद्युदात्त आदेशो भविष्यति। कथं पुनरयमाद्युदात्तो यदैकाच्? व्यपदेशिवद्भावेन। यथैव तर्हि व्यवपदेशिवद्भावेनाद्युदात्त एवमन्तोदात्तोऽपि, तत्रान्तर्यतोऽन्तोदात्तस्यान्तोदात्त आदेशः प्रसज्येत! सत्यमेवमेतत्। न त्विदं लक्षणमस्ति प्रत्ययस्यान्त उदात्तो भवतीति। इदं पुनरस्ति प्रत्ययस्यादिरुदात्तो भवतीति। सोऽसौ लक्षणेनाद्युदात्त-स्तत्रान्तर्यत आद्युदात्तस्याद्युदात्त आदेशो भविष्यति॥

भा०—[गो के ओ के स्थान में] अवङ्-आदेश होने पर स्वर में दोष होगा। अन्तोदात्त [ओ के स्थान में] आन्तर्य से अन्तोदात्त-आदेश की प्राप्ति होगी। यह अन्तोदात्त किस प्रकार है, जबकि यह एकाच् है? [समाधान-] व्यपदेशिवद्भाव से। जिस प्रकार यह व्यपदेशिवद्भाव से अन्तोदात्त है, उसी प्रकार आद्युदात्त भी है। तब आन्तर्य से आद्युदात्त के स्थान में आद्युदात्त आदेश पाएगा—सिद्ध हो सकेगा। यह सच है। परन्तु यह लक्षण नहीं है कि प्रातिपदिक को आद्युदात्त होता है। परन्तु [फिषोऽन्तोदात्तः से] यह तो है कि प्रातिपदिक को अन्तोदात्त होता है। इस प्रकार यह लक्षण से अन्तोदात्त ही सिद्ध होता है। तब [अवङ्-आदेश करने पर] आन्तर्य से अन्तोदात्त के स्थान में अन्तोदात्त-आदेश प्राप्त होगा। [यह दोष अवस्थित रहा।]

[पुनः समाधान-] यदि गम् से डो ('गमेर्डोः उणा० २.६८ से') का विधान करें तो! [आद्युदात्त-विधान के लिए व्युत्पत्ति-पक्ष का आश्रय करें तो कैसा रहेगा।] उससे क्या होगा? प्रत्यय को आद्युदात्त करने पर आन्तर्य से आद्युदात्त के स्थान में आद्युदात्त-आदेश होगा। यह आद्युदात्त किस प्रकार है, जबकि यह एकाच् है? व्यपदेशिवद्भाव से। जिस प्रकार यह व्यपदेशिवद्भाव से आद्युदात्त है, उसी प्रकार अन्तोदात्त भी है। तब आन्तर्य से अन्तोदात्त के स्थान में अन्तोदात्त-आदेश पाएगा! यह सच है, पर यह लक्षण नहीं है कि प्रत्यय को अन्तोदात्त होता है। पर [आद्युदात्तश्च (३.१.३) से] यह तो है कि प्रत्यय को आद्युदात्त होता है। इस प्रकार यह लक्षण से आद्युदात्त होता है। तब इस [आद्युदात्त-प्रत्यय के स्थान में] आन्तर्य से आद्युदात्त [अवङ्] आदेश हो जाएगा। [इससे समाधान हो गया।]

एतदप्यादेशे नास्त्यादेशस्यादिरुदात्तो भवतीति। प्रकृतितोऽनेन स्वरो लभ्यः। प्रकृतिश्चास्य यथैवाद्युदात्ता, एवमन्तोदात्तापि॥ एवं तर्ह्याद्युदात्त-निपातनं करिष्यते, स निपातनस्वरः प्रकृतिस्वरस्य बाधको भविष्यति। एवमप्युपदेशिवद्भावो वक्तव्यः। यथैव निपातनस्वरः प्रकृतिस्वरस्य बाधक एवं समासस्वरस्यापि। गवास्थि, गवाक्षि॥

इन्द्रे च॥ ६.१.१२४॥

यह [आदित्व] भी आदेश में नहीं है—आदेश [अवङ्] को आद्युदात्त होता है [ऐसा नहीं है।] [स्थानिवत् के द्वारा] प्रकृति से [आदेश को तो केवल उदात्त] स्वर प्राप्त होगा। प्रकृति जिस प्रकार आद्युदात्त है, वैसे ही अन्तोदात्त भी।

विवरण—'आद्यन्तवदेकस्मिन्' (१.१.२१) सूत्र के अनुसार एक ही स्थानी में विहित 'उदात्त' स्वर के लिए आदित्व व्यपदेश का विधान है। इस स्थानी के स्थान में आदेश के लिए 'स्थानिवदादेशः' (१.१.५६) सूत्र से स्थानी के कार्य 'उदात्तत्व' आदि आदिष्ट किये जाते हैं, व्यपदेश 'आदित्व' नहीं। इस प्रकार यहाँ अवङ् आदेश में केवल उदात्त आदिष्ट होगा, आद्युदात्त नहीं। अतः अवङ्-आदेश के लिए तो 'ओ' प्रकृति आदित्व, अन्तत्त्व व्यपदेश विहीन होगी।

भा०—अच्छा तो फिर आद्युदात्त निपातन करेंगे। [सूत्र में ही अवङ्-आदेश को आद्युदात्त परिपठित करेंगे।] वह निपातन-स्वर प्रकृतिस्वर का बाधक हो जाएगा। फिर भी 'उपदेशिवद्भाव' कहना होगा। [वह उपदेश में आदेश-विधान-काल में ही उक्त स्वर वाला हो। पर उसके पश्चात् जिस भी अन्य स्वर की प्राप्ति है, वही सम्पन्न होवे। यदि उपदेशिवद्भाव नहीं करेंगे तो] जिस प्रकार निपातनस्वर प्रकृतिस्वर का बाधक होता है। उसी प्रकार समासस्वर का भी होने लगता। गवास्थि...। [अवङ्-आदेश के पश्चात् षष्ठी-तत्पुरुष-समास होने पर सति-शिष्ट के अनुसार 'समासस्य' (६.१.२२३) से अन्तोदात्त होता है, अवङ् का स्वर नहीं।]

विशेष—ऐसा लगता है कि महर्षि पाणिनि को आचार्य स्फोटायन से 'अवङ्' आदेश की सूचना मूलतः 'गवाक्ष' शब्द के लिए प्राप्त हुई थी। इस पक्की सूचना का कोई विकल्प नहीं था। अतः आगे के आचार्यों ने इस शब्द के लिए अवङ् को नित्य माना है। इस 'गवाक्ष' शब्द का विकसित रूप महाराष्ट्री प्राकृत में तथा आज भी मराठी, गुजराती में 'गौख' (gaukh) के रूप में जीवित है। (A Dictionary of Indo-Aryan languages)। अतः पूरी सम्भावना है कि पश्चिमी भारत में यह शब्द विकसित हुआ होगा तथा स्फोटायन आचार्य वहीं के होंगे। इससे यह भी प्रकट है कि महाराष्ट्र में 'गाय की आंख' की आकृति की खिड़की का प्रचलन रहा होगा।

इन्द्रे च॥

इन्द्रादाविति वक्तव्यम्। इहापि यथा स्यात्—गवेन्द्रयज्ञे वीहीति॥ तत्तर्हि वक्तव्यम्? न वक्तव्यम्। नैवं विज्ञायते—इन्द्रेऽचीति। कथं तर्हि? अचि भवति। कतरस्मिन्? इन्द्रेऽचीति॥

प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्॥ ६.१.१२५॥

नित्यग्रहणं किमर्थम्? विभाषा मा भूदिति। नैतदस्ति प्रयोजनम्। पूर्वस्मिन्नेव योगे विभाषाग्रहणं निवृत्तम्॥ इदं तर्हि प्रयोजनं प्लुतप्रगृह्याणामचि प्रकृतिभाव एव यथा स्याद्यदन्यत्प्राप्नोति तन्मा भूदिति। किं चान्यत्प्राप्नोति? शाकलम्। सिन्नित्यसमासयोः शाकलप्रतिषेधं वक्ष्यति, स न वक्तव्यो भवति॥

अथाज्ग्रहणं किमर्थम्? अचि प्रकृतिभावो यथा स्यात्।

प्लुतप्रगृह्येष्वज्ग्रहणमनर्थकमधिकारात्सिद्धम्॥ १॥

प्लुतप्रगृह्येष्वज्ग्रहणमनर्थकम्। किं कारणम्? अधिकारादेव

भा०—इन्द्रादि परे रहने पर अर्थात् इन्द्र है आदि में जिसके तदादि परे रहने पर [अवङ्] कहना चाहिये। ताकि यहाँ भी हो जावे—गवेन्द्रयज्ञे वीहि। [यहाँ 'इन्द्रयज्ञ' परे रहने पर अवङ्] तो फिर कहा जावे? नहीं कहना चाहिए। यह नहीं समझा जाता—इन्द्रेऽचि। [इन्द्र विशेष्य, अच् विशेषण हो, ऐसा नहीं है। ऐसा होने पर 'अजादि इन्द्र परे रहने पर' यह अर्थ होता है। तब 'अचि' विशेषण व्यर्थ होता।] तो फिर क्या समझा जाता है? अच् परे रहने पर होता है। किस अच् परे होने पर? इन्द्र विशिष्ट अच् परे होने पर। [अच् विशेष्य है, इन्द्र विशेषण है। इससे इन्द्र के साथ तदादि-विधि होने पर यह सिद्ध हो जाएगा।]

प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्॥

भा०—'नित्य' ग्रहण किसलिए है? विकल्प से न हो। ['सर्वत्र विभाषा गोः' (६.१.१२२) से 'विभाषा' की अनुवृत्ति से यह प्राप्त है।] यह प्रयोजन नहीं है। पूर्व सूत्र (इन्द्रे च) में ही विभाषा की अनुवृत्ति समाप्त हो गई। अच्छा तो फिर यह प्रयोजन है—प्लुत, प्रगृह्य को अच् परे रहने पर प्रकृतिभाव ही हो, जो भी अन्य प्राप्त हो, वह न हो। अन्य क्या प्राप्त होता है? शाकल। [अर्थात् 'इकोऽसवर्णे...' (६.१.१२३) सूत्र से ह्रस्वत्व तथा प्रकृतिभाव। इस प्रकार इस सूत्र से विहित प्रकृति-भाव के साथ उस सूत्र से ह्रस्वत्व नहीं होता। 'अग्नी इति' यह दीर्घ रूप ही बनता है।] यहाँ 'अच्' ग्रहण किसलिए किया गया है? अच् परे रहने पर प्रकृतिभाव होवे।

वा०—'प्लुत प्रगृह्य' में अच्-ग्रहण अनर्थक, अधिकार से सिद्ध।

भा०—प्लुत प्रगृह्य के प्रसङ्ग में अच्-ग्रहण अनर्थक है। क्या कारण है? अधिकार

सिद्धम्। अचीति प्रकृतमनुवर्तते। क्व प्रकृतम्? 'इको यणचि' (६.१.७७) इति॥

तत्तु तस्मिन्प्रकृतिभावार्थम्॥ २॥

तत्तु द्वितीयमज्ग्रहणं कर्तव्यं प्रकृतिभावार्थम्। तस्मिन्नचि पूर्वस्य प्रकृतिभावो यथा स्यात्। इह मा भूत्—जानु उ अस्य रुजति=जानू अस्य रुजति, जान्वस्य रुजतीति॥

अथ किमर्थं प्लुतस्य प्रकृतिभाव उच्यते? स्वरसंधिर्मा भूदिति। उच्यमानेऽप्येतस्मिन्स्वरसंधिः प्राप्नोति। प्लुते कृते न भविष्यति। असिद्धः प्लुतस्तस्यासिद्धत्वात्प्राप्नोति।

से ही सिद्ध है। प्रकृत 'अचि' का अनुवर्तन है। कहाँ से प्रकृत है। 'इको यणचि' सूत्र से।

वा०—वह उस पर प्रकृतिभाव के लिए।

भा०—उस द्वितीय अच् का ग्रहण करना चाहिए, प्रकृतिभाव के लिए। उस अच् के परे रहने पर पूर्व को प्रकृतिभाव हो। [जिस अच् परे रहने पर आदेश विहित है, उसी अच् परे रहने पर उस प्रगृह्य का प्रकृतिभाव हो।] यहाँ न हो—जानु उ अस्य रुजति—जानू अस्य रुजति।

विवरण—यहाँ 'उञ्' निपात की 'उञः' (१.१.१७) से प्रगृह्य संज्ञा हुई है। यहाँ जानु से उत्तर उञ् परे रहने पर पूर्व-पद के स्थान में सवर्ण-दीर्घ-एकादेश हुआ है। परन्तु इस उञ् अच् परे रहने पर पूर्व-उकार प्रगृह्य नहीं है। अतः इस एकादेश के प्रति प्रगृह्य को प्रकृतिभाव नहीं होगा। इस स्थिति को चित्र द्वारा प्रदर्शित करते हैं—

क. अच् परे रहने पर दीर्घ-एकादेश	ख. अच् परे रहने पर यणादेश
जानु ←उ	उ ←अस्य
ग. अच् परे रहने पर प्रगृह्य नहीं	घ. अच् परे रहने पर प्रगृह्य है
जानु (प्रगृह्य नहीं)←उ	उ (प्रगृह्य)←अस्य

यहाँ तृतीय-स्थिति होने से प्रथम-स्थिति में दीर्घ-एकादेश का प्रकृतिभाव नहीं होता। पर चतुर्थ-स्थिति में होने से द्वितीय-स्थिति का प्रकृतिभाव होता है। इससे यणादेश नहीं होता। परन्तु 'मय उञो वो वा' (८.३.३३) से एक पक्ष में वकार-आदेश हो जाता है।

[प्रसङ्गान्तर-] **भा०**—अच्छा, प्लुत को प्रकृतिभाव किसलिए कहा गया है? स्वरसन्धि न होवे। इस [प्रकृतिभाव] के कहने पर भी स्वरसन्धि पाती है। प्लुत कर लेने पर नहीं होगी। प्लुत असिद्ध होगा, उसके असिद्ध होने से [स्वरसन्धि] पाती है।

प्लुतप्रकृतिभाववचनं तु ज्ञापकमेकादेशात्प्लुतो विप्रतिषेधेनेति ॥ ३ ॥

यदयं प्लुतः प्रकृत्येति प्रकृतिभावं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्य एकादेशात्प्लुतो भवति विप्रतिषेधेनेति ॥

एकादेशात्प्लुतो विप्रतिषेधेनेति चेच्शालेन्द्रेऽतिप्रसङ्गः ॥ ४ ॥

एकादेशात्प्लुतो विप्रतिषेधेनेति चेच्शालेन्द्रेऽतिप्रसङ्गो भवति। शालायामिन्द्र=शालेन्द्र।

न वा बहिरङ्गलक्षणत्वात् ॥ ५ ॥

न वातिप्रसङ्गः। किं कारणम्? बहिरङ्गलक्षणत्वात्। बहिरङ्गः प्लुतः। अन्तरङ्ग एकादेशः। असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ॥

आङोऽनुनासिकश्छन्दसि ॥ ६.१.१२६ ॥

आङोऽनर्थकस्य ॥ १ ॥

वा०—प्लुत का प्रकृतिभाव-वचन ज्ञापक है—विप्रतिषेध से एकादेश से पहले प्लुत होता है।

भा०—यह जो 'प्लुतः प्रकृत्या' से प्रकृतिभाव का शासन किया है, उससे आचार्य ज्ञापित करते हैं—विप्रतिषेध से एकादेश से पहले प्लुत होता है, [तथा वह सिद्ध होता है।]

वा०—विप्रतिषेध से एकादेश से पहले प्लुत हो तो 'शालेन्द्र' में अतिप्रसङ्ग।

भा०—विप्रतिषेध से एकादेश से पहले प्लुत कहें तो 'शालेन्द्र' में अतिप्रसङ्ग होता है। शालायाम् इन्द्र=शालेन्द्र। [सप्तमी-तत्पुरुष-समास है। समास के पश्चात् 'शाला इन्द्र' इस दशा में, यदि एकादेश से पहले 'दूराद्धूते च' (८.२.८४) से ला के आकार को प्लुत हो तो प्रकृतिभाव प्राप्त होता है।

वा०—बहिरङ्गलक्षण होने से नहीं।

भा०—यहाँ अतिप्रसङ्ग नहीं। क्या कारण है? प्लुत बहिरङ्ग है, एकादेश अन्तरङ्ग है। अन्तरङ्ग की दृष्टि में बहिरङ्ग असिद्ध होता है। ['अतो रो...' सूत्र में विस्तृत निरूपण किया जा चुका है। ज्ञापक से 'पूर्वत्रासिद्धम्' का बाध होगा, परिभाषा का नहीं। यहाँ 'दूराद्धूते च' से प्लुत बहिरङ्ग है। अतः इस परिभाषा से असिद्ध हो जाएगा।]

आङोऽनुनासिकश्छन्दसि ॥

वा०—आङ् अनर्थक का।

आङोऽनर्थकस्येति वक्तव्यम्। इह मा भूत्—इन्द्रो बाहुभ्यामातरत्॥ तत्तर्हि वक्तव्यम्? न वक्तव्यम्। बहुलवचनान्न भविष्यति। आङोऽनुनासिकश्छन्दसि बहुलम्॥

इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च॥ ६.१.१२७॥

किमर्थश्चकारः? प्रकृत्येत्येतदनुकृष्यते। किं प्रयोजनम्? स्वरसंधिर्मा भूदिति॥ नैतदस्ति प्रयोजनम्। ह्रस्ववचनसामर्थ्यान्न भविष्यति॥ भवेद्दीर्घाणां ह्रस्ववचनसामर्थ्यात्स्वरसंधिर्न स्याद्, ह्रस्वानां तु खलु स्वरसंधिः प्राप्नोति। ह्रस्वानामपि ह्रस्ववचनसामर्थ्यात्स्वरसंधिर्न भविष्यति। न ह्रस्वानां ह्रस्वाः प्राप्नुवन्ति, न हि भुक्तवान् पुनर्भुङ्क्ते, न च कृतश्मश्रुः पुनः श्मश्रूणि कारयति। ननु च पुनः प्रवृत्तिरपि दृष्टा! भुक्तवानपि पुनर्भुङ्क्ते, कृतश्मश्रुश्च पुनः श्मश्रूणि कारयति। सामर्थ्यात्तत्र पुनः प्रवृत्तिर्भवति, भोजनविशेषाच्छिल्पिविशेषाद्वा।

भा०—'आङ्' अनर्थक का, यह कहना चाहिए। [अनर्थक=अनर्थान्तरवाची=अन्य अर्थ का वाचक आङ् के न होने पर अनुनासिक हो, यह कहना चाहिए। 'अभ्र आँ अपः' (ऋ० ५.४८.१)=अभ्रे=बादल में, अपः=जल को। यहाँ 'आ' शब्द सप्तम्यर्थ का वाचक है। यह अर्थ पहले ही 'अभ्रे' में सप्तमी से प्रोक्त है। अतः अनर्थान्तरवाची होने से यहाँ अनुनासिक होता है।] यहाँ न हो—इन्द्रो बाहुभ्याम् आतरत्। [यहाँ 'तरण' इसके क्रियायोग में आङ् होने से यहाँ अनुनासिक नहीं हुआ।] तो फिर कहा जावे? नहीं कहना चाहिए। बहुल-वचन से नहीं होगा। 'आङोऽनुनासिकश्छन्दसि बहुलम्' इस प्रकार कहेंगे।

इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च॥

भा०—चकार क्यों लगाया है? 'प्रकृत्या' इसका अनुकर्षण किया जाता है। क्या प्रयोजन है? स्वर सन्धि न होने। यह प्रयोजन नहीं है। ह्रस्व-वचन-सामर्थ्य से नहीं होगी। [यदि सन्धि हो तो ह्रस्व-विधान व्यर्थ होने लगेगा।]

ठीक है, दीर्घ के स्थान में ह्रस्व-वचन-सामर्थ्य से सन्धि नहीं होगी। परन्तु ह्रस्व के स्थान में तो स्वर-सन्धि पाती है।

ह्रस्व के स्थान में भी ह्रस्व-वचनसामर्थ्य से सन्धि नहीं होगी। [यदि सन्धि होना हो तो ह्रस्व के स्थान में ह्रस्व-विधान भी व्यर्थ होने लगेगा।]

ह्रस्व के स्थान में ह्रस्व पाता ही नहीं। भोजन कर चुका व्यक्ति भोजन नहीं करता। मूँछ बनवाया व्यक्ति पुनः मूँछ नहीं बनवाता। क्यों, पुनः प्रवृत्ति भी तो होती है। [कभी-कभी] खा चुका व्यक्ति भी पुनः खाता है। मूँछ बनवाया व्यक्ति भी पुनः मूँछ बनवाता है। सामर्थ्य से पुनः प्रवृत्ति होती है—भोजन-विशेष या शिल्पि-विशेष से [अधिक बढ़िया भोजन के लिए, अधिक अच्छी मूँछ बनवाने के लिए।]

ह्रस्वानां पुनर्ह्रस्ववचने न किंचित्प्रयोजनमस्ति। अकृतकारि खल्वपि शास्त्रमग्निवत्। तद्यथा—अग्निर्यददग्धं तद्दहति॥ ह्रस्वानामपि ह्रस्ववचन एतत्प्रयोजनं स्वरसंधिर्मा भूदिति। कृतकारि खल्वपि शास्त्रं पर्जन्यवत्। तद्यथा—पर्जन्यो यावदूनं पूर्णं च सर्वमभिवर्षति॥ इदं तर्हि प्रयोजनं प्लुतप्रगृह्या अनुकृष्यन्ते। इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च प्लुतप्रगृह्याश्च प्रकृत्या। नित्यग्रहणस्याप्येतत्प्रयोजनमुक्तम्। अन्यतरच्छक्यमवक्तुम्॥

सिन्नित्यसमासयोः शाकलप्रतिषेधः॥ १॥

सिन्नित्यसमासयोः शाकलस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। अ॒यं ते॒ योनि॑र्ऋ॒त्विय॑ः (ऋ० ३.२९.१०) प्रजां विन्दाम ऋत्वियाम्। वैयाकरणः, सौवश्वः॥ नित्यग्रहणेन नार्थः। सित्समासयोः शाकलं न भवतीत्येव। इदमपि सिद्धं भवति—वाप्यामश्वो वाप्यश्वः। नद्यामातिर्नद्यातिः॥

परन्तु ह्रस्व के स्थान में ह्रस्व-वचन में तो कोई प्रयोजन नहीं है। [अतः सन्धि होने पर स्पष्टतः ह्रस्व-विधान की व्यर्थता होने लगेगी।]

[परन्तु] शास्त्र तो पहले से अविहित का विधान करने वाला होता है। जैसे—आग न जले हुए को जलाती है। तथापि यहाँ तो पुनः ह्रस्व-वचन का प्रयोजन है—स्वरसन्धि न होवे। [इस प्रकार यह अविहित का विधान करने वाला बन गया। साथ ही उदाहरण की ही बात है तो उदाहरण तो यह भी है-] शास्त्र पहले से विहित का विधान करने के लिए भी होता है। [यदि कोई विशेष विधान अभीष्ट हो।] जैसे मेघ न्यून तथा प्रभूत जल वाले—दोनों स्थानों में बरसता है। [इस प्रकार चकार का प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सका।]

अच्छा तो फिर यह प्रयोजन है—प्लुत, प्रगृह्य का अनुकर्षण है। अतः इक् ह्रस्वत्व को तथा प्लुत् प्रगृह्य प्रकृतिभाव को [ही] प्राप्त होते हैं। [इन्हें ह्रस्वत्व नहीं होता।] ऊपर 'नित्य' ग्रहण का यह प्रयोजन कहा जा चुका है। दोनों में से कोई एक न कहें तो काम चल सकता है।]

वा०—सित् तथा नित्य समास में शाकल-प्रतिषेध।

भा०—सित् तथा नित्य-समास (=नित्याधिकार विहित या अस्वपदविग्रह समास) में शाकल विधि का प्रतिषेध कहना चाहिये। अ॒यं ते॒ योनि॑र्ऋ॒त्विय॑ः [ऋतु से 'छन्दसि घस्' (५.१.१०६) से सित् प्रत्यय परे होने से प्रकृतिभाव नहीं होता।] वैयाकरणः, सौवश्वः। [तथा व्याकरणम्, स्वश्व—यहाँ 'कुगतिप्रादयः' (२.२.१८) से नित्य-समास होने से प्रकृतिभाव नहीं हुआ।]

भा०—नित्य-ग्रहण की आवश्यकता नहीं। सित् तथा समास में शाकल का प्रतिषेध—इतना ही पर्याप्त है। यह भी सिद्ध होता है—वाप्याम् अश्वः—वाप्यश्वः। [यहाँ 'सुप् सुपा' इस योगविभाग से अनित्य-समास में भी प्रकृतिभाव हुआ है।]

ईषा अक्षादिषु च्छन्दसि प्रकृतिभावमात्रम्॥ २॥

ईषा अक्षादिषु च्छन्दसि प्रकृतिभावमात्रं द्रष्टव्यम्। ईषा अक्षः (ऋ० ८.५.२९)। का ईमिरे पिशङ्गिला (यजुः० २३.५५)। यथा अङ्गदः॥

ऋत्यकः॥ ६.१.१२८॥

किमर्थमिदमुच्यते?

ऋत्यकः सवर्णार्थम्॥ १॥

सवर्णार्थोऽयमारम्भः। होतृ ऋश्यः॥

अनिगन्तार्थं च॥ २॥

खट्व ऋश्यः। माल ऋश्यः॥

ऋति ह्रस्वादुपसर्गाद्वृद्धिर्विप्रतिषेधेन॥ ३॥

ऋति ह्रस्वो भवतीत्येतस्मादुपसर्गाद्वृद्धिर्भवति विप्रतिषेधेन। ऋति ह्रस्वो भवतीत्यस्यावकाशः—खट्व ऋश्यः, माल ऋश्यः। उपसर्गाद्वृद्धेरवकाशः—विभाषा ह्रस्वत्वं, यदा न ह्रस्वत्वं सोऽवकाशः। ह्रस्वप्रसङ्ग उभयं प्राप्नोति—उपार्ध्नोति, प्रार्ध्नोति। उपसर्गाद्वृद्धिर्भवति विप्रतिषेधेन॥

वा०—वेद में 'ईषा अक्ष' आदि में केवल प्रकृतिभाव।

भा०—वेद में 'ईषा अक्ष' आदि में केवल प्रकृतिभाव होता है। [ह्रस्व नहीं होता। प्रकृतिभाव होने से सवर्णदीर्घ नहीं होता।] ईषा अक्षः...इत्यादि।

ऋत्यकः॥

भा०—यह सूत्र किस लिए है?

वा०—अक् से ऋत् परे रहने पर सवर्ण के लिए।

भा०—सवर्णदीर्घत्व के [प्रकृतिभाव के] लिए यह आरम्भ है।

वा०—अनिगन्त के लिए भी।

भा०—[पूर्व-सूत्र से अप्राप्ति की स्थिति में इससे प्रकृतिभाव होवे।] खट्व ऋश्यः।

वा०—ऋत् परे रहने पर उपसर्ग से वृद्धि, विप्रतिषेध से।

भा०—ऋत् परे रहने पर ह्रस्व होता है इससे पहले ['उपसर्गादृति धातौ' (६.१.९१) से] विहित उपसर्ग से वृद्धि होती है, [पूर्व] विप्रतिषेध से। ऋत् परे रहने पर ह्रस्व का अवकाश है—[जहाँ उपसर्ग नहीं है।] खट्व ऋश्यः...। उपसर्ग से वृद्धि का अवकाश है—[ऋत्यकः से] ह्रस्वत्व विकल्प से है, जब ह्रस्वत्व नहीं है, वह अवकाश है। ह्रस्व-प्रसङ्ग में दोनों पाते हैं—प्रार्ध्नोति... उपसर्ग से वृद्धि होती है, [पूर्व] विप्रतिषेध से।

स तर्हि विप्रतिषेधो वक्तव्यः ? न वक्तव्यः। उक्तं तत्र धातुग्रहणस्य प्रयोजन-मुपसर्गादृति धातौ वृद्धिरेव यथा स्याद्, यदन्यत्प्राप्नोति तन्मा भूदिति॥

अप्लुतवदुपस्थिते॥ ६.१.१२९॥

उपस्थित इत्युच्यते, किमिदमुपस्थितं नाम? अनार्ष इतिकरणः। सुश्लोका३ इति, सुश्लोकेति॥

अथ वद्वचनं किमर्थम्?

वद्वचनं प्लुतकार्यप्रतिषेधार्थम्॥ १॥

वद्वचनं क्रियते प्लुतकार्यप्रतिषेधार्थम्। प्लुतकार्यं प्रतिषिध्यते, त्रिमात्रता न प्रतिषिध्यते। किं चेदानीं त्रिमात्रताया अप्रतिषेधे प्रयोजनं, यावता प्लुतकार्ये प्रतिषिद्धे स्वरसंधिना भवितव्यम्?

प्लुतप्रतिषेधे हि प्रगृह्यप्लुतप्रतिषेधप्रसङ्गोऽन्येन विहितत्वात्॥ २॥

तो फिर वह विप्रतिषेध कहा जावे ? नहीं कहना चाहिए। वहाँ ['उपसर्गादृति धातौ' सूत्र में] धातु ग्रहण का प्रयोजन कहा है—उपसर्ग से ऋकारादि धातु परे रहने पर वृद्धि ही होवे, जो भी—अन्य प्राप्त होता है, वह न हो।

अप्लुतवदुपस्थिते॥

भा०—'उपस्थिते' कहा है, यहाँ उपस्थित क्या है? [समाधान-] अनार्ष इतिकरण। सुश्लोका३ इति।

विवरण—ऋषि का अर्थ वेद है। अतः वेद में प्रयुक्त 'इति' आर्ष कहा जाएगा। पदपाठ में सन्धि को हटा कर मूल पद को प्रयुक्त किया जाता है। ऐसे सन्धि-रहित-पद को अलग दिखाने के लिए उसके पश्चात् 'इति' का प्रयोग किया जाता है। यह अनार्ष है। इसके परे रहने पर सूत्र का विधान है।

भा०—अच्छा, यहाँ वत् वचन किसलिए है?

वा०—वत् वचन प्लुत कार्य के प्रतिषेध के लिए।

भा०—वत् वचन करते हैं, प्लुत कार्य का प्रतिषेध करने के लिए। प्लुत पर आधारित कार्य का प्रतिषेध करते हैं, त्रिमात्रता का प्रतिषेध नहीं करते।

इस त्रिमात्रता के अप्रतिषेध में क्या प्रयोजन है? जबकि प्लुत कार्यों का प्रतिषेध होने पर स्वरसन्धि होनी चाहिए? [स्वरसन्धि होने पर तो प्लुत दृश्य होगा ही नहीं, फिर त्रिमात्रता के प्रतिषेध न करने की क्या उपयोगिता है, यह प्रश्नाशय है।]

वा०—प्लुत का प्रतिषेध होने पर प्रगृह्य प्लुत के प्रतिषेध का प्रसङ्ग, अन्य से विहित होने से।

प्लुतप्रतिषेधे हि सति प्रगृह्यस्यापि प्लुतस्य त्रिमात्रतायाः प्रतिषेधः प्रसज्येत। अग्नी३इति। वायू३इति। किं चेदानीं तस्या अपि त्रिमात्रताया अप्रतिषेधे प्रयोजनं, यावता प्लुतकार्ये प्रतिषिद्धे स्वरसंधिना भवितव्यम्? न भवितव्यम्। किं कारणम्? अन्येन विहितत्वात्। अन्येन हि लक्षणेन प्लुतप्रगृह्यस्य प्रकृतिभाव उच्यते—प्रगृह्यः प्रकृत्येति॥

ई३ चाक्रवर्मणस्य॥ ६.१.१३०॥

किमर्थमिदमुच्यते?

ई३ चाक्रवर्मणस्येत्यनुपस्थितार्थम्॥ १॥

अनुपस्थितार्थोऽयमारम्भः। चिनु ही३ इदम्, चिनु हीदम्। सुनु ही३ इदम्, सुनु हीदम्॥ ईकारग्रहणेन नार्थः। अविशेषेण चाक्रवर्मणस्याचार्यस्याप्लुतवद्भवतीत्येव। इदमपि सिद्धं भवति—वशा३इयम्, वशेयम्॥

भा०—प्लुत का प्रतिषेध होने पर प्रगृह्य प्लुत की भी त्रिमात्रता का प्रतिषेध प्राप्त होगा। अग्नी३ इति...। इस त्रिमात्रता के भी अप्रतिषेध का क्या प्रयोजन है, जबकि प्लुत कार्य के प्रतिषिद्ध होने पर स्वरसन्धि होना चाहिए।

भा०—नहीं होना चाहिए। क्या कारण है? अन्य से विहित होने से। अन्य सूत्र से प्रगृह्य को प्रकृतिभाव कहा है—'प्रगृह्यः प्रकृत्या...'।

विवरण—'अग्नी३ इति' इस उदाहरण में 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' (६.१.१२५) सूत्र से प्लुताश्रित प्रकृतिभाव भी होता है, प्रगृह्य होने से प्रगृह्याश्रित प्रकृतिभाव भी। इस सूत्र से प्लुताश्रित कार्य का प्रतिषेध होने से तदाश्रित प्रकृतिभाव नहीं होगा। परन्तु प्रगृह्याश्रित प्रकृतिभाव तो होगा ही। इस प्रकार प्रकृतिभाव होने पर प्लुत का श्रवण हो सके, इसके लिए वत्-करण सार्थक है।

ई ३ चाक्रवर्मणस्य॥

भा०—इस सूत्र का आरम्भ किसलिए है?

वा०—'ई३ चाक्रवर्मणस्य' यह अनुपस्थित के लिए।

भा०—इस सूत्र का आरम्भ अनुपस्थित=अनार्ष इतिकरण से भिन्न स्थिति के लिए है। चिनुही३ इदम्, चिनुहीदम्...। [यहाँ एक पक्ष में चाक्रवर्मण आचार्य के मत में अप्लुतवत् हो जावे अर्थात् प्लुत का कार्य प्रकृतिभाव न होने से सन्धि हो सके। इसमें 'इति' से भिन्न 'इदम्' परे होने पर 'चिनुहीदम्' सिद्ध होता है। इस प्रकार यह अनुपस्थित में एक पक्ष में अप्लुतवत् को प्राप्त कराता है।]

भा०—ईकारग्रहण की आवश्यकता नहीं। चाक्रवर्मण आचार्य के मत में सामान्यतः (=ईकार, अकार आदि सभी को) अप्लुतवत् होता है। इससे यह भी सिद्ध होता है। वशा३ इयम्, वशेयम्। यहाँ भी प्लुत का कार्य प्रकृतिभाव नहीं होता।

दिव उत्॥ ६.१.१३१ ॥

किमर्थस्तकारः ? 'तपरस्तत्कालस्य' (१.१.७०) इति तत्कालो यथा स्यात्॥ नैतदस्ति प्रयोजनम्। आन्तर्यतोऽर्धमात्रिकस्य व्यञ्जनस्य मात्रिको भविष्यति॥ न सिध्यति। ऊठि कृत आन्तर्यतो दीर्घस्य दीर्घः प्राप्नोति।

तदर्थं तपरः कृतः।

एवमर्थं तपरः क्रियते॥

सुट् कात्पूर्वः ॥ ६.१.१३५ ॥

कात्पूर्वग्रहणं किमर्थम्? कात्पूर्वो यथा स्यात्—संस्कर्ता, संस्कर्तुम्।

विवरण—वार्तिक, भाष्य के अनुसार यह सूत्र अनुपस्थित के लिए है। अतः यहाँ पूर्वसूत्र से 'उपस्थिते' की अनुवृत्ति नहीं आएगी। इस दशा में यह सूत्र उपस्थित, अनुपस्थित दोनों में कार्यशील होगा। इस प्रकार उपस्थित में 'चिनुही३ इदम्' इस रूप में यह एक पक्ष में अप्लुतवत् की निवृत्ति करने के लिए होगा। इससे यह उभयत्र विभाषा होगी; जैसा कि काशिकाकार ने माना है।

पर प्रस्तुत भाष्य के अनुसार यदि ईकार ग्रहण को अनावश्यक बताएँ, तब तो उपस्थित में 'येन नाप्राप्ति' न्याय से 'अप्लुतवदुपस्थिते' सूत्र इसे बाध लेगा। तब चिनुहीदम् में नित्य अप्लुतवद्भाव होने से यह उभयत्र विभाषा नहीं होगी।

दिव उत्॥

भा०—यहाँ तकार क्यों है? 'तपरस्तत्कालस्य' से तत्काल का [मात्र ह्रस्व उकार का ग्रहण हो, दीर्घ का नहीं]। यह प्रयोजन नहीं है। अर्धमात्रिक व्यञ्जन के स्थान में आन्तर्य से मात्रिक उकार सिद्ध होता है। नहीं सिद्ध होता। ऊठ् कर लेने पर आन्तर्य से दीर्घ के स्थान में दीर्घ प्राप्त होता है। ['द्युभ्याम्' इत्यादि में परत्व से 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' (६.४.१९) सूत्र से वकार के स्थान में पहले ऊठ् होता है। इस ऊठ् के स्थान में पुनः प्रसङ्गविज्ञान से उकार-आदेश की स्थिति में आन्तर्य से दीर्घ के स्थान में दीर्घ प्राप्त होता है। यहाँ पर-विप्रतिषेध सम्भव है, क्योंकि यह सूत्र 'विमलद्यु' आदि में सावकाश है। यहाँ सु का लुक् होने से प्रत्ययलक्षण न होने से ऊठ् की प्राप्ति नहीं है।]

का०—इसलिए तपर किया गया है।

भा०—इसलिए तपर किया गया है।

सुट् कात् पूर्वः ॥

भा०—यहाँ 'कात् पूर्व' ग्रहण किसलिए है? क से पूर्व [सुट् आगम] होवे।

नैतदस्ति प्रयोजनम्। सुडित्यादिलिङ्गोऽयं करोतिश्च ककारादिस्तत्रान्तरेण कात्पूर्वग्रहणं कात्पूर्व एव भविष्यति॥ अत उत्तरं पठति—

सुटि कात्पूर्ववचनमककारादौ कात्पूर्वार्थम्। सुटि कात्पूर्ववचनं क्रियते-ऽककारादौ करोतौ कात्पूर्वो यथा स्यात्—संचस्करतुः, संचस्करुः॥

सुटि कात्पूर्ववचनमककारादौ कात्पूर्वार्थमिति चेदन्तरेणापि तत्सिद्धम्॥ १॥

सुटि कात्पूर्ववचनमककारादौ कात्पूर्वार्थमिति चेदन्तरेणापि कात्पूर्वग्रहणं सिद्धम्। कथम्?

द्विर्वचनात्सुड्विप्रतिषेधेन। द्विर्वचनं क्रियतां सुडिति सुड्भविष्यति विप्रतिषेधेन। तत्र द्विर्वचनं भवतीत्यस्यावकाशः। बिभिदतुः, बिभिदुः। सुटोऽवकाशः—संस्कर्ता, संस्कर्तुम्। इहोभयं प्राप्नोति—संचस्करतुः, संचस्करुरिति। सुड्भवति विप्रतिषेधेन॥

द्विर्वचनात्सुड्विप्रतिषेधेनेति चेद् द्विर्भूते शब्दान्तरभावात्पुनः प्रसङ्गः॥ २॥

यह प्रयोजन नहीं है। यह सुट् आदि [में अवस्थिति के] चिह्न [टकार] वाला किया गया है। करोति धातु ककारादि है ही। अतः 'कात् पूर्व' ग्रहण के बिना क से पूर्व ही सुट् होगा। इसके पश्चात् [वार्तिककार] उत्तर प्रदान करते हैं—

सुट् के प्रसङ्ग में 'कात् पूर्व' का वचन किया गया है। जो करोति धातु [वर्तमान में] अककारादि बन चुकी है, उसके भी क से पूर्व ही सुट् होवे। संचस्करतुः...। [अभ्यास-कार्य को अन्तरङ्ग मानते हुए उसके प्रथम सम्पन्न होने पर क से पूर्व सुट् हो, 'च' से पूर्व नहीं।]

वा०—सुट् में 'कात् पूर्व' वचन अककारादि में 'कात् पूर्व' के लिए कहें तो उसके बिना भी यह सिद्ध।

भा०—सुट् के प्रसङ्ग में 'कात् पूर्व' वचन अककारादि में 'क' से पूर्व के लिए है, ऐसा कहें तो 'कात् पूर्व' कहे बिना भी सिद्ध है। किस प्रकार? द्विर्वचन से सुट् पहले होगा, विप्रतिषेध से। द्विर्वचन करें, या सुट्—विप्रतिषेध से सुट् पहले होगा। द्विर्वचन का अवकाश—बिभिदतुः। [जहाँ कृ धातु नहीं है।] सुट् का अवकाश—संस्कर्ता...। [जहाँ लिट् आदि परे नहीं है।] यहाँ दोनों प्राप्त होते हैं—संचस्करतुः...। यहाँ विप्रतिषेध से सुट् पहले होता है। [यह भाष्य अन्तरङ्ग बहिरङ्गभाव की अनपेक्षा करके है।]

वा०—द्विर्वचन से पहले सुट्, विप्रतिषेध से कहें तो द्विर्वचन होने पर शब्दान्तरभाव होने से पुनः-प्रसङ्ग।

द्विर्वचनात्सुड्विप्रतिषेधेनेति चेद् द्विर्भूते शब्दान्तरस्याकृतः सुडिति पुनः सुट् स्यात्॥

द्विर्भूते शब्दान्तरभावात्पुनःप्रसङ्ग इति चेद् द्विर्वचनम्॥ ३॥

सुटि कृते शब्दान्तरस्याकृतमिति पुनर्द्विर्वचनं प्राप्नोति॥

तथा चानवस्था॥ ४॥

पुनः सुट् पुनर्द्विर्वचनमिति चक्रकमव्यवस्था प्रसज्येत॥ नास्ति चक्रक-प्रसङ्गः। न ह्यव्यवस्थाकारिणा शास्त्रेण भवितव्यम्। शास्त्रतो हि नाम व्यवस्था। तत्र सुटि कृते द्विर्वचनं द्विर्वचनेनावस्थानं भविष्यति॥

भा०—द्विर्वचन से पहले सुट् विप्रतिषेध से कहें तो [सुट् सहित कृ को] द्विर्वचन हो जाने पर [इस द्वित्त्वभूत को] सुट् नहीं किया, अतः इसे पुनः सुट् की प्राप्ति होती है। [स्थाने द्विर्वचन-पक्ष में अन्य द्विर्वचन-भूत आदिष्ट होता है। अतः इस पक्ष में 'पुनः प्रसङ्ग विज्ञान' के अनुसार प्राप्ति है।]

वा०—द्विर्वचन होने पर शब्दान्तरभाव से पुनः प्रसङ्ग कहें तो द्विर्वचन।

भा०—[इस द्वित्त्वभूत को] सुट् कर लेने पर शब्दान्तर को द्विर्वचन नहीं किया गया। अतः पुनः द्विर्वचन पाता है।

वा०—इससे अनवस्था।

भा०—पुनः सुट्, पुनः द्विर्वचन—इस प्रकार चक्रक, अव्यवस्था प्राप्त होगी।

यह चक्रक-प्रसङ्ग नहीं होगा। शास्त्र को अव्यवस्थाकारी नहीं होना चाहिए। शास्त्र का अर्थ व्यवस्था है। अतः सुट् करने पर द्विर्वचन, इस द्विर्वचन से ही अवस्थिति हो जाएगी।

विशेष—व्याकरण-शास्त्र में चक्रक-प्रसङ्ग के निवारण के लिए 'अनवस्था' अपने आप में एक तर्क हैं। क्योंकि शास्त्र अनवस्थाकारी नहीं हो सकता, इसलिए चक्रक नहीं होगा। इस शास्त्र में इसके अलावा अन्य तर्क भी है। यहाँ पुनः प्रसङ्गविज्ञान के साथ 'सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव' यह पक्ष भी मान्य है। इसके अनुसार शास्त्र की एक बार प्रवृत्ति के पश्चात् पुनः प्रवृत्ति नहीं होती। यह नियम व्यक्ति-पक्ष में है। इस पक्ष में जितने उदाहरण हैं, उतने ही सूत्र होते हैं। ये सूत्र एक बार अवश्य चरितार्थ होते हैं तथा एक बार के पश्चात् पुनः प्रवृत्त नहीं होते। जैसे लोक में 'गां बधान' जैसे आदेशों का एक समय में एक बार परिपालन होता है।

अन्य दर्शन-शास्त्र, खगोल-विज्ञान आदि में भी चक्रक प्रसङ्ग के निवारण के लिए 'अनवस्था' नामक तर्क को अपने आप में परिपूर्ण माना है। महान् खगोलविज्ञानी भास्कराचार्य के समक्ष जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि यह

अड्व्यवाय उपसंख्यानम्॥ ५॥

अड्व्यवाय उपसंख्यानं कर्तव्यम्। समस्करोत्, समस्कार्षीत्॥

अभ्यासव्यवाये च॥ ६॥

अभ्यासव्यवाये चोपसंख्यानं कर्तव्यम्। संचस्करतुः, संचस्करुः॥ किमुच्यतेऽभ्यासव्यवाय इति, यदेदानीमेवोक्तं द्विर्वचनात्सुड्विप्रतिषेधेनेति?

अविप्रतिषेधो वा बहिरङ्गलक्षणत्वात्॥ ७॥

अविप्रतिषेधो वा पुनः सुटः। किं कारणम्? बहिरङ्गलक्षणत्वात्। बहिरङ्गलक्षणः सुट्। अन्तरङ्गं द्विर्वचनम्। असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे॥

पृथिवी किस आधार पर अवस्थित है तो उन्होंने माना कि यदि पृथ्वी का आधार किसी मूर्त पदार्थ को माना जाय तो वह आधार किस पर, वह किस पर—इस प्रकार चक्रक अनवस्था का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। अतः इससे बचने के लिए मान्य है कि पृथ्वी निराधार टिकी है—

मूर्तो धर्ता चेद्धरित्र्यास्तदन्यस्तस्याप्यन्योऽप्येवमत्रानवस्था।
अन्त्ये कल्प्या चेत् स्वशक्तिः किमाद्ये किं नो भूमेः साष्टमूर्तेश्च मूर्तिः॥

—सिद्धान्त शिरोमणि, भुवनकोश, श्लोक ४॥

यहाँ भास्कराचार्य ने 'अनवस्था' तर्क को परिपूर्ण मानते हुए अन्य तर्क उपस्थित नहीं किया है। परन्तु व्याकरणशास्त्र में तो इसके लिए अन्य तर्क भी वर्तमान हैं।

[प्रसङ्गान्तर-] **वा०**—अट् के व्यवधान में उपसङ्ख्यान।

भा०—अट् के व्यवधान में [सुट् का] उपसङ्ख्यान करना चाहिए। [परत्व से अङ्ग को अट्-आगम करने पर सम् से उत्तर अव्यवहित करोति नहीं मिल पाने से उपसङ्ख्यान] समस्करोत्....आदि।

वा०—अभ्यास के व्यवधान में भी।

भा०—अभ्यास के व्यवधान में भी उपसङ्ख्यान करना चाहिए। संचस्करतु...। [यहाँ अप्राप्त का उपसङ्ख्यान नहीं है, अपितु प्राप्त का ही देशविशेष में अवस्थापन है। अन्तरङ्ग होने से द्वित्व के पहले होने पर अभ्यास से पूर्व सुट् प्राप्त होता है। इस वार्तिक से अभ्यास के पश्चात् अवस्थिति होती है।]

भा०—यह 'अभ्यास के व्यवधान में' किस प्रकार कह रहे हैं, जबकि अभी कहा है कि द्विर्वचन से पहले सुट् होता है।

वा०—विप्रतिषेध नहीं, सुट् के बहिरङ्गलक्षण होने से।

भा०—यहाँ सुट् का विप्रतिषेध नहीं बन सकता। क्या कारण है? सुट् बहिरङ्ग-लक्षण है, [दो पद के आश्रित होने से], द्विर्वचन [एकपदाश्रित होने से] अन्तरङ्ग है। अन्तरङ्ग के प्रति बहिरङ्ग असिद्ध होता है।

एवमर्थमेव तर्हि कात्पूर्वग्रहणं कर्तव्यं, कात्पूर्वो यथा स्यात्॥

क्रियमाणेऽपि वै कात्पूर्वग्रहणेऽत्र न सिध्यति, न ह्ययं कात्पूर्वग्रहणेन शक्यो मध्ये प्रवेशयितुम्। किं कारणम्? आदिलिङ्गोऽयं क्रियते करोतिश्च ककारादिर्दृष्टश्च पुनरातिदेशिकः करोतिरककारादिः॥ पाक्षिक एष दोषः। कतरस्मिन्पक्षे? सुड्विधौ द्वैतं भवति—अविशेषेण वा विहितस्य सुटः कात्पूर्वग्रहणं देशप्रक्लृप्त्यर्थं स्याद्विशेषेण वा विधिरिति। द्विर्वचनविधौ चापि द्वैतं भवति—स्थाने द्विर्वचनं स्याद्, द्विःप्रयोगो वा द्विर्वचनमिति। तद्यदा द्विःप्रयोगो द्विर्वचनमविशेषेण विहितस्य च सुटः कात्पूर्वग्रहणं देश-प्रक्लृप्त्यर्थं तदैष दोषः। यदा हि स्थाने द्विर्वचनं तदा यद्येवाविशेषेण विहितस्य

तो फिर 'कात् पूर्व' ग्रहण इसलिए ही करना चाहिए—ककार से पूर्व हो। [इस नवीन परिस्थिति में 'कात् पूर्व' का प्रयोजन यह होगा कि सम् से उत्तर अट् का या अभ्यास का व्यवधान होने पर भी ककार से पूर्व मध्य में सुट् की अवस्थिति हो जावे।]

'कात् पूर्व' ग्रहण करने पर भी [सुट् की मध्य में अवस्थिति] सिद्ध नहीं होती। यहाँ 'कात् पूर्व' ग्रहण से [सुट् को] मध्य में अनुप्रविष्ट नहीं कराया जा सकता। क्या कारण है? यह सुट् आदि में [अवस्थिति के] चिह्न वाला किया गया है। करोति धातु ककारादि है। आतिदेशिक-करोति ['कुहोश्चुः' (७.४.६२) आदि से निष्पन्न] ककारादि नहीं है। [सुट् के टित् होने के कारण यह 'संस्कर्ता' आदि में करोति के आदि में अवस्थित होगा। परन्तु जहाँ अन्तरङ्ग होने से अट् द्विर्वचन-अभ्यास-कार्य पहले कर लिये गये हैं, ऐसे 'सञ्चस्करतुः' आदि उदाहरणों में मध्य में अवस्थित नहीं हो सकेगा।]

यह दोष पाक्षिक है। किस पक्ष में? सुट्-विधि में द्विविध-पक्ष हैं—(क) 'कात् पूर्व' ग्रहण सामान्यतया [कालविशेष का अङ्गीकार किये बिना] विहित सुट् के ककारादि [से पूर्व] देश बताने के लिए है। [सम् के उत्तर उस करोति परे रहने पर सुट् होता है, जिसके होने पर उसकी ककार से पूर्व उपस्थिति सम्भव हो सके।] (ख) अथवा विशेष से [कालविशेष को स्वीकार करते हुए] विधि होती है। [सम् से उत्तर कृ को अनेक कार्यों की प्राप्ति की स्थिति में उनसे पूर्व ही उस समय सुट् हो जाता है, जब 'कात् पूर्व' की अवस्थिति हो।]

द्विर्वचन-विधि में भी द्विविध-पक्ष हैं—स्थाने-द्विर्वचन हो या द्विःप्रयोग-द्विर्वचन। तो जब द्विःप्रयोग-द्विर्वचन है तथा 'कात् पूर्व' ग्रहण कालविशेष का अङ्गीकार किये बिना विहित सुट् का देश बताने के लिए है, तब यह दोष है। [इस पक्ष में उच्चारण-भेद से शब्द-भेद होता है। अतः अन्तरङ्ग होने से अट् या द्विर्वचन अभ्यास-कार्य पहले होने पर सम् से उत्तर करोति ककारादि नहीं है तथा अभ्यास से उत्तर जो ककारादि है, उसमें चकार का व्यवधान है।]

भा०—यदि स्थान में द्विर्वचन है तो कात्-पूर्व-ग्रहण कालविशेष का अङ्गीकार

सुटः कात्पूर्वग्रहणं देशप्रक्लृप्त्यर्थमथापि विशेषविधिर्न तदा दोषो भवति॥ द्विःप्रयोगे चापि द्विर्वचने न दोषः। संपरिभ्यामिति नैषा पञ्चमी। का तर्हि? तृतीया। संपरिभ्यामुपसृष्टस्येति। व्यवहितश्चाप्युपसृष्टो भवति॥

उपदेशिवद्वचनं च॥ ८॥

उपदेशिवद्भावश्च वक्तव्यः। किं प्रयोजनम्?

लिटिगुणचङिदीर्घप्रतिषेधार्थम्॥ ९॥

लिटि गुणार्थं चङि दीर्घप्रतिषेधार्थम्। लिटि गुणार्थं तावत्—संचस्करतुः, संचस्करुः। चङि दीर्घप्रतिषेधार्थं च—समचिस्करत्॥

किये बिना विहित सुट् का देश बताने के लिए हो या विशेष-विधि हो, दोनों पक्षों में दोष नहीं है।

विवरण—स्थाने-द्विर्वचन-पक्ष में कृ के स्थान में द्विरुक्त कृ होता है। यह स्थानिवद्भाव से पूर्व 'कृ' ही माना जाएगा। इस दशा में सम् से उत्तर चकार को पूर्व कृ ही माना जाएगा। इससे चकार से पूर्व सुट् की प्राप्ति में 'कात् पूर्वः' वचन से ककार से पूर्व सुट् अवस्थित होगा।

द्वितीय पक्ष में तो अट्, द्विर्वचन आदि से पूर्व ही—जब स्पष्टतः कात्-पूर्वता है—तभी कृ से पूर्व सुट् सिद्ध होने से सुतरां दोषाभाव होगा।

भा०—द्विःप्रयोग-द्विर्वचन में भी [प्रथम-पक्ष में भी] दोष नहीं है। 'सम्परिभ्याम्' यहाँ पञ्चमी नहीं है। [अतः सम् से अव्यवहित उत्तर 'करोति' होना अनिवार्य नहीं है।] तो फिर क्या है? तृतीया। सम् परि से सम्बद्ध। व्यवहित भी सम्बद्ध होता है।

वा०—उपदेशिवद्-वचन भी।

भा०—उपदेशिवद्भाव भी कहना चाहिए। क्या प्रयोजन है?

वा०—लिट् में गुण तथा चङ् में दीर्घ-प्रतिषेध के लिए।

भा०—लिट् परे रहने पर गुण के लिए तथा चङ् परे रहने पर दीर्घ के प्रतिषेध के लिए। लिट् परे रहने पर गुण के लिए—सञ्चस्करतुः...। [यहाँ 'ऋतश्च संयोगादे र्गुणः' (७.४.१०) से गुण की दृष्टि में द्विपदाश्रित बहिरङ्ग सुट् असिद्ध होगा। अतः संयोगादि न बन पाने से गुण सिद्ध नहीं हो सकेगा। 'उपदेशिवत्' कहने से उपदेशावस्था में प्रत्ययोत्पत्ति से पूर्व सुट् होगा। इससे सुट् अन्तरङ्ग होगा। इससे वह असिद्ध न होने से गुण हो सकेगा।]

चङ् परे रहने पर दीर्घ के प्रतिषेध के लिए—समचिस्करत्। [यहाँ भी यदि उपदेशिवत् नहीं होगा तो सुट् के असिद्ध होने पर संयोग परे न मिलने से गुरु न बन पाने से 'दीर्घो लघोः' (७.४.९४) से 'चि' के इकार को दीर्घत्व प्राप्त होगा।]

लिटि गुणार्थेन तावन्नार्थः। वक्ष्यत्येतत्—संयोगादेर्गुणविधाने संयोगोपधग्रहणं कृञर्थमिति। चङि दीर्घप्रतिषेधार्थेनापि नार्थः। पदमितीयं भगवतः कृत्रिमा संज्ञा। युक्तमिह द्रष्टव्यं किमन्तरङ्गं किं बहिरङ्गमिति। धातूपसर्गयोः कार्यं यत्तदन्तरङ्गम्। कुत एतत्? पूर्वं हि धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेनेति। नैतत्सारम्। पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण। साधनं हि क्रियां निर्वर्तयति, तामुपसर्गो विशिनष्टि। अभिनिर्वृत्तस्य चार्थस्योपसर्गेण विशेषः शक्यो वक्तुम्। सत्यमेवमेतत्। यस्त्वसौ धातूपसर्गयोरभिसम्बन्धस्तमभ्यन्तरं कृत्वा धातुः साधनेन युज्यते। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्। यो हि मन्यते—पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेणेति, तस्य 'आस्यते गुरुणा' इत्यकर्मक 'उपास्यते गुरुः' इति केन सकर्मकः स्यात्?

लिट् परे रहने पर गुण के लिए उपदेशिवद्-वचन की आवश्यकता नहीं। [उस 'ऋतश्च...' सूत्र में] 'संयोगादेर्गुणविधाने...' कहेंगे। इससे 'संयोगोपध' ग्रहण [सामर्थ्य से सुट् का बहिरङ्गासिद्धत्व बाधित होगा।] चङ् परे रहने पर दीर्घ प्रतिषेध के लिए भी [उपदेशिवद् वचन की] उपयोगिता नहीं है। क्योंकि यहाँ 'पद' भगवान् पाणिनि की [सुबन्त, तिङन्त की] कृत्रिम संज्ञा है। [अतः उस संज्ञा के परिप्रेक्ष्य में] देखना उचित होगा कि क्या अन्तरङ्ग है, क्या बहिरङ्ग है। वास्तव में केवल धातु और उपसर्ग के अधीन जो कार्य [सुट् है], वह अन्तरङ्ग है। ऐसा क्यों? (क) क्योंकि धातु का पहले उपसर्ग के साथ योग होता है। पश्चात् साधन के साथ। [इस प्रकार उपसर्ग वाचक होते हैं। वे धातु के साथ मिलकर अपने पूर्ण क्रियार्थ के साथ तिङ् प्रत्ययार्थ के साथ सम्बद्ध होते हैं।]

यह समुचित नहीं है। (ख) वास्तव में धातु पहले साधन से युक्त होती है, पश्चात् उपसर्ग के साथ [इस प्रकार उपसर्ग द्योतक होते हैं। धातु प्रत्ययार्थ से जुड़ कर सम्पूर्ण अर्थ को प्रकाशित करती है। उपसर्ग उसका द्योतनमात्र करता है।] साधन प्रत्ययार्थ क्रियार्थ को सम्पूर्णता प्रदान करता है। उसे उपसर्ग प्रकाशित भर करता है। निष्पन्न अर्थ का ही उपसर्ग द्वारा प्रकाशन किया जा सकता है।

यह सत्य है। [परन्तु] (क) जो धातु, उपसर्ग का सम्बन्ध है उससे पहले अन्तः अनुप्रविष्ट करके पश्चात् धातु का साधन के साथ सम्बन्ध होता है। [इस प्रकार पुनः वाचक-पक्ष स्थापित किया गया।] जो यह मानते हैं कि धातु का पहले साधन के साथ योग होता है, पश्चात् उपसर्ग के साथ—[इस प्रकार उपसर्ग द्योतक हैं] उनके पक्ष में 'आस्यते गुरुणा' यह अकर्मक है, पुनः 'उपास्यते गुरुः' यह सकर्मक किस प्रकार हो जाएगा? [इस पक्ष में 'उपास्' का जो सकर्मक अर्थ है, वह मूलतः आस् का ही है। परन्तु आस् धातु तो 'आस्यते गुरुणा' उदाहरण में अकर्मक रूप में प्रख्यात हो चुकी है। अब वही 'आस्' धातु सकर्मक किस प्रकार

एवं च कृत्वा सुट् सर्वतोऽन्तरङ्गतरको भवति। कात्पूर्वग्रहणं चापि शक्यमकर्तुम्॥

यदि पुनरयं सुट्कात्पूर्वान्तः क्रियते ?

हो सकती है। इससे सिद्ध है कि आस् धातु मूलतः अकर्मक है। उसका सकर्मकत्व उपसर्गकृत है। इससे उपसर्ग उस अर्थ का वाचक है।]

इस प्रकार सुट् अन्य सबसे अन्तरङ्ग सिद्ध होता है। [क्योंकि वह केवल धातु उपसर्ग की अपेक्षा करता है, प्रत्यय की नहीं। इस प्रकार 'सम् कृ' इस दशा में ही सुट् हो जाता है।] इस दशा में 'कात् पूर्व' ग्रहण करने की भी आवश्यकता नहीं है।

विशेष—यहाँ पर महामति महाभाष्यकार ने उपसर्गों के वाचकत्व या द्योतकत्व के विवाद को प्रस्तुत किया है। इससे पूर्व भी यह प्रश्न 'उपपदमतिङ्' (२.२.१९) तथा 'धातो कर्मण...' (३.१.७) सूत्र में लगभग इन्हीं शब्दों में चर्चित किया गया है। इसके पश्चात् वैयाकरणभूषणसार आदि ग्रन्थों में अनेक अन्य पक्षों के साथ इसका विस्तृत निरूपण प्राप्त है। सभी निरूपणों से प्रकट है कि वाचकत्व तथा द्योतकत्व दोनों पक्षों में उठाए गये प्रश्नों का समाधान सम्भव है। महाभाष्यकार ने 'उपपदमतिङ्' सूत्र में द्योतकत्व पक्ष को प्रमुखता दी है, परन्तु इस सूत्र में वाचकत्व को।

कुछ प्रसङ्गों की व्याख्या उपसर्गों के द्योतकत्व पक्ष में अधिक अच्छी प्रकार सम्भव है। जैसे उपसर्गयुक्त धातुओं में धातु से पूर्व अट् होता है, उपसर्ग से पूर्व नहीं। 'विहृ' धातु से लङ् में व्यहरत् बनता है। इससे सिद्ध है कि धातु ने ही उस सम्पूर्ण अर्थ को प्रकट किया है, उपसर्गों ने केवल द्योतन किया है। इसे वाक्यपदीयकार ने इस प्रकार वर्णित किया है—

अडादीनां व्यवस्थार्थं पृथक्त्वेन प्रकल्पनाम्।
धातूपसर्गयोः शास्त्रे धातुरेव तु तादृशः॥ वा० प० २.१८०॥

परन्तु संग्राम, स्वद् (सु+अद्) जैसी कुछ धातुओं में उपसर्ग से पूर्व अट् होता है। इससे प्रकट है कि वहाँ सम् आदि उपसर्ग उन अर्थों के वाचक हैं। जहाँ पर धातुओं के साथ उपसर्गों का प्रयोग रूढ अथवा नियमित हो जाता है, वहाँ ऐसी दशा होती है। 'उपास्यते गुरुः' इत्यादि के लिए वाचकत्व-पक्ष समुचित है।

संस्कृत से विकसित हिन्दी आदि भाषाओं के कुछ उदाहरणों में उपसर्गों का वाचकत्व स्पष्ट ज्ञापित होता है। जैसे—संस्कृत के 'आयाति' से हिन्दी में 'आता है' विकसित हुआ है। यहाँ संस्कृत के उपसर्ग 'आ' में क्रियावाचकत्व को पूर्ण रूप से सम्प्रतिष्ठित कर दिया गया। इस प्रकार स्पष्टतः 'आ' उपसर्ग को वाचक माना गया है।

[प्रसङ्गान्तर-] **भा०**—यदि यह सुट् [सुक् इस प्रकार ककार अनुबन्ध के द्वारा] ककार से पूर्व के अन्तिम का भाग हो तो।

कात्पूर्वान्त इति चेद्रुविधिप्रतिषेधः॥ १०॥

कात्पूर्वान्त इति चेद्रुः कश्चिद्विधेयः, कश्चित्प्रतिषेध्यः। संस्कर्ता। समो विधेयः, सुटः प्रतिषेध्यः॥ समस्तावन्न विधेयः। वक्ष्यत्येतत्— संपुंकानां सत्वं रुविधौ ह्यनिष्टप्रसङ्ग इति। सुटश्चापि न प्रतिषेध्यः। 'समः सुटि' (८.३.५) इति द्विसकारको निर्देशः। सुटि सकारादाविति॥ अथवा परादिः करिष्यते।

परादाविड्गुणप्रसङ्गः॥ ११॥

यदि परादिः, इड्गुणौ प्राप्नुतः। संस्कृषीष्ट। 'ऋतश्च संयोगादेः' (७.२.४३) इतीट् प्राप्नोति। संस्क्रियते। 'गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः' (७.४.२९) इति गुणः प्राप्नोति॥ एवं तर्ह्यभक्तः करिष्यते।

अभक्ते स्वरः॥ १२॥

वा०—क से पूर्वान्त हो तो रु की विधि, प्रतिषेध।

भा०—क से पूर्व अन्तिम का भाग हो तो रु का कहीं विधान तथा कहीं प्रतिषेध करना होगा। संस्कर्ता। सम् को विधान करना होगा, सुट् को प्रतिषेध करना होगा [सुक् के सम् का भाग होने पर पौर्वापर्य न होने से सम् से उत्तर सुक् परे न मिलने से 'समः सुकि' यह नवनिर्मित सूत्र कार्यशील नहीं हो पाएगा। इस प्रकार मकार को रुत्व प्राप्ति नहीं हो सकेगी। साथ ही पदान्त में सुट् होने से 'ससजुषोः रुः' (८.२.६६) सूत्र से सुट् को रुत्व की प्राप्ति होने लगेगी।]

सम् के [मकार को रुत्व का] विधान नहीं करना होगा। [क्योंकि 'समः सुटि' (८.३.५) में] यह कहेंगे—सम् को सत्व होता है। सुट् का प्रतिषेध भी नहीं करना होगा—'समः सुटि' में द्विसकारक निर्देश है—'सुटि सकारादौ' अर्थात् सकारादि सुक् परे होने पर। [सुक् सकारादि ही होता है, पुनः यह विशेषण अन्यथा अनुपपन्न होकर अन्य अर्थ का ज्ञापक होगा कि इस सुक् को रुत्व नहीं होता।]

अथवा इसे परादि [यथान्यास सुट्] कहेंगे।

वा०—परादि में इट्, गुण का प्रसङ्ग।

भा०—यदि परादि है तो इट् और गुण पाते हैं। संस्कृषीष्ट। [परादि होने पर सुट् के सहयोग से संयोगादि बन जाने से 'ऋतश्च संयोगादेः' से इट् पाता है।] संस्क्रियते। [पूर्वोक्त हेतु से] 'गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः' से गुण पाता है।

अच्छा तो फिर अभक्त कहेंगे। [टकार अनुबन्ध नहीं लगाएँगे।]

वा०—अभक्त में स्वर।

यद्यभक्तः स्वरो न सिध्यति। संस्करोति। 'तिङ्ङतिङः' (८.१.२८) इति निघातो न प्राप्नोति। ननु च सुडेवातिङ्। न सुटः परस्य निघातेन भवितव्यम्। किं कारणम्? नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः। नञ्युक्तमिवयुक्तं चान्यस्मिंस्तत्सदृशे कार्यं विज्ञायते तथा ह्यर्थो गम्यते। तद्यथा—अब्राह्मणमानयेत्युक्ते ब्राह्मणसदृशं क्षत्रियमानयति नासौ लोष्टमानीय कृती भवति। एवमिहाप्यतिङिति प्रतिषेधादन्यस्मादतिङस्तिङ्सदृशात्कार्यं विज्ञास्यते। किं चान्यदतिङ् तिङ्सदृशम्? पदम्॥

अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने॥ ६.१.१४२॥

किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणेषु॥ १॥

किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणेष्विति वक्तव्यम्—अपस्किरते वृषभो हृष्टः। अपस्किरते कुक्कुटो भक्षार्थी। अपस्किरते श्वाश्रयार्थी॥

भा०—यदि अभक्त है तो स्वर सिद्ध नहीं होता। संस्करोति—यहाँ 'तिङ्ङतिङः' से निघात नहीं पाता। [क्योंकि 'सम् स् करोति' इस दशा में अतिङ् 'स्' न होने से अतिङ् से उत्तर तिङ् नहीं मिलता।] क्यों, यहाँ सुट् ही अतिङ् [तिङ् रहित] है। यहाँ सुट् से परे निघात नहीं होगा। क्या कारण है? नञ् युक्त तथा इव-युक्त होने पर सदृश अन्य के प्रति कार्य समझा जाता है, उससे ही समुचित अर्थ प्रतीत होता है। जैसे 'अब्राह्मणम् आनय' कहने पर ब्राह्मण-सदृश क्षत्रिय का आनयन होता है। वह ढेले को लाकर कृतार्थ नहीं होता। इसी प्रकार यहाँ भी 'अतिङ्' इस प्रतिषेध से अन्य अतिङ् से अर्थात् तिङ्भिन्न से परन्तु तिङ् के सदृश से कार्य समझा जाता है। वह अन्य अतिङ्, तिङ् सदृश क्या है? पद।

अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने॥

वा०—कृ को हर्ष, जीविका, कुलायकरण में।

भा०—कृ धातु को हर्ष, जीविका, कुलायकरण उपाधि से विशिष्ट होने पर [सुट् हो], यह कहना चाहिए। अपस्किरते वृषो हृष्टः=बैल प्रसन्न होकर जमीन कुरेदता है। अपस्किरते कुक्कुटो भक्षार्थी=मुर्गा [कीट आदि] खाने की इच्छा से कुरेदता है। अपस्किरते श्वाऽऽश्रयार्थी=कुत्ता विश्राम की इच्छा से कुरेदता है।

विवरण—वार्तिककार के अनुसार सूत्र में चतुष्पात्=पशु शकुनि=पक्षी उपाधि लगाना अनावश्यक है। इसके स्थान पर हर्ष जीविका आदि परिस्थितियों का वर्णन समुचित है। वार्तिककार ने 'क्रीडोऽनुसम्परिभ्यश्च' (१.३.२१) सूत्र में 'किरतेर्हर्षजीविका...' द्वारा आत्मनेपद-विधान के प्रसङ्ग में ऐसा ही किया है। वार्तिक के इस वचन से यह ज्ञात हो पाता है कि पशु, पक्षियों की किसी भी क्रिया के सन्दर्भ में नहीं, अपितु हर्षादि विशिष्ट होने पर ही सुट् होता है। इस हर्ष आदि के न होने

अपरस्पराः क्रियासातत्ये ॥ ६.१.१४४ ॥

किमिदं सातत्य इति ? संततभावः सातत्यम्। यद्येवं सांतत्य इति भवितव्यम्।

समो हिततततयोर्वा लोपः ॥ १ ॥

समो हिततततयोर्वा लोपो वक्तव्यः। संहितम्, सहितम्। संततम्, सततम्॥

सम्तुमुनोः कामे ॥ २ ॥

सम्तुमुनोः कामे लोपो वक्तव्यः। सकामः, भोक्तुकामः॥

मनसि चेति वक्तव्यम्। समनाः, भोक्तुमनाः॥

पर नहीं होता। अतः 'अपकिरति श्वा ओदनपिण्डम्' बनता है।

विशेष—इस सूत्र में 'कुरेदना' अर्थ में आलेखन का प्रयोग किया गया है। इससे प्रकट है कि किसी युग में 'लिखना' क्रिया मिट्टी या पत्थर को कुरेद कर आकृति-विशेष बना कर सम्पन्न की जाती थी। उस समय तथा उससे पूर्व भी लेखन कला परिज्ञात थी। इसके पक्के प्रमाण 'दिवाविभा:....' (३.२.२१) सूत्र में लिपि, लिबि से तथा 'इन्द्रवरुण...' (४.१.४९) सूत्र में यवनानी लिपि प्रयोग से स्वयं सूत्रकार ने प्रस्तुत किये हैं। परन्तु इस लेखन के साधन बहुत अच्छे नहीं थे। अतः कुरेदने (engrave) क्रिया से इन अक्षर-चित्रों को दिखाया जाता था। ये अक्षर-चित्र दृश्य होकर किसी घटना का वर्णन करते थे।

इंग्लिश में भी लेखन-कला के विकास के चरण में यह माना गया कि रेखा (line) किसी घटना के वर्णन में सक्षम हैं। अतः वहाँ line शब्द से विकसित delineation शब्द रेखाचित्र से तथा अन्य किसी उपाय से 'वर्णन' को प्रकट करता है।

अपरस्पराः क्रियासातत्ये ॥

भा०—यह 'सातत्ये' क्या है ? सन्तत (=निरन्तर) का भाव सातत्य (=नैरन्तर्य) ['गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' (५.१.१२४) से भाव में ष्यञ्।] तब तो 'सान्तत्ये' बनना चाहिये।

वा०—सम् का हित, तत परे रहने पर विकल्प से लोप।

भा०—सम् के [अन्त्य का (अलोऽन्त्यस्य से)] हित, तत परे रहने पर विकल्प से लोप कहना चाहिए। संहितम्, सहितम्...।

वा०—सम्, तुमुन् का काम परे रहने पर।

भा०—सम्, तुमुन् [के तुम् के अन्त्य] का काम परे रहने पर लोप कहना चाहिए। सकामः....। मनस् परे रहने पर भी अन्तिम का लोप। समनाः....।

अवश्यमः कृत्ये॥ ३॥

अवश्यमः कृत्ये लोपो वक्तव्यः। अवश्यभाव्यम्॥

गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणेषु॥ ६.१.१४५॥

इदमतिबहु क्रियते—सेविते, असेविते, प्रमाण इति। सेवितप्रमाण-योरित्येव सिद्धम्। केनेदानीमसेविते भविष्यति? नञा सेवितप्रतिषेधं विज्ञास्यामः॥ नैवं शक्यम्। सेवितप्रसङ्ग एव स्यादसेविते न स्यात्। असे-वितग्रहणे पुनः क्रियमाणे बहुव्रीहिरयं विज्ञास्यते। अविद्यमानसेवितेऽसेवित इति। तस्मादसेवितग्रहणं कर्तव्यम्॥

विष्किरः शकुनौ वा॥ ६.१.१५०॥

विष्किरः शकुनौ विकिरो वा॥ १॥

वा०—अवश्यम् का कृत्य परे रहने पर।

भा०—अवश्यम् [के अन्तिम अक्षर] का कृत्य [प्रत्ययान्त शब्द] परे रहने पर लोप कहना चाहिए। अवश्यभाव्यम् ['भाव्यम्' में 'ओरावश्यके' (३.१.१२५) से कृत्य-संज्ञक ण्यत्-प्रत्यय, पश्चात् 'मयूरव्यंसकादयश्च' (२.१.७२) से समास।]

गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणेषु॥

भा०—ये सेवित-असेवित-प्रमाण, बहुत अधिक विशेषण लगाए गए हैं। 'सेवित-प्रमाणयोः' इतने से ही सिद्ध हो जाएगा। तो फिर असेवित में [अगोष्पद शब्द] किस प्रकार बनेगा? नञ् से सेवित का प्रतिषेध समझ लेंगे। [गोष्पद बनने के पश्चात् नञ् समास से 'अगोष्पद' बन जाएगा।]

यह सम्भव नहीं है। 'सेवित' के प्रसङ्ग में ही होगा, असेवित में नहीं हो सकेगा। [उक्त रीति से 'अगोष्पद' सिद्ध करने पर 'नञिवयुक्त...' न्याय से गोष्पद सृदश के लिए 'अगोष्पद' बनेगा। अर्थात् जहाँ गाएँ विचरण नहीं करतीं, पर अच्छी घास आदि होने से गोष्पद बनने की सम्भावना है, उसे ही अगोष्पद कह सकेंगे। परन्तु पथरीले स्थानों पर जहाँ उनकी बिल्कुल सम्भावना नहीं है, उसे 'अगोष्पद' नहीं कह सकेंगे।]

'असेवित' ग्रहण करने पर [नञ्-तत्पुरुष नहीं, अपितु] इसे बहुव्रीहि समझा जाता है—अविद्यमानसेविते असेविते। [अविद्यमानं सेवितं=सेवनं यत्र—नञोऽस्त्यर्थानां....('अनेकमन्यपदार्थे' २.२.२४ पर वार्तिक) से बहुव्रीहि-समास।] इसलिए 'असेवित' ग्रहण करना चाहिए।

विष्किरः शकुनौ वा॥

वा०—शकुनि में विष्किर तथा विकिर विकल्प से।

विष्किरः शकुनौ विकिरो वेति वक्तव्यम्। शकुनौ वेति ह्युच्यमाने शकुनौ वा स्यादन्यत्रापि नित्यम्॥ तत्तर्हि वक्तव्यम्? न वक्तव्यम्। न वावचनेन शकुनिरभिसंबध्यते। किं तर्हि? निपातनमभिसंबध्यते। विष्किर इत्येतन्निपातनं शकुनौ वा निपात्यत इति॥

आश्चर्यमनित्ये॥ ६.१.१४७॥

आश्चर्यमद्भुते॥ १॥

आश्चर्यमद्भुत इति वक्तव्यम्। इहापि यथा स्यात्—आश्र्चर्यमुच्चता वृक्षस्य। आश्चर्यं नीला द्यौः। आश्चर्यमन्तरिक्षेऽबन्धनानि नक्षत्राणि न पतन्तीति॥ तत्तर्हि वक्तव्यम्? न वक्तव्यम्। अनित्य इत्येव सिद्धम्। इह तावदाश्चर्यमुच्चता वृक्षस्येति, आश्चर्यग्रहणेन न वृक्षोऽभिसंबध्यते। किं

भा०—शकुनि अभिधेय में विष्किर तथा विकिर—ये दोनों रूप विकल्प से होते हैं, यह कहना चाहिए। 'शकुनौ वा' कहने पर शकुनि में विकल्प होगा, अन्यत्र नित्य।

विवरण—प्रस्तुत न्यास में 'वा' का सम्बन्ध 'शकुनि' के साथ होगा। इससे अधिकरण का विकल्प होगा अर्थात् शकुनि में या अन्य अभिधेय में। 'शकुनौ वा' कहे बिना भी सभी अभिधेयों में प्राप्ति की स्थिति में यह वचन शकुनिसदृश में प्राप्ति कराने के लिए होगा। अतः पक्षी तथा अन्य प्राणी अभिधेय में 'विष्किरः' बनने लगेगा तथा प्राणिविरहित में 'विकिरः' की प्राप्ति होगी। परन्तु यहाँ पक्षी अभिधेय में ही 'विष्किरः', 'विकिरः' इन दो रूपों की प्राप्ति चाहते हैं। इसलिए यह वार्तिक है।

भा०—तो फिर कहा जाए? नहीं कहना चाहिए। यहाँ 'वा' वचन से शकुनि को सम्बन्धित नहीं करते। तो फिर किसे? निपातन ['निपात्यते यत् तत्' विग्रह के अनुसार निपात्यमान सुट्] को सम्बन्धित करते हैं। अतः विष्किर यह निपातन (=सुट्) शकुनि में विकल्प से समझा जाता है। [इस प्रकार शकुनि अभिधेय के यथावस्थित रहते हुए एक पक्ष में सुट् होता है, अन्य पक्ष में नहीं होता। अतः शकुनि में ही विष्किर, विकिर दोनों रूप बनते हैं।]

आश्चर्यमनित्ये॥

वा०—आश्चर्य, अद्भुत होने पर।

भा०—'आश्चर्य' शब्द अद्भुत-विषय होने पर सुट्-भाव को प्राप्त करता है, यह कहना चाहिए। यहाँ भी हो जावे—आश्चर्यमुच्चता वृक्षस्य...आदि। तो फिर कहा जावे? नहीं कहना चाहिये। 'अनित्ये' से ही सिद्ध हो जाएगा। यहाँ आश्चर्यमुच्चता वृक्षस्य—आश्चर्य से वृक्ष को सम्बन्धित नहीं करते। तो फिर

तर्हि ? उच्चता, सा चानित्या। आश्चर्यं नीला द्यौरिति, नाश्चर्यग्रहणेन द्यौरभिसंबध्यते। किं तर्हि ? नीलता, सा चानित्या। आश्चर्यमन्तरिक्षेऽबन्धनानि नक्षत्राणि न पतन्तीति, नाश्चर्यग्रहणेन नक्षत्राण्यभिसंबध्यन्ते। किं तर्हि ? पतनक्रिया, सा चानित्या। तत्रानित्य इत्येव सिद्धम्॥

किसे ? उच्चता को। वह अनित्य है।

विवरण—बहुत से वृक्षों में से कोई वृक्ष असाधारण रूप से ऊँचा है। यहाँ सभी वृक्षों में वृक्षत्व सदा नियत-रूप से परिव्याप्त है परन्तु सभी में उस प्रकार का उच्चैस्त्व नहीं है। यहाँ यदि अनित्य को वृक्ष से सम्बद्ध करें तो सुट् नहीं पाएगा। पर उच्चैस्त्व से सम्बद्ध करने पर उसके अनियत होने से सुट् सिद्ध हो जाता है।

भा०—आश्चर्यं नीला द्यौः—यहाँ 'आश्चर्य' से द्युलोक को सम्बन्धित नहीं करते। तो फिर किसे ? नीलता को। वह अनित्य है। आश्चर्यमन्तरिक्षे... (=आश्चर्य है, अन्तरिक्ष में किसी से न बँधे हुए नक्षत्र गिरते नहीं हैं।) यहाँ आश्चर्य से नक्षत्रों को सम्बन्धित नहीं करते। तो फिर किसको ? पतन-क्रिया को। वह अनित्य है। अतः 'अनित्य' से ही सिद्ध है। [यह कथन समुचित है। द्रष्टा को नक्षत्रों के प्रति आश्चर्य नहीं। अपितु उनके न गिरने के प्रति आश्चर्य है।]

विशेष—इस प्रसङ्ग में महाभाष्यकार ने अनेक रोचक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। आकाश में सर्वत्र नीलिमा दृष्टिगोचर नहीं होती। क्षैतिज-रूप से दृष्टिपात करने पर कहीं भी नीलिमा का पता नहीं चलता। परन्तु ऊँचाई पर पूरा आकाश नीला दिखता है। मानों कोई विशाल नीला कटोरा औंधा रखा हो। इस प्रकार अनियत-रूप से दृष्टिगत होने से यह 'अहो नीलं नभः' जैसे वाक्यों से आश्चर्य का विषय रहा है।

दर्शन-शास्त्र के विद्वानों ने माना कि यह उपलब्धि आश्चर्य नहीं। अपितु भ्रम का विषय है। महान् दार्शनिक शङ्कराचार्य ने कहा है—

अप्रत्यक्षे ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति।

—ब्र० सू० १.१.१ पर शांकरभाष्य

अर्थात् आकाश वस्तुतः अदृश्य है, परन्तु बच्चे धरती की मलिनता की छाया को आकाश में आरोपित करते हुए आकाश में नीलिमा का भ्रम करते हैं। इसी प्रकार दर्शन में यमुना की या समुद्र की नीलिमा को भ्रान्त माना गया है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि आकाश तो अदृश्य है। पर उस पर आधारित धूलिकणों में प्रकीर्णित (scattered) सूर्य की नीली किरणों के परावर्तन (reflection) से उपलब्ध नीलिमा की प्रतीति वास्तविक है।

इसी प्रकार आकाश में किसी से बँधे बिना किसी पदार्थ का न गिरना या टँगे होना दृष्टिगोचर नहीं होता। पर नक्षत्रों के सन्दर्भ में ऐसा ही होता है। इस प्रकार

मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः ॥ ६.१.१५४ ॥

मस्करिग्रहणं शक्यमकर्तुम्। कथं मस्करी परिव्राजक इति? इनिनैतन्मत्वर्थीयेन सिद्धम्। मस्करोऽस्यास्तीति॥ न वै मस्करोऽस्यास्तीति मस्करी परिव्राजकः। किं तर्हि? मा कृत कर्माणि मा कृत कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसीत्याह, अतो मस्करी—परिव्राजकः॥

अनियत-प्रक्रिया होने से यह भी आश्चर्य का विषय है। सूत्र-प्रोक्त 'अनित्ये' का अर्थ यह भी हो सकता है कि अनियत लोगों को दृष्टिगोचर घटना भी अनित्य है। सामान्य मनुष्यों को इस प्रकार नक्षत्रों का न गिरना आश्चर्य-पूर्ण था। परन्तु भास्कराचार्य के लिए इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं था। क्योंकि उन्होंने इसका कारण स्पष्ट ही परिज्ञात कर लिया था—

आकृष्टशक्तिश्च मही तया यत् खस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत्पततीव भाति समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे॥

—सिद्धान्त-शिरोमणि, भुवनकोश श्लोक ६

मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः॥

भा०—'मस्करी' का ग्रहण न करने पर भी काम चल सकता है। तो 'मस्करी परिव्राजकः' किस प्रकार बनेगा? यह मत्वर्थीय इनि प्रत्यय से सिद्ध है। 'मस्करः= वेणुदण्डः अस्ति अस्य' विग्रह के अनुसार। यहाँ मस्करी शब्द मस्कर=वेणुदण्ड रखने वाला होने से परिव्राजक के लिए नहीं कहा जाता। [हर परिव्राजक दण्डधारी नहीं होता] तो फिर किसे? इसने कर्मों का परित्याग किया। इसने कर्मों का परित्याग किया ['कृत' शब्द माङ्पूर्वक होने से अडागमविरहित है। 'अकृत' शब्द कृ धातु, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन है।] हमारे लिए शान्ति श्रेयस्कर है, इस प्रकार दूसरों को उपदेश देने वाला 'मस्करी परिव्राजकः' कहा जाएगा। [यहाँ माङ्-पूर्वक कृ धातु से ताच्छील्य में णिनि की प्राप्ति में इनि निपातित है। साथ ही सुट् आगम तथा माङ् को ह्रस्व भी निपातित है। इस अर्थ के लिए मस्करी में भी निपातन आवश्यक है।]

विशेष—महर्षि पाणिनि तथा पतञ्जलि के युग में भाग्यवादी या नियतिवादी के रूप में मस्करी परिव्राजकों की बहुत ख्याति थी। महाभारत में भाग्यवादी आचार्य के रूप में 'मंकि' की कहानी है, जिसमें उन्होंने अपने जीवन की एक बड़ी घटना के माध्यम से अन्ततः भाग्यवाद का उपदेश दिया। 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' (१.१.११) की काशिका में 'मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते...' में महाभारत १२.१७७.१२ के उद्धरण से उस घटना का ही वर्णन है। विद्वानों का विचार है कि यह मंकि ऋषि की परम्परा बौद्ध युग में 'मस्करी' के रूप में प्रख्यात हुई, जिसने आस्तिक और

पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्॥ ६.१.१५७॥

अविहितलक्षणः सुट् पारस्करप्रभृतिषु द्रष्टव्यः। पारस्करो देशः। कारस्करो वृक्षः। रथस्पा नदी। किष्किन्धा गुहा। किष्कुः॥

तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च।

तस्करः। बृहस्पतिः॥ प्रायस्य चित्तिचित्तयोः सुडस्कारो वा। प्रायश्चित्तिः, प्रायश्चित्तम्॥

इति पातञ्जलमहाभाष्ये षष्ठाध्यायस्य प्रथमपादे पञ्चममाह्निकम्॥

अनुदात्तं पदमेकवर्जम्॥ ६.१.१५८॥

किमनुदात्तानि पदानि भवन्त्येकं पदं वर्जयित्वा? नेत्याह। पदे येषा-

---

नास्तिक दोनों से भिन्न 'दैष्टिक' के रूप में समाज में विशिष्ट स्थान बनाया। द्रष्टव्य- 'अस्तिनास्तिदिष्टं मतिः' (४.४.६०)।

प्राचीन काल के विविध शब्दों से समाज में प्रचलित विविध-धारणाओं की सूचना मिलती है। वेद में अनेकधा प्रोक्त 'वीर' शब्द से अनीति, अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करना, दुष्टों से वैर करना, उनका कर्म ज्ञापित होता है, सांख्य में प्रकृति प्रतिफलित-पुरुष का कार्य उसका पौरुष संसूचित होता है, वहीं प्रतिष्ठित मुनि की उसके 'मौन' से पहचान मिलती है। समाज में अन्याय को उसका भाग्य बताना तथा उसके प्रति चुप लगा जाना उनकी विशेषता थी। इसी परम्परा में मस्करी परिव्राजकों को ख्याति प्राप्त हुई थी।

पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्॥

भा०—[जिस शब्द में] सुट् किसी से विहित नहीं है, उसे पारस्करादि गण में समझना चाहिए। पारस्करो देशः...।

का०—तत्, बृहत् से उत्तर क्रमशः कर, पति को क्रमशः चोर, देवता अभिधेय में सुट् तथा तलोप भी होता है। तस्करः...।

का०—प्राय को चित्ति, चित्त परे रहने पर या तो अस्-आदेश, अथवा उससे उत्तर चित्ति, चित्त को सुट्। प्रायश्चित्तिः आदि। [प्राय को अस् आदेश होने पर शकन्ध्वादि-गण में परिपठित अनुसार पररूप होगा।]

अनुदात्तं पदमेकवर्जम्॥

भा०—क्या [वाक्य में] एक पद को छोड़ कर शेष सभी पद अनुदात्त होते हैं, [यह इसका अर्थ है?] [सूत्र में प्रोक्त 'पदम्' शब्द में 'सम्पन्नो यवः' के समान जाति में एकवचन है। तब उसका अर्थ पदत्व जाति वाले सभी पद, यह अर्थ होगा।] नहीं, ऐसा कहते हैं। [एक ही] पद में जिन [अचों के मध्य, जिस किसी

मुदात्तप्रसङ्गस्तेऽनुदात्ता भवन्त्येकमचं वर्जयित्वा। स तर्हि तथा निर्देशः कर्तव्यः। अनुदात्ताः पदे, अनुदात्ताः पदस्येति वा? न कर्तव्यः। 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' इत्येव सिद्धम्। कथम्? मतुब्लोपोऽत्र द्रष्टव्यः। तद्यथा—पुष्पका एषां पुष्पकाः। कालका एषां कालका इति। अथवाऽकारो मत्वर्थीयः। तद्यथा—तुन्दः, घाट इति॥

किमर्थं पुनरिदमुच्यते?

आगमस्य विकारस्य प्रकृतेः प्रत्ययस्य च।
पृथक्स्वरनिवृत्त्यर्थमेकवर्जं पदस्वरः॥

आगमस्य—'चतुरनडुहोरामुदात्तः' (७.१.९८) चत्वारः, अनड्वाहः। विकारस्य—'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः' (७.१.७५) अस्थ्ना, दध्ना।

को] उदात्त [या स्वरित] का प्रसङ्ग है, उस एक अच् को छोड़कर सभी [अच्] अनुदात्त होते हैं।

[यदि पद में होने वाले अच् को अनुदात्त करना है] तो फिर उस प्रकार का निर्देश किया जावे—पद में [अच् को] अनुदात्त या पद के [अच् को] अनुदात्त—इस प्रकार।

नहीं करना चाहिए। 'अनुदात्तं पदम्...' से ही सिद्ध होगा। किस प्रकार? [यहाँ अवयव-अवयवी में अभेदोपचार से] मतुप् का लोप=अभाव समझना चाहिए। जैसे—पुष्पक आकृति है जिनकी [ऐसे बिडाल आदि] पुष्पकाः। अथवा अर्श-आदि गण में पाठ होने से 'अर्शआदिभ्यो अच्' (५.२.१२७) से मत्वर्थीय अकार है। तुन्दः (=तोंद वाला)।

इस सूत्र को क्यों कहा गया है?

का०—आगम, विकार, प्रकृति, प्रत्यय के [किसी एक अच् को विहित उदात्त से] अतिरिक्त किसी अन्य अच् को स्वर की निवृत्ति के लिए 'एकवर्जम् पदम्' से स्वर कहा गया है।

आगम—'चतुरनडुहोरामुदात्तः'—चत्वारः। ['चतुर्' शब्द औणादिक 'चतेरुरन्' (५.५८) से उरन् प्रत्ययान्त होने से आद्युदात्त है। प्रस्तुत-सूत्र से आम् उदात्त है। विरोधाभाव से दोनों को उदात्त प्राप्त होता है। इस सूत्र से 'सति शिष्ट' आम् को छोड़कर अन्य अच् अनुदात्त होते हैं।]

विकार—अस्थ्ना [अस्थि शब्द औणादिक क्थिन् प्रत्यय (३.१५४) द्वारा आद्युदात्त है। यहाँ 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः' (७.१.७५) से इकार के स्थान में उदात्त अनङ्-आदेश है। दोनों के उदातत्व सम्भव होने पर भी केवल आदेश 'अन्' उदात्त होता है। दधि शब्द भी 'नब्विषयस्यानिसन्तस्य' (२.३) इस

प्रकृतेः—गोपायति, धूपायति। प्रत्ययस्य च—कर्तव्यम्, तैत्तिरीयः। एतेषां पदे युगपत् स्वरः प्राप्नोति। इष्यते चैकस्य स्यादिति, तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यतीति अनुदात्तं पदमेकवर्जम्। एवमर्थमिदमुच्यते॥ नैतदस्ति प्रयोजनम्।

यौगपद्यं तवै सिद्धम्

यदयं 'तवै चान्तश्च युगपत्' (६.२.५१) इति सिद्धे यौगपद्ये यौगपद्यं शास्ति, तज्ज्ञापयत्याचार्यः—न युगपत्स्वरो भवतीति॥ पर्यायस्तर्हि प्राप्नोति!

पर्यायो रिक्तशासनात्।

फिट्सूत्र से दधि के नब्विषय= नपुंसक होने से आद्युदात्त है।]

प्रकृति—गोपायति [गुप् में 'धातोः' (६.१.१६२) से उकार उदात्त है। पश्चात् 'गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः' (३.१.२८) से आय प्रत्यय आद्युदात्त, पुनः पूर्वोक्त धातु-स्वर से सम्पूर्ण 'गोपाय' को अन्तोदात्त होने पर शेष अचों को इस सूत्र से अनुदात्त हो जाता है।]

प्रत्यय—कर्तव्यम्—कृ धातु स्वर से उदात्त। तव्य प्रत्यय स्वर से आद्युदात्त होने पर शेष अचों को इससे अनुदात्त।

इन्हें एक पद में [विरोधाभाव होने से दोनों को] एक साथ उदात्त-स्वर पाता है। इष्ट है कि एक को ही उदात्त-स्वर होवे। यह बिना यत्न के सिद्ध नहीं होता है, इसलिए यह सूत्र कहा है।

भा०—यह प्रयोजन नहीं है।

का०—'तवै' को यौगपद्य-शासन से सिद्ध।

भा०—यह जो [विरोधाभाव से स्वतः] यौगपद्य सिद्ध होने पर भी 'तवै चान्तश्च' से [दोनों अचों को] एक साथ स्वर का शासन करते हैं, उससे आचार्य ज्ञापित करते हैं कि युगपत् स्वर नहीं होता। [प्रस्तुत सूत्र से 'तवै' प्रत्यय को अन्तोदात्त तथा पूर्वपद को प्रकृतिस्वर युगपत् होता है। यदि विरोधाभाव से ये दोनों स्वर एक साथ सम्पन्न होते तो 'युगपत्' कहने की आवश्यकता ही नहीं थी। पुनः इस वचन से ज्ञापित होता है कि एक पद में एक साथ अनेक उदात्त नहीं होते।]

[ज्ञापक से यौगपद्य का निवारण होने पर दो उदात्त-स्वर] पर्याय से तो प्राप्त होते हैं।

का०—'रिक्त...' सूत्र के शासन से पर्याय भी [नहीं]।

यदयं 'रिक्ते विभाषा' (६.१.२०८) इति सिद्धे पर्यायये पर्यायं शास्ति, तज्ज्ञापयत्याचार्यः—न पर्यायो भवतीति॥

उदात्ते ज्ञापकं त्वेतत्

एतदुदात्ते ज्ञापकं स्यात्।

स्वरितेन समाविशेत्॥

स्वरितेन समावेशः प्राप्नोति॥ स्वरितेऽप्युदात्तोऽस्ति। तस्मान्नार्थोऽनेन योगेन॥

आरभ्यमाणेऽप्येतस्मिन्योगे—

अनुदात्ते विप्रतिषेधानुपपत्तिरेकस्मिन् युगपत्संभवात्॥ १॥

अनुदात्ते विप्रतिषेधो नोपपद्यते। पठिष्यति ह्याचार्यो विप्रतिषेधम् —जे दीर्घाद् बहच इति, स विप्रतिषेधो नोपद्यते। किं कारणम्? एकस्मिन् युगपत्संभवात्।

भा०—यह जो [विरोधाभाव से स्वतः] पर्याय सिद्ध होने पर भी 'रिक्ते विभाषा' से पर्याय से स्वर का शासन करते हैं, उससे आचार्य ज्ञापित करते हैं कि अन्यत्र पर्याय से स्वर नहीं होता। ['रिक्ते विभाषा' से आद्युदात्त विभाषित कहने से एक पक्ष में प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त होता है। यहाँ विरोधाभाव होने से 'रिक्ते' सूत्र प्रत्ययस्वर का बाधन नहीं करेगा। अतः स्वतः पर्याय से दोनों स्वर सिद्ध होते हैं। पुनरपि 'विभाषा' ग्रहण अनर्थक होकर ज्ञापित करता है कि अन्यत्र पर्याय नहीं होता। अपितु एक सति-शिष्ट उदात्त होकर अन्य अच् नियमतः अनुदात्त होते हैं।]

का०—यह उदात्त में ज्ञापक होगा।

भा०—यह केवल उदात्त के प्रति ज्ञापक हो सकेगा। [क्योंकि यह ज्ञापक उदात्त के अन्तर्गत प्राप्त है। अतः स्वरित की तो पर्याय से प्राप्ति होगी।]

का०—स्वरित के साथ समावेश होगा।

भा०—स्वरित के साथ [उदात्त का] समावेश होता है। स्वरित में भी उदात्त होता है। [इसलिए इस ज्ञापक से उदात्त, स्वरित दोनों का पर्याय, यौगपद्य नहीं होगा।] इसलिए इस सूत्र की आवश्यकता नहीं है।

यदि [स्पष्ट या असन्दिग्ध प्रतिपत्ति के लिए] सूत्र का आरम्भ करें तो भी—

वा०—अनुदात्त में विप्रतिषेध की अनुपपत्ति, एक में युगपत् सम्भव होने से।

भा०—[प्रस्तुत सूत्र से] अनुदात्त-विषय में विप्रतिषेध नहीं बनता। ['दीर्घ-काशतुषभ्राष्ट्रवटं जे' (६.२.८२) सूत्र में उस सूत्र से 'अन्त्यात् पूर्वं बह्वचः' का विप्रतिषेध बताया है, वह उपपन्न नहीं होता। क्या कारण है? एक [पद में] एक साथ [दोनों अचों को उदात्त] सम्भव होने से। [दो विधियों के एक साथ] सम्भव

असति खुल संभवे विप्रतिषेधो भवति, अस्ति च संभवो यदुभयं स्यात्। कथं संभवो यदानुदात्तं पदमेकवर्जमित्युच्यते? तदिह नास्ति। किं कारणम्? नानेनोदात्तत्वं प्रतिषिध्यते। किं तर्हि? अनुदात्तत्वमनेन क्रियते, अस्ति च संभवो यदुभयोश्चोदात्तत्वं स्यादन्येषां चानुदात्तत्वम्॥ यदि पुनरयमधिकारो विज्ञायते। किं कृतं भवति? अधिकारः प्रतियोगं तस्यानिर्देशार्थ इति योगे योग उपतिष्ठते। जे दीर्घान्तस्यादिरुदात्तो भवति। उपस्थितमिदं भवति—अनुदात्तं पदमेकवर्जमिति। 'अन्त्यात्पूर्वं बह्वचः' (६.२.८३)। उपस्थितमिदं भवति—अनुदात्तं पदमेकवर्जमिति। तत्र पूर्वेणास्तु वर्ज्यमानता परेण वेति परेण भविष्यति—परत्वात्॥ नैवं शक्यम्। षाष्ठिक एकः स्वरः संगृहीतः स्याद्, येऽन्ये सप्ताध्याय्यां स्वरास्ते न संगृहीताः स्युः। 'समानोदरे शयित ओ चोदात्तः' (४.४.१०८)। 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः' (७.१.७५) इति॥

न होने पर विप्रतिषेध होता है। यहाँ यह सम्भव है कि दोनों हों। किस प्रकार सम्भव है—जबकि [इस सूत्र से] एक को छोड़ कर अन्य को अनुदात्त कहा जाता है।

वह यहाँ पर नहीं है। क्या कारण है? इससे उदात्तत्व का प्रतिषेध नहीं किया जाता। तो फिर क्या? अनुदात्तत्व का विधान किया जाता है। यह सम्भव है कि दोनों का उदात्तत्व हो तथा अन्य को अनुदात्तत्व। [यहाँ 'एक' शब्द एकत्वसंख्यापरक नहीं है, अपितु इंग्लिश के a, an की तरह 'कोई' अर्थ में है। अतः जहाँ दोनों सूत्रों की प्राप्ति है, उन्हें छोड़ कर अन्य को अनुदात्त होने लगेगा।]

यदि इसे अधिकार समझ लिया जावे तो! इससे क्या? हर सूत्र में उसका निर्देश न करना पड़े, इसलिए अधिकार स्वयं ही प्रत्येक सूत्र में उपस्थित होता है। अतः 'दीर्घकाश...' सूत्र में 'ज' परे रहने पर दीर्घान्त को आद्युदात्त होता है। यहाँ 'अनुदात्तं पदम्...' उपस्थित होता है। 'अन्त्यात् पूर्वं...' यहाँ पुनः यह उपस्थित होता है। [अधिकार-सूत्र में व्यक्ति-पक्ष में यह जितने सूत्रों में उपस्थित होता है। उतने ही सूत्र बन जाते हैं। इस प्रकार जिस-जिस सूत्र से यह 'अनुदात्तं पदम्...' सम्बद्ध होता है, उस-उस सूत्र से विहित उस एक को छोड़ कर शेष सभी को अनुदात्त होगा। इससे दोनों से केवल एक-एक की वर्ज्यमानता होने से विप्रतिषेध बन जाएगा।]

[इस प्रकार विप्रतिषेध बन जाने पर] पूर्व-सूत्र से [किसी निश्चित एक की] वर्ज्यमानता हो, अथवा पर-सूत्र से विहित किसी एक की हो, परत्व हेतु से पर-सूत्र विहित किसी एक की ही होगी।

यह सम्भव नहीं है। इससे [अधिकार होने से] षाष्ठिक-स्वर ही सङ्गृहीत हो सकेगा, षाष्ठिक से अन्य सप्ताध्यायी में स्वर कहे गये हैं, वे सङ्गृहीत नहीं हो सकेंगे—'समानोदरे...' इत्यादि सूत्र।

सिद्धं त्वेकाननुदात्तत्वात्॥ २॥

सिद्धमेतत्। कथम्? एकाननुदात्तत्वात्। एकाननुदात्तं पदं भवतीति वक्तव्यम्। किमिदमेकाननुदात्तत्वादिति? नोदात्तोऽनुदात्तः। नानुदात्तोऽननुदात्तः। एकोऽननुदात्तोऽस्मिंस्तदिदमेकाननुदात्तम्। एकाननुदात्तत्वादिति। सिध्यति। सूत्रं तर्हि भिद्यते॥ यथान्यासमेवास्तु। ननु चोक्तमनुदात्ते विप्रतिषेधानुपपत्तिरेकस्मिन् युगपत्संभवादिति। नैष दोषः। परिभाषेयम्। किं कृतं भवति? कार्यकालं हि संज्ञापरिभाषम्। यत्र कार्यं तत्रोपस्थितमिदं द्रष्टव्यम्। जे दीर्घान्तस्यादिरुदात्तो भवतीत्युपस्थितमिदं भवत्यनुदात्तं पदमेकवर्जमिति। अन्त्यात्पूर्वं बह्वच इत्युपस्थितमिदं भवत्यनुदात्तं पदमेकवर्जमिति। तत्र पूर्वेणास्तु वर्ज्यमानता परेण वेति परेण भविष्यति, परत्वात्॥ अथवा नेदं पारिभाषिकानुदात्तस्य ग्रहणम्। किं तर्हि? अन्वर्थग्रहणम्। अविद्यमानोदात्तमनुदात्तमिति॥

वा०—सिद्ध है, एकाननुदात्तत्व होवे से।

भा०—यह सिद्ध है, किस प्रकार? एकाननुदात्त पद होता है, यह कहना चाहिए। यह एकाननुदात्तत्व क्या है? उदात्तभिन्न=अनुदात्त। अनुदात्तभिन्न=अननुदात्त= उदात्त अथवा स्वरित। एक अननुदात्त है जिसमें वह एकाननुदात्त।

विवरण—'एकाननुदात्तं पदम्' यह सूत्र-न्यास होगा। अर्थात् पद का केवल एक अच् उदात्त या स्वरित से भिन्न अच् वाला नहीं होता है। शेष सभी अच् उदात्तभिन्न वाले होते हैं। अब यहाँ एक को छोड़कर अन्य अचों को अनुदात्त का विधान नहीं है। अपितु एक अच् को उदात्त या स्वरित-भिन्न होने का प्रतिषेध है। यह प्रतिषेध सर्वत्र व्याप्त होगा। अतः अब एक अच् को छोड़कर अन्य अच् को उदात्तभिन्नता का प्रतिषेध सम्भव नहीं है। अतः विप्रतिषेध सिद्ध हो जाएगा।

भा०—सिद्ध है। पर सूत्रभेद तो होता है। यथान्यास रहने दें। इस पर तो पूर्वोक्त दोष दिया था। यह दोष नहीं है। यह परिभाषा है। उससे क्या होता है? संज्ञा, परिभाषाएँ अपने सभी कार्यों के साथ पुकार ली जाती हैं। अतः जहाँ भी कार्य है, वहाँ इन्हें उपस्थित समझना चाहिए। अतः 'दीर्घकाश...' तथा 'अन्त्यात् पूर्वं...' दोनों में यह उपस्थित हो जाता है। अतः [दोनों में अलग-अलग वर्ज्यमानता होने से विरोध सम्भव होने से विप्रतिषेध बन जाने से] पूर्व-सूत्र से वर्ज्यमानता कार्यशाली हो, या पर से, परत्व-नियम से पर-विधि सम्पन्न होगी।

अथवा यह पारिभाषिक अनुदात्त का ग्रहण नहीं है। तो फिर क्या? अन्वर्थ-ग्रहण है। जहाँ उदात्त विद्यमान नहीं है, वह अनुदात्त है।

एकवर्जमिति चाप्रसिद्धिः संदेहात्॥ ३॥

एकवर्जमिति चाप्रसिद्धिः। कुतः? संदेहात्। न ज्ञायते क एको वर्जयितव्य इति॥

सिद्धं तु यस्मिन्ननुदात्त उदात्तवचनानर्थक्यं तद्वर्जम्॥ ४॥

सिद्धमेतत्। कथम्। यस्मिन्ननुदात्त उदात्तवचनमनर्थकं स्यात्स एको वर्जयितव्यः॥

प्रकृतिप्रत्यययोः स्वरस्य सावकाशत्वादप्रसिद्धिः॥ ५॥

प्रकृतिप्रत्यययोः स्वरस्य सावकाशत्वादप्रसिद्धिः स्यात्। प्रकृतिस्वरस्यावकाशः—यत्रानुदात्तः प्रत्ययः। पचति, पठति। प्रत्ययस्वरस्यावकाशः—यत्रानुदात्ता प्रकृतिः। समत्वम्, सिमत्वम्। इहोभयं प्राप्नोति—कर्तव्यम्, तैत्तिरीयः॥

विप्रतिषेधात्प्रत्ययस्वरः। विप्रतिषेधात्प्रत्ययस्वरो भविष्यति। नैवम्।

विवरण—'नीचैरनुदात्तः' वाले पारिभाषिक-अनुदात्त का विधान नहीं है। अपितु एक को छोड़कर सर्वत्र उदात्त का प्रतिषेध है। इससे एक पद में दो उदात्त नहीं हो सकते। 'सत्य बोलना चाहिए' इस विधान से असत्य मिश्रित सत्य का बोलना सम्भव है। क्योंकि उसमें सत्य की कोई मात्रा तो है ही। पर असत्य नहीं बोलना चाहिए। इस निषेध से असत्य की कोई मात्रा स्वीकार्य नहीं हो सकती। इसी प्रकार यहाँ भी है।

वा०—'एकवर्जम्' यह अप्रसिद्धि, सन्देह से।

भा०—'एकवर्जम्' इस विशेषण की कृतकार्यता नहीं हो सकेगी। क्यों? सन्देह होने से। यह ज्ञात नहीं हो पाता कि किस एक को छोड़ना है।

वा०—सिद्ध है, जिस अनुदात्त में उदात्त वचन का आनर्थक्य, उसे छोड़कर।

भा०—यह सिद्ध है, किस प्रकार? जिस [अच् को] अनुदात्त होने पर उदात्त-वचन के अनर्थक होने का प्रसङ्ग उपस्थित हो, उस एक को छोड़ना होगा।

वा०—प्रकृति, प्रत्यय में स्वर के सावकाश होने से अप्रसिद्धि।

भा०—प्रकृति, प्रत्यय में स्वर के सावकाश होने से [पर-विप्रतिषेध होने पर इष्ट स्वर की] अप्रसिद्धि होगी। प्रकृतिस्वर का अवकाश है—जहाँ प्रत्यय अनुदात्त है—पचति...। ['अनुदात्तौ सुप्पितौ' (३.१.४) से तिप् अनुदात्त है।] प्रत्ययस्वर का अवकाश है—जहाँ प्रकृति अनुदात्त है—समत्वम्...। ['त्वत्त्वसमसिमेत्यनुच्चानि' (फिट् सूत्र ४.१०) से प्रकृति अनुदात्त है।] यहाँ दोनों पाते हैं—कर्तव्यम्, तैत्तिरीयः—[यहाँ 'तित्तिरि' शब्द 'शकुनीनां च लघुपूर्वम्' (फिट् सूत्र २.२१) से मध्योदात्त है तथा छ=ईय प्रत्ययस्वर से आद्युदात्त। विप्रतिषेध से प्रत्ययस्वर होगा। नहीं,

विप्रतिषेधे परमित्युच्यते, न परः प्रत्ययस्वरः। नैष दोषः। इष्टवाची परशब्दः। विप्रतिषेधे परं यदिष्टं तद्भवतीति॥

विप्रतिषेधात्प्रत्ययस्वर इति चेत्काम्यायादिषु चित्करणम्॥ ६॥

विप्रतिषेधात्प्रत्ययस्वर इति चेत्काम्यायादयश्चितः कर्तव्याः। पुत्रकाम्यति, गोपायति, ऋतीयते॥ नैष दोषः। प्रकृतिस्वरोऽत्र बाधको भविष्यति॥

प्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्वराभावः॥ ७॥

प्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्वरस्याभावः। कर्तव्यम्। तैत्तिरीयः॥

सिद्धं तु प्रकृतिस्वरबलीयस्त्वात्प्रत्ययस्वरभावः॥ ८॥

सिद्धमेतत्। कथम्? प्रकृतिस्वराद्बलीयस्त्वात्प्रत्ययस्वरस्य भावः सिद्धः। कथम्? प्रकृतिस्वरात्प्रत्ययस्वरो बलीयान् भवति॥

सतिशिष्टस्वरबलीयस्त्वं च॥ ९॥

विप्रतिषेध होने पर, पर-सूत्र को कार्य कहा गया है। प्रत्यय-स्वर पर नहीं है। यह दोष नहीं है। पर-शब्द इष्टवाची है। विप्रतिषेध होने पर जो इष्ट है, वह होता है।

वा०—विप्रतिषेध से प्रत्यय-स्वर कहें तो काम्य-आय आदि में चित्करण।

भा०—यदि [पूर्व] विप्रतिषेध से प्रत्यय-स्वर होता है, यह कहें तो काम्यच्, आय आदि को चित् करना होगा। पुत्रकाम्यति...। [यहाँ काम्यच् प्रत्यय के पश्चात् 'सनाद्यन्ता धातवः' (३.१.३२) से धातु-संज्ञा होकर धातुस्वर होता है। यहाँ धातुस्वर अभीष्ट है। परन्तु पूर्वोक्त पूर्वविप्रतिषेध से प्रत्यय-स्वर की प्राप्ति होने पर चित् स्वर कहना होगा।] यह दोष नहीं है। यहाँ परत्व से प्रकृतिस्वर बाधक हो जाएगा। [यहाँ पर-विप्रतिषेध कार्यशील होगा।

वा०—प्रकृतिस्वर होने पर प्रत्ययस्वर का अभाव।

भा०—[परत्व से] प्रकृतिस्वर होने पर प्रत्ययस्वर का अभाव होगा। [यदि 'पुत्रकाम्यति' के लिए पर-विप्रतिषेध है तो विनिगमना के अभाव में यहाँ भी अवश्य ही पर-विप्रतिषेध कार्यशील होगा। इससे यहाँ प्रत्यय-स्वर नहीं पाएगा।] कर्तव्यम्... आदि।

वा०—प्रकृतिस्वर से अधिक बलवान् होने से प्रत्ययस्वर का भाव सिद्ध।

भा०—यह सिद्ध है। किस प्रकार? प्रकृतिस्वर की अपेक्षा प्रत्ययस्वर के अधिक बलवान् होने से उसका भाव सिद्ध है। किस प्रकार? प्रकृतिस्वर से प्रत्ययस्वर अधिक बलवान् होता है, यह कहना चाहिए? [इससे कर्तव्यम् सिद्ध होगा। पर 'गोपायति' आदि में वैसा ही दोष बना रहेगा, अतः अगला वार्तिक—]

वा०—किसी के बने रहते हुए शिष्टस्वर बलीयस्त्व भी।

सति शिष्टस्वरो बलीयान् भवतीति वक्तव्यम्॥

तच्चानेकप्रत्ययसमासार्थम्॥ १०॥

तच्चावश्यं सतिशिष्टस्वरबलीयस्त्वं वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? अनेकप्रत्ययार्थमनेकसमासार्थं च। अनेकप्रत्ययार्थं तावत्—औपगवः। प्रकृतिस्वरमण्स्वरो बाधते। औपगवत्वम्। त्वस्वरोऽण्स्वरं बाधते। औपगवत्वकम्। त्वस्वरं कस्वरो बाधते। अनेकसमासार्थम्—राजपुरुषः—राजपुरुषपुत्रः—राजपुरुषपुत्रपुरुषः॥

यदि सतिशिष्टस्वरबलीयस्त्वमुच्यते, स्यादिस्वरः सार्वधातुकस्वरं बाधेत—सुनुतः, चिनुतः!

स्यादिस्वराप्रसङ्गश्च तासेः परस्यानुदात्तवचनात्॥ ११॥

स्यादिस्वरस्य चाप्रसङ्गः। कुतः? तासेः परस्यानुदात्तवचनात्। यदयं तासेः परस्य लसार्वधातकस्यानुदात्तत्वं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यः—सति शिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधत इति॥

भा०—किसी पूर्व-स्वर के बने रहते हुए [उसकी तुलना में] उत्तरवर्ती शासित-स्वर अधिक बलवान् होता है, यह कहना चाहिए।

वा०—वह अनेक प्रत्यय, समास के लिए।

भा०—यह उत्तरशासित-स्वर की अधिक बलवत्ता अवश्य की कहनी होगी। क्या प्रयोजन है? अनेक प्रत्यय के लिए तथा अनेक समास के लिए। अनेक प्रत्यय के लिए, जैसे—औपगवः—यहाँ उत्तरवर्ती अण्-स्वर प्रकृतिस्वर का बाधक होता है। औपगवत्वम्-त्वस्वर अण्-स्वर को बाधता है। औपगवत्वकम्—कस्वर त्वस्वर को बाधता है। [इस प्रत्ययस्वर से 'क' उदात्त तथा शेष अनुदात्त होते हैं।] अनेक-समास के लिए—राजपुरुषः, राजपुरुषपुत्रः, राजपुरुषपुत्रपुरुषः, यहाँ 'समासस्य' (६.१.२२३) से सर्वपश्चाद्वर्ती-समास के अन्तिम-अक्षर को उदात्त होता है।

यदि 'सति शिष्टस्वरबलीयस्त्वम्' यह कहते हैं तो स्यादिस्वर [स्य इत्यादि विकरण-स्वर] सार्वधातुकस्वर को बाधने लगेगा! सुनुतः...। [तस् परे रहने पर पश्चात् श्नु शासित होने से यह श्नु सति शिष्ट है। अतः यही बलवान् होगा।]

वा०—तास् से परे अनुदात्त-वचन होने से स्यादि-स्वर का अप्रसङ्ग।

भा०—स्यादि-स्वर का अप्रसङ्ग होगा। क्यों? तास् से परे अनुदात्त-वचन होने से। यह जो तास् से परे लसार्वधातुक को अनुदात्त का शासन ['तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशा...' (६.१.१८६) से] करते हैं, उससे आचार्य ज्ञापित करते हैं कि सति शिष्ट विकरणस्वर लसार्वधातुकस्वर को नहीं बाधता। [लादेश परे रहने पर तास् होता है, इस पक्ष में ज्ञापक है। इस स्थिति में तास् के सति शिष्ट

शास्त्रपरविप्रतिषेधानियमाद्वा शब्दपरविप्रतिषेधात्सिद्धम्॥ १२॥

अथवा शास्त्रपरविप्रतिषेधे न सर्वमिष्टं संगृहीतं भवतीति कृत्वा शब्दपर-विप्रतिषेधो विज्ञास्यते॥ यदि शब्दपरविप्रतिषेधो भवति, काम्यादयश्चितः कर्तव्याः। पुत्रकाम्यति, गोपायति, ऋतीयते। शब्दपरविप्रतिषेधो नाम स भवति यत्रोभयोर्युगपत्प्रसङ्गः, न च काम्यादिषु युगपत्प्रसङ्गः॥

होने से उसका स्वर होता तथा अन्य लसार्वधातुक अनुदात्त होता। पुनः अनुदात्त विधान उपरि-लिखित में ज्ञापक है।]

वा०—अथवा शास्त्रपर-विप्रतिषेध से नियम न हो पाने से शब्द-पर-विप्रतिषेध से सिद्ध।

भा०—अथवा शास्त्र-पर-विप्रतिषेध में सम्पूर्ण इष्ट का सङ्ग्रह नहीं होता, अतः शब्द-पर-विप्रतिषेध समझा जाएगा। ['विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (१.४.२) सूत्र से सामान्यतया लक्षण या सूत्र का विप्रतिषेध होता है। परन्तु एक ही उदाहरण में दो स्थानों में उसी कार्य की प्राप्ति में उत्तरवर्ती शब्द में शब्दपरविप्रतिषेध से वह कार्य सम्पन्न होता है। इससे 'सुनुतः' में तस् का स्वर सिद्ध हो सकेगा।]

यदि शब्द पर-विप्रतिषेध है तो काम्य आदि को चित् करना होगा। पुत्रकाम्यति...। [क्योंकि यहाँ एक शब्द के अलग-अलग स्थानों में कार्य नहीं है। प्रत्यय को ही आद्युदात्त है तथा तदन्त धातु को ही अन्तोदात्त है। इससे यहाँ शब्द-पर-विप्रतिषेध नहीं लग सकेगा। अतः पूर्वोक्त पूर्व-विप्रतिषेध के अनुसार आद्युदात्त की प्राप्ति में चित्-करण आवश्यक होगा।]

यह दोष नहीं है। शब्द-पर-विप्रतिषेध वहाँ होता है, जहाँ दोनों की एक साथ प्राप्ति होती है। काम्य आदि में एक साथ प्राप्ति नहीं है। [प्रथम काम्य को प्रत्यय-आद्युदात्तत्व की, पश्चात् सम्पूर्ण की धातु-संज्ञा होने पर धातुस्वर की प्राप्ति है। इससे यहाँ शब्द-पर-विप्रतिषेध कार्यशील नहीं होगा।]

विवरण—महाभाष्योक्त यह विवरण एकदेश्युक्ति है।

'पुत्रकाम्यति' में शब्द-पर-विप्रतिषेध नहीं बन पाता, यह मान कर दोष दिया है। इसके न बन पाने का कारण यह बताया है कि (क) यहाँ एक ही स्थान पर दो विधियाँ प्राप्त हैं। समाधान में पुनः यही सिद्ध किया है कि शब्द-पर-विप्रतिषेध नहीं है। यहाँ उसका कारण भिन्न बताया है। (ख) क्योंकि दो विधियाँ एक साथ प्राप्त नहीं है। इस प्रकार इस समाधान से भी दोष तदवस्थित है। इसलिए महाविद्वान् कैयट ने 'सति शिष्ट' का आश्रयण ही अन्तिम समाधान माना है।

शब्द-पर-विप्रतिषेध की इस द्वितीय-स्थापना में यह मानना होगा कि इसके होने की दशा में दो विधियाँ एक साथ प्राप्त होती हैं। पर उन दो विधियों के अधिकरण-मूलक-शब्द अलग-अलग स्थानों में अवस्थित होते हैं। जैसे 'सुनुतः'

विभक्तिस्वरान्नञ्स्वरो बलीयान्॥ १३॥

विभक्तिस्वरान्नञ्स्वरो बलीयानिति वक्तव्यम्। विभक्तिस्वरस्यावकाशः—तिस्रस्तिष्ठन्ति। नञ्स्वरस्यावकाशः—अब्राह्मणः, अवृषलः। इहोभयं प्राप्नोति—अतिस्रः। नञ्स्वरो भवति॥

विभक्तिनिमित्तस्वराच्च॥ १४॥

विभक्तिनिमित्तस्वराच्च नञ्स्वरो बलीयानिति वक्तव्यम्। विभक्तिनिमित्तस्वरस्यावकाशः—चत्वारः, अनड्वाहः। नञ्स्वरस्य स एव। इहोभयं प्राप्नोति—अचत्वारः, अननड्वाहः॥

में नु के पश्चात् तस् अवस्थित है। अतः तस् का स्वर होगा। पर यहाँ भी नु को तथा तस् को प्रत्यय आद्युदात्त युगपत् प्राप्त नहीं है। अपितु तस् के आने पर तस् को तथा नु के आने पर नु को प्रत्यय-स्वर] आद्युदात्त की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जिस 'सुनुतः' की सिद्धि के लिए द्वितीय वार्तिक का आरम्भ है, वह भी इस द्वितीय स्थापना से समाहित प्रतीत नहीं होती।

अतः 'सुनुतः' का सिद्धान्त-समाधान 'तास्यनुत्तेन्ङित्...' का ज्ञापक है। 'पुत्रकाम्यति' आदि में शब्द-पर-विप्रतिषेध में भी तथा शास्त्रपरविप्रतिषेध में भी पूर्व-विप्रतिषेध मानने पर काम्यच् को चित् करना पड़ता है। पर-विप्रतिषेध में इसकी आवश्यकता नहीं है।

सभी प्रश्नों का अन्तिम-समाधान सति-शिष्ट-स्वर-बलीयस्त्व ही है। अतः वैयाकरण-निकाय में सर्वत्र इसे ही स्वीकार किया गया है।

वा०—विभक्तिस्वर से नञ् स्वर अधिक बलवान्।

भा०—विभक्तिस्वर से नञ्-स्वर अधिक बलवान् होता है, यह कहना चाहिए। विभक्तिस्वर का अवकाश है—तिस्रस्तिष्ठन्ति। [यहाँ 'तिसृभ्यो जसः' (६.१.१६६) से] विभक्ति को उदात्तत्व है। नञ्स्वर का अवकाश है—अब्राह्मणः। [यहाँ 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ...' से] नञ् को प्रकृतिस्वर है। यहाँ दोनों प्राप्त हैं—अतिस्रः। [विप्रतिषेध से नञ्-स्वर होता है। [विभक्ति-स्वर के सति शिष्ट होने से उसकी प्राप्ति में यह वार्तिक है।]

वा०—विभक्ति-निमित्त-स्वर से भी।

भा०—['विभक्तिः निमित्तं यस्य' इस बहुव्रीहि का विग्रह होने से] वह आगम आदि जो विभक्ति को निमित्त मानकर सम्पन्न होता है, उसे होने वाले स्वर से नञ्-स्वर अधिक बलवान् होता है, यह कहना चाहिए। विभक्ति-निमित्त-स्वर का अवकाश है—चत्वारः...। [यहाँ 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' (७.१.९८) से विभक्ति मानकर आम् आगम निष्पन्न है। उसे होने वाला उदात्त-स्वर है।] नञ्-स्वर का वही। यहाँ दोनों पाते हैं—अचत्वारः...। [यहाँ भी सति शिष्ट होने से

यच्चोपपदं कृति नञ्॥ १५॥

यच्चोपपदं कृति नञ् तस्य स्वरो बलीयानिति वक्तव्यम्। अकंरणिर्ह ते वृषल॥

सहनिर्दिष्टस्य च॥ १६॥

सहनिर्दिष्टस्य च नञः स्वरो बलीयानिति वक्तव्यम्। अव्यंथी॥

कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः॥ ६.१.१५९॥

किमर्थं कृषेर्विकृतस्य ग्रहणं क्रियते न कृषात्वत इत्येवोच्येत? यस्य कृषेर्विकरण एतद्रूपं तस्य यथा स्यात्। इह मा भूत्—हलस्य कर्ष इति॥

विभक्ति-निमित्त-स्वर आम्-उदात्त की प्राप्ति में वार्तिकोक्त पूर्वविप्रतिषेध से नञ् स्वर होता है।]

वा०—कृत् परे होने पर उपपद-नञ् भी।

भा०—कृत् परे होने पर जो उपपद-नञ् है, उसका स्वर भी बलवान् होता है, यह कहना चाहिए। अकरणिर्ह ते वृषल। [यहाँ नञ्-उपपद रहने पर कृ धातु से 'आक्रोशे नञ्यनिः' (३.३.११२) से अनि-प्रत्यय होने पर 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (६.२.१३९) सूत्र से परत्व हेतु से उत्तरपद-प्रकृति-स्वर की प्राप्ति होती है। परन्तु इस वार्तिक बल से पूर्वोक्त नञ्-स्वर कार्यशील होता है।]

वा०—सहनिर्दिष्ट का भी।

भा०—[धातु के] साथ निर्दिष्ट नञ् का स्वर भी बलवान् होता है, यह कहना चाहिए (अव्यथी) [यहाँ नञ् पूर्वक व्यथ से 'जिदृक्षि...' (३.२.१५७) से इनि प्रत्यय होता है। इसके लिए इस सूत्र में धातु के साथ नञ् को 'अव्यथ' रूप में निर्दिष्ट किया है। यहाँ इसी निपातन से नञ् का धातु के साथ समास होकर यह रूप बनता है। इस प्रकार समास के पश्चात् इनि प्रत्यय होता है। इस प्रत्यय के सति शिष्ट होने से प्रत्ययाद्युदात्तत्व की प्राप्ति में यह वार्तिक है। इनि प्रत्यय विधायक सूत्र में नञ् के सप्तमीनिर्दिष्ट न होने से यह उपपद नहीं है। इससे पूर्वोक्त वार्तिक से सिद्धि न हो पाने से इस वार्तिक की रचना है।]

कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः॥

भा०—यहाँ कृष् का गुणविकार सम्पन्न का ग्रहण क्यों किया गया है? 'कृषात्वतः' इस प्रकार ही क्यों न कहें? जिस धातु का विकरण परे रहने पर यह [कर्ष] रूप होता है, वहाँ इस सूत्र की प्रवृत्ति हो। [भ्वादिगणीय कृष् धातु का कर्षति यह गुणरूप बनता है, तुदादिगणीय का नहीं। इस निर्देश से भ्वादिगणीय का ही ग्रहण होता है।] यहाँ न हो—हलस्य कर्षः [इस तौदादिक के घञन्त में इस सूत्र के प्रवृत्त न होने से ञित् आद्युदात्त ही होता है।]

अथ किमर्थं मतुपा निर्देशः क्रियते न कर्षात इत्येवोच्यते? कर्षात इतीयत्युच्यमाने यत्रैवाकारादनन्तरो घञस्ति तत्रैव स्यात्। दा॒यः, धा॒यः। इह न स्यात्—पा॒कः, पा॒ठः॥ न क्वचिदाकारादनन्तरो घञस्ति। इहापि—दा॒यः, धा॒यः—इति युका व्यवधानम्॥ एवमपि विहितविशेषणमाकारग्रहणं विज्ञायेत—आकाराद्यो विहित इति। मतुब्ग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति॥

अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः॥ ६.१.१६१॥

अनुदात्तस्येति किमर्थम्? प्रासङ्गं वहति प्रा॒स॒ङ्ग्यः।

उदात्तलोपे स्वरितोदात्तयोरभावादनुदात्तग्रहणानर्थक्यम्॥ १॥

उदात्तलोपे स्वरितोदात्तयोरभावादनुदात्तग्रहणमनर्थकम्। न हि कश्चिदुदात्त उदात्ते स्वरिते वा लुप्यते, सर्वोऽनुदात्त एव॥ ननु चायमुदात्तः स्वरिते

अच्छा, यह [आत्वतः में] मतुप् से निर्देश क्यों किया है? 'कर्षातः' इस प्रकार क्यों न कहा जावे? 'कर्षातः' कहने पर जहाँ आकार से उत्तर घञ् है। [घञ् उत्पत्ति काल में] वहीं होता—दायः, धायः। यहाँ न होता—पाकः, पाठः।

कहीं पर भी आकार से अव्यवहित घञ् प्राप्त नहीं होता। यहाँ—दायः, धायः में भी [परत्व या नित्यत्व से युक् पहले करने पर] युक् से व्यवधान होगा। फिर भी 'आतः' कहने पर आकार-ग्रहण विहित विशेषण होता—आकारान्त से जो विहित है। [इससे दायः, धायः में होता, पाकः आदि में नहीं।] मतुप् ग्रहण करने से कोई दोष नहीं होता।

अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः

भा०—'अनुदात्तस्य' किसलिए कहा है? प्रासङ्गं वहति प्रासङ्ग्यः। [प्रासज्यते इति प्रासङ्गः (=गोद) इस विग्रह के अनुसार कर्म में घञ्। 'थाथघञ्क्ताज...' (६.२.१४४) से अन्तोदात्त। पुनः 'तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्' (४.४.७६) से यत्। 'तित् स्वरितम्' (६.१.१८५) से स्वरित। यहाँ इस स्वरित परे रहने पर 'यस्येति च' (६.४.१४८) से उदात्त-अकार का लोप है। इसकी निवृत्ति के लिए 'अनुदात्तस्य' सार्थक है।

वा०—उदात्त-लोप में स्वरित, उदात्त के अभाव से अनुदात्त-ग्रहण का आनर्थक्य।

भा०—उदात्त-लोप के सन्दर्भ में स्वरित या उदात्त परे रहने का अभाव होने से अनुदात्त ग्रहण अनर्थक है। कोई भी उदात्त—उदात्त या स्वरित परे रहने पर लुप्त नहीं होता। सभी अनुदात्त ही [लुप्त] होते हैं। क्यों, यह उदात्त तो स्वरित परे रहने

लुप्यते—प्रा॒स॒ङ्गं वहति प्रा॒स॒ङ्ग्य इति? एषोऽपि निघाते कृतेऽनुदात्त एव लुप्यते। इदमिह संप्रधार्यम्—निघातः क्रियतां लोप इति किमत्र कर्तव्यम्? परत्वाल्लोपः। एवं तर्ह्ययमद्य निघातस्वरः सर्वस्वराणामपवादः। न चापवादविषय उत्सर्गोऽभिनिविशते। पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पश्चादुत्सर्गाः। प्रकल्प्य वापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते। तन्न तावदत्र कदाचित्थाथादिस्वरो भवत्यपवादं निघातं प्रतीक्षते। तत्र निघातः क्रियतां लोप इति, यद्यपि परत्वाल्लोपः, सोऽसाववविद्यमानोदात्तोऽनुदात्तो लुप्यते॥

किं पुनरनुदात्तस्यान्त उदात्तो भवत्याहोस्विदादिः? कश्चात्र विशेषः?

अन्त इति चेच्श्नम्क्सयुष्मदस्मदिदंकिंलोपेषु स्वरः॥ २॥

अन्त इति चेच्श्नम्क्सयुष्मदस्मदिदंकिंलोपेषु स्वरो न सिध्यति। श्नम्—

पर लुप्त होता है—प्रासङ्गं वहति, प्रासङ्ग्यः। यह भी ['अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (६.१.१५८) से] निघात=सर्वानुदात्त करने के पश्चात् अनुदात्त ही लुप्त होता है।

यह सम्प्रधारणा करें—पहले निघात किया जावे या लोप, क्या करना चाहिए? परत्व से लोप। अच्छा तो फिर यह निघात स्वर [उससे पूर्व होने वाले] सभी स्वरों का अपवाद है। अपवाद-विषय में उत्सर्ग प्रविष्ट नहीं होता। पहले अपवाद अभिनिविष्ट होता है, पश्चात् उत्सर्ग। अपवाद-विषय को छोड़ कर उत्सर्ग अभिनिविष्ट होता है। अतः यहाँ थाथादिस्वर अन्तोदात्त होता ही नहीं, अपितु [पश्चाद्भावी] अपवाद निघात की प्रतीक्षा करता है। इस स्थिति में अब निघात करें या लोप, यद्यपि परत्व से लोप ही होगा, तथापि यह अविद्यमानोदात्त=अनुदात्त लुप्त होता है। [थाथादिस्वर न होने पर 'अनुदात्तं पदं...' लगने से पूर्व यह अस्वरक अर्थात् अविद्यमानोदात्त होने से व्युत्पत्तिमूलक अनुदात्त होता है। इस प्रकार इस अनुदात्त का लोप होने से उदात्त लोप न होने से इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी।]

विवरण—'अनुदात्तस्य' न कहने पर सूत्र का अर्थ होगा—किसी भी स्वर परे रहने पर उदात्तलोप होने पर उस स्वर का अनुदात्त। इस प्रकार स्वरित परे रहने पर उदात्त-लोप होने पर स्वरित को उदात्त होगा। समाधान में कहा है कि स्वरित परे रहने पर कभी उदात्त मिलता ही नहीं। अपितु अविद्यमानोदात्त प्राप्त होता है। अतः दोष न होगा।

[प्रसङ्गान्तर-] **भा०**—क्या अनुदात्त का अन्तिम-अक्षर उदात्त होता है, या आदि। [अन्त-ग्रहण की अनुवृत्ति होने पर अन्त को होगा। इसकी अनुवृत्ति न होने पर क्रम-प्राप्त होने से आदि को होगा।]

वा०—अन्त हो तो श्नम्, क्स, युष्मदस्मद्, इदम्-किम्-लोप में स्वर।

भा०—अन्त हो तो पूर्वोक्त में स्वर सिद्ध नहीं होता। श्नम्—विन्दाते। [विद्

विन्दातें, खिन्दातें। श्नम्। क्स—मा हि धुक्षाताम्। मा हि धुक्षाताम्। क्स। युष्मदस्मद्—युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्। इदंकिंलोपः—इयान्। कियान्॥ अस्तु तर्ह्यादिः।

आदिरिति चेदिन्धीत द्वयमित्यन्तः॥ ३॥

आदिरिति चेदिन्धीत द्वयमित्यन्तोदात्तत्वं न सिध्यति। इन्धीत। द्वयम्। त्रयम्॥

धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, द्विवचन। 'वि श्नम् द् आताम्' इस दशा में 'तास्यनुदात्तेन्ङिद...' (६.१.१८६) से आताम् अनुदात्त है तथा श्नम् प्रत्यय आद्युदात्त है। अब 'श्नसोरल्लोपः' (६.४.१११) से श्नम् के न के अकार का लोप अनुदात्त परे रहने पर सम्पन्न हुआ है। अतः इन दोनों अनुदात्तों में से अन्तिम को इस सूत्र से उदात्त की प्राप्ति होती है।]

क्स—मा हि धुक्षाताम्...। [माङ् पूर्वक दुह धातु, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, द्विवचन। 'अ दुह् क्स आताम्' इस दशा में पूर्वोक्त 'तास्यनु...' से आताम् अनुदात्त। क्स प्रत्यय-स्वर से उदात्त। 'क्सस्याचि' (७.३.७२) से अनुदात्त परे रहने पर उदात्त-लोप। अतः आताम् के अन्तिम अनुदात्त को उदात्त की प्राप्ति होती है।]

युष्मभ्यम्—['युष्मद् भ्यस्' इस दशा में 'भ्यसोऽभ्यम्' (७.१.३०) से अभ्यम् आदेश। सुप् होने से अभ्यम् अनुदात्त। युष्मद् प्रातिपदिक होने से अन्तोदात्त। 'शेषे लोपः' (७.२.९०) से टिलोप होने पर अनुदात्त परे रहने पर उदात्त-लोप। अतः अभ्यम् के अन्तिम को उदात्त की प्राप्ति।]

इदम् किम् लोप—इयान्, कियान् [इदम् से 'किमिदंभ्यां वो घः' (५.२.४०) से वतुप्। पित् से सम्पूर्ण अनुदात्त। इसी 'किमिदंभ्याम्...' से वकार को घकार। इसे इय् आदेश। 'इदंकिमोरीश्की' (६.३.९०) से ईश् तथा की आदेश। यह आदेश-प्रातिपदिक अन्तोदात्त। सम्पूर्ण अनुदात्त प्रत्यय परे रहने पर 'यस्येति च' (६.४.१४८) से उदात्त-ईकार का लोप। यहाँ भी अन्तिम अनुदात्त को उदात्त की प्राप्ति होती है।]

अच्छा तो फिर [अनुदात्त के] आदि को उदात्त [पक्ष मान्य हो]

वा०—आदि हो तो इन्धीत, द्वयम् यहाँ अन्तिम।

भा०—आदि [अनुदात्त को उदात्त] यदि यह पक्ष हो तो इन्धीत, द्वयम् यहाँ अन्तिम को उदात्त कहना होगा। इन्धीत द्वयम्...। [इन्धीत में इन्ध् धातु विधिलिङ्, प्रथमपुरुष, एकवचन। इन्ध् से लिङ् के स्थान में त। पूर्वोक्त 'तास्यनुदात्ते...' से अनुदात्त। त परे रहने पर सीयुट्-आगम। उसका आगमानुदात्तत्व। इन्ध् को श्नम् विकरण। 'इनन्ध् सीय् त' इस दशा में 'श्नान्नलोपः' (६.४.२३) से नलोप के पश्चात् 'श्नसोरल्लोपः' (६.४.१११) से विकरण के उदात्त-अकार का लोप होने पर अनुदात्त-अचों के आदि ईकार को उदात्त की प्राप्ति है। परन्तु अन्तिम 'त' को उदात्त अभीष्ट है।]

आदौ सिद्धम्॥ ४॥

अस्तु तर्ह्यादिरुदात्तो भवतीति॥ ननु चोक्तमादिरिति चेदिन्धीत द्वय-मित्यन्त इति?

विदीन्धिखिदिभ्यश्च लसार्वधातुकानुदात्तप्रतिषेधाल्लिङि सिद्धम्॥ ५॥

विदीन्धिखिदिभ्यश्च लसार्वधातुकानुदात्तत्वं लिङि नेति वक्तव्यम्॥ लिङ्ग्रहणेन नार्थः। अविशेषेण विदीन्धिखिदिभ्यश्च लसार्वधातुका-नुदात्तत्वं नेत्येव। इदमपि सिद्धं भवति—विन्दाते, खिन्दाते॥ अयचि कथम्?

अयचि चित्करणात्॥ ६॥

द्वयम्...। ['द्वौ अवयवौ अस्य' इस विग्रह के अनुसार द्वि से 'सङ्ख्याया अवयवे तयप्' (५.२.४२) से तयप्। 'द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा' (५.२.४३) से तय के स्थान में अयच्-आदेश। पित् अनुदात्त तयप् के स्थान में होने से यह आदेश अनुदात्त। अयच् परे रहने पर अन्तोदात्त द्वि के इकार का यस्येति-लोप। इसके लोप होने पर अय अनुदात्त के आदि-अच् को उदात्त की प्राप्ति होती है।]

वा०—आदि में होने से सिद्ध।

भा०—अच्छा तो फिर, आदि को उदात्त होता है। इस पर तो इन्धीत आदि में दोष प्रदान किये गये हैं?

वा०—विद्, इन्ध्, खिद् से लसार्वधातुक-अनुदात्त के प्रतिषेध से लिङ् में सिद्ध।

भा०—विद्, इन्ध्, खिद् से लसार्वधातुक का अनुदात्तत्व लिङ् परे रहने पर नहीं होता, यह कहना चाहिए। [इस प्रकार 'इन्धीत' में त अनुदात्त नहीं, अपितु प्रत्यय-स्वर से उदात्त होगा, सीयुट्-आगम अनुदात्त होगा। श्नम्-विकरण ६.१.१५८ सूत्र में कहे ज्ञापक के अनुसार लसार्वधातुक-स्वर को नहीं बाधेगा अतः वर्ज्यमान-स्वर से अनुदात्त होगा। इस प्रकार उदात्त-लोप न होने से यह सूत्र नहीं लगेगा। अतः प्रत्ययस्वर से 'त' को उदात्त सिद्ध हो जाएगा।]

भा०—लिङ्ग्रहण की आवश्यकता नहीं। सामान्यतः [लिङ् को छोड़कर] यह वार्तिक कहा जाएगा। इससे यह भी सिद्ध होता है—विन्दाते...। [पूर्वोक्त अन्त-ग्रहण की अनुवृत्ति पक्ष में समाधान है। लसार्वधातुक को अनुदात्त न होने पर 'आते' प्रत्यय आद्युदात्त होगा। अब उदात्त परे रहने पर लोप होने से यह सूत्र नहीं लगेगा। इससे 'आते' आद्युदात्त सिद्ध हो सकेगा।]

भा०—अयच् परे रहने पर कैसे होगा?

वा०—अयच् में चित्करण से।

अयचि चित्करणसामर्थ्यादन्तोदात्तत्वं भविष्यति॥

धातोः॥ ६.१.१६२॥

किं धातोरन्त उदात्तो भवत्याहोस्विदादिरिति ? कश्चात्र विशेषः।

धातोरन्त इति चेदनुदात्तेचबग्रहणम्॥ १॥

धातोरन्त इति चेदनुदात्तेचबग्रहणं कर्तव्यम्। 'अभ्यस्तानामादिः', 'अनुदात्ते च' (६.१.१८९, १९०) इति वक्तव्यम्। बग्रहणं च कर्तव्यम्। बान्तश्च पिबिराद्युदात्तो भवतीति वक्तव्यम्। पिबति॥

संश्च नित्॥ २॥

संश्च नित्कर्तव्यः। किं प्रयोजनम्? चिकीर्षति, जिहीर्षति। नितीत्याद्युदात्तत्वं यथा स्यात्। अस्तु तर्ह्यादिः।

आदावूर्णुप्रत्ययधातुष्वन्तोदात्तत्वम्॥ ३॥

भा०—अयच् में चित्करण-सामर्थ्य से अन्तोदात्त होगा। [प्रत्यय के आदि में उदात्तत्व से चित्करण व्यर्थ होगा। अतः सामर्थ्य से अन्तोदात्त सिद्ध होता है।]

धातोः॥

भा०—क्या धातु के अन्त को उदात्त होता है या आदि को ? [प्रश्नाशय पूर्व-सूत्र में प्रोक्त है।] इसमें क्या विशेष है ?

वा०—धातु के अन्त को हो तो अनुदात्ते च, ब-ग्रहण।

भा०—धातु के अन्त को [उदात्त यह अर्थ] हो तो 'अनुदात्ते च' ब-ग्रहण करना होगा। 'अभ्यस्तानामादिः' के साथ 'अनुदात्ते च' कहना होगा। [ताकि 'ददाति' इस दशा में आद्युदात्त हो सके। अन्यथा 'धातोः' से अन्तोदात्त होने पर अन्तिम को उदात्त होता।] ब-ग्रहण भी करना होगा। बकारान्त पिब धातु आद्युदात्त होती है, यह कहना होगा। [लघूपध-गुण की निवृत्ति के लिए 'पिब' धातु अदन्त मान्य है। यहाँ इस सूत्र से अन्तोदात्त है। उसके निवारण के लिए आद्युदात्त कहना आवश्यक होगा।]

वा०—सन् भी नित्।

भा०—सन् को भी नित् करना होगा। क्या प्रयोजन है ? चिकीर्षति... । 'निति' से आद्युदात्त हो जावे। अन्यथा 'धातोः' से अन्तोदात्त होता। अच्छा तो फिर इससे आद्युदात्त होता है।

वा०—आदि होने पर ऊर्णु, प्रत्यय-धातु में अन्तोदात्तत्व।

आदावूर्णुप्रत्ययधातुष्वन्तोदात्तत्वं न सिध्यति। ऊर्णोति। ऊर्णु। प्रत्यय-धातु—गोपायति, धूपायति, ऋतीयते॥

अन्तोदात्तवचनात्सिद्धम्॥ ४॥

अस्तु तर्ह्यन्तोदात्तो भवतीति॥ ननु चोक्तं धातोरन्त इति चेदनुदात्ते-चबग्रहणं कर्तव्यमिति। यत्तावदुच्यतेऽनुदात्तेचग्रहणं कर्तव्यमिति क्रियते न्यास एवाभ्यस्तानामादिरनुदात्ते चेति। बग्रहणं कर्तव्यमिति॥

पिबौ निपातनात्॥ ५॥

पिबावाद्युदात्तनिपातनं क्रियते, स निपातनस्वरः प्रकृतिस्वरस्य बाधको भविष्यति॥ संश्च नित् कर्तव्य इति, अवश्यं सनो विशेषणार्थो नकारः कर्तव्यः। क्व विशेषणार्थेनार्थः? 'सन्यडोः' (३.१.९) इति। सयडोरि-तीयत्युच्यमाने—हंसः, वत्सः—अत्रापि प्राप्नोति। अर्थवद्ग्रहणे नानर्थक-स्येत्येवं न भविष्यति। इहापि तर्हि न प्राप्नोति—जुगुप्सते, मीमांसत इति। अर्थवानेषः। न वै कश्चिदर्थ आदिश्यते। यद्यपि कश्चिदर्थो नादिश्यते,

---

भा०—आदि [को उदात्त मान्य] होने पर ऊर्णु तथा प्रत्ययान्त-धातु में अन्तोदात्तत्व सिद्ध नहीं होता। ऊर्णु—ऊर्णोति। प्रत्ययधातु—गोपायति...।

वा०—अन्तोदात्त-वचन से सिद्ध।

भा०—अच्छा तो फिर अन्तोदात्त होता है। इस पर तो 'धातोरन्त...' दोष दिया था। 'अनुदात्ते च' में सूत्रकार ने चकार-ग्रहण किया ही है। ब-ग्रहण करना होगा—[इस पर अग्रिम वार्तिक-]

वा०—पिब में निपातन से।

भा०—पिब में ['पाघ्राध्मा...' (७.३.७८) इस पिब-आदेश विधायक सूत्र में] आद्युदात्त का निपातन किया है, वह निपातन-स्वर प्रकृति-स्वर का बाधक होगा।

सन् नित् करना होगा, इस पर कहना है कि सन् को विशेषण प्रदान करने के लिए, [इस अन्य प्रयोजन के लिये तो] अवश्य ही नकार करना होगा। विशेषण के लिए नकार की उपयोगिता कहाँ है? 'सन्यडोः' यहाँ पर। 'सयडोः' कहने पर—हंसः, वत्सः में भी द्विर्वचन प्राप्त होता है। यहाँ तो 'अर्थवान् के ग्रहण के प्रसङ्ग में अनर्थक का ग्रहण नहीं होता।' इस परिभाषा से नहीं होगा। [यदि यह परिभाषा अन्वित करेंगे तब तो] यहाँ भी नहीं पाता—जुगुप्सते...। [गुप् से सन् का अर्थ-निर्देश न होने से समुदाय अर्थवान् होगा, केवल सन् नहीं।] यह [सन्] अर्थवान् है। पर इसका कोई अर्थ आदिष्ट नहीं है। यद्यपि इसका कोई अर्थ आदिष्ट

अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्तीत्यन्ततः स्वार्थे भविष्यति। कश्चास्य स्वार्थः ? प्रकृत्यर्थः। इहापि तर्हि प्राप्नोति—हंसः, वत्स इति ? उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि। अथवा धातोरिति वर्तते। धातोः सशब्दान्तस्य द्वे भवति इति॥ स एषोऽनन्यार्थो नकारः कर्तव्यः ? न कर्तव्यः। क्रियते न्यास एव॥

चितः॥ ६.१.१६३॥

चितः सप्रकृतेर्बह्वकजर्थम्॥ १॥

चितः सप्रकृतेरिति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? बह्वकजर्थम्। बह्वर्थमकजर्थं च। बह्वर्थं तावत्—बहुभुक्तम्, बहुकृतम्। अकजर्थम्—सर्वकैः, विश्वकैः। उच्चकैः, नीचकैः॥ तत्तर्हि वक्तव्यम्? न वक्तव्यम्। मतुब्लोपोऽत्र द्रष्टव्यः। तद्यथा—पुष्पका एषां पुष्पकाः, कालका एषां कालकाः। अथवाऽकारो

नहीं है। पर 'अनिर्दिष्ट अर्थ वाले प्रत्यय स्वार्थ में होते हैं, इस परिभाषा के अनुसार यह अपने अर्थ में होगा। इसका अपना अर्थ क्या है ? प्रकृत्यर्थ। तब तो यहाँ भी पाता है—हंसः..। [यह प्रत्यय भी प्रकृत्यर्थ से सार्थक होगा] [परिहारभाष्य-] उणादि में कहे प्रातिपदिक अव्युत्पन्न होते हैं। [अतः इसका प्रत्ययत्व ही मान्य नहीं है। अतः प्रत्ययार्थ भी नहीं हो सकेगा।]

अथवा ['सन्यङोः' सूत्र में] धातु का अनुवर्तन है। अतः सशब्दान्त धातु को द्विर्वचन होता है। [इससे सन् में नकार लगाए बिना भी 'हंसः' में द्वित्व प्राप्त नहीं होगा।] इस प्रकार केवल इस एक प्रयोजन के लिए नकार करना होगा। नहीं करना होगा। वह तो सूत्रकार ने किया ही है। [इस प्रकार 'धातु के अन्त को उदात्त' यह पक्ष स्थापित हुआ।]

चितः॥

वा०—प्रकृति-सहित चित् को, बहु, अकच् के लिए।

भा०—प्रकृति-सहित चित् के [अन्तिम अक्षर को उदात्त] यह कहना चाहिए। क्या प्रयोजन है ? बहुच् तथा अकच् के लिए। बहुच् के लिए—बहुभुक्तम्। [यहाँ 'विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु' (५.३.६८) सूत्र से बहुच्-प्रत्यय इस सूत्र के निर्देशानुसार 'भुक्तम्' से पूर्व अवस्थित होता है। वार्तिक में प्रकृतिसहित कहने से 'बहुभुक्तम्' के अन्तिम-अच् को उदात्त होता है।] अकच् के लिए—सर्वकैः...। [यहाँ 'सर्वैः' शब्द में 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः' (५.३.७१) से टि से पूर्व अकच् होता है। इस वार्तिक से प्रकृति के अन्तिम-अच् को उदात्त होता है।]

तो फिर इसे कहा जावे ? नहीं कहना चाहिए। यहाँ पर मतुप् का लोप [सौत्र लोप] समझना चाहिए। जैसे पुष्पक (=कोई चिह्न आदि) वाले मनुष्य को पुष्पक कहते हैं। अथवा 'अर्शआदिभ्योऽच्' (५.२.१२७) से मत्वर्थीय अकार होगा।

मत्वर्थीयः। तद्यथा—तुन्दः, घाट इति। पूर्वसूत्रनिर्देशश्च। चित्वान्=चित इति॥

तिसृभ्यो जसः॥ ६.१.१६६॥

जस इति किमर्थम्? ति॒सृ॑का॥

तिसृभ्यो जस्ग्रहणानर्थक्यमन्यत्राभावात्॥ १॥

तिसृभ्यो जस्ग्रहणमनर्थकम्। किं कारणम्? अन्यत्राभावात्। न ह्यन्यत्तिसृशब्दादन्तोदात्तत्वं प्रयोजयत्यन्यदतो जसः। किं कारणम्? बहुवचनविषय एव तिसृशब्दः, तेनैकवचनद्विवचने न स्तः। शसि भवितव्यम्—'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' (६.१.१७४) इति। अन्याः सर्वा हलादयो विभक्तयस्तत्र 'षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः' 'झल्युपोत्तमम्' (६.१.१७९, १८०) इत्यनेन स्वेरण भवितव्यम्। तत्रान्तेरण जसो ग्रहणं जस एव भविष्यति॥ ननु चेदानीमेवोदाहृतं तिसृकेति। नित्स्वरोऽत्र बाधको भविष्यति। नाप्राप्ते-

---

जैसे—तुन्दः...। [पर इस दशा में तो 'चितस्य' सूत्र-न्यास होना चाहिए, अतः अन्य समाधान-] पूर्व [व्याकरण के] सूत्र के अनुसार निर्देश है। [इससे इसका अर्थ चित्-प्रत्यय वाला सम्पूर्ण प्रकृति-प्रत्यय समुदाय होता है। उसके अन्तिम को उदात्त होता है।]

तिसृभ्यो जसः॥

भा०—'जसः' ग्रहण किस लिये है। तिसृका। [त्रि शब्द से स्वार्थ में कन्। 'तिसृभावे संज्ञायां कन्युपसङ्ख्यानम्' ('त्रिचतुरोः...' ७.२.९९ सूत्र पर) वार्तिक से तिसृ आदेश। यहाँ 'जसः' ग्रहण करने से कन् को उदात्त नहीं होता।]

वा०—तिसृ से जस् ग्रहण का आनर्थक्य, अन्यत्र न होने से।

भा०—तिसृ से जस्-ग्रहण अनर्थक है। क्या कारण है? 'तिसृ' शब्द से जस् के अतिरिक्त अन्य कोई अन्तोदात्त का भागी बनता ही नहीं। क्या कारण है? तिसृ शब्द बहुवचन-विषयक है, अतः एकवचन, द्विवचन हैं नहीं।

शस् में [तिसृ के उदात्त ऋ के स्थान में उदात्तयण् होने से] 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' से स्वर होगा। अन्य सभी हलादि-विभक्तियाँ हैं, वहाँ 'षट्त्रि...', 'झल्यु...' से स्वर होगा। [अब केवल जस् ही शेष बचता है] अतः जस्-ग्रहण के बिना भी जस् को ही होगा।

क्यों, अभी तो उदाहरण दिया था—तिसृका। [यहाँ कन् को उदात्त प्राप्त है।] यहाँ नित्-स्वर बाधक हो जाएगा। [पुनः दोषोद्भावन-] अन्य स्वर की अवश्य-

ऽन्यस्वरे तिसृस्वर आरभ्यते, स यथैव 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (३.१.४) इत्येतं स्वरं बाधते, एवं नित्स्वरमपि बाधेत। नैष दोषः। येन नाप्राप्ते तस्य बाधनं भवति, न चाप्राप्तेऽनुदात्तौ सुप्पितावित्येतस्मिंस्तिसृस्वर आरभ्यते, नित्स्वरे पुनः प्राप्ते चाप्राप्ते च। अथवा मध्येऽपवादाः पूर्वान्विधीन् बाधन्त इत्येवं तिसृस्वरोऽनुदात्तौ सुप्पिताविति स्वरं बाधिष्यते नित्स्वरं न बाधिष्यते॥

उपसमस्तार्थमेके जसो ग्रहणमिच्छन्ति। अतितिस्रौ। अतितिस्रः॥

चतुरः शसि॥ ६.१.१६७॥

शसि स्त्रियां प्रतिषेधो वक्तव्यः। चतस्रः पश्य।

चतुरः शसि स्त्रियामप्रतिषेध आद्युदात्तनिपातनात्॥ १॥

चतुरः शसि स्त्रियामप्रतिषेधः। अनर्थकः प्रतिषेधोऽप्रतिषेधः। शसिस्वरः कस्मान्न भवति? आद्युदात्तनिपातनात्। आद्युदात्तनिपातनं

प्राप्ति में तिसृ-स्वर का आरम्भ है, अतः वह जैसे 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' इस स्वर को बाधता है, वैसे ही नित्-स्वर का भी बाधन करने लगेगा।

यह दोष नहीं है। जिसकी अवश्य-प्राप्ति में सूत्र का आरम्भ होता है, उसका बाधन होता है। 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' की अवश्य-प्राप्ति में तिसृ-स्वर का आरम्भ है। ['तिसृका' में भी टाप् के साथ एकादेश का आदिवद्भाव होने से पित्-स्वर की अवश्य-प्राप्ति है।] नित्-स्वर की प्राप्ति में भी तथा अप्राप्ति में भी इसका आरम्भ है। अथवा मध्य में कहे गये अपवाद पूर्व-विधि के बाधक होते हैं, अतः तिसृ-स्वर 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' के स्वर का बाधक होगा, नित्-स्वर का नहीं। [इस प्रकार 'जसः' ग्रहण न करें तो काम चल सकता है। आगे अन्य आचार्यों का अभिमत प्रस्तुत है—]

कुछ आचार्य उपसमस्त के लिए 'जस्' का ग्रहण चाहते हैं—अतितिस्रौ...। [यहाँ 'औ' आदि विभक्ति परे रहने पर 'अतेरकृत्पदे' (६.२.१९१) को बाधकर इससे विभक्ति को उदात्त पाता है। इसके निवारण के लिए 'जसः' सार्थक है।]

चतुरः शसि॥

भा०—शस् परे रहने पर स्त्रीलिङ्ग में प्रतिषेध कहना चाहिए। चतस्रः पश्य। [स्थानिवद्भाव से प्राप्त होता है।]

वा०—शस् परे रहने पर स्त्रीलिङ्ग में चतुर्-शब्द का अप्रतिषेध, आद्युदात्त-निपातन से।

भा०—शस् परे रहने पर स्त्रीलिङ्ग में चतुर् [शब्द के अन्तोदात्तत्व] का प्रतिषेध अनर्थक है। शस् परे रहने पर स्वर क्यों नहीं होता? आद्युदात्त-निपातन

करिष्यते, स निपातनस्वरः शसि स्वरस्य बाधको भविष्यति॥ एवमप्युपदेशिवद्भावो वक्तव्यः। यथैव हि निपातनस्वरः शसिस्वरं बाधत एवं विभक्तिस्वरमपि बाधेत—चतसृणामिति॥

विभक्तिस्वरभावश्च हलादिग्रहणात्॥ २॥

विभक्तिस्वरस्य च भावः सिद्धः। कुतः? हलादिग्रहणात्। यदयं षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः (६.१.१७९) इति हलादिग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो न निपातनस्वरो विभक्तिस्वरं बाधत इति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्?

आद्युदात्तनिपातने हि हलादिग्रहणानर्थक्यम्॥ ३॥

आद्युदात्तनिपातने हि सति हलादिग्रहणमनर्थकं स्यात्। न ह्यन्यद्धलादिग्रहणं प्रयोजयत्यन्यदतश्चतसृशब्दात्॥

करेंगे। ['त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ' (७.२.९९ सूत्र में।)] वह निपातन-स्वर शस् परे रहने पर स्वर का बाधक होगा।

फिर भी उपदेशिवद्भाव कहना होगा। जिस प्रकार निपातन-स्वर शस् परे रहने पर स्वर को बाधता है, उसी प्रकार विभक्ति-स्वर को भी बाधने लगेगा। चतसृणाम्। [यहाँ 'षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः' (६.१.१७९) से विभक्ति-स्वर पाता है। उपदेशिवद्भाव कहने से सति-शिष्ट विभक्तिस्वर से निपातन-स्वर बाधा जाता है।]

वा०—विभक्ति-स्वर का भाव सिद्ध, हलादि-ग्रहण से।

भा०—विभक्ति-स्वर का भाव सिद्ध है। क्यों? हलादि-ग्रहण होने से। यह जो 'षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः' सूत्र में हलादि-ग्रहण किया है उससे आचार्य ज्ञापित करते हैं कि निपातन-स्वर विभक्तिस्वर को नहीं बाधता। यह ज्ञापक किस प्रकार है?

वा०—आद्युदात्त-निपातन होने पर हलादि-ग्रहण का आनर्थक्य।

भा०—[विभक्तिस्वर को बाधकर] आद्युदात्त-निपातन होने की स्थिति में पूर्वोक्त-सूत्र में हलादि-ग्रहण व्यर्थ होता। हलादि-ग्रहण का अन्य कोई प्रयोजन नहीं है—चतसृ-शब्द से [विभक्ति-स्वर के निवारण] के अलावा।

विवरण—स्थिति यह है कि—

(क) 'चतसृ+शस्' इस दशा में 'चतुरः शसि' नहीं लगता। अपितु आद्युदात्त-निपातन प्रवृत्त होकर 'चतुरः शसि' का बाध करता है।

(ख) यह आद्युदात्त-निपातन इस 'शसि' स्वर का ही बाधन करता है। 'षट्त्रि...' से विहित विभक्ति-स्वर का नहीं। यदि ऐसा होता तो यह 'चतसृणाम्' में भी विभक्ति-स्वर को बाधने लगता। इस प्रकार 'चतसृ-शस्' में आद्युदात्त-

षट्संज्ञास्तावन्न प्रयोजयन्ति। किं कारणम्? बहुवचनविषयत्वात्। तेन द्विवचनैकवचने न स्तः। जस्शसी चात्र लुप्येते। अन्याः सर्वा हलादयो विभक्तयः॥ त्रिशब्दश्चापि न प्रयोजयति। किं कारणम्? बहुवचन-विषयत्वात्। तेन द्विवचनैकवचने न स्तः। असर्वनामस्थानमिति वचना-ज्जसि न भविष्यति। शसि भवितव्यम्—'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' (८.२.५) इति। अन्याः सर्वा हलादयो विभक्तयः॥ तिसृशब्दश्चापि न प्रयोजयति। किं कारणम्? बहुवचनविषयत्वात्॥ तेन द्विवचनैकवचने न स्तः। असर्वनामस्थानमिति वचनाज्जसि न भवितव्यम्। शसि भवितव्यम् 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' (६.१.१७४) इति। अन्याः सर्वा

निपातन से 'चतुरः शसि' का बाध होता है। सूत्र में हलादि कहने से विभक्ति-स्वर का निवारण होता है।

(ग) यदि आद्युदात्त-निपातन इस विभक्ति-स्वर का बाधन करता तो 'हलादि' ग्रहण करने की आवश्यकता ही नहीं थी। क्योंकि हलादि-ग्रहण केवल मात्र 'चतसृ शस्' में विभक्ति-स्वर के निवारण के लिए ही है। इसका अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। इसे अग्रिम-भाष्य से सिद्ध करते हैं।

भा०—षट्-संज्ञा के लिए [हलादि का] कोई प्रयोजन नहीं है। क्या कारण है? बहुवचन-विषय होने से। इस कारण द्विवचन-एकवचन के रूप हैं ही नहीं। [अतिषष् आदि में षष् के उपसर्जन होने से नहीं पाएगा, यह मानकर यह भाष्य है। षष् के प्रधान होने पर ही यह सूत्र लगता है, ऐसा व्याख्यान करेंगे।]

[षट्-संज्ञा वाले शब्दों में 'षड्भ्यो लुक्' (७.१.२२) से] जस्, शस् लुप्त हो जाते हैं। [अतः वे परे नहीं मिलते।] अन्य सभी हलादि-विभक्तियाँ हैं। [उनके परे तो कार्य अभीष्ट ही है।]

त्रि-शब्द के लिए भी [हलादि का] कोई प्रयोजन नहीं है। क्या कारण है? बहुवचन-विषय वाला होने से। इससे द्विवचन, एकवचन के रूप ही नहीं हैं। 'असर्वनामस्थान' कहने से जस् परे रहने पर नहीं होगा। शस् परे रहने पर 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' से उदात्त ही होगा। अन्य सभी हलादि-विभक्तियाँ ही हैं।

तिसृ-शब्द के लिए प्रयोजन नहीं है। क्या कारण है? बहुवचनविषयक होने से। इससे द्विवचन, एकवचन है ही नहीं। 'असर्वनामस्थान' कहने से जस् परे रहने पर नहीं होगा। शस् में 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' से स्वर-विधान होगा। अन्य सभी हलादि-विभक्तियाँ ही हैं।

चतुरः शब्द के लिए भी प्रयोजन नहीं है। क्या कारण है? बहुवचन-विषयक होने से। इससे द्विवचन, एकवचन हैं ही नहीं। 'असर्वनामस्थान' कहने से जस् परे रहने पर नहीं होगा। शस् परे रहने पर 'चतुरः शसि' प्रवृत्त होगा। अन्य सभी

हलादयो विभक्तयः। चतुःशब्दश्चापि न प्रयोजयति। किं कारणम्? बहुवचनविषयत्वात्। तेन द्विवचनैकवचने न स्तः। असर्वनामस्थानमिति वचनाज्जसि न भवितव्यम्। शसि भवितव्यं 'चतुरः शसि' इति। अन्याः सर्वा हलादयो विभक्तयः। तत्र चतसृशब्दादेकस्माच्छस् असर्वनामस्थानमजादिर्विभक्तिरस्ति। यदि चात्र निपातनस्वरः स्याद्धलादिग्रहणमनर्थकं स्यात्॥

नैव वा पुनरत्र शसिस्वरः प्राप्नोति। किं कारणम्? यणादेशे कृते शसः पूर्व उदात्तभावी नास्तीति कृत्वा। अवशिष्टस्य तर्हि प्राप्नोति? ऋकारेण व्यवहितत्वान्न भविष्यति। यणादेशे कृते नास्ति व्यवधानम्। स्थानिवद्भावाद् व्यवधानमेव। प्रतिषिध्यतेऽत्र स्थानिवद्भावः—स्वरविधिं प्रति न स्थानिवद्भवतीति। नैषोऽस्ति प्रतिषेधः। उक्तमेतत्प्रतिषेधे—स्वरदीर्घयलोपेषु लोपाजादेशो न स्थानिवदिति॥

हलादि-विभक्तियाँ हैं।

अब एक मात्र 'चतसृ' शब्द से शस्, असर्वनामस्थान, अजादि-विभक्ति परे हैं। [जहाँ 'चतुरः शसि' के प्रवृत्त न होने से विभक्ति-स्वर की प्रासि हो रही है।] यदि यहाँ [विभक्तिस्वर को बाधकर] निपातन-स्वर हो जावे तो हलादि-ग्रहण [किसके निवारण के लिए होगा।] अतः अनर्थक होने लगेगा। [इससे सिद्ध होता है कि यहाँ निपातन-स्वर प्रवृत्त नहीं होता।]

अथवा यह कहें कि [चतस्रः पश्य में] शसि-स्वर पाता ही नहीं। [तब आद्युदात्त-निपातन भी नहीं करना पड़ेगा।] क्या कारण है? [स्वर से पहले ही परत्व हेतु से 'अचि र ऋतः' (७.२.१००) सूत्र से] यणादेश कर लेने पर शस् से पूर्व उदात्तभावी [अच्] नहीं है, इसलिए। तो फिर बचे हुए [तकार के अकार] को पाता है। [क्योंकि स्वर में व्यञ्जन अविद्यमानवत् होते हैं, इस परिभाषा के अनुसार अन्य व्यञ्जनों का व्यवधान नहीं होगा।] ऋकार [अच्] से व्यवधान होने से नहीं होगा। यणादेश कर लेने पर व्यवधान कहाँ है। स्थानिवद्भाव से ['अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' (१.१.५७) से कार्यस्थानिवत् से] व्यवधान ही होगा। वहाँ स्थानिवद्भाव का प्रतिषेध है—[न पदान्त...(१.१.५८) सूत्र से] स्वर-विधि में स्थानिवत् नहीं होता। यह प्रतिषेध मान्य नहीं है—'प्रतिषेध' प्रकरण में यह कहा है कि—स्वर, दीर्घ... आदि में [केवल] लोप-अजादेश स्थानिवत् नहीं होता। [अन्य यणादि अजादेश तो स्थानिवत् होते ही हैं। अतः यहाँ ऋकार-अच् का व्यवधान होने से अवशिष्ट-तकार को नहीं होगा। इस प्रकार यह समाधान स्थिर रहा।]

सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः ॥ ६.१.१६८ ॥

सावितिं किमिदं प्रथमैकवचनस्य ग्रहणम्, आहोस्वित्सप्तमीबहुवचनस्य ? कुतः संदेहः ? समानो निर्देशः । सप्तमीबहुवचनस्य ग्रहणम् । कथं ज्ञायते ? यदयं 'न गोश्वन्साववर्ण....' (६.१.१८२) इति गोशुनोः प्रतिषेधं शास्ति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् ? यदि प्रथमैकवचनस्य ग्रहणं स्याद्गोशुनोः प्रतिषेधवचनमनर्थकं स्यात् । ननु चार्थसिद्धिरेवैषा । अनुगृहीताः स्मो, यैरस्माभिः प्रथमैकवचनमास्थाय 'गोशुनोः प्रतिषेधो वक्तव्य' इति स न वक्तव्यो भवति । भवेत्प्रतिषेधो न वक्तव्यः, दोषास्तु भवन्ति । तत्र को दोषः ? स्विना, खिना । अन्तोदात्तत्वं न

सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः ॥

भा०—[सूत्र में] 'सौ' पद से क्या प्रथमा-एकवचन का ग्रहण है या सप्तमी-बहुवचन का । यह सन्देह क्यों है ? क्योंकि दोनों में निर्देश समान है । [समाधान-] सप्तमी-बहुवचन का ग्रहण है । किस प्रकार ज्ञात होता है ? यह जो 'न गोश्वन्साववर्ण...' सूत्र में गो, श्वन् के [पूर्वोक्त प्राप्त कार्यों का] प्रतिषेध करते हैं । यह ज्ञापक किस प्रकार है ? यदि प्रथमा-एकवचन का ग्रहण होता तो गो, श्वन् के कार्यों का प्रतिषेध-वचन अनर्थक होता । ['गोषु, श्वसु'-यहाँ सप्तमी-विभक्ति के परे रहने पर जो एकाच्-रूप है, उसी रूप से उत्तर तृतीयादि-विभक्ति को इस सूत्र से उदात्त-विधान होने पर उसका 'न गोश्वन्' से प्रतिषेध सार्थक है । परन्तु यदि 'सावेकाचः...' में प्रथमा-विभक्ति का ग्रहण हो, तब तो 'गौः, श्वा' का जो प्रथमान्त-रूप है, उसी रूप वाला एकाच् 'गोभ्याम्, श्वभ्याम्' में प्राप्त न होने से वहाँ 'सावेकाचः' की प्रसक्ति ही नहीं होगी । तब 'न गोश्वन्' से प्रतिषेध-वचन अनर्थक होने लगता । इससे सिद्ध है कि यहाँ सप्तमी-विभक्ति का ग्रहण है ।]

क्यों, यह तो हमारा अभीष्ट ही है । हम अनुगृहीत हुए । [गोभ्याम्, श्वभ्याम् में 'सावेकाचः' की प्राप्ति नहीं होगी तो 'न गोश्वन्...' से प्रतिषेध नहीं करना पड़ेगा ।] इस प्रकार यहाँ प्रथमा-एकवचन मानकर जो उस सूत्र में गो, श्वन् का प्रतिषेध कहा गया है, उसे नहीं कहना पड़ेगा ।

ठीक है, प्रतिषेध नहीं कहना होगा । दोष तो होते हैं । तो क्या दोष हैं ? स्विना, खिना—अन्तोदात्त नहीं पाता । [क्योंकि प्रथमा-एकवचन में जो 'स्वी' यह विकृति-रूप है, उस प्रकार का रूप 'स्विभ्याम्' में नहीं है । इस प्रकार 'सु' को प्रथमा एकवचन मानने पर यहाँ इस सूत्र की प्राप्ति नहीं हो सकेगी । सप्तमी बहुवचन मानने पर तो स्विषु के समान तृतीयादि में एकाच्-प्रातिपदिक मिल जाने से इससे अन्तोदात्त सिद्ध हो सकेगा ।]

प्राप्नोति। स्विन्खिनौ न स्तः। उक्तमेतद्—एकाक्षरात् कृतो जातेः सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ। स्ववान्, खवानित्येव भवितव्यम्। इह तर्हि—याद्भ्याम्, याद्भिरिति न सिध्यति। तस्मात्सप्तमीबहुवचनस्य ग्रहणम्॥

सावेकाच उदात्तत्वे त्वन्मदोः प्रतिषेधः॥ १॥

सावेकाच उदात्तत्वे त्वन्मदोः प्रतिषेधो वक्तव्यः। त्वया, मया॥

सिद्धं तु यस्मात्तृतीयादिस्तस्याभावात्सौ॥ २॥

सिद्धमेतत्। कथम्? यस्मादत्र तृतीयादिर्विभक्तिर्न तत्सावस्ति॥ यद्यप्येतत्सौ नास्ति प्रकृतिस्त्वस्य सावस्ति।

प्रकृतेश्चानेकाच्त्वात्॥ ३॥

यद्यपि तस्य प्रकृतिरस्ति सावनेकाच् तु सा भवति॥

[समाधानभाष्य-] स्विन्, खिन् शब्द ही नहीं है। 'अतः इनिठनौ' (५.२.११५) में यह कहा है कि—'एकाक्षर, कृत्, जाति से तथा सप्तम्यर्थ में वे इनि, ठन् स्मृत नहीं है।' अतः स्ववान्, खवान् यही बनना चाहिए। अच्छा तो फिर याद्भ्याम्...सिद्ध नहीं होता। [क्योंकि प्रथमा-एकवचन में 'यान्' यह रूप तृतीयादि-विभक्ति में नहीं है। सप्तमी-बहुवचन में 'यात्सु' रूप के सदृश 'याद्भ्याम्' में एकाच्-रूप मिलने से सिद्ध हो जाता है।] अतः यहाँ सप्तमी-बहुवचन का ग्रहण है, [यह सिद्धान्त स्थिर रहा।]

वा०—'सावेकाच उदात्तः' के प्रसङ्ग में त्वत्, मत् को प्रतिषेध।

भा०—[सु परे रहने पर जो शब्दरूप देखा गया, वह यदि एकाच्-रूप में बन कर उससे उत्तर तृतीयादि-विभक्ति वाला हो] इस अर्थ में सूत्र के होने पर त्वत्, मत् से प्रतिषेध कहना होगा। त्वया, मया। [यहाँ 'युष्मासु' में सु परे रहने पर एकाच् न होने पर भी तृतीयादि परे रहने पर एकाच् होने से दोष है। एकाच् को सु का विशेष्य न मानने पर यह दोष उपस्थित है।]

वा०—जिससे तृतीयादि-विभक्ति है, उसके सु परे न होने से सिद्ध।

भा०—यह सिद्ध है। किस प्रकार? जिस [एकाच् त्वत् से] तृतीयादि-विभक्ति है, वह [एकाच्] सु परे रहने पर नहीं है। ठीक है, वह [त्वत्] सु परे रहने पर नहीं है, उसकी प्रकृति [युष्मत्] तो सु परे रहने पर है।

वा०—प्रकृति के अनेकाच् होने से।

भा०—ठीक है, सु परे रहने पर उसकी प्रकृति तो है। पर वह अनेकाच् तो हो जाती है। [एकाच् को सु का विशेष्य मानने पर 'सु परे रहने पर जो एकाच्, उससे उपलक्षित प्रातिपदिक से उत्तर तृतीयादि-विभक्ति' यह अर्थ होता है।]

अन्तोदात्तादुत्तरपदादन्यतरस्यामनित्यसमासे ॥ ६.१.१६९ ॥

उत्तरपदग्रहणं किमर्थम्? यथैवाज्ग्रहणमुत्तरपदविशेषणं विज्ञायेत—एकाच उत्तरपदादिति। अथाक्रियमाण उत्तरपदग्रहणे कस्यैकाज्ग्रहणं विशेषणं स्यात्? समासविशेषणम्। अस्ति चेदानीं कश्चिदेकाच्समासो यदर्थो विधिः स्यात्? अस्तीत्याह। शुन ऊर्क्=श्वोर्क्—श्वोर्जा, श्वोर्जे इति॥

ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः ॥ ६.१.१७१ ॥

पदादिषु निशन्तानि प्रयोजयन्ति। अन्यानि पदादीन्युदात्तनिवृत्तिस्वरेण सिद्धानि॥

ऊठ्युपधाग्रहणमन्त्यप्रतिषेधार्थम्॥ १ ॥

ऊठ्युपधाग्रहणं कर्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? अन्त्यप्रतिषेधार्थम्। अन्त्यस्य मा भूत्—अक्षद्युवा, अक्षद्युवे॥

अन्तोदात्तादुत्तरपदादन्यतरस्यामनित्यसमासे ॥

भा०—यहाँ 'उत्तरपद' ग्रहण किसलिए है? ताकि [अनुवृत्त] एकाच्-ग्रहण उत्तरपद का विशेषण हो सके। [तब अर्थ होगा—अनित्यसमास आधार में अवस्थित जो अन्तोदात्त 'एकाच्' उत्तरपद उससे उत्तर...] अच्छा, 'उत्तरपद' ग्रहण न करने पर एकाच् ग्रहण किसका विशेषण होता? समास का विशेषण। [तब अर्थ होता—अनित्य-समास होने की दशा में जो अन्तोदात्त-एकाच्-समास उससे उत्तर...। इससे पूरे समास में एकाच्त्व देखा जाता।] इस अर्थ में क्या कोई सम्पूर्ण-समास एकाच् है, जिसके लिए इस सूत्र की उपयोगिता होती? हाँ है—शुन ऊर्क्, श्वोर्क्, श्वोर्जा। [इस प्रकार उत्तरपद-ग्रहण सार्थक है।)]

ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः ॥

भा०—इस सूत्र में 'पदादि' के अन्तर्गत निश् पर्यन्त ही प्रयोजन हैं। इसके पश्चात् के पदादि उदात्त-निवृत्तिस्वर से सिद्ध हैं। [पदादि से 'पद्दन्नोमास्...' (६.१.६३) से विहित पद्-आदि आदेश लिए गये हैं। यहाँ निश् तक ही प्रयोजन हैं। उसके पश्चात् के असन्-आदि आदेश एकाच् नहीं है। जब वे अल्लोप करने पर एकाच् बनते हैं, तब उदात्तनिवृत्ति-स्वर से विभक्ति को उदात्त सिद्ध हो जाता है।]

वा०—ऊठ् में उपधा ग्रहण, अन्त्य के प्रतिषेध के लिए।

भा०—ऊठ् में उपधा-ग्रहण करना चाहिए। [उपधारूप ऊठ् को ही स्वर हो।] क्या प्रयोजन है? अन्त्य के प्रतिषेध के लिए। अन्त्य को न हो। अक्षद्युवा। [यहाँ 'अक्षद्यू' शब्द के अन्त्य में ऊठ् है।]

अष्टनो दीर्घात्॥ ६.१.१७२॥

दीर्घग्रहणं किमर्थम्? अष्टसु प्रक्रमेषु ब्राह्मण आदधीत। दीर्घादिति शक्यमकर्तुम्। कस्मान्न भवति—अष्टसु प्रक्रमेषु ब्राह्मण आदधीतेति? षट्स्वरोऽत्र बाधको भविष्यति। नाप्राप्ते षट्स्वरेऽष्टनः स्वर आरभ्यते, स यथैव दीर्घाद् बाधत एवं ह्रस्वादपि बाधेत। न दीर्घात्षट्स्वरः प्राप्नोति। किं कारणम्? आत्वे कृते षट्संज्ञाभावात्॥ अत उत्तरं पठति—

अष्टनो दीर्घग्रहणं षट्संज्ञाज्ञापकमाकारान्तस्य नुडर्थम्॥ १॥

अष्टनो दीर्घग्रहणं क्रियते ज्ञापकार्थम्। किं ज्ञाप्यम्? एतज्ज्ञापयत्याचार्यो भवत्यात्वे कृते षट्संज्ञेति। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्? आकारान्तस्य नुडर्थम्। आकारान्तस्य नुट् सिद्धो भवति। अष्टानामिति॥

ननु च नित्यमात्वम्। एतदेव ज्ञापयति विभाषात्वमिति यदयं दीर्घग्रहणं करोति। इतरथा ह्यष्टन इत्येव ब्रूयात्॥

अष्टनो दीर्घात्॥

भा०—दीर्घ-ग्रहण किसलिए है? अष्टसु...[यहाँ ह्रस्व से उत्तर स्वर न हो।] 'दीर्घात्' न कहें तो काम चल सकता है। यहाँ क्यों नहीं होता—अष्टसु...? यहाँ [झल्युपोत्तमम् (६.१.१८०) से प्रोक्त] षट्-स्वर बाधक हो जाएगा। षट्-स्वर की अवश्य-प्राप्ति में 'अष्टनः' सूत्र से स्वर का आरम्भ होगा। वह जिस प्रकार दीर्घ से बाधन करता है, उसी प्रकार ह्रस्व से भी बाधन करने लगेगा।

दीर्घ से षट्-स्वर पाता ही नहीं। क्या कारण है? आत्व कर लेने पर [नकारान्त न होने से] षट्-संज्ञा नहीं होगी। इसके पश्चात् [वार्तिककार] विवेचना करते हैं—

वा०—'अष्टनः' यहाँ दीर्घ-ग्रहण आकारान्त के नुट् के लिए षट्-संज्ञा का ज्ञापक है।

भा०—'अष्टनः' यहाँ दीर्घ-ग्रहण किया है, ज्ञापक के लिए। क्या ज्ञापनीय है? आचार्य यह ज्ञापित करते हैं कि आत्व कर लेने पर भी षट्-संज्ञा हो जाती है। इस ज्ञापन में क्या प्रयोजन है? आकारान्त को नुट् के लिए। आकारान्त को नुट् सिद्ध हो जाता है—अष्टानाम्। [यहाँ षट्-संज्ञा होने से 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (७.१.५४) से नुट् हो जाता है।] क्यों, आत्व तो नित्य होता है। [अतः ह्रस्वान्त न मिलने से उससे अष्टनः की प्राप्ति ही नहीं है।] आचार्य इससे ही ज्ञापित करते हैं कि आत्व विकल्प से होता है, जो वे दीर्घ का ग्रहण करते हैं। अन्यथा 'अष्टनः' इतना ही कह देते।

विवरण—यहाँ 'दीर्घात्' ग्रहण करने से एक साथ दो तथ्य ज्ञापित होते हैं—

१. अष्टन् को 'अष्टन आ विभक्तौ' सूत्र से आत्व विकल्पित होता है। अन्यथा

शतुरनुमो नद्यजादी ॥ ६.१.१७३ ॥

नद्यजाद्युदात्तत्वे बृहन्महतोरुपसङ्ख्यानम् ॥ १ ॥

नद्यजाद्युदात्तत्वे बृहन्महतोरुपसंख्यानं कर्तव्यम्। बृहती, महती। बृहता, महता ॥

उदात्तयणो हल्पूर्वात् ॥ ६.१.१७४ ॥

हल्पूर्वादिति किमर्थम् ? अग्नयै, वायवे।

उदात्तयणि हल्ग्रहणं नकारान्तार्थम् ॥ १ ॥

उदात्तयणि हल्ग्रहणं कर्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? नकारान्तार्थम्। नकारान्तादपि यथा स्यात्—वाक्पत्नी, चित्पत्नी ॥

व्यावर्तनीय के अभाव में 'दीर्घात्' ग्रहण व्यर्थ होता।

२. अष्टन् को आत्व कर लेने पर दीर्घान्त बन जाने पर भी षट्-संज्ञा हो जाती है। अगर षट्-संज्ञा न होती तो दीर्घान्त में 'झल्युपोत्तमम्' लगता ही नहीं। इसमें 'अष्टनः' कार्यशील हो जाता। ह्रस्वान्त में 'अष्टनः' को 'झल्युपोत्तमम्' बाध लेता। इससे ह्रस्वान्त में अष्टनः की प्रवृत्ति ही न होती। इस प्रकार व्यावर्तनीय के अभाव में दीर्घात् पुनः व्यर्थ होकर यह भी ज्ञापित करता है कि दीर्घान्त की भी षट्-संज्ञा होती है। अतः ह्रस्वान्त, दीर्घान्त दोनों में 'झल्युपोत्तमम्' की अवश्य-प्राप्ति होने पर 'अष्टनः' सूत्र दोनों दशाओं में 'झल्युपोत्तमम्' का बाध करते हुए ह्रस्वान्त में भी प्रवृत्त होने लगता है। इसके निवारण के लिए 'दीर्घात्' सार्थक सिद्ध होता है।

शतुरनुमो नद्यजादी ॥

वा०—नदी, अजादि के उदात्तत्व में बृहत्, महत् का उपसङ्ख्यान।

भा०—नदी, अजादि के उदात्तत्व के प्रसङ्ग में बृहत्, महत् से उपसङ्ख्यान करना चाहिए। [औणादिक 'वर्तमाने पृषद्...' (२.८५) सूत्र से विहित शतृवत् को मान्यता प्रदान न करने पर यह वार्तिक है।]

उदात्तयणो हल्पूर्वात् ॥

भा०—'हल्पूर्व' ग्रहण किसलिए है ? अग्नये... । [यहाँ 'अग्ने ए' इस दशा में उदात्त-एकार के स्थान में यण् अक्षर होने से प्राप्त है। अय् आदेश में यण्-यकार होने से आदेश-यण् है, यह मानकर कहा है।]

वा०—उदात्तयण् में हल्-ग्रहण, नकारान्त के लिए।

भा०— उदात्तयण् के प्रसङ्ग में [यण् के स्थान में] हल्-ग्रहण करना चाहिए। ['उदात्तयणः' के स्थान में 'उदात्तहलः' कहना चाहिए।] क्या प्रयोजन है ? नकारान्त के लिए। नकारान्त से भी स्वर हो जावे। वाक्पत्नी... । [वाचः पतिः

हल्पूर्वग्रहणानर्थक्यं च समुदायादेशत्वात्॥ २॥

हल्पूर्वग्रहणं चानर्थकम्। किं कारणम्? समुदायादेशत्वात्। समुदायोऽत्रादेशः॥

स्वरितत्वे चावचनात्॥ ३॥

स्वरितत्वे च हल्पूर्वग्रहणस्यावचनान्मन्यामहे हल्पूर्वग्रहणमनर्थकमिति॥

यत्तावदुच्यत उदात्तयणि हल्ग्रहणं नकारान्तार्थमिति, क्रियते न्यास एव। द्विनकारको निर्देशः—उदात्तयणो हल्पूर्वान्नोङ्धात्वोरिति॥ यदप्युच्यते—हल्पूर्वग्रहणानर्थक्यं च समुदायादेशत्वादिति, अयमस्ति केवल आदेशः—बहुतितवा, बहुतितव इति॥

विग्रह के अनुसार तत्पुरुष। 'पत्यावैश्वर्ये' (६.२.१८) से प्राप्त पूर्वपद-प्रकृतिस्वर को बाधकर 'न भूवाक्चिद्दिधिषु' (६.२.१९) से प्रतिषेध होकर यथाप्राप्त समास को अन्तोदात्त। इस उदात्त-इकार के स्थान में 'विभाषा सपूर्वस्य' (४.१.३४) से नकार-आदेश के साथ ङीप् होता है। इस उदात्त हल् से उत्तर इस सूत्र से ङीप् को उदात्त हो जाता है।]

वा०—'हल्-पूर्व' ग्रहण का आनर्थक्य, समुदायादेश होने से।

भा०—'हल्-पूर्व' ग्रहण भी अनर्थक है। क्या कारण है? समुदाय आदेश होने से। यहाँ समुदाय आदेश है। ['अग्नये' में अय् आदेश केवल यण् नहीं, अपितु यण् अयण् समुदाय है। इसे यणादेश नहीं कहा जाएगा। जिस प्रकार 'उरण् रपरः' (१.१.५१) में अण् अनण् समुदाय को अण् नहीं कहा जाता। इस प्रकार 'अग्नये' में उदात्त के स्थान में यण् न होने से तदाश्रित उदात्त के निवारण के लिए 'हल्पूर्व' ग्रहण की आवश्यकता नहीं है।]

वा०—स्वरितत्व में अवचन से भी।

भा०—स्वरितत्व के प्रसङ्ग में 'हल्-पूर्व' ग्रहण के अवचन से भी समझते हैं कि यहाँ 'हल्पूर्व' ग्रहण अनर्थक है। ['अग्नये' में 'उदात्तस्वरितयोर्यणः' की प्राप्ति के निवारण के लिए उस सूत्र में 'हल्पूर्व' नहीं कहा गया है। क्योंकि वहाँ मान लिया गया है कि उदात्त के स्थान में यण्, अयण् का समुदाय आदेश यण् नहीं होता। इसी तर्क से इस सूत्र में भी दोष नहीं होगा।]

[भाष्यकार द्वारा प्रस्तुत का समाधान-] जो यह कहा है कि उदात्तयण् में हल्-ग्रहण...। वह तो किया ही है—यह द्विनकारक निर्देश है—उदात्त...। [यहाँ एक नकार लुप्तपञ्चमीक माना जाएगा। उसका उदात्त के साथ विशेषण-सम्बन्ध होगा। अतः उदात्त के स्थान में नकार से उत्तर नदी को भी उदात्त सम्भव हो सकेगा।]

यह जो कहा है—'हल्पूर्व' ग्रहण का आनर्थक्य...। यह केवल आदेश है—बहुतितवा..।

ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप्॥ ६.१.१७६ ॥

मतुबुदात्तत्वे रेग्रहणम्॥ १ ॥

मतुबुदात्तत्वे रेग्रहणं कर्तव्यम्। आ रेवानेतु नो विशः॥

त्रिप्रतिषेधश्च॥ २ ॥

त्रिप्रतिषेधश्च वक्तव्यः। त्रिवतीर्याज्यानुवाक्या भवन्ति (काठ० सं० ११.१)॥

नामन्यतरस्याम्॥ ६.१.१७७ ॥

इह कस्मान्न भवति—किशोरीणाम्। कुमारीणाम्? ह्रस्वादिति वर्तते। इहापि तर्हि न प्राप्नोति—अग्नीनाम्, वायूनाम् ? किं कारणम्? दीर्घत्वे कृते ह्रस्वाभावात्। इदमिह संप्रधार्यम्—दीर्घत्वं क्रियतां स्वर इति, किमत्र कर्तव्यम् ? परत्वाद्दीर्घत्वम्। एवं तर्हि—

['बहूनि तितऊनि अस्या' इस विग्रह अनुसार बहुव्रीहि-समास के पश्चात् उ के स्थान में केवल यणादेश हुआ है। यह स्थानी उकार 'बहोर्नञ्वदुत्तरपद-भूम्नि' (६.२.१७५) से उदात्त है। यहाँ उदात्तयण् के हल्पूर्व न होने से यह सूत्र नहीं लगता। इस प्रकार 'हल्पूर्व' ग्रहण सार्थक है।]

ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप्॥

वा०—मतुप् उदात्तत्व में 'रे' ग्रहण।

भा०—मतुप् को उदात्तत्व के प्रसङ्ग में 'रे' ग्रहण करना चाहिये। ताकि उससे उत्तर भी मतुप् को स्वर हो। आ रेवान्...। [यहाँ 'रयिरस्ति अस्य' विग्रह के अनुसार मतुप् प्रत्यय। 'रयेर्मतौ बहुलम्' ['न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' (६.१.३७) सूत्र में वार्तिक] से सम्प्रसारण। 'र इ' इस दशा में गुण-एकादेश होकर 'रे' रूप बनने पर ह्रस्व से उत्तर मतुप् न होने से सूत्र की अप्राप्ति में यह वार्तिक है।]

वा०—त्रि से प्रतिषेध भी।

भा०—त्रि से [प्राप्त मतुप्-स्वर का] प्रतिषेध भी कहना चाहिए। 'त्रिवती...' [यहाँ त्रि से मतुप् के मकार का 'छन्दसीरः' (८.२.१५) से वत्व। 'त्रिवती जस्' इस दशा में 'वा छन्दसि' (६.१.१०६) से पूर्व-सवर्णदीर्घ।]

नामन्यतरस्याम्॥

यहाँ [इस सूत्र से स्वर] क्यों नहीं होता—किशोरीणाम्...। 'ह्रस्वात्' की अनुवृत्ति है। [अतः ह्रस्व से उत्तर होता है।] तब तो यहाँ भी नहीं पाता—अग्नीनाम्...। क्या कारण है ? दीर्घत्व करने के पश्चात् ह्रस्व न होने से। अच्छा तो यह सम्प्रधारणा करें—पहले दीर्घत्व करें या स्वर। क्या करना चाहिए ? परत्व से दीर्घत्व। अच्छा तो फिर—

नाम्स्वरे मतौ ह्रस्वग्रहणम्॥ १॥

नाम्स्वरे मतौ ह्रस्वग्रहणं कर्तव्यम्। मतौ ह्रस्वान्तादिति॥ तत्तर्हि वक्तव्यम्? न वक्तव्यम्। आहायं ह्रस्वान्तादिति, न च नामि ह्रस्वान्तोऽस्ति, तत्र भूतपूर्वगतिर्विज्ञास्यते—ह्रस्वान्तं यद्भूतपूर्वमिति॥ सांप्रतिकाभावे भूतपूर्वगतिर्विज्ञायते। अयं चास्ति सांप्रतिकः—तिसृणाम्, चतसृणामिति। नैतदस्ति। 'षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः' (६.१.१७९) इत्यनेनात्र स्वरेण भवितव्यम्। तस्मिन्नित्ये प्राप्त इयं विभाषारभ्यते। एवं तर्हि योगविभागः करिष्यते—षट्त्रिचतुर्भ्यो नामुदात्तो भवति। ततो हलादिः। हलादिश्च विभक्तिरुदात्ता भवति षट्त्रिचतुर्भ्य इति॥

इदं तर्हि। त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः। ननु चात्रापि 'नृ चान्यतरस्याम्' (६.१.१८४) इत्येष स्वरो बाधको भविष्यति। न सिध्यति। किं कारणम्? झल्ग्रहणं तत्रानुवर्तते। किं पुनः कारणं झल्ग्रहणं तत्रानुवर्तते? इह मा

वा०—नाम्-स्वर में मतुप् में ह्रस्व-ग्रहण।

भा०—नाम् को स्वर के प्रसङ्ग में मतुप् में ह्रस्व-ग्रहण करना चाहिए। 'मतौ ह्रस्वान्तात्' [अर्थात् मतुप् परे रहने पर जो शब्द ह्रस्वान्त देखा गया हे, उससे उत्तर नाम् को स्वर। 'अग्निमान्' इस रूप में 'अग्नि' ह्रस्वान्त है, अतः इस अग्नि से कार्य होगा।]

तो फिर कहा जावे? नहीं कहना चाहिए। यहाँ 'ह्रस्वान्त से' इस प्रकार कह रहे हैं। पर नाम् परे रहने पर ह्रस्वान्त होता ही नहीं। अतः भूतपूर्वगति समझ ली जाएगी—ह्रस्वान्त जो भूतपूर्व। [अर्थात् नाम् परे होने से पूर्व जो शब्द ह्रस्वान्त था।] परिभाषा है—साम्प्रतिक के अभाव होने पर भूतपूर्व-गति होती है।

परन्तु यह तो साम्प्रतिक [ह्रस्वान्त] है—तिसृणाम्...[यहाँ 'न तिसृचतसृ' (६.४.४) से दीर्घ का प्रतिषेध है।] ऐसा नहीं है। यहाँ 'षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः' की प्रवृत्ति होनी चाहिए। [विरोधभाष्य-] परन्तु उसके नित्य प्राप्त होने पर इस विकल्प का आरम्भ है। [तब तो साम्प्रतिक ह्रस्वान्त प्राप्त हो जाएगा।]

अच्छा तो फिर योगविभाग करेंगे—'षट्त्रिचतुर्...' से नाम् उदात्त होता है। इसके पश्चात्-हलादि विभक्ति षट् त्रि चतुर् से उदात्त होती है। [योगविभाग द्वारा पुनः कहने से नाम् परे रहने पर इससे नित्य ही होगा। 'नामन्यतरस्याम्' से विकल्प नहीं। इससे 'नामन्य...' भूतपूर्व के कार्य के लिए होगा।]

अच्छा तो फिर...त्वं नृणां...। [यहाँ 'नृ च' (६.४.६) से दीर्घ न होने से साम्प्रतिक ह्रस्वान्त मिल सकता है।] क्यों, यहाँ भी तो 'नृ चान्यतरस्याम्' से प्रोक्त-स्वर बाधक होगा। नहीं सिद्ध होता है। क्या कारण है? उस सूत्र में झल्-ग्रहण की अनुवृत्ति है। क्या कारण है, वहाँ झल्-ग्रहण की अनुवृत्ति है? यहाँ न

भूत्—न्रा, न्रे। 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' (६.१.१७४) इत्येष स्वरोऽत्र बाधको भविष्यति। इदं तर्हि—नरिं ? नैकमुदाहरणं ह्रस्वग्रहणं प्रयोजयति। यद्येतावत् प्रयोजनं स्यान्नामित्येव ब्रूयात्। तत्र वचनाद्भूतपूर्वगतिर्विज्ञास्यते। ह्रस्वान्तं यद्भूतपूर्वमिति॥

अथवा नैवं विज्ञायते नाम्स्वरे मतौ ह्रस्वग्रहणं कर्तव्यमिति। कथं तर्हि? नाम्स्वरे मतौ ह्रस्वादिति वर्तते इति॥

न गोश्वन्साववर्णराडङ्क्रुङ्कृद्भ्यः॥ ६.१.१८२॥

साविति किमिदं प्रथमैकवचनस्य ग्रहणमाहोस्वित्सप्तमीबहुवचनस्य? कुतः संदेहः। समानो निर्देशः। पुरस्तादेष निर्णयः—सप्तमीबहुवचनस्य ग्रहणमिति। इहापि तदेव भवितुमर्हति॥

यदि सप्तमीबहुवचनस्य ग्रहणं, ताभ्यां ब्राह्मणाभ्याम्, याभ्यां ब्राह्मणाभ्याम् अत्र न प्राप्नोति। विधिरप्यत्र न सिध्यति। किं कारणम्? न ह्येतद्भवति यत्सौ

हो—न्रा, न्रे। पर यहाँ तो 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' सूत्र बाधक हो जाएगा। अच्छा तो फिर 'नरि'। केवल एक उदाहरण ह्रस्व-ग्रहण का प्रयोजक नहीं हो सकता। [केवल इस एक उदाहरण के लिए ह्रस्व की अनुवृत्ति लाकर सम्पूर्ण सूत्र बनाना आवश्यक नहीं है।] यदि यही एक प्रयोजन होता, तब तो 'नाम्' ऐसा ही कह देते। ['नृ चान्यतरस्याम्' सूत्र के पश्चात् केवल 'नाम्' सूत्र का पाठ कर देते। इससे सिद्ध हुआ कि] अलग पाठ-वचन सामर्थ्य से भूतपूर्व-गति समझ ली जाएगी—ह्रस्वान्त जो भूतपूर्व। [इस प्रकार यह समाधान स्थिर रहा।]

अथवा—इस वार्तिक का यह अर्थ नहीं है कि नाम्-स्वर में मतुप् में ह्रस्व-ग्रहण करना चाहिए। तो फिर क्या? नाम्-स्वर में 'मतौ ह्रस्वात्' की अनुवृत्ति है। [पूर्व सूत्रोक्त 'मतुप्' ग्रहण यहाँ सप्तमी में परिवर्तित हो जाएगा। इससे वार्तिक का पूर्वोक्त अर्थ 'ह्रस्व' कहे बिना भी प्राप्त हो जाएगा।]

न गोश्वन्साववर्णराडङ्क्रुङ्कृद्भ्यः॥

भा०—'सौ' यहाँ पर क्या प्रथमा-एकवचन का ग्रहण है या सप्तमी-बहुवचन का? यह सन्देह क्यों है? क्योंकि [दोनों विभक्तियों में] 'सु' यह समान निर्देश है। [समाधान-] यह निर्णय किया जा चुका है कि सप्तमीबहुवचन का ग्रहण है, यहाँ भी [एक ही प्रकरण होने से] यही समुचित है।

यदि सप्तमी-बहुवचन का ग्रहण है तो ताभ्यां ब्राह्मणाभ्याम्... यहाँ नहीं पाता। [क्योंकि सप्तमी बहुवचन- 'तेषु' में यह अवर्णान्त नहीं है।] यहाँ [सावेकाच... से] विधि भी प्राप्त नहीं होती। क्या कारण है? 'तेषु' में 'सु' परे रहने पर जो रूप है, उससे परे तृतीयादि-विभक्ति नहीं है। [इस प्रकार विधि प्राप्त न होने पर निषेध

रूपम्। इह तर्हि—तेभ्यो ब्राह्मणेभ्यः, येभ्यो ब्राह्मणेभ्यः। विधिश्च सिद्धो भवति प्रतिषेधस्तु न प्राप्नोति॥ अस्ति पुनः किंचित्सप्तमीबहुचनस्य ग्रहणे सतीष्टं संगृहीतं भवत्याहोस्विद्दोषान्तमेव? अस्तीत्याह। इह—याभ्यो ब्राह्मणीभ्यः, ताभ्यो ब्राह्मणीभ्य इति विधिश्च सिद्धो भवति प्रतिषेधश्च॥ अस्तु तर्हि प्रथमैक-वचनस्य ग्रहणम्। यदि प्रथमैकवचनस्य ग्रहणं तेनेति स्वरः पुंसि न सिध्यति। न चावश्यं पुंस्येव स्त्रियां पुंसि नपुंसके च। तेन ब्राह्मणेन, तया ब्राह्मण्या, तेन कुण्डेनेति। सप्तमीबहुवचनस्यापि ग्रहण एष दोषः। तस्मादुभाभ्यामेव प्रतिषेधे यत्तदोश्च ग्रहणं कर्तव्यम्। न गोश्वन्साववर्णराडङ्क्रुङ्कृद्भ्यो यत्तदोश्चेति॥

तित्स्वरितम्॥ ६.१.१८५॥

तिति प्रत्ययग्रहणम्॥ १॥

तिति प्रत्ययग्रहणं कर्तव्यम्। इह मा भूत्—'ॠत इद्धातोः'

की आवश्यकता ही नहीं है।] अच्छा तो फिर, तेभ्यो ब्राह्मणेभ्यः...। यहाँ विधि प्राप्त है, परन्तु इस प्रस्तुत-सूत्र से प्रतिषेध प्राप्त नहीं होता। [इस प्रकार सप्तमी-बहुवचन में दोष अवस्थित रहा।]

तो क्या सप्तमी-बहुवचन-पक्ष में कुछ इष्ट का भी सङ्ग्रह होता है, या केवल दोष ही दोष है? [इष्ट का संग्रह भी] है। यहाँ 'याभ्यो ब्राह्मणीभ्यः...' में विधि भी सिद्ध होती है, प्रतिषेध भी। [क्योंकि 'यासु' इस सप्तमी-बहुवचन में यत् अवर्णान्त है।]

अच्छा तो फिर प्रथमा-एकवचन का ग्रहण मान्य हो। यदि प्रथमा-एकवचन का ग्रहण है तो पुल्लिङ्ग में 'तेन' यहाँ स्वर सिद्ध नहीं होता। [क्योंकि प्रथमा-एकवचन में जो 'सः' रूप है उस रूप वाला अकारान्त 'त+इन=तेन' में नहीं है।] केवल पुल्लिङ्ग में ही नहीं, स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग—तीनों में सिद्ध नहीं होता। तेन..., तया...आदि। [स्त्रीलिङ्ग में पूर्वोक्त के समान, नपुंसक में 'तत्' यह रूप, सु परे रहने पर अवर्णान्त ही नहीं है।]

यह दोष सप्तमी-बहुवचन में भी है। इसलिए दोनों पक्षों में प्रतिषेध के प्रकरण में 'न गोश्वन्....' सूत्र के साथ यत्, तत् का अलग से परिगणन करना चाहिए।

तित् स्वरितम्॥

वा०—तित् में प्रत्यय-ग्रहण।

भा०—'तित्' के प्रसङ्ग में प्रत्यय-ग्रहण करना चाहिए। ताकि यहाँ न हो—'ॠत इद्धातोः' से निष्पन्न किरति आदि। [जिस प्रकार त इद् यस्य इस विग्रह के

(७.१.१००) क्रिरतिं, गिरतिं॥ तत्तर्हि वक्तव्यम्? न वक्तव्यम्। नैष तकारः। कस्तर्हि? दकारः। यदि दकार आन्तर्यतो दीर्घस्य दीर्घः प्राप्नोति। भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं नेत्येवं न भविष्यति॥ यदि भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं नेत्युच्यते—'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (८.२.८०) अमूभ्या मित्यत्र न प्राप्नोति। एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—भवत्युकारेण भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणमिति यदयं 'दिव उत्' (६.१.१३१) इत्युकारं तपरं करोति। एवमर्थमेव तर्हि प्रत्ययग्रहणं कर्तव्यमत्र मा भूदिति। नैष तकारः। कस्तर्हि? दकारः। यदि दकारो न ज्ञापकं भवति। एवं तर्हि 'तपरस्तत्कालस्य' (१.१.७१) इति दकारोऽपि चर्त्वभूतो निर्दिश्यते। यद्येवं चर्त्वस्यासिद्धत्वाद् 'हशि च' (६.१.११४) इत्युत्त्वं प्राप्नोति? सौत्रो निर्देशः। अथवा—

अनुसार बहुव्रीहि-समास से यत् प्रत्यय तित् कहा जाता है, उसी प्रकार 'इत्' आदेश भी तित् कहा जाएगा। इससे किरति के इकार को स्वरित की प्राप्ति होती है।]

तो फिर इसे कहा जावे? नहीं कहना चाहिए। [यह इत्-आदेश] तकार-अनुबन्ध वाला नहीं है। तो फिर क्या है? दकार वाला है। यदि दकार है तो आन्तर्य से दीर्घ [ॠकार] के स्थान में दीर्घ पाता है। [समाधान-] 'भाव्यमान= विधीयमान आदेश से सवर्ण-ग्रहण नहीं होता' इस परिभाषा से नहीं होगा। यदि यह परिभाषा है तो 'अमूभ्याम्' यहाँ 'अदसोऽसे...' से [दीर्घ के स्थान में दीर्घ-ऊकार] नहीं पाता। [क्योंकि सूत्र में ह्रस्व-उकार आदेश पठित है।]

अच्छा तो फिर आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापित करती है कि भाव्यमान-उकार से तो सवर्ण-ग्रहण होता है। यह जो 'दिव उत्' में उकार को तपर किया है। ['द्युभ्याम्' इत्यादि में 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' (६.४.१९) से वकार को ऊठ् करने के पश्चात् 'दिव उत्' से पुनः ह्रस्व-उकार होता है। यदि भाव्यमान से सवर्णग्रहण न होता तब तो 'दिव उः' से ह्रस्व-उकार ही आदिष्ट होता। पुनरपि तपरकरण से ज्ञापित होता है कि उकार से सवर्ण-ग्रहण होता है।]

तब तो फिर इस [उकार] के लिए ही इस प्रस्तुत-सूत्र में प्रत्यय-ग्रहण करना चाहिए। [ताकि यहाँ इससे स्वरित न हो।] यह ['दिव उत्' के आदेश में] तकार नहीं है। तो फिर क्या? दकार है। यदि दकार है तो पूर्वोक्त ज्ञापक नहीं बन पाएगा। अच्छा तो फिर 'तपरस्तत्कालस्य' में दकार भी चर्त्वभूत निर्दिष्ट किया गया है। ['तपरस्तत्कालस्य' इस रूप में] तब तो फिर [खरि च (८.४.५५) से विहित] चर्त्व के असिद्ध होने से 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' के विसर्ग को उत्व पाता है। [समाधान भा०-] सौत्र निर्देश है। अथवा असंहिता से निर्देश करेंगे—

असंहितया निर्देशः करिष्यते। अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः, त्तपरस्तत्कालस्येति॥

तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तमह्निन्वङोः॥ ६.१.१८६॥

अदुपदेशादिति कथमिदं विज्ञायते—अकारो य उपदेश इति। आहोस्विदकारान्तं यदुपदेश इति? किं चातः? यदि विज्ञायतेऽकारो य उपदेश इति? हतः, हथ इत्यत्रापि प्राप्नोति। अथ विज्ञायतेऽकारान्तं यदुपदेश इति न दोषो भवति। ननु चाकारान्तं यदुपदेश इत्यपि विज्ञायमानेऽत्रापि प्राप्नोति। एतदपि हि व्यपदेशिवद्भावेनाकारान्तं भवत्युपदेशे? अर्थवता व्यपदेशिवद्भावः॥ यदि तर्ह्यकारान्तं यदुपदेश इति विज्ञायते—मा हि धुक्षाताम्, मा हि धुक्षाथाम्—अत्रापि प्राप्नोति।

'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः', 'त्तपरस्तत्कालस्य'। [इस प्रकार सूत्र में प्रत्यय-ग्रहण की आवश्यकता नहीं है। यह सिद्ध हुआ।]

तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुकम०॥

भा०—यहाँ 'अदुपदेशात्' में किस प्रकार समझा जाता है—उपदेश में जो अकार या अकारान्त जो उपदेश। [यदि उपदेश से अकार को विशेषित करेंगे तो प्रथम-पक्ष। यदि अकार को विशेषण रखते हुए उससे उपदेश को विशेषित करें तो तदन्तविधि होने से द्वितीय-पक्ष।]

इससे क्या? यदि 'उपदेश में अकार' यह प्रथम-पक्ष है तो 'हतः' यहाँ पर भी प्राप्त होता है। [क्योंकि यहाँ उपदेश में अकार उपस्थित है तथा उससे परे लसार्वधातुक है।] यदि 'अकारान्त जो उपदेश' पक्ष है तो कोई दोष नहीं होता।

क्यों, 'उपदेश में जो अकारान्त' इस पक्ष में भी यहाँ पाता है। यह भी व्यपदेशिवद्भाव से उपदेश में अकारान्त होता है। [अनेक स्वरों की उपस्थिति में अन्य के सापेक्ष कोई अन्य आदि या अन्त होता है। पर एक ही स्वर में इस परिभाषा के बल से वह एक ही आदि तथा अन्त दोनों व्यपदेश का भागी होता है। इससे यहाँ केवल अकार अकारान्त भी है।] यह व्यपदेशिवद्भाव अर्थवान् से होता है। [इयाय आदि में जो इण्-धातु स्वतः अकेली अर्थवान् है, उसके लिए 'एकाच्' आदि व्यपदेश होता है, अन्य के लिए नहीं।]

'यदि उपदेश में अकारान्त' यह पक्ष मान्य है तो 'मा हि धुक्षाताम्'... यहाँ भी पाता है। [दुह् धातु, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, द्विवचन में 'दुह् क्स आताम्' इस दशा में 'क्सस्याचि' (७.३.७२) से अकारलोप। यहाँ क्स उपदेश में अकारान्त है, अतः उससे उत्तर लसार्वधातुक को अनुदात्त प्राप्त होता है।]

अस्तु। अनुदात्तत्वे कृते लोप उदात्तनिवृत्तिस्वरेण सिद्धम्। न सिध्यति। इदमिह संप्रधार्यम्—अनुदात्तत्वं क्रियतां लोप इति किमत्र कर्तव्यम्? परत्वाल्लोपः। एवं तर्हीदमद्य लसार्वधातुकानुदात्तत्वं प्रत्ययस्वरस्यापवादः। न चापवादविषय उत्सर्गोऽभिनिविशते। पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पश्चादुत्सर्गाः। प्रकल्प्य वापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते। तन्न तावदत्र कदाचित्प्रत्ययस्वरो भवत्यपवादं लसार्वधातुकानुदात्तत्वं प्रतीक्षते। तत्रानुदात्तत्वं क्रियतां लोप इति, किमत्र कर्तव्यम्? परत्वाल्लोपः। यद्यपि परत्वाल्लोपः सोऽसावविद्यमानोदात्तेऽनुदात्त उदात्तो लुप्यते॥

तास्यादिभ्योऽनुदात्तत्वे सप्तमीनिर्देशोभ्यस्तसिजर्थः॥ १॥

तास्यादिभ्योऽनुदात्तत्वे सप्तमीनिर्देशः कर्तव्यः। लसार्वधातुक इति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? अभ्यस्तसिजर्थः। अभ्यस्तानामादिरुदात्तो भवति लसार्वधातुके। सिजन्तस्यादिरुदात्तो भवति लसार्वधातुके।

ठीक है, अनुदात्त करने के पश्चात् [प्रत्यय आद्युदात्त-अकार का] लोप होगा, अतः ['अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' (६.१.१६१)] से उदात्तनिवृत्तिस्वर से [आकार को उदात्त] सिद्ध हो जाएगा।

यह सम्प्रधारणा करें कि अनुदात्त करें या लोप, क्या करना चाहिए? परत्व से लोप। अच्छा तो फिर, यह लसार्वधातुक का अनुदात्तत्व प्रत्यय-स्वर का अपवाद है। अपवाद-विषय में उत्सर्ग प्रविष्ट नहीं होता। पहले अपवाद कृतकार्य होता है, पश्चात् उत्सर्ग। अपवाद-विषय को छोड़ कर उत्सर्ग प्रविष्ट होता है। अतः यहाँ पर [आताम् को होने वाला आद्युदात्त प्रत्यय-स्वर] कभी होता ही नहीं, अपितु पश्चात्भावी लसार्वधातुक अनुदात्त की प्रतीक्षा करता है। अतः अब अनुदात्त करें या लोप, क्या करना चाहिए? यद्यपि परत्व से लोप होगा। फिर भी यह अविद्यमान उदात्त=अनुदात्त परे रहने पर उदात्त (क्स के अकार) का लोप होता है। [इस लोप के पश्चात् इस प्रस्तुत सूत्र से आताम् को अनुदात्त होगा। पश्चात् पुनः प्रसंग-विज्ञान से उदात्तनिवृत्ति-स्वर से आताम् को उदात्त सिद्ध हो सकेगा।]

वा०—तासि-आदि से अनुदात्तत्व में सप्तमी-निर्देश अभ्यस्त-सिच् के लिए।

भा०—तासि-आदि से अनुदात्तत्व के प्रसङ्ग में सप्तमी-निर्देश करना चाहिए। 'लसार्वधातुके' इस प्रकार कहना चाहिए। क्या प्रयोजन है? अभ्यस्त-सिच् के लिए। ['अभ्यस्तानामादिः' (६.१.१८९) सूत्र में] अभ्यस्त को आद्युदात्त होता है, लसार्वधातुक परे रहने पर। ['आदिः सिचोऽन्यतरस्याम्' (६.१.१८७) सूत्र में] सिजन्त को आद्युदात्त होता है, लसार्वधातुक परे रहने पर [सप्तमी-निर्देश न

लसार्वधातुकमित्युच्यमाने तस्यैवाद्युदात्तत्वं स्यात्॥ यदि सप्तमीनिर्देशः क्रियते, तास्यादीनामेवानुदात्तत्वं प्राप्नोति। नैष दोषः। तास्यादिभ्य इत्येषा पञ्चमी लसार्वधातुक इति सप्तम्याः षष्ठीं प्रकल्पयिष्यति—'तस्मादित्युत्तरस्य' (१.१.६७) इति॥

चित्स्वरात्तास्यादिभ्योऽनुदात्तत्वं विप्रतिषेधेन॥ २॥

चित्स्वरात्तास्यादिभ्योऽनुदात्तत्वं भवति विप्रतिषेधेन। चित्स्वरस्यावकाशः—चलनः, चोपनः। तास्यादिभ्योऽनुदात्तत्वस्यावकाशः—आस्ते, शेते। इहोभयं प्राप्नोति—आसीनः, शयानः। तास्यादिभ्योऽनुदात्तत्वं भवति विप्रतिषेधेन॥ नैष युक्तो विप्रतिषेधः। किं कारणम्? द्विकार्ययोगो हि विप्रतिषेधः, न चात्रैको द्विकार्ययुक्तः। आदेरनुदात्तत्वमन्तस्योदात्तत्वम्। नावश्यं द्विकार्ययोग एव विप्रतिषेधः। किं तर्हि? असंभवोऽपि। ननु

होने पर 'अभ्यास को आद्युदात्त होता है तथा लसार्वधातुक को भी' यह अर्थ होता। इससे सूत्र वचन-सामर्थ्य से दोनों को एक साथ उदात्त की प्राप्त होती।] लसार्वधातुकम् कहने पर उसे भी (एवकार अपि अर्थ में है) उदात्त की प्राप्ति होती।

यदि सप्तमी-निर्देश करते हैं तो तास्-आदि को ही अनुदात्त प्राप्त होने लगेगा। ['तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (१.१.६६) सूत्रानुसार 'लसार्वधातुके' सप्तमी के द्वारा 'तास्यादिभ्यः' को षष्ठी में बदलने से तास् को अनुदात्त प्राप्त होगा।] यह दोष नहीं है। 'तास्यादिभ्यः' यह पञ्चमी 'लसार्वधातुके' इस सप्तमी को षष्ठी में बदल देगी। 'तस्मादित्युत्तरस्य' के अनुसार। ['उभयनिर्देशे विप्रतिषेधात् पञ्चमी-निर्देशः' इस परिभाषा के अनुसार 'तस्मादित्युत्तरस्य' ही कार्यशील होगा।]

[प्रसङ्गान्तर-] **वा०**—चित्-स्वर से तास्-आदि से अनुदात्त-विप्रतिषेध से।

भा०—विप्रतिषेध के द्वारा चित्-स्वर से पहले तास्-आदि से अनुदात्त होता है। चित्-स्वर का अवकाश है—चलनः...। ['चलन-शब्दार्थादकर्मकाद्युच्' (३.२.१४८) से युच्।] तास्यादि से अनुदात्त का अवकाश है—आस्ते, शेते। [यहाँ दोनों पाते हैं—आसीनः। [यहाँ [तास् या अनुदात्त से उत्तर चित् परे होने पर] दोनों पाते हैं—आसीनः। [यहाँ आस् अनुदात्तेत् से उत्तर चित् शानच् है।] विप्रतिषेध द्वारा तासि-आदि से उत्तर अनुदात्त पहले होता है।

यह विप्रतिषेध युक्त नहीं है। क्या कारण है? [जब एक ही, एक साथ, दो कार्यों से युक्त हो, तब विप्रतिषेध होता है। यहाँ पर एक ही दो कार्यों से युक्त नहीं है। [शानच् के] आदि को अनुदात्तत्व है, अन्त को उदात्तत्व। [समाधान भा०-] विप्रतिषेध द्विकार्ययोग ही हो, यह आवश्यक नहीं। तो फिर क्या? असम्भव भी।

चात्राप्यस्ति संभवः। आदेरनुदात्तत्वमन्तस्य चोदात्तत्वमिति। अस्ति च संभवो यदुभयं स्यात्। नैषोऽस्ति संभवः। कथम्? वक्ष्यत्येतत्स्वरविधौ संघातः कार्यी भवतीति॥

मुकश्चोपसंख्यानम्॥ ३॥

मुकश्चोपसंख्यानं कर्तव्यम्। पचमानः, यजमानः। मुका व्यवहित त्वाददुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तं भवतीत्यनुदात्तत्वं न प्राप्नोति। ननु चायं मुगदुपदेशभक्तोऽदुपदेशग्रहणेन ग्राहिष्यते? न सिध्यति। अङ्गस्य मुगुच्यते विकरणान्तं चाङ्गं सोऽसौ संघातभक्तोऽशक्यो मुगदुपदेशग्रहणेन ग्रहीतुम्॥ अथायमद्भक्तः स्याद्, गृह्येतायमदुपदेशग्रहणेन? बाढं गृह्येत। अद्भक्तस्तर्हि भविष्यति। तत्कथम्? वक्ष्यत्येतस्य परिहारम्।

इतश्चोपसंख्यानम्॥ ४॥

क्यों, यहाँ तो एक साथ दो कार्यों का होना सम्भव है। आदि को अनुदात्तत्व होना है, अन्त को उदात्तत्व। यहाँ यह सम्भव है कि दोनों एक साथ विहित हों।

यहाँ आदि को अनुदात्तत्व तथा अन्त्य को उदात्तत्व एक साथ होना सम्भव नहीं है। किस प्रकार? यह आगे ['भीह्रीभृहु...' (६.१.१९२) सूत्र में] कहेंगे—स्वरविधि में सम्पूर्ण समुदाय कार्यी होता है। [इस प्रकार 'आदेः परस्य' (१.१.५४) का नियम न लगते हुए सम्पूर्ण शानच् को अनुदात्त की प्राप्ति है। इस दशा में अनुदात्त और उदात्त एक साथ होना सम्भव नहीं है। अतः विप्रतिषेध समुचित है।]

वा०—मुक् का भी उपसङ्ख्यान।

भा०—मुक् का भी उपसङ्ख्यान करना चाहिए। पचमानः। मुक् से व्यवहित होने के कारण 'अदुपदेश से उत्तर लसार्वधातुक को अनुदात्त होता है'—इस वचन से अनुदात्तत्व नहीं प्राप्त होता। क्यों, यह मुक् [कित् होने से] अदुपदेश [शप्] का भाग है, अतः वह अदुपदेश के ग्रहण से गृहीत हो जाएगा? नहीं सिद्ध होता है। अङ्ग को मुक् कहा है। विकरणान्त अङ्ग होता है। अतः यह मुक् सम्पूर्ण [विकरणान्त] सङ्घात का भाग होते हुए अदुपदेश-ग्रहण से गृहीत नहीं हो सकता।

अच्छा, अगर यह [मुक्] अकार का भाग हो जावे, तब तो अदुपदेश-ग्रहण से गृहीत हो जाएगा? अवश्य ही गृहीत हो जाएगा। तब यह अत् का भाग हो जाएगा। किस प्रकार? इसका परिहार कहेंगे। [अङ्ग के अकार को मुक् इस व्यधिकरण में षष्ठी मानने से अकार का भाग हो सकेगा।]

वा०—इत् से उपसङ्ख्यान।

इतश्चोपसंख्यानं कर्तव्यम्। इद्भिश्च व्यवहितत्वादनुदात्तत्वं न प्राप्नोति। पचतः, पठतः ॥

इतश्चानेकान्तत्वात्॥ ५॥

अनेकान्ता अनुबन्धाः॥ यद्यनेकान्ता अनुबन्धा अदिप्रभृतिजुहोत्यादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः। अत्तः, जुहुत इति। अदुपदेशादित्यनुदात्तत्वं प्राप्नोति।

तत्रादिप्रभृतिजुहोत्यादिभ्योऽप्रतिषेधः स्थान्यादेशाभावात्॥ ६॥

तत्रादिप्रभृतिभ्यो जुहोत्यादिभ्योऽप्रतिषेधः। अनर्थकः प्रतिषेधोऽप्रतिषेधः। अनुदात्तत्वं कस्मान्न भवति? स्थान्यादेशाभावात्। नैवात्र स्थानिनं नैवादेशं पश्यामः॥

अनुदात्तङिद्ग्रहणाद्वा॥ ७॥

अथवा यदयमनुदात्तङिद्ग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो न लुप्तविकरणेभ्योऽनुदात्तत्वं भवतीति॥ नैतदस्ति ज्ञापकम्। श्नमर्थमेतत्स्यात्।

भा०—इत् [संज्ञा वाले शप् आदि से अनुदात्त का] उपसङ्ख्यान करना चाहिए। इत् [संज्ञा वाले पकार आदि अनुबन्धों] से व्यवहित होने के कारण अनुदात्तत्व नहीं पाता—पचतः... आदि।

वा०—इत् के अनेकान्तत्व होने से।

भा०—अनुबन्ध तद्वान् के एकान्त=अवयव नहीं होते। यदि अनुबन्ध उसके अवयव नहीं होते तो अद्-इत्यादि तथा जुहोति-इत्यादि से प्रतिषेध कहना चाहिए। अत्तः...। अदुपदेशात् से अनुदात्तत्व पाता है। [जैसे 'पचावः' में दीर्घत्व के पश्चात् भी उपदेश में ह्रस्व अकार होने से उससे उत्तर अनुदात्त होता है, उसी प्रकार 'अत्तः' आदि में भी शप् लोप होने के पश्चात् भी अदुपदेश होने से प्राप्त होगा।]

वा०—अदिप्रभृति तथा जुहोति-आदि से अप्रतिषेध, स्थान्यादेश न होने से।

भा०—अद्-इत्यादि तथा जुहोति-आदि से प्रतिषेध अनर्थक है, अनुदात्तत्व क्यों नहीं होता? यहाँ पर न तो स्थानी, न ही आदेश देखते हैं। [लोप अभावरूप होने से आदेश है नहीं। अल्विधि में स्थानिवद्भाव का प्रतिषेध होने से स्थानी भी नहीं है। इस प्रकार इसे अदुपदेश न कहे जाने से अनुदात्त नहीं होगा।]

वा०—अथवा अनुदात्त-ङित् ग्रहण से।

भा०—अथवा यह जो [इस सूत्र में] 'अनुदात्त-ङित्' ग्रहण करते हैं, उससे आचार्य ज्ञापित करते हैं कि 'लुप्त-विकरण' वाले से अनुदात्त नहीं होता। [सूत्र में 'अनुदात्तङित्' ग्रहण क्रमशः आस्ते, शेते में अनुदात्त करने के लिए है। यदि लुप्तविकरण से अनुदात्त होता, तब तो अदुपदेश से ही हो जाता। फिर भी इसका ग्रहण उक्त में ज्ञापक है।]

यह ज्ञापक नहीं है। यह [अनुदात्तङित्-ग्रहण] तो श्नम् के लिए होगा।

विन्दाते, खिन्दाते। यत्तर्हि ङिद्ग्रहणं, करोति न हि श्नम्विकरणो ङिदस्ति॥

ङित्तोऽनुदात्तत्वे विकरणेभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः। चिनुतः, सुनुतः। लुनीतः, पुनीतः। ङित्त इत्यनुदात्तत्वं प्राप्नोति।

ङित्तोऽनुदात्तत्वे विकरणेभ्योऽप्रतिषेधः सर्वस्योपदेशविशेषणत्वात्॥ ८॥

ङित्तोऽनुदात्तत्वे विकरणेभ्योऽप्रतिषेधः। अनर्थकः प्रतिषेधोऽप्रतिषेधः। अनुदात्तत्वं कस्मान्न भवति? सर्वस्योपदेशविशेषणत्वात्। सर्वमुपदेश-ग्रहणेन विशेषयिष्यामः। उपदेशेऽनुदात्तेतः। उपदेशे ङित्तः। उपदेशेऽकारा-न्तादिति॥

आदिः सिचोऽन्यतरस्याम्॥ ६.१.१८७॥

सिच आद्युदात्तत्वेऽनिटः पित उपसंख्यानम्॥ १॥

सिच आद्युदात्तत्वेऽनिटः पित उपसंख्यानं कर्तव्यम्॥ मा हि कार्षम्।

विन्दाते...। [यहाँ 'श्नम्' के दकार से पूर्व अवस्थित होने से अदुपदेश से उत्तर लसार्वधातुक नहीं है। यह भाष्य 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' (६.१.१६१) में 'विदीन्धि-खिदिभ्यः...' इस प्रतिषेध की उपेक्षा करके कहा गया है।] अच्छा तो फिर जो ङित् ग्रहण किया है। [वह तो अनर्थक होकर ज्ञापन करेगा।] क्योंकि श्नम्-विकरण उपदेश में ङकार इत् वाला ङित् नहीं है। ['विन्दाते' इस उदाहरण से 'अनुदात्तेत्' की सार्थकता होती है। पर ङित् से तो यह ज्ञापक सिद्ध होता ही है। इस प्रकार 'अत्तः' आदि में पूर्वोक्त दोष नहीं है।

ङित् से अनुदात्तत्व में विकरण से प्रतिषेध कहना चाहिए। चिनुतः...। ['सार्वधातुकमपित्' (१.२.४) से श्नु के ङित्वत् होने से यह प्राप्ति है।]

वा०—ङित् से अनुदात्तत्व में विकरण से अप्रतिषेध, सब का उपदेश विशेषण होने से।

भा०—ङित् से अनुदात्तत्व के प्रसङ्ग में विकरण से प्रतिषेध अनर्थक है। अनुदात्तत्व क्यों नहीं होता? [अनुदात्तेत्, ङित् इत्यादि] सभी को उपदेश से विशेषित करेंगे—उपदेश में अनुदात्तेत्, उपदेश में ङित्, उपदेश में अकारान्त से। [यहाँ श्नु आदि उपदेश में ङित् नहीं। अपितु पश्चात् कालिक आतिदेशिक ङित्त्व है। अतः कोई दोष नहीं है।]

आदिः सिचोऽन्यतरस्याम्॥

वा०—सिच् को आद्युदात्तत्व में अनिट् पित् से उपसङ्ख्यान।

भा०—सिजन्त को आद्युदात्तत्व के प्रकरण में अनिट् सिच् से परे पित् को उदात्त का उपसङ्ख्यान करना चाहिए। मा हि कार्षम्। [इस वार्तिक से अम्

मा हि कार्षम्। अनिट इति किमर्थम्? मा हि लाविषम्, मा हि लाविषम्॥

स्वपादिहिंसामच्यनिटि॥ ६.१.१८८॥

स्वपादीनां वावचनादभ्यस्तस्वरो विप्रतिषेधेन॥ १॥

स्वपादीनां वावचनादभ्यस्तस्वरो भवति विप्रतिषेधेन। स्वपादीनां वावचनस्यावकाशः—स्वपन्ति, स्वपन्ति। श्वसन्ति, श्वसन्ति। अभ्यस्त-स्वरस्यावकाशः—ददति, दधति। इहोभयं प्राप्नोति—जाग्रति। अभ्यस्तस्वरो भवति विप्रतिषेधेन॥

अनुदात्ते च॥ ६.१.१९०॥

अनुदात्ते चेति बहुव्रीहिनिर्देशो लोपयणादेशार्थः॥ १॥

अनुदात्ते चेति बहुव्रीहिनिर्देशः कर्तव्यः। अविद्यमानोदात्तेऽनुदात्त इति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? लोपयणादेशार्थम्। लोपयणादेशयोः कृतयो-राद्युदात्तत्वं यथा स्यात्—मा हि स्म दधात्। दधात्यत्र॥

उदात्त। दूसरे पक्ष में मा हि कार्षम्। यहाँ इस सूत्र से ककार के अकार को आद्युदात्त।] 'अनिटः' क्यों कहा है—मा हि लाविषम् [यहाँ इस वार्तिक के न लगने पर सूत्र से तिङन्त को आद्युदात्त। मा हि लाविषम्—इस प्रकार द्वितीय-पक्ष में सिच् के चित् होने से 'चितः' (६.१.१६३) से इकार को उदात्त होकर मध्योदात्त।]

स्वपादिहिंसामच्यनिटि॥

वा०—स्वपादि के वावचन से अभ्यस्तस्वर विप्रतिषेध से।

भा०—विप्रतिषेध द्वारा स्वपादि के वावचन से पहले अभ्यस्त-स्वर होता है। स्वपादि के वावचन का अवकाश है—स्वपन्ति। [दूसरे-पक्ष में स्वपन्ति, प्रत्यय-स्वर से मध्योदात्त।] अभ्यस्त-स्वर का अवकाश है—ददति...। यहाँ दोनों प्राप्त होते हैं—जाग्रति। विप्रतिषेध से अभ्यस्तस्वर 'अभ्यस्तानामादिः' (६.१.१८९) से नित्य आद्युदात्त होता है।

अनुदात्ते च॥

वा०—'अनुदात्ते च' यहाँ बहुव्रीहि-निर्देश, लोप-यणादेश के लिए।

भा०—'अनुदात्ते च' यहाँ बहुव्रीहि-निर्देश करना चाहिए। 'न विद्यते उदात्तः यत्र' इस विग्रह के अनुसार [उदात्त अभाव वाला] 'अनुदात्त' कहना चाहिए, शास्त्रीय अनुदात्त नहीं। क्या प्रयोजन है? लोप, यणादेश के लिए। लोप, यणादेश करने पर इससे आद्युदात्त हो जावे। मा हि स्म दधात्। [यहाँ अन्तरङ्ग होने से तिप् के इकार-लोप कर लेने पर शास्त्रीय अच् अनुदात्त परे नहीं मिलता। फिर भी

सर्वस्य सुपि॥ ६.१.१९१॥

सर्वस्वरोऽनकच्कस्य॥ १॥

सर्वस्वरोऽनकच्कस्येति वक्तव्यम्। इह मा भूत्—सर्वके॥

भीह्रीभृहुमदजनधनदरिद्राजागरां प्रत्ययात्पूर्वं पिति॥ ६.१.१९२॥

भ्यादिग्रहणं किमर्थम्? इह मा भूत्—ददाति? नैतदस्ति प्रयोजनम्। अभ्यस्तस्वरोऽत्र बाधको भविष्यति॥ अन्तत उभयं स्यात्। अनवकाशाः खल्वपि विधयो बाधका भवन्ति सावकाशश्चाभ्यस्तस्वरः। कोऽवकाशः? मिमीते॥

उदात्त-भिन्न त् व्यञ्जन परे रहने पर सूत्र प्रवृत्त होता है। दधात्यत्र। यणादेश पहले मानकर उदाहरण है।]

सर्वस्य सुपि॥

वा०—सर्व-स्वर अकच् से भिन्न को।

भा०—सर्व-स्वर अकच्-रहित को होता है, यह कहना चाहिए। यहाँ न हो—सर्वके। [सर्व के प्रथमा-बहुवचन 'सर्वे' में 'अव्ययसर्वनाम्नाः...' (५.३.७१) से अकच् होने पर 'तन्मध्यपतितस्तद् ग्रहणेन गृह्यते' इस परिभाषा अनुसार 'सर्व' ग्रहण से गृहीत होने पर इस सूत्र की प्राप्ति है। इससे चित्-स्वर के प्रवृत्त होने से अन्तोदात्त होता है।]

भीह्रीभृहुमदजनधनदरिद्राजागरां प्रत्ययात् पूर्वं पिति॥

भा०—भी आदि का गणन क्यों किया है? यहाँ न हो—ददाति...। [यहाँ इस सूत्र से प्रत्यय से पूर्व को नहीं, अपितु 'अनुदात्ते च' से अभ्यस्त के आदि को उदात्त हो]। यह प्रयोजन नहीं है। यहाँ अभ्यस्त-स्वर बाधक हो जाएगा। [सिद्धान्तवादी-] अन्ततः दोनों स्वर [पर्याय से] होते। [भी, ह्री आदि के अभाव में यह निर्णय नहीं हो सकता कि 'अभ्यस्तानामादिः' कहाँ लगेगा तथा प्रस्तुत-सूत्र कहाँ प्रवृत्त होगा। ऐसी दशा में दोनों पर्याय से कार्यशील होंगे।]

[अथवा] अनवकाश विधियाँ बाधक होती हैं, अभ्यस्त-स्वर तो सावकाश है। क्या अवकाश है? मिमीते। [अथवा स्थिति यह है कि 'मिमीते' इत्यादि में अपित् प्रत्यय परे रहने पर 'अनुदात्ते च' से अभ्यस्त-स्वर सावकाश है। अतः अन्य सभी 'ददाति' आदि में भी इस प्रस्तुत-सूत्र से प्रत्यय से पूर्व उदात्त होने लगेगा। इसके निवारण के लिए भी, ह्री आदि गणन समुचित है।]

अथ प्रत्ययग्रहणं किमर्थम्? प्रत्ययात्पूर्वस्योदात्तत्वं यथा स्यादाटः पूर्वस्य मा भूदिति। बिभ॒यानि॥ न चैवास्ति विशेषः प्रत्ययाद्वा पूर्वस्योदात्तत्वे सत्याटो वा। अपि च पिद्भक्तः पिद्ग्रहणेन ग्राहिष्यते॥ इदं तर्हि प्रयोजनं प्रत्ययात्-पूर्वस्योदात्तत्वं यथा स्यादाट एव मा भूदिति॥ एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। पिद्भक्तः पिद्ग्रहणेन ग्राहिष्यते॥ एवं तर्हि सिद्धे सति यत्प्रत्ययग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः—स्वरविधौ संघातः कार्यी भवतीति। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्? चित्स्वरात्तास्यादिभ्योऽनुदात्तत्वं विप्रतिषेधेनेत्युक्तं तदुपपन्नं भवति॥

अथ पूर्वग्रहणं किमर्थं न 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (१.१.६६) इति पूर्वस्यैव भविष्यति। एवं तर्हि सिद्धे सति यत्पूर्वग्रहणं करोति

प्रत्यय-ग्रहण किसलिए है? प्रत्यय से पूर्व को उदात्त हो, आट् से पूर्व को न हो—बिभयानि। [प्रतिप्रश्न-] प्रत्यय से पूर्व उदात्त कहें या आट् से पूर्व—इसमें कोई अन्तर नहीं है। [क्योंकि आट्-आगम प्रत्यय का भाग है। अतः दोनों प्रकार के वचनों से अन्ततः आट् से पूर्व भकार के अकार को ही उदात्त होगा।] अथवा यह कि पित् का भाग पित् ग्रहण से गृहीत होगा। ['आडुत्तमस्य पिच्च' (३.४.९२) से उत्तम-पुरुष-प्रत्यय को पित् कहा है। आट् उसका भाग है। अतः 'बिभयाव' आदि में भी 'आव' सम्पूर्ण पित् होगा। अतः प्रत्यय ग्रहण करने या न करने पर भी उस 'आ' से पूर्व ही उदात्त होगा।]

अच्छा तो फिर यह प्रयोजन है—प्रत्यय से पूर्व को उदात्त हो, आट् को ही न हो। [पूर्वोक्त सम्पूर्ण आशय पर ध्यान न देकर यह कथन है।] यह भी प्रयोजन नहीं है—पित् का भाग पित्-ग्रहण से गृहीत होगा। [पूर्वोक्त आशय को पुनः स्पष्ट करते हुए कहा है कि आट् सहित प्रत्यय को पित् कहा जाएगा। अतः उससे पूर्व ही उदात्त होगा।]

अच्छा तो फिर इस प्रकार सिद्ध होने पर भी जो प्रत्यय ग्रहण किया है, उससे आचार्य ज्ञापित करते हैं कि स्वरविधि में सङ्घात कार्यी होता है। [इससे प्रत्यय ग्रहण न करने पर आट् से पूर्व दोनों अचों के समुदाय को स्वर होता, प्रत्यय-ग्रहण करने से 'बिभयानि' के केवल एक अच् भकार के अकार को उदात्त सम्पन्न होता है।]

इसके ज्ञापन में क्या प्रयोजन है? ['तास्यनुदात्ते...' सूत्र में] 'चित् स्वरात्...' वार्तिक कहा गया है, वह इस ज्ञापक से उपपन्न हो जाता है।

[प्रसङ्गान्तर-] अच्छा, यहाँ पूर्व-ग्रहण किसलिए है? क्या ['प्रत्यये पिति' यह न्यास करने पर] 'तस्मिन्निति...' सूत्र से [प्रत्यय से] पूर्व को ही कार्य नहीं हो जाएगा। [अर्थात् होगा ही।] अच्छा तो फिर इस प्रकार सिद्ध होने पर भी जो पूर्वग्रहण करते हैं

तज्ज्ञापयत्याचार्यः स्वरविधौ सप्तम्यस्तदन्तसप्तम्यो भवन्तीति। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्? 'उपोत्तमं रिति' (६.१.२१७) रिदन्तस्य। 'चङ्यन्यतरस्याम्' (२१८) चङन्तस्य॥ यद्येतज्ज्ञाप्यते 'चतुरः शसि' (१६७) इति शसन्तस्यापि प्राप्नोति। शस्ग्रहणसामर्थ्यान्न भविष्यति। इतरथा हि तत्रैवायं ब्रूयाद्—ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यश्चतुर्भ्यश्चेति॥

अथ पिद्ग्रहणं किमर्थम्? इह मा भूत् जाग्रति॥ नैतदस्ति प्रयोजनम्। भवत्येवात्र पूर्वेण॥ इदं तर्हि प्रयोजनम्। दरिद्रति॥ आकारेण व्यवहितत्वान्न भविष्यति। लोपे कृते नास्ति व्यवधानम्। स्थानिवद्भावाद्व्यवधानमेव। प्रतिषिध्यतेऽत्र स्थानिवद्भावः—स्वरविधिं प्रति न स्थानिवद्भवतीति॥

उससे आचार्य ज्ञापित करते हैं कि स्वरविधि में सप्तमी तदन्त-सप्तमी होती हैं। [ऐसा होने पर भी आदि से विहित जो पित्-प्रत्यय तदन्त शब्द के सम्पूर्ण अचों को पर्याय से उदात्त होता। 'पूर्व' ग्रहण करने से ऐसा नहीं होता।]

भा०—इसके ज्ञापन में क्या प्रयोजन है? 'उपोत्तमं रिति' में रिदन्त-शब्द के [उपोत्तम को उदात्त होता है। वृत्तिकारों ने ऐसा ही अर्थ किया है।] 'चङ्यन्यतरस्याम्' में चङन्त शब्द के [उपोत्तम को उदात्त होता है।] यदि यह ज्ञापन करते हैं तो 'चतुरः शसि' यहाँ शसन्त को भी [अर्थात् चतुर् सहित शस् को भी पर्याय से] स्वर पाता है। शस् ग्रहण-सामर्थ्य से नहीं होगा। अन्यथा इस प्रकार कह देते—'ऊडिदं...चतुर्भ्यश्च'। [ऐसा कहने से अन्य विभक्तियों को छोड़कर शस् को ही होता। असर्वनामस्थान कहने तथा 'षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः' (६.१.१७९) में हलादि को उदात्त-विधान होने से अन्य विभक्तियों को प्राप्त नहीं होता। पुनरपि शस्-ग्रहण से ज्ञापित होता है कि शस् सहित को उदात्त नहीं होता।]

अच्छा, यहाँ पित् ग्रहण किसलिए है? यहाँ न हो—जाग्रति [जागृ धातु से, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन। 'अदभ्यस्तात्' (७.१.४) से झ के स्थन में अत्। पित् परे न होने से इससे स्वर नहीं होता।] यह प्रयोजन नहीं है। यहाँ पूर्वसूत्र ['अभ्यस्तानामादिः' से आद्युदात्त, 'जा' को उदात्त] होता ही है। यणादेश करने के पश्चात् इससे भी 'जा' को ही उदात्त होता। अच्छा तो यह प्रयोजन है—दरिद्रति। ['अभ्यस्तानामादिः' से दकार के अ को उदात्त होता है। इससे इकार को होता।] आकार से व्यवहित होने से नहीं होगा। लोप कर लेने पर व्यवधान नहीं है। ['अचः परस्मिन्...' (१.१.५७) से] स्थानिवद्भाव होने से व्यवधान होगा ही। [कार्य-स्थानिवत् होने से व्यवधान तो होगा। पर रूप-स्थानिवत् न होने से आकार वस्तुतः उपस्थित नहीं रहेगा।] यहाँ ['न पदान्त...' (१.१.५८) से] स्थानिवद्भाव का प्रतिषेध है—स्वरविधि के प्रति स्थानिवद्भाव नहीं होता। [इस प्रकार इकार को उदात्त के निवारण के लिए पित् ग्रहण सार्थक है।]

अचः कर्तृयकि॥ ६.१.१९५॥

यकि रपर उपसंख्यानम्॥ १॥

यकि रपर उपसंख्यानं कर्तव्यम्। स्तीर्यंते स्वयमेव॥

उपदेशवचनात्सिद्धम्॥ २॥

उपदेश इति वक्तव्यम्॥

उपदेशवचने जनादीनाम्॥ ३॥

उपदेशवचने जनादीनां स्वरो न सिध्यति। जार्यते स्वयमेव। जायतें स्वयमेव॥

योगविभागात्सिद्धम्॥ ४॥

योगविभागः करिष्यते। अजन्तानां कर्तृयकि वादिरुदात्तो भवति। चीर्यते स्वयमेव, चीयतें स्वयमेव। जार्यते स्वयमेव, जायतें स्वयमेव। तत उपदेशे। उपदेश चाजन्तानां कर्तृयकि वादिरुदात्तो भवति। स्तीर्यते स्वयमेव, स्तीर्यतें स्वयमेव।

अचः कर्तृयकि॥

वा०—यक् में रपर में उपसङ्ख्यान।

भा०—[कर्तृ-]यक् के प्रसङ्ग में रपर होने पर स्वर का उपसङ्ख्यान करना चाहिए। स्तीर्यते स्वयमेव। [अजन्त न रह जाने से प्राप्त नहीं होता।]

वा०—उपदेश-वचन से सिद्ध।

भा०—उपदेश में [अजन्त से] इस प्रकार कहना चाहिए।

वा०—उपदेश-वचन में जनादि का।

भा०—उपदेश-वचन करने पर जनादि का स्वर सिद्ध नहीं होता। [क्योंकि जन् धातु उपदेश में अजन्त नहीं है।] जायते स्वयमेव। [जन् धातु का अन्तर्भावितण्यर्थ में 'उत्पन्न करना' अर्थ मानने पर कर्मकर्त्ता में यक् सम्भव है।]

वा०—योगविभाग से सिद्ध।

भा०—योगविभाग करेंगे—अजन्त को कर्तृयक् में विकल्प से आद्युदात्त होता है। चीर्यते स्वयमेव....। जार्यते स्वयमेव... भी। इसके पश्चात्—'उपदेशे'—उपदेश में भी जो अजन्त हैं, उन्हें भी कर्तृयक् परे रहने पर विकल्प से आद्युदात्त होता है—स्तीर्यंते स्वयमेव...।

तत्तर्ह्युपदेशग्रहणं कर्तव्यं न ह्यन्तेरणोपदेशग्रहणं योगाङ्गं जायते? न कर्तव्यम्। प्रकृतमनुवर्तते। क्व प्रकृतम्? 'तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्ल-सार्वधातुकमनुदात्तमह्निवङोः' (६.१.१८६) इति। ननु चोक्तमुपदेशवचने जनादीनां स्वरो न सिध्यतीति। नैष दोषः। नैवं विज्ञायते—उपदेशवचने जनादीनां स्वरो न सिध्यतीति। कथं तर्हि? जनादीनामप्यात्त्व उपदेशवचनं कर्तव्यमिति। तत्तर्हि तत्रोपदेशग्रहणं कर्तव्यम्? न कर्तव्यम्। प्रकृतमनु-वर्तते। क्व प्रकृतम्? 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति' (६.४.३७) इति॥

थलि च सेटीडन्तो वा॥ ६.१.१९६॥

सेड्ग्रहणं किमर्थं न थलीडन्तो वेत्युच्यते। इडन्तो वेत्युच्यमान इहापि प्रसज्येत—पपक्थ। नैतदस्ति प्रयोजनम्। अच इति वर्तते। इदं तर्हि प्रयोजनम्—ययाथैति॥

तो फिर 'उपदेश' ग्रहण किया जावे, उपदेश-ग्रहण किये बिना यह सूत्र का अङ्ग नहीं हो सकेगा। [समाधान-] नहीं करना चाहिए। पूर्व-प्रकृत होकर अनुवृत्त है। कहाँ से प्रकृत है—'तास्यनुदा...' (६.१.१८६) सूत्र से। इस पर तो दोष दिया था—'उपदेशे जनादीनां...'। [अनुवृत्ति लाने पर वह 'उपदेश' सूत्र का अङ्ग बनेगा ही। इससे पुनः पूर्वोक्त दोष उपस्थित होगा।] पूर्वोक्त-वार्तिक 'उपदेशे जनादीनाम्' की व्याख्या इस प्रकार दोषपरक नहीं करेंगे कि उपदेश-ग्रहण की अनुवृत्ति होने पर जन्-आदि का स्वर सिद्ध नहीं होता। तो फिर क्या? जन्-आदि के आत्व प्रकरण में ['ये विभाषा' (६.४.४३) सूत्र में] उपदेश वचन करना चाहिए, इस प्रकार [समाधान-परक] व्याख्या करनी चाहिए। [इससे उपदेश में ही आत्व हो जाने से इस सूत्र से स्वर सिद्ध हो जाएगा।] तो फिर उस सूत्र [ये विभाषा] में उपदेश-ग्रहण करना चाहिए। नहीं करना चाहिए। प्रकृत अनुवृत्त है। कहाँ से प्रकृत है? 'अनुदात्तोपदेश...'। [इस प्रकार सिद्ध हुआ कि 'उपदेश' की दो सूत्रों में अनुवृत्ति की जाएगी। 'अचः कर्तृयकि' में अनुवृत्ति से 'स्तीर्यते...' में सिद्ध होगा। 'ये विभाषा' में अनुवृत्ति से जायते...में सिद्धि हो सकेगा।]

थलि च सेटीडन्तो वा॥

भा०—यहाँ सेट् ग्रहण किसलिए है, क्यों न 'थलि इडन्तो वा' इतना ही कहा जावे। इतना ही कहने पर यहाँ भी प्राप्त होगा—पपक्थ। [यहाँ 'लिति' (६.१.१९३) से मध्योदात्त अभीष्ट है।] यह प्रयोजन नहीं है। यहाँ ['अचः कर्तृयकि' से] अचः की अनुवृत्ति है। अतः अजन्त से विहित थल् होने पर ही होगा। अच्छा तो फिर यह प्रयोजन है—ययाथ। [यहाँ या धातु, लिट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन में 'अचस्तास्वत्...' (७.२.६१) से इट् आगम नहीं होता है।]

संज्ञायामुपमानम्॥ ६.१.२०४॥

किमर्थमिदमुच्यते न 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६.१.१९७) इत्येव सिद्धम्? ञ्नितीत्युच्यते न चात्र ञ्नितं पश्यामः। प्रत्ययलक्षणेन। न लुमता तस्मिन्निति प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधः। अङ्गाधिकारोक्तस्य स प्रतिषेधो 'न लुमताङ्गस्य' (१.१.६३) इति॥ अत उत्तरं पठति—

उपमानस्याद्युदात्तवचनं ज्ञापकमनुबन्धलक्षणे स्वरे प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधस्य॥ १॥

उपमानस्याद्युदात्तवचनं ज्ञापकार्थं क्रियते। किं ज्ञाप्यम्? एतज्ज्ञापयत्याचार्योऽनुबन्धलक्षणे स्वरे प्रत्ययलक्षणं न भवतीति। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्? गर्गाः, वत्साः। बिदाः, उर्वाः। उष्ट्रग्रीवा, वामरज्जुः। ञ्नितीत्याद्युदात्तत्वं न भवति। इह च अत्रय इति 'तद्धितस्य', 'कितः' (६.१.१६४, १६५)

संज्ञायामुपमानम्॥

इस सूत्र को क्यों कहा गया है। क्या 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६.१.१९७) से ही सिद्ध नहीं है। ['चञ्चा इव चञ्चा' इस विग्रह के अनुसार 'संज्ञायां च' (५.३.९७) से विहित कन् का 'लुम्मनुष्ये' (५.३.९८) से लुप् होता है।] 'ञ्निति' कहा गया है, यहाँ ञ्नित् परे नहीं देखते। प्रत्ययलक्षण से। 'न लुमता तस्मिन्' इस वार्तिक से प्रत्यय-लक्षण-प्रतिषेध होगा। 'न लुमताङ्गस्य' के अनुसार वह प्रतिषेध अङ्गाधिकारोक्त का है। [इस वार्तिक के साथ भी 'अङ्गस्य' का सम्बन्ध मानकर कह रहे हैं। इस प्रकार अनावश्यक स्थिर करने के पश्चात् आगे ज्ञापकार्थ सिद्ध करते हैं—]

वा०—उपमान का आद्युदात्त-वचन ज्ञापक है, अनुबन्धलक्षण स्वर में प्रत्यय-लक्षण प्रतिषेध का।

भा०—उपमान का आद्युदात्तवचन ज्ञापक बनाने के लिए किया गया है। क्या ज्ञाप्य है? आचार्य ज्ञापित करते हैं कि अनुबन्धलक्षण स्वर में प्रत्यय-लक्षण नहीं होता। इसके ज्ञापन में क्या प्रयोजन है? गर्गाः...। [गर्ग शब्द से विहित यञ् का 'यञञोश्च' (२.४.६४) से लुक् होने पर प्रत्ययलक्षण न होने से आद्युदात्त नहीं होता।] उष्ट्रग्रीवा, वामरज्जुः (=ऊँट की गर्दन के समान, टेढ़ी रस्सी के समान।) [यहाँ 'इवे प्रतिकृतौ' (५.३.९६) से विहित कन् का 'देवपथादिभ्यश्च' (५.३.१००) से लुप्।] साथ ही 'अत्रयः', यहाँ 'कितः' (६.१.१६५) से

इत्यन्तोदात्तत्वं न भवति॥ यद्यनुबन्धलक्षण इत्युच्यते—पथिप्रियः, मथिप्रिय इति 'पथिमथोः सर्वनामस्थाने' (१९९) इत्याद्युदात्तत्वं प्राप्नोति। एवं तर्ह्याचार्यो ज्ञापयति—स्वरे प्रत्ययलक्षणं न भवतीति॥ एवमपि सर्पिरागच्छ, सप्तांगच्छतेति—'आमन्त्रितस्य च' (१९८) इत्याद्युदात्तत्वं न प्राप्नोति। इह च—मा हि दातांम्, मा हि धातांम्, 'आदिः सिचोऽन्यतरस्याम्' (१८७) इत्येष स्वरो न प्राप्नोति।

एवं तर्हि ज्ञापयत्याचार्यः—सप्तमीनिर्दिष्टे स्वरे प्रत्ययलक्षणं न भवतीति॥ एवमपि—सर्वस्तोमः, सर्वपृष्ठः 'सर्वस्य सुपि' (१९१) इत्याद्युदात्तत्वं न प्राप्नोति॥ अस्तु तर्ह्यनुबन्धलक्षण इत्येव। कथं पथिप्रियः, मथिप्रियः? वक्तव्यमेवैतत्—पथिमथोः सर्वनामस्थाने लुकि लुमता लुप्ते प्रत्ययलक्षणं न भवतीति॥

अन्तोदात्तत्व नहीं होता। [अत्रि से 'इतश्चानिञः' (४.१.१२२) से विहित ढक् का 'अत्रिभृगु...' (२.४.६५) से लुक् होने पर इसका प्रत्यय-लक्षण-प्रतिषेध होने से 'कित् तद्धितान्त के अन्तिम को उदात्त' इस अर्थ वाले 'कितः' सूत्र से त्रि के इकार को उदात्त नहीं होता।]

यदि [वार्तिक में] अनुबन्ध-लक्षण कहते हैं तो 'पथिप्रिय...' में 'पथिमथोः सर्वनामस्थाने' से आद्युदात्तत्व प्राप्त होता है। [यहाँ बहुव्रीहि-समास में अन्तर्वर्ती विभक्ति का लुक् होता है। यहाँ 'पथिमथोः सर्वनामस्थाने' (६.१.१९९) करते समय प्रत्यय-लक्षण हो जाएगा। क्योंकि वार्तिक में केवल अनुबन्ध-लक्षण होने पर 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (६.२.१) से प्रकृतिस्वर की दशा में 'पथिमथोः...' से आद्युदात्त पाएगा। यदि प्रत्यय-लक्षण न हो तो प्रकृतिभाव होने पर प्रातिपदिक को अन्तोदात्त के नियम से 'पथि' को अन्तोदात्त सिद्ध हो सकेगा।]

अच्छा तो फिर आचार्य यह ज्ञापन करते हैं कि स्वर में प्रत्यय-लक्षण नहीं होता।

तो भी सर्पिरागच्छ...। यहाँ [ज्ञापक के अनुसार प्रत्यय-लक्षण न होने से 'आमन्त्रितस्य च' (६.१.१९८) से आद्युदात्तत्व नहीं पाता। और मा हि दातांम्...यहाँ 'आदिः सिचोऽन्यतरस्याम्' से स्वर नहीं पाता।]

अच्छा तो फिर आचार्य यह ज्ञापित करते हैं कि सप्तमीनिर्दिष्ट-स्वर में प्रत्यय-लक्षण नहीं होता। तो भी 'सर्वस्तोमः...'। यहाँ 'सर्वस्य सुपि' (६.१.१९१) सूत्र से आद्युदात्तत्व नहीं पाएगा।[क्योंकि इस ज्ञापक के अनुसार प्रत्यय-लक्षण नहीं हो सकेगा।]

अच्छा तो फिर [वार्तिकोक्त] 'अनुबन्धलक्षणे' यही रखें। पथिप्रियः... कैसे सिद्ध होगा? ['न लुमताङ्गस्य' (१.१.६३) सूत्र में प्रोक्त वार्तिक] 'पथिमथोः सर्वनामस्थाने लुकि' कहना ही होगा। इससे यहाँ लुमत् से लुप्त होने पर प्रत्यय-लक्षण नहीं होता।

निष्ठा च द्व्यजनात्॥ ६.१.२०५॥

निष्ठायां यञि दीर्घत्वे प्रतिषेधः॥ १॥

निष्ठायां यञि दीर्घत्वे प्रतिषेधो वक्तव्यः। दत्ताभ्याम्, गुप्ताभ्याम्॥

न वा बहिरङ्गलक्षणत्वात्॥ २॥

न वा वक्तव्यम्। किं कारणम्? बहिरङ्गलक्षणत्वात्। बहिरङ्गोऽत्र दीर्घः। अन्तरङ्गः स्वरः। असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे॥

अन्तरेण प्रतिषेधमन्तरेण चैतां परिभाषां सिद्धम्। कथम्? नैवं विज्ञायते न चेदाकारान्ता निष्ठेति। कथं तर्हि? न चेदाकारात्परा निष्ठेति। यद्येवं निर्देश-श्चैव नोपपद्यते, न ह्येषा आकारात्परा पञ्चमी युक्ता। इह च प्राप्नोति—आप्तः, राद्ध इति॥ एवं तर्हि न चेदवर्णात्परा निष्ठेति। भवेन्निर्देश उपपन्नः, इह तु प्राप्नोति—आप्तः, राद्ध इति, इह च न प्राप्नोति—यतः, रतं इति॥ एवं तर्हि विहितविशेषणमकारग्रहणम्। न चेदकारान्ताद्विहिता निष्ठेति।

निष्ठा च द्व्यजनात्॥

वा०—निष्ठा में यञ्परक दीर्घत्व में प्रतिषेध।

भा०—'निष्ठा' के प्रकरण में यञ् परे रहने पर दीर्घत्व की स्थिति में ['अनात्' इस प्रतिषेध का] प्रतिषेध कहना चाहिए। दत्ताभ्याम्...। ['अनाकारान्त जो निष्ठा' इस अर्थ में दोष है। क्योंकि यहाँ दीर्घ होने से आकारान्त है। अतः प्रतिषेध की प्राप्ति है।]

वा०—बहिरङ्गलक्षणत्व से नहीं।

भा०—नहीं कहना चाहिए। क्या कारण है? यहाँ दीर्घ बहिरङ्ग है, स्वर अन्तरङ्ग है। अन्तरङ्ग की दृष्टि में बहिरङ्ग असिद्ध होता है। [अतः इससे स्वर करते समय बहिरङ्ग दीर्घत्व दृष्टिगत नहीं होगा।]

इस प्रतिषेध के बिना तथा इस परिभाषा के बिना भी सिद्ध है। किस प्रकार? यहाँ यह नहीं समझा जाता—'आकारान्त निष्ठा न हो'। तो फिर किस प्रकार 'आकार से परे निष्ठा न हो'। तब तो यह [आत्] निर्देश उपपन्न नहीं है। आकार से परे पञ्चमी में यह निर्देश युक्तियुक्त नहीं है। ['आतः' बनना चाहिए।] साथ ही यहाँ भी [स्वरविधि] प्राप्त होता है—आप्तः। [यहाँ आकार से उत्तर निष्ठा नहीं है—पकार का व्यवधान होने से।] अच्छा तो फिर, 'अवर्ण से परे निष्ठा न हो' यह अर्थ है। इस पक्ष में ठीक है, निर्देश उपपन्न हो जाता है। ['अन्+अ' का पञ्चमी में अनात्] पर यहाँ तो प्राप्त होता है—आप्तः...। यहाँ नहीं प्राप्त होता—यतः...। [अकार से उत्तर निष्ठा होने से यहाँ निषेध होना चाहिए।] अच्छा तो फिर, विहित विशेषण वाले अकारान्त का ग्रहण है—अकारान्त से विहित निष्ठा न हो। [यतः

एवमपि—दत्तः, अत्र न प्राप्नोति, इह च प्राप्नोति आप्तः राद्ध इति॥ एवं तर्हि कार्यिविशेषणमाकारग्रहणम्। न चेदाकारः कार्यी भवति॥ एवमपि—अद्याष्टः, कदाष्टः, अत्र न प्राप्नोति। तस्मात्सुष्ठूच्यते निष्ठायां यञि दीर्घत्वे प्रतिषेधो न वा बहिरङ्गलक्षणत्वादिति॥

आशितः कर्ता॥ ६.१.२०७॥

किं निपात्यते?

आशिते कर्तरि निपातनमुपधादीर्घत्वमाद्युदात्तत्वं च॥ १॥

आशित इति क्तः कर्तरि निपात्यते। आशितवान्—आशितः। उपधादीर्घत्वमाद्युदात्तत्वं च निपात्यते॥ आद्युदात्तत्वमनिपात्यम्। अधिकारात्सिद्धम्।

में यम् से विहित निष्ठा अकारान्त से विहित नहीं है।] तो भी 'दत्तः' यहाँ नहीं पाता। [यह अकारान्त से विहित है।] यहाँ स्वर प्राप्त होता है—आप्तः, राद्धः। अच्छा तो फिर आकार को कार्यी का विशेषण लिया गया है—आकार कार्यी न हो। [आकार को स्वर-कार्य न हो रहा हो। इससे आप्तः... में इससे स्वर नहीं होगा।]

तो भी 'अद्याष्टः...' यहाँ नहीं पाता। ['अशू व्याप्तौ' धातु से निष्ठा में 'अष्टः'। अद्य के साथ सवर्ण-दीर्घ। इस एकादेश के पश्चात् आकार को स्वर प्राप्त है, अर्थात् यही आकार कार्यी होगा। इसलिए स्वर सिद्ध नहीं होता।]

अतः पूर्वोक्त वार्तिक 'निष्ठायां यञि'...समुचित कहा गया है।

विवरण—आशय यह है कि 'निष्ठायां यञि' के प्रसङ्ग में 'न वा बहिरङ्ग-लक्षणत्वात्' समुचित कहा गया है। 'निष्ठायां यञि...' वार्तिक को समुचित नहीं कह रहे हैं। यह वार्तिक 'अनाकारान्त जो निष्ठा' यह अर्थ मानकर कहा गया है। इस अर्थ में एक ओर 'दत्ताभ्याम्' में प्रतिषेध पाता है। दूसरी ओर 'राद्धः' आप्तः में स्वर पाता है। क्योंकि यह आकारान्त निष्ठा नहीं है। अतः कार्यि-विशेषण मानते हुए 'आदि आकार कार्यी न हो' यह अर्थ मानते हैं। इस अर्थ में 'अद्याष्टः' का निवारण पूर्वोक्त वार्तिक बहिरङ्गलक्षणत्व से करते हैं। यहाँ दीर्घ एकादेश के बहिरङ्ग होकर असिद्ध होने से 'अनात्' प्रतिषेध नहीं लगेगा। इससे स्वर सिद्ध हो जाएगा।

आशितः कर्ता॥

भा०—क्या निपातन है?

वा०—आशितः में कर्ता में निपातन, उपधादीर्घत्व, आद्युदात्त भी।

भा०—'आशितः' यह कर्ता में निपातन है। [अश् धातु 'खाना' अर्थ में सकर्मक होने से कर्ता में क्त प्राप्त नहीं है। अतः निपातन है। इस निपातन के अनुसार 'आशित ओदनं देवदत्तः' प्रयोग शुद्ध है।] इस प्रकार आशितवान् अर्थ में आशितः है। साथ ही उपधा को दीर्घत्व तथा आद्युदात्त का भी निपातन है।

आद्युदात्त निपातन की आवश्यकता नहीं, यह ऊपर से अनुवृत्त अधिकार से सिद्ध है।

उपधादीर्घत्वमनिपात्यम्। आङ्पूर्वस्य प्रयोगः। यद्येवमवग्रहः प्राप्नोति! न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः। पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्। यथालक्षणं पदं कर्तव्यम्॥

रिक्ते विभाषा॥ ६.१.२०८॥

विभाषा वेण्विन्धानयोः॥ ६.१.२१५॥

किमियं प्राप्ते विभाषाहोस्विदप्राप्ते। कथं च प्राप्ते कथं वाप्राप्ते? यदि 'संज्ञायामुपमानं, निष्ठा च द्व्यजनात्' (६.१.२०४, २०५) इति नित्ये प्राप्ते आरम्भस्ततः प्राप्तेऽन्यत्र वाप्राप्ते।

वेणुरिक्तयोरप्राप्ते॥ १॥

वेणुरिक्तयोरप्राप्ते विभाषा, प्राप्ते नित्यो विधिः। वेणुरिव वेणुः। रिक्तो नाम कश्चित्॥

उपधा-दीर्घत्व निपातन की आवश्यकता नहीं—यह आङ् उपसर्गपूर्वक अश् का प्रयोग है। [इससे इस सूत्र से थाथादिस्वर का अपवाद आद्युदात्तत्व का विधान किया जाएगा।] तब तो पदपाठ में अवग्रह ['आ अश्' इस प्रकार] पाता है। [समाधान-] लक्षण पदकारों के पीछे नहीं चलता। पदकारों को लक्षण के पीछे चलना चाहिए। लक्षण जिस प्रकार निर्दिष्ट करे, उस प्रकार पदपाठ करना चाहिए।

रिक्ते विभाषा॥

विभाषा वेण्विन्धानयोः॥

भा०—क्या यह [किसी सूत्र से विधान की] प्राप्ति में विकल्प है, या अप्राप्ति में। किस प्रकार क्रमशः प्राप्ति या अप्राप्ति में विकल्प होगा? यदि [रिक्त शब्द उपमान हो तथा संज्ञा में हो तो] 'संज्ञायामुपमानम्', 'निष्ठा च द्व्यजनात्' की नित्य प्राप्ति में [एक पक्ष में निवारण के लिए] आरम्भ होगा, तब उसे प्राप्त में विकल्प कहा जाएगा। उपरिलिखित स्थिति न होने पर अप्राप्त में विकल्प होगा।

वा०—वेणु, रिक्त में अप्राप्त में।

[समाधान—**भा०**]—वेणु, रिक्त में [संज्ञा न होने पर, उपमान न होने पर] अप्राप्त में [एक पक्ष में विधान करने के लिए] यह विकल्प है। प्राप्त में [दोनों सूत्रों की प्राप्ति होने पर पूर्वविप्रतिषेध से] नित्य-विधि होती है। वेणुरिव वेणुः [वेणु के समान कोई अन्य। यहाँ उपमान है।] रिक्तो नाम कश्चित्। [यह किसी का नाम होने से संज्ञा है।]

उपोत्तमं रिति॥ ६.१.२१७॥

उपोत्तमग्रहणं किमर्थं? न रिति पूर्वमित्येवोच्येत? तत्रायमप्यर्थः— 'मतोः पूर्वमात्संज्ञायां स्त्रियाम्' (२१९) इत्यत्र पूर्वग्रहणं न कर्तव्यं भवति॥ एवं तर्ह्युपोत्तमग्रहणमुत्तरार्थम्। 'चङ्यन्यतरस्याम्' (२१८) उपोत्तममित्येव। इह मा भूत्—मा हि स्म दुधत्॥

अन्तोऽवत्याः॥ ६.१.२२०॥

ईवत्याः॥ ६.१.२२१॥

किमर्थमिदमुच्यते न वत्या इत्येवोच्येत? वत्या इतीयत्युच्यमाने राजवती अत्रापि प्रसज्येत। अथावत्या इत्युच्यमाने कस्मादेवात्र न भवति? असिद्धो नलोपस्तस्यासिद्धत्वान्नैषोऽवतीशब्दः। कस्तर्हि? अन्वतीशब्दः॥

उपोत्तमं रिति॥

भा०—'उपोत्तम' ग्रहण किसलिए है? 'रिति पूर्वम्' इतना ही क्यों न कह दिया जावे? [रित् में 'र् इद् यस्य' इस अन्यपदार्थ में बहुव्रीहि-समास से प्रत्यय अथवा एक-अक्षर भी कहा जा सकता है। प्रस्तुत पक्ष में 'रित्' शब्द से अन्तिम अक्षर कहा जाएगा। उसके परे रहने पर पूर्व अक्षर 'करणीयम्' का 'णी' उपोत्तम ही होगा। इस प्रकार उपोत्तम कहे बिना इस न्यास से सिद्ध हो सकता है।]

उसका लाभ यह भी है कि अग्रिम 'मतोः पूर्वम्...' सूत्र में पूर्व-ग्रहण की आवश्यकता नहीं होती। [समाधान-] अच्छा तो फिर, उपोत्तम-ग्रहण आगे के लिए है—'चङ्यन्यतरस्याम्' उपोत्तम को हो। यहाँ न हो—मा हि स्म दुधत्। [धेट् धातु लुङ् लकार, प्रथमपुरुष, एकवचन। 'विभाषा धेट्श्व्योः' (३.१.४९) से च्लि के स्थान में चङ् आदेश। 'धा ध् अ त्' इस दशा में प्रस्तुत सूत्र से यदि चङ् परे रहने पर पूर्व को स्वर हो तो आदि 'ध' को उदात्त पाता है। 'उपोत्तम' ग्रहण करने से यहाँ सूत्र प्रवृत्त ही नहीं होगा। क्योंकि कम से कम तीन में से अन्तिम से पहले को 'उपोत्तम' कहते हैं। यहाँ ऐसा नहीं है। अतः प्रत्यय-स्वर से चङ् का अकार उदात्त सिद्ध होता है।]

अन्तोऽवत्याः॥
ईवत्याः॥

भा०—ये दोनों सूत्र क्यों कहे जा रहे हैं? 'वत्याः' इतना ही क्यों न कह दिया जावे? [क्योंकि 'अवती' तथा 'ईवती' दोनों में 'वती' उपस्थित है।] 'वत्याः' इतना ही कहने पर 'राजवती' [इस मतुबन्त के भी वत्यन्त होने से] यहाँ भी पाएगा। अच्छा, 'अवत्याः' कहने पर यहाँ क्यों नहीं होता? [समाधान-] 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८.२.७) से विहित] नलोप असिद्ध होगा। इसके असिद्ध होने से यह 'अवती' शब्द नहीं है। तो फिर क्या है? 'अन्वती' शब्द है। जिस

यथैव तर्हि नलोपस्यासिद्धत्वान्नावतीशब्द एवं वत्वस्याप्यसिद्धत्वान्नावतीशब्दः। आश्रयात्सिद्धत्वं स्यात्॥

चौ॥ ६.१.२२२॥

चोरतद्धित्ते॥ १॥

चुस्वरोऽतद्धित इति वक्तव्यम्। इह मा भूत्—दाधीचः, माधूच इति॥ तत्तर्हि वक्तव्यम्? न वक्तव्यम्। प्रत्ययस्वरोऽत्र बाधको भविष्यति॥ स्थानान्तरप्राप्तश्चुस्वरः। प्रत्ययस्वरस्यापवादः—'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (३.१.४) इति। अनुदात्तौ सुप्पितावित्यस्योदात्तनिवृत्तिस्वरः। उदात्तनिवृत्तिस्वरस्य चुस्वरः। स यथैवोदात्तनिवृत्तिस्वरं बाधत एवं प्रत्ययस्वरमपि बाधेत॥

प्रकार नलोप के असिद्ध होने से अवती शब्द नहीं है, उसी प्रकार ['मादुपधायाश्च...' (८.२.९) से विहित] वत्व के असिद्ध होने से भी यह 'अवती' शब्द नहीं है। [तथा 'वती' शब्द भी नहीं है। अत: 'वत्या:' कहने पर भी दोष नहीं होगा।] आश्रय अर्थात् वचन-सामर्थ्य से सिद्धत्व होता। [क्योंकि असिद्ध होने पर तो कहीं भी वती नहीं मिल सकेगा। अत: 'वत्या:' में दोष होने से सूत्रकारोक्त न्यास समुचित है।]

चौ॥

वा०—चु का अतद्धित में।

भा०—चु का स्वर [लुप्त अकार-नकार वाले अञ्चति परे रहने पर पूर्व को विधीयमान स्वर]। तद्धित भिन्न परे रहने पर होता है, यह कहना चाहिए। ताकि यहाँ न हो—दाधीचः....। [दधि उपपद रहने पर अञ्चु धातु से 'ऋत्विग्दधृक्...' (३.२.५९) से क्विन् होने पर प्रातिपदिक होने से इदम् आदि अर्थों में तद्धित अण् प्रत्यय। इस प्रकार यह 'दाधीचः' शब्द अकारान्त का प्रथमा एकवचन में रूप है। यहाँ प्रत्यय-स्वर से अकार उदात्त होता है।] तो फिर कहा जावे? नहीं कहना चाहिए। यहाँ [सति शिष्ट] प्रत्यय-स्वर बाधक हो जाएगा। ['चौ' सूत्र का अवकाश अनुदात्त सुप् प्रत्यय परे रहने पर होगा।]

[पूर्वोक्तबाधक भा०—] पर यहाँ तो चु-स्वर अन्य स्थान अर्थात् अपवाद स्थान को प्राप्त हो गया है? प्रत्यय-स्वर का अपवाद 'अनुदात्तौ सुप्पितौ'। इसका अपवाद उदात्तनिवृत्तिस्वर ('अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' ६.१.१५५)। इस उदात्तनिवृत्तिस्वर का चुस्वर। तब यह [चुस्वर] जिस प्रकार उदात्त-निवृत्तिस्वर को बाधता है। उसी प्रकार प्रत्यय-स्वर को भी बाधेगा। [अधिक बलवान् होने से, बाध्यसामान्य-चिन्ता से]

नात्रोदात्तनिवृत्तिस्वरः प्राप्नोति। किं कारणम्?

'न गोश्वन्साववर्ण....' (६.१.१८२) इति प्रतिषेधात्। नैष उदात्त-निवृत्तिस्वरस्य प्रतिषेधः। कस्य तर्हि? तृतीयादिस्वरस्य॥ यत्र तर्हि तृतीया-दिस्वरो नास्ति। दधीचः पश्येति॥ एवं तर्हि न तृतीयादिलक्षणस्य प्रतिषेधं शिष्मः। किं तर्हि? येन केनचिल्लक्षणेन प्राप्तस्य विभक्तिस्वरस्य प्रतिषेधम्।

[चौ के उदाहरण 'दधीचः' आदि में] उदात्तनिवृत्ति-स्वर नहीं पाता ['दधि+अञ्च्+शस्' इस दशा में अनुदात्त अस् परे रहने पर उदात्त अञ्च् के अकार का 'अचः' (६.४.१३८) से लोप होता है। फिर भी यहाँ उदात्तनिवृत्तिस्वर नहीं लगता।] क्या कारण है? 'न गोश्वन्...' सूत्र से इसका प्रतिषेध हो जाता है।

यह [न गोश्वन्...सूत्र] उदात्तनिवृत्तिस्वर का प्रतिषेध नहीं करता। तो फिर किसका? तृतीयादिस्वर ['सावेकाचः...' ६.१.१६२] सूत्र का। [इससे सिद्ध हुआ कि यहाँ उदात्तनिवृत्तिस्वर पाता ही है, उसका बाधक चुस्वर होता है।] साथ ही जहाँ ['यत्र तर्हि' भाष्य 'यत्र च' अर्थ में है।] तृतीयादिस्वर नहीं है—दधीचः पश्य [यहाँ तो 'न गोश्वन्...' लगता ही नहीं। अतः यहाँ तो स्पष्टतः उदात्तनिवृत्तिस्वर पाता है, उसका बाधक चुस्वर होता है।] इसे चित्र से स्पष्ट करते हैं—

'दधि+च्+अस्'	दधि च् आ
↓	↓
प्रत्ययस्वर	प्रत्ययस्वर
↓	↓
अनुदात्तौ सुप्पितौ	अनुदात्तौ सुप्पितौ
↓	↓
उदात्तनिवृत्तिस्वर ('न गोश्वन्' नहीं, क्योंकि वह तृतीयादि विभक्ति परे रहने पर प्रतिषेध करता है।)	उदात्तनिवृत्तिस्वर ('न गोश्वन्' नहीं, क्योंकि वह 'सावेकाचः' से प्राप्त तृतीयादिस्वर का प्रति-षेध करता है।)
↓	↓
चुस्वर	चुस्वर

अच्छा तो फिर, हम [न गोश्वन्...सूत्र से] तृतीयादिस्वर का प्रतिषेध नहीं करते। तो फिर किसका? किसी भी सूत्र से प्राप्त विभक्तिस्वर का प्रतिषेध करते हैं। [अर्थात् 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' का भी प्रतिषेध करते हैं। इससे चुस्वर चतुर्थ-कोटि का बलशाली अपवाद नहीं होगा। अपितु 'दधीचः' आदि के लिए सामान्य-प्रत्यय-विभक्ति-स्वर का बाधक होगा। अन्यत्र 'दाधीचः' आदि में सति शिष्ट अण् का प्रत्यय-स्वर हो सकेगा।]

यदि विभक्तिस्वरस्य प्रतिषेधः—वृक्षवा॑न्, प्लक्षवा॑न् अत्र न प्राप्नोति। मतुब्ग्रहणमपि प्रकृतमनुवर्तते। क्व प्रकृतम्? 'ह्रस्वनुड्भ्यां मुतप्' (१७६) इति। यदि तदनुवर्तते वे॒त॒स्वानित्यत्र प्राप्नोति। मतुब्ग्रहणमनुवर्तते ड्मतुप् चैषः। यदि तर्हि मतुब्ग्रहणे ड्मतुपो ग्रहणं न भवति वे॒त॒स्वानित्यत्र वत्वं न प्राप्नोति। सामान्यग्रहणं वत्वे इह पुनर्विशिष्टस्य ग्रहणम्॥

यत्र तर्हि विभक्तिर्नास्ति—द॒धीची॑ति॥ यदि पुनरयमुदात्तनिवृत्तिस्वरस्यापि प्रतिषेधो विज्ञायेत! नैवं शक्यम्। इहापि प्रसज्यते—कुमा॒रीति॥ सति शिष्टः खल्वपि चुस्वरः। कथम्? चावित्युच्यते। यत्रास्यैतद्रूपम्। क्व चास्यैतद्रूपम्? यजादावसर्वनामस्थानेऽभिनिर्वृत्तेऽकारलोपे नकारलोपे च॥ तस्मात्सुष्ठूच्यते चोरतद्धित इति॥

यदि विभक्तिस्वर का प्रतिषेध है तब तो 'वृक्षवान्' यहाँ पर [वान् के विभक्ति न होने से इस सूत्र से 'ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप्' का प्रतिषेध] नहीं प्राप्त होता। इस सूत्र में मतुप् ग्रहण का भी अनुवर्तन है। कहाँ से प्रकृत है? 'ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप्' से। [इस प्रकार यह सूत्र विभक्ति-स्वर तथा मतुप् दोनों का प्रतिषेध करेगा।] यदि उस [मतुप्] का अनुवर्तन है तो 'वेतस्वान्' यहाँ भी [प्रतिषेध] प्राप्त होता है। [समाधान-] मतुप् की अनुवृत्ति है, यह तो [कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप् (४.२.८७) से] ड्मतुप् है। यदि मतुप् के ग्रहण में ड्मतुप् का ग्रहण नहीं होता तो 'वेतस्वान्' 'मादुपधायाश्च...' (८.२.९) से वत्व नहीं पाता? [समाधान-] 'वत्व' में सामान्यग्रहण है, यहाँ विशिष्ट का ग्रहण है। [इस सूत्र में मतुप् में पकार अनुबन्ध होने से 'तदनुबन्धकग्रहणे नातदनुबन्धकस्य ग्रहणम्' इस परिभाषा से ड्मतुप् का ग्रहण नहीं होता। पर 'मादुपधायाश्च' में पकार अनुबन्ध न होने से इस परिभाषा के न लगने से ड्मुतप् का ग्रहण हो जाता है।]

अच्छा तो फिर, जहाँ विभक्ति परे नहीं है—दधीची। [वहाँ तो 'न गोश्वन्...' सूत्र नहीं लगेगा। अतः उस उदाहरण की दृष्टि से तो 'चौ' सूत्र स्थानान्तर-प्राप्त महाबलशाली अपवाद होकर प्रत्ययस्वर को बाधने लगेगा।]

यदि यह [न गोश्वन्...सूत्र] उदात्तनिवृत्तिस्वर का भी बाधक हो तो! [तब 'चौ' सूत्र स्थानान्तर-प्राप्त नहीं रहेगा।] यह सम्भव नहीं है। यहाँ भी [प्रतिषेध] पाएगा—कुमारी। [क्योंकि 'कुमार' शब्द सु परे रहने पर अवर्णान्त है।]

साथ ही 'चु स्वर' सति शिष्ट भी है। किस प्रकार? 'चौ' कहा है। अतः जब इसका यह [लुप्तनकार-अकार वाला] रूप हो तो, तब यह लगेगा। यह रूप कब है? यजादि असर्वनामस्थान परे रहने पर, नकार लोप तथा अकार-लोप हो जाने पर। [यहाँ पहले तद्धित प्रत्यय उत्पन्न होता है। उसके पश्चात् अकार लोप होने पर 'दधि अच् अस् अ' इस दशा में चुस्वर की प्रवृत्ति होती है। अतः सति शिष्ट होने से 'दाधीचः' आदि में चु-स्वर की प्राप्ति होती है। अतः इसके निवारण के लिए] यह समुचित कहा है—चोरतद्धिते।

समासस्य॥ ६.१.२२३॥

समासान्तोदात्तत्वे व्यञ्जनान्तेषूपसंख्यानम्॥ १॥

समासान्तोदात्तत्वे व्यञ्जनान्तेषूपसंख्यानं कर्तव्यम्। राजदृषत्, ब्राह्मणसमित्॥

हल्स्वरप्राप्तौ वा व्यञ्जनमविद्यमानवत्॥ २॥

अथवा हल्स्वरप्राप्तौ व्यञ्जनमविद्यमानवद्भवतीत्येषा परिभाषा कर्तव्या॥ किमर्थमिदमुभयमुच्यते, न हल्स्वरप्राप्तावविद्यमानवदित्येवोच्येत, स्वरप्राप्तौ व्यञ्जनमविद्यमानवदिति वा? द्विर्बद्धं सुबद्धं भवतीति॥ यदि हल्स्वरप्राप्तौ व्यञ्जनमविद्यमानवद्भवतीत्युच्यते—'दधि' 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' (८.४.६६) इति स्वरितत्वं न प्राप्नोति। उदात्ताच्च स्वरितविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवद्भवतीत्येषा परिभाषा कर्तव्या॥

विवरण—इससे पहले व्याख्या में तद्धित-प्रत्यय-स्वर को सति शिष्ट कहा है। पर यहाँ महाविद्वान् कैयट ने 'अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग्बाधते' परिभाषा में 'लुङ्निमित्तम्' का समावेश करते हुए भाष्यप्रोक्त 'चौ' के सति शिष्ट कथन की सुरक्षा की है।

समासस्य॥

वा०—समासान्तोदात्तत्व में व्यञ्जनान्तों में उपसङ्ख्यान।

भा०—समास के अन्तोदात्तत्व के प्रकरण में व्यञ्जनान्त [समास] में उपसङ्ख्यान करना चाहिए। ['उच्चैरुदात्तः' (१.२.२९) में अच् तथा अचः दोनों के अनुवर्तन से 'अजन्त समास के अन्तिम के स्थान में उदात्त अच् आदिष्ट होता है' इस अर्थ में उपसङ्ख्यान की आवश्यकता होती है।]

वा०—अथवा हल्स्वर प्राप्ति में व्यञ्जन अविद्यमानवत्।

भा०—अथवा 'हल् को स्वर की प्राप्ति के प्रसङ्ग में व्यञ्जन अविद्यमानवत् होता है' यह परिभाषा करनी चाहिए।

ये दोनों क्यों कहे गये हैं—क्योंकि न केवल 'हल् स्वर प्राप्ति में अविद्यमानवत्' या 'स्वर प्राप्ति में व्यञ्जन अविद्यमानवत्' इतना ही कह देवें? [समाधान-] दो बार बाँधी गई गाँठ अच्छी प्रकार बँधती है। [सामान्योक्ति से विशेष को चित्रण करने का सुन्दर उपक्रम है।]

यदि 'हल्स्वर प्राप्तौ...' यह परिभाषा है तो 'दधि' यहाँ 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' से स्वरितत्व नहीं पाता। [यहाँ दकार उदात्त से उत्तर अनुदात्त इकार को स्वरित करना है। यहाँ हल् को स्वर की प्राप्ति नहीं है। अतः इस परिभाषा के अप्रवृत्त होने पर धकार का व्यवधान होने से स्वरितत्व नहीं पाएगा।] [समाधान-] 'उदात्त से उत्तर स्वरित-विधि में भी व्यञ्जन अविद्यमानवत् होता है' यह परिभाषा भी करनी चाहिए।

कान्येतस्याः परिभाषायाः प्रयोजनानि?

प्रयोजनं लिदाद्युदात्तान्तोदात्तविधयः॥ ३॥

लिति प्रत्ययात्पूर्वमुदात्तं भवतीति, इहैव स्यात्—भौरिकिविधम्, भौलिकिविधम्। चिकीर्षकः, जिहीर्षक इत्यत्र न स्यात्॥ 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६.१.१९७) इतीहैव स्यात्—अहिचुम्बकायनिः, आग्निवेश्यः। गार्ग्यः, कृतिरित्यत्र न स्यात्॥ धातोरन्त उदात्तो भवतीतीहैव स्यात्—ऊर्णोति। पचतीत्यत्र न स्यात्॥

इदं तावदयुक्तं यदुच्यते—हल्स्वरप्राप्तौ व्यञ्जनमविद्यमानवद्भवतीति। कथं हि हलो नाम स्वरप्राप्तिः स्यात्? तच्चापि ब्रुवतोदात्ताच्च स्वरितविधाविति वक्तव्यम्। तथानुदात्तादेरन्तोदात्ताच्च यदुच्यते तद्व्यञ्जनादेर्व्य-

---

इस परिभाषा के क्या प्रयोजन है?

वा०—लिदादि को उदात्त, अन्तोदात्त विधियाँ प्रयोजन।

भा०—लित् परे रहने पर अकारान्त प्रत्यय से पूर्व को उदात्त होता है ['लिति' (६.१.१९३) सूत्र से]। इससे यहीं होता—भौरिकिविधम्...['भौरिकीणां विषयो देशः' इस विग्रह के अनुसार 'भौरिक्याद्यैषुकार्यादिभ्यो विधल्भक्तलौ' (४.२.५४) से लित् विधल् प्रत्यय से ठीक पूर्व इकार को उदात्त हो जाता।] चिकीर्षक... में न होता। [चिकीर्ष् से लित् अक परे होने पर र्, ष् के व्यवधान वाले ईकार को न होता।]

ञित्, नित् परे रहने पर आदि को उदात्त होता है। ['ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६.१.१९७) से]। इससे यहीं होता—अहिचुम्बकायनिः। ['अहिचुम्बक' प्रातिपदिक से 'प्राचामवृद्धात् फिन् बहुलम्' (४.१.१६०) से नित् फिन् परे रहने पर यहाँ आदि में उपस्थित अच् को उदात्त हो जाता।] 'कृतिः' यहाँ पर न होता [आदि में अच् न होने से]

धातु के अन्त को उदात्त होता है। ['धातोः' (६.१.१६२) सूत्र से] इससे यहीं होता—ऊर्णोति। 'पचति'—यहाँ पर न होता। [क्योंकि यहाँ अन्त में अच् नहीं है। इस परिभाषा के द्वारा उदात्त सम्पन्न हो जाता है।]

यहाँ यह समुचित नहीं है, जो यह कहा है कि 'हल्स्वरप्राप्तौ...'। भला हल् को स्वर-प्राप्ति ही कैसे होगी? [क्योंकि 'उच्चैरुदात्तः' (१.२.२९) आदि में 'अचः' की अनुवृत्ति नहीं आएगी। यह आशय आगे कहा गया है।] साथ ही ऐसा कहने पर 'उदात्ताच्च...' ऐसा भी कहना होगा।

साथ ही अनुदात्तादि तथा अन्तोदात्त से जो विधि कही जाती है, वह व्यञ्जनादि

ञ्जनान्ताच्च न प्राप्नोति॥ यदि पुनः स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवद्भवतीत्युच्येत। अथ स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवद्भवतीत्युच्यमानेऽनुदात्तादेरन्तोदात्ताच्च यदुच्यते तत्किं सिद्धं भवति व्यञ्जनादेर्व्यञ्जनान्ताच्च? बाढं सिद्धम्। कथम्? स्वरविधिरिति सर्वविभक्त्यन्तः समासः। स्वरेण विधिः—स्वरविधिः, स्वरस्य विधिः—स्वरविधिः, स्वरतो विधिः—स्वरविधिरिति। नैवं शक्यम्। इह हि दोषः स्यात्—उदश्वित्वान् घोषः, विद्युत्वान् बलाहक इति 'ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप्' (६.१.१७६) इत्येष स्वरः प्रसज्येत॥

अस्तु तर्हि हल्स्वरप्राप्तौ व्यञ्जनमविद्यमानवद्भवतीति। ननु चोक्तं कथं हि हलो नाम स्वरप्राप्तिः स्यादिति? 'उच्चैरुदात्तः' (१.२.२९) इत्यत्र षष्ठीनिर्दिष्टमज्ग्रहणं निवृत्तं तस्मिन्निवृत्ते हलोऽपि स्वरप्राप्तिर्भवति॥ यदप्युच्यत उदात्ताच्च स्वरितविधाविति वक्तव्यमिति न वक्तव्यम्। नेदं पारिभाषिकस्या नुदात्तस्य

और व्यञ्जनान्त से प्राप्त नहीं होती। [क्योंकि स्वर प्राप्ति या विधान की दशा में व्यञ्जन को अविद्यमानवत् कहा है। विहित अनुदात्तादि को मानकर किसी अन्य विधान के लिए नहीं] यदि यहाँ 'स्वर-विधि' में व्यञ्जन अविद्यमानवत् होता है, ऐसा कह दें तो।

अच्छा, स्वर-विधि में व्यञ्जन अविद्यमानवत् होता है, ऐसा कहने से अनुदात्तादि, अन्तोदात्त से जो कहा है, वह क्या व्यञ्जनादि, व्यञ्जनान्त से सिद्ध हो जाता है? बिल्कुल सिद्ध हो जाता है। किस प्रकार? स्वर-विधि में सर्व-विभक्त्यन्त समास है। स्वर के द्वारा, निष्पन्न स्वर को, स्वर से यह सभी स्वर-विधि हैं। [इस प्रकार निष्पन्न अन्तोदात्त आदि के आश्रित कार्य हो सकेगा।]

यह सम्भव नहीं है। यहाँ दोष होता है—उदश्वित्वान् बलाहकः। यहाँ 'ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप्' से स्वर की प्राप्ति होगी। [क्योंकि ह्रस्वान्त अन्तोदात्त से विधीयमान स्वर के प्रति व्यञ्जन अविद्यमान होने से इसे ह्रस्वान्त मान लिए जाने से स्वर पाएगा।]

अच्छा तो फिर, 'हल्स्वरप्राप्तौ...' यही परिभाषा कही जावे। इस पर तो कहा था—आखिर, हल् को स्वर-प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है? 'उच्चैरुदात्तः...' में षष्ठी-निर्दिष्ट 'अचः' की अनुवृत्ति समाप्त हो गई। उसके निवृत्त होने पर हल् को भी स्वर-प्राप्ति होती है। [षष्ठी निर्दिष्ट अचः की अनुवृत्ति समाप्त होने पर भी प्रथमान्त अच् की अनुवृत्ति तो रहेगी ही। इससे अर्थ होगा—(किसी भी अच् या हल् के स्थान में) कोई अन्तरतम अच् उदात्तादिगुणक होता है। इस अर्थ में 'चिकीर्षकः' आदि में प्रत्यय से पूर्व षकार के स्थान में कोई उदात्त अच् आदिष्ट होता। इस प्रकार हल् को स्वर-प्राप्ति है।]

जो यह कहा है—उदात्ताच्च...। नहीं कहना चाहिए। यह पारिभाषिक अनुदात्त

ग्रहणम्। किं तर्हि? अन्वर्थग्रहणम्। अविद्यमानो- दात्तमनुदात्तं तस्य स्वरित इति॥ यदप्युच्यतेऽनुदात्तादेरन्तोदात्ताच्च यदुच्यते तद्व्यञ्जनादेर्व्यञ्जनान्ताच्च न प्राप्नोतीति, आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—सिद्धं तद्भवति व्यञ्जनादेर्व्यञ्ज- नान्ताच्च यदयं नोत्तरपदेऽनुदात्तादावित्युक्त्वा पृथिवी- रुद्रपूषमन्थिष्विति प्रतिषेधं शास्ति॥ सा तर्ह्येषा परिभाषा कर्तव्या? न कर्तव्या। आचार्य- प्रवृत्तिर्ज्ञापयति—भवत्येषा परिभाषेति यदयं 'यतोऽनावः' (६.१.२१३) इति नावः प्रतिषेधं शास्ति॥

इति पातञ्जलमहाभाष्ये षष्ठाध्यायस्य प्रथमपादे षष्ठमाह्निकम्॥ पादश्च समाप्तः॥

—०—

का ग्रहण नहीं है। तो फिर क्या? अन्वर्थ-ग्रहण है। अविद्यमान उदात्त वाला अनुदात्त होता है। [इस प्रकार 'दधि' में उदात्त से उत्तर अच् हल् समुदाय धकार इकार को अन्वर्थ अनुदात्त कहा जाएगा। इससे इकार को स्वरित हो जाएगा।]

जो यह कहा है—'अनुदात्तादि अन्तोदात्त से...। इसमें आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापित करती है कि व्यञ्जनादि व्यञ्जनान्त से भी वह स्वर कार्य सम्पन्न होता है, जो 'नोत्तरपदेऽनुदात्तादौ...' (६.२.१४१) ऐसा कहकर 'अपृथिवीरुद्रपूषमन्थिषु' यह प्रतिषेध किया है। [क्योंकि व्यञ्जनादि उत्तरपद के अनुदात्तादि न होने पर इस प्रतिषेध की आवश्यकता ही नहीं थी। पुनरपि इस प्रतिषेध से ज्ञापित होता है कि स्वरोद्देश्यक विधि में व्यञ्जन अविद्यमानवत् हो जाता है।]

तो फिर यह परिभाषा कही जावे? कहने की आवश्यकता नहीं। आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापित करती है कि यह परिभाषा होती है। तभी तो 'यतोऽनावः' में नौ का प्रतिषेध किया है। [यहाँ आदि नकार स्वरयोग्य नहीं है, जो अकार इसके योग्य है, वह आदि नहीं है। इस दशा में यहाँ स्वतः सूत्र की प्राप्ति नहीं होगी। पुनरपि निषेधकरण इस परिभाषा द्वारा स्वरविधि में व्यञ्जन के अविद्यमानवत्त्व को ज्ञापित करता है।]

विशेष—'अचश्च' तथा इस सूत्र में अनेक पक्ष उठाए गये हैं—(क.) 'अचश्च' से 'अचः' की अनुवृत्ति होने से अच् को उदात्त होता है। (ख.) पर इस अनुवृत्ति के लाने पर 'हल्स्वरप्राप्तौ...' परिभाषा समुचित नहीं बनेगी। अतः 'अचः' की अनुवृत्ति नहीं आती। अच् हल् दोनों के स्थान में अच् उदात्त होता है। (ग.) आगे चलकर अनुभव किया गया कि अज्विशिष्ट उदात्त स्वतः हल् के स्थान में हो ही नहीं सकते। अतः 'स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्' परिभाषा प्रचलित हुई। (घ) वास्तव में आदि ह्रस्व आदि लघु कहने से जिस प्रकार व्यञ्जन को छोड़कर सबसे पहला ह्रस्व स्वर लिया जाता है, उसी प्रकार आदि अनुदात्त कहने से भी प्रत्यासत्ति से आदि अनुदात्त स्वर ही लिया जाएगा।

—०—

षष्ठाध्याय-एक परिचय

अष्टाध्यायी के आठ अध्यायों में षष्ठ अध्याय बृहत्काय है। इसके प्रथम पाद में प्राय: एक पद में होने वाले अवान्तर कार्यों का वर्णन है। इनमें द्विर्वचन, सम्प्रसारण, आत्व, सांहितिक, सुट् तथा स्वर आदि मुख्य हैं। इस पाद में एकपद सम्बन्धी स्वरों का विधान कर अन्त में **'समासस्य'** (महा० ६.१.२२३) द्वारा समास का अन्तोदात्तत्व विहित है। अग्रिम द्वितीय पाद सम्पूर्ण इसी सूत्र का अपवादभूत है। इस पाद में बहुव्रीहि आदि अनेक समासों का आश्रय लेकर पूर्वपद तथा उत्तरपद के भिन्न-भिन्न स्वरों का विधान है। शब्दों, वाक्यों अथवा मन्त्रों का विशेष अर्थ जानने में उदात्तादि स्वरों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। वेदार्थ में स्वरों की महत्ता को प्रदर्शित करते हुए सुप्रसिद्ध वेद-भाष्यकार वेङ्कट माधव स्वरचित स्वरानुक्रमणी के अन्त में कहते हैं—

अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्।
एवं स्वरैः प्रणीतानां भवन्त्यर्था स्फुटा इति॥ १.८.१॥

अर्थात् 'जिस प्रकार अन्धेरे में दीपक के सहारे चलने वाला व्यक्ति कहीं भी ठोकर नहीं खाता। उसी प्रकार उदात्तादि स्वरों की सहायता से निर्णीत वेदार्थ स्पष्ट (स्खलन रहित) होते हैं।' पद या वाक्य के जिस अंश में उदात्त होता है उसी के अर्थ की प्रधानता होती है जबकि अनुदात्त अंश वाले की अप्रधानता। इस विषय में निरुक्तकार आचार्य यास्क कहते हैं—**तीव्रार्थतरमुदात्तम्, अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम्** (निरु० ४.२५)। वेङ्कटमाधव भी स्वरानुक्रमणी में ही कहते हैं कि—

निघाततिङ्पदस्यार्थं वाक्यान्ते दर्शयेच्छनैः।
उदात्ततिङ्पदस्यार्थमुच्चैरादौ प्रदर्शयेत्॥ १.१.५॥

इस प्रकार स्वरों की महत्ता को देखकर पाणिनि मुनि ने प्रथम पाद लगभग आधा तथा द्वितीय पाद सम्पूर्ण में स्वर सम्बन्धी अनेक व्यवस्थाएँ दीं हैं।

तृतीय पाद में उत्तरपद सम्बन्धी कार्यों का विधान है। वैयाकरण-निकाय में पूर्वपद या उत्तरपद शब्दों का व्यवहार समास के प्रसङ्ग में ही होता है। अत: यह पाद भी सम्पूर्ण रूप से समासगत उत्तरपद के परे रहते पूर्वपद सम्बन्धी कार्यों के लिए समर्पित है। इसमें मध्यवर्ती विभक्ति का अलुक्, आनङ् पुंवद्भाव, विभिन्न प्रकार के आदेश, दीर्घत्व आदि प्रमुख कार्य हैं।

चतुर्थपाद में व्याकरण शास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण अधिकार आरम्भ होता है, वह है अङ्गाधिकार। यह अधिकार इस पाद के आरम्भ से लेकर सप्तम अध्याय के अन्त तक कार्य करता है। इसमें अधिकतम तो प्रत्यय के निमित्त से अङ्ग (प्रकृति) के कार्यों का विधान है लेकिन कहीं-कहीं अङ्ग से उत्तर प्रत्यय के कार्य भी विहित हैं। चतुर्थ पाद के कार्यों में दीर्घत्व, नलोप, णिलोप, अट्-आट्, इयङ्-उवङ् यणादेश, विभिन्न लोप, प्रकृतिभाव आदि प्रमुख हैं। यहां तीन अवान्तर अधिकार भी हैं—असिद्धत्व, आर्धधातुक तथा भ का अधिकार। असिद्धत्व के माध्यम से कार्यों को व्यवस्थित करने की महर्षि पाणिनि की अद्भुत विधा है। यह असिद्धत्व, कार्यासिद्धत्व तथा शास्त्रासिद्धत्व इन दो प्रकारों से कार्य करता है।

इस प्रकार इस षष्ठ अध्याय में अनेक प्रकरण व्याख्यात हैं जो कि शब्द-स्वरूप के व्युत्पादन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

—प्रदीप कुमार शास्त्री

रूपान्तरेण ते देवा विचरन्ति महीतले।
ये व्याकरणसंस्कारपवित्रितमुखा नराः ॥
उपासनीयं यत्नेन शास्त्रं व्याकरणं महत्।
प्रदीपभूतं सर्वासां विद्यानां यदवस्थितम् ॥

अथ पातञ्जलमहाभाष्ये षष्ठाध्यायस्य द्वितीयपादस्यारम्भः ॥

बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ ६.२.१ ॥

किमर्थमिदमुच्यते ?

बहुव्रीहिस्वरं शास्ति समासान्तविधेः सुकृत्।

सुकृदाचार्यः समासान्तोदात्तत्वे प्राप्ते बहुव्रीहिस्वरमपवादं शास्ति ॥ नैतदस्ति प्रयोजनम्।

नञ्सुभ्यां नियमार्थं तु

'नञ्सुभ्याम्' (६.२.१७२) इत्येतन्नियमार्थं भविष्यति। नञ्सुभ्यामेव बहुव्रीहेरन्त उदात्तो भवति नान्यस्येति ॥ एवमपि कुत एतत्—पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं भविष्यति, न पुनः परस्येति ?

बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥

भा०—यह सूत्र किसलिये है ?

श्लो० वा०—सुकृत् आचार्य समासान्त विधि की प्राप्ति में बहुव्रीहि-स्वर का शासन करते हैं।

भा०—सुन्दर लक्षण बनाने वाले आचार्य ['समासस्य' (६.१.२१७) सूत्र से] समास को अन्तोदात्तत्व की प्राप्ति में अपवाद बहुव्रीहि स्वर का शासन करते हैं।

यह प्रयोजन नहीं है।

श्लो० वा०—इसके लिये तो नञ्, सु से उत्तर [विधान करने वाला सूत्र] नियम करने वाला हो जाएगा।

भा०—'नञ्सुभ्याम्' सूत्र नियम करने वाला होगा। ['समासस्य' से विधि सिद्ध होने पर भी पुनः विधीयमान यह सूत्र इस प्रकार नियम करने वाला होगा—] नञ्, सु से उत्तर ही बहुव्रीहि समास के उत्तर पद का अन्तोदात्त होता है, अन्य का नहीं।

इस पर भी यह किस प्रकार होगा कि पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो, पर पद को प्रकृतिस्वर क्यों न होने लगे ? [पूर्वोक्त नियम से नञ्, सु से अन्य दशा में 'समासस्य'

परस्य शिति शासनात्॥ १॥

'शितेर्नित्याबह्वच्' (१३८) इत्येतन्नियमार्थं भविष्यति। शितेरेव, नान्यत इति॥ यत्तावदुच्यते—नञ्सुभ्यां नियमार्थमिति!

क्षेपे विधिर्नञोऽसिद्धः

'उदराश्वेषुषु, क्षेपे' (१०७-१०८) इत्येतस्मिन्प्राप्ते तत एतदुच्यते॥ यदप्युच्यते परस्य शिति शासनादिति!

परस्य नियमो भवेत्।

परस्यैष नियमः स्यात्—शितेर्नित्याबह्वजेव, नान्यदिति॥

का निवारण तो हो जाएगा। परन्तु इष्ट, केवल पूर्वपद का विधान सिद्ध न होगा। अत: 'बहुव्रीहौ....' सूत्र आवश्यक है।]

श्लो० वा०—पर [=उत्तरपद] का शितिविषयक शासन से [नियम होगा।]

भा०—'शितेर्नित्याबह्वच्' (६.२.१३८) यह नियम के लिये होगा—शिति से परवर्त्ती ही उत्तरपद का प्रकृतिस्वर होता है, अन्य से नहीं। [नञ्सुभ्याम् के नियम से समासान्तोदात्तत्व की निवृत्ति होने पर पूर्वपद, उत्तरपद दोनों को प्रकृतिस्वर की प्राप्ति की स्थिति में प्रस्तुत सूत्र (१३८) शिति से भिन्न उत्तरपद में प्रकृतिस्वर का निवारण करेगा। अत: अन्य दशा में पूर्वपद का प्रकृतिस्वर सिद्ध होगा।]

यह जो कहा है कि 'नञ्सुभ्याम्' यह नियमार्थ होगा, [यह समुचित नहीं है। क्योंकि—]

श्लो० वा०—क्षेप में नञ् से उत्तर विधि सिद्ध है, अत: [नियम] असिद्ध होगा।

भा०—'उदराश्वेषुषु' 'क्षेपे' की प्राप्ति में यह [नञ्सुभ्याम्] कहा जा रहा है। ['अनुदरः' इत्यादि में 'समासस्य' से समास को प्राप्त अन्तोदात्त को बाधकर 'क्षेपे' सूत्र से पूर्वपद को अन्तोदात्त की प्राप्ति होती है। इसे भी बाधकर पुन: समास को अन्तोदात्त विधान करने के लिए 'नञ्सुभ्याम्' सार्थक हो जाएगा। इससे यह नियमार्थ नहीं बन पाएगा।]

यह जो 'परस्य शिति....' कहा है, [उस पर कहना है कि—]

श्लो० वा०—पर का नियम होता।

भा०—पर [अर्थात् उत्तरपद, 'नित्याबह्वच्'] के साथ नियम लगता। शिति से नित्य अबह्वच् को ही, अन्य को नहीं।

विवरण—विधि सिद्ध होने पर नियम की प्रसक्ति, विशेष कथन के अभाव में हर सम्भावित रीति से अन्वित हो सकती है। यहाँ पर नियम की दो दशाएँ सम्भव हैं—

यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं समासान्तोदात्तवं बाधते चप्रियः, वाप्रियः—अत्रापि बाधेत?

अन्तश्च वाप्रिये सिद्धः

अन्तोदात्तत्वं च वा प्रिये सिद्धम्। कुतः ?

सम्भवात्

असति खल्वपि संभवे बाधनं भवति, अस्ति च संभवो यदुभयं स्यात्॥ सत्यपि संभवे बाधनं भवति। तद्यथा—दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयतां तक्रं कौण्डिन्यायेति सत्यपि संभवे दधिदानस्य तक्रदानं निवर्तकं भवति। एवमिहापि सत्यपि संभवे पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं समासान्तोदात्तत्वं बाधिष्यते॥

अन्विति	परिणाम
१. शिति से उत्तर ही नित्य अबह्वच् का प्रकृतिस्वर हो।	१. इससे 'चित्रगुः' आदि में उत्तरपद को प्रकृतिस्वर नहीं होगा।
२. शिति से उत्तर नित्य अबह्वच् का ही प्रकृतिस्वर हो।	२. इससे शिति से 'ललाट' आदि उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर नहीं होगा।

यहाँ प्रथम अन्विति की दशा में उत्तरपद को प्रकृतिस्वर का निवारण हो सकेगा। पर विशेष कथन के अभाव में द्वितीय प्रकार का नियम भी हो सकता है। इससे पूर्वोक्त सिद्धि नहीं हो पाएगी। इसके लिए प्रस्तुत सूत्र आवश्यक है, यह सिद्ध हुआ।

[प्रसङ्गान्तर] **भा०**—यदि पूर्वपद प्रकृतिस्वर समासान्तोदात्तत्व का बाधन करता है तो 'चप्रियः', 'वाप्रियः' यहाँ भी बाधेगा ? [यहाँ 'च प्रियोऽस्य' इस विग्रह के अनुसार बहुव्रीहि समास है। इसमें पूर्वपद 'च' 'चादयोऽनुदात्ताः' (फिट्० ४.१६) के अनुसार अनुदात्त है। यहाँ किसी एक अक्षर में उदात्त की उपस्थिति के लिए समास का अन्तोदात्तत्व अभीष्ट है। पर प्रस्तुत सूत्र से इसका बाधन प्राप्त होता है।]

श्लो० वा०—च वा से उत्तर प्रिय परे रहने पर अन्तोदात्त सिद्ध।

भा०—च वा से उत्तर प्रिय परे रहने पर अन्तोदात्तत्व सिद्ध है। किस प्रकार ?

श्लो० वा०—सम्भव होने से।

भा०—सम्भव न होने पर बाधन होता है। यहाँ यह सम्भव है कि दोनों [च को अनुदात्त तथा समास को अन्तोदात्त] होवें। [समाधान पर आक्षेप—] सम्भव होने पर भी बाधन होता है। जैसे—'ब्राह्मणों को दही दो, पर कौण्डिन्य गोत्र वाले को मट्ठा दो'—इस उदाहरण में सम्भव होने पर भी कौण्डिन्य गोत्र वाले के लिये तक्रदान दधिदान का निवर्तक हो जाता है। इसी प्रकार यहाँ भी सम्भव होने पर भी पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व समासान्तोदात्तत्व का बाधन करने लगेगा।

एवं तर्हि—

प्रकृताद्विधेः ॥ २ ॥

बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवतीति। किं च प्रकृतम्? उदात्त इति वर्तते॥ एवमपि—कार्यप्रियः, हार्यप्रियः, अत्र न प्राप्नोति? स्वरितेऽप्युदात्तोऽस्ति। अथवा स्वरितग्रहणमपि प्रकृतमनुवर्तते। क्व प्रकृतम्? 'तित्स्वरितम्' (६.१.१८५) इति॥

बहुव्रीहावृते सिद्धम्।

अन्तरेण बहुव्रीहिग्रहणं सिद्धम्। तत्पुरुषे कस्मान्न भवति? 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः' (६.२.२) इत्येतन्नियमार्थं भविष्यति। द्विगौ तर्हि कस्मान्न भवति? इगन्ते द्विगावित्येतन्नियमार्थं

विवरण—बाध्य-बाधक भाव का प्रमुख कारण सामान्य-विशेष भाव है। इसकी उपस्थिति में सम्भव होने पर भी विशेष के द्वारा सामान्य का बाधन होता है। इससे पूर्वोक्त दोष अवस्थित रहा।

भा०—अच्छा तो फिर—

श्लो०वा०—प्रकृत उदात्तत्व का विधान होने से [यहाँ समासान्तोदात्तत्व का बाधन नहीं होगा।]

भा०—बहुव्रीहि में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है। साथ ही क्या प्रकृत है? उदात्त की अनुवृत्ति है। [इससे यह अर्थ होगा— 'बहुव्रीहि समास में पूर्वपद को जो उदात्त शास्त्रान्तर से विहित है। वह प्रकृति भाव से बना रहता है, उसमें विकार अनुदात्तत्व नहीं होता'। अब यदि किसी उदाहरण में पूर्वपद को अनुदात्त विहित है, तो उसमें इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी तथा इस प्रकार वहाँ इससे समासान्तोदात्तत्व का बाधन भी नहीं होगा।] [आक्षेप—] तो भी 'कार्यप्रियः....' यहाँ [समासान्तोदात्तत्व का] बाधन नहीं पाता? [उदात्त के साथ-साथ स्वरित में भी समासान्तोदात्तत्व का बाधन अभीष्ट है। समाधान—] स्वरित में भी उदात्त है। [अतः उदात्त शब्द से स्वरित का भी ग्रहण होगा। अतः इससे प्रकृतिभाव हो जाने से समासान्तोदात्तत्व का बाधन हो जाएगा।] अथवा [इस प्रस्तुत सूत्र में] प्रकृत 'स्वरित' ग्रहण की भी अनुवृत्ति है। कहाँ से प्रकृत है? 'तित् स्वरितम्' से। [इससे सूत्र प्रवृत्त हो जाने से समासान्तोदात्तत्व का बाधन होने से 'कार्य' के य को स्वरित सिद्ध हो सकेगा।]

[प्रसङ्गान्तर **श्लो०वा०**—] बहुव्रीहि के बिना भी सिद्ध।

भा०—इस सूत्र में 'बहुव्रीहि' पद के ग्रहण के बिना भी सिद्ध है। तब तत्पुरुष में क्यों नहीं होगा? 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ....' सूत्र नियमार्थ हो जाएगा। [यदि तत्पुरुष में हो तो तुल्यार्थ आदि पूर्वपद को ही हो] तब द्विगु में प्रकृतिस्वर क्यों नहीं होने लगेगा? 'इगन्तकालकपाल....' (६.२.२९) सूत्र से इगन्त द्विगु में विहित स्वर

भविष्यति। द्वन्द्वे तर्हि प्राप्नोति? 'राजन्यबहुवचनद्वन्द्वेऽन्धकवृष्णिषु' (३४) इत्येतन्नियमार्थं भविष्यति। अव्ययीभावे तर्हि प्राप्नोति? 'परि-प्रत्युपापा वर्ज्यमानाहोरात्रावयवेषु' (३३) इत्येतन्नियमार्थं भविष्यति॥ एवमपि कुत एतदेवं नियमो भविष्यत्येतेषामेव तत्पुरुषादिष्विति, न पुनरेवं नियमः स्यादेतेषां तत्पुरुषादिष्वेवेति?

इष्टतश्चावधारणम्।

इष्टतश्चावधारणं भविष्यति॥ एतेषां तर्हि बहुव्रीहेश्च पर्यायः प्राप्नोति?

द्विपाद्दिष्टेर्वितस्तेश्च पर्यायो न प्रकल्पते॥ ३॥

नियमार्थ हो जाएगा। तब द्वन्द्व में [प्रकृतिस्वर] प्राप्त होने लगेगा। 'राजन्यबहुवचन...' सूत्र नियमार्थ हो जाएगा। तब अव्ययीभाव में [प्रकृतिस्वर] प्राप्त होने लगेगा। 'परिप्रत्युपापा...' सूत्र नियमार्थ हो जाएगा।

[पुनः आक्षेप **भा०**—] फिर भी ऐसा क्यों हो कि यही नियम हो—तत्पुरुष आदि में तुल्यार्थ आदि को ही। ऐसा नियम क्यों न हो—इन्हें तत्पुरुष आदि में ही हो? [विशेष-कथन के अभाव में प्रकृति नियम के साथ-साथ अनिष्ट समास-नियम की सम्भावना भी बनती है।]

[समाधान **श्लो० वा०**—] इष्ट से अवधारण होगा।

भा०—दोनों की प्रकृति की सम्भावना दशा में इष्ट हेतु से अवधारण होगा। [क्योंकि यह शास्त्र इष्ट का अन्वाख्यान करने के लिए है। अतः व्याख्यान से समुचित का ही नियम होगा।]

[आक्षेप **भा०**—] तब तो इनका अर्थात् तुल्यार्थादि तत्पुरुष आदि का तथा बहुव्रीहि के [प्रकृतिस्वर का] भी [समासान्तोदात्तत्व के साथ] पर्याय प्राप्त होता है।

विवरण—बहुव्रीहि ग्रहण न करने पर प्रस्तुत सूत्र का तथा 'समासस्य' सूत्र का एक ही सामान्य विषय बन जाता है। अतः बहुव्रीहि में दोनों की एक साथ प्राप्ति होती है। परन्तु विरोध होने से दोनों कार्य एक साथ नहीं हो सकते। अतः पर्याय की प्राप्ति होती है।

तत्पुरुष में भी पूर्वोक्त नियम यह है—'तत्पुरुष में तुल्यार्थ आदि पूर्वपद को ही' यह नियम है। 'तत्पुरुष में प्रकृतिस्वर ही हो' यह नियम नहीं है। अतः प्रकृतिस्वर अविशेषित होने से यहाँ भी प्रकृतिस्वर तथा समासान्तोदात्त दोनों की पर्याय से प्राप्ति होगी।

[समाधान **श्लो०वा०**—] द्विपात् तथा दिष्टि, वितस्ति को विधान होने से पर्याय नहीं बनता।

यदयं 'द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धसु बहुव्रीहौ' (१९७) 'दिष्टिवितस्त्योश्च' (३१) इति सिद्धे पर्याये पर्यायं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यो न पर्यायो भवतीति॥

उदात्ते ज्ञापकं त्वेतत्

उदात्त एतज्ज्ञापकं स्यात्।

स्वरितेन समाविशेत्॥

स्वरितेन समावेशः प्राप्नोति॥ स्वरितेऽप्युदात्तोऽस्ति॥

बहुव्रीहिस्वरं शास्ति समासान्तविधेः सुकृत्।
नञ्सुभ्यां नियमार्थं तु परस्य शितिशासनात्॥ १॥
क्षेपे विधिर्नञोऽसिद्धः परस्य नियमो भवेत्।
अन्तश्च वा प्रिये सिद्धः संभवात्प्रकृताद्विधेः॥ २॥

भा०—यह जो पूर्वोक्त प्रकार से पर्याय सिद्ध होने पर भी 'द्वित्रिभ्यां पाद्-दन्...' तथा 'दिष्टिवितस्त्योश्च' से पर्याय का शासन करते हैं, उससे आचार्य ज्ञापित करते हैं कि पर्याय नहीं होता। [द्वित्रिभ्यां....' सूत्र से बहुव्रीहि में ज्ञापक होगा—अन्यत्र बहुव्रीहि में अन्तोदात्त नहीं होता। 'दिष्टिवितस्त्योश्च' से तत्पुरुष में ज्ञापन होगा—जिन्हें पूर्वपद प्रकृतिस्वर का नियम किया गया है, वहाँ पक्ष में समासान्तोदात्तत्व नहीं होता।

[आक्षेप **श्लोक० वा०**—] उदात्त में यह ज्ञापक हो सकेगा।

भा०—यह उदात्त में ज्ञापक हो सकेगा। [इस सूत्र में उदात्त की अनुवृत्ति होने से जहाँ अन्यत्र बहुव्रीहि में पूर्वपद में प्रकृतिभाव से उदात्त विहित है, वहाँ इस ज्ञापक से एक पक्ष में समासान्तोदात्तत्व नहीं होगा। परन्तु—]

[आक्षेप **श्लो० वा०**—] स्वरित के साथ समावेश होगा।

भा०—स्वरित के साथ तो समावेश प्राप्त होता है। [यहाँ पूर्वपद में प्रकृतिभाव से स्वरित होने पर इस ज्ञापक की प्रवृत्ति नहीं होती। अत: स्वरित और समासान्तोदात्तत्व का पर्याय से समावेश पाएगा। अत: 'बहुव्रीहौ' ग्रहण करना चाहिये।]

स्वरित में भी उदात्त है। [इस कथन के अनुसार ऐसा लगता है कि यहाँ भी ज्ञापक की प्रवृत्ति हो जाएगी। पर यहाँ महावैयाकरण नागेशभट्ट ने समुचित कहा है कि यह एकदेश्युक्ति है। क्योंकि 'द्वित्रिभ्यां...' सूत्र अन्तोदात्त करते समय 'स्वरित में भी उदात्त है' यह मानते हुए स्वरित का विधान नहीं करता। अत: स्वरित विधि सिद्ध न होने से वस्तुत: स्वरित में ज्ञापक नहीं बन पाएगा। अत: कारिकाकार के अनुसार सूत्र में 'बहुव्रीहौ' ग्रहण करना चाहिये, यही समुचित है।]

बहुव्रीहावृते सिद्धमिष्टतश्चावधारणम्।
द्विपाद्दिष्टेर्वितस्तेश्च पर्यायो न प्रकल्पते॥ ३॥
उदात्ते ज्ञापकं त्वेतत् स्वरितेन समाविशेत्॥

तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्यय-द्वितीयाकृत्याः॥ ६.२.२॥

तत्पुरुषे विभक्तिप्रकृतिस्वरत्वे कर्मधारये प्रतिषेधः॥ १॥

तत्पुरुषे विभक्तिप्रकृतिस्वरत्वे कर्मधारये प्रतिषेधो वक्तव्यः। परमं कारकं परमकारकम्। परमेण कारकेण परमकारकेण। परमे कारके परमकारके॥

सिद्धं तु लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणात्॥ २॥

सिद्धमेतत्। कथम्? लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैवेति प्रतिपदं यो द्वितीयातृतीयासप्तमीसमासस्तस्य ग्रहणं लक्षणोक्तश्चायम्॥

अव्यये परिगणनं कर्तव्यम्।

अव्यये नञ्कुनिपातानाम्॥ ३॥

तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्यय-द्वितीयाकृत्याः॥

वा०—तत्पुरुष में विभक्तिप्रकृतिस्वरत्व होने पर कर्मधारय में प्रतिषेध।

भा०—तत्पुरुष समास में विभक्ति को निमित्त मानकर प्रकृतिस्वरत्व होने पर कर्मधारय में प्रतिषेध कहना चाहिये। परमं कारकम्.....। [इनमें 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' (२.१.५७) से द्वितीयाद्यन्त पदों का कर्मधारय समास हुआ है। यहाँ द्वितीयादि विभक्ति को निमित्त मान कर विहित प्रकृतिस्वर की प्राप्ति होती है।]

वा०—सिद्ध है, लक्षण और प्रतिपदोक्त में प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण होने से।

भा०—यह सिद्ध है। किस प्रकार? 'लक्षण, प्रतिपदोक्त के मध्य केवल प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण हो' इस परिभाषा के अनुसार ['द्वितीया श्रितातीत...' (२.१.२४) इत्यादि सूत्रों से विहित] प्रतिपद अर्थात् द्वितीयान्त इत्यादि पदों का नाम लेकर जो द्वितीया, सप्तमी, तृतीया समास है, उसका ग्रहण है। यह तो लक्षणोक्त है [अर्थात् द्वितीया आदि विभक्ति विशेष का नाम लिये बिना लक्षण द्वारा सामान्य विभक्ति का उल्लेख है।]

[प्रसङ्गान्तर **भा०**—] अव्ययों में परिगणन करना चाहिये।

वा०—अव्यय में नञ्, कु, निपात का।

अव्यये नञ्कुनिपातानामिति वक्तव्यम्। नञ्—अब्राह्मणः, अवृषलः। नञ्। कु—कुब्राह्मणः, कुवृषलः। कु। निपात—निष्कौशाम्बिः, निर्वाराणसिः। क्व मा भूत्? स्नात्वाकालकः, पीत्वास्थिरकः॥

क्त्वायां वा प्रतिषेधः॥ ४॥

क्त्वायां वा प्रतिषेधो वक्तव्यः। स्नात्वाकालकः, पीत्वास्थिरकः॥ उभयं न वक्तव्यम्।

निपातनात्सिद्धम्॥ ५॥

निपातनादेतत् सिद्धम्। किं निपातनम्? अवश्यमत्र समासार्थं ल्यबभावार्थं च निपातनं कर्तव्यम्, तेनैव यत्नेन स्वरो न भविष्यति॥

सदृशप्रतिरूपयोः सादृश्ये॥ ६.२.११॥

भा०—अव्यय के मध्य केवल नञ्, कु, निपात [पूर्वपद] का ही प्रकृतिस्वर हो, यह कहना चाहिये। नञ्—अब्राह्मणः....। ['नञ्' (२.२.६) से समास। कु—कुब्राह्मणः...। ['कुगतिप्रादयः' (२.२.१८) से समास। निपात—निष्कौशाम्बिः...। 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' ('कुगतिप्रादयः' में परिपठित वार्तिक) से समास। कहाँ पर न हो—स्नात्वाकालकः, पीत्वास्थिरकः। [यहाँ नञ्, कु आदि पूर्वपद न होने पर इससे प्रकृतिस्वर न हो।]

वा०—अथवा 'क्त्वा' में प्रतिषेध।

भा०—अथवा क्त्वान्त पूर्वपद होने पर प्रतिषेध कहना चाहिये। स्नात्वा-कालकः...। [अन्य आचार्यों द्वारा पक्षान्तर में समाधान है। इस प्रस्तुत वार्तिक के पक्ष में 'सामिकृतम्' इत्यादि में प्रकृतिस्वर प्राप्त होता है, जब कि पूर्व-वार्तिक से नहीं प्राप्त होता। इस प्रकार फलभेद है।]

वा०—निपातन से सिद्ध।

भा०—यह निपातन से सिद्ध है। क्या निपातन है? यहाँ समास के लिये तथा ल्यप् के अभाव के लिये निपातन करना ही होगा। उसी यत्न से स्वर भी नहीं होगा।

विवरण—यहाँ समास के लिये इनका मयूरव्यंसकादि गण में पाठ किया गया है। भाष्यकार द्वारा ल्यप् के अभाव के लिए निपातन का कथन 'समासेऽनञ्पूर्वे...' (७.१.३७) का यह अर्थ मानकर है कि नञ् पूर्व न होने पर अर्थात् तत्सदृश किसी उपसर्ग आदि के पूर्व में होने पर अथवा किसी के भी पूर्व में न होने पर ल्यप् होता है। 'स्नात्वाकालकः' इस समास में स्नात्वा से पूर्व कुछ नहीं है। अतः ल्यप् की प्राप्ति है। इसी निपातन से स्वर भी नहीं होगा।

सदृशप्रतिरूपयोः सादृश्ये॥

सदृशग्रहणमनर्थकं तृतीयासमासवचनात्॥ १॥

सदृशग्रहणमनर्थकम्। किं कारणम्? तृतीयासमासवचनात्। सदृश-शब्देन तृतीयासमास उच्यते, तत्र तृतीयापूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवतीत्येव सिद्धम्॥ षष्ठ्यर्थं तर्हीदं वक्तव्यम्—पितुः सदृशः पितृसदृश इति?

षष्ठ्यर्थमिति चेत्तृतीयासमासवचनानर्थक्यम्॥ २॥

षष्ठ्यर्थमिति चेत्तृतीयासमासवचनमनर्थकं स्यात्। किं कारणम्? इहास्माभिस्त्रैशब्द्यं साध्यम्—पित्रा सदृशः, पितुः सदृशः, पितृसदृश इति। तत्र द्वयोः शब्दयोः समानार्थयोरेकेन विग्रहोऽपरेण समासो भविष्यत्यविर-विकन्यायेन। तद्यथा—अवेर्मांसमिति विगृह्य अविकशब्दादुत्पत्तिर्भवति आविकमिति। एवं पितुः सदृश इति विगृह्य पितृसदृश इति भविष्यति, पित्रा सदृश इति विगृह्य वाक्यमेव॥ अवश्यं तृतीयासमासो वक्तव्यो यत्र

वा०—सदृश-ग्रहण अनर्थक, तृतीया समास वचन होने से।

भा०—सदृश-ग्रहण अनर्थक है। क्या कारण है? तृतीया-समास वचन होने से। ['पूर्वसदृशसमोनार्थ....' (२.१.३१) से] सदृश शब्द के साथ [प्रतिपद] तृतीया-समास कहा गया है। अतः [तत्पुरुषे तुल्यार्थ....] सूत्र से तृतीया पूर्वपद को प्रकृति-स्वर होता है, इस नियम से यह सिद्ध है। अच्छा तो फिर इस सूत्र को षष्ठी समासान्त पूर्वपद के लिए कहना चाहिये।

वा०—षष्ठी के लिये कहें तो तृतीया-समास वचन का आनर्थक्य।

भा०—षष्ठी के लिये कहें तो [पूर्वोक्त से] तृतीया-समास वचन अनर्थक होता है। क्या कारण है? यहाँ हमें तीन शब्द सिद्ध करने हैं—पित्रा सदृशः, पितुः सदृशः, पितृसदृशः। तब दो समान अर्थ वाले शब्द=विग्रहवाक्यों में से एक से विग्रह वाक्य ही बना रहेगा। दूसरे विग्रह वाक्य से [समास या तद्धित] वृत्ति भी हो जाएगी। जैसे 'अवेर्मांसम्' इस विग्रह से अविक शब्द से अण् की उत्पत्ति होकर 'आविकम्' [मांसम्] बनता है। [अवेर्मांसम्, अविकस्य मांसम्—ये दोनों विग्रह वाक्य होते हैं। पर तद्धित अण् प्रत्यय केवल अविक से होता है। अवि से नहीं।] इसी प्रकार यहाँ 'पितुः सदृशः' इस विग्रह से पितृसदृश बनेगा। 'पित्रा सदृशः' इस विग्रह से वाक्य ही होगा।

विशेष—इस प्रबन्ध के द्वारा महाभाष्यकार ने भाषाविज्ञान का यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि शास्त्र द्वारा जितने रूप अनुमत हैं। उन सभी का प्रयोग समाज में मान्य नहीं होता। महर्षि पाणिनि ने 'ब्रुवः पञ्चानामादित...' सूत्र से तथा परवर्ती वैयाकरणों ने 'न हि वचिरन्तिपरः प्रयुज्यते' न्याय से यही अभिमत प्रकट किया है। सूत्र के अनुसार 'वचन्ति' बन तो सकता है, पर प्रयोग नहीं होता। इसी प्रकार

षष्ठ्यर्थो नास्ति, तदर्थम्। भोजनसदृशः, अध्ययनसदृश इति॥ यदि तर्हि तस्य निबन्धन-मस्ति तदेव वक्तव्यम्, इदं न वक्तव्यम्। इदमप्यवश्यं वक्तव्यं यत्र षष्ठी श्रूयते, तदर्थम्। दास्याःसदृशः, वृषल्याःसदृश इति॥

यहाँ अवि से अण् हो तो सकता है, पर प्रयोग न होने से अमान्य है। इस विवरण से यह सिद्ध होता है कि हर विग्रह वाक्य का वृत्ति रूप बनना अनिवार्य नहीं है। इस स्थिति में 'पूर्वसदृश....' सूत्र में 'सदृश' ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि तृतीयान्त का 'सदृश' के साथ समास न होने पर भी षष्ठ्यन्त का सदृश के साथ समास होकर 'पितृसदृशः' रूप तो बन ही जाएगा।

भा०—तृतीया-समास तो अवश्य कहना होगा। जहाँ षष्ठी का अर्थ नहीं है, वहाँ के लिये—भोजनसदृशः...। [यहाँ 'भोजनेन हेतुना सृदशः' इस विग्रह के अनुसार हेतु में तृतीया है। यहाँ भोजन उपमान नहीं, अपितु साधारण धर्म है। अन्य उदाहरण—देवदत्त के समान यज्ञदत्त है, क्योंकि दोनों कम या अधिक भोजन करते हैं। यहाँ देवदत्त उपमान है।

इसमें 'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां....' (२.३.७२) से क्रमशः तृतीया तथा षष्ठी दोनों होती हैं। अतः षष्ठी पक्ष में समास वाला रूप निष्पन्न हो जाता है। पर भोजनसदृशः में केवल हेतु में तृतीया है। अतः यहाँ समास वृत्ति रूप बनाने के लिये 'पूर्वसदृश....' अवश्य कहना होगा, यह आशय है।]

यदि उक्त उदाहरणों के लिये उसे (पूर्वसदृश....को) कहना होगा तो उसे ही कह दिया जावे, इस प्रस्तुत सूत्र को न कहा जावे। [तृतीयान्त पूर्वपद वाले विग्रह के अनुसार समास होगा। इस समास में 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ....' से स्वर सिद्ध होगा। तथा षष्ठ्यन्त पूर्वपद वाला केवल विग्रह वाक्य रहेगा। इस प्रकार भी तीनों रूप सिद्ध हो जाएँगे।]

इसे भी अवश्य कहना होगा। जहाँ षष्ठी का श्रवण होता है, उस उदाहरण के लिये—दास्याः सदृशः....। [यहाँ षष्ठ्यन्त पूर्वपद वाले का षष्ठी तत्पुरुष समास होता है तथा 'षष्ठ्या आक्रोशे' (६.३.२१) से विभक्ति का अलुक् होता है। वहाँ षष्ठी समास पक्ष में प्रकृतिस्वर अभीष्ट है। ताकि 'दास्याः सदृशः' इस समस्त पद में 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' (६.१.१७४) से निष्पन्न षष्ठी विभक्ति का उदात्तत्व प्रकृतिस्वर द्वारा बना रहे। साथ ही तृतीया समास में पूर्वोक्त से भिन्न प्रकार का रूप बनने से इसका समास भी अभीष्ट है।

इस स्थिति को चित्र द्वारा प्रदर्शित करते हैं—

	विग्रह	समास	विवरण
१ क	पित्रा सदृशः		
	पितुः सदृशः	पितृसदृशः	'पूर्वसदृश....' की आवश्यकता नहीं।
			'सदृशप्रतिरूपयोः..' की आवश्यकता है।

इगन्तकालकपालभगालशरावेषु द्विगौ ॥ ६.२.२९ ॥

इगन्तप्रकृतिस्वरत्वे यण्गुणयोरुपसंख्यानम् ॥ १ ॥

इगन्तप्रकृतिस्वरत्वे यण्गुणयोरुपसंख्यानं कर्तव्यम्। पञ्चांरत्न्यः, दशांरत्न्यः। पञ्चांरत्नयः, दशांरत्नयः। यण्गुणयोः कृतयोरिगन्ते द्विगावित्येष स्वरो न प्राप्नोति॥

न वा बहिरङ्गलक्षणत्वात्॥ २॥

न वा वक्तव्यम्। किं कारणम्? बहिरङ्गलक्षणत्वात्। बहिरङ्गौ यण्गुणौ। अन्तरङ्गः स्वरः। असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे॥

---

२ ख	पित्रा सदृशः	पितृसदृशः	पूर्वसदृशः...की आवश्यकता है।
	पितुः सदृशः		सदृशप्रतिरूपयोः की आवश्यकता नहीं।
३	भोजनेन सदृशः	भोजनसदृशः	पूर्वसदृश... की आवश्यकता है।
			सदृशप्रतिरूपयोः...की आवश्यकता नहीं।
			तत्पुरुषे तुल्यार्थ...से गतार्थ है।
४	दास्या सदृशः	दासीसदृशः	पूर्वसदृश... की आवश्यकता है।
	दास्याः सदृशः	दास्यास्सदृशः	सदृशप्रतिरूपयोः... की आवश्यकता है।

इगन्तकालकपालभगालशरावेषु द्विगौ॥

वा०—इगन्त को प्रकृतिस्वर के प्रसङ्ग में यण् गुण वाली प्रकृति का उपसङ्ख्यान।

भा०—इगन्त को प्रकृतिस्वरत्व के प्रसङ्ग में यण् गुणवाली प्रकृति का उपसङ्ख्यान करना चाहिये। पञ्चारत्न्यः...। यण्, गुण कर लेने पर 'इगन्ते द्विगौ' इस नियमानुसार स्वर प्राप्त नहीं होता। ['पञ्चारत्नयः प्रमाणम् अस्य' इस विग्रह के अनुसार 'तद्धितार्थोत्तरपद...' (२.१.५१) से द्विगुसमास होने पर 'प्रमाणे द्वयसच्....' (५.२.३७) से विहित मात्रच् प्रत्यय का 'प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम्' वार्तिक से लुक् होने पर जस् विभक्ति। इसके परे रहने पर 'जसि च' (७.३.१०९) से गुण का 'जसादिषु छन्दसि वा वचनम्' इस वार्तिक से विकल्पित होने पर एक पक्ष में गुण तथा अन्य पक्ष में यण् होते हैं। इनके कर लेने पर इगन्त न रह जाने से स्वर नहीं पाता।

वा०—बहिरङ्गलक्षण होने से नहीं।

भा०—इसे नहीं कहना चाहिये। क्या कारण है? बहिरङ्गलक्षण होने से। यण्, गुण [सुप् के आश्रित होने से] बहिरङ्ग हैं। स्वर [सुप् उत्पत्ति से पूर्व होने से] अन्तरङ्ग है। अन्तरङ्ग की दृष्टि में बहिरङ्ग असिद्ध होता है।

परिप्रत्युपापा वर्ज्यमानाहोरात्रावयवेषु ॥ ६.२.३३ ॥

परिप्रत्युपापेभ्यो वनं समासे विप्रतिषेधेन ॥ १ ॥

परिप्रत्युपापेभ्यो 'वनं समासे' (६.२.१७८) इत्येतद्भवति विप्रतिषेधेन। 'परिप्रत्युपापा वर्ज्यमानाहोरात्रावयवेषु' इत्यस्यावकाशः—परित्रिगर्तम्, परि-सौवीरम्। 'वनं समासे' इत्यस्यावकाशः—प्रवणे यष्टव्यम्। इहोभयं प्राप्नोति—परिवनम्, अपवनम्। 'वनं समासे' इत्येतद्भवति विप्रतिषेधेन॥

न वा वनस्यान्तोदात्तवचनं तदपवादनिवृत्त्यर्थम् ॥ २ ॥

न वार्थो विप्रतिषेधेन। किं कारणम्? वनस्यान्तोदात्तवचनं तदपवाद-निवृत्त्यर्थम्। सिद्धमत्रान्तोदात्तत्वमुत्सर्गेणैव। तस्य पुनर्वचन एतत्प्रयोजनं येऽन्ये तदपवादाः प्राप्नुवन्ति तद्बाधनार्थम्। स यथैव तदपवादमव्ययस्वरं बाधते, एवमिदमपि बाधिष्यते॥

आचार्योपसर्जनश्चान्तेवासी ॥ ६.२.३६ ॥

परिप्रत्युपापा वर्ज्यमानाहोरात्रावयवेषु ॥

वा०—परिप्रत्युपाप से 'वनं समासे' विप्रतिषेध से।

भा०—'परिप्रत्युपाप' [से उपलक्षित अप, परि से प्रकृतिस्वर] से पूर्व 'वनं समासे' यह विप्रतिषेध द्वारा कार्यशील होता है।

'परिप्रत्युपापा' का अवकाश है—परित्रिगर्तम्....[जहाँ वन उत्तरपद नहीं है।] 'वनं समासे' का अवकाश है—प्रवणे...[जहाँ अप, परि पूर्वपद नहीं हैं।] यहाँ दोनों पाते हैं—परिवनम्.... । विप्रतिषेध से 'वनं समासे' पहले होता है। [यहाँ परि के योग में 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' (२.३.१०) से वन में पञ्चमी तथा 'अपपरिबहि... (२.१.१२) से अव्ययीभाव समास हुआ है। इसका अर्थ 'वनं वर्जयित्वा' अर्थात् 'वन को छोड़ कर' यह है।]

वा०—वन का अन्तोदात्तवचन उसके अपवाद की निवृत्ति के लिये होने से, यह नहीं।

भा०—इस विप्रतिषेध की आवश्यकता नहीं। क्या कारण है? वन का अन्तोदात्त वचन उसके अपवाद की निवृत्ति के लिये है। यहाँ उत्सर्ग ['समासस्य' (६.१.२२३)] सूत्र से ही अन्तोदात्तत्व सिद्ध है। फिर भी इस सूत्र के पुनः वचन में प्रयोजन यह है कि इसके जो अन्य अपवाद हैं, उनका बाधन हो सके। वह जिस प्रकार अव्यय-स्वर ['तत्पुरुषे तुल्यार्थ...' (६.२.२) से प्रकृतिस्वर] का बाधन करता है, उसी प्रकार [अधिक बलवान् होने से, बाध्य सामान्य चिन्ता से] इसे [परिप्रत्युपा..] को भी बाध लेगा। [अतः विप्रतिषेध की आवश्यकता नहीं है।]

आचार्योपसर्जनश्चान्तेवासी ॥

आचार्योपसर्जनेऽनेकस्यापि पूर्वपदत्वात्संदेहः ॥ १ ॥

आचार्योपसर्जनेऽनेकस्यापि पूर्वपदत्वात्संदेहो भवति। आपिशल-पाणिनीयव्याडीयगौतमीयाः। एकं पदं वर्जयित्वा सर्वाणि पूर्वपदानि, तत्र न ज्ञायते कस्य पूर्वपदस्य प्रकृतिस्वरत्वेन भवितव्यमिति ?

लोकविज्ञानात्सिद्धम् ॥ २ ॥

तद्यथा—लोकेऽमीषां ब्राह्मणानां पूर्वमानयेति, यः सर्वपूर्वः स आनीयते। एवमिहापि यत्सर्वपूर्वपदं तस्य प्रकृतिस्वरत्वं भविष्यति ॥

महान्व्रीह्यपराह्णगृष्टीष्वासजाबालभारभारतहैलिहिलरौरवप्रवृद्धेषु ॥ ६.२.३८ ॥

किमर्थं महतः प्रवृद्धशब्द उत्तरपदे पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वमुच्यते, न 'कर्मधारयेऽनिष्ठा' (६.२.४६) इत्येव सिद्धम् ? न सिध्यति। किं कारणम् ? श्रेण्यादिसमास इत्येवं तत्। इह मा भूत्—महानिरष्टो दक्षिणा दीयते[1] ॥

वा०—'आचार्योपसर्जन' में अनेक के भी पूर्वपदत्व से सन्देह।

भा०—'आचार्योपसर्जन' के प्रसङ्ग में अनेक पदों के भी पूर्वपद [बनना सम्भावित] होने से सन्देह होता है। आपिशल....। यहाँ एक [अन्तिम] पद को छोड़कर सभी पूर्वपद हैं [प्रत्येक अगले के सापेक्ष प्रत्येक पिछला पूर्वपद है।] तब यह पता नहीं चलता कि किस पूर्वपद को स्वर होना है।

वा०—लोक विज्ञान से सिद्ध।

भा०—जैसे—लोक में 'इन ब्राह्मणों में पूर्व वाले को लाओ' यह कहने पर जो सबसे पूर्व में अवस्थित है, उसे ही लाया जाता है। इसी प्रकार यहाँ भी जो सबसे पूर्व में स्थित पद है, उसका प्रकृतिस्वरत्व होगा।

महान्व्रीह्यपराह्ण.... ॥

भा०—प्रवृद्ध शब्द के उत्तरपद होने पर महत् को पूर्वपद प्रकृतिस्वर किसलिये कहा जा रहा है, क्या 'कर्मधारयेऽनिष्ठा' से सिद्ध नहीं हो जाएगा ? नहीं सिद्ध होता। क्या कारण है ? वह सूत्र 'श्रेण्यादयः कृतादिभिः' (२.१.५९) से विहित समास में कार्यशील होता है। क्या कारण है कि वह सूत्र श्रेण्यादि समास में ही प्रवृत्त होता है ? यहाँ न हो—महानिरष्टो दक्षिणा दीयते। [यहाँ 'सन्महत्...' (२.१.६१) सूत्र से समास होकर प्रकृतिस्वर होता है।]

---

१. महानिरष्टो दक्षिणा समृद्ध्यै। तै०ब्रा० १.७.३.४ ॥

कुरुगार्हपतरिक्तगुर्वसूतजरत्यश्लीलदृढरूपा पारेवडवा तैतिलकद्रूः पण्यकम्बलो दासीभाराणां च॥ ६.२.४२ ॥

कुरुवृज्योर्गार्हपते॥ १ ॥

कुरुवृज्योर्गार्हपत इति वक्तव्यम्—कुरुगार्हपतम्, वृजिगार्हपतम्।

कुरुगार्हपतरिक्तगुर्वसूतजरत्यश्लीलदृढरूपापारेवडवातैतिलकद्रूःपण्यकम्बलोदासीभारादीनामिति वक्तव्यम्। इहापि यथा स्यात्—देवहूतिः, देवनीतिः, वसुनीतिः, ओषधिः, चन्द्रमाः॥ तत्तर्हि वक्तव्यम्? न वक्तव्यम्। योगविभागः करिष्यते। कुरुगार्हपतरिक्तगुर्वसूतजरत्यश्लीलदृढरूपा पारेवडवा तैतिलकद्रूः पण्यकम्बल इति। ततो दासीभाराणां चेति। तत्र बहुवचननिर्देशाद्दासीभारादीनामिति विज्ञास्यते॥

पण्यकम्बलः संज्ञायाम्॥ २ ॥

पण्यकम्बलः संज्ञायामिति वक्तव्यम्। यो हि पणितव्यः कम्बलः पण्य-

---

कुरुगार्हपतरिक्तगुर्वसूत.... ॥

वा०—गार्हपत में कुरु, वृजि को।

भा०—गार्हपत उत्तरपद होने पर कुरु तथा वृजि इन दोनों को प्रकृतिस्वर होता है, यह कहना चाहिये 'कुरुगार्हपतम्, वृजिगार्हपतम्' [गार्हपत शब्द 'गृहपति' से 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात्' (५.१.१३१) से भाव में अण् प्रत्यय होकर निर्मित है। 'कुरूणां गार्हपतम्' इस विग्रह के अनुसार 'कुरुओं का गृहपतित्व' यह इसका अर्थ है।]

'कुरुगार्हपत....दासीभारादीनाम्' यह कहना चाहिये। यहाँ भी हो सके—देवहूति...। ओषधिः [यहाँ ओष उपपद रहने पर 'कर्मण्यधिकरणे च' (३.३.९३) से कि प्रत्यय तथा उपपद समास है। 'ओष' शब्द घञन्त होने से आद्युदात्त है।] चन्द्रमाः [चन्द्र उपपद रहने पर मा धातु से औणादिक (४.२२९) असि प्रत्यय, उपपद समास है। इस प्रकार जिस भी तत्पुरुष का पूर्वपद प्रकृतिस्वर अभीष्ट है, पर विहित नहीं है। उन सभी को दासीभारादि गण में स्वीकार किया जाता है।]

भा०—तो फिर इसे कहा जावे? कहने की आवश्यकता नहीं। योगविभाग करेंगे—'कुरुगार्हपत....' पश्चात् 'दासीभाराणां च'। यहाँ बहुवचन-निर्देश से दासीभारादि समझ लिया जाएगा।

वा०—पण्यकम्बल संज्ञा में।

भा०—'पण्यकम्बल' शब्द संज्ञा में पूर्वपद प्रकृतिस्वर को प्राप्त होता है, यह कहना चाहिये। [कुछ निश्चित आयाम (size) वाले तथा निश्चित मूल्य वाले

कम्बल एवासौ भवति॥

अपर आह—पण्यकम्बल एव यथा स्यात्। क्व मा भूत् ? पण्यगवः, पण्यहस्ती॥

अहीने द्वितीया॥ ६.२.४७॥

अहीन इति किमर्थम् ? कान्तारातीतः, योजनातीतः॥

अहीने द्वितीयानुपसर्गे॥ १॥

अहीने द्वितीयानुपसर्ग इति वक्तव्यम्। इह मा भूत्—सुखप्राप्तः, दुःखप्राप्तः॥ तत्तर्हि वक्तव्यम् ? यद्यप्येतदुच्यतेऽथवैतर्ह्यहीनग्रहणं न करिष्यते। इहापि—कान्तारातीतः, योजनातीत इत्यनुपसर्ग इत्येव सिद्धम्॥

सामान्य व्यवहार के लिये उपयोगी कम्बल प्रचलित थे। उनका नाम ही 'पण्यंकम्बल' पड़ गया था। उनमें यह स्वर-विधान है।] अन्य प्रकार का कम्बल जो बाजार में बिक्री के लिये प्रस्तुत है, वह पूर्वपद प्रकृतिस्वर के बिना 'पण्यकम्बल' ही होता है।

अन्य आचार्य कहते हैं—'पण्यंकम्बल' में ही होवे। [कम्बल उत्तरपद परे रहने पर ही 'पण्य' शब्द को प्रकृतिस्वर होवे।] कहाँ न हो ? पण्यगवः, ['पण्यो गौः' विग्रह के अनुसार विशेषण-समास। 'गोरतद्धितलुकि' (५.४.९२) से समासान्त टच् प्रत्यय।

अहीने द्वितीया॥

भा०—यहाँ 'अहीने' किसलिये है ? कान्तारातीतः...। ['कान्तारं त्यक्तवान्' इस विग्रह के अनुसार 'द्वितीया श्रितातीत...' से तत्पुरुष समास है। यहाँ हीन=त्यक्त वाचक द्वितीयान्त समास है। अतः इससे पूर्वपद प्रकृति स्वर न होकर थाथादिस्वर होता है।]

वा०—'अहीने द्वितीया' अनुपसर्ग में।

भा०—'अहीने द्वितीया' सूत्र से अनुपसर्ग [क्तान्त परे रहने पर द्वितीयान्त को प्रकृतिस्वर] यह कहना चाहिये। यहाँ न हो—सुखं प्राप्तः सुखप्राप्तः...[यहाँ भी इस सूत्र के अप्रवृत्त होने पर थाथादिस्वर होता है।]

तो फिर इसे कहा जावे ? यद्यपि इसे कहना तो होगा। फिर भी इससे लाभ यह होगा कि 'अहीन' ग्रहण नहीं करना होगा। यहाँ 'कान्तारातीतः' आदि में [सोपसर्ग क्तान्त होने से] 'अनुपसर्गे' कथन से ही [प्रकृतिस्वर का निवारण] सिद्ध हो जाएगा।

गतिरनन्तरः ॥ ६.२.४९ ॥

अनन्तर इति किमर्थम् ? इह मा भूत्–अभ्युद्धृतम्, उपसमाहृतम्।

गतेरनन्तरग्रहणमनर्थकं गतिर्गतावनुदात्तवचनात् ॥ १ ॥

गतेरनन्तरग्रहणमनर्थकम्। किं कारणम् ? गतिर्गतावनुदात्तवचनात्। गतौ परतो गतेरनुदात्तत्वमुच्यते, तद्बाधकं भविष्यति ॥

तत्र यस्याप्रकृतिस्वरत्वं तस्मादन्तोदात्तत्वप्रसङ्गः ॥ २ ॥

गतिरनन्तरः ॥

अवतरण—यह सूत्र 'प्रकृतः' आदि उदाहरणों में कर्मवाची क्तान्त उत्तरपद परे होने पर अनन्तर गति को पूर्वपद प्रकृतिस्वर के विधान के लिए है।

यहाँ 'अनन्तर' ग्रहण की उपयोगिता पर अनेक विकल्प प्रस्तुत किये गये हैं। यथा—

१. 'अभ्युद्धृतम्' आदि में इससे अभि को प्रकृतिस्वर अभीष्ट नहीं है। यहाँ यदि केवल हृत क्तान्त हो तो उससे अव्यवहित गति 'अभि' नहीं है। अतः अभि को स्वतः प्रकृतिस्वर नहीं होगा। पुनरपि अनन्तर ग्रहण 'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्' परिभाषा को ज्ञापित करता है।

२. 'अभ्युद्धृतम्' आदि में ही इससे 'उत्' को प्रकृतिस्वर अभीष्ट है। परन्तु अभि का उद्धृतम् के साथ समास कर लेने पर 'उत्' पूर्वपद नहीं रह जाता। इस पक्ष में उत् को प्रकृतिस्वर का विधान के लिये अनन्तर ग्रहण उपयोगी हो सकता है।

इसकी सिद्धि के लिये 'अनन्तर' की उपस्थिति में एक अतिव्याप्ति यह है कि 'दूरादागतः' जैसे कारकपूर्व शब्दों में भी इसकी प्राप्ति होने से 'आ' उपसर्ग को प्रकृतिस्वर पाता है, जो कि अभीष्ट नहीं है।

इस सम्पूर्ण पर विचारणा के पश्चात् अन्त में पूर्वोक्त प्रथम पक्ष को मान्य करते हुए 'कृद्ग्रहणे' परिभाषा की स्थापना की गई है।

भा०—'अनन्तरः' ग्रहण किसलिये है। यहाँ न हो—अभ्युद्धृतम्, उपसमाहृतम्। [उद्धृत क्तान्त परे रहने पर अभि को प्रकृतिस्वर न हो। अभी 'प्रत्ययग्रहणे यस्मात्...' को संज्ञान में न लेकर पूरे 'उद्धृत' को क्तान्त मान रहे हैं।]

वा०—'गतेः' के साथ 'अनन्तर' ग्रहण अनर्थक 'गतिर्गतौ' वचन से।

भा०—'गतेः' की उपस्थिति में अनन्तर ग्रहण अनर्थक है। क्या कारण है ? 'गतिर्गतौ' (७.१.७०) इस अनुदात्त-वचन के होने से। गति परे रहने पर गति को अनुदात्तत्व कहा गया है। यह वचन बाधक हो जाएगा। [परत्व हेतु से 'गतिरनन्तरः' को बाध कर 'गतिर्गतौ' सूत्र से अभि को निघात—अनुदात्त हो जाएगा।]

वा०—तब जिसका प्रकृतिस्वर नहीं है, उससे अन्तोदात्तत्व-प्रसङ्ग।

तत्र यस्य गतेरप्रकृतिस्वरत्वं तस्मादन्तोदात्तत्वं प्राप्नोति। 'अन्तः' 'थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्' (६.२.१४३, १४४) इति॥

प्रकृतिस्वरवचनाद्ध्यनन्तोदात्तत्वम्॥ ३॥

प्रकृतिस्वरवचनसामर्थ्याद्ध्यन्तोदात्तत्वं न भविष्यति। यदि हि स्यात्, प्रकृतिस्वरवचनमिदानीं किमर्थं स्यात्?

प्रकृतिस्वरवचनं किमर्थमिति चेदेकगत्यर्थम्॥ ४॥

प्रकृतिस्वरवचनं किमर्थमिति चेदेकगत्यर्थम्। यत्रैको गतिस्तदर्थमेतत्स्यात्। प्रकृतम्, प्रहृतम्। एवमर्थमेव तर्ह्यनन्तरग्रहणं कर्तव्यमत्र यथा स्यात्॥

क्रियमाणेऽपि वै अनन्तरग्रहणेऽत्र न सिध्यति। किं कारणम्? गतिरनन्तरं पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवतीत्युच्यते। यश्चात्र गतिरनन्तरो नासौ पूर्वपदं, यश्च पूर्वपदं नासावनन्तरः॥ अपूर्वपदार्थं तर्हीदं वक्तव्यम्। अपूर्वपदस्यापि गतेः प्रकृतिस्वरत्वं यथा स्यात्॥

भा०—तब जिस गति का [अभि का] प्रकृतिस्वर नहीं, उससे उत्तरवर्ती [उत् को] अन्तोदात्तत्व पाता है। 'अन्तः', 'थाथघञ्...' सूत्र से। ['उद्धृतम्' में इस गतिस्वर के पश्चात् इसके साथ अभि का समास होने पर पहले समासस्वर, उसका अपवाद कृत्स्वर, उसका भी अपवाद थाथादिस्वर के सतिशिष्ट होने से प्राप्ति होने पर 'अभ्युद्धृत' को अन्तोदात्त स्वर की प्राप्ति होती है, उत् को प्रकृतिस्वर की प्राप्ति नहीं होती।]

वा०—प्रकृतिवचन सामर्थ्य से अनन्तोदात्तत्व।

भा०—['गतिरनन्तरः' सूत्र से] प्रकृतिस्वरवचनसामर्थ्य से [थाथादिस्वर से] अन्तोदात्तत्व नहीं होगा। यदि होगा तो फिर यह प्रकृतिस्वर वचन किसलिये हो पाएगा?

वा०—प्रकृतिस्वर किसलिये कहें, तो एकगत्यर्थ।

भा०—प्रकृतिस्वर किसलिये होगा, यह कहें तो समाधान है कि वह एक गति वाले शब्द के लिये होगा। प्रकृतम्....। [इस प्रकार 'गतिरनन्तरः' सूत्र के 'प्रकृतम्' में सावकाश सिद्ध होने पर 'अभ्युद्धृतम्' में उत् का प्रकृतिस्वर नहीं बन सकेगा, यह दोष स्थित रहा।]

भा०—तो फिर इसके लिये ही अनन्तर ग्रहण करना चाहिये। यहाँ [अभ्युद्धृतम् में उत् को प्रकृतिस्वर] सिद्ध हो जावे। [दोषदर्शक—] अनन्तर ग्रहण करने पर भी यहाँ सिद्ध नहीं होता। क्या कारण है? अनन्तर गति पूर्वपद को प्रकृतिस्वर कहा है। यहाँ जो [उत्] अनन्तर गति है, वह पूर्वपद नहीं है। [अभि, उद्धृत का समास करने पर 'अभि' पूर्वपद बनता है। जो [अभि] पूर्वपद है, वह अनन्तर नहीं है।

अच्छा तो फिर इसे अपूर्वपद के लिए कहना चाहिये। अपूर्वपद गति [उत्] का प्रकृतिस्वर हो जावे। [इसकी सिद्धि के लिये योगविभाग करेंगे। 'गतिः'

अपूर्वपदार्थमिति चेत्कारकेऽतिप्रसङ्गः ॥ ५ ॥

अपूर्वपदार्थमिति चेत्कारकेऽतिप्रसङ्गो भवति। आगतः, दूरादागतः। स यथैव गतिपूर्वपदस्य भवत्येवं कारकपूर्वपदस्यापि प्राप्नोति ?

सिद्धं तु गतेरन्तोदात्ताप्रसङ्गात् ॥ ६ ॥

सिद्धमेतत्। कथम् ? यत्तद् 'अन्तः' 'थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्' इति, तद्गतेर्न प्रसङ्क्तव्यम्। किं कृतं भवति ? कृत्स्वरापवादोऽयं भवति। तत्र 'गतिरनन्तर' इत्यस्यावकाशः—प्रकृतम्, प्रहृतम्। 'अन्तः' 'थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्' इत्यस्यावकाशः—दूराद्गतः, दूराद्यातः। इहोभयं प्राप्नोति—आगतः, दूरादागतः। 'अन्तः', 'थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्' इत्येतद्भवति विप्रतिषेधेन॥

अर्थात् गति को पूर्वपद प्रकृतिस्वर होता है। पश्चात् 'अनन्तरः' अर्थात् पूर्वपद न होने पर भी अनन्तर गति को प्रकृतिस्वर होता है। इस प्रकार उत् को प्रकृतिस्वर विधान के लिये 'अनन्तर' की सार्थकता सिद्ध हुई।]

[अनन्तर ग्रहण करने पर अतिव्याप्ति दोष **वा०**—] अपूर्वपद के लिये कहें तो कारक में अतिप्रसङ्ग।

भा०—अपूर्वपद के लिये कहें तो कारक में अतिप्रसङ्ग होता है। दूरादागतः। [यहाँ 'स्तोकान्तिक....' (२.१.३९) से समास होकर 'पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः' (६.३.२) से पञ्चमी का अलुक् हुआ है। इस प्रकार 'दूरादागतः' समस्त पद है। यहाँ पूर्वोक्त योगविभाग से कारक से उत्तर अपूर्वपद 'आ' को प्रकृतिस्वर प्राप्त है। जबकि यहाँ थाथादिस्वर से अन्तोदात्त अभीष्ट है।]

वा०—सिद्ध है, गति को अन्तोदात्त के अप्रसङ्ग से।

भा०—यह सिद्ध है। किस प्रकार ? अन्तः, 'थाथघञ्...' सूत्र द्वारा गति से उत्तर अन्तोदात्त प्रसक्त नहीं करेंगे। [थाथादि सूत्र में 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (६.२.१३९) से गति की अनुवृत्ति नहीं लाएँगे। केवल 'कारकोपपद' की अनुवृत्ति होगी। इस प्रकार यह गति से उत्तर कार्यशील नहीं होगा।] इससे क्या होगा ? यह ['गतिरनन्तरः' सूत्र] कृत्स्वर का अपवाद हो जाएगा। [जब थाथादि सूत्र गति से उत्तर कार्य नहीं करेगा तो 'गतिरनन्तरः' इसका अपवाद भी नहीं होगा। तब कारक से उत्तर होने पर दोनों समान बल वाले होकर विप्रतिषेध कर सकेंगे।] तब 'गतिरनन्तरः' का अवकाश है—प्रकृतम्.... आदि। [जहाँ कारक से उत्तर नहीं है।] 'अन्तः', 'थाथघञ्...' का अवकाश है—दूराद् गतः [जहाँ गति से उत्तर क्तान्त नहीं है। यहाँ दोनों पाते हैं—दूरादागतः [जहाँ कारक तथा गति दोनों से उत्तर क्तान्त हैं।] 'अन्तः, थाथघञ्...' विप्रतिषेध से होगा। [इस प्रकार यहाँ अन्तोदात्तत्व सिद्ध हो सकेगा।]

अवश्यं गतेस्तत्प्रसङ्क्तव्यं भेदः, प्रभेद इत्येवमर्थम्॥ एवं तर्हि योगविभागः करिष्यते। 'अन्तः', 'थाथघञजबित्रकाणाम्'। ततः—क्तः, क्तान्तमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति। अत्र कारकोपपदग्रहणमनुवर्तते, गतिग्रहणं निवृत्तम्॥ अथवोपरिष्टाद्योगविभागः करिष्यते। इदमस्ति 'सूपमानात् क्तः' 'संज्ञायामनाचितादीनां' 'प्रवृद्धादीनां च' (६.२.१४५-१४७) इति। ततो वक्ष्यामि—कारकात्। कारकाच्च क्तान्तमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति इति। ततो—दत्तश्रुतयोरेवाशिषि कारकादिति॥ एवं च कृत्वा नार्थोऽनन्तरग्रहणेन॥ कथम्—

दूरादागतः में पूर्व विवरण के अनुसार	प्रस्तुत भाष्य के अनुसार
अपवाद व्यवस्था	अपवाद व्यवस्था
समास-स्वर	समास-स्वर
अव्यय स्वर	अव्यय स्वर
कृत् स्वर	कृत् स्वर
थाथादि स्वर	थाथादिस्वर गतिस्वर←तुल्य बल
प्रस्तुत गति स्वर	

भा०—उसे [थाथघञ्....को]। गति से उत्तर अवश्य प्रसक्त करना होगा। 'प्रभेदः' में [अन्तोदात्त] के लिये।

अच्छा तो फिर योगविभाग करेंगे—अन्तः 'थाथघञ्-अच्-अबित्रकाणाम्' उसके पश्चात् 'क्तः' [अलग से कहेंगे।] अर्थात् क्तान्त उत्तरपद अन्तोदात्त होता है। [इस अकेले क्त के सन्दर्भ में] कारक, उपपद की अनुवृत्ति करेंगे। 'गति' ग्रहण की निवृत्ति करेंगे।

अथवा इससे ऊपर योगविभाग करेंगे। इस प्रकार—सूपमानात् क्तः... आदि के पश्चात् कहेंगे—'कारकात्'। कारक से क्तान्त उत्तरपद अन्तोदात्त होता है। ['दूराद्यातः' आदि में कारक 'दूरात्' से परे थाथादिस्वर से अन्तोदात्त सिद्ध होने पर यह वचन नियम करेगा—कारक से उत्तर गति को अन्तोदात्त ही होता है। इस प्रकार 'दूरादागतः' में 'गतिरनन्तरः' से प्रकृतिस्वर नहीं होगा।] उसके पश्चात् 'दत्तश्रुतयोः' यहाँ कारकात् की अनुवृत्ति आ जाएगी।

इस प्रकार [योगविभाग करने पर] अनन्तर ग्रहण की आवश्यकता नहीं। [अभ्युद्धृतम् में उत् को उदात्त करने के लिये यह 'कारकात्' सूत्र पुनः नियम करेगा—कारक से उत्तर ही गति पूर्वपद क्तान्त को अन्तोदात्त होता है। इससे 'अभ्युद्धृतम्' में थाथादिस्वर की प्राप्ति न होने पर 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (६.२.१३९) से 'उत्' को उदात्त सिद्ध हो सकेगा।

तब अभ्युद्धृतम् [में अभि को प्रकृतिस्वर का निवारण] किस प्रकार होगा?

अ॒भ्यु॒द्धृतम् ? उद् हरतिक्रियां विशिनष्टि। उदा विशिष्टामभिर्विशिनष्टि। तत्र 'गतिरनन्तरः' इति च प्राप्नोति 'गतिर्गतौ' (८.१.७०) इति च। 'गतिरनन्तरः' इत्यस्यावकाशः—प्रकृ॑तम्, प्रहृ॑तम्। 'गतिर्गतौ' इत्यस्यावकाशः—अ॒भ्यु॒द्ध॑रति, उ॒प॒स॒माद॑धाति। इहोभयं प्राप्नोति—अ॒भ्यु॒द्धृ॑तम्, उ॒प॒स॒माहृ॑तम्। 'गतिर्गतौ' इत्येतद्भवति विप्रतिषेधेन॥

एवं तर्हि सिद्धे सति यदनन्तरग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो भवत्येषा परिभाषा—'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि' इति। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्?

उत् 'हरति' क्रिया को विशिष्ट करता है। उत् से विशिष्ट क्रिया को अभि विशिष्ट करता है। यहाँ 'गतिरनन्तरः' भी प्राप्त होता है, 'गतिर्गतौ' भी। 'गतिरनन्तरः' का अवकाश है—प्रकृ॑तम्...। [जहाँ एक ही गति है।] 'गतिर्गतौ' का अवकाश है—अ॒भ्यु॒द्ध॑रति...। जहाँ क्तान्त उत्तरपद नहीं है।] यहाँ दोनों पाते हैं—अभ्युद्धृतम्...। विप्रतिषेध द्वारा 'गतिर्गतौ' कार्यशील होता है। [यह भाष्य उसका ही विस्तार है जिसका सबसे पहले कथन किया गया है।]

विशेष—इसके आगे के भाष्य से पहले एक तथ्य अन्तर्निहित है, जिसका कथन नहीं किया गया है। वह यह है कि पादादि में 'गतिर्गतौ' की प्राप्ति नहीं है। अतः उस दशा में तो प्रकृतिस्वर पाएगा ही। उसके निवारण के लिये तो अनन्तर सार्थक हो सकता है। अतः 'गतिरनन्तरः' में 'अनन्तरः' को अनर्थक सिद्ध करने का अन्तर्निहित प्रकार यह है कि 'अभ्युद्धृतम्' 'प्रत्ययग्रहणे...' परिभाषा से केवल 'हृतम्' क्तान्त होगा। उसके परे रहने पर उत् को ही प्रकृतिस्वर हो सकता है, अभि को हो ही नहीं सकता। इससे अनन्तर अनर्थक सिद्ध होकर अगली परिभाषा को ज्ञापित करता है।

इस अन्तर्निहित को मानना आवश्यक है। क्योंकि ज्ञापक के नियमानुसार उत्तरवर्ती परिभाषा के ज्ञापित होने पर 'अनन्तर' की सार्थकता सिद्ध हो जानी चाहिये। पर 'गतिर्गतौ' के विप्रतिषेध से अनर्थकता सिद्ध करने पर अगली परिभाषा से 'अनन्तरः' की सार्थकता सिद्ध नहीं हो पाती।

भा०—अच्छा तो फिर ['प्रत्ययग्रहणे...' परिभाषा से अभि को प्रकृतिस्वर का निवारण सिद्ध होने पर भी] जो अनन्तर ग्रहण करते हैं, उससे यह परिभाषा ज्ञापित होती है कि 'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि' अर्थात् कृद्ग्रहण में गति-कारक पूर्व को भी तदन्त माना जाता है। [इस परिभाषा के ज्ञापित होने पर 'उद्धृत' क्तान्त माना जाएगा। उसके परे रहने पर अभि को प्रकृतिस्वर प्राप्त होने पर 'अनन्तर' ग्रहण सार्थक सिद्ध होता है।]

इसके ज्ञापन में क्या प्रयोजन है? अवतप्ते नकुलस्थितं त एतत्...(=जिस प्रकार तपती जमीन पर नेवला छटपटाता है, उसी प्रकार तुम्हारी चपलता है।) [यहाँ क्षेप

अवतप्तेनकुलस्थितं त एतत्। उदकेविशीर्णं त एतत्। सगतिकेन सनकुलेन समासः सिद्धो भवति॥

तादौ च निति कृत्यतौ॥ ६.२.५०॥

कृद्ग्रहणं किमर्थम्? यथा तकारादिग्रहणं कृद्विशेषणं विज्ञायेत—तकारादौ निति कृतीति। अथाक्रियमाणे कृद्ग्रहणे कस्य तकारादिग्रहणं विशेषणं स्यात्? उत्तरपदविशेषणम्। तत्र को दोषः? इहैव स्यात्—प्रतरिता, प्रतरितुम्। इह न स्यात्—प्रकर्ता, प्रकर्तुम्॥

तादौ निति कृद्ग्रहणानर्थक्यम्॥ १॥

तादौ निति कृद्ग्रहणमनर्थकम्। क्रियमाणेऽपि कृद्ग्रहणेऽनिष्टं शक्यं विज्ञातुम्। तकारादावुत्तरपदे निति कृतीति। अक्रियमाणे चेष्टम्। निद्यस्तकारादिस्तदन्त उत्तरपद इति। यावता क्रियमाणेऽप्यनिष्टं विज्ञायतेऽक्रियमाणे चेष्टम्, अक्रियमाण एवेष्टं विज्ञास्यामः॥

अर्थात् निन्दा में 'क्षेपे' (२.१.४७) की प्रवृत्ति के समय इस परिभाषा के अनुसार 'अवतप्ते' इस सम्पूर्ण को सप्तम्यन्त तथा 'नकुलस्थित' को क्तान्त मान लेने से] गति सहित तथा नकुल सहित का समास सिद्ध हो जाता है। [समास के पश्चात् 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (६.३.१४) से विभक्ति का अलुक् होता है।]

तादौ च निति कृत्यतौ॥

भा०—कृत् ग्रहण किसलिये है? ताकि तकारादि ग्रहण कृत् का विशेषण हो सके। तकारादि नित् कृत् परे रहने पर कार्य हो। अच्छा, कृत् ग्रहण न करने पर तकारादि ग्रहण किसका विशेषण होता? उत्तरपद का विशेषण। उससे क्या दोष होगा? यहीं होता—प्रतरिता...। यहाँ न होता—प्रकर्ता...। [क्रियायोग में विहित गति को प्रकृति-विधान से नित् प्रत्यय कृत् ही उपस्थित होता। परन्तु तकारादि ग्रहण उत्तरपद का विशेषण भी हो सकता था।]

वा०—तादि नित् में कृत् ग्रहण का आनर्थक्य।

भा०—तादि नित् में कृत् ग्रहण अनर्थक है। कृत् ग्रहण करने पर भी अनिष्ट अर्थ की सम्भावना बन सकती है—नित् कृदन्त तकारादि उत्तरपद होने पर। साथ ही कृत् न करने पर भी इष्ट की सम्भावना बन सकती है—नित् जो तकारादि तदन्त उत्तरपद होने पर। [तकारादि से नित् को विशेषित करेंगे, वह इस परिस्थिति में कृत् ही होगा।] जब [कृत् ग्रहण] करने पर भी अनिष्ट हो सकता है, न करने पर भी इष्ट-प्रतीति हो सकती है, तो [व्याख्यान से] कृत् न करने पर ही इष्ट की प्रतीति कर सकेंगे।

कृदुपदेशे वा ताद्यर्थमिडर्थम्॥ २॥

कृदुपदेशे तर्हि ताद्यर्थमिडर्थं कृद्ग्रहणं कर्तव्यम्। कृदुपदेशे यस्तकारादि-रित्येवं यथा विज्ञायेत। किं प्रयोजनम्? इडर्थम्। इडादावपि सिद्धं भवति। प्रलंपिता, प्रलंपितुम्॥

अनिगन्तोऽञ्चतौ वप्रत्यये॥ ६.२.५२॥

अनिगन्तप्रकृतिस्वरत्वे यणादेशे प्रकृतिस्वरभावप्रसङ्गः॥ १॥

अनिगन्तप्रकृतिस्वरत्वे यणादेशे प्रकृतिस्वरभावः प्राप्नोति। प्रत्यङ्, प्रत्यञ्चौ, प्रत्यञ्चः॥ अनिगन्तवचनमिदानीं किमर्थं स्यात्?

अनिगन्तवचनं किमर्थमिति चेदयणादिष्टार्थम्॥ २॥

अयणादिष्टार्थमेतत्स्यात्। यदा यणादेशो न। कदा च यणादेशो न? यदा शाकलम्॥

उक्तं वा॥ ३॥

वा०—तो फिर कृत् उपदेश में तादि के लिये, इट् के लिये।

भा०—तो फिर कृत् उपदेश में जो तकारादि इस अर्थ के द्वारा इट् सहित प्रयोगों में भी इससे प्रकृतिभाव की सिद्धि के लिये कृत् ग्रहण करना चाहिए। कृत् उपदेश में जो तकारादि, इस प्रकार समझा जावे। क्या प्रयोजन है? इट् के लिए। इडादि में भी सिद्ध होता है—प्रलंपिता...।

अनिगन्तोऽञ्चतौ वप्रत्यये॥

वा०—अनिगन्त को प्रकृतिस्वरत्व में यणादेश में प्रकृतिस्वरभाव–प्रसङ्ग।

भा०—अनिगन्त को प्रकृति–स्वरत्व के प्रसङ्ग में यणादेश में प्रकृतिस्वरभाव की प्राप्ति होती है। प्रत्यङ्...। [प्रति उपसर्गपूर्वक अञ्चु धातु से 'ऋत्विग्दधृक्...' (३.२.५९) से क्विन्, सर्वापहारी लोप, सु विभक्ति आने पर अन्तरङ्ग होने से यणादेश पहले ही कर लेने पर अनिगन्त बन जाने से प्रकृतिभाव प्राप्त होता है।]

तब अनिगन्त–वचन किसलिये होगा? [किसके निवारण के लिए इसकी सार्थकता होगी?

वा०—अनिगन्त वचन किसलिये कहें तो अयणादिष्ट के लिये।

भा०—यह अयणादेश के लिये होगा। जब यणादेश नहीं होता। कब यणादेश नहीं होता? जब ['इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' (६.१.१२७) से] शाकल [शाकल्य मत में प्रकृतिभाव होता है।]

वा०—इस पर कहा गया है।

किमुक्तम् ? समासे शाकलं न भवतीति॥ यत्र तर्ह्यञ्चतेरकारो लुप्यते। प्रतीर्चः, प्रतीर्चा। चुस्वरस्तत्र बाधको भविष्यति। अयमेवेष्यते। वक्ष्यति ह्येतत्–'चोरनिगन्तोऽञ्चतौ वप्रत्यय' इति॥ यत्तर्हि न्यध्योः प्रकृतिस्वरं शास्ति ? एष हि यणादिष्टार्थमारम्भः। एतदप्ययणादिष्टार्थमेव स्यात्। यदा यणादेशो न। कदा च यणादेशो न ? यदा शाकलम्। उक्तं वा। किमुक्तम् ? समासे शाकलं न भवतीति। यत्र तर्ह्यञ्चतेरकारो लुप्यते–अधीर्चः, अधीर्चा ? चुस्वरस्तत्र बाधको भविष्यति। अयमेवेष्यते। वक्ष्यति ह्येतत्–'चोरनिगन्तो-

---

भा०—क्या कहा गया है ? समास में शाकल नहीं होता। [इस प्रकार सर्वत्र यणादेश होने से 'अनिगन्त' किसके निवारण के लिये है, यह प्रश्न बना रहा।]

अच्छा तो फिर जहाँ अञ्चति का अकार लुप्त होता है—प्रतीचः...आदि। [यहाँ 'प्रति अच् अस्' इस दशा में 'अचः' (६.४.१३८) से अकार लुप्त होकर 'अच्' परे रहने पर इगन्त बन जाता है। इसके निवारण के लिये 'अनिगन्तो...' सार्थक होगा।] यहाँ चुस्वर ['चौ' (६.१.२२२) से] अन्तोदात्त स्वर इसका बाधक हो जाएगा। [समाधान—] यही अनिगन्त स्वर उस चुस्वर का बाधक इष्ट है। इसके लिये आगे 'चोरनिगन्तो...' वार्तिक कहेंगे। इस प्रकार अग्रिम वार्तिक से सिद्ध हुआ कि यह चुस्वर का बाधक होता है। अतः 'प्रतीचः' में भी इसकी प्राप्ति होने पर 'अनिगन्त' द्वारा इसका निवारण सार्थक होता है। इससे अनिगन्त यणादेश में स्वर पाता है, यह दोष बना रहा।]

अच्छा तो फिर, [अग्रिम 'न्यधी च' (६.२.५३) से] जो नि, अधि को प्रकृतिस्वर का शासन किया है। यह सूत्र यणादिष्ट के लिये आरम्भ है। [यण् होने पर अनिगन्त होने से इस प्रस्तुत सूत्र से ही स्वर की सिद्धि होने पर 'न्यधी च' सूत्र नियमार्थ होगा—नि अधि को ही यणादेश करने पर प्रकृतिस्वर होता है, अन्य को नहीं। इससे पूर्वोक्त प्रत्यङ् में प्रकृतिस्वर नहीं होगा।]

[पूर्वनिषेधक—] यह भी अयणादिष्ट के लिये आरम्भ है, जब यणादेश नहीं होता। कब यणादेश नहीं होता ? जब शाकल होता है। [पूर्व समाधान—] इस पर कहा है। क्या कहा है ? समास में शाकल नहीं होता। [शाकल न होने पर यणादिष्ट के लिये आरम्भ होने से यह नियमार्थ होगा।]

अच्छा तो फिर जहाँ अञ्चति का अकार लुप्त होता है—अधीचः... [यहाँ अयणादिष्ट में इगन्त मिल जाने से इसमें स्वर-विधान के लिये 'न्यधी च' सार्थक होगा।] [प्रश्न] यहाँ चुस्वर बाधक हो जाएगा। [समाधान—] यही प्रस्तुत सूत्र चुस्वर का बाधक हो, यह अभीष्ट हो। इसके लिये आगे 'चोरनिगन्तो...' वार्तिक कहेंगे। [इस प्रकार अधीचः में पहले अनिगन्तोऽञ्चतौ की उपस्थिति होती है। उसके कार्यक्षम न होने पर 'न्यधी च' सूत्र प्रकृतिस्वर के विधानार्थ होगा।]

ऽञ्चतौ वप्रत्यय' इति॥ यत्तर्हि नेरेव प्रकृतिस्वरं शास्ति। एष हि यणादिष्टार्थ आरम्भः। एतदप्ययणादिष्टार्थमेव स्यात्। कथम्? अकृते यणादेशे पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे कृत 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (८.२.४) इत्येष स्वरः सिद्धो भवति। न्यङ्॥ तस्मात्सुष्ठूच्यते—'अनिगन्तप्रकृतिस्वरत्वे यणादेशे प्रकृतिस्वरभावप्रसङ्गः' इति॥

चोरनिगन्तोऽञ्चतौ वप्रत्यये॥ ४॥

चुस्वरादनिगन्तोऽञ्चतौ वप्रत्यय इत्येष स्वरो भवति विप्रतिषेधेन।

अच्छा तो फिर जो 'नि' का ही ['न्यधी च' से] प्रकृतिस्वर का शासन किया है, वह [न्यङ् आदि में] यणादिष्ट के लिये आरम्भ है। [दधीचा के समान 'नीचा' के लिये नहीं। क्योंकि शब्द के एकाच् होने से चुस्वर से कार्य सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार यह यणादिष्ट के लिए कार्यशील होकर नियमार्थ हो जाएगा।]

यह भी अयणादिष्ट के लिये है। किस प्रकार? यणादेश किये बिना इससे पूर्वपद प्रकृतिस्वर कर लेने पर 'उदात्तस्वरितयोर्यणः...' यह स्वर सिद्ध हो जाता है। न्यङ्।

विवरण—नि के सन्दर्भ में 'अनिगन्तोऽञ्चतौ...' से सिद्ध होने पर भी 'न्यधी च' की सार्थकता दो उपायों से प्राप्त की जा सकती है—

१. यणादेश के पश्चात् पूर्वसूत्र से सिद्ध होने पर भी पुनः विधान सामर्थ्य से नियम करे कि यणादेश करने पर नि अधि को ही प्रकृतिस्वर होता है।

२. अथवा पुनः विधान सामर्थ्य से अन्तरङ्ग यणादेश को बाधित करके पहले पूर्वपद प्रकृतिस्वर करे। इस प्रकार अयणादेश में कार्यशील होकर 'न्यङ्' में स्वरित में सहायक हो सके। इस उपाय द्वारा सार्थक सिद्ध करने पर यह 'न्यधी च' सूत्र नियमार्थ नहीं बन पाएगा। संक्षेपतः यह सूत्र यणादिष्ट में नियमार्थ होता है तथा अयणादिष्ट में नियमार्थ न बनते हुए विधायक बनता है।

[इस प्रकार नियम न बन पाने पर] **भा०**—यह कहना समुचित है कि 'अनिगन्तप्रकृतिस्वरत्वे...'। [यह वार्तिकोक्त दोष बना रहेगा।]

विवरण—व्याख्याकारों का मानना है कि महाभाष्यकार ने सुकर होने के कारण इस दोष का समाधान नहीं किया है। समाधान यह है कि 'नेन्द्रस्य परस्य' (७.३.२२) सूत्र से 'पूर्वोत्तरपदयोस्तावत् कार्यं भवति नैकादेशः' यह परिभाषा ज्ञापित होती है। इससे यण् एकादेश से पहले यह सूत्र उपस्थित होगा। इस स्थिति में इगन्त मिलने से यह कार्यशील नहीं होगा।

वा०—चु स्वर से अनिगन्तोञ्चतौ वप्रत्यय।

भा०—विप्रतिषेध द्वारा चुस्वर से पहले अनिगन्तोञ्चतौ वप्रत्यय यह स्वर

चुस्वरस्यावकाशः—दुधीर्चः पश्य। दुधीचा, दधीचे। अनिगन्तोऽञ्चतौ वप्रत्यय इत्यस्यावकाशः—पराङ्, पराञ्चौ, पराञ्चः। इहोभयं प्राप्नोति—अवाचा, अवाचे। अनिगन्तोऽञ्चतौ वप्रत्यय इत्येतद्भवति विप्रतिषेधेन॥

न वा चुस्वरस्य पूर्वपदप्रकृतिस्वरभाविनि प्रतिषेधादितरथा हि सर्वापवादः॥ ५॥

न वैतद्विप्रतिषेधेनापि सिध्यति। कथं तर्हि सिध्यति? चुस्वरस्य पूर्वपदप्रकृतिस्वरभाविनि प्रतिषेधात्। चुस्वरः पूर्वपदप्रकृतिस्वरभाविनः प्रतिषेध्यः। इतरथा हि सर्वापवादश्चुस्वरः। अक्रियमाणे हि प्रतिषेधे सर्वापवादोऽयं चुस्वरः। कथम्? प्रत्ययस्वरस्यापवादः—'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (३.१.४) इति। 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' इत्यस्योदात्तनिवृत्तिस्वरः। उदात्तनिवृत्तिस्वरस्य चुस्वरः। स यथैवोदात्तनिवृत्तिस्वरं बाधत एवमनिगन्तस्वरमपि बाधेत॥ यदि तावत्संख्यातः साम्यम्, अयमपि चतुर्थः। समासान्तोदात्तत्वस्यापवादोऽव्ययस्वरः। अव्ययस्वरस्य कृत्स्वरः।

होता है। चुस्वर ['चौ' (६.१.२१६) सूत्र का अवकाश है—दधीचः पश्य...। [जहाँ पूर्वपद इगन्त है।] 'अनिगन्तो...' का अवकाश है—पराङ्...। जहाँ लुसनकार नहीं है।] यहाँ दोनों पाते हैं—अवाचा...। [अव उपसर्ग अञ्चु धातु क्विन् लोप के पश्चात् टा विभक्ति नलोप।] 'अनिगन्तो...' यह विप्रतिषेध द्वारा कार्यशील होता है।

वा०—चुस्वर के पूर्वपद प्रकृतिस्वरभावी में प्रतिषेध होने से यह नहीं। अन्यथा सर्वापवाद।

भा०—यह विप्रतिषेध से भी सिद्ध नहीं होता। तो फिर किस प्रकार सिद्ध होता है? जिसे पूर्वपद प्रकृतिस्वर होना है, उसके चुस्वर का प्रतिषेध करना चाहिये। इस प्रतिषेध न करने पर यह चुस्वर सर्वापवाद सिद्ध होता है। किस प्रकार?

१. प्रत्ययस्वर का अपवाद→अनुदात्तौ सुप्पितौ
२. अनुदात्तौ सुप्पितौ का अपवाद→उदात्तनिवृत्तिस्वर
३. उदात्तनिवृत्तिस्वर का अपवाद→ ४. चुस्वर

तब यह चुस्वर जिस प्रकार उदात्तनिवृत्तिस्वर को बाधता है, उसी प्रकार अनिगन्त स्वर को भी बाधने लगेगा। [अनिगन्तस्वर को उदात्तनिवृत्तिस्वर के समकक्ष मान कर कह रहे हैं। अग्रिम भाष्य से अनिगन्तस्वर को चुस्वर के समकक्ष सिद्ध कर रहे हैं—]

यदि सङ्ख्या से साम्य लेना है तो यह [अनिगन्तो...'] भी चतुर्थ है। क्योंकि—

१. समासान्तोदात्तत्व का अपवाद→अव्यय स्वर
२. अव्ययस्वर का अपवाद→कृत्स्वर

कृत्स्वरस्यायम्। उभयोश्चरितार्थयोर्युक्तो विप्रतिषेधः॥

सति शिष्टस्तर्हि चुस्वरः। कथम्? चावित्युच्यते। यत्रास्यैतद्रूपम्। क्व चास्यैतद् रूपम्? यजादावसर्वनामस्थानेऽभिनिर्वृत्तेऽकारलोपे नकारलोपे च। तस्मात्सुष्ठूच्यते न वा चुस्वरस्य पूर्वपदप्रकृतिस्वरभाविनि प्रतिषेधादितरथा हि सर्वापवाद इति॥

विभक्तीषत्स्वरात्कृत्स्वरः॥ ६॥

विभक्तिस्वरादीषत्स्वराच्च कृत्स्वरो भवति विप्रतिषेधेन। विभक्तिस्वरस्यावकाशः—अक्षशौण्डः, स्त्रीशौण्डः। कृत्स्वरस्यावकाशः—इध्मप्रव्रश्चनः। इहोभयं प्राप्नोति—पूर्वाह्णेस्फोटकाः, अपराह्णेस्फोटकाः। कृत्स्वरो भवति विप्रतिषेधेन॥ ईषत्स्वरस्यावकाशः—ईषत्कडारः, ईषत्पिङ्गलः। कृत्स्वरस्य स एव। इहोभयं प्राप्नोति—ईषद्भेदः। कृत्स्वरो भवति विप्रतिषेधेन॥

---

३. कृत् स्वर का अपवाद→ ४. यह 'अनिगन्तो...'

दोनों के चतुर्थ कोटि में होने पर तुल्यबल होने से विप्रतिषेध समुचित है।

भा०—अच्छा तो फिर चुस्वर सतिशिष्ट है। [पश्चात् प्राप्त है।] किस प्रकार? 'चौ' यह कहा है, अर्थात् जब इसका यह रूप बन सके। इसका यह रूप कब बनता है? यजादि असर्वनामस्थान विभक्ति के आ जाने पर अकार लोप, नकार लोप हो जाने पर। [जब कि 'अनिगन्तो...' की प्रवृत्ति अकार-नकार लोप से पहले होती है। इस प्रकार 'चौ' सूत्र सतिशिष्ट होने से अधिक बलवान् होगा।] इसलिये वार्तिककार ने समुचित कहा है कि चुस्वर का स्पष्टतः प्रतिषेध करना होगा। अन्यथा यह सबका अपवाद बनने लगेगा।

वा०—विभक्ति, ईषत् स्वर से कृत्स्वर।

भा०—विप्रतिषेध द्वारा विभक्तिस्वर तथा ईषत् स्वर से पूर्व कृत् स्वर सम्पन्न होते हैं। विभक्तिस्वर का अवकाश है—अक्षशौण्डः। [अक्षेषु शौण्डः (=जुए के पासे में प्रसक्त) विग्रह के अनुसार 'सप्तमी शौण्डैः' (२.१.४०) द्वारा तत्पुरुष समास के पश्चात् 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ....' (६.२.२) से विभक्तिस्वर अर्थात् पूर्वपद प्रकृतिस्वर। यहाँ कृत् परे न होने से विभक्तिस्वर का अवकाश] कृत्स्वर का अवकाश है—इध्मप्रव्रश्चनः [जहाँ सप्तमी आदि विभक्ति पूर्वपद में नहीं है।] यहाँ दोनों पाते हैं—'पूर्वाह्णेस्फोटकाः...'। [अन्तर्वर्ती विभक्ति का 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (६.३.७) से अलुक्।] ईषत्स्वर ['ईषदन्यतरस्याम्' (६.२.५४) से विहित] का अवकाश है—'ईषत्कडारः...'। ['ईषदकृता' (२.२.७) से समास] कृत्स्वर का वही। यहाँ दोनों पाते हैं—ईषद्भेदः। विप्रतिषेध से कृत्स्वर होता है।

चित्स्वराद्धारिस्वरः ॥ ७ ॥

चित्स्वराद्धारिस्वरो भवति विप्रतिषेधेन। चित्स्वरस्यावकाशः—चलनः, चोपनः। हारिस्वरस्यावकाशः—याज्ञिकाश्वः, वैयाकरणहस्ती। इहोभयं प्राप्नोति—पितृगवः, मातृगवः। हारिस्वरो भवति विप्रतिषेधेन॥

कृत्स्वराच्च हारिस्वरो भवति विप्रतिषेधेन। कृत्स्वरस्यावकाशः—इध्मप्रव्रश्चनः। हारिस्वरस्य स एव। इहोभयं प्राप्नोति—अक्षहतः, वार्डवहार्यः। हारिस्वरो भवति विप्रतिषेधेन॥

न वा हरणप्रतिषेधो ज्ञापकः कृत्स्वराबाधकत्वस्य॥ ८ ॥

न वार्थो विप्रतिषेधेन। किं कारणम्? हरणप्रतिषेधो ज्ञापकः कृत्स्वराबाधकत्वस्य। यदयमहरण इति प्रतिषेधं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यो न कृत्स्वरो हारिस्वरं बाधत इति॥ नैतदस्ति ज्ञापकम्। 'अनो भावकर्मवचनः' (६.२.१५०) इत्येतस्मिन्प्राप्ते तत एतदुच्यते॥ यद्येवं साधीयो ज्ञापकम्।

वा०—चित्स्वर से हारि स्वर।

भा०—विप्रतिषेध द्वारा चित्स्वर से हारि-स्वर पहले होता है। चित्स्वर का अवकाश है—चलनः। ['चलनशब्दार्था....' (३.२.१४८) से युच् प्रत्यय।] हारिस्वर का अवकाश है—याज्ञिकाश्वः....। ['सप्तमीहारिणौ....' (६.२.६५) से आद्युदात्त।] यहाँ [चित् तथा हारी दोनों होने से] दोनों पाते हैं—पितृगवः ['राजाहःसखिभ्यष्टच्' (५.४.९१) से समासान्त टच् प्रत्यय।] विप्रतिषेध से हारिस्वर होता है।

[अन्य आचार्यों का मानना है कि] विप्रतिषेध द्वारा कृत्स्वर से हारिस्वर पहले होता है। कृत्स्वर का अवकाश है—इध्मप्रव्रश्चनः...। हारिस्वर का वही। यहाँ दोनों पाते हैं—अक्षहतः...। [पूर्वपद अक्ष में विषय में सप्तमी होने पर 'अक्षे हृतः' विग्रह के अनुसार दोनों की प्राप्ति होती है।] यहाँ विप्रतिषेध से हारिस्वर होता है। [पूर्वविप्रतिषेध से आशय है।]

वा०—हरण-प्रतिषेध कृत्स्वराबाधकत्व में ज्ञापक है, अतः यह नहीं।

भा०—इस विप्रतिषेध की आवश्यकता नहीं। क्या कारण है? यह जो 'अहरणे' प्रतिषेध किया है, उससे आचार्य ज्ञापित करते हैं कि कृत्स्वर [पर होते हुए भी] हारिस्वर को नहीं बाधता। [अन्यथा 'हरण' के कृत् होने से 'अहरणे' यह प्रतिषेध निरर्थक होता।

यह ज्ञापक नहीं है। क्योंकि [हरण उत्तरपद होने पर कृत्स्वर की प्राप्ति में अपवाद रूप से] 'अनो भावकर्मवचनः' की प्राप्ति होती है, तब इसे कहा जा रहा है। [इस प्रकार इस अपवाद के अबाधकत्व का ज्ञापन सम्भव होने पर भी कृत्स्वर के अबाधकत्व का ज्ञापन सम्भव नहीं हो सकेगा।]

कृत्स्वरस्यापवादः 'अनो भावकर्मवचनः' इति। बाधकं किलायं बाधते किं पुनस्तन्न बाधिष्यते ?

युक्तस्वरश्च॥ ९॥

युक्तस्वरश्च कृत्स्वराद्भवति विप्रतिषेधेन। युक्तस्वरस्यावकाशः—गोबल्लवः, अश्वबल्लवः। कृत्स्वरस्य स एव। इहोभयं प्राप्नोति—गोसंख्यः, पशुसंख्यः, अश्वसंख्यः। युक्तस्वरो भवति विप्रतिषेधेन॥

उपमानं शब्दार्थप्रकृतावेव॥ ६.२.८०॥

उपमानग्रहणं किमर्थम् ? शब्दार्थप्रकृतावेवेतीयत्युच्यमाने पूर्वेणातिप्रसक्तमिति कृत्वा नियमोऽयं विज्ञायेत! तत्र को दोषः ? इह न स्यात्—पुष्पंहारी, फलंहारी। उपमानग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति॥ अथ

तब तो फिर और अच्छा ज्ञापक है। कृत्स्वर का अपवाद 'अनो भावकर्मवचनः' है। जब यह [हरण-प्रतिषेध] बाधक ['अनो भाव...'] को बाध लेता है तो उसे [कृत्स्वर को] क्यों नहीं बाध लेगा। [यह ज्ञापक पूर्व-विप्रतिषेध से 'अनो भाव...' को बाधता है। इससे इसके उत्सर्ग गतिस्वर को भी अनायास ही बाध लेता है।]

वा०—युक्त-स्वर भी।

भा०—विप्रतिषेध द्वारा कृत्स्वर से युक्तस्वर ['युक्ते च' (६.२.६६) से विहित] भी पहले होता है। [यहाँ भी पूर्वविप्रतिषेध से तात्पर्य है।] युक्तस्वर का अवकाश है—गोबल्लवः...। कृत्स्वर का वही। यहाँ दोनों प्रास होते हैं— गोसंख्यः। [गाः सञ्चष्टे' इस विग्रह के अनुसार 'समि ख्यः' (३.२.७) से क प्रत्यय। अर्थ है—गायों की गणना करने वाला। यहाँ कृत्स्वर के पश्चात् अन्ततः थाथादिस्वर की प्रासि होती है। इसे बाधकर पूर्व] विप्रतिषेध से युक्तस्वर हो जाता है।

उपमानं शब्दार्थप्रकृतावेव॥

भा०—'उपमानम्' किसलिये कहा गया है ? 'शब्दार्थप्रकृतावेव' केवल इतना कहने पर पूर्व [सूत्र 'णिनि'] से अतिप्रसक्त है यह मानकर [अनिष्ट] नियम समझ लिया जाता। [यदि णिनन्त उत्तरपद परे रहने पर हो तो शब्दार्थप्रकृति वाले को ही हो, इससे उत्तरपद नियमित होता। इससे शब्दार्थप्रकृति से भिन्न वाले उत्तरपद को न होता। (देखें आगे चित्र सं० ४)

इससे क्या दोष होगा ? यहाँ न होता—पुष्पंहारी, फलंहारी। [यहाँ 'णिनि' से आद्युदात्त न होता। 'णिनि' सूत्र केवल नियमित 'उष्ट्रक्रोशी' में आद्युदात्त के लिए चरितार्थ होता।] 'उपमान' ग्रहण करने पर दोष नहीं होता। [इस स्थिति में इस प्रकार नियम होगा—णिनन्त उत्तरपद परे रहने पर यदि उपमान को हो तो शब्दार्थ प्रकृति वाले को ही हो। इससे उपमान नियमित होता है। इससे शब्दार्थप्रकृति

शब्दार्थग्रहणं किमर्थम्? उपमानं प्रकृतावेवेतीयत्युच्यमाने इहापि प्रसज्येत— वृकवञ्ची, वृकप्रेक्षी? शब्दार्थग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति॥ अथ प्रकृतिग्रहणं किमर्थम्? शब्दार्थप्रकृतिरेव यो नित्यं तत्र यथा स्यात्। इह मा भूत्—कोकिलाभिव्याहारी॥ अथैवकारः किमर्थः? नियमार्थः। नैतदस्ति प्रयोजनम्। सिद्धे विधिरारभ्यमाणोऽन्तरेणैवकारं नियमार्थो भविष्यति। इष्टतोऽवधारणार्थस्तर्हि। यथैवं विज्ञायेत—उपमानं शब्दार्थ-प्रकृतावेवेति। मैवं विज्ञायि—उपमानमेव शब्दार्थप्रकृताविति। शब्दार्थ-प्रकृतौ ह्युपमानं चानुपमानं चाद्युदात्तमिष्यते। साध्वंध्यायी, विलंम्बिताध्यायी॥

से भिन्न वाले उपमान को नहीं होगा। इस प्रकार 'वृकवञ्ची' आदि में 'णिनि' सूत्र से आद्युदात्त नहीं होगा।]

अच्छा, यहाँ 'शब्दार्थ' ग्रहण किसलिये है? 'उपमानं प्रकृतावेव' इतना ही कहने पर यहाँ भी प्राप्त होता—वृकवञ्ची...। ['शब्दार्थ' ग्रहण न करने पर अर्थ होगा—यदि उपमान को हो तो प्रकृति वाले को ही हो। णिनन्त शब्द की कोई प्रकृति तो होगी ही। अतः सामर्थ्य से कोई विशिष्ट प्रकृति ही माननी होगी। पर 'शब्दार्थ' कहे बिना यह स्पष्ट ज्ञात नहीं होता कि कौन सी विशिष्ट प्रकृति अभिप्रेत है। इस विशिष्ट के परिज्ञान न होने पर 'वृकवञ्ची' आदि में अन्य प्रकृति वाले से भी प्राप्त होता। अतः शब्दार्थ सार्थक है। वृकवञ्ची में 'वृकं वञ्चति' विग्रह के अनुसार 'कर्त्तर्युपमाने' (३.२.७९) से णिनि होता है। यहाँ इस सूत्र के न लगने पर कृत्स्वर सम्पन्न होता है।] 'शब्दार्थ' ग्रहण करने पर दोष नहीं होता है।

अच्छा प्रकृतिग्रहण किसलिये है? जो [णिन्यन्त] नियमित रूप से शब्दार्थप्रकृति वाला है। उसे ही हो। यहाँ न हो—कोकिलाभिव्याहारि....। ['शब्दार्थे' इतना कहने पर जो भी णिन्यन्त शब्दार्थक हो, उसमें यह सूत्र प्रवृत्त हो जाता। प्रकृति ग्रहण करने पर नियमित रूप से शब्दार्थक प्रकृति वाला होने पर होता है। कोकिलाभिव्याहारी में हृ धातु केवल उपसर्ग सम्बन्ध होने पर ही शब्दार्थक है, अन्यथा नहीं।

अच्छा एवकार किसलिये है? नियम के लिये। यह प्रयोजन नहीं है। विधि सिद्ध होने पर किया गया आरम्भ एवकार के बिना भी नियमार्थ होगा। [पुनः समाधान-] तो फिर यह इष्ट अवधारण के लिये है। जिससे 'उपमानवाची पूर्वपद होने पर शब्दार्थ प्रकृति वाले को ही', इस प्रकार नियम हो। इस प्रकार न हो— शब्दार्थप्रकृति होने पर उपमानवाची पूर्वपद को ही हो। शब्दार्थ प्रकृति होने पर उपमान तथा अनुपमान दोनों को आद्युदात्त इष्ट है—साध्वध्यायी...। (देखें आगे चित्र सं० १, २) [यहाँ अनुपमान में भी आद्युदात्त होता है।]

विवरण—इस सम्पूर्ण विचारणा में तीन प्रकार के नियमों की सम्भावना की

दीर्घकाशतुषभ्राष्ट्रवटं जे॥ ६.२.८२॥

जे दीर्घाद्बह्वचः ॥ १ ॥

जे दीर्घान्तस्यादिरुदात्तो भवतीत्येतस्मादन्त्यात्पूर्वं बह्वचः (६.२.८३) इत्येतद्भवति विप्रतिषेधेन। जे दीर्घान्तस्यादिरुदात्तो भवतीत्यस्यावकाशः— कुटीजः, शमीजः। 'अन्त्यात्पूर्वं बह्वचः' इत्यस्यावकाशः— उपसरजः,

---

गई है। इनमें निम्नोक्त प्रथम, द्वितीय नियमों से प्राप्त परिस्थितियाँ अमान्य हैं। केवल तृतीय नियम से प्राप्त परिस्थिति मान्य है। अतः—

१. णिन्यन्त उत्तरपद परे रहने पर शब्दार्थप्रकृति—उष्ट्रक्रोशी में भी अशब्दार्थप्रकृति—पुष्पहारी में भी आद्युदात्त होता है। इस प्रकार उत्तरपद नियमित नहीं है।

२. णिन्यन्त उत्तरपद में शब्दार्थप्रकृति होने पर उपमान—उष्ट्रक्रोशी, सिंहविनर्दी में भी अनुपमान—साध्वध्यायी, पुष्कलजल्पी में भी आद्युदात्त होता है। इस प्रकार शब्दार्थ प्रकृति नियमित नहीं है।

३. परन्तु णिन्यन्त उत्तरपद में उपमानवाची पूर्वपद होने पर शब्दार्थप्रकृति वाले को ही होगा, अशब्दार्थप्रकृति वाले को नहीं। अतः वृकवञ्ची में नहीं होगा। इस प्रकार उपमान नियमित होता है।

इस प्रकार णिन्यन्त उत्तरपद परे रहने पर परिस्थितियाँ चार प्रकार की हैं। इनमें एक परिस्थिति में आद्युदात्त नहीं होता। तीन में होता है। इसे चित्र द्वारा प्रदर्शित करते हैं—

१. उपमान+शब्दार्थप्रकृति=उष्ट्रक्रोशी→आद्युदात्त होता है, नियम के प्रवृत्त होने से विधि।

२. उपमान+अशब्दार्थप्रकृति=वृकवञ्ची→आद्युदात्त नहीं होता है, नियम के प्रवृत्त होने से निवारण।

३. अनुपमान+शब्दार्थप्रकृति=साध्वध्यायी→आद्युदात्त होता है, नियम के अप्रवृत्त होने से 'णिनि' से विधि।

४. अनुपमान+अशब्दार्थप्रकृति=पुष्पहारी→आद्युदात्त होता है, नियम के अप्रवृत्त होने से 'णिनि' से विधि।

परवर्त्ती न्याय की भाषा में इसे यों कहते हैं कि विशेषणप्रयुक्त विशेष्याभाव में आद्युदात्त नहीं होता। अन्य तीन परिस्थितियों में होता है।

दीर्घकाशतुषभ्राष्ट्रवटं जे॥

भा०—(इस प्रस्तुत सूत्र से विहित) ज परे रहने पर दीर्घान्त को आद्युदात्त से पहले 'अन्त्यात् पूर्वं बह्वचः' यह विप्रतिषेध द्वारा सम्पन्न होता है। ज परे रहने पर दीर्घान्त को आद्युदात्त का अवकाश है—कुटीजः...। [जहाँ पूर्वपद बह्वच् नहीं है।] अन्त्यात् पूर्वं...का अवकाश है—उपसरजः [जहाँ अन्तिम अक्षर दीर्घान्त

मन्दुरजः। इहोभयं प्राप्नोति—आमलकीजः, बलभीजः। 'अन्त्यात्पूर्वं बह्वचः' इत्येतद्भवति विप्रतिषेधेन॥

न भूताधिकसंजीवमद्राश्मकज्जलम्॥ ६.२.९१॥

आद्युदात्तप्रकरणे दिवोदासादीनां छन्दस्युपसंख्यानं कर्तव्यम्। दिवोदासाय गायत वध्र्यश्वाय दाशुषे[1]॥

अन्तः॥ ६.२.९२॥

सर्वं गुणकार्त्स्न्ये॥ ६.२.९३॥

सर्वग्रहणं किमर्थम्? गुणकार्त्स्न्य इतीयत्युच्यमान इहापि प्रसज्येत—परमशुक्लः, परमकृष्ण इति। सर्वग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति॥ अथ गुणग्रहणं किमर्थम्? सर्वं कार्त्स्न्य इतीयत्युच्यमान इहापि प्रसज्येत—सर्वसौवर्णः, सर्वराजत इति। गुणग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति॥

नहीं है।] यहाँ दोनों पाते हैं—आमलकीजः। 'अन्त्यात् पूर्वः...' यह विप्रतिषेध से सम्पन्न होता है।

न भूताधिकसंजीवमद्राश्मकज्जलम्॥

भा०—आद्युदात्त के प्रकरण में दिवोदास आदि का छन्द में उपसङ्ख्यान करना चाहिये। दिवोदासाय गायत...। ['दिवश्च दासे' ('षष्ठ्या आक्रोशे' ६.३.२१ पर वार्तिक) से विभक्ति का अलुक् है।]

अन्तः॥

सर्वं गुणकार्त्स्न्ये॥

भा०—'सर्व' ग्रहण किसलिये है? केवल 'गुणकार्त्स्न्ये' इतना कहने पर यहाँ भी प्राप्त होता—परमशुक्लः...। [समानाधिकरण समास होने से 'परम' शुक्ल गुण के पारम्य को प्रकट करता है। अतः 'परम' के गुणकार्त्स्न्य में वर्तमान होने से प्राप्ति होती है।] 'सर्व' ग्रहण करने पर कोई दोष नहीं होता।

अच्छा, गुण-ग्रहण किसलिये है? केवल 'सर्वं कार्त्स्न्ये' इतना कहने पर 'सर्वसौवर्णः' यहाँ पर भी पाएगा। ['सौवर्ण' शब्द सुवर्ण-विकार अर्थ को प्रकट करता है। यहाँ 'सर्व' शब्द इस 'विकार' की परिपूर्णता को प्रकट करता है। गुण न कहने पर यहाँ भी प्राप्ति होती।] 'गुण' ग्रहण करने पर कोई दोष नहीं होता।

---

१. दिवोदासं वध्र्यश्वाय दाशुषे (ऋ० ६.६१.१)।

अथ कात्स्न्र्यग्रहणं किमर्थम् ? सर्वं गुण इतीयत्युच्यमान इहापि प्रसज्येत— सर्वेषां श्वेतः सर्वश्वेत इति। कथं चात्र समासः? षष्ठी सुबन्तेन समस्यत इति। गुणेन नेति प्रतिषेधः प्राप्नोति ? एवं तर्हि—

गुणात्तरेण समासस्तरलोपश्च।

गुणात्तरेण समासस्तरलोपश्च वक्तव्यः। सर्वेषां श्वेततरः सर्वश्वेतः॥

उत्तरपदवृद्धौ सर्वं च॥ ६.२.१०५॥

अयुक्तोऽयं निर्देशो न ह्युत्तरपदं नाम वृद्धिरस्ति। कथं तर्हि निर्देशः कर्तव्यः ? वृद्धिमत्युत्तरपद इति॥ स तर्हि तथा निर्देशः कर्तव्यः ? न कर्तव्यः।

अच्छा, यहाँ 'कात्स्न्र्य' ग्रहण किसलिये है ? 'सर्वं गुणे' केवल इतना कहने पर यहाँ भी प्राप्त होता—सर्वेषां श्वेतः सर्वश्वेतः [सर्वं गुणे का यह अर्थ होता— गुणवाचक उत्तरपद परे होने पर पूर्वपद 'सर्व' शब्द अन्तोदात्त होता है। 'कात्स्न्र्य' ग्रहण करने पर 'जब 'सर्व' शब्द गुण की परिपूर्णता को प्रकट करे' यह अर्थ होता है। यहाँ 'सर्व' शब्द गुणी द्रव्य को प्रकट कर रहा है। 'सर्वेषां श्वेतः' का अर्थ 'सभी श्वेत कपड़ों में यह सबसे श्वेत है।' यह है।] यहाँ समास किस प्रकार हुआ है ? 'षष्ठी' (२.२.८) सूत्र के अनुसार उसका सुबन्त के साथ समास हुआ है। [दोष प्रदर्शक-] ['पूरणगुण...' (२.२.११) सूत्र में 'गुण के साथ नहीं' इस वचन से [उपलक्षित 'न निर्धारणे' (२.२.१०) से समास का प्रतिषेध प्राप्त होता है। अच्छा तो फिर—

वा०—गुण से तर के साथ समास, तर-लोप भी।

भा०—गुणवाचक शब्द से उत्तर जो तरप् तदन्त के साथ समास होता है, तर लोप भी। सर्वेषां श्वेततरः सर्वश्वेतः।

विवरण—यहाँ 'सर्व' शब्द 'सभी श्वेत गुण वाले द्रव्य' अर्थ को प्रकट करते हुए ['गुणम् उक्तवान् गुणवचनः' इस विग्रह के अनुसार गुणवाचक है। इस प्रकार गुणवाचक होकर इस वार्तिक से समास होता है। साथ ही यह सर्व शब्द वर्तमान दशा में गुण वाले द्रव्य को विशेष्य या प्रधान रूप से कह रहा है। इस प्रकार यह प्रधान रूप से द्रव्य की परिपूर्णता को प्रकट कर रहा है। अतः सूत्र में 'गुणकात्स्न्र्ये' ग्रहण करने से यहाँ सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी।

उत्तरपदवृद्धौ सर्वं च॥

भा०—यह [उत्तरपदवृद्धौ] निर्देश समुचित नहीं है। उत्तरपद, वृद्धि नहीं होता। तो फिर किस प्रकार निर्देश करना चाहिये ? वृद्धि [संज्ञा अक्षर] वाले उत्तर पद परे रहने पर। तो फिर उस प्रकार निर्देश किया जावे ? नहीं करना चाहिये। इसे

नैवं विज्ञायते—उत्तरपदं वृद्धिरुत्तरपदवृद्धिः, उत्तरपदवृद्धाविति। कथं तर्हि ? उत्तरपदस्य वृद्धिरस्मिन्सोऽयमुत्तरपदवृद्धिः, उत्तरपदवृद्धाविति॥

बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्॥ ६.२.१०६॥

बहुव्रीहौ विश्वस्यान्तोदात्तात्संज्ञायां मित्राजिनयोरन्तः॥ १॥

बहुव्रीहौ विश्वस्यान्तोदात्तात्संज्ञायां मित्राजिनयोरन्त इत्येतद्भवति विप्रतिषेधेन। 'बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्' इत्यस्यावकाशः—विश्वदेवः। विश्वयशाः। 'संज्ञायां मित्राजिनयोः' अन्त इत्यस्यावकाशः—कुलमित्रम्, कुलाजिनम्। इहोभयं प्राप्नोति—विश्वमित्रः, विश्वाजिनः। 'संज्ञायां मित्राजिनयोः' अन्त इत्येतद्भवति विप्रतिषेधेन॥

अन्तोदात्तप्रकरणे मरुद्वृधादीनां छन्दस्युपसंख्यानम्॥ २॥

अन्तोदात्तप्रकरणे मरुद्वृधादीनां छन्दस्युपसंख्यानं कर्तव्यम्। मरुद्वृधोऽग्ने सहस्रसातमः (ऋ० ३.१३.६)॥[1]

इस प्रकार नहीं समझा जाता—उत्तरपदं वृद्धिः। [समानाधिकरण कर्मधारय समास मान्य नहीं है।] तो फिर किस प्रकार ? उत्तरपदस्य वृद्धिरस्मिन् [इस प्रकार व्यधिकरण में बहुव्रीहि समास होगा। इससे 'उत्तरपदस्य' अधिकार में किसी सूत्र से विहित वृद्धिसंज्ञक अक्षर जिस उत्तरपद में है, उसके परे रहने पर यह सूत्र कार्यशील होगा।]

बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्॥

वा०—बहुव्रीहि में विश्व को अन्तोदात्त से संज्ञा में मित्र, अजिन को अन्त [उदात्त]।

भा०—[प्रस्तुत सूत्र से] बहुव्रीहि में विश्व को अन्तोदात्त से पहले विप्रतिषेध द्वारा संज्ञा में मित्र, अजिन [उत्तरपद] को...अन्तोदात्त सम्पन्न होता है।] बहुव्रीहौ विश्वं....को अवकाश है—विश्वदेवः...[जहाँ मित्र, अजिन परे नहीं है।] ['संज्ञायां मित्राजिनयोः' (६.२.१६५) से मित्र, अजिन [उत्तरपद] को अन्तोदात्त का अवकाश है—कुलमित्रम्....। [जहाँ विश्व पूर्वपद नहीं है।] यहाँ दोनों पाते हैं—विश्वमित्रः...। विप्रतिषेध द्वारा मित्र, अजिन [उत्तरपद] को अन्तोदात्त होता है। [उस सूत्र में प्रस्तुत वार्तिक के अनुसार ऋषि अभिधेय होने पर 'संज्ञायां मित्राजिनयोः' प्रवृत्त नहीं होता। अतः वह अनृषि में ही प्रवृत्त होगा। अनृषि में 'मित्रे चर्षौ' (६.३.१३०) से दीर्घ प्राप्त न होने से 'विश्वमित्रः' यही उदाहरण यहाँ समुचित है।]

[पूर्वपद को] अन्तोदात्त प्रकरण में 'मरुद्वृधः' इत्यादि का छन्द में उपसङ्ख्यान करना चाहिये। मरुद्वृधोऽग्ने सहस्रसातमः[1]।

---

१. 'मरुद्वृधः सुवया उपतस्थे' इति सार्वत्रिकः।

उदराश्वेषुषु क्षेपे॥ ६.२.१०७-१०८॥

उदरादिभ्यो नञ्सुभ्याम्॥ १॥

'उदराश्वेषुषु क्षेपे' इत्येतस्माद् 'नञ्सुभ्याम्' (१७२) इत्येतद्भवति विप्रतिषेधेन। 'उदराश्वेषुषु क्षेपे' इत्यस्यावकाशः—कुण्डोदरः, घटोदरः। 'नञ्सुभ्याम्' इत्यस्यावकाशः—अयवः, अतिलः, अमाषः। सुयवः, सुतिलः, सुमाषः। इहोभयं प्राप्नोति—अनुदरः, सूदरः। 'नञ्सुभ्याम्' इत्येतद्भवति विप्रतिषेधेन॥

सोर्मनसी अलोमोषसी॥ ६.२.११७॥

सोर्मनसोः कपि॥ १॥

सोर्मनसी अलोमोषसी इत्येतस्मात् 'कपि पूर्वम्' (१७३) इत्येतद्भवति विप्रतिषेधेन। 'सोर्मनसी अलोमोषसी' इत्यस्यावकाशः—सुशर्माणमधि नावं रुहेम। सुशर्मासि सुप्रतिष्ठानः। सुस्रोताः, सुपयाः, सुशिराः। कपि पूर्वस्यावकाशः—अयवकः। इहोभयं प्राप्नोति—सुशर्मकः, सुस्रोतस्कः। 'कपि पूर्वम्' इत्येतद्भवति विप्रतिषेधेन॥

उदराश्वेषुषु क्षेपे॥

वा०—उदरादि से नञ्सुभ्याम्।

भा०—'उदराश्वेषुषु, क्षेपे' इनसे पहले विप्रतिषेध द्वारा 'नञ्सुभ्याम्' यह सम्पन्न होता है। उदराश्वेषुषु...का अवकाश है—कुण्डोदरः [जहाँ नञ् पूर्वपद नहीं है।] 'नञ्सुभ्याम्' का अवकाश है—कुण्डोदरः [जहाँ नञ् पूर्वपद नहीं है।] 'नञ्सुभ्याम्' का अवकाश है—अयवः...[जहाँ अश्व आदि परे नहीं है।] यहाँ दोनों प्राप्त होते हैं—अनुदरः...विप्रतिषेध से 'नञ्सुभ्याम्' द्वारा [अन्तोदात्त] सम्पन्न होता है।

सोर्मनसी अलोमोषसी॥

वा०—'सु से मन्-अस् को' इससे 'कपि' यह।

भा०—'सोर्मनसी....' इस सूत्र से पहले विप्रतिषेध द्वारा 'कपि पूर्वम्' यह सम्पन्न होता है। सोर्मनसी का अवकाश है—सुशर्माणम् अधिनावं रुहेम (शान्तिप्रद नौका पर आरोहण करें।) [जहाँ कप् परे नहीं है।] कपि पूर्वम् का अवकाश है—अयवकः [जहाँ सु से उत्तर मनन्त, असन्त नहीं है।] यहाँ दोनों पाते हैं—सुशर्मकः...। विप्रतिषेध से 'कपि पूर्वम्' कार्यशील होता है।

कूलतीरतूलमूलशालाक्षसममव्ययीभावे॥ ६.२.१२१॥

पर्यादिभ्यः कूलादीनामाद्युदात्तत्वम्॥ १॥

पर्यादिभ्यः कूलादीनामाद्युदात्तत्वं भवति विप्रतिषेधेन। 'परिप्रत्युपापा वर्ज्यमानाहोरात्रावयवेषु' इत्यस्यावकाशः—परित्रिगर्तम्, परिसौवीरम्। कूलादीनामाद्युदात्तत्वस्यावकाशः—अतिकूलम्, अनुकूलम्। इहोभयं प्राप्नोति—परिकूलम्। कूलादीनामाद्युदात्तत्वं भवति विप्रतिषेधेन॥

चेलखेटकटुककाण्डं गर्हायाम्॥ ६.२.१२६॥

अकर्मधारये राज्यम्॥ ६.२.१३०॥

चेलराज्यादिभ्योऽव्ययम्॥ १॥

चेलराज्यादिस्वरादव्ययस्वरो भवति विप्रतिषेधेन। चेलराज्यादिस्वरस्यावकाशः—भार्याचेलम्, पुत्रचेलम्। ब्राह्मणराज्यम्। अव्ययस्वरस्यावकाशः—निष्कौशाम्बिः, निर्वाराणसिः। इहोभयं प्राप्नोति—कुचेलम्, कुराज्यम्। अव्ययस्वरो भवति विप्रतिषेधेन॥ स तर्हि पूर्वविप्रतिषेधो वक्तव्यः? न

कूलतीरतूलमूलशालाक्षसममव्ययीभावे॥

वा०—परि आदि से कूल आदि को आद्युदात्तत्व।

भा०—परि आदि से उत्तर कूल आदि को आद्युदात्तत्व विप्रतिषेध द्वारा पहले सम्पन्न होता है। 'परिप्रत्युपापा....' का अवकाश है—परित्रिगर्तम्...। [जहाँ कूल आदि उत्तरपद नहीं है।] इस सूत्र से कूल आदि का आद्युदात्तत्व का अवकाश है—अनुकूलम्...। [जहाँ परि आदि पूर्वपद नहीं है।] यहाँ दोनों पाते हैं—परिकूलम्। विप्रतिषेध द्वारा कूल आदि को आद्युदात्तत्व सम्पन्न होता है।

चेलखेटकटुककाण्डं गर्हायाम्॥

अकर्मधारये राज्यम्॥

वा०—चेल, राज्य आदि से अव्यय।

भा०—चेल, राज्यादि स्वर से पहले ['तत्पुरुषे तुल्यार्थ...' से विहित] अव्ययस्वर विप्रतिषेध द्वारा सम्पन्न होता है। चेलराज्यादिस्वर का अवकाश है—भार्याचेलम्... आदि। [जहाँ अव्यय पूर्वपद नहीं है।] अव्यय स्वर का अवकाश है—निष्कौशाम्बिः....[जहाँ चेल आदि उत्तरपद नहीं हैं।] यहाँ दोनों प्राप्त होते हैं—कुचेलम्...। विप्रतिषेध से अव्यय स्वर कार्यशील होता है।

तो क्या पूर्वविप्रतिषेध कहा जावे? नहीं कहना चाहिये। ['विप्रतिषेधे परं

वक्तव्यः। इष्टवाची परशब्दः। विप्रतिषेधे परं यदिष्टं तद्भवतीति॥

कुण्डं वनम्॥ ६.२.१३६॥

कुण्डाद्युदात्तत्वे तत्समुदायग्रहणम्॥ १॥

कुण्डाद्युदात्तत्वे तत्समुदायग्रहणं कर्तव्यम्। वनसमुदायवाची चेत्स कुण्डशब्दो भवतीति वक्तव्यम्। इह मा भूत्—मृत्कुण्डम्॥

इति पातञ्जलमहाभाष्ये षष्ठाध्यायस्य द्वितीयपादे प्रथममाह्निकम्॥

गतिकारकोपपदात्कृत्॥ ६.२.१३९॥

गतिकारकोपपदादिति किमर्थम्? इह मा भूत्—परमं कारकं परमकारम्॥ गतिकारकोपपदादित्युच्यमानेऽप्यत्र प्राप्नोति। एतदपि हि कारकम्॥

कार्यम्' सूत्र में] 'पर' शब्द इष्टवाचक है। अतः विप्रतिषेध होने पर जो अभीष्ट है, वह होता है। इस सूत्रार्थ से कार्य सिद्ध है।

कुण्डं वनम्॥

वा०—कुण्ड के आद्युदात्तत्व में उसके समुदाय का ग्रहण।

भा०—कुण्ड के आद्युदात्तत्व के प्रसङ्ग में उस [पूर्वपद] के समुदाय अर्थ का ग्रहण करना चाहिये। वन शब्द का वाच्य समुदाय का वाचक कुण्ड शब्द होने पर आद्युदात्त यह कहना चाहिये। यहाँ [कुण्ड के भाजन विशेष अर्थ में] न हो—मृत्कुण्डम्।

विवरण—कुण्ड शब्द 'मृत्कुण्डम्' आदि में पात्र अर्थ वाला है। साथ ही 'इक्षुकुण्डम्' जैसे प्रयोगों में समुदायवाचक भी है। प्रस्तुत सूत्र में समुदाय अर्थ का ग्रहण अभिप्रेत है। इस अभिप्राय को सूत्रकार ने 'वन' शब्द से प्रकट किया है। परन्तु वन शब्द स्वयं समुदायवाचक भी है तथा जलपर्याय भी है। इस स्थिति में 'वन' शब्द के प्रयोग से भी जलाधार वाले पात्र अर्थ की सम्भावना बनती है। अतः वार्तिककार का कहना है कि यहाँ 'वन' शब्द समुदाय अर्थ में है। कुण्ड शब्द के इसी समुदायवाचक होने पर इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है।

गतिकारकोपपदात्कृत्॥

भा०—'गतिकारकोपपदात्' किसलिये कहा गया है? यहाँ न हो—परमं कारकम्, परमकारकम्। [विशेषण में क्रियाकर्तृत्व का सामर्थ्य नहीं है, यह सोच कर 'परम' को कारक न मानते हुए प्रत्युदाहरण है] 'गतिकारकोपपदात्' कहने पर भी यहाँ पाता है। यह [परम] भी कारक है। [विशेष्य विशिष्ट होने से विशेषण भी कारकत्व को धारण करता है। जैसा कि 'अनभिहिते' (२.३.१) के भाष्य में 'कटं करोति भीष्मम्...' में देखा गया है। अतः यहाँ भी कारक होने से इस सूत्र की प्राप्ति है।]

इदं तर्हि— देवदत्तस्य कारकं देवदत्तकारकम्॥ इदं चाप्युदाहरणं—परमं कारकं परमकारकमिति? ननु चोक्तं गतिकारकोपपदादित्युच्यमानेऽप्यत्र प्राप्नोत्येतदपि हि कारकमिति। नैतत्कारकम्। कारकविशेषणमेतत्। यावद् ब्रूयात्—प्रकृष्टं कारकं, शोभनं कारकमिति तावदेतत्—परमं कारकमिति॥

अथ कृद्ग्रहणं किमर्थम्? इह मा भूत्—निष्कौशाम्बिः, निर्वाराणसिः॥ अत उत्तरं पठति—

गत्यादिभ्यः प्रकृतिस्वरत्वे
कृद्ग्रहणानर्थक्यमन्यस्योत्तरपदस्याभावात्॥ १॥

गत्यादिभ्यः प्रकृतिस्वरत्वे कृद्ग्रहणमनर्थकम्। किं कारणम्? अन्यस्योत्तरपदस्याभावात्। न ह्यन्यद्गत्यादिभ्य उत्तरपदमस्त्यन्यदतः कृतः। किं कारणम्? धातोर्हि द्वये प्रत्यया विधीयन्ते—तिङः कृतश्च। तत्र कृता सह

अच्छा तो फिर 'देवदत्तस्य कारकम्' यहाँ [षष्ठ्यन्त 'देवदत्तस्य' के कारक न होने से] न हो।

यह भी प्रत्युदाहरण है—परमं कारकं परमकारकम्। इस पर तो ऊपर कहा है—यह भी कारक है। [खण्डन भाष्य—] यह कारक नहीं है, कारक का विशेषण है। या तो यह कहें—प्रकृष्ट कारक, शोभन कारक। इसी अर्थ में 'परम कारक' है। [यहाँ 'परम' शब्द प्रधान रूप से क्रियाकर्तृत्व को नहीं कह रहा है। क्योंकि यह सीधे तौर पर क्रिया की विशिष्टिता को नहीं, अपितु कृदन्त द्रव्य 'कारक' की विशिष्टता को बताता है। साथ ही यह स्वयं अप्रधान भी है। अनभिहिते के एक पक्षान्तर में यह भी कहा है कि विशेष्य में ही मुख्य क्रियाकर्तृत्व होने से कारकत्व है। विशेषण में उसके साथ सामानाधिकरण्य होने से तत्तद् विभक्तियां होती हैं। (द्र०—अथवा कट एव कर्म तत्सामानाधिकरण्याद् भीष्मादिभ्यो द्वितीया भविष्यति।]

[प्रसङ्गान्तर—] अच्छा, यहाँ कृत् ग्रहण किसलिये है? यहाँ न हो—निष्कौशाम्बिः..। [निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः' इस विग्रह के अनुसार 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' ('कुगतिप्रादयः' २.२.१८ सूत्र में वार्तिक) से समास। यहाँ 'गति से उत्तर कृदन्त नहीं है' यह मानकर कह रहे हैं।] तब [वार्त्तिकार] उत्तर देते हैं—

वा०—गति आदि से प्रकृतिस्वरत्व में कृद्ग्रहण का आनर्थक्य, [कृदन्त से] अन्य उत्तरपद का अभाव होने से।

भा०—गति आदि से प्रकृतिस्वरत्व में 'कृत्' ग्रहण अनर्थक है। क्या कारण है? गति आदि से उत्तर कृदन्त के अलावा अन्य कोई उत्तरपद होता ही नहीं। क्या कारण है? धातु से दो प्रकार के प्रत्ययों का विधान होता है—तिङ् तथा कृत्।

समासो भवति तिङा च न भवति। तत्रान्तरेण कृद्ग्रहणं कृत एव भविष्यति॥ ननु चेदानीमेवोदाहृतं—निष्कौशाम्बिः, निर्वाराणसिरिति ? यत्क्रियायुक्तास्तं प्रति गत्युपसर्गसंज्ञे भवतो न च निसः कौशाम्बीशब्दं प्रति क्रियायोगः॥

कृत्प्रकृतौ वा गतित्वादधिकार्थं कृद्ग्रहणम्॥ २॥

कृत्प्रकृतौ तर्हि गतित्वादधिकार्थं कृद् ग्रहणं कर्तव्यम्। कृत्प्रकृतिर्धातुः। धातुं च प्रति क्रियायोगः। तत्र यत्क्रियायुक्तास्तं प्रतीतीहैव स्यात्—प्रणीः, उन्नीः। इह न स्यात्—प्रणायकः, उन्नायकः॥ एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। यत्क्रियायुक्ता इति नैवं विज्ञायते—यस्य क्रिया यत्क्रिया यत्क्रियायुक्तास्तं प्रति गत्युपसर्गसंज्ञे भवत इति। कथं तर्हि ? या क्रिया यत्क्रिया यत्क्रियायुक्तास्तं प्रति गत्युपसर्गसंज्ञे भवत इति। न च कश्चित्केवलः शब्दोऽस्ति यस्तस्यार्थस्य

कृदन्त के साथ समास होता है, तिङन्त के साथ होता ही नहीं। अतः [गति से उत्तर उत्तरपद अनिवार्यतः] कृदन्त ही प्राप्त हो सकेगा। [प्रश्न-] क्यों, अभी तो उदाहरण दिया था—निष्कौशाम्बिः ? [जहाँ गति से उत्तर कृदन्त नहीं है।] [समाधान-] जिस क्रिया से युक्त हो, उसके प्रति ही गति उपसर्ग संज्ञा होती है। यहाँ 'निस्' का 'कौशाम्बी' शब्द के प्रति क्रियायोग नहीं है। [अतः उसके प्रति यह गति भी नहीं है। इस प्रकार अभी तक 'गति' ग्रहण का प्रयोजन नहीं रहा।]

वा०—अच्छा तो फिर कृत् प्रकृति के प्रति गतित्व होने से अधिकार्थ कृद् ग्रहण।

भा०—कृत् की प्रकृति [धातु] के प्रति गतित्व होने से, धातु से अधिक कृत् प्रत्ययान्त में सूत्र की प्रवृत्ति के लिये कृत् ग्रहण करना चाहिये। कृत् की प्रकृति धातु है। धातु के प्रति क्रियायोग होता है। ऐसी दशा में 'यत्क्रियायुक्ताः...' कहने से यहीं होता—प्रणीः...। [प्र उपसर्ग नी धातु से 'सत्सूद्विष...' (३.२.६१) से क्विप्।] यहाँ न होता—प्रणायकः। [विस्तार के लिये अग्रिम भाष्य देखें।]

यह भी प्रयोजन नहीं है। यहाँ 'यत्क्रियायुक्ताः....' में इस प्रकार नहीं माना गया है—यस्य क्रिया यत्क्रिया।

विवरण—इस विग्रह के अनुसार अर्थ होगा—जिस धातु की वाच्य क्रिया है, उसी धातु के प्रति गति, उपसर्ग संज्ञा होती है। इस स्थिति में 'प्रणीः' आदि में 'प्र' गति हो सकेगा। 'प्रणायकः' में जहाँ धातु से अधिक नायक कृदन्त है, वहाँ गति नहीं हो सकेगा। अतः इस पक्ष को नहीं माना गया।

भा०—तो फिर किस प्रकार ? या क्रिया यत्क्रिया। [अर्थात् जो क्रिया अर्थ है, उसके प्रति। सामर्थ्य से जो क्रिया अर्थ का वाचक शब्द है, उसके प्रति। लोक में केवल धातु क्रिया अर्थ की वाचक नहीं होती। अतः उस क्रिया वाले कृदन्त का ग्रहण कर लिया जाएगा। इसे ही आगे स्पष्ट करते हैं]

कभी भी केवल [धातुरूप] शब्द ऐसा नहीं होता कि वह क्रिया का वाचक

वाचकः स्यात्। केवलस्तस्यार्थस्य वाचको नास्तीति कृत्वा कृदधिकस्य भविष्यति। ननु चायं तस्यैवार्थस्य वाचकः—प्रणीः, उन्नीरिति ? एषोऽपि हि कर्तृविशिष्टस्य॥ अयं तर्हि तस्यैवार्थस्य वाचकः—प्रभवनमिति ? तस्मात्कृद्ग्रहणं कर्तव्यम्॥ यदि कृद्ग्रहणं क्रियते, आमन्ते स्वरो न प्राप्नोति—प्रपचतितराम्, प्रजल्पतितराम्। असति पुनः कृद्ग्रहणे क्रियाप्रधानमाख्यातं तस्यातिशये तरबुत्पद्यते तरबन्तात्स्वार्थ आम्, तत्र यत्क्रियायुक्ता इति भवत्येव संघातं प्रति क्रियायोगः। न च कश्चित्केवलः शब्दोऽस्ति यस्तस्यार्थस्य वाचकः स्यात्, केवलस्त-स्यार्थस्य वाचको नास्तीति कृत्वाधिकस्य भविष्यति। ननु चायं तस्यैवार्थस्य वाचकः—प्रभवनमिति। एषोऽपि द्रव्यविशिष्टस्य। कथम् ? कृदभिहितो भावो द्रव्यवद्भवति क्रियावदपि॥

बन सके। क्योंकि केवल [धातु] उस अर्थ का वाचक है नहीं, अतः सामर्थ्य से कृत् अधिक वाला [कृदन्त] का ग्रहण होगा। इस प्रकार कृदन्त से कार्य सम्भव हो सकेगा। [केवल धातुरूप का प्रयोग न होने से उसे अवाचक कह रहे हैं।]

क्यों, यहाँ तो केवल धातु क्रिया का वाचक है—प्रणीः....। [समाधान-] यहाँ पर नी धातु कर्तृविशिष्ट क्रिया का वाचक है।

अच्छा यह तो केवल क्रिया का वाचक है—प्रभवनम्। [अतः यहाँ सूत्र के चरितार्थ होने से अन्य कृदन्तों में सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी।] इसलिये कृद् ग्रहण करना चाहिये। [यह आचार्यदेशीय का प्रबन्ध है। यह अग्रिम भाष्य से प्रकट है।]

यदि कृत् ग्रहण करते हैं तो आमन्त में स्वर नहीं पाता—प्रपचतितराम्...। ['पचतितर' शब्द से 'किमेत्तिङव्ययघा...' (५.४.११) से तद्धित आम् प्रत्यय, तदन्त से सुप् उत्पत्ति। अतः 'प्र' का तद्धितान्त सुबन्त के साथ समास। यहाँ कृदन्त उत्तरपद न होने से इस सूत्र से स्वर की प्राप्ति नहीं होती।]

कृत् ग्रहण न करने पर स्थिति यह है कि—आख्यात क्रियाप्रधान होता है, उस [क्रिया] के अतिशय में तरप् उत्पन्न होता है, तरबन्त से स्वार्थ में आम् होता है। इस स्थिति में 'यत्क्रियायुक्ताः' के [पूर्वोक्त] न्याय से [उस सम्पूर्ण संघात को क्रिया वाचक मानते हुए] उस संघात के प्रति 'प्र' उपसर्ग का योग होता है।

ऐसा कोई केवल शब्द नहीं जो [अकेला उस क्रिया] अर्थ का वाचक हो, केवल उस क्रिया अर्थ का वाचक मिलता नहीं, अतः 'तराम्' अधिक से [क्रियायुक्तत्व] हो जाएगा। क्यों, अभी तो [प्रभवनम्' में] अकेला उस क्रिया अर्थ का वाचक कहा था ? यह भी [सिद्धभावरूप] द्रव्य विशिष्ट का वाचक है। किस प्रकार ? कृत् से अभिहित भाव द्रव्यवत् होता है तथा [कहीं-कहीं] क्रियावत् भी होता है। ['प्रभवनम्' में भाव में विहित 'अन' प्रत्यय सिद्धभाव को प्रकट करता है। यह सिद्ध भाव द्रव्यवत् होता है। यहाँ भू धातु इस सिद्धभाव विशिष्ट

अन्तः ॥ ६.२.१४३ ॥

किं समासस्यान्त उदात्तो भवत्याहोस्विदुत्तरपदस्य ? कुतः संदेहः ? उभयं प्रकृतं तत्रान्यतरच्छक्यं विशेषयितुम्। कश्चात्र विशेषः ?

अन्तोदात्तत्वं समासस्येति चेत्कप्युपसंख्यानम्॥ १॥

अन्तोदात्तत्वं समासस्येति चेत्कप्युपसंख्यानं कर्तव्यम्। 'इदमेतत्तद्भ्यः प्रथमपूरणयोः क्रियागणने, कपि च' इति वक्तव्यम्। इहापि यथा स्यात्– इदंप्रथमकाः। अस्तु तर्ह्युत्तरपदस्य।

उत्तरपदान्तोदात्तत्वे नञ्सुभ्यां समासान्तोदात्तत्वम्॥ २॥

उत्तरपदान्तोदात्तत्वे नञ्सुभ्यां समासान्तोदात्तत्वं वक्तव्यम्। अनृचः,

---

साध्य भाव को प्रकट करती है। इस प्रकार यहाँ भी केवल धातु क्रियावाचक नहीं रही। अतः सामर्थ्य से 'तराम्' प्रत्यय विशिष्ट से भी 'प्र' का गतित्व सम्पन्न हो जाएगा। परन्तु कृत् ग्रहण करने पर यहाँ प्राप्ति नहीं हो सकेगी। इस प्रकार इस अव्याप्ति दोष के कारण कृत् ग्रहण प्रत्याख्यात हुआ।]

अन्तः ॥

भा०—क्या समास को अन्तोदात्त होता है या उत्तरपद को ? यह सन्देह किस प्रकार है ? दोनों की अनुवृत्ति है। अतः दोनों में से किसी भी एक को विशेषित कर सकते हैं। [समास से उत्तरपद को या उत्तरपद से समास को। इससे 'समास का जो उत्तरपद उसके अन्तिम अक्षर को' अथवा 'उत्तरपद विशिष्ट समास का जो अन्तिम अक्षर उसे उदात्त हो' यह अर्थ भी हो सकता है।] इसमें विशेष क्या है ?

वा०—'समास को अन्तोदात्त' हो तो कप् परे रहने पर उपसङ्ख्यान।

भा०—समास के [अन्तिम अक्षर को] उदात्त, यह [द्वितीय पक्ष] हो तो कप् परे रहने पर [पूर्व अक्षर को उदात्तत्व का] उपसङ्ख्यान अर्थात् विधान करना होगा। 'इदमेतत्तद्भ्यः...' के साथ 'कपि च' यह भी कहना होगा—यहाँ भी हो सके—इदंप्रथमकाः...। [यहाँ उत्तरपद 'प्रथम' का अन्तिम अक्षर मकार है। परन्तु समास का अन्तिम ककार है। क्योंकि कप् आदि प्रत्यय 'समासान्ताः' (५.४.६८) के अनुसार समास के अवयव माने जाते हैं, उत्तरपद के नहीं। अतः प्रस्तुत पक्ष में ककार को उदात्त की प्राप्ति है। 'कपि च' कहने से कप् परे रहने पर पूर्व मकार को अभीष्ट उदात्त सम्पन्न हो सकेगा।]

अच्छा तो फिर उत्तरपद [के अन्तिम अक्षर को उदात्त] होवे।

वा०—उत्तरपद का अन्तोदात्तत्व पक्ष में नञ्, सु से समास को अन्तोदात्तत्व।

भा०—उत्तरपद का अन्तोदात्तत्व इस पक्ष में नञ्, सु से उत्तर समास के अन्तिम अक्षर को उदात्त कहना होगा। अनृचः....। [यहाँ 'अनृच्' इस तत्पुरुष से

बह्वृचः ॥

अपर आह—'उत्तरपदान्तोदात्तत्वे नञ्सुभ्यां समासान्तोदात्तत्वं वक्तव्यम्। अज्ञकः, अस्वकः। 'कपि पूर्वम्' (६.२.१७३) इत्यस्यापवादो—'ह्रस्वान्तेऽन्त्यात्पूर्वम्' (१७४) इति। तत्र ह्रस्वान्तेऽन्त्यात्पूर्व उदात्तभावी नास्तीति कृत्वोत्सर्गेणैवान्तोदात्तत्वं प्राप्नोति॥

न वा कपि पूर्ववचनं ज्ञापकमुत्तरपदानन्तोदात्तत्वस्य॥ ३॥

न वैष दोषः। किं कारणम्? यदयं कपि पूर्वमित्याह, तज्ज्ञापयत्याचार्यः—नोत्तरपदस्यान्त उदात्तो भवतीति॥ एवमपि कुत एतत्समासस्यान्त उदात्तो भवतीति?

प्रकरणाच्च समासान्तोदात्तत्वम्॥ ४॥

'ऋक्पूरब्धूः...' (५.४.७४) से समासान्त अ प्रत्यय। यहाँ उत्तरपद का अन्तिम अक्षर 'ऋ' है, उसे ही उदात्त प्राप्त होगा। जबकि समास के अन्तिम अक्षर अकार को उदात्त अभीष्ट है।]

अन्य आचार्य इसकी व्याख्या करते हुए इसका यह उदाहरण] प्रस्तुत करते हैं—अज्ञकः...। 'कपि पूर्वम्' का अपवाद 'ह्रस्वान्तेऽन्त्यात् पूर्वम्' यह है। यहाँ [नञ् से उत्तर कप् परे रहने पर] जो ह्रस्वान्त है, उस अन्त्य से पूर्व कोई उदात्त के रूप में सम्पाद्यमान अक्षर ही नहीं है। अतः उत्सर्ग 'नञ्सुभ्याम्' से अन्तोदात्तत्व की प्राप्ति होती है। [इस प्राप्ति की स्थिति में उत्तरपद को अन्तोदात्तत्व पक्ष में 'कप्' को उदात्त प्राप्त नहीं होता। 'नञ्सुभ्याम्' सूत्र के प्रसङ्ग में समास के अन्तिम अक्षर को उदात्त अभीष्ट है। परन्तु इस पक्ष में इसकी सिद्धि नहीं हो पाती।]

वा०—कप् परे रहने पर पूर्ववचन उत्तरपद के अनन्तोदात्तत्व का ज्ञापक है, अतः यह [दोष] नहीं है।

भा०—यह दोष नहीं है। क्या कारण है? यह जो 'कपि पूर्वम्' कहा है, उससे आचार्य ज्ञापित करते हैं कि उत्तरपद का अन्तोदात्तत्व नहीं होता। ['अकुमारीकः' आदि उदाहरणों में कप् से पूर्व उदात्त के लिये 'कपि पूर्वम्' का आरम्भ किया गया है। यदि 'नञ्सुभ्याम्' से उत्तरपद के अन्तिम अक्षर को उदात्त होता तब तो इससे ही 'री' के ईकार को उदात्त सम्पन्न हो जाता। पुनरपि यह विधान 'नञ्सुभ्याम्' से उत्तरपद के अन्तिम अक्षर को उदात्त न होने को ज्ञापित करता है।]

फिर भी यह किस प्रकार है कि [उत्तरपद के अन्तिम का उदात्त न होना ज्ञापित होने से] समास के अन्तिम के उदात्त का विधान ज्ञापित हो जाये।

वा०—प्रकरण से समास का अन्तोदात्तत्व।

प्रकृतं समासग्रहणमनुवर्तते। क्व प्रकृतम्? 'चौ', 'समासस्य' (६.१. २२२-२२३) इति॥ ननु चोक्तमन्तोदात्तत्वं समासस्येति चेत्कप्युसंख्यानमिति? नैष दोषः। उत्तरपदग्रहणमपि प्रकृतमनुवर्तते। क्व प्रकृतम्? 'उत्तरपदादिः' (६.२. १११) इति। तत्रैवमभिसंबन्धः करिष्यते—नञ्सुभ्यां समासस्यान्त उदात्तो भवति। इदमेतत्तद्भ्यः प्रथमपूरणयोः क्रियागणन उत्तरपदस्येति॥

कारकाद्दत्तश्रुतयोरेवाशिषि॥ ६.२.१४८॥

कारकाद्दत्तश्रुतयोरनाशिषि प्रतिषेधः॥ १॥

कारकाद्दत्तश्रुतयोरनाशिषि प्रतिषेधो वक्तव्यः। अनाहतो नदति देवदत्तः॥

सिद्धं तूभयनियमात्॥ २॥

सिद्धमेतत्। कथम्? उभयनियमात्। उभयतो नियम आश्रयिष्यते। कारकाद्दत्तश्रुतयोरेवाशिषि। आशिष्येव कारकाद्दत्तश्रुतयोः॥

भा०—प्रकृत समास ग्रहण अनुवृत्त हो रहा है। कहाँ से प्रकृत है? 'चौ', 'समासस्य' सूत्र से।

इस पर तो दोष दिया था कि समास को अन्तोदात्त कहने पर कप् परे रहने पर उपसङ्ख्यान करना होगा? यह दोष नहीं है। प्रकृत उत्तरपद ग्रहण भी अनुवृत्त है। कहाँ से प्रकृत है? 'उत्तरपदादिः' से। तब यहाँ 'नञ्सुभ्याम्' सूत्र में इस प्रकार सम्बन्ध करेंगे—नञ् सु से उत्तर [जो उत्तरपद तदन्त] समास के अन्तिम अक्षर को उदात्त होता है। ['इदमेतत्तद्भ्यः...' सूत्र में] 'ईदम्, एतत्...से विहित समास के उत्तरपद के अन्तिम अक्षर को उदात्त' यह अर्थ होता है।

कारकाद्दत्तश्रुतयोरेवाशिषि॥

वा०—कारक से दत्त, श्रुत परे रहने पर आशीर्भिन्न में प्रतिषेध।

भा०—कारक से दत्त, श्रुत परे रहने पर आशीः से भिन्न दशा में प्रतिषेध कहना चाहिये। अनाहतो नदति देवदत्तः। [यहाँ 'देवदत्त' शब्द अर्जुन के विशेष शङ्ख का वाचक है, जो बजाते न रहने पर भी बहुत देर तक गूँजता था। यहाँ आशीर्वाद विषय नहीं है। प्रस्तुत सूत्र न्यास में आशीः में तो कारक से दत्त, श्रुत ही अन्तोदात्त होंगे। अन्य नहीं। परन्तु अनाशीः में तो इन्हें अन्तोदात्त की प्राप्ति होगी ही। अतः प्रतिषेध आवश्यक है।

वा०—सिद्ध है, उभय-नियम से।

भा०—यह सिद्ध है। किस प्रकार? दोनों ओर से नियम करेंगे—कारक से आशीर्वाद में दत्त, श्रुत को ही। कारक से दत्त, श्रुत परे रहने पर आशीर्वाद में ही। [तन्त्र या श्लेष विधि से अथवा 'सरूपाणामेकशेष...' (१.२.६४) से एकशेष

संज्ञायां मित्राजिनयोः ॥ ६.२.१६५ ॥

ऋषिप्रतिषेधो मित्रे ॥ १ ॥

ऋषिप्रतिषेधो मित्रे वक्तव्यः। विश्वामित्र ऋषिः ॥

बहोर्नञ्वदुत्तरपदभूम्नि ॥ ६.२.१७५ ॥

किमर्थं बहोर्नञ्वदतिदेशः क्रियते, न नञ्सुबहुभ्य इत्येवोच्येत? नैवं शक्यम्। उत्तरपदभूम्नीति वक्ष्यति, तद्बहोरेव तथा स्यान्नञ्सुभ्यां मा भूदिति। नैतदस्ति प्रयोजनम्। एकयोगेऽपि सति यस्योत्तरपदभूमास्ति तस्य भविष्यति। कस्य चास्ति? बहोरेव॥ इदं तर्हि प्रयोजनम्—'न गुणादयोऽवयवाः'

विधि से दो समानाकार सूत्र उच्चरित होंगे। इनमें से एक के एव का सम्बन्ध भिन्नक्रम मान्य होगा।]

संज्ञायां मित्राजिनयोः ॥

वा०—मित्र परे रहने पर ऋषिप्रतिषेध।

भा०—मित्र परे रहने पर ऋषि अभिधेय होने की स्थिति में [इस सूत्र से अन्तोदात्तत्व का] प्रतिषेध कहना चाहिये। विश्वामित्र ऋषिः। [इस ऋषि अभिधेय होने पर 'मित्रे चर्षौ' (६.३.१३०) से मित्र के उत्तरपद रहते पूर्वपद विश्व के अन्तिम अक्षर को दीर्घ होता है। इस वार्तिक द्वारा प्रस्तुत सूत्र से अन्तोदात्त नहीं होता। अतः 'बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्' (६.२.१०६) से पूर्वपद का अन्तोदात्त होता है। इसका विग्रह 'विश्वं मित्रम् अस्य' इस प्रकार होगा।]

बहोर्नञ्वदुत्तरपदभूम्नि ॥

भा०—बहु से उत्तर नञ्वत् अतिदेश क्यों किया गया है? 'नञ्सुबहुभ्यः' इस प्रकार ही क्यों न कह दिया जावे? ['नञ्वत्' कहने का उपयोग 'नञ्सुभ्याम्' सूत्र से अन्तोदात्त करना है। यदि उस सूत्र के साथ बहु का भी पाठ कर दें तो यह कार्य अनायास सम्पन्न हो जाएगा।] यह सम्भव नहीं है। इस सूत्र के साथ 'उत्तरपदभूम्नि' कहेंगे। यह विशेषण बहु के साथ ही अन्वित हो, नञ्, सु से न हो।

यह प्रयोजन नहीं है। एक योग होने पर भी जो शब्द उत्तरपदभूमा=उत्तरपद-बहुत्व को प्रकट कर सकता है, उसे ही होगा। किस शब्द का [यह सामर्थ्य] है? बहु का ही। [बहु शब्द के प्रयोग होने पर ही यह अर्थ सम्भव है, अतः अन्य का प्रयोग होने पर स्वतः यह अर्थ नहीं होगा।]

अच्छा तो फिर यह प्रयोजन है—आगे 'न गुणादयोऽवयवाः' कहेंगे। वह बहु

(१७६) इति वक्ष्यति, तद्बहोरेव यथा स्यान्नञ्सुभ्यां मा भूदिति। एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। एकयोगेऽपि सति यस्य गुणादयोऽवयवाः सन्ति तस्य भविष्यति। कस्य च सन्ति? बहोरेव॥ अत उत्तरं पठति—

बहोर्नञ्वदुत्तरपदाद्युदात्तार्थम्॥ १॥

बहोर्नञ्वदतिदेशः क्रियत उत्तरपदाद्युदात्तार्थम्। उत्तरपदस्याद्युदात्तत्वं यथा स्यात्। विदेशस्थमपि यन्नञः कार्यं तदपि बहोर्यथा स्यात्। 'नञो जरमर-मित्रमृताः' (६.२.११६) अजरः, अमरः। बहुजरः, बहुमित्रः॥

उपसर्गात्स्वाङ्गं ध्रुवमपर्शु॥ ६.२.१७७॥

उपसर्गात्स्वाङ्गं ध्रुवं मुखस्यान्तोदात्तत्वात्॥ १॥

मुखस्यान्तोदात्तत्वादुपसर्गात्स्वाङ्गं ध्रुवमित्येतद्भवति विप्रतिषेधेन। मुखान्तोदात्तत्वस्यावकाशः? गौरमुखः, श्लक्ष्णमुखः। उपसर्गात्स्वाङ्ग-मित्यस्यावकाशः—प्रस्फिक्, प्रोदरः। इहोभयं प्राप्नोति—प्रमुखः। उपसर्गात्-स्वाङ्गमित्येतद्भवति विप्रतिषेधेन॥ कः पुनरत्र विशेषस्तेन वा सत्यनेन वा?

से ही हो, नञ्, सु से न हो। यह भी प्रयोजन नहीं है, एक सूत्र होने पर भी जिस शब्द के [विशेष्य] अवयववाची गुणादि प्राप्त होते हैं, उसे ही होगा। किसके ये हैं? बहु के ही। [यहाँ पर भी 'उत्तरपदभूम्नि' यह पूर्वपद का विशेषण होगा। अतः जो शब्द उत्तरपदभूमा को प्रकट करेगा, उससे उत्तर ही गुणादि का प्रतिषेध होगा। बहु शब्द ही इस प्रकार का है। अतः उससे उत्तर ही प्रतिषेध होगा, नञादि से उत्तर नहीं।]

वा०—बहु से नञ्वत् उत्तरपदाद्युदात्त के लिये।

भा०—बहु से नञ् के समान अतिदेश करते हैं, उत्तरपद को आद्युदात्त के लिये। उत्तरपद को आद्युदात्त हो जावे। ['नञ्सुभ्याम्' से] भिन्न प्रकरण में कहे गये कार्य भी बहु को हो जावें। 'नञो जरमर...' यहाँ अजरः, अमरः के साथ-साथ बहुजरः आदि भी सिद्ध होते हैं।

उपसर्गात्स्वाङ्गं ध्रुवमपर्शु॥

वा०—मुख को अन्तोदात्तत्व से उपसर्ग से स्वाङ्ग, ध्रुव।

भा०—['मुखं स्वाङ्गम्' (६.२.१६७) सूत्र से] मुख को अन्तोदात्तत्व से पहले 'उपसर्गात् स्वाङ्गम्...' प्रवृत्त होता है, विप्रतिषेध से। मुख को अन्तोदात्तत्व का अवकाश है—गौरमुखः...। [जहाँ पूर्वपद उपसर्ग नहीं है।] 'उपसर्गात् स्वाङ्गम्...' का अवकाश है—प्रस्फिक्...। [जहाँ उत्तरपद मुख नहीं है। यहाँ दोनों पाते हैं—प्रमुखः। विप्रतिषेध द्वारा 'उपसर्गात् स्वाङ्गम्...' सम्पन्न होता है।

इसमें क्या विशेष है—उससे [अन्तोदात्त] हो या इससे हो?

सापवादकः स विधिरयं पुनर्निरपवादकः। अव्ययात्तस्य प्रतिषेधोऽपवादः॥

अभेर्मुखम्॥ ६.२.१८५॥

अपाच्च॥ ६.२.१८६॥

किमर्थमिदमुच्यते, नोपसर्गात्स्वाङ्गं ध्रुवमित्येव सिद्धम्?

अभेर्मुखमपाच्चाध्रुवार्थम्॥ १॥

अध्रुवार्थोऽयमारम्भः॥

अबहुव्रीह्यर्थं वा॥ २॥

अथवा बहुव्रीहेरिति वर्ततेऽबहुव्रीह्यर्थोऽयमारम्भः॥

स्फिगपूतवीणाञ्जोध्वकुक्षिसीरनामनाम च॥ ६.२.१८७॥

वह विधि सापवाद है, यह निरपवाद है। उस [मुखं स्वाङ्गम्] का ['नाव्ययदिक्शब्द...' सूत्र से] अव्यय से उत्तर [मुख को विहित] प्रतिषेध अपवाद है। [इस प्रकार 'प्रमुखः' में पहले 'मुखं स्वाङ्गम्' प्राप्त हुआ। पुनः उसका बाधन 'नाव्ययदिक्छब्द...' से निषेध प्राप्त हुआ। इस निषेध तथा 'उपसर्गात् स्वाङ्गम्...' से विधान इन दोनों के मध्य विप्रतिषेध होने पर 'उपसर्गात्...' से विधान सम्पन्न होता है—यह वार्तिक का आशय है।]

अभेर्मुखम्॥

अपाच्च॥

भा०—इसे क्यों कहा गया है? क्या 'उपसर्गात् स्वाङ्गम्...' से ही सिद्ध नहीं है?

वा०—अभेर्मुखम्, अपाच्च यह अध्रुव के लिये।

भा०—'अध्रुव' के लिये इसका आरम्भ है। ['उपसर्गात् स्वाङ्गम्...' सूत्र ध्रुव में कार्यशील है। इससे 'अभिमुखः' आदि में अध्रुव में भी अन्तोदात्त होता है। मुख सदा सामने ही नहीं रहता। अपितु दाएँ, बाएँ भी रहने से यह अध्रुव है।]

वा०—अथवा अबहुव्रीहि के लिये।

भा०—अथवा [उस सूत्र में] बहुव्रीहि की अनुवृत्ति है। इसका आरम्भ [अभिमुखा शाला आदि में] अबहुव्रीहि में भी कार्य सम्पादन के लिये है। [यहाँ अभिमुखा शब्द 'मुखस्य सम्मुखम्' इस अस्वपद विग्रह के अनुसार 'कुगतिप्रादयः' (२.२.१८) से नित्य तत्पुरुष समास है।]

स्फिगपूतवीणाञ्जोध्वकुक्षिसीरनामनाम च॥

स्फिगपूतग्रहणं किमर्थं, नोपसर्गात्स्वाङ्गं ध्रुवमित्येव सिद्धम्?

स्फिगपूतग्रहणं च॥ १॥

किम्? अध्रुवार्थमबहुव्रीह्यर्थमित्येव॥

अतेरकृत्पदे॥ ६.२.१९१॥

अतेर्धातुलोपे॥ १॥

अतेर्धातुलोपे इति वक्तव्यम्। अकृत्पदे इति ह्युच्यमान इह च प्रसज्येत— शोभनो गार्ग्योऽतिगार्ग्यः। इह च न स्यात्—अतिकारकः, अतिपदा शक्वरी॥

द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धसु बहुव्रीहौ॥ ६.२.१९७॥

किमिदं द्वित्रिभ्यां मूर्धन्यकारान्तग्रहणमाहोस्विन्नकारान्तग्रहणम्?

भा०—स्फिग, पूत का ग्रहण किसलिये है? क्या 'उपसर्गात् स्वाङ्गम्...' से ही सिद्ध नहीं है?

वा०—स्फिगपूत का ग्रहण भी।

भा०—किसलिये? अध्रुव के लिये तथा अबहुव्रीहि के लिये। ['स्फिग' शब्द स्वाङ्गविशेष नितम्ब का वाचक है। वे गति के समय ध्रुव नहीं होते। अतः इस दशा के लिए सूत्र का आरम्भ है।]

अतेरकृत्पदे॥

वा०—अति से धातुलोप होने पर।

भा०—अति से उत्तर धातुलोप होने की दशा में अन्तोदात्त, यह कहना चाहिये। 'अकृत्पदे' कहने पर यहाँ प्राप्त होता—शोभनो गार्ग्यः अतिगार्ग्यः [क्योंकि 'गार्ग्य' अकृदन्त पद है।] यहाँ न होता—अतिकारकः...।

विवरण—'अतिकारकः' शब्द में 'कारकम् अतिक्रान्तः' विग्रह के अनुसार 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' ('कुगतिप्रादयः' २.२.१८ पर वार्तिक) से समास। यहाँ क्रान्त की धातु का लोप होने से वार्तिक के अनुसार अन्तोदात्त सम्पादित होता है। पर 'अकृत्पदे' कहने पर यह सम्भव नहीं है। इस अन्तोदात्त स्वर से ही यहाँ धातुलोप की सूचना प्राप्त होती है। यदि यहाँ 'शोभनः कारकः' इस विगह के अनुसार 'स्वती पूजायाम्' (२.२.१८) इस वार्तिक के अनुसार समास हो तो धातुलोप न होने की स्थिति में 'अतेर्धातुलोपे' कहने से अन्तोदात्त नहीं, अपितु 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ...' (६.२.२) से पूर्वपद प्रकृतिस्वर होगा।

द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धसु बहुव्रीहौ॥

भा०—क्या यहाँ द्वि, त्रि से उत्तर मूर्धन् में अकारान्त ग्रहण है या नकारान्त-

कश्चात्र विशेषः ?

द्वित्रिभ्यां मूर्धन्यकारान्तग्रहणं चेन्नकारान्तस्योपसंख्यानम्॥ १॥

द्वित्रिभ्यां मूर्धन्यकारान्तग्रहणं चेन्नकारान्तस्योपसंख्यानं कर्तव्यम्। द्विमू॒र्धा, त्रिमू॒र्धा॥ अस्तु तर्हि नकारान्तग्रहणम्।

नकारान्तेऽकारान्तस्य॥ २॥

नकारान्तेऽकारान्तस्योपसंख्यानं कर्तव्यम्। द्विमू॒र्धः, त्रिमू॒र्धः॥

ग्रहण है। इसमें विशेष क्या है?

विवरण—यहाँ दो पक्ष सम्भावित हैं। प्रथम—यदि द्वि, त्रि से उत्तर मूर्धन् परे होने पर समास को अन्तोदात्त है, यह अर्थ मान्य होता है तथा 'द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः' (५.४.११५) से समासान्त ष प्रत्यय नित्य होता है तो सूत्र में 'मूर्धसु' निर्देश होने पर भी सामर्थ्य से 'द्विमूर्धः' में समास के अन्तिम अकार को उदात्त, यह पक्ष स्थिर होगा।

द्वितीय—यदि पूर्वोक्त दशा में उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है तब समासान्त द्विमूर्धा इत्यादि में नकारान्त मूर्धन् उत्तरपद के अन्तिम अक्षर को उदात्त, यह पक्ष मान्य होता है।

इस प्रकार महाभाष्य में 'मूर्धन् में अकारान्त ग्रहण' यह पक्ष 'समास में अन्तिम अकार' तथा मूर्धन् में नकारान्त ग्रहण यह पक्ष 'उत्तरपद में अन्तिम अक्षर को उदात्त' इस अर्थ में पर्यवसित होता है।

वा०—द्वि, त्रि से मूर्धन् में अकारान्त ग्रहण हो तो नकारान्त का उपसङ्ख्यान।

भा०—द्वि, त्रि से मूर्धन् में अकारान्त [अर्थात् 'इस समास के अन्तिम अक्षर को उदात्त' यह अर्थ हो तथा समासान्त प्रत्यय नित्य हो] तो नकारान्त का उपसङ्ख्यान करना होगा। द्विमूर्धा... [यहाँ समासान्त प्रत्यय का अभाव तथा स्वर का भी उपसङ्ख्यान करना होगा।] तो फिर नकारान्त का ही ग्रहण होवे।

वा०—नकारान्त में अकारान्त का।

भा०—नकारान्त ग्रहण होने पर [अर्थात् पूर्वोक्त स्थिति में उत्तरपद को अन्तोदात्त हो तो] अकारान्त का उपसङ्ख्यान करना होगा। द्विमूर्धः...। [समासान्त 'ष' प्रत्यय करने के पश्चात् उत्तरपद नकारान्त मूर्धन् के अन्तिम स्वर को उदात्त प्राप्त होगा। इससे 'ष' के अकार का उदात्तत्व सिद्ध नहीं हो सकेगा। समासान्त प्रत्यय के नित्य होने से 'द्विमूर्धा' रूप इस पक्ष में भी सिद्ध नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि दोनों पक्षों में 'द्विमूर्धा' की असिद्धि होगी। इस पक्ष में द्विमूर्धः में भी दोष होगा।]

उदात्तलोपात्सिद्धम्॥ ३॥

अस्तु तर्हि नकारान्तग्रहणम्। अन्तोदात्तत्वे कृते लोप उदात्तनिवृत्तिस्वरेण सिद्धम्॥ इदमिह संप्रधार्यम्—अन्तोदात्तत्वं क्रियतां लोप इति। किमत्र कर्तव्यम्? परत्वाल्लोपः॥ एवं तर्हीदमिह संप्रधार्यम्। अन्तोदात्तत्वं क्रियतां समासान्त इति। किमत्र कर्तव्यम्? परत्वादन्तोदात्तत्वम्। नित्यः समासान्तः। कृतेऽप्यन्तोदात्तत्वे प्राप्नोत्यकृतेऽपि। अन्तोदात्तत्वमपि नित्यम्। कृतेऽपि समासान्ते प्राप्नोत्यकृतेऽपि। अनित्यमन्तोदात्तत्वं, न हि कृते समासान्ते प्राप्नोति। परत्वाल्लोपेन भवितव्यम्॥ यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते न तदनित्यम्। न च समासान्त एवान्तोदात्तत्वस्य निमित्तं विहन्ति। अवश्यं लक्षणान्तरं लोपः प्रतीक्ष्यः। उभयोर्नित्ययोः परत्वादन्तोदात्तत्वम्। अन्तोदात्तत्वे कृते समासान्तष्टिलोपष्टिलोपे कृत उदात्तनिवृत्तिस्वरेण सिद्धम्।

वा०—उदात्त लोप से सिद्ध।

भा०—अच्छा तो फिर, नकारान्त ग्रहण होवे। उत्तरपद के अन्तिम [ध के अकार] का उदात्तत्व करने पर इसका ['नस्तद्धिते' (६.४.१४४) सूत्र से] लोप होगा। इससे 'अनुदात्तस्य च यत्रो...' (६.१.१६१) से उदात्तनिवृत्ति स्वर से [अन्तिम ष के अकार का उदात्तत्व] सिद्ध हो जाएगा।

अच्छा तो फिर यह सम्प्रधारणा करें—अन्तोदात्तत्व पहले करें या लोप। क्या करना चाहिये? परत्व से लोप। [इससे मूर्धन् के आद्युदात्त होने से उदात्तलोप न बन पाएगा। इस प्रकार दोष स्थिर रहा।]

अच्छा, तो फिर यह सम्प्रधारणा करें—अन्तोदात्तत्व करें या समासान्त। क्या करना चाहिए? परत्व से अन्तोदात्तत्व। समासान्त नित्य है। अन्तोदात्तत्व करने पर भी पाता है, न करने पर भी। अन्तोदात्तत्व भी नित्य है। समासान्त करने पर भी पाता है, न करने पर भी। अन्तोदात्तत्व अनित्य है। समासान्त करने पर नहीं पाता। परत्व से लोप होगा।

[इस प्रकार परत्व से] लोप होता ही है। [लोप करने के पश्चात् अन्तोदात्तत्व की अप्राप्ति होती है। समासान्त करने के तत्काल पश्चात् नहीं।] इस प्रकार जिसका अन्य लक्षण से निमित्त का विघात होता है, वह अनित्य नहीं होता। केवल समासान्त ही अन्तोदात्तत्व के निमित्त का विघात नहीं करता। अवश्य ही अन्य लक्षण लोप की प्रतीक्षा करनी होगी। [इस प्रकार अन्तोदात्तत्व अनित्य नहीं हुआ।] दोनों के नित्य होने पर परत्व से अन्तोदात्तत्व होगा। अन्तोदात्तत्व करने पर समासान्त, पश्चात् टिलोप। अब पूर्वोक्त उदात्तनिवृत्तिस्वर से सिद्ध होगा। [इस प्रकार इस

युक्तं पुनरिदं विचारयितुम्, नन्वनेनासंदिग्धेन नकारान्तस्य ग्रहणेन भवितव्यं, यावता मूर्धस्वित्युच्यते? यदि ह्यकारान्तस्य ग्रहणं स्यान्मूर्धेष्विति ब्रूयात्? सैषा समासान्तार्था विचारणा। एवं तर्हि ज्ञापयत्याचार्यो— विभाषा समासान्तो भवतीति॥

परादिश्छन्दसि बहुलम्॥ ६.२.१९९॥

अत्यल्पमिदमुच्यते।

परादिश्च परान्तश्च पूर्वान्तश्चापि दृश्यते।

पूर्वादयश्च दृश्यन्ते व्यत्ययो बहुलं स्मृतः॥

पक्ष में द्विमूर्धः की सिद्धि हो जाती है। पर समासान्त के नित्य होने से 'द्विमूर्धा' अब भी सिद्ध न होगा। अतः अग्रिम भाष्य—]

यहाँ पर क्या यह विचारणा समुचित है? यहाँ तो असन्दिग्ध रूप से नकारान्त ग्रहण ही मान्य होगा? क्योंकि [सूत्र में नकारान्त] 'मूर्धसु' का पाठ किया है? यदि अकारान्त का ग्रहण होता तो [प्रकृतिवदनुकरणं भवति के न्याय से] 'मूर्धेषु' का प्रयोग करते?

इस प्रकार यह विचारणा समासान्त के [अनित्यत्व ज्ञापन के] लिये है। इससे आचार्य ज्ञापित करते हैं कि समासान्त विधि अनित्य होती है।]

विवेचना का उपसंहार—'मूर्धसु' इस निर्देश से ज्ञापित करेंगे कि समासान्त विधि अनित्य होती है। इससे 'द्विमूर्धा' यहाँ ष प्रत्यय का अभाव सिद्ध होगा। साथ ही मूर्धन् उत्तरपद वाले समास के अन्तिम अक्षर को उदात्त, इस प्रकार प्रथम पक्ष मान्य करेंगे। इससे 'द्विमूर्धा' का अन्तिम अक्षर उदात्त भी सिद्ध होगा। 'द्विमूर्धः' तो स्वतः सिद्ध होगा ही। 'उत्तरपद को अन्तोदात्त' यह द्वितीय पक्ष मान्य नहीं करेंगे। इससे 'द्विमूर्धः' की सिद्धि के लिये उदात्तनिवृत्तिस्वर आदि की आवश्यकता नहीं होगी। काशिकाकार ने ऐसी ही स्थापना की है।

परादिश्छन्दसि बहुलम्॥

भा०—यह बहुल-ग्रहण अति संक्षिप्त है।

का०—परादिस्वर, परान्त स्वर तथा पूर्वान्त स्वर भी देखा जाता है। इसी प्रकार पूर्वादि स्वर भी देखा जाता है। इस प्रकार बहुल ग्रहण करने से अनेक प्रकार के स्वर व्यत्यय सिद्ध होते हैं।

विवरण—ऐसा कहने से त्रिचक्रादि को परान्त स्वर के रूप में अन्तोदात्त विधान करने वाला अग्रिम वार्तिक, मरुद्वृधादि को पूर्वान्त स्वर विधान करने वाला वार्तिक दिवोदासादि को पूर्वादि स्वर का विधान वाला वार्तिक—सबकी सिद्धि हो जाती है।

अन्तोदात्तप्रकरणे त्रिचक्रादीनां छन्दस्युपसंख्यानम्॥ १॥

अन्तोदात्तप्रकरणे त्रिचक्रादीनां छन्दस्युपसंख्यानं कर्तव्यम्। त्रिवन्धुरेण त्रिवृता रथेन त्रिचक्रेण (ऋ० १.११८.२)॥

इति पातञ्जलमहाभाष्ये षष्ठाध्यायस्य द्वितीये पादे द्वितीयमाह्निकम्॥

पादश्च समाप्तः॥

—०—

वा०—अन्तोदात्त प्रकरण में त्रिचक्रादि का छन्द में।

भा०—अन्तोदात्त प्रकरण में त्रिचक्रादि शब्दों का छन्द में उपसङ्ख्यान करना चाहिये। [त्रिवृता रथेन] त्रिचक्रेण (ऋ० १.११८.२) आदि सिद्ध होते हैं।

अलुगुत्तरपदे॥ ६.३.१ ॥

आ कुतोऽयमधिकारः ? अलुगधिकारः प्रागानङः। उत्तरपदाधिकारः प्रागङ्गाधिकारात्॥

कानि पुनरुत्तरपदाधिकारस्य प्रयोजनानि ?

उत्तरपदाधिकारस्य प्रयोजनं
स्तोकादिभ्योऽलुगानङिकोह्रस्वनलोपाः॥ १ ॥

'पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः' (६.३.२)। स्तोकान्मुक्तः, अल्पान्मुक्तः। उत्तरपद इति किमर्थम्? निष्क्रान्तः स्तोकाद्—निःस्तोकः॥ आनङिकोह्रस्वनलोपाः प्रयोजनम्। आनङ्—होतापोतारौ। उत्तरपद इति किमर्थम्? होतापोतृभ्याम्॥ 'इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य' (६१) प्रयोजनम्। ग्रामणिकुलम्, सेनानिकुलम्। उत्तरपद इति किमर्थम्? ग्रामणीः, सेनानीः॥ नलोपः प्रयोजनम्—'नलोपो नञः' (७३)। अब्राह्मणः, अवृषलः।

अलुगुत्तरपदे॥

भा०—यह अधिकार कहाँ तक है? अलुक् अधिकार आनङ् ['आनङ् ऋतो द्वन्द्वे' (६.३.२५)] से पहले तक तथा उत्तरपद का अधिकार अङ्गाधिकार से पहले तक है। [व्याकरण में कभी-कभी सहनिर्दिष्ट पदों में से एक की भी अनुवृत्ति मान्य होती है। इसके अनुसार यह व्याख्यान है।]

'उत्तरपद' अधिकार के क्या प्रयोजन हैं?

वा०—उत्तरपदाधिकार का प्रयोजन स्तोकादि से अलुक्, आनङ्, इक् का ह्रस्व तथा नलोप।

भा०—'पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः' सूत्र से [स्तोकादि से उत्तर पञ्चमी का अलुक् होने से] स्तोकान्मुक्तः...। उत्तरपदे क्यों—निष्क्रान्तः स्तोकात्—निःस्तोकः। ['निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' वार्तिक से समास। स्तोकात् पञ्चम्यन्त से उत्तर उत्तरपद न होने से पञ्चमी का अलुक् नहीं हुआ।]

आनङ्—होतापोतारौ। [पोतारौ उत्तरपद परे रहने पर होतृ को 'आनङ् ऋतो द्वन्द्वे' (६.३.२५) से आनङ्। उत्तरपदे क्यों? होतापोतृभ्याम् [यहाँ 'पोतृ' को आनङ् नहीं हुआ।]

'इको ह्रस्वो...' प्रयोजन है। ग्रामणिकुलम्...। [इस षष्ठ्यन्त समस्त पद में 'कुल' उत्तरपद परे रहने पर इगन्त को 'इको ह्रस्वो...' (६.३.६१) से ह्रस्व। उत्तरपदे क्यों? ग्रामणीः...। [यहाँ ह्रस्व नहीं।]

नलोप प्रयोजन है—'नलोपो नञः' से अब्राह्मणः...। [ब्राह्मण उत्तरपद परे

उत्तरपद इति किमर्थम्? परमन। नैषोऽस्ति प्रयोगः। इदं तर्हि—नतरां गमनम्॥

एकवच्च॥ २॥

एकवच्चालुग्भवतीति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? स्तोकाभ्यां मुक्तः, स्तोकेभ्यो मुक्त इति विगृह्य स्तोकान्मुक्त इत्येव यथा स्यात्।

एकवद्वचनमनर्थकम्॥ ३॥

एकवद्भावश्चानर्थकः॥ द्विबह्वोरलुक्कस्मान्न भवति?

द्विबहुष्वसमासः॥ ४॥

द्विवचनबहुवचनान्तानामसमासः॥ किं वक्तव्यमेतत्? न हि। कथमनुच्यमानं गंस्यते?

उक्तं वा॥ ५॥

रहने पर नलोप] उत्तरपदे क्यों? 'परमन' ['परमं न' विग्रह के अनुसार विशेषण समास, परम को नञर्थ का विशेषण मान कर कह रहे हैं।] यह प्रयोग नहीं होता। [सदा द्रव्य का पारम्य कहा जाता है। यह नञ् द्रव्यवाचक नहीं है।] अच्छा तो फिर—नतरां गमनम्। [प्रतिषेध में गमन के अयुक्ततरत्व रूप प्रकर्ष के आरोप द्वारा यह प्रयोग है। तरप् द्रव्यप्रकर्ष में होता है। प्रतिषेध में इस आरोपित प्रकर्ष का प्रयोग लोक में स्वीकृत होने से यह सञ्चालित है। यहाँ मयूरव्यंसकादि से अथवा 'सुप् सुपा' इस योगविभाग से समास है। यहाँ 'न' से उत्तर उत्तरपद परे न होने से नलोप नहीं होता।]

वा०—एकवत् भी।

भा०—एकत्व [अर्थ के समान] आदेश के साथ अलुक् होता है, यह कहना चाहिये। क्या प्रयोजन है? स्तोकाभ्यां मुक्तः.....इस प्रकार विग्रह से 'स्तोकान्मुक्तः' यही प्रयोग बना रहे। [एकत्व अर्थ के आदिष्ट होने से एकवचन विभक्ति प्रयुक्त होती है।]

वा०—एकवत् वचन अनर्थक है।

भा०—'एकवद्भाव' वचन भी अनर्थक है। द्वि[त्व], बहु[त्व] में आने वाली विभक्तियों का] अलुक् क्यों नहीं होता?

वा०—द्वि, बहु में असमास।

भा०—[द्वित्व, बहुत्व में आने वाले जो] द्विवचन, बहुवचन तदन्त का समास नहीं होता। क्या इसे कहा जावे? नहीं। कहे बिना कैसे प्रतीति होगी?

वा०—इस पर कहा है।

किमुक्तम्? अनभिधानादिति॥ तच्चावश्यमनभिधानमाश्रयितव्यम्।

एकवद्वचने हि गोषुचरेऽतिप्रसङ्गः॥ ६॥

एकवद्वचने हि गोषुचरेऽतिप्रसङ्गः स्यात्। गोषुचरः॥

वर्षाभ्यश्च जे॥ ७॥

वर्षाभ्यश्च जेऽतिप्रसङ्गो भवति। वर्षासुजः॥

अपो योनियन्मतिषु च॥ ८॥

अपो योनियन्मतिषु चोपसंख्यानं कर्तव्यम्॥ जे चरे चातिप्रसङ्गो भवति। योनि—अप्सुयोनिः। यत्—अप्सव्यम्। मति—अप्सुमतिः।

भा०—क्या कहा है? अनभिधान हेतु से। [लोक में जिस अशुद्ध शब्द का प्रयोग सम्भावित है, उसका व्याकरण द्वारा निराकरण किया जाता है। जिस अशुद्ध का प्रयोग लोक में होता ही नहीं, उसके निवारण की उपयोगिता नहीं है। समास में सङ्ख्या-सामान्य कहा जाता है, कोई विशिष्ट सङ्ख्या नहीं। जैसे 'राजपुरुषः' शब्द में पुरुष का राजसम्बन्धित्व कहा जाता है। किसी सङ्ख्या विशिष्ट राजसम्बन्धित्व नहीं। इसी प्रकार यहाँ भी सङ्ख्या विशिष्ट स्तोक के न कहे जाने से द्विवचनान्त का समास ही नहीं होता।]

भा०—इस 'अनभिधान' हेतु का अवश्य ही आश्रय करना होगा।

वा०—एकवत् वचन होने पर गोषुचर में अतिप्रसङ्ग।

भा०—'एकवत्' वचन होने पर 'गोषुचरः' इत्यादि शब्दों में अतिप्रसङ्ग होगा। गोषुचरः। [यहाँ 'गो' शब्द जल अर्थ में है तथा यह इस अर्थ में 'अप्' शब्द के समान नित्यबहुवचनान्त है। अतः यह प्रत्येक दशा में बहुवचनान्त ही प्रयुक्त होता है। यहाँ एकवद्भाव कहने से दोष होगा।]

वा०—वर्षा से ज परे रहने पर।

भा०—वर्षा से ज परे रहने पर भी अति प्रसङ्ग होता है। वर्षासुजः। [यहाँ वर्षा शब्द भी ऋतुविशेष अर्थ में नित्यबहुवचनान्त होता है। अतः यहाँ भी एकवत् कहने पर दोष होगा। [यहाँ सप्तम्यन्त वर्षा उपपद होने पर जन् धातु से 'सप्तम्यां जनेर्डः' (३.२.९७) से ड प्रत्यय तथा 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (६.३.१८) से विभक्ति का अलुक् हुआ है।]

वा०—अप् से योनि, यत्, मति परे रहने पर भी उपसङ्ख्यान।

भा०—अप् शब्द से उत्तर योनि, यत्, मति परे रहने पर भी तथा ज, चर परे रहने पर भी अलुक् का उपसङ्ख्यान करना चाहिये। यहाँ भी [एकवत् कहने पर] अतिप्रसङ्ग होता है। योनि—अप्सुयोनिः (जल में कारणत्व है जिनका ऐसे जलचारी कीट) यत्—अप्सव्यम्। ['अप्सु साधुः' विग्रह के अनुसार 'तत्र साधुः' (४.४.९८)

जे—अप्सुजः। चरे—अप्सुचरो गह्वरेष्ठाः॥

पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः॥ ६.३.२॥

पञ्चमीप्रकरणे ब्राह्मणाच्छंसिन उपसंख्यानम्॥ १॥

पञ्चमीप्रकरणे ब्राह्मणाच्छंसिन उपसंख्यानं कर्तव्यम्। ब्राह्मणाच्छंसी॥

अन्यार्थे च॥ २॥

अन्यार्थे चैषा पञ्चमी द्रष्टव्या। ब्राह्मणानि शंसति ब्राह्मणाच्छंसी॥ अथवा युक्त एवात्र पञ्चम्यर्थः। ब्राह्मणेभ्यो गृहीत्वा गृहीत्वा—आहृत्या-हृत्य शंसतीति ब्राह्मणाच्छंसी॥

ओजःसहोऽम्भस्तमसस्तृतीयायाः॥ ६.३.३॥

अञ्जस उपसंख्यानम्॥ १॥

अञ्जस उपसंख्यानं कर्तव्यम्। अञ्जसाकृतम्॥

पुंसानुजो जनुषान्धो विकृताक्ष इति च॥ २॥

से यत्। मति—अप्सुमतिः। ज—अप्सुजः ['सप्तम्यां जनेर्डः' (३.२.९७) से ड। चर—अप्सुचरः [अप् उपपद होने पर 'चरेष्टः' (३.२.१६) से ट प्रत्यय।

पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः॥

वा०—पञ्चमी-प्रकरण में 'ब्राह्मणाच्छंसी' का उपसङ्ख्यान।

भा०—पञ्चमी प्रकरण में 'ब्राह्मणाच्छंसी' शब्द में [पञ्चमी के अलुक् का] उपसङ्ख्यान करना चाहिये। ब्राह्मणाच्छंसी। [यह एक ऋत्विक् विशेष की संज्ञा है।]

वा०—अन्यार्थ में भी।

भा०—अथवा अन्य अर्थ में [द्वितीया अर्थ में] पञ्चमी समझना चाहिये। ब्राह्मणों (ब्राह्मण-वचनों की जो शंसा (पाठ) करता है, वह ब्राह्मणाच्छंसी। अथवा यहाँ पञ्चम्यर्थ समुचित ही है—ब्राह्मण अर्थात् वेद के व्याख्यानों को ग्रहण करके—चुन-चुन करके शंसा (पाठ) करता है, वह है—ब्राह्मणाच्छंसी। [यहाँ उससे अलग करना अर्थ होने से अपाय में पञ्चमी है।]

ओजःसहोऽम्भस्तमसस्तृतीयायाः॥

वा०—अञ्जस् की तृतीया का उपसङ्ख्यान।

भा०—अञ्जस् शब्द की तृतीया के [अलुक् का] उपसङ्ख्यान करना चाहिये। अञ्जसाकृतम् (=अनायास किया गया)।

वा०—पुंसानुज, जनुषान्ध, विकृताक्ष भी।

पुंसानुजो जनुषान्धो विकृताक्ष इति चोपसंख्यानं कर्तव्यम्। पुंसानुजः। जनुषान्धः, विकृताक्षः॥

आज्ञायिनि च॥ ६.३.५॥

आत्मनश्च पूरणे॥ १॥

आत्मनश्च पूरण उपसंख्यानं कर्तव्यम्। आत्मनापञ्चमः, आत्मनादशमः॥

अन्यार्थे च॥ २॥

अन्यार्थे चैषा तृतीया द्रष्टव्या। आत्मा पञ्चमोऽस्यात्मनापञ्चमः॥ अथवा युक्त एवात्र तृतीयार्थः। आत्मना कृतं तत्तस्य येनासौ पञ्चमः॥ कथं—जनार्दनस्त्वात्मचतुर्थ एव?

बहुव्रीहिरयम्। आत्मा चतुर्थोऽस्येति॥

भा०—पुंसानुजः [पुंसा हेतुना अनुजः यह विग्रह है। 'पुरुष बड़ा भाई' यह इसका अर्थ है। इस बड़े भाई में पुरुष को कारण के रूप में विवक्षित किया गया है।] जनुषान्धः [जनुषा=जन्मना अन्धः यह विग्रह है।] विकृताक्षः [विकृते अक्षिणी यस्य विग्रह के अनुसार बहुव्रीहि। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्' (५.४.११३) से समासान्त षच् प्रत्यय]।

आज्ञायिनि च॥

वा०—आत्मन् से पूरण में।

भा०—पूरण वाचक शब्द परे होने पर आत्मन् शब्द की [विभक्ति के अलुक् का] उपसङ्ख्यान करना चाहिये। आत्मनापञ्चमः...।

वा०—अन्यार्थ में भी।

भा०—[समास में परिपठित विभक्ति से] अन्य [प्रथमा] अर्थ में यह तृतीया समझनी चाहिये। स्वयं है पञ्चम जिस [समूह का] वह आत्मनापञ्चमः। [इस प्रकार इस बहुव्रीहि अर्थ में यहाँ तृतीया तत्पुरुष समास हुआ है।]

वा०—अथवा यहाँ पर तृतीयार्थ समुचित है—स्वयं के द्वारा वह किया गया, जिससे वह पञ्चम हो गया। [यहाँ 'आत्मना' में करण में अथवा हेतु में तृतीया है। आत्मा का पञ्चम के साथ 'राहोः शिरः' के समान बुद्धि-परिकल्पित भेद है।

भा०—'जनार्दनस्त्वात्मचतुर्थ एव' यह किस प्रकार होगा? [यहाँ पूर्वोक्त के समान 'आत्मना' इस प्रकार तृतीया विभक्ति का अलुक् क्यों नहीं हुआ, यह प्रश्नाशय है।] समाधान—यहाँ बहुव्रीहि है, आत्मा=स्वयं चतुर्थ है जिसका। [यहाँ 'यस्य' से भी वही 'जनार्दन' कहा जा रहा है। जिस जनार्दन की आत्मा

वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः ॥ ६.३.७ ॥

परस्य च ॥ ६.३.८ ॥

आत्मनेभाषपरस्मैभाषयोरुपसंख्यानम् ॥ १ ॥

आत्मनेभाषपरस्मैभाषयोरुपसंख्यानं कर्तव्यम्। आत्मनेभाषः, परस्मैभाषः ॥ तत्कथं कर्तव्यम्? यदि व्याकरणे भवा वैयाकरणी, वैयाकरणी आख्या वैयाकरणाख्या, वैयाकरणाख्यायामिति। अथ हि वैयाकरणानामाख्या वैयाकरणाख्या, वैयाकरणाख्यायामिति, नार्थ उपसंख्यानेन॥ यद्यपि व्याकरणे भवा वैयाकरणी, वैयाकरणी आख्या वैयाकरण्याख्या, वैयाकरणाख्यायामिति, एवमपि नार्थ उपसंख्यानेन। वचनाद्भविष्यति। अस्ति वचने प्रयोजनम्। किम्? आत्मनेपदम्, परस्मैपदमिति। निपातना-

---

चतुर्थ है वह जनार्दन 'आत्मचतुर्थ' कहा जाएगा। यहाँ भी आत्मा, चतुर्थ तथा यस्य में बुद्धिपरिकल्पित भेद है। लोक में कभी-कभी स्वयं का पूरणत्व ओझल हो जाता है। जैसे वेदान्त में 'दशमस्त्वमसि' की प्रसिद्ध कहानी में गिनती करने वाले का दशमत्व बताना पड़ा है। प्रस्तुत उदाहरण में जनार्दन में चतुर्थत्व को स्पष्ट करने के लिए उसे अलग-अलग करके निरूपित किया गया है।

वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः ॥

परस्य च ॥

वा०—आत्मनेभाष, परस्मैभाष का उपसङ्ख्यान।

भा०—आत्मनेभाष तथा परस्मैभाष शब्दों में [चतुर्थी के अलुक् का] उपसङ्ख्यान करना चाहिये। यह किस पक्ष में करना चाहिये? यदि 'व्याकरणे भवा' इस अर्थ में ['अणृगयनादिभ्यः' (४.३.७३) से अण् होकर 'वैयाकरणी' बने तथा वैयाकरणी आख्या विग्रह के अनुसार समानाधिकरण समास में 'वैयाकरणाख्या' सिद्ध हो। [तब अर्थ होगा—व्याकरण-सूत्रों में प्रसिद्ध जो संज्ञा, उसमें अलुक्। 'आत्मनेभाष' यह किसी व्याकरण में संज्ञा के रूप में परिज्ञात नहीं है।] पर यदि यह अर्थ हो—वैयाकरणों के मध्य व्यवहार प्राप्त संज्ञा वैयाकरणाख्या है तो उपसङ्ख्यान की आवश्यकता नहीं। [क्योंकि वैयाकरण लोग इसका भी संज्ञारूप में प्रयोग करते हैं।]

इस व्याकरणे भवा...पूर्वोक्त पक्ष में भी उपसङ्ख्यान की आवश्यकता नहीं। वचनसामर्थ्य से हो जाएगा। वचन का तो अन्य प्रयोजन है। क्या है? आत्मनेपदम्... । [यह संज्ञा व्याकरण में प्रसिद्ध है।] यह तो निपातन से सिद्ध है। क्या निपातन है?

देतत्सिद्धम्। किं निपातनम्? 'अनुदात्तङित्त आत्मनेपदम्' (१.३.१२), 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' (१.३.७८) इति॥

हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्॥ ६.३.९॥

हृद्द्युभ्यां ङेरुपसंख्यानम्॥ १॥

हृद्द्युभ्यां ङेरुपसंख्यानं कर्तव्यम्। हृदिस्पृक्, दिविस्पृक्॥

अन्यार्थे च॥ २॥

अन्यार्थे चैषा सप्तमी द्रष्टव्या। हृदयं स्पृशतीति हृदिस्पृक्। दिवं स्पृशतीति दिविस्पृक्॥

हलदन्ताधिकारे गोरुपसंख्यानम्॥ ३॥

हलदन्ताधिकारे गोरुपसंख्यानं कर्तव्यम्। गविष्ठिरः॥ न कर्तव्यम्। लुकोऽवादेशो विप्रतिषेधेन। लुक् क्रियतामवादेश इत्यवादेशो भविष्यति विप्रतिषेधेन। अवादेशे कृते हलदन्तादित्येव सिद्धम्॥

'अनुदात्तङित्त आत्मनेपदम्' इत्यादि। [इस प्रकार दोनों पक्षों में 'आत्मनेभाष' रूप सिद्ध है।]

हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्॥

वा०—हृत्, दिव् से ङि का उपसङ्ख्यान।

भा०—हृत्, दिव् से उत्तर ङि के अलुक् का उपसङ्ख्यान करना चाहिये। हृदिस्पृक्...। [सूत्र में संज्ञा में अलुक् कहा गया है। यह किसी की संज्ञा न होने से असंज्ञार्थ वचन है।]

वा०—अन्य अर्थ में भी।

भा०—यह सप्तमी [सप्तम्यर्थ से] भिन्न अर्थ में समझनी चाहिये। 'हृदयं स्पृशति' अर्थ में 'हृदिस्पृक्' बनता है। ['पद्दन्नोमास्...' (६.१.६३) से हृदय के स्थान में हृत् आदेश होता है।]

वा०—हलदन्ताधिकार में गो का उपसङ्ख्यान।

भा०—हल् [अन्त] तथा अदन्त अधिकार के प्रसङ्ग में गो [की विभक्ति के अलुक्] का उपसङ्ख्यान करना चाहिये। [क्योंकि यह गो हलदन्त नहीं है।] गविष्ठिरः।

नहीं करना चाहिये। [विभक्ति को] लुक् से पहले विप्रतिषेध द्वारा अवादेश हो जाता है। लुक् करें या अवादेश—विप्रतिषेध द्वारा पहले अवादेश होगा। अवादेश करने पर 'हलदन्तात्' से ही सिद्ध हो जाएगा।

लुकोऽवादेशो विप्रतिषेधेनेति चेद्भूमिपाशेऽतिप्रसङ्गः ॥ ४॥

लुकोऽवादेशो विप्रतिषेधेनेति चेद्भूमिपाशेऽतिप्रसङ्गो भवति। भूम्यां पाशो भूमिपाशः ॥

अकोऽत इति वा सन्ध्यक्षरार्थम्॥ ५॥

एवं तर्ह्यविशेषेण सप्तम्या अलुकमुक्त्वा 'अकोऽत' इति वक्ष्यामि। तन्नियमार्थं भविष्यति। अकोऽत एव भवति नान्यत इति। तेन सन्ध्यक्षराणां सिद्धं भवति। सिध्यति। सूत्रं तर्हि भिद्यते? यथान्यासमेवास्तु। ननु चोक्तं हलदन्ताधिकारे गोरुपसंख्यानमिति? नैष दोषः। निपातनादेतत्सिद्धम्। किं निपातनम्? गविष्ठिरशब्दो बिदादिषु पठ्यते। असकृत्खल्वपि निपातनं क्रियते—'गवियुधिभ्यां स्थिरः' (८.३.९५) इति॥

कारनाम्नि च प्राचां हलादौ॥ ६.३.१०॥

किमियं प्राप्ते विभाषाहोस्विदप्राप्ते? कथं च प्राप्ते, कथं वाप्राप्ते?

वा०—लुक् से अवादेश विप्रतिषेध से कहें तो भूमिपाश में अतिप्रसङ्ग।

भा०—लुक् से अवादेश विप्रतिषेध से हो तो भूमिपाश में अतिप्रसङ्ग होता है। भूम्यां पाशो भूमिपाशः। [यहाँ भी यणादेश के पश्चात् हलन्त मिल जाने से अलुक् प्राप्त होता है।]

वा०—तो फिर, 'अकोऽतः' यह सन्ध्यक्षर के लिये।

भा०—अच्छा तो फिर, सामान्यतः [सभी के उत्तर] सप्तमी का अलुक् कहके 'अकोऽतः' इस प्रकार कहेंगे। वह नियमार्थ होगा कि अक् से उत्तर हो तो अत् से ही हो। [इस प्रकार नियम करने से इकारान्त, उकारान्त से व्यावृत्ति होगी तथा अकारान्त से अलुक् सम्पन्न होगा। इसके अलावा सन्ध्यक्षर सहित अन्य सभी अक्षर अन्त वाले शब्दों से सामान्य से ही अलुक् सिद्ध हो सकेगा। इसे आगे स्पष्ट करते हैं—]

भा०—यह विन्यास सन्ध्यक्षर के लिये है। [इससे सामान्य सूत्र से] सन्ध्यक्षर शब्दों का अलुक् सिद्ध हो जाता है। सिद्ध है, पर इससे सूत्र-भेद तो होता है। यथान्यास ही रहने दें। इस पर तो पूर्वोक्त दोष दिया था। यह दोष नहीं है। यह निपातन से सिद्ध है। 'गवियुधिभ्यां स्थिरः' यह। [इस सूत्र से समास में 'गवि' से उत्तर स्थिर के सकार का षत्व-विधान ज्ञापित करता है कि समास में इस अन्तर्वर्ती विभक्ति का अलुक् होता है।]

कारनाम्नि च प्राचां हलादौ॥

भा०—क्या यह प्राप्त में विकल्प है या अप्राप्त में? किस प्रकार प्राप्त में होगा,

यदि संज्ञायामिति वर्तते ततः प्राप्ते। अथ निवृत्तं ततोऽप्राप्ते। कश्चात्र विशेषः ?

कारनाम्नि वावचनार्थं चेदजादावतिप्रसङ्गः॥ १॥

कारनाम्नि वावचनार्थं चेदजादावतिप्रसङ्गो भवति। इहापि प्राप्नोति— अविकटे उरणो दातव्योऽविकटोरणः॥ अस्तु तर्ह्यप्राप्ते।

अप्राप्ते समासविधानम्॥ २॥

यद्यप्राप्ते समासो विधेयः। प्राप्ते पुनः सति 'संज्ञायाम्' (२.१.४४) इत्येव समासः सिद्धः॥ नैष दोषः। एतदेव ज्ञापयति भवत्यत्र समास इति,

---

किस प्रकार अप्राप्त में ? यदि संज्ञा की अनुवृत्ति है, तो प्राप्त में। [इसकी अनुवृत्ति होने पर पूर्वसूत्र से नित्य अलुक् की प्राप्ति में यह सूत्र एक पक्ष में निवारण करेगा।] यदि इसकी अनुवृत्ति समाप्त हो गई तो [संज्ञाभिन्न में] अप्राप्त में विकल्प होगा। [इस पक्ष में 'नाम' शब्द संज्ञावाचक नहीं, अपितु सामान्य व्यपदेशमात्र का वाचक होगा।] इसमें विशेष क्या है ?

वा०—कारनाम में वावचन के लिए है तो अजादि में अतिप्रसङ्ग।

भा०—कारनाम [अर्थात् विशिष्ट संज्ञाप्राप्त रूढ शुल्क (tax) अर्थ में [प्राचां से द्योतित] वावचन के लिये यह सूत्र है तो अजादि में अतिप्रसङ्ग होता है। [इस सूत्र से हलादि परे रहने पर एक पक्ष में निवारण होगा। पर अजादि परे रहने पर तो कारनाम में पूर्वसूत्र से नित्य अलुक् प्राप्त होगा ही।] यहाँ भी [अलुक्] प्राप्त होता है—अविकटे उरणो दातव्यः (=भेड़ों के समूह के बीच में से एक मादा भेड़ को शुल्क या टैक्स के रूप में प्रदान करना चाहिये। यह भेड़ों के चराने के लिये एक विशिष्ट टैक्स का नाम है।) तो फिर अप्राप्त में ही हो।

वा०—अप्राप्त में समासविधान।

भा०—यदि अप्राप्त में [संज्ञाभिन्न में] यह कार्यशील है तो समास का विधान करना होगा। [इस पक्ष में संज्ञा की अनुवृत्ति न आने से यह सामान्यतः कार्य करेगा। परन्तु संज्ञा में पूर्वविप्रतिषेध से पूर्वसूत्र 'हलदन्तात्...' से नित्य अलुक् की प्रवृत्ति होगी। अतः यह सूत्र जो संज्ञावाचक विशिष्ट कार नहीं है वहीं कार्यशील होगा। इस स्थिति में समास का विधान करना होगा।] परन्तु यदि यह प्राप्त में अर्थात् संज्ञा में पूर्व सूत्र की प्राप्ति में विकल्प है तो 'संज्ञायाम्' से ही समास सिद्ध है।

विवरण—इस अप्राप्त पक्ष में संज्ञा में पूर्वविप्रतिषेध से 'हलदन्तात्...' की प्रवृत्ति होने पर अविकटोरणः आदि में अजादि में अतिप्रसङ्ग वाला दोष यहाँ भी उपस्थित है। समास का विधान वाला दोष अतिरिक्त रूप से है।

भा०—यही ज्ञापक है कि यहाँ समास होता है, यह जो कारनाम में सप्तमी

यदयं कारनाम्नि सप्तम्या अलुकं शास्ति। यद्यपि तावज्ज्ञापकात्समासः स्यात्, स्वरस्तु न सिध्यति। यद्धि तत्सप्तमीपूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवतीति, लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैवेत्येवं तत्। नैवात्रानेन स्वरेण भवितव्यम्। किं तर्हि ? 'सप्तमीहारिणौ धर्म्येऽहरणे' (६.२.६५) इत्यनेन स्वरेण भवितव्यम्॥ किं च भोः संज्ञा अपि वै क्रियन्ते, न लोकः संज्ञासु प्रमाणम् ? लोके च कारनाम संज्ञा। ननु चोक्तं कारनाम्नि वावचनार्थं चेदजादावति-

के अलुक् का शासन किया है। [यह सूत्र जो विशिष्ट या संज्ञावाचक कारनाम नहीं है, वहीं चरितार्थ होता है। यदि यहाँ भी समास न हो तो यह निरवकाश हो जाएगा। अतः ज्ञापक से समास हो जाएगा।] ठीक है, ज्ञापक से समास तो हो जाएगा, पर स्वर तो सिद्ध नहीं होता। वह जो ['तत्पुरुषे तुल्यार्थ...' (६.२.२)] से सप्तमी पूर्वपद को प्रकृतिस्वर का शासन किया है, वह 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः...' परिभाषा के अनुसार प्रतिपदोक्त को ही होता है। ['संज्ञायाम्' (२.१.४४) से विहित समास प्रतिपदोक्त है। अतः इससे समास होने पर 'तत्पुरुषे...' से पूर्वपदप्रकृतिस्वर सिद्ध है। पर ज्ञापक से समास करने पर यह स्वर सिद्ध न हो सकेगा—यह दोष-प्रदान का आशय है।]

[समाधान-] यहाँ यह ['तत्पुरुषे...' से विहित] स्वर होगा ही नहीं। तो फिर क्या ? 'सप्तमीहारिणौ...' से विहित स्वर होगा।

[अप्राप्त विधि का खण्डक-] क्यों! शास्त्र में संज्ञा बनाई जाती है ? क्या लोक संज्ञा में प्रमाण नहीं होता ? लोक में तो कारनाम संज्ञा ही है।

विवरण—अप्राप्त पक्ष में यह सूत्र संज्ञाभिन्न में कार्य करेगा, यह ऊपर कहा गया है। परन्तु लोक में कारनाम कभी असंज्ञा होते ही नहीं। अपितु सभी कारनाम संज्ञा ही है। इसका निर्धारण लोक द्वारा ही होता है। ऐसी दशा में यह सूत्र संज्ञा में ही प्रवृत्त होगा। इस प्रकार यह प्राप्त विभाषा ही होगी। दूसरा पक्ष ही नहीं है। इससे अप्राप्त विधि पक्ष का खण्डन किया गया।

विशेष—यह सम्पूर्ण भाष्य इस सूत्र में 'प्राचां' का यह अर्थ मान कर है कि प्राग्देशीय आचार्यों के मत में अलुक् होता है। इस स्थिति में यह विकल्प-विधान करता है। अब यदि यह प्राप्त विभाषा पक्ष में कार्यशील है तो ये कारनाम विशिष्ट संज्ञावाचक होंगे। अप्राप्त विभाषा पक्ष में ये रूढ संज्ञावाचक नहीं होंगे। इस पक्ष का यह मान कर खण्डन किया गया कि कारनाम असंज्ञावाचक होते ही नहीं।

यदि कोई टैक्स परम्परागत नहीं है, लोक में उस नाम की प्रसिद्धि नहीं है तो वह असंज्ञावाचक है। यहाँ भाष्यकार ने बताया कि इस सूत्र के उदाहरण में ऐसा कोई टैक्स नहीं है। अपितु सभी ऐसे हैं, जिनकी लम्बी परम्परा है,चलन है तथा उसका प्रयोग सभी करते हैं। 'स्तूपेशाणः' आदि प्रयोग ऐसे ही हैं। गोतम बुद्ध या

प्रसङ्ग इति ? नैष दोषः।

योगविभागात्सिद्धम्॥ ३॥

योगविभागः करिष्यते। कारनाम्नि च प्राचाम्। ततो हलादौ। हलादौ च कारनाम्नि सप्तम्या अलुग्भवति। इदमिदानीं किमर्थम्? नियमार्थम्। हलादावेव कारनाम्नि सप्तम्या अलुक् भवति, नान्यत्र। क्व मा भूत्? अविकटे उरणो दातव्योऽविकटोरणः॥

मध्याद्गुरौ॥ ६.३.११॥

गुरावन्ताच्च॥ १॥

गुरावन्ताच्चेति वक्तव्यम्। अन्तेगुरुः॥

उनके उपदेश—धर्मचक्र के स्मारक स्तूप बनाए जाते थे। इनमें भरहुत, साँची जैसे स्तूप तो बहुत प्रसिद्ध थे। पर छोटे-छोटे मॉडल स्तूप अनेक स्थानों में थे। इन सभी स्तूपों के रखरखाव के लिये राजा की ओर से एक 'शाण' वसूलने की परम्परा थी। अष्टाध्यायी के 'परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः' (७.३.१७) सूत्र से ज्ञात होता है कि उस समय 'शाण' नामक निश्चित परिमाण एवं मूल्य का चाँदी का सिक्का था।

इस प्राप्त विभाषा पक्ष में संज्ञा में विधायक पक्ष में अजादि में अतिप्रसङ्ग का पूर्वोक्त दोष अवस्थित है ही। अतः अग्रिम भाष्य—

भा०—इस [प्राप्त विभाषा पक्ष में तो] अजादि में अति प्रसङ्ग वाला दोष प्रदान किया था? यह दोष नहीं है।

वा०—योगविभाग से सिद्ध।

भा०—योगविभाग करेंगे—'कारनाम्नि च प्राचाम्' पश्चात् 'हलादौ—हलादि उत्तरपद होने पर भी कारनाम में सप्तमी का अलुक्। [पूर्व सामान्य सूत्र से सिद्ध होने पर विशेष रूप से] यह किसलिये है? नियम के लिये। कारनाम में हलादि उत्तरपद होने पर ही सप्तमी का अलुक् होता है, अन्यत्र नहीं। कहाँ न हो? अविकटे उरणो दातव्यः, अविकटोरणः।

विशेष—काशिकाकार के अनुसार यह विकल्पविधायक नहीं है। तब योगविभाग के बिना भी इस सूत्र के कार्य की पूर्वोक्त से सिद्धि होने पर यह नियमार्थ सिद्ध हो जाता है।

मध्याद्गुरौ॥

वा०—गुरु परे रहने पर अन्त से उत्तर भी।

भा०—अन्त से उत्तर होने पर भी गुरु परे होने पर [सप्तमी का अलुक् होता है] ऐसा कहना चाहिए। अन्तेगुरुः। [कोई भी वस्तु जो मध्य में गुरु अर्थात् भारी या बड़ी हो तो वह 'मध्येगुरु' तथा अन्त में भारी हो तो 'अन्तेगुरु' कहलाती है।]

बन्धे च विभाषा ॥ ६.३.१३ ॥

स्वाङ्गग्रहणमनुवर्तत उताहो न? किं चातः? यद्यनुवर्तते, सिद्धं हस्तेबन्धः, हस्तबन्धः। चक्रेबन्धः, चक्रबन्ध इति न सिध्यति। अथ निवृत्तं सिद्धं चक्रेबन्धः, चक्रबन्धः। हस्तेबन्धः, हस्तबन्ध इति न सिध्यति। किं कारणम्? 'नेन्सिद्धबध्नातिषु च' (६.३.१९) इति प्रतिषेधः प्राप्नोति॥ नैष दोषः। सर्वत्रैवात्रोत्तरपदाधिकारे 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (१४) इति प्राप्ते नेन्सिद्धबध्नातिष्विति प्रतिषेध उच्यते। तस्मिन्नित्ये प्राप्त इयं विभाषा-रभ्यते॥ एवमपि न ज्ञायते कस्मिन्विषये विभाषा, कस्मिन्प्रतिषेध इति? घञन्तस्येदं बन्धशब्दस्य ग्रहणं, प्रतिषेधे पुनर्धातुग्रहणम्। तेन घञन्ते विभाषान्यत्र प्रतिषेधः॥

बन्धे च विभाषा॥

भा०—स्वाङ्ग ग्रहण का अनुवर्तन होता है या नहीं? इससे क्या? यदि अनुवर्तन होता है तो हस्तेबन्धः, हस्तबन्धः सिद्ध होगा। चक्रेबन्ध, चक्रबन्धः सिद्ध नहीं होगा। [स्वाङ्ग की अनुवृत्ति होने पर स्वाङ्ग पूर्वपद में यह कार्यशील होगा, अस्वाङ्ग पूर्वपद में नहीं। अतः चक्र अस्वाङ्ग पूर्वपद होने पर इससे विकल्प सिद्ध नहीं हो सकेगा।]

यदि [स्वाङ्ग का] अनुवर्तन नहीं है तो चक्रेबन्धः, चक्रबन्धः सिद्ध होगा, हस्तेबन्ध, हस्तबन्धः नहीं। [अनुवृत्ति न होने पर यह सामान्य किसी भी पूर्वपद में कार्य कर सकेगा। परन्तु आगे 'नेन्सिद्ध...' (६.३.१९) में अलुक् का निषेध कहा है। यहाँ यह विषयविभाजन स्पष्ट नहीं हो सकेगा कि कहाँ यह सूत्र लगेगा कहाँ नेन्सिद्ध... सूत्र। अस्पष्टता की दशा में यह अस्वाङ्ग में लग सकता है, स्वाङ्ग में अग्रिम निषेध सूत्र। इस स्थिति में हस्तेबन्धः, हस्तबन्धः विकल्प सिद्ध नहीं हो सकेगा।]

यह दोष नहीं है। सभी उदाहरणों में उत्तरपदाधिकार में 'तत्पुरुषे कृति...' की प्राप्ति में 'नेन्सिद्ध...' से प्रतिषेध कहा है। अतः उससे नित्य प्राप्त होने पर इस विकल्प का आरम्भ है। ['नेन्सिद्ध...' सूत्र में केवल 'बन्ध' क्रिया का प्रयोग होने से 'चक्रबन्धनम्' इत्यादि में 'अन' इत्यादि किसी भी प्रत्यय के होने पर निषेध की प्राप्ति है। उसके द्वारा सर्वत्र नित्य निषेध की प्राप्ति में 'बन्ध' रूप होने पर इससे विकल्पविधान है।]

फिर भी [दोनों सूत्रों में एक ही धातु का निर्देश होने से] यह ज्ञात नहीं होता कि किस विषय में विकल्प, किस विषय में प्रतिषेध होता है। [समाधान-] यहाँ घञन्त बन्ध का ग्रहण है। प्रतिषेध में धातुग्रहण। अतः घञन्त में विकल्प होगा, अन्यत्र प्रतिषेध।

तत्पुरुषे कृति बहुलम्॥ ६.३.१४॥

तत्पुरुषे कृति बहुलमकर्मधारये॥ १॥

तत्पुरुषे कृति बहुलमित्यत्राकर्मधारय इति वक्तव्यम्। इह मा भूत्—परमे कारके परमकारक इति॥ तत्तर्हि वक्तव्यम्? न वक्तव्यम्। बहुल-वचनान्न भविष्यति॥

अथ किमर्थं लुगलुगनुक्रमणं क्रियते, न 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इत्येव सिद्धम्?

लुगलुगनुक्रमणं बहुलवचनस्याकृत्स्नत्वात्॥ २॥

लुगलुगनुक्रमणं क्रियतेऽकृत्स्नं बहुलवचनमिति॥ यद्यकृत्स्नं बहुलवचनम्,

---

विवरण—यहाँ स्वाङ्ग की अनुवृत्ति नहीं है। इस दशा में यह विषय-विभाजन नहीं कि अस्वाङ्ग में विकल्प, स्वाङ्ग में प्रतिषेध। अपितु समुचित विषय-विभाजन यह है कि 'बन्ध' घञन्त उत्तरपद होने पर विकल्प, चाहे पूर्वपद स्वाङ्ग हो या अस्वाङ्ग। अन्य प्रत्ययान्त में प्रतिषेध। इससे चक्रेबन्धः,चक्रबन्धः, हस्तेबन्धः, हस्तबन्धः दोनों में इससे विकल्प की सिद्धि होती है। 'नेन्सिद्ध...' की प्रवृत्ति चक्रबन्धः इत्यादि में होती है।

इस प्रकार महाभाष्यकार के मत में तत्पुरुष में 'नेन्सिद्ध...' की अवश्य निषेध की प्राप्ति में यह एक पक्ष में विकल्प करता है। काशिकाकार ने इससे कुछ भिन्न मत स्थिर किया है।

तत्पुरुषे कृति बहुलम्॥

वा०—'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' यह अकर्मधारय में।

भा०—'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इस सूत्र के साथ कर्मधारय में नहीं, यह कहना चाहिये। यहाँ [अलुक्] न हो—परमे कारके परमकारके। तो फिर कहा जावे? नहीं कहना चाहिये। 'बहुल' कहने से नहीं होगा।

अच्छा, [यहाँ 'परमकारके' में लुक् होगा, 'स्तम्बेरमः' में अलुक् होगा] इत्यादि लुक्, अलुक् का विधान क्यों किया है, क्या 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' से ही सिद्ध नहीं हो जाएगा?

वा०—लुक्, अलुक् का अनुक्रमण, बहुल ग्रहण के अकृत्स्न होने से।

भा०—लुक्, अलुक् का अनुक्रमण करते हैं, बहुल-वचन के [विषय-विभाग सहित] व्यापक न होने से।

यदि बहुल वचन व्यापक नहीं है, तब तो बहुल-वचन के द्वारा जो भी

यदनेन कृतमकृतं तत्? एवं तर्हि न ब्रूमोऽकृत्स्नमिति। कृत्स्नं च, कारकं च, साधकं च, निर्वर्तकं च। यदनेन कृतं सुकृतं तत्। किमर्थं तर्हि लुगलुगनुक्रमणं क्रियते? उदाहरणभूयस्त्वात्। ते वै खल्वपि विधयः सुपरिगृहीता भवन्ति, येषां लक्षणं प्रपञ्चश्च। केवलं लक्षणं केवलः प्रपञ्चो वा न तथा कारकं भवति॥ अवश्यं खल्वप्यस्माभिरिदं वक्तव्यं बहुलम्, अन्यतरस्याम्, उभयथा, एकेषामिति। सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्। तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम्॥

सम्पादनीय रहा, वह असम्पादित हो गया। अच्छा तो फिर, यह नहीं कहते कि [यह बहुलवचन] अव्यापक या अपरिपूर्ण है। वास्तव में यह पूर्ण है, व्यापक है, साधक है, निष्पादक है। जो भी बहुल ग्रहण से निष्पाद्य है, वह सब निष्पादित है।

तो फिर लुक्, अलुक् अनुक्रमण किसलिये है? उदाहरणों के अनेक [भिन्न-भिन्न प्रकार वाले] होने से। वे [शब्दानुशासन] विधियाँ आसानी से बोधगम्य होती हैं, जिनमें सूत्रप्रयुक्त नियम तथा उनके विस्तारस्वरूप उदाहरण दोनों होते हैं। केवल नियम तथा केवल उदाहरण उतने उपयोगी नहीं होते। हमें [उदाहरणों की विविधता के आधार पर] बहुल, अन्यतरस्याम्, उभयथा, एकेषाम् आदि का प्रयोग अवश्य ही करना होगा। यह सभी वेदों के प्रति समान रूप से या अविशिष्ट या साधारण रीति से अन्वित होने वाला शास्त्र है। अतः उसमें केवल एक उपाय का उपयोग नहीं किया जा सकता।

विशेष—'सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्' यह पाणिनीय शब्दानुशासन शास्त्र की सम्पूर्ण वेदों के साथ अन्विति को प्रकट करने वाला परम-रमणीय वचन है। वास्तव में इस शास्त्र की अनेक विशेषताओं में से एक यह है कि यह सकल-लोक-वेद-साधारण होने के साथ-साथ सकल-वेद-साधारण भी है। इन सभी शास्त्रों की अतिविशाल शब्दराशि को एक साथ 'मुष्टिबन्धं बद्धः' प्रदान करने वाला शास्त्र पाणिनि के पूर्व विकसित नहीं हो सका था।

यहाँ 'पारिषद' शब्द 'परिषदि भवम्' विग्रह के अनुसार 'तत्र भवः' (४.३.५३) से अण् प्रत्यय होकर विकसित है। इसका अर्थ 'सभा में होने वाले सदस्य' है। क्योंकि सभा के सदस्य आपस में एक-दूसरे से अविशिष्ट होते हैं अतः यहाँ 'पारिषद' शब्द का लक्षणा से 'साधारण' अर्थ है। यह शास्त्र का विशेषण है। यदि 'पारिषद' शब्द का प्रातिशाख्य अर्थ स्वीकार करें तो इसे विशेषण वाचक बनाने के लिये तत्सादृश्य में लक्षणा माननी होगी—सभी वेदों के प्रातिशाख्य के समान शास्त्र।

प्राचीन काल में वेद के एक चरण की सभी शाखाओं के लिये एक प्रातिशाख्य थे। यह शास्त्र उन सभी प्रातिशाख्यों का समाहार उपस्थित करता है। यही इसकी विशिष्टता है।

षष्ठ्या आक्रोशे॥ ६.३.२१ ॥

षष्ठीप्रकरणे वाग्दिक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेषूपसंख्यानम्॥ १॥

षष्ठीप्रकरणे वाग्दिक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेषूपसंख्यानं कर्तव्यम्। वाचोयुक्तिः, दिशोदण्डः, पश्यतोहरः॥

आमुष्यायणामुष्यपुत्रिकेत्युपसंख्यानम्॥ २॥

आमुष्यायणामुष्यपुत्रिकेत्युपसंख्यानं कर्तव्यम्। आमुष्यायणः, आमुष्य-पुत्रिका॥ आमुष्यकुलिकेति च वक्तव्यम्। आमुष्यकुलिका॥

देवानांप्रिय इति च॥ ३॥

देवानांप्रिय इति चोपसंख्यानं कर्तव्यम्। देवानांप्रियः॥

षष्ठ्या आक्रोशे॥

वा०—षष्ठी प्रकरण में वाक्, दिक्, पश्यत् से युक्ति, दण्ड, हर में उपसङ्ख्यान।

भा०—षष्ठी प्रकरण में वाक्, दिक्, पश्यत् से उत्तर क्रमशः युक्ति, दण्ड, हर परे होने पर [अलुक् का] उपसङ्ख्यान करना चाहिये। वाचोयुक्तिः, दिशोदण्डः, पश्यतोहरः ['पश्यन्तम् अनादृत्य हरति' इस विग्रह के अनुसार 'नन्दिग्रहि...' (३.१.१३४) सूत्र से कर्ता में अच् प्रत्यय तथा उपपद में 'षष्ठी चानादरे' (२.३.३८) सूत्र से षष्ठी।]

वा०—आमुष्यायण, आमुष्यपुत्रिका, इनका उपसङ्ख्यान।

भा०—इन शब्दों का उपसङ्ख्यान करना चाहिये। ['अमुष्य अपत्यम्' विग्रह के अनुसार 'नडादिभ्यः फक्' (४.१.९९) से फक् होकर आमुष्यायणः। 'अमुष्य पुत्रस्य भावः' विग्रह के अनुसार 'द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च' (५.१.१३३) से वुञ् होकर आमुष्यपुत्रिका।] आमुष्यकुलिका भी कहना चाहिये। आमुष्यकुलिका।

वा०—देवानांप्रिय यह भी।

भा०—देवानांप्रियः में भी [षष्ठी के अलुक् का] उपसङ्ख्यान करना चाहिये। ['देवानांप्रिय' यह षष्ठी समास के पश्चात् अलुक् होने से सम्पूर्ण एक ही पद है। इस शब्द का मूल अथवा मुख्य अर्थ 'देवताओं का प्रिय' यह है। क्योंकि 'देव' शब्द नियमित रूप से दिव्य गुण-सम्पन्न का वाचक है। अतः उनका प्रिय अवश्य ही उत्तम पुरुष होगा। पुनरपि महाभाष्यकार ने २.४.५६ सूत्र में इस शब्द का मूर्ख अर्थ में प्रयोग किया है। अतः यह भाषा-विज्ञान के अर्थातिदेश का पक्का उदाहरण है। इतिहास तथा भाषाविशारदों ने इस परिवर्तन के कारण के रूप में वैदिक बौद्ध संस्कृतियों के विरोध की चर्चा की है, जो कि अन्य अनेक उपायों से प्रमाणित है।]

शेपपुच्छलाङ्गूलेषु शुनः संज्ञायाम्॥ ४॥

शेपपुच्छलाङ्गूलेषु शुनः संज्ञायामुपसंख्यानं कर्तव्यम्। शुनःशेपः, शुनःपुच्छः, शुनोलाङ्गूलः॥

दिवश्च दासे॥ ५॥

दिवश्च दास उपसंख्यानं कर्तव्यम्। दिवोदासाय गायत॥

ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः॥ ६.३.२३॥

विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यस्तत्पूर्वपदोत्तरपदग्रहणम्॥ १॥

विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यस्तत्पूर्वपदोत्तरपदग्रहणं कर्तव्यम्। विद्यासम्बन्धेभ्यो विद्यासम्बन्धेषु यथा स्यात्। योनिसम्बन्धेभ्यो योनिसम्बन्धेषु यथा स्यात्। व्यतिकरो मा भूत्॥ अथैषां व्यतिकरेण भवितव्यम्? बाढं भवितव्यम्। होतुः पुत्रः, पितुरन्तेवासी॥

वा०—शेप, पुच्छ, लाङ्गूल परे होने पर 'श्वन्' का संज्ञा में उपसङ्ख्यान।

भा०—शेप, पुच्छ, लाङ्गूल परे होने पर संज्ञा में श्वन् शब्द की [षष्ठी विभक्ति के] अलुक् का उपसङ्ख्यान करना चाहिये। शुनःशेपः....[ये ऋषियों की संज्ञाएँ हैं।]

वा०—दिव् से दास में।

भा०—दास परे होने पर दिव् [शब्द की षष्ठी विभक्ति के अलुक्] का उपसङ्ख्यान करना चाहिये। दिवोदासाय गायत।

ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः॥

वा०—विद्यायोनि सम्बन्ध से तत्पूर्वपदोत्तर-ग्रहण।

भा०—विद्यायोनि सम्बन्ध से उत्तर वही पूर्वपद तथा उत्तरपद ग्रहण करना चाहिये। विद्या सम्बन्ध से उत्तर विद्यासम्बन्ध परे रहने पर हो, योनिसम्बन्ध से उत्तर योनिसम्बन्ध परे रहने पर हो। व्यतिकर अर्थात् विपरीत न हो। [विद्यासम्बन्ध से उत्तर विद्यायोनिसम्बन्ध से भिन्न के परे रहने पर न हो। इसी प्रकार योनिसम्बन्ध से उत्तर विद्यायोनिसम्बन्ध से भिन्न के परे रहने पर न हो। अतः विद्यायोनिसम्बन्धातिरिक्त सम्बन्ध में निवारण है। इससे पितृधनम्, होतृगृहम् आदि में नहीं होता।]

परन्तु क्या इन [विद्या, योनि का परस्पर] व्यतिकर हो सकता है? अवश्य हो सकता है। [अतः विद्या सम्बन्ध से योनिसम्बन्ध परे रहने पर अथवा योनिसम्बन्ध से विद्यासम्बन्ध परे रहने पर अलुक् होता ही है।] होतुःपुत्रः, पितुरन्तेवासी।

आनङृतो द्वन्द्वे ॥ ६.३.२५ ॥

क्वायं नकारः श्रूयते? न क्वचिच्छ्रूयते, लोपोऽस्य भवति—'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८.२.७) इति। यदि न श्रूयते, किमर्थमुच्चार्यते? रपरत्वं मा भूदिति॥ क्रियमाणेऽपि वै नकारे रपरत्वं प्राप्नोति? किं कारणम्? नलोपे कृत एषोऽपि हि उः स्थानेऽण् शिष्यते? नैष दोषः। उः स्थानेऽण्प्रसज्यमान एव रपरो भवतीत्युच्यते, न चायमुः स्थानेऽणेव शिष्यते। किं तर्हि? अण्चानण्च॥

कथं पुनरिदं विज्ञायते? ऋकारान्तानां यो द्वन्द्वः, आहोस्विद् द्वन्द्वे ऋकारान्तस्येति? कश्चात्र विशेषः?

ऋकारान्तानां द्वन्द्वे पुत्र उपसंख्यानम्॥ १॥

ऋकारान्तानां द्वन्द्वे पुत्र उपसंख्यानं कर्तव्यम्। पितापुत्रौ॥

कार्यी चानिर्दिष्टः॥ २॥

आनङृतो द्वन्द्वे ॥

भा०—इस [आनङ् के] नकार का कहाँ श्रवण होता है? [समाधान-] कहीं भी श्रवण नहीं होता। इसका [होतापोतारौ आदि में] 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से लोप हो जाता है। यदि कहीं श्रवण नहीं होता तो [आनङ् आदेश में] नकार का उच्चारण क्यों किया जाता है? ['उरण् रपरः' (१.१.५१) सूत्र से] रपरत्व न हो। नकार [सहित आदेश] करने पर भी रपरत्व पाता है। क्या कारण है? नलोप करने पर यहाँ भी ऋकार के स्थान में अण् [आकार] ही शासित होता है। यह दोष नहीं है। [वहाँ सूत्रार्थ यह है कि] ऋकार के स्थान में अण् प्रसज्यमान होता हुआ ही रपर होता है। [यहाँ पर सूत्र की प्रवृत्ति होते समय] ऋकार के स्थान में केवल अण् ही शासित नहीं होता। तो फिर क्या? अण् तथा अनण् दोनों। [इस प्रकार नकार सहित आदेश का उच्चारण सार्थक है तथा दोषविरहित भी।]

[प्रसङ्गान्तर-] यहाँ किस प्रकार समझा जाता है—ऋकारान्तों का जो द्वन्द्व [इस पक्ष में द्वन्द्व समास के सभी पद ऋकारान्त होंगे] अथवा द्वन्द्व में जो ऋकारान्त? [इस पक्ष में द्वन्द्व का एक पूर्वपद ऋकारान्त हो सकता है।] इसमें क्या विशेष है?

वा०—ऋकारान्त के द्वन्द्व में पुत्र में उपसङ्ख्यान।

भा०—'ऋकारान्तों के द्वन्द्व' इस पक्ष में पुत्र परे रहने पर उपसङ्ख्यान करना चाहिये। पितापुत्रौ। [यहाँ पुत्र ऋकारान्त नहीं है।]

वा०—कार्यी भी अनिर्दिष्ट।

कार्यी चानिर्दिष्टो भवति। ऋकारान्तानां द्वन्द्वे न ज्ञायते कस्यानङ्भवितव्यमिति॥ अस्तु तर्हि द्वन्द्व ऋकारान्तस्येति।

अविशेषेण पितृपितामहादिष्वतिप्रसङ्गः॥ ३॥

अविशेषेण पितृपितामहादिष्वतिप्रसङ्गो भवति। पितृपितामहाविति॥ अस्तु तर्ह्यृकारान्तानां यो द्वन्द्व इति। ननु चोक्तमृकारान्तानां द्वन्द्वे पुत्र उपसंख्यानमिति। नैष दोषः। पुत्रग्रहणमपि प्रकृतमनुवर्तते। क्व प्रकृतम्? 'पुत्रेऽन्यतरस्याम्' (२२) इति। यदि तदनुवर्तते 'विभाषा स्वसृपत्योः' (२४) पुत्रे चेति पुत्रेऽपि विभाषा प्राप्नोति? नैष दोषः। सम्बन्धमनुवर्तिष्यते। 'षष्ठ्या आक्रोशे' (२१) 'पुत्रेऽन्यतरस्याम्' (२२) 'षष्ठ्या आक्रोशे'। 'ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः' (२३) पुत्रेऽन्यतरस्यां षष्ठ्या आक्रोशे। 'विभाषा स्वसृपत्योः' (२४) पुत्रेऽन्यतरस्यां षष्ठ्या आक्रोशे। 'आनङृतो द्वन्द्वे'। पुत्रग्रहणमनुवर्तते, षष्ठ्या आक्रोश इति निवृत्तम्॥ यदुप्यच्यते कार्यी चानिर्दिष्ट इति कार्यी च निर्दिष्टः। कथम्? उत्तरपद

भा०—कार्यी भी अनिर्दिष्ट होता है। 'ऋकारान्तों का द्वन्द्व' कहने पर ज्ञात नहीं होता कि किस [ऋकारान्त] को आनङ् होना है।

अच्छा तो फिर 'द्वन्द्व में जो ऋकारान्त' पक्ष होवे।

वा०—सामान्यतः 'पितृपितामह' आदि में अतिप्रसङ्ग।

भा०—सामान्यः [किसी भी अन्त वाला उत्तरपद होने पर] 'पितृपितामह' आदि में [आनङ् का] अति प्रसङ्ग होगा। पितृपितामहौ।

अच्छा तो फिर ऋकारान्तों का जो द्वन्द्व। इस पर तो पूर्वोक्त दोष है? यह दोष नहीं है। 'पुत्र' ग्रहण भी प्रकृत अनुवृत्त है। कहाँ से प्रकृत है? 'पुत्रेऽन्यतरस्याम्' सूत्र से। यदि उसकी अनुवृत्ति है तो [अग्रिम सूत्र में भी अनुवृत्त होने से] 'विभाषा स्वसृपत्योः' सूत्र में 'पुत्रे' की अनुवृत्ति के अनुसार पुत्र परे रहने पर भी विकल्प पाता है।

यह दोष नहीं है, सम्बन्ध का अनुवर्तन करेंगे। 'षष्ठ्या आक्रोशे' [के पश्चात्] 'पुत्रेऽन्यतरस्याम्' में षष्ठ्या आक्रोशे [की अनुवृत्ति]। 'ऋतो विद्यायोनि...' सूत्र में पुत्रेऽन्यतरस्याम्, षष्ठ्या आक्रोशे [दोनों की अनुवृत्ति।] विभाषा स्वसृपत्योः में भी पुत्रेऽन्यतरस्याम्, षष्ठ्या आक्रोशे। आनङ् ऋतो द्वन्द्वे यहाँ केवल 'पुत्रे' की अनुवृत्ति होगी। 'षष्ठ्या आक्रोशे' निवृत्त हो गया। [इस प्रकार विभाषा स्वसृपत्योः में 'पुत्रे' का आक्रोश के साथ सम्बन्ध होने से वह स्वसृ, पति से सम्बन्धित नहीं होगा। पर आनङ् ऋतो...में केवल 'पुत्रे' शब्द सम्बन्धित हो सकेगा।]

यह जो कहा है कि कार्यी अनिर्दिष्ट है। कार्यी भी निर्दिष्ट हो सकेगा। किस

इति वर्तते। ङिच्चायं क्रियते। सोऽन्तरेणापि कार्यिनिर्देशमृकारान्तस्यैव भविष्यति॥ पुत्रे तर्हि कार्य्यनिर्दिष्टः। पुत्रे च कार्यी निर्दिष्टः। कथम्? ऋकार-ग्रहणमपि प्रकृतमनुवर्तते। क्व प्रकृतम्? 'ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः' इति। तद्वै पञ्चमीनिर्दिष्टम्, षष्ठीनिर्दिष्टेन चेहार्थः? पुत्र इत्येषा सप्तमी ऋत इति पञ्चम्याः षष्ठीं प्रकल्पयिष्यति 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (१.१.६६) इति॥

देवताद्वन्द्वे च॥ ६.३.२६॥

देवताद्वन्द्व उभयत्र वायोः प्रतिषेधः॥ १॥

देवताद्वन्द्व उभयत्र वायोः प्रतिषेधो वक्तव्यः। वाय्वग्नी, अग्निवायू॥

ब्रह्मप्रजापत्यादीनां च॥ २॥

ब्रह्मप्रजापत्यादीनां च प्रतिषेधो वक्तव्यः। ब्रह्मप्रजापती, शिववैश्रवणौ, स्कन्दविशाखौ॥ तत्तर्हि वक्तव्यम्? न वक्तव्यम्। द्वन्द्व इति वर्तमाने पुनर्द्वन्द्वग्रहणस्यैतत्प्रयोजनं लोकवेदयोर्यो द्वन्द्वस्तत्र यथा स्यात्। कश्च

प्रकार? उत्तरपदे की अनुवृत्ति है। [अतः उत्तरपद परे रहने पर पूर्वपद को आनङ् होगा।] इस [आदेश को] ङित् कहा गया है। अतः कार्यी निर्देश के बिना भी ऋकारान्त [षष्ठ्यन्त के अन्तिम अक्षर को ही 'ङिच्च' (१.१.५३) सूत्र से] होगा।

अच्छा तो फिर पुत्र परे रहने पर कार्यी अनिर्दिष्ट है। [क्योंकि प्रस्तुत सूत्र के 'ऋतः' का 'उत्तरपदे' के साथ सम्बन्ध है।] पुत्र परे रहने पर भी कार्यी निर्दिष्ट है। किस प्रकार? ऋकार ग्रहण भी प्रकृत अनुवृत्त है। कहाँ से प्रकृत है? 'ऋतो विद्यायोनि...' सूत्र से। वह तो पञ्चमीनिर्दिष्ट है, यहाँ षष्ठी निर्दिष्ट का उपयोग है। 'पुत्रे' यह सप्तमी 'ऋतः' इस पञ्चमी को षष्ठी में बदल लेगी। 'तस्मिन्निति...' सूत्र से। [सूत्र का अर्थ होगा—सप्तमी का प्रयोग होने पर पूर्व का पद षष्ठी रूप में प्रकल्पित होता है।]

देवताद्वन्द्वे च॥

वा०—देवताद्वन्द्व में दोनों ओर वायु का प्रतिषेध।

भा०—देवताद्वन्द्व में वायु का दोनों ओर [चाहे वायु पूर्वपद में हो या उत्तरपद में, आनङ् का] प्रतिषेध करना चाहिये। वाय्वग्नी, अग्निवायू।

वा०—ब्रह्मप्रजापती आदि का भी।

भा०—ब्रह्मप्रजापती आदि का भी प्रतिषेध कहना चाहिये। ब्रह्मप्रजापती...।

तो फिर इसे कहा जावे? नहीं कहना चाहिये। 'द्वन्द्वे' के अनुवृत्त होने पर फिर भी द्वन्द्व ग्रहण का प्रयोजन है—लोक वेद में [प्रसिद्ध] जो द्वन्द्व समास है,

लोकवेदयोर्द्वन्द्वः ? वेदे ये सहनिर्वापनिर्दिष्टाः, न चैते वेदे सहनिर्वापनिर्दिष्टाः ॥

इद्वृद्धौ ॥ ६.३.२८ ॥

इद्वृद्धौ विष्णोः प्रतिषेधः ॥ १ ॥

इद्वृद्धौ विष्णोः प्रतिषेधो वक्तव्यः । आग्नावैष्णवं एकादशकपालं[1] निर्वपेत् (मै०सं० १.४.१४)॥

मातरपितरावुदीचाम् ॥ ६.३.३२ ॥

पितरामातरा च च्छन्दसि ॥ ६.३.३३ ॥

किं निपात्यते ? पूर्वपदोत्तरपदयोर्ऋकारस्यारारौ निपात्येते । मातरपितरौ भोजय । मातरपितरावानय । आ मा गन्तां पितरामातरा चा मा सोमो अमृतत्वेन गम्यात् (मा०सं० ९.१९)॥

इति पातञ्जलमहाभाष्ये षष्ठाध्यायस्य तृतीयपादे प्रथममाह्निकम् ॥

वहाँ होवे । लोक, वेद में द्वन्द्व कौन होते हैं ? वेद में जिन देवताओं का एक साथ निर्वाप= आहुति प्रदान निर्दिष्ट है वे प्रसिद्ध द्वन्द्व कहे जाएंगे । [जैसे वेद में 'इन्द्रावरुणाभ्यां जुष्टं निर्वपामि' इत्यादि वाक्यों से दो देवताओं के लिए साथ निर्वाप कहा है । यहाँ ऐसे देवताद्वन्द्व अभिप्रेत हैं ।]

इद्वृद्धौ ॥

वा०—'इद्वृद्धौ' में विष्णु का प्रतिषेध ।

भा०—कृतवृद्धि वाले उत्तरपद के प्रसङ्ग में विष्णु [उत्तरपद] का प्रतिषेध कहना चाहिये । आग्नावैष्णवं... । [यहाँ कृतवृद्धि वैष्णव उत्तरपद होने पर अग्नि को इकार नहीं होता ।]

मातरपितरावुदीचाम् ॥

पितरामातरा च च्छन्दसि ॥

भा०—यहाँ क्या निपातित है ? पूर्वपद तथा उत्तरपद के होने पर [पूर्वोत्तरपदयोः सप्तम्यन्त है ।] [पूर्वपद के अन्तिम] ऋकार को क्रमशः अर, अरा, आदेश निपातित हैं । मातरपितरौ भोजय । [इस प्रकार अर्थ होने से भ्याम् आदि परे होने पर भी उत्तरपद के ऋकार को अर न होने से 'मातरपितृभ्याम्' बनेगा, 'मातरपितराभ्याम्' नहीं ।

---

१. 'चरुम्' इति मुद्रितेषु पाठः ।

स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु॥ ६.३.३४॥

भाषितपुंस्कादिति कथमिदं विज्ञायते—समानायामाकृतौ यद्भाषितपुंस्कमाहोस्वित् क्वचिद्यद्भाषितपुंस्कमिति? किं चातः? यदि विज्ञायते—समानायामाकृतौ यद्भाषितपुंस्कमिति गर्भिभार्यः, प्रजातभार्यः, प्रसूतभार्य इत्यत्र न प्राप्नोति। अथ विज्ञायते—क्वचिद्यद्भाषितपुंस्कमिति द्रोणीभार्यः, कुटीभार्यः, पात्रीभार्य अत्रापि प्राप्नोति॥

स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे...॥

भा०—यहाँ 'भाषितपुंस्कात्' को किस प्रकार समझा गया है—समान आकृति अर्थात् समान प्रवृत्तिनिमित्त में जो भाषितपुंस्क अथवा कहीं भी जो भाषितपुंस्क।

विवरण—'भाषितपुंस्कात्' में बहुव्रीहि समास होने से १. 'भाषितः पुमान् यस्मिन् अर्थे' अथवा २. 'भाषितः पुमान् येन शब्देन' इस प्रकार क्रमशः सप्तमी तथा तृतीया अन्य पदार्थ में विग्रह हो सकते हैं। प्रथम विग्रह के अनुसार जिस प्रवृत्तिनिमित्त में अथवा जिस अर्थ में किसी शब्द ने पुल्लिङ्ग को प्राप्त किया था, ठीक उसी अर्थ में वह स्त्रीलिङ्गता को धारण करे तभी पुंवत् होगा। द्वितीय विग्रह के अनुसार अन्य अर्थ में पुंल्लिङ्ग शब्द अन्य अर्थ में स्त्रीलिङ्ग में परिचालित होने पर भी पुंवत्त्व को प्राप्त कर सकता है।

इससे क्या? यदि प्रथम पक्ष के अनुसार समान प्रवृत्तिनिमित्त में जो भाषितपुंस्क, यह अर्थ समझा जाता है तो गर्भिभार्यः, प्रसूतभार्यः आदि में [पुंवत्त्व] प्राप्त नहीं होता।

विवरण—'गर्भिभार्यः' का विग्रह 'गर्भिणी भार्या यस्य' यह है। पुंल्लिङ्ग 'गर्भी व्रीहिः' आदि प्रयोगों में 'गर्भी' शब्द गर्भ अर्थात् बीज वाले व्रीहि को प्रकट करता है, जिसमें बीज की उस व्रीहि के अवयव के रूप में पृथक् सत्ता है। पर 'गर्भिणी' शब्द में गर्भ शब्द उसके शिशु तथा उदर को तादात्म्य रूप में प्रकट करता है। इस प्रकार शिशु तदात्म उदर वाली को गर्भिणी कहा है। अतः यहाँ दोनों लिङ्गों में अर्थभेद है।

इसी प्रकार 'प्रसूता' शब्द प्रसव करने वाली स्त्री के लिये, पर पुंल्लिङ्ग 'प्रसूत' शब्द इस प्रकार की स्त्री वाले पुरुष के लिये प्रयुक्त होता है। इन उदाहरणों में 'पुंल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग' में अर्थभेद होने से पुंवद्भाव प्राप्त नहीं होता।

भा०—यदि यह माना जाता है कि पुंल्लिङ्ग कहे गये स्त्री शब्द किसी भी अर्थ में होने पर भी भाषितपुंस्क हैं, तो द्रोणीभार्यः...आदि में भी [पुंवद्भाव] प्राप्त होता है।

विवरण—'द्रोण' शब्द परिमाण वाचक नापने का एक पात्र था, जिसमें भर कर गेहूँ आदि को नापा जाता था। उसके आकार वाली गायों की नाँद को द्रोणी

अस्तु समानायामाकृतौ यद्भाषितपुंस्कमिति। कथं गर्भिभार्यः, प्रजातभार्यः, प्रसूतभार्य इति? कर्तव्योऽत्र यत्नः॥

अथ किमर्थमूङः पृथक्प्रतिषेध उच्यते, न यत्रैवान्यः प्रतिषेधस्तत्रैवायमप्युच्येत? 'न कोपधायाः' (३७) इत्युक्त्वा तत ऊङश्चेत्युच्येत? तत्रायमप्यर्थो द्विः प्रतिषेधो न वक्तव्यो भवति॥ नैवं शक्यम्। पठिष्यति ह्याचार्यः— पुंवत्कर्मधारये प्रतिषिद्धार्थमिति। स पुंवद्भावो यथेह भवति— कारिका वृन्दारिका कारकवृन्दारिकेति, एवमिहापि स्यात्—ब्रह्मबन्धूर्वृन्दारिका ब्रह्मबन्धूवृन्दारिकेति॥ अथ पृथक्प्रतिषेधेऽप्युच्यमाने यावता स प्रतिषिद्धार्थ

कहा जाता था। यहाँ पुंल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग द्रोण, द्रोणी शब्द भिन्नार्थक हैं। फिर भी इस पक्ष में पुंवत् की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार कुट पुंल्लिङ्ग शब्द घट अर्थ में है, परन्तु स्त्रीलिङ्ग कुटी घर अर्थ में है। पात्र शब्द नापने के लिये विशेष बर्तन अर्थ में पुंल्लिङ्ग है। पर खाने के लिए एक अलग प्रकार के विशेष बर्तन के लिये स्त्रीलिङ्ग है।

भा०—अच्छा तो फिर, 'समानायामाकृतौ...' यह प्रथम पक्ष मान्य होवे। तो फिर गर्भिभार्यः...आदि किस प्रकार सिद्ध होंगे? समाधान—इसके लिये ऐसा कोई विशेष प्रयत्न करना चाहिये। [जिससे स्त्रीलिङ्ग शब्द समान प्रवृत्तिनिमित्त में भाषितपुंस्क कहा जा सके।

विवरण—'गर्भी' शब्द 'बीजरूपी गर्भ वाला' अर्थ रखता है। 'गर्भिणी' शब्द भी 'उदर वाली' अर्थ में प्रयुक्त है। यहाँ तक दोनों में समानता है। पर आगे 'बीज वाला' तथा 'शिशुतदात्म उदर वाली' इनमें अवान्तर भिन्नता है। इस प्रकार मूल समानता के आधार पर इसे समान आकृति में भाषितपुंस्क मान लिया जाएगा।

[प्रसङ्गान्तर] **भा०**—अच्छा यहाँ ऊङ् का अलग से प्रतिषेध क्यों किया गया है। जहाँ अन्य प्रतिषेध कहे गये हैं, वहाँ पर इसे क्यों न कह दिया जावे? 'न कोपधायाः' के पश्चात् 'ऊङश्च' इस प्रकार कह दिया जावे। इससे यह भी लाभ होगा कि दो बार प्रतिषेध वाचक शब्द के प्रयोग की आवश्यकता न होगी।

यह सम्भव नहीं है। आगे आचार्य कहेंगे—'पुंवत् कर्मधारय...' (६.३.४२) सूत्र कर्मधारय में ['न कोपधायाः' आदि के द्वारा] प्रतिषेध की प्राप्ति में [पुनः पुंवद्भाव] करने के लिये है। इससे जिस प्रकार 'कारकवृन्दारिका' में पुंवद्भाव हो जाता है। उसी प्रकार 'ब्रह्मबन्धूवृन्दारिका' में भी प्राप्त होने लगेगा। [इससे स्त्रीलिङ्ग वाचक प्रत्यय 'ऊङ्' का श्रवण नहीं हो सकेगा।]

अच्छा, यहाँ 'अनूङ्' इस प्रकार पृथक् प्रतिषेध करने पर भी जब ['पुंवत् कर्मधारय...' सूत्र] प्रतिषिद्ध के लिये आरम्भ है, तो यहाँ उससे [इस प्रतिषेध को

आरम्भः, कस्मादेवात्र न भवति? पृथक्प्रतिषेधवचनसामर्थ्यात्। अथवा-नूङिति तत्रानुवर्तिष्यते। अथवा नायं प्रसज्यप्रतिषेधः। किं तर्हि? पर्युदासोऽयं यदन्यदूङ इति। स च प्रतिषिद्धार्थ आरम्भः॥

किं पुनरिदं पुंवद्भावे स्त्रीग्रहणं प्रत्ययग्रहणमाहोस्वित्स्त्रीशब्दग्रहणमाहोस्वित् स्त्र्यर्थग्रहणम्? कश्चात्र विशेषः?

पुंवद्भावे स्त्रीग्रहणं प्रत्ययग्रहणं चेत्तत्र पुंवदित्युत्तरपदे तत्प्रतिषेधविज्ञानम्॥ १॥

पुंवद्भावे स्त्रीग्रहणं प्रत्ययग्रहणं चेत्तत्र पुंवदित्युत्तरपदे तत्प्रतिषेधो विज्ञायेत। कस्य? स्त्रीप्रत्ययस्य प्रतिषेधः॥ किमुच्यते स्त्रीप्रत्ययस्य प्रतिषेध

बाध कर विधान] क्यों नहीं हो जाता? ['अनूङ्' यह निषेध ब्रह्मबन्धूभार्यः में चरितार्थ है, अतः 'ब्रह्मबन्धूवृन्दारिका' इस कर्मधारय में 'अनूङ्' निषेध को बाधकर पुंवत्कर्मधारय से पुंवत् होना चाहिये।]

[समाधान-] अथवा यह प्रसज्य प्रतिषेध नहीं है। तो फिर क्या? पुर्यदास है, ऊङ् से भिन्न। और वह प्रतिषेध के लिये है।

विवरण—यहाँ पुर्यदास-पक्ष में भी इसे बाध कर 'पुंवत् कर्मधारय...' की प्राप्ति होती है। यदि इसके समाधान के लिये अनूङ् का अनुवर्तन करना पड़ा तो पूर्वोक्त समाधान से इसमें क्या भिन्नता है, यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसके समाधान के लिये महावैयाकरण नागेश का कहना है कि 'पुंवत् कर्मधारय...' में 'न' की अनुवृत्ति के द्वारा 'प्रतिषेध-विषय में पुंवत् का विधान' यह अर्थ होगा। 'अनूङ्' में पर्युदास होने पर शाब्द प्रतिषेध न होने की स्थिति में 'पुंवत् कर्मधारय...' कार्यशील नहीं होगा।

[प्रसङ्गान्तर] **भा०**—क्या यहाँ पुंवद्भाव के प्रकरण में स्त्री ग्रहण—स्त्रीप्रत्यय ग्रहण है या स्त्री-शब्द ग्रहण है, अथवा स्त्री-अर्थ ग्रहण है? इसमें क्या विशेष है?

विवरण—यदि स्त्री शब्द में स्वरित चिह्न है तो स्त्री अधिकार-विहित टाप् आदि प्रत्ययों का ग्रहण होगा। लक्षणा का प्रयोग करने पर स्त्री-अर्थ के वाचक शब्द का ग्रहण होगा। अन्य पक्ष में स्त्रीत्व अर्थ का ग्रहण होगा।

वा०—पुंवद्भाव में स्त्रीग्रहण स्त्रीप्रत्यय ग्रहण हो तो 'पुंवत्' यहाँ उत्तरपद में तत्प्रतिषेध-विज्ञान।

भा०—पुंवद्भाव में स्त्रीग्रहण स्त्रीप्रत्यय ग्रहण हो तो 'पुंवत्' इस विधान के समय उत्तरपद परे रहने पर उसका प्रतिषेध समझा जाएगा। किसका? स्त्रीप्रत्यय का। ['स्त्री प्रत्यय को पुँल्लिङ्ग के समान प्रत्यय का अभाव अतिदेश' यह अर्थ होगा। यहाँ 'स्त्री-प्रत्यय का प्रतिषेध' इतना ही क्यों कह रहे हैं। क्या पुंल्लिङ्ग को

इति, न पुनरन्यदपि किंचित्पुंसः प्रतिपदं कार्यमुच्यते यत्समानाधिकरण उत्तरपदे भाषितपुंस्कस्यातिदिश्येत? अनारम्भात्पुंसि। न हि किंचित्पुंसः प्रतिपदं कार्यमुच्यते यत्समानाधिकरण उत्तरपदे भाषितपुंस्कस्यातिदिश्येत! तत्र किमन्यच्छक्यं विज्ञातुमन्यदतः स्त्रीप्रत्ययप्रतिषेधात्? कथं पुनः पुंवदित्यनेन स्त्रीप्रत्ययस्य प्रतिषेधः शक्यो विज्ञातुम्? वतिनिर्देशोऽयं, कामचारश्च वतिनिर्देशे वाक्यशेषं समर्थयितुम्। तद्यथा—उशीनरवन्मद्रेषु यवाः। सन्ति, न सन्तीति। मातृवदस्याः कलाः। सन्ति, न सन्तीति। एवमिहापि पुंवद्भवति, पुंवन्न भवतीत्येवं वाक्यशेषं समर्थयिष्यामहे। यथा पुंसः स्त्रीप्रत्ययो न भवत्येवं समानाधिकरण उत्तरपदे भाषितपुंस्कस्य न भवतीति॥

अन्य कोई प्रतिपद कार्य नहीं कहा गया है, जिसको समानाधिकरण उत्तरपद परे रहने पर भाषितपुंस्क को अतिदिष्ट किया जावे?

पुंल्लिङ्ग में अनारम्भ होने से। पुंल्लिङ्ग को कोई प्रतिपद कार्य कहा ही नहीं गया। जिसको समानाधिकरण उत्तरपद परे रहने पर भाषितपुंस्क को अतिदिष्ट किया जावे। तो फिर और क्या समझा जा सकता है, सिवाय स्त्री-प्रत्यय के प्रतिषेध के?

यहाँ 'पुंवत्' कहने से स्त्री-प्रत्यय का प्रतिषेध किस प्रकार समझा जा सकता है? [समाधान-] यहाँ वतिनिर्देश है। वतिनिर्देश में स्वेच्छा पूर्वक वाक्य को समर्थित किया जा सकता है। जैसे 'उशीनर के समान मद्र देश में जौ' इस वाक्य में 'हैं या नहीं' दोनों समझे जा सकते हैं। 'माता के समान इसकी कला' यहाँ 'हैं या नहीं' दोनों अन्वित हो सकते हैं।

विशेष—मद्र देश प्राचीन शाकल (आधुनिक स्यालकोट-पाकिस्तान) की राजधानी थी। उशीनर देश इसी मद्र के दक्षिण में था। इसकी पहचान आधुनिक 'शोरकोट' से हुई है। (पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ० ६७)

भा०—इसी प्रकार यहाँ भी 'पुंल्लिङ्ग के समान नहीं होता', यह वाक्यशेष समर्थित करेंगे। जिस प्रकार पुंल्लिङ्ग में स्त्री-प्रत्यय नहीं होता, उस प्रकार उत्तरपद परे रहने पर भाषितपुंस्क को भी नहीं होता।

[इस पक्ष में दोष को इसके आगे प्रदान किया गया है—]

विशेष—वतिप्रत्ययान्त शब्द के साथ अस्ति, नास्ति दोनों प्रकार के अध्याहार की सम्भावना द्वारा आगे चलकर 'व्यतिरेकोपमा' का विकास हुआ था—

हरवन्न विषमदृष्टिर्हरिवन्न विभो विधूतविततवृषः

—काव्य-प्रकाश दशम उल्लास

हे राजन्, आप हर के समान विषमदृष्टि वाले नहीं हैं। हरि के समान वृषासुर को नष्ट करने वाले नहीं हैं। यहाँ उपमान में विद्यमान साधारण धर्म की उपमेय में अभाव की सूचना दी गई है।

प्रातिपदिकस्य च प्रत्यापत्तिः ॥ २ ॥

प्रातिपदिकस्य च प्रत्यापत्तिर्वक्तव्या। एनी भार्यास्य एतभार्यः। श्येतभार्यः। पुंवद्भावेन किं क्रियते? स्त्रीप्रत्ययस्य निवृत्तिः। अर्थोऽनिवृत्तः स्त्रीत्वं, तस्यानिवृत्तत्वात् केन नशब्दो न श्रूयते? स्त्रियामित्युच्यमानः प्राप्नोति॥

स्थानिवत्प्रसङ्गश्च॥ ३॥

स्थानिवद्भावश्च प्राप्नोति। पट्वी भार्यास्य पटुभार्यः, मृदुभार्यः। पुंवद्भावेन किं क्रियते? स्त्रीप्रत्ययस्य निवृत्तिः। तस्य स्थानिवद्भावाद्यणादेशः प्राप्नोति॥ किमर्थमिदमुभयमुच्यते, न प्रातिपदिकस्य च प्रत्यापत्तिरित्येव स्थानिवद्भावोऽपि चोदितः स्यात्? पुरस्तादिदमाचार्येण दृष्टं स्थानिवत्प्रसङ्गश्चेति तत्पठितम्। तत उत्तरकालमिदं दृष्टं प्रातिपदिकस्य च प्रत्यापत्तिरिति, तदपि पठितम्। न चेदानीमाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति॥

वतण्ड्यादिषु पुंवद्वचनम्॥ ४॥

वा०—प्रातिपदिक की प्रत्यापत्ति।

भा०—प्रातिपदिक की प्रत्यापत्ति कहनी होगी। एनी भार्या अस्य एतभार्यः, श्येनी भार्या अस्य श्येतभार्यः। [यहाँ वर्णवाचक एत, श्येत शब्दों से 'वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः' (४.१.३९) से ङीप् प्रत्यय तथा तकार के स्थान में नकार आदेश हुआ है।]

इस पक्ष में पुंवद्भाव द्वारा क्या किया जाता है? स्त्री-प्रत्यय की निवृत्ति। यहाँ अर्थ स्त्रीत्व तो अनिवृत्त ही रहा। उसके अनिवृत्त होने से नकार का श्रवण क्यों नहीं होगा? स्त्रीलिङ्ग में विहित नकार की उपस्थिति तो प्राप्त होती ही है।

वा०—स्थानिवत् प्रसङ्ग भी।

भा०—स्थानिवत्-प्रसङ्ग भी प्राप्त होता है। पट्वी भार्या अस्य पटुभार्यः। पुंवद्भाव से क्या किया जाता है? स्त्रीप्रत्यय का निवारण।

यहाँ पर इन दोनों [दोषों को] अलग-अलग क्यों कहा गया है? प्रातिपदिक की प्रत्यापत्ति के साथ ही स्थानिवद्भाव दोष को भी क्यों न कह दिया जावे? [समाधान-] आचार्य ने पहले 'स्थानिवत्-प्रसङ्ग' दोष को देखा, उसे [पश्चात् काल में] पढ़ दिया। उसके उत्तरकाल में इसे देखा—'प्रातिपदिकस्य प्रत्यापत्तिः' उसे [पहले] पढ़ दिया। अब आचार्य सूत्र-रचना के पश्चात् उसका निवारण नहीं करते।

वा०—वतण्ड्यादि में पुंवद्वचन।

वतण्ड्यादिषु पुंवद्भावो वक्तव्यः। के पुनर्वतण्ड्यादयः? लुगलुगस्त्रीविषयद्विस्त्रीप्रत्ययाः। लुक्—गार्ग्यो वृन्दारिका गर्गवृन्दारिकाः। पुंवद्भावेन किं क्रियते? स्त्रीप्रत्ययस्य निवृत्तिः। अर्थोऽनिवृत्तः स्त्रीत्वं, तस्यानिवृत्तत्वात्केन यशब्दो न श्रूयेत? अस्त्रियामिति हि लुगुच्यते। लुक्॥ अलुक्—वतण्डी वृन्दारिका वातण्ड्यवृन्दारिका। पुंवद्भावेन किं क्रियते? स्त्रीप्रत्ययस्य निवृत्तिः। अर्थोऽनिवृत्तः स्त्रीत्वं, तस्यानिवृत्तत्वाद् 'लुक्स्त्रियाम्' 'वतण्डाच्च' इति यकारस्य लुक्प्राप्नोति॥ यदि पुनरीकार एव लुगुच्येत! तदीकारग्रहणं कर्तव्यम्? न कर्तव्यम्। क्रियते न्यास एव। प्रश्लिष्टनिर्देशोऽयम्। स्त्री ई स्त्री, स्त्रियामिति॥ ईकारविधौ अप्रत्ययकस्य पाठः क्रियते। वतण्डेति।

भा०—'वतण्डी' आदि में भी पुंवद्भाव कहना चाहिये। वतण्डी आदि कौन है? लुक्, अलुक्, अस्त्रीविषय, द्विस्त्रीप्रत्यय [—ये कार्य वतण्डी आदि में यथेष्ट रूप से कार्यकारी नहीं हो पाते।]

लुक्—गार्ग्यो वृन्दारिकाः गर्गवृन्दारिकाः ['गार्गी' स्त्रीलिङ्ग शब्द का बहुवचन 'गार्ग्यः' है।] यहाँ पुंवद्भाव से क्या करते हैं? स्त्रीप्रत्यय की निवृत्ति। स्त्रीत्व अर्थ तो अनिवृत्त है। उसके अनिवृत्त होने से 'य' शब्द का श्रवण क्यों न हो? ['यञञोश्च' (२.४.६४) सूत्र से] अस्त्रीलिङ्ग में लुक् कहा है। ['गर्ग य ई जस् वृन्दारिका जस्' इस प्रकार विभज्यान्वाख्यान की स्थिति मान कर कह रहे हैं। यहाँ पुंवद्भाव होने से ईकार निवृत्त होगा। पर स्त्रीत्व के अनिवृत्त रहने से तद्धित यलुक् नहीं हो सकेगा। अतः तद्धितयकार का श्रवण होने से 'गार्ग्यवृन्दारिकाः' रूप की प्राप्ति होगी।]

अलुक्—'वतण्डी वृन्दारिका वातण्ड्यवृन्दारिका'। स्त्रीत्व अर्थ तो अनिवृत्त है। उसके अनिवृत्त होने से 'वतण्डाच्च' से सम्बन्धित 'लुक् स्त्रियाम्' (४.१.१०९) से यकार का लुक् प्राप्त होता है। [पुंवत् करने पर भी स्त्रीत्व अर्थ बना हुआ है। अतः स्त्रीत्व के आश्रित यकार के लुक् की प्राप्ति होती है।]

यदि ईकार परे रहने पर [यकार का] लुक् करें तो। [इस दशा में पुंवद्भाव से ईकार के निवृत्त होने पर प्रातिपदिक की प्रत्यापत्ति होने से यकार बने रहने से उसका श्रवण होगा।]

तो फिर ईकार-ग्रहण किया जावे? नहीं करना चाहिये। वह तो यथान्यास वर्तमान है। यह प्रश्लिष्ट निर्देश है—'स्त्री+ई=स्त्री—स्त्रियाम्' इस प्रकार। [इससे अर्थ होगा—स्त्रीलिङ्ग में जो ईकार, उसके परे रहने पर यकारलोप।]

[दोषदर्शक-] ईकार विधान करने वाले सूत्र ['शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्' (४.१.७३) में प्रत्यय-रहित पाठ किया है—'वतण्ड' इस प्रकार। [इस कृतयञ्लुक् 'वतण्ड' का पाठ करने से यञ्-लुक् के पश्चात् ही ङीन् हो सकेगा। साथ ही यहाँ 'लुक् स्त्रियाम्' में ईकार ग्रहण करने से ईकार आने के पश्चात् ही लुक् होगा। इस

शार्ङ्गरवादौ सप्रत्ययकस्य पाठः करिष्यते। स च सप्रत्ययकस्य पाठः कर्तव्यः। अन्तरङ्गत्वाच्च लुक् प्राप्नोति। अलुक्॥ अस्त्रीविषय—कौण्डीवृसी वृन्दारिका कौण्डीवृस्यवृन्दारिका। पुंवद्भावेन किं क्रियते? स्त्रीप्रत्ययस्य निवृत्तिः। अर्थोऽनिवृत्तः स्त्रीत्वं, तस्यानिवृत्तत्वात्केन यशब्दः श्रूयेत? अस्त्रियामिति हि ञ्यो विधीयते। अस्त्रीविषय॥ द्विस्त्रीप्रत्यय—गार्ग्यायणी वृन्दारिका, गार्ग्यवृन्दारिका, अत्र पुंवद्भावो न प्राप्नोति। किं कारणम्? भाषितपुंस्कादनूङः समानाधिकरण उत्तरपदे पुंवद्भावो भवतीत्युच्यते। यश्चात्र भाषितपुंस्कादनूङ् नासावुत्तरपदे, यश्चोत्तरपदे, नासौ भाषितपुंस्कात्परोऽनूङिति॥

प्रकार इतरेतराश्रय दोष होगा।]

[दोष-समाधान-] शाङ्र्गरवादि गण में सप्रत्ययक 'वातण्ड्य' का पाठ करेंगे। इससे इस दशा में ङीन् हो सकेगा।

[पुनः दोष-दर्शक-] तब तो फिर [पूर्व-पाठ को बदल कर] सप्रत्ययक का पाठ करना होगा। दूसरी बात यह कि अन्तरङ्ग होने से पुंवद्भाव से पहले लुक् की प्राप्ति होती है। [इस प्रकार यकार का लुक् पहले ही कर लेने पर पश्चात् ङीन् की पुंवद्भाव से निवृत्ति करने पर यकारविरहित प्रयोग प्राप्त होगा।]

अस्त्रीविषय—कौण्डीबृसी वृन्दारिका, कौण्डीबृस्यवृन्दारिका [इससे व्रात अर्थात् 'उत्सेधजीवी' लोगों के सङ्घ की किसी सुन्दर लड़की को कहा गया है। यहाँ पुंवद्भाव के पश्चात् 'कौण्डीबृस' बन जाने पर 'व्रातच्फञोरस्त्रियाम्' (५.३.११३) से ञ्य अभीष्ट है।] यहाँ पुंवद्भाव से क्या किया जाता है? स्त्रीप्रत्यय की निवृत्ति। परन्तु स्त्रीत्व अर्थ तो अनिवृत्त है—[सतत वर्तमान है।] उसके अनिवृत्त होने पर 'य' का श्रवण किस प्रकार होगा? क्योंकि [पूर्वोक्त सूत्र से] अस्त्रीलिङ्ग में 'ञ्य' प्रत्यय का विधान किया गया है।

द्विस्त्रीप्रत्यय—गार्ग्यायणी वृन्दारिका गार्ग्यवृन्दारिका। [यहाँ 'गार्ग्य' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'प्राचां ष्फस्तद्धितः' (४.१.१७) से ष्फ प्रत्यय हुआ है। तदन्त से 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (४.१.४१) से ङीष् है। यहाँ ष्फ प्रत्यय से अव्यवहित उत्तर उत्तरपद न होने से ष्फ की निवृत्ति प्राप्त नहीं होती। साथ ही 'गार्ग्यायण' के भाषितपुंस्क न होने से ङीष् की निवृत्ति नहीं सिद्ध होती। इसे ही अपने शब्दों में प्रकट करते हैं—]

यहाँ पुंवद्भाव प्राप्त नहीं होता। क्या कारण है? भाषितपुंस्क अनूङ् को समानाधिकरण उत्तरपद परे रहने पर पुंवद्भाव कहा गया है। यहाँ जो [ष्फ प्रत्यय] भाषितपुंस्क [गार्ग्य] से परे है वह उत्तरपद परे रहने पर [अव्यवहित पूर्व] नहीं है। [क्योंकि ङीष् का व्यवधान है। जो उत्तरपद परे रहने पर [ठीक पूर्व में है, अर्थात् ङीष्] वह भाषितपुंस्क [गार्ग्य] से ठीक पर नहीं है [क्योंकि ष्फ का व्यवधान है।]

अस्तु तर्हि स्त्रीशब्दग्रहणम्।

स्त्रीशब्दस्य पुंशब्दातिदेश इति चेत्सर्वप्रसङ्गोऽविशेषात्॥ ५॥

स्त्रीशब्दस्य पुंशब्दातिदेश इति चेत्सर्वस्य स्त्रीशब्दस्य पुंशब्दातिदेशः प्राप्नोति? अस्यापि प्राप्नोति—अङ्गारका नाम शकुनयः, तेषां कालिकाः स्त्रियः। कालिकावृन्दारिकाः, अङ्गारकवृन्दारिकाः प्राप्नुवन्ति। क्षेमवृद्धयः क्षत्रियाः। तेषां तनुकेश्यः स्त्रियः। तनुकेशीवृन्दारिकाः। क्षेमवृद्धिवृन्दारिकाः प्राप्नुवन्ति। हंसस्य वरटा। कच्छपस्य दुली। ऋश्यस्य रोहित्। अश्वस्य वडवा। पुरुषस्य योषित्। किं कारणम्? अविशेषात्। न हि कश्चिद्विशेष

[प्रसङ्गान्तर-] अच्छा तो फिर, स्त्रीशब्द ग्रहण पक्ष मान्य होवे।

वा०—स्त्री शब्द को पुंशब्द का अतिदेश कहें तो सर्वप्रसङ्ग, अविशेष होने से।

भा०—स्त्री शब्द के स्थान में पुंशब्द का अतिदेश होता है, यह कहें तो सभी स्त्री शब्दों के स्थान में पुंशब्द के अतिदेश की प्राप्ति होती है। इसे भी प्राप्त होता है—'अङ्गारक' पक्षि-विशेष का नाम है। उसकी मादा पक्षी को कालिका कहते हैं। [समास होने पर] 'कालिकावृन्दारिकाः' शब्द बनता है। [परन्तु इस पक्ष में] 'अङ्गारकवृन्दारिकाः' प्रयोग की प्राप्ति होती है।

विवरण—इस पक्ष में सूत्र का अर्थ होगा—स्त्रीवाचक शब्द के स्थान में पुंवाचक शब्द के सदृश आदेश होता है। 'स्थानेऽन्तरतमः' (१.१.५०) के अनुसार शब्दार्थ की दृष्टि से जो सदृशतम हो वही आदिष्ट होगा। परन्तु जो नित्य पुंल्लिङ्ग शब्द हैं, जिनके स्त्रीलिङ्ग के लिये अन्य शब्द का व्यवहार होता है, उनके पुंवत् के लिये जो अर्थतः सदृशतम है, वही आदिष्ट होगा। क्योंकि शब्दतः सदृशतम है ही नहीं। जैसे-जैसे पक्षी अर्थ वाले 'अङ्गारक' शब्द से नर पक्षी प्रकट होता है। इसी जाति वाले मादा पक्षी के लिये 'कालिका' शब्द का प्रयोग होता है। इसके पुंवत् के लिये सदृशतम 'अङ्गारक' ही है, अतः 'पुंवत् कर्मधारय...' (६.३.४२) से पुंवत् द्वारा उसके ही प्रयोग की प्राप्ति होती है।

भा०—इसी प्रकार 'क्षेमवृद्धि' उपाधि वाले क्षत्रिय हैं। उनकी स्त्रियां 'तनुकेशी' कही जाती हैं। इसका 'तनुकेश्यो वृन्दारिकाः' इस विग्रह के अनुसार समास करने पर [पुंवत् के द्वारा] 'क्षेमवृद्धिवृन्दारिका' रूप प्राप्त होता है। इसी प्रकार हंस की मादा वरटा है, कच्छप की मादा को 'दुली' कहते हैं। ऋश्य की मादा को रोहित्, अश्व की मादा को वडवा कहते हैं। इसी प्रकार 'पुरुष' शब्द के स्त्रीलिङ्ग के लिये ['पुरुष' शब्द से किसी स्त्री प्रत्यय को उत्पन्न नहीं करते, अपितु उससे अलग] 'योषित्' शब्द प्रयुक्त करते हैं।

इस [अतिदेश-प्राप्ति] का क्या कारण है? [समाधान-] अविशेष होने से। यहाँ कोई विशेष नहीं कहा गया है कि इस प्रकार के स्त्री शब्द के स्थान पर इस

उपादीयते एवंजातीयकस्य स्त्रीशब्दस्य पुंशब्दातिदेशो भवतीति। अनुपादीयमाने विशेषे सर्वत्र प्रसङ्गः॥ कथं च नाम नोपादीयते यदा भाषितपुंस्कादित्युच्यते ?

भाषितपुंस्कानुपपत्तिश्च॥ ६॥

ह्यर्थे चायं चः पठितः। सर्वो हि शब्दो भाषितपुंस्कात्परः शक्यः कर्तुम्॥

अस्तु तर्ह्यर्थग्रहणम्।

अर्थातिदेशे विप्रतिषेधानुपपत्तिः॥ ७॥

अर्थातिदेशे विप्रतिषेधो नोपपद्यते। पठिष्यति ह्याचार्यो विप्रतिषेधं— 'पुंवद्भावाद्ध्रस्वत्वं खिद्घादिकेषु' इति, स विप्रतिषेधो नोपपद्यते। किं कारणम्?

प्रकार का पुंशब्द आदिष्ट हो। विशेष का प्रयोग न होने पर [जो भी अर्थतः अन्तरतम हों] उन सभी का आदेश प्राप्त होगा।

विशेष कैसे नहीं है, जब कि 'भाषितपुंस्कात्' यह कह रहे हैं ?

वा०—'भाषितपुंस्क' की अनुपपत्ति भी।

भा०—यहाँ 'च' शब्द 'हि' (=क्योंकि) अर्थ में है। क्योंकि भाषितपुंस्क से उत्तर [उपरिलिखित प्रकार के सभी शब्द] सम्मिलित हो सकते हैं।

विवरण—इससे पूर्वोक्त 'स्त्री-प्रत्यय' पक्ष में भाषितपुंस्क वे प्रातिपदिक होंगे, जिनसे उत्तर स्त्री-प्रत्यय उत्पन्न होते हैं। ऐसे स्त्रीलिङ्ग शब्दों के पुंल्लिङ्ग रूप-शब्द अर्थ दोनों दृष्टियों से अन्तरतम होंगे। परन्तु इस प्रस्तुत पक्ष में 'भाषितपुंस्क' सम्पूर्ण स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द 'दर्शनीया' इत्यादि होंगे। क्योंकि इनका ही लोक में प्रयोग होता है। अब समस्या यह है कि इस 'दर्शनीया' से उत्तर उत्तरपद परे रहने पर कोई स्त्री शब्द है नहीं, जिसका पुंवत् हो सके। ऐसी दशा में 'एषा दर्शनीयवृन्दारिका' जैसे शब्दों में 'एषा' भाषितपुंस्क से उत्तर 'दर्शनीयवृन्दारिका' का पुंवद्भाव सम्पन्न हो सकेगा।

इस स्थिति में भाष्यकार का कहना है कि वे सभी शब्द भाषितपुंस्क से उत्तर होने लगेंगे, जिनसे स्त्रीप्रत्यय उत्पन्न नहीं होते तथा पुल्लिङ्ग वे रूप होंगे जो स्त्रीलिङ्ग से केवल अर्थ की दृष्टि से अन्तरतम हैं। जैसे 'एताः कालिकावृन्दारिकाः' यहाँ 'एताः' इस भाषितपुंस्क से उत्तर कालिका के स्थान में नित्य पुल्लिङ्ग 'अङ्गारक' शब्द के प्रयोग की प्राप्ति होती है।

भा०—अच्छा तो फिर, अर्थ-ग्रहण मान्य होवे।

वा०—अर्थातिदेश में विप्रतिषेध की अनुपपत्ति।

भा०—अर्थातिदेश में विप्रतिषेध नहीं बन सकेगा। आगे ['पुंवत् कर्मधारय...' (६.३.४२) सूत्र में] आचार्य विप्रतिषेध कहेंगे—'पुंवद्भाव से पहले ह्रस्वत्व, खित्, घादि परे होने पर' वह विप्रतिषेध नहीं बन सकेगा। क्या कारण है ? विप्रतिषेध

द्विकार्ययोगो हि नाम विप्रतिषेधः, न चात्रैको द्विकार्ययुक्तः। शब्दस्य ह्रस्वत्वमर्थस्य पुंवद्भावः॥ किं च? सर्वप्रसङ्गोऽविशेषादिति। सर्वस्य स्त्र्यर्थस्य पुंवदर्थः प्राप्नोति। अस्यापि प्राप्नोति—अङ्गारका नाम शकुनयः। तेषां कालिकाः स्त्रियः। कालिकावृन्दारिकाः। अङ्गारकवृन्दारिकाः प्राप्नुवन्ति। क्षेमवृद्धयः क्षत्रियाः। तेषां तनुकेश्यः स्त्रियः। तनुकेशीवृन्दारिकाः। क्षेमवृद्धिवृन्दारिकाः प्राप्नुवन्ति। हंसस्य वरटा। कच्छपस्य दुली। ऋश्यस्य रोहित्। अश्वस्य वडवा। पुरुषस्य योषित्। किं कारणम्? अविशेषात्। न हि कश्चिद्विशेष उपादीयत एवंजातीयकस्य स्त्र्यर्थस्य पुंवद्भावो भवतीति। कथं च नाम नोपादीयते यदा भाषितपुंस्कादित्युच्यते? भाषितपुंस्कानुपपत्तिर्हि भवति। न ह्यर्थेन पौर्वापर्यमस्ति॥ अयं तावददोषो यदुच्यतेऽर्थातिदेशे विप्रतिषेधानुपपत्तिरिति। नावश्यं द्विकार्ययोग एव विप्रतिषेधः। किं तर्हि? असंभवोऽपि। स चात्रास्त्यसंभवः। कोऽसावसम्भवः। पुंवद्भावोऽभिनिर्वर्तमानो ह्रस्वत्वस्य निमित्तं विहन्ति ह्रस्वत्वमभिनिर्वर्तमानं पुंवद्भावं बाधते। एषोऽसंभवः। सत्यसंभवे युक्तो विप्रतिषेधः॥ अयं तर्हि दोषः—सर्वप्रसङ्गोऽविशेषादिति। तस्मादस्तु स एव मध्यमः पक्षः॥

वह होता है, जहाँ दो [विरोधी] कार्यों की एक साथ प्राप्ति हो। यहाँ दो [विरोधी] एक साथ प्राप्त नहीं है। शब्द [अच्] के स्थान में ह्रस्वत्व होता है। [स्त्री] अर्थ का पुंवद्भाव होता है। ['कालिम्मन्या' में यह एक साथ सम्भव है कि ईकार का ह्रस्वत्व हो तथा पुंवत् अर्थ में हो।]

साथ ही अविशेष होने से सर्वप्रसङ्ग—[यह दोष भी।] सम्पूर्ण स्त्री अर्थ के स्थान पर पुंवत् अर्थ की प्राप्ति होती है। [आगे के पुनः प्रोक्त प्रकरण की व्याख्या पूर्वोक्त है। पुंवत् अर्थ के आदिष्ट होने पर तदनुरूप शब्दों के आदिष्ट होने की प्राप्ति होती है। अतः पूर्वोक्त प्रसक्ति होती है।]

परन्तु यह दोष नहीं है—यह जो विप्रतिषेध की अनुपपत्ति का दोष दिया था। केवल द्विकार्ययोग ही विप्रतिषेध नहीं होता, तो फिर क्या? असम्भव भी। वह असम्भव यहाँ है। वह असम्भव किस प्रकार? पुंवद्भाव सम्पन्न होकर ह्रस्व के निमित्त का विघात करता है। [पुंवद्भाव होने पर दीर्घान्त नहीं रह जाएगा। अतः उचित स्थान के न मिलने से ह्रस्व प्राप्त न होगा।] ह्रस्वत्व सम्पाद्यमान होकर पुंवद्भाव को बाधता है। [क्योंकि यदि 'काली' को ह्रस्व के पश्चात् पुंवद्भाव किया जावे तो ह्रस्वकरण ही व्यर्थ होने लगेगा। अतः सामर्थ्य से ह्रस्वत्व पुंवद्भाव को बाधेगा।]

तब फिर यह दोष तो अवस्थित है ही—सर्वप्रसङ्गोऽविशेषात्। अतः पूर्वोक्त मध्यम पक्ष ही मान्य होवे। [यद्यपि पूर्वोक्त पक्ष में भी यही दोष अवस्थित

ननु चोक्तं स्त्रीशब्दस्य पुंशब्दातिदेश इति चेत्सर्वप्रसङ्गोऽविशेषादिति? नैष दोषः। समासनिर्देशोऽयम्। भाषितपुंस्कादनूङस्मिन्सोऽयं भाषितपुंस्कादनूङिति॥ यद्येवं लुक् प्राप्नोति? निपातनान्न भविष्यति। अथवाऽलुक्प्रकृतः सोऽनुवर्तिष्यते॥ कथं पुनरनूङित्यनेन स्त्रीप्रत्ययग्रहणं शक्यं विज्ञातुम्? 'नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः'। नञ्युक्तमिवयुक्तं चान्यस्मिंस्तत्सदृशे कार्यं विज्ञायते, तथा ह्यर्थो गम्यते। तद्यथा—अब्राह्मणमानयेत्युक्ते ब्राह्मणसदृशं पुरुषमानयति नासौ लोष्टमानीय कृती भवति। एवमिहाप्यनूङित्यूङ्प्रतिषेधादन्यस्मिन्नूङ्सदृशे कार्यं विज्ञास्यते। किं चान्यदनूङूङ्सदृशम्? स्त्रीप्रत्ययः॥ एवमपि इडविड्वृन्दारिका ऐडविडवृन्दारिका, पृथ्वृन्दारिका पार्थवृन्दारिका, दरद्वृन्दारिका दारदवृन्दारिका, उशिग्वृन्दारिका औशिजवृन्दारिका, अत्र

दिखाया जा चुका है। फिर भी मध्यम पक्ष को स्वीकार करने का आशय यह है कि दोनों पक्षों में समान परिस्थिति होने पर जहाँ सुकरता से साक्षात् उत्तरपद से पौर्वापर्य लभ्य हो, वही स्वीकार्य होना चाहिये।]

इस पर तो सर्वप्रसङ्ग का दोष दिया गया है? यह दोष नहीं है। यह समासनिर्देश है। भाषितपुंस्क से उत्तर ऊङ् भिन्न तत्सदृश स्त्रीप्रत्यय है जिस स्त्री शब्द में वह 'भाषितपुंस्कादनूङ्' कहा जाएगा। [उस स्त्री शब्द को पुंशब्द के समान अतिदेश होता है। इस विवरण के अनुसार 'दर्शनीया' शब्द 'भाषितपुंस्कादनूङ्' स्त्री शब्द कहा जाएगा। उसे पुंवत् हो सकेगा।]

यदि यह [इस प्रकार समासनिर्देश है तो अन्तर्वर्तिनी विभक्ति] का लुक् प्राप्त होता है। इसी सूत्र में निपातन अर्थात् सौत्र निर्देश मान्य होने से नहीं होगा। अथवा अलुक् प्रकृत है, उसका अनुवर्तन करेंगे। [यद्यपि अनवृत्त अलुक् विधेय है, वह लक्षणाङ्ग के साथ सम्बन्धित नहीं हो सकता। पुनरपि वचन सामर्थ्य से इसे स्वीकार्य माना है।]

परन्तु यहाँ अनूङ् कहने से तत्सदृश स्त्रीप्रत्यय का ग्रहण किस प्रकार समझा जा सकता है? 'नञिवयुक्तम्...' इस परिभाषा के अनुसार। नञ् तथा इव से युक्त होने पर उससे भिन्न, परन्तु तत्सदृश में कार्य समझा जाता है। उससे ही समुचित अर्थ की प्रतीति होती है। जिस प्रकार 'अब्राह्मणम् आनय' कहने से ब्राह्मणभिन्न क्षत्रिय आदि का आनयन होता है। कोई भी किसी पिण्ड को लाकर कृतकारी नहीं हो सकता। इसी प्रकार यहाँ 'अनूङ्' इस ऊङ् प्रतिषेध से ऊङ् से अन्य, परन्तु ऊङ् सदृश में कार्य समझा जाता है। ऊङ् से भिन्न, ऊङ् सदृश क्या है? स्त्रीप्रत्यय।

फिर भी इडविड्वृन्दारिका—ऐडविडवृन्दारिका...इत्यादि में पुंवद्भाव प्राप्त

पुंवद्भावो न प्राप्नोति ? कर्तव्योऽत्र यत्नः ॥

अथेह कथं भवितव्यम्—पट्वीमृद्व्यौ भार्ये अस्य, पट्वीमृदुभार्य आहोस्वित् पटुमृदुभार्य इति ? पट्वीमृदुभार्य इति भवितव्यम्। पुंवद्भावः कस्मान्न भवति ? भाषितपुंस्कादित्युच्यते। ननु च भोः पटुशब्दो मृदुशब्दश्च पुंसि भाष्येते ? समानायामाकृतौ यद्भाषितपुंस्कम्, आकृत्यन्तरे चैतौ भाषित-पुंस्कौ। समानायामाकृतावप्येतौ भाषितपुंस्कौ। कथम् ? आरभ्यते मतुब्लोपः।

नहीं होता।

विवरण—इडविड्, पृथ् आदि हलन्त स्त्रीलिङ्ग शब्द हैं। यहाँ इडविडोऽपत्यम्, पृथोऽपत्यम् इस विग्रह के अनुसार 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्' (४.१.१६८) से अञ् प्रत्यय तथा 'अतश्च' (४.१.१७७) से इस प्रत्यय का लुक् होता है। उशिक्, दरद् से 'द्व्यञ्मगध...' (४.१.१७०) से अण् होकर उसी प्रकार लुक् होता है। इनका वृन्दारिका के साथ समास होने पर पुंवद्भाव अभीष्ट है। यदि पुंवद्भाव हो तो प्रत्यय का श्रवण होने पर 'ऐडविडवृन्दारिका' आदि बन सकेगा। यहाँ पुंवद्भाव के प्राप्त न होने का कारण यह है कि भाषितपुंस्क से उत्तर ऊङ्भिन्न स्त्रीप्रत्यय नहीं है, क्योंकि उसका लोप हो चुका है। साथ ही वह विशिष्ट स्त्री-प्रत्यय नहीं है।

भा०—[इस दोष के निवारण के लिए] कोई विशेष प्रयत्न करना चाहिए।

विवरण—विशेष प्रयत्न यह है कि यहाँ 'ऊङ्भिन्न' इस पर्युदास से प्रत्यय मात्र का ग्रहण होगा। स्थानिवद्भाव से इसके प्रत्ययत्व को प्राप्त किया जा सकेगा। इस प्रकार लुक् अण् को भी अनूङ् कहा जा सकेगा। इस व्याख्या के अनुसार भाषितपुंस्क प्रातिपदिक से उत्तर ऊङ्भिन्न प्रत्ययमात्र वाले स्त्री शब्द को पुंशब्दवत्, यह पक्ष स्थिर होता है।

[प्रसङ्गान्तर-] अच्छा, यहाँ किस प्रकार होना चाहिये—पट्वीमृद्व्यौ भार्ये अस्य पट्वीमृदुभार्यः, अथवा पटुमृदुभार्यः ? [समाधान-] 'पट्वीमृदुभार्यः' यह होना चाहिये। [पट्वी में] पुंवद्भाव क्यों नहीं होता ? 'भाषितपुंस्कात्' कहा गया है। क्यों, पटु तथा मृदु शब्द भी पुल्लिङ्ग में भाषित होते हैं ? [अतः वे भाषितपुंस्क क्यों न होंगे, यह प्रश्नाशय है। उत्तर-] समान आकृति अर्थात् समान प्रवृत्तिनिमित्त में जो भाषितपुंस्क [उसमें पुंवत् कहा गया है।] ये तो असमान आकृति में भाषितपुंस्क हैं। [पटु तथा मृदु गुणवाचक हैं, परन्तु इस उदाहरण में पट्वी, मृद्वी स्त्रीलिङ्ग शब्द द्रव्यवाचक होकर भार्या द्रव्य के साथ समानाधिकरण रखते हैं।]

समाधान—ये भी समान आकृति में भाषितपुंस्क हैं। किस प्रकार ? यहाँ ['गुणवचनेभ्यो मतुपो लुक्' ('तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' ५.२.९४ पर प्रोक्त) वार्तिक के अनुसार] मतुप् के लोप का विधान किया गया है। [अतः पटु तथा पट्वी दोनों पटुत्व गुण वाले द्रव्य को प्रकट करते हैं। इस प्रकार पुंवद्भाव-प्राप्ति

एवं तर्हि भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरण उत्तरपदे पुंवद्भवतीत्युच्यते, यश्चात्र भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरण उत्तरपदे, कृतस्तस्य पुंवद्भावो, यस्य चाकृतो नासौ भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरण उत्तरपदे ॥

पूरण्यां प्रधानपूरणीग्रहणम् ॥ ८ ॥

पूरण्यां प्रधानपूरणीग्रहणं कर्तव्यम्। इह मा भूत्—कल्याणी पञ्चम्यस्य पक्षस्य कल्याणपञ्चमीकः पक्ष इति ॥ अथेह कथं भवितव्यम्—कल्याणी पञ्चम्यासां रात्रीणाम्? कल्याणीपञ्चमा रात्रय इति भवितव्यम्। रात्र्योऽत्र प्रधानम् ॥

तसिलादिष्वा कृत्वसुचः ॥ ६.३.३५ ॥

इह केचित्तसिलादय आ कृत्वसुचः पठ्यन्ते येषु पुंवद्भावो नेष्यते,

---

का दोष स्थिर रहा। अतः अग्रिम समाधान-]

[समाधान-] अच्छा तो फिर, भाषितपुंस्क से अनूङ् वाले [स्त्रीशब्द को] समानाधिकरण उत्तरपद परे रहने पर पुंवत् होता है, यह कहा है। यहाँ जो भाषितपुंस्क से अनूङ् वाला शब्द [मृदु] समानाधिकरण उत्तरपद परे रहने पर है, उसका पुंवद्भाव हो चुका। जिसका नहीं किया गया [पट्वी का] वह भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरण उत्तरपद परे रहने पर नहीं है। [मृदु का व्यवधान है। [सरल शब्दों में—भार्या समानाधिकरण उत्तरपद परे रहने पर अव्यवहित पूर्व 'मृदु' को पुंवत् होता है, व्यवहित 'पट्वी' को नहीं।]

वा०—पूरणी में प्रधान पूरणी ग्रहण।

भा०—'पूरणी' [इस निषेध] के प्रसङ्ग में प्रधान पूरणी ग्रहण करना चाहिये। जो प्रधान पूरणी है, उसके होने पर [निषेध] कहना चाहिये। यहाँ [निषेध] न हो—कल्याणी पञ्चमी अस्य पक्षस्य कल्याणपञ्चमीकः पक्षः। [बहुव्रीहि अन्यपदार्थ होने से 'पञ्चमी' पूरणी प्रधान नहीं है। अतः पुंवद्भाव का निषेध नहीं होता। 'अप् पूरणीप्रमाण्योः' (५.४.११६) से समासान्त अप् प्रत्यय भी प्रधान पूरणी को कहे जाने से नहीं होता। अतः 'नद्यृतश्च' (५.४.१५३) से कप् ही होता है।]

अच्छा यहाँ किस प्रकार होना चाहिए—कल्याणी पञ्चमी आसां रात्रीणाम्? [समाधान-] 'कल्याणीपञ्चमा रात्रयः' यह होना चाहिए। यहाँ रात्रि प्रधान है। [यहाँ बहुव्रीहि अन्यपदार्थ रात्रि है। इसमें पञ्चमी वर्ति-पदार्थ का अनुप्रवेश है। रात्रियों में से एक रात्रि पञ्चमीत्व से अविशिष्ट है।]

तसिलादिष्वा कृत्वसुचः ॥

भा०—यहाँ कुछ [प्रत्यय] तसिल् से लेकर कृत्वसुच् के अन्तर्गत परिपठित

केचिच्चान्यत्र पठ्यन्ते येषु पुंवद्भाव इष्यते। तत्र किं न्याय्यम्? परिगणनं कर्तव्यम्।

तसिलादी त्रतसौ॥ १॥

त्रतसौ तसिलादी द्रष्टव्यौ। तस्यां शालायां वसति तत्र वसति। तस्याः—ततः। यस्याम्—यत्र। यस्याः—यतः॥

तरप्तमपौ॥ २॥

तरप्तमपौ तसिलादी द्रष्टव्यौ। दर्शनीयतरा, दर्शनीयतमा॥

चरड्जातीयरौ॥ ३॥

चरड्जातीयरौ तसिलादी द्रष्टव्यौ। पटुचरी, पटुजातीया॥

कल्पब्देशीयरौ॥ ४॥

कल्पब्देशीयरौ तसिलादी द्रष्टव्यौ। दर्शनीयकल्पा, दर्शनीयदेशीया॥

रूपप्पाशपौ॥ ५॥

रूपप्पाशपौ तसिलादी द्रष्टव्यौ। दर्शनीयरूपा, दर्शनीयपाशा॥

थम्थालौ॥ ६॥

होते हैं; जिनका पुंवद्भाव इष्ट नहीं है। कुछ अन्य स्थानों में पढ़े गये हैं, जिनका पुंवद्भाव इष्ट है। ऐसी दशा में क्या समुचित है? परिगणन करना चाहिये।

वा०—त्र, तस् तसिलादि।

भा०—त्र, तस् प्रत्ययों को तसिलादि के अन्तर्गत समझना चाहिये। तस्यां शालायां वसति—तत्र वसति, तस्याः—ततः...।

वा०—तरप्, तमप्।

भा०—तरप्, तमप् को तसिलादि समझना चाहिये। दर्शनीयतरा...।

वा०—चरट्, जातीयर्।

भा०—चरट्, जातीयर् को तसिलादि समझना चाहिये। पटुचरी, पटुजातीया।

वा०—कल्पप्, देशीयर्।

भा०—कल्पप्, देशीयर् को तसिलादि के अन्तर्गत समझना चाहिये। दर्शनीयकल्पा...।

वा०—रूपप्, पाशप्।

भ०—रूपप्, पाशप् को तसिलादि के अन्तर्गत समझना चाहिये। दर्शनीयरूपा, दर्शनीयपाशा।

वा०—थम्, थाल्।

थम्थालौ तसिलादी द्रष्टव्यौ। कया आकृत्या कथम्। यया आकृत्या यथा॥

दार्हिलौ॥ ७॥

दार्हिलौ तसिलादी द्रष्टव्यौ। तस्यां वेलायां तदा। तर्हि॥

तिल्थ्यनौ॥ ८॥

तिल्थ्यनौ तसिलादी द्रष्टव्यौ। वृकी वृकतिः। अजथ्या यूथिः॥

शसि बह्वल्पार्थस्य॥ ९॥

शसि बह्वल्पार्थस्य पुंवद्भावो वक्तव्यः। बह्वीभ्यो देहि बहुशो देहि। अल्पशो देहि॥

त्वतलोर्गुणवचनस्य॥ १०॥

त्वतलोर्गुणवचनस्य पुंवद्भावो वक्तव्यः। पट्व्या भावः पटुत्वम्, पटुता। गुणवचनस्येति किमर्थम्? कठ्या भावः कठीत्वम्, कठीता॥

भा०—थम्, थाल् को तसिलादि के अन्तर्गत समझना चाहिये। कया आकृत्या कथम्। यया आकृत्या यथा।

वा०—दा, र्हिल्।

भा०—दा, र्हिल् भी तसिलादि के अन्तर्गत समझे जाने चाहयें। तस्यां वेलायां तदा, तस्यां वेलायां तर्हि।

वा०—तिल्, थ्यन्।

भा०—तिल्, थ्यन् को तसिलादि के अन्तर्गत समझना चाहिये। वृकी—वृकतिः। अजथ्या यूथिः। ['वृकृतिः' में वृकी से 'वृकज्येष्ठाभ्यां...' (५.४.४१) सूत्र से तिल् प्रत्यय। 'अजथ्या' में अजा शब्द से 'अजाविभ्यां थ्यन्' (५.१.८) से थ्यन् प्रत्यय।

वा०—शस् परे रहने पर बहु, अल्प अर्थ वाले का।

भा०—शस् परे रहने पर बहु, अल्प अर्थ वाले शब्दों का पुंवद्भाव कहना चाहिये। बहुशो देहि, अल्पशो देहि। 'बह्वल्पार्थाच्छस्...' (५.४.४२) सूत्र से शस् प्रत्यय।

वा०—त्व तल् परे रहने पर गुणवाचक का।

भा०—त्व,तल् परे रहने पर गुणवाचक का पुंवद्भाव कहना चाहिये। पट्वीभावः—पटुत्वम्...। गुणवचनस्य किसलिये है? कठ्या भावः कठीत्वम्... आदि। [कठी शब्द वेद की कठ चरण शाखाओं की अध्येत्रियों के लिये प्रयुक्त है।]

भस्याढे तद्धिते॥ ११ ॥

भस्याढे तद्धिते पुंवद्भावो वक्तव्यः। हस्तिनीनां समूहो हास्तिकम्। अढ इति किमर्थम्। श्यैनेयः, रौहिणेयः॥ यद्यढ इत्युच्यते, अग्नायी देवतास्य स्थालीपाकस्य आग्नेयः स्थालीपाकः, अत्र न प्राप्नोति? इह च प्राप्नोति— कौण्डिन्यः, सापत्न इति। यदि पुनरनपत्य इत्युच्येत? नैवं शक्यम्। इह हि न स्यात्—गार्ग्यायण्या अपत्यं माणवको गार्गो जाल्मः। अस्तु तर्ह्यढ इत्येव। कथं कौण्डिन्यः, सापत्न इति? कौण्डिन्ये निपातनात्सिद्धम्। किं

वा०—भ का ढ वर्जित तद्धित परे रहने पर।

भा०—भ संज्ञा वाले शब्द का ढ वर्जित तद्धित परे रहने पर पुंवद्भाव कहना चाहिये। हस्तिनीनां समूहो हास्तिकम्। ['हस्तिनी' शब्द से समूह अर्थ में 'अचित्तहस्ति-धेनोष्ठक्' (४.२.४७) से ठक् प्रत्यय। वार्तिक से पुंवद्भाव तथा प्रत्यय को इक् आदेश के पश्चात् 'नस्तद्धिते' (६.४.१४४) से टिलोप तथा आदिवृद्धि।

यहाँ ढ को छोड़ कर क्यों कहा है? श्यैनेयः, रौहिणेयः। [स्त्रीलिङ्ग श्येनी शब्द से अपत्य अर्थ में 'स्त्रीभ्यो ढक्' (४.१.१२०) से ढक् प्रत्यय होने पर उसके परे होने पर पुंवद्भाव नहीं हुआ। पुंवत् होने पर 'श्यैतेयः' बनता।]

यदि ढ वर्जित परे रहने पर कहेंगे तो 'अग्नायी देवता अस्य स्थालीपाकस्य' विग्रह के अनुसार 'आग्नेयः स्थालीपाकः' यहाँ पुंवत् नहीं प्राप्त होता? [यहाँ 'अग्नायी' शब्द से 'प्रातिपदिक-ग्रहण में लिङ्गविशिष्ट का भी ग्रहण' इस नियमानुसार 'अग्नेर्ढक्' (४.२.३३) से ढक् प्रत्यय होने पर पुंवद्भाव अभीष्ट है, ताकि 'आग्नेयः' बन सके।]

साथ ही यहाँ प्राप्त होता है—कौण्डिन्यः, सापत्नः। ['कुण्डिन्या अपत्यम्' विग्रह के अनुसार कुण्डिनी से 'गर्गादिभ्यो यञ्' (४.१.१०५) सूत्र से यञ्। इसका पुंवद्भाव अभीष्ट नहीं है। 'सापत्नः' में भी 'सपत्नी' शब्द से औत्सर्गिक अण् करने पर पुंवत् होने पर अनिष्ट रूप बनेगा।]

यदि यहाँ [अढे के स्थान पर] 'अनपत्ये' कहा जावे? [इससे पूर्वोक्त 'आग्नेयः' आदि में अपत्य न होने से पुंवद्भाव सिद्ध हो सकेगा।]

यह सम्भव नहीं है। यहाँ प्राप्त नहीं होगा—गार्ग्यायणी का अपत्य माणवक गार्गो जाल्मः। [गार्ग्यायणी से अपत्य अर्थ में 'गोत्रस्त्रियाः कुत्सने ण च' (४.१.१४७) से ण प्रत्यय। पिता का नाम ज्ञात न होने पर बेचारे पुत्र को 'जाल्म' कहा गया है! पुंवद्भाव करके माता की पहचान भी हटा दी गई है!! उस जमाने की यही रीति थी।]

अच्छा तो फिर, 'अढे' यही न्यास होवे। तो कौण्डिन्यः, सापत्नः किस प्रकार सिद्ध होंगे? कौण्डिन्य में निपातन से सिद्ध है। क्या निपातन है? 'आगस्त्य-

निपातनम्? आगस्त्यकौण्डिन्ययोरिति। सपत्नशब्दः प्रकृत्यन्तरम्। कथमग्नायी देवतास्य स्थालीपाकस्य आग्नेयः स्थालीपाक इति? अस्तु तर्ह्यनपत्य इत्येव। कथं गार्गो जाल्मः? गार्गाग्नेयौ न संवदेते। कर्तव्योऽत्र यत्नः॥

ठक्छसोश्च॥ १२॥

ठक्छसोश्च पुंवद्भावो वक्तव्यः। भवत्याश्छात्रा भावत्काः। भवदीयाः॥ ठग्ग्रहणं किमर्थं नेके कृतेऽजादावित्येव सिद्धम्? नैवं शक्यम्। अजादिलक्षणे हि माथितिकादिवत्प्रसङ्गः। अजादिलक्षणे हि माथितिकादिवत्प्रसज्यते। तद्यथा—मथितं पण्यमस्य माथितिक इत्यकारलोपे कृते तान्तादिति कादेशो न भवति। एवमिहापि न स्यात्॥

कौण्डिन्ययोः...' (२.४.७०) सूत्र से।

'सपत्न' शब्द एक स्वतन्त्र प्रकृति वाला है। [इस रूप में इस शब्द का प्रयोग 'व्यन् सपत्ने' (४.१.१४५) सूत्र में किया गया है। काशिकाकार ने 'सपत्नीव सपत्नः' विग्रह के अनुसार इवार्थ में अकार प्रत्यय द्वारा निष्पन्न माना है। इस सपत्न से अण् प्रत्यय द्वारा सापत्न निष्पन्न है।]

इस मत में अग्नायी... विग्रह के अनुसार 'आग्नेयः स्थालीपाकः' किस प्रकार बनेगा? अच्छा तो फिर अनपत्ये यही रखें। तो फिर 'गार्गो जाल्मः' किस प्रकार सिद्ध होगा? गार्ग, आग्नेय परस्पर संवाद नहीं करते। इसके लिए कोई यत्न करना चाहिये। [यत्न यह है कि 'स्त्रीभ्यो ढक्' से स्त्रीलिङ्ग में जो ढ विहित है, वहाँ पुंवद्भाव का प्रतिषेध होता है। परन्तु 'अग्नेर्ढक्' से, जो स्त्रीलिङ्ग में विहित नहीं है, उसमें यह प्रतिषेध नहीं होता। अतः 'आग्नेयः' आदि में पुंवद्भाव होता ही है।]

वा०—ठक्, छस् परे रहने पर भी।

भा०—ठक्, छस् परे रहने पर भी पुंवद्भाव कहना चाहिये। भवत्याः छात्राः भावत्काः, भवदीयाः। ['भवतष्ठक्छसौ' (४.२.११५) से ठक्, छस् होकर उनके परे रहने पर पुंवद्भाव।]

ठक् ग्रहण किसलिये है, क्या ['भवती ठ' इस दशा में 'ठस्येकः' (७.३.५०) से] इक कर लेने पर अजादि परे रहने पर विधीयमान ['भ' संज्ञक को पूर्वोक्त 'भस्याढे तद्धिते'] से ही सिद्ध नहीं हो जाएगा।

यह सम्भव नहीं है। अजादिलक्षण ['इक' परे रहने पर पुंवद्भाव] करने पर 'माथितिकः' आदि के समान प्राप्ति होती? जिस प्रकार 'मथितं पण्यम् अस्य माथितिकः'। [यहाँ 'मथित इक' इस दशा में 'यस्येति च' (६.४.१४८) से] अकारलोप कर लेने पर 'इसुसुक्तान्तात् कः' (७.३.५१) से 'क' आदेश नहीं होता, उसी प्रकार यहाँ भी न होता।

क्यङ्मानिनोश्च ॥ ६.३.३६ ॥

मानिन्ग्रहणं किमर्थम् ?

मानिन्ग्रहणमस्त्र्यर्थमसमानाधिकरणार्थं च ॥ १ ॥

मानिन्ग्रहणं क्रियतेऽस्त्र्यर्थमसमानाधिकरणार्थं च। अस्त्र्यर्थं तावत्— दर्शनीयां मन्यते देवदत्तो यज्ञदत्तां दर्शनीयमानी अयमस्याः। असमानाधिकरणार्थम्—दर्शनीयां मन्यते देवदत्ता यज्ञदत्तां दर्शनीयमानिनी इयमस्याः॥

न कोपधायाः ॥ ६.३.३७ ॥

किमिदमेवमाद्यनुक्रमणमाद्यस्य योगस्य विषये, आहोस्वित्पुंवद्भावमात्रस्य ? किं चातः ? यद्याद्यस्य योगस्य विषये माध्यमिकीयः, शालूकि-

---

विवरण—'माथितिकः' में 'मथित् इक' इस स्थिति में प्रत्यय के 'ठ' रूप न होने से तथा अल्विधि होने से स्थानिवद्भाव न होने से 'इसुसुक्तान्तात् कः' से ठ के स्थान में विधीयमान क आदेश नहीं होता। इसी प्रकार यहाँ भी 'भवती इक' इस दशा में पुंवद्भाव हो तो पुंवद्भाव के पश्चात् 'ठ' रूप की प्राप्ति न होने से क आदेश नहीं हो सकेगा।

क्यङ्मानिनोश्च ॥

भा०—मानिन् ग्रहण किसलिये है ?

वा०—मानिन् ग्रहण अस्त्री के लिये तथा असमानाधिकरण के लिये।

भा०—मानिन् ग्रहण किया है, अस्त्री के लिये तथा असमानाधिकरण के लिये। अस्त्रीलिङ्ग शब्द के लिये जैसे—दर्शनीयां मन्यते देवदत्तः यज्ञदत्तां—दर्शनीयमानी अयमस्याः। [यहाँ दर्शनीया उपपद होने पर मन् धातु से पुल्लिङ्ग कर्ता अर्थ में 'मनः' (३.२.८२) से णिनि प्रत्यय है। स्त्रीलिङ्ग शब्द न होने से 'स्त्रियाः पुंवत्...' से प्राप्ति नहीं है] असमानाधिकरण के लिये जैसे—दर्शनीयां मन्यते देवदत्तां यज्ञदत्ता दर्शनीयमानिनी इयम् अस्याः। ['दर्शनीयां' कर्म तथा मन्यते 'कर्ता' होने से समानाधिकरण नहीं है। इसलिये यहाँ भी पूर्वोक्त से प्राप्ति नहीं है।]

न कोपधायाः ॥

भा०—क्या इस सूत्र से निषेध का अनुक्रमण इससे पूर्व कहे गये तीन सूत्रों के सन्दर्भ में है, अथवा [वार्तिकों के साथ इन सूत्रों का सङ्ग्रह करते हुए] पुंवद्भावमात्र के सन्दर्भ में है ?

इससे क्या ? यदि आद्य योग के सन्दर्भ में है तो 'माध्यमिकीयाः' 'शालूकिकीयाः'

कीयः अत्र न प्राप्नोति॥ विधिरप्यत्र न सिध्यति। किं कारणम्? भाषितपुंस्कादनूङित्युच्यते न ह्येतद्भवति भाषितपुंस्कादनूङ्। इह तर्हि—विलेपिकाया धर्म्यं वैलेपिकम्, विधिश्च सिद्धो भवति प्रतिषेधश्च न प्राप्नोति॥ अथ पुंवद्भावमात्रस्य विषये, हस्तिनीनां समूहो हास्तिकम्, जातिलक्षणः पुंवद्भावप्रतिषेधः प्राप्नोति॥ एवं तर्हि 'न कोपधायाः' इत्येष योगः पुंवद्भावमात्रस्योत्तरमेवाद्यनुक्रमणमाद्यस्य योगस्य विषये॥

कोपधप्रतिषेधे तद्धितवुग्रहणम्॥ १॥

कोपधप्रतिषेधे तद्धितवुग्रहणं कर्तव्यम्। तद्धितस्य यः ककारो वोश्च

यहाँ [इससे प्रतिषेध] नहीं पाता। [यहाँ 'मध्यमिकायां भवः' विग्रह के अनुसार 'वेणुकादिभ्यश्छण् वक्तव्यः' से छण् प्रत्यय होने पर 'भस्याढे तद्धिते' से पुंवद्भाव की प्राप्ति होती है। शालूकिकीयाः में 'शालूकानि विद्यन्ते अस्याम्' विग्रह के अनुसार 'वुञ्छण्...' (४.२.८०) से क, पुनः 'शालूकिकायां भवः' विग्रह के अनुसार 'वृद्धादकेकान्तखोपधात्' (४.२.१४१) से छ। इनमें पुंवद्भाव होने पर स्त्रीलिङ्ग में निष्पन्न 'मध्यमिका' के मकार के इकार का तथा 'शालूकिका' के ककार के इकार का श्रवण न होता।]

यहाँ विधि भी सिद्ध नहीं होती। क्या कारण है? 'भाषितपुंस्कादनूङ्' कहा गया है। [वार्तिक में भी इसकी अनुवृत्ति है।] यहाँ भाषितपुंस्क से अनूङ्] नहीं है। [मध्यमक, शालूकक शब्द नगर या ग्राम वाचक होकर पुल्लिङ्ग नहीं है। इस प्रकार 'मध्यमिका' समान आकृति में भाषितपुंस्क नहीं है।]

अच्छा तो फिर, 'विलेपिकाया धर्म्यम्' विग्रह के अनुसार वैलेपिकम्। [यहाँ विलेपिका से 'अण् महिष्यादिभ्यः' (४.४.४८) से अण्।] यहाँ [पुंवत्] विधि सिद्ध है, पर [वार्तिकोक्त होने से] प्रतिषेध प्राप्त नहीं होता।

यदि पुंवद्भावमात्र के विषय में है तो हस्तिनीनां समूहो हास्तिकम् [यहाँ 'भस्याढे तद्धिते' से प्राप्त पुंवद्भाव का 'जातेश्च' (६.३.४१) सूत्र से] जातिलक्षण पुंवदभाव-प्रतिषेध प्राप्त होता है।

अच्छा तो फिर 'न कोपधायाः' सूत्र पुंवद्भावमात्रविषय में [प्रतिषेधक है]। उसके पश्चात् ['जातेश्च' सूत्र में] कहा गया कि यह निषेध का अनुक्रमण आद्य तीन सूत्रों के सन्दर्भ में है।

वा०—कोपध-प्रतिषेध में तद्धित 'वु' ग्रहण।

भा०—कोपध-प्रतिषेध के सन्दर्भ में तद्धित का जो ककार तथा 'वु' का जो ककार, उसका ग्रहण करना चाहिये। [अन्य ककार की उपधा को नहीं होता।]

यः ककारस्तस्य ग्रहणं कर्तव्यम्। इह मा भूत्—पाकभार्यः, भेकभार्य इति॥

स्वाङ्गाच्चेतः॥ ६.३.४०॥

स्वाङ्गाच्चेतोऽमानिनि॥ १॥

स्वाङ्गाच्चेतोऽमानिनीति वक्तव्यम्। इहापि यथा स्यात्—दीर्घमुखमानी, श्लक्ष्णमुखमानी॥ यद्यमानिनीत्युच्यते दीर्घमुखमानिनी, श्लक्ष्णमुखमानिनीति न सिध्यति। प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं भवतीत्येवं भविष्यति॥

पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु॥ ६.३.४२॥

किमर्थमिदमुच्यते, न सामान्येन सिद्धम्?

पुंवत्कर्मधारये प्रतिषिद्धार्थम्॥ १॥

प्रतिषिद्धार्थोऽयमारम्भः। 'न कोपधायाः' (३७) इत्युक्तं तत्रापि पुंवद्भवति। कारिका वृन्दारिका कारकवृन्दारिका। कारकजातीया, कारकदेशीया॥

ताकि यहाँ [प्रतिषेध] न हो—पाकभार्यः [पाक शब्द प्रथमवयः का वाचक है।] भेकभार्यः [भेक शब्द भी धातु से निष्पन्न होकर 'भययुक्त' अर्थ में है।]

स्वाङ्गाच्चेतः॥

वा०—स्वाङ्ग से ईकार को, मानिन् परे न होने पर।

भा०—स्वाङ्ग से उत्तर ईकार को मानिन् परे न होने पर प्रतिषेध, यह कहना चाहिये। ताकि यहाँ भी पुंवद्भाव हो जावे—दीर्घमुखमानी...। यदि 'अमानिनि' यह कहेंगे तो दीर्घमुखमानिनी...यहाँ [पुंवद्भाव] सिद्ध नहीं होगा? प्रातिपदिकग्रहण में लिङ्गविशिष्ट का भी ग्रहण होता है, इस परिभाषा के अनुसार सिद्ध होगा।

पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु॥

भा०—इस सूत्र का आरम्भ किसलिये है? क्या सामान्य सूत्रों से [कर्मधारय में 'स्त्रियाः पुंवत्...' से, जातीय, देशीय में 'तसिलादिष्वाकृत्वसुचः' से] सिद्ध नहीं है?

वा०—कर्मधारय में पुंवत् प्रतिषिद्ध के लिए।

भा०—यह प्रतिषिद्ध के [पुनर्विधान के] लिये आरम्भ है। 'न कोपधायाः' से प्रतिषेध कहा है, वहाँ भी पुंवद्भाव होता है। कारिका वृन्दारिका—कारकवृन्दारिका..।

'संज्ञापूरण्योश्च' (३८) इत्युक्तं तत्रापि पुंवद्भवति। दत्ता वृन्दारिका दत्तवृन्दारिका। दत्तजातीया, दत्तदेशीया। पञ्चमी वृन्दारिका पञ्चमवृन्दारिका। पञ्चमजातीया पञ्चमदेशीया॥ 'वृद्धिनिमित्तस्य...' (३९) इत्युक्तं तत्रापि पुंवद्भवति। स्त्रौघ्नी वृन्दारिका स्त्रौघ्नवृन्दारिका। स्त्रौघ्नजातीया, स्त्रौघ्नदेशीया॥ 'स्वाङ्गाच्चेतोऽमानिनि' (४०) इत्युक्तं तत्रापि पुंवद्भवति। श्लक्ष्णमुखी वृन्दारिका श्लक्ष्णमुखवृन्दारिका। श्लक्ष्णमुखजातीया, श्लक्ष्णमुखदेशीया॥ 'जातेश्च' (४१) इत्युक्तं तत्रापि पुंवद्भवति। कठी वृन्दारिका कठवृन्दारिका। कठजातीया, कठदेशीया॥

कुक्कुट्यादीनामण्डादिषु पुंवद्वचनम्॥ २॥

कुक्कुट्यादीनामण्डादिषु पुंवद्भावो वक्तव्यः। कुक्कुट्या अण्डं कुक्कुटाण्डम्। मृग्याः पदं मृगपदम्। काक्याः शावः काकशावः॥

न वाऽस्त्रीपूर्वपदविवक्षितत्वात्॥ ३॥

न वा वक्तव्यम्। किं कारणम्? अस्त्रीपूर्वपदविवक्षितत्वात्। नात्र स्त्री पूर्वपदं विवक्षितम्। किं तर्हि? अस्त्रीपूर्वपदम्। उभयोरण्डमुभयोः पदमुभयोः शावः॥ यद्यपि तावदत्रैतच्छक्यते वक्तुमिह तु कथम्—मृग्याः

'संज्ञापूरण्योश्च' कहा है, वहाँ भी पुंवद्भाव होता है। दत्ता वृन्दारिका-दत्तवृन्दारिका...।

'वृद्धिनिमित्तस्य...' कहा है। वहां भी पुंवद् होता है। स्त्रौघ्नी वृन्दारिका—स्त्रौघ्नवृन्दारिका....।

'स्वाङ्गाच्चेतोऽमानिनि' कहा है। वहाँ भी पुंवद्भाव होता है। श्लक्ष्णमुखी वृन्दारिका—श्लक्ष्णमुखवृन्दारिका...।

'जातेश्च' कहा है, वहाँ भी पुंवद्भाव होता है। कठी वृन्दारिका—कठवृन्दारिका...।

वा०—कुक्कुटी आदि का अण्डादि परे रहने पर पुंवद् वचन।

भा०—कुक्कुटी आदि का 'अण्ड' आदि उत्तरपद परे रहने पर पुंवद्भाव कहना चाहिये। कुक्कुट्या अण्डम्—कुक्कुटाण्डम्...।

वा०—अस्त्रीपूर्वपद विवक्षित होने से यह नहीं।

भा०—नहीं कहना चाहिये। क्या कारण है? यहाँ [समास में] स्त्रीपूर्वपद विवक्षित नहीं है। तो फिर क्या? अस्त्रीपूर्वपद [स्त्रीलिङ्ग-अस्त्रीलिङ्ग-सामान्य केवल विशिष्ट जाति वाला] पूर्वपद विवक्षित है। दोनों का अण्ड है, दोनों का पद है, दोनों का शाव=बच्चा है।

यद्यपि यहाँ पर तो इस प्रकार कह सकते हैं। यहाँ कैसे होगा—मृग्याः क्षीरं

क्षीरं मृगक्षीरमिति ? अत्रापि न वास्त्रीपूर्वपदविवक्षितत्वादित्येव। कथं पुनः सतो नामाविवक्षा स्यात् ? सतोऽप्यविवक्षा भवति। तद्यथा—अलोमिकैडका। अनुदरा कन्येति। असतश्च विवक्षा भवति। तद्यथा—समुद्रः कुण्डिका। विन्ध्यो वर्धितकमिति॥

अग्नेरीत्त्वाद्वरुणस्य वृद्धिर्विप्रतिषेधेन॥ ४॥

अग्नेरीत्त्वाद्वरुणस्य वृद्धिर्भवति विप्रतिषेधेन। अग्नेरीत्त्वस्यावकाशः—अग्नीषोमौ। वरुणस्य वृद्धेरवकाशः—वायुवारुणम्। इहोभयं प्राप्नोति—आग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत। वरुणस्य वृद्धिर्भवति विप्रतिषेधेन॥ नैष युक्तो विप्रतिषेधः। द्विकार्ययोगो हि विप्रतिषेधः, न चात्रैको द्विकार्ययुक्तः।

मृगक्षीरम् ? यहाँ भी पूर्वोक्त 'नवाऽस्त्री...' समाधान है। यहाँ [स्त्रीत्व के स्पष्टतः] होते हुए विवक्षा किस प्रकार न होगी ? होते हुए भी अविवक्षा होती है—अलोमिका एडका [जिस भेड़ के ऊन न हो।] अनुदरा कन्या। [अत्यल्प होने पर उसे अविवक्षित कर दिया जाता है।] साथ ही असत् की विवक्षा भी होती है—समुद्रः कुण्डिका [कुण्डिका में समुद्र असत् ही है। फिर भी अधिकता के ज्ञापन के लिये प्रयोग है।] विन्ध्यो वर्धितकम्। [=थाली में चावल का ढेर विन्ध्य पर्वत जितना है। स्पष्टतः अधिकता का ख्यापन है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में मृगत्व जाति वाले के ख्यापन की विवक्षा है। अवान्तर स्त्रीलिङ्ग के भेद को उपेक्षित कर दिया गया है।]

वा०—अग्नि को ईत्व से वरुण को वृद्धि, विप्रतिषेध से।

भा०—अग्नि को ईत्व से पहले वरुण को वृद्धि विप्रतिषेध से होती है। ['ईदग्नेः सोमवरुणयोः (६.३.२७) से] अग्नि को ईत्व का अवकाश है—अग्नीषोमौ। [यह उपलक्षण है। वस्तुतः अवकाश है—'अग्नीवरुणौ' यहाँ ञित्, णित् तद्धित परे न होने से 'देवताद्वन्द्वे च' की प्राप्ति नहीं है।]

वरुण को वृद्धि का अवकाश है—वायुवारुणम्। [यहाँ 'वायुवरुणौ देवते अस्य' इस विग्रह के अनुसार 'साऽस्य देवता' (४.२.२४) से अण् के पश्चात् 'देवताद्वन्द्वे च' (७.३.२१) से उभयपदवृद्धि होती है। यहाँ अग्नि पूर्वपद न होने से 'ईदग्नेः...' की प्राप्ति नहीं है।]

यहाँ दोनों की प्राप्ति होती है—आग्निवारुणीम्...। [यहाँ भी पूर्वोक्त प्रकार से अण् करने के पश्चात् दोनों की प्राप्ति है।] विप्रतिषेध से वरुण को वृद्धि होती है। [वृद्धि करने के पश्चात् 'इद्वृद्धौ' (६.३.२८) से आनङ् तथा ईत्व को बाध कर इकार हो जाता है।]

यह विप्रतिषेध समुचित नहीं है। दो कार्यों की एक स्थान में एक साथ प्राप्ति होने पर विप्रतिषेध होता है। यहाँ दो कार्य एक साथ प्राप्त नहीं है।

अग्नेरीत्त्वं वरुणस्य वृद्धिः॥ नावश्यं द्विकार्ययोग एव विप्रतिषेधः। किं तर्हि? असंभवोऽपि, स चात्रास्त्यसंभवः। कोऽसावसंभवः? अग्नेरीत्त्वमभिनिर्वर्तमानं वरुणस्य वृद्धिं बाधते। वरुणस्य वृद्धिरभिनिर्वर्तमानाग्नेरीत्त्वं बाधते। एषोऽसंभवः सत्यसंभवे युक्तो विप्रतिषेधः॥

पुंवद्भावाद्ध्रस्वत्वं खिद्घादिकेषु॥ ५॥

पुंवद्भावाद्ध्रस्वत्वं भवति विप्रतिषेधेन खिद्घादिकेषु। पुंवद्भावस्यावकाशः—पटुभार्यः, मृदुभार्यः। खिति ह्रस्वो भवतीत्यस्यावकाशः—कालिंमन्यः, हरिणिंमन्यः। इहोभयं प्राप्नोति—कालिंमन्या, हरिणिंमन्या। घादिषु नद्या ह्रस्वो भवतीत्यस्यावकाशः—नर्तकितरा, नर्तकितमा। पुंवद्भावस्यावकाशः—दर्शनीयतरा, दर्शनीयतमा। इहोभयं प्राप्नोति—पट्वितरा,

---

किस प्रकार? अग्नि को ईत्व होता है, वरुण को वृद्धि।

अवश्य रूप से द्विकार्ययोग विप्रतिषेध ही नहीं होता। तो फिर क्या? असम्भव भी। वह असम्भव यहाँ है। यहाँ क्या असम्भव है? अग्नि को ईत्व सम्पाद्यमान होने पर वरुण की वृद्धि को बाध लेगा। [यदि ईत्व हो जावे तो 'दीर्घाच्च वरुणस्य' (७.३.२३) से वृद्धि का निषेध होगा]।

वरुण को वृद्धि सम्पाद्यमान होने पर अग्नि के ईत्व को बाधित करेगा। [वृद्धि हो जावे तो 'इद्वृद्धौ' (६.३.२८) से ईत्व का बाधन होगा।] यह असम्भव है, असम्भव होने पर विप्रतिषेध युक्त ही है।

विवरण—पूर्वपद के अन्तिम को ईत्व होने अर्थात् दीर्घात् होने पर वरुण को वृद्धि नहीं हो सकती। वरुण को वृद्धि होने पर पूर्वपद के अन्तिम को ईत्व नहीं हो सकता— यही विप्रतिषेध है।

वा०—पुंवद्भाव से पहले खित्, घादि क परे होने पर ह्रस्वत्व।

भा०—पुंवद्भाव से पहले ह्रस्वत्व होता है, विप्रतिषेध से। पुंवद्भाव का अवकाश है—पटुभार्यः...। खित् परे रहने पर ह्रस्वत्व का अवकाश है—कालिम्मन्यः। ['कालीम् आत्मानं मन्यते' विग्रह के अनुसार 'आत्ममाने खश् च' (३.२.८३) से खश् के पश्चात् 'खित्यनव्ययस्य' (६.३.६६) से पूर्वपद के अन्तिम को ह्रस्व। यहाँ स्त्रीलिङ्ग उत्तरपद न होने से पुंवद्भाव प्राप्त नहीं है।] यहाँ दोनों पाते हैं—कालिम्मन्या...। विप्रतिषेध से ह्रस्व होता है।

घादि परे रहने पर नदी को ['घरूपकल्प...' (६.३.४३) से] ह्रस्व का अवकाश है—नर्तकितरा...। [यहाँ 'न कोपधायाः' (६.३.३७) से पुंवद्भाव का प्रतिषेध है। [पुंवद्भाव का अवकाश है—दर्शनीयतरा..। [जहाँ ङ्यन्त पूर्वपद नहीं है।] यहाँ दोनों प्राप्त होते हैं—पट्वितरा...। विप्रतिषेध से ह्रस्व होता है।

पट्वितमा। ह्रस्वो भवति विप्रतिषेधेन। के ह्रस्वो भवतीत्यस्यावकाशः—नर्तकिका। पुंवद्भावस्यावकाशः—दारदिका। इहोभयं प्राप्नोति—पट्विका, मृद्विका। ह्रस्वत्वं भवति विप्रतिषेधेन॥ अथेदानीं ह्रस्वत्वे कृते पुनः प्रसङ्गविज्ञाना त्पुंवद्भावः कस्मान्न भवति? सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेवेति॥

घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्वः॥ ६.३.४३॥

ङीग्रहणं किमर्थम्? अनेकाचो ह्रस्व इतीयत्युच्यमाने खट्वातरा, मालातरा, अत्रापि प्रसज्येत—नैतदस्ति प्रयोजनम्। भाषितपुंस्कादिति वर्तते॥ एवमपि दत्तातरा, गुप्तातरा—अत्रापि प्राप्नोति? ईत इति वर्तते॥ क्व प्रकृतम्? 'स्वाङ्गाच्चेतोऽमानिनि' (६.३.४०) एवमपि ग्रामणीतरः, सेनानीतरः—अत्रापि प्राप्नोति? स्त्रियामिति वर्तते॥ एवमपि ग्रामणीतरा,

---

क परे होने पर 'केऽणः' (७.४.१३) से ह्रस्व का अवकाश है—नर्तकिका। [नर्तकी शब्द से 'अल्पे' (५.३.८५) से कन्। यहाँ भी उसी प्रकार पुंवद्भाव का प्रतिषेध है।] पुंवद्भाव का अवकाश है—दारदिका। ['दरदोऽपत्यं स्त्री' विग्रह के अनुसार 'द्व्यञ्मगध...' (४.१.१७०) से अण्, उसका 'अतश्च' (४.१.१७७) से लुक्। उससे 'प्रागिवात् कः' (५.३.७०) से क। उसके परे रहने पर 'तसिलादिष्वा...' (६.३.३५) से पुंवद्भाव। इसी भाष्यप्रामाण्य से 'क' प्रत्यय को भी तसिलादि में मान लिया जाता है। पुंवद्भाव होने से स्त्रीलिङ्ग में विहित लुक् का पुनरुद्धार। पश्चात् 'दारद क आ' इस दशा में 'प्रत्ययस्थात् कात्...' (७.३.४४) से दारद के अन्तिम अक्षर को इकार होकर दारदिका।]

यहाँ दोनों प्राप्त हैं—पट्विका, मृद्विका। विप्रतिषेध से ह्रस्वत्व हो जाता है। अच्छा, ह्रस्वत्व कर लेने के पश्चात् पुनः प्रसङ्गविज्ञान से पुंवद्भाव क्यों नहीं हो जाता? विप्रतिषेध में जो एक बार बाधित हो गया, वह बाधित ही रहता है।

घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्वः॥

भा०—यहाँ ङी ग्रहण किसलिये है? 'अनेकाचो ह्रस्वः' इतना ही कहने पर खट्वातरा...यहाँ भी [ह्रस्व की] प्राप्ति होती है? यह प्रयोजन नहीं है। यहाँ 'भाषितपुंस्कात्' की अनुवृत्ति है। [खट्वा नित्यस्त्रीलिङ्ग होने से 'भाषितपुंस्क' नहीं है। फिर भी दत्तातरा, गुप्तातरा यहाँ भी [पूर्वपद को ह्रस्व] प्राप्त होता है? यहाँ 'ईतः' की अनुवृत्ति है। [अतः ईकारान्त पूर्वपद को होगा।] कहाँ से प्रकृत है? 'स्वाङ्गाच्चेतो...' सूत्र से। फिर भी ग्रामणीतरा... यहाँ भी [ह्रस्व की] प्राप्ति होती है? 'स्त्रियाम्' की अनुवृत्ति है। फिर भी ग्रामणीतरा... यहाँ भी प्राप्ति होती है?

सेनानीतरा—अत्रापि प्राप्नोति? स्त्रियाः स्त्रियामिति वर्तते॥ शेषप्रक्लृप्त्यर्थं तर्हि ङीग्रहणं कर्तव्यम्। 'नद्याः शेषस्यान्यतरस्याम्' (६.३.४४) इति। कश्च शेषः? अङी च या नदी, ङ्यन्तं च यदेकाच्॥ अन्तरेणापि ङीग्रहणं प्रक्लृप्तः शेषः। कथम्? ईत इति वर्तते। अनीच्च या नदी, ईदन्तं च यदेकाच्॥ शेषग्रहणमपि शक्यमकर्तुम्। कथम्? अविशेषेण घादिषु नद्या अन्यतरस्यां ह्रस्वत्वमुत्सर्गः। अस्यानेकाचो नित्यं ह्रस्वत्वमपवादः। तस्मिन्नित्ये प्राप्त उगितो विभाषारभ्यते॥ यद्येवं लक्ष्मितरा, तन्त्रितरा इति न सिध्यति, लक्ष्मीतरा, तन्त्रीतरेति प्राप्नोति?

'स्त्रियाः, स्त्रियाम्' की अनुवृत्ति है। अतः स्त्रीलिङ्ग पूर्वपद को स्त्रीलिङ्ग परे रहने पर होगा। 'ग्रामणी' स्त्रीलिङ्ग नहीं है।]

अच्छा तो फिर, 'शेष' की सम्पन्नता के लिये ङी ग्रहण करना चाहिये। 'नद्याः शेषस्य...' सूत्र में। शेष कौन है? अङ्यन्त जो नदी तथा ङ्यन्त जो एकाच्। [यहाँ ङी ग्रहण करने पर उक्त सूत्र में शेष का अर्थ अङ्यन्त नदी होगा तथा इसी सूत्र में अनेकाच् ग्रहण करने से 'ङ्यन्त एकाच्' शेष हो सकेगा।]

ङी ग्रहण के बिना भी 'शेष' का अर्थ सम्पन्न होगा। किस प्रकार? 'ईतः' की अनुवृत्ति है। अतः शेष, अनीत् जो नदी तथा 'ईदन्त एकाच्' लिया जाएगा। [इससे 'ब्रह्मबन्धुतरा' में अनीत् नदी होने से तथा 'स्त्रितरा' में ईदन्त एकाच् होने से वही कार्य सम्पन्न होगा जो 'ङी' ग्रहण करने से होता।]

'नद्याः शेषस्य...' सूत्र में 'शेष' ग्रहण न करें, तो भी कार्य सिद्ध हो सकता है। किस प्रकार? [इस 'नद्याः शेषस्य...' सूत्र से] घादि परे रहने पर सामान्यतः नदी को विकल्पित रूप से ह्रस्वत्व करेंगे—यह उत्सर्ग होगा। ['नद्याः शेषस्य...' सूत्र में ईतः, अनेकाचः की अनुवृत्ति नहीं लाएँगे। इससे सर्वत्र विकल्पित ह्रस्वत्व होगा।] इसका 'घरूपकल्प... अनेकाचो ह्रस्वः' इस प्रस्तुत सूत्र से विहित नित्य ह्रस्वत्व अपवाद होगा। [इससे स्त्रीलिङ्ग में विहित ईदन्त अनेकाच् में नित्य ह्रस्व होगा। शेष ईदन्त एकाच् में तथा अनीदन्त अनेकाच् में स्वतः पूर्वोक्त ह्रस्वत्व विकल्प होगा।] उसके नित्य प्राप्त होने पर अग्रिम 'उगितश्च' (६.३.४५) से उगित् से परे नदी को विकल्प का आरम्भ किया जा रहा है।

तब तो फिर लक्ष्मितरा...सिद्ध नहीं होगा। लक्ष्मीतरा...इसी रूप की प्राप्ति होगी?

विवरण—यदि प्रस्तुत सूत्र में ईतः की अनुवृत्ति से इस सूत्र के ङी का तथा अग्रिम सूत्र के शेष का प्रत्याख्यान करते हैं तो इस सूत्र का—स्त्रीलिङ्ग में विहित ईकार का नित्य ह्रस्वत्व। अगले सूत्र में भी—स्त्रीलिङ्ग में विहित नदी का विकल्पित ह्रस्वत्व—यह अर्थ होगा। इस स्थिति में लक्ष्मीतरा में नित्य या विकल्पित ह्रस्वत्व

इष्टमेवैतत्संगृहीतम्। लक्ष्मीतरा, तन्त्रीतरेत्येव भवितव्यम्। एवं हि सौनागाः पठन्ति—'घादिषु नद्या ह्रस्वत्वे कृन्नद्याः प्रतिषेध' इति॥

इति पातञ्जलमहाभाष्ये षष्ठाध्यायस्य तृतीयपादे द्वितीयमाह्निकम्॥

आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः॥ ६.३.४६॥

इह कस्मान्न भवति—अमहान्महान्संपन्नो महद्भूतश्चन्द्रमा इति?

अन्यप्रकृतिस्त्वमहान्भूतप्रकृतौ महान्महत्येव।

अन्यो महान्, अन्योऽमहान्भूतप्रकृतौ वर्तते। महान्महत्येव॥

नहीं हो सकेगा। क्योंकि यहाँ लक्ष्मी का ईकार स्त्रीलिङ्ग में विहित नहीं है। प्रस्तुत सूत्र में ङी ग्रहण करने पर प्रयोजनाभाव होने से 'स्त्रियाः' की अनुवृत्ति नहीं आएगी। क्योंकि ङी तो स्त्रीलिङ्ग में ही होता है। ऐसा होने पर 'नद्याः शेषस्य...' से विकल्पित ह्रस्वत्व सिद्ध हो सकेगा।

भा०—यह इष्ट ही सङ्गृहीत है—लक्ष्मीतरा... यह [दीर्घान्त पूर्वपद] रूप ही होना चाहिये। सौनाग आचार्य यह पाठ करते हैं कि—'घादि परे रहने पर नदी को ह्रस्वत्व के प्रसङ्ग में कृत् नदी का प्रतिषेध कहना चाहिए।'

विवरण—इस प्रकार सिद्ध हुआ कि ङी ग्रहण करने पर विकल्पित ह्रस्वत्व की प्राप्ति होगी। उसका इस सौनाग वचन से प्रतिषेध करना होगा। परन्तु 'ङी' ग्रहण तथा शेष ग्रहण न करने पर पूर्वोक्त विधि से समुचित रूप सिद्ध होंगे तथा लक्ष्मीतरा में विकल्पित ह्रस्वत्व भी नहीं होगा।

आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः॥

भा०—यहाँ पर [आत्व] क्यों नहीं होता—अमहान् महान् सम्पन्नो महद्-भूतश्चन्द्रमाः?

का०—अन्य की [महत् विकृति की] प्रकृति (=कारण) अमहान् है। भूतः शब्द की प्रकृति (=कारण=अर्थ) के सन्दर्भ में तो महान् शब्द महत् अर्थ में ही (=भूत अर्थ में नहीं।)

भा०—महान् अन्य (=विकृति) है, अन्य (=प्रकृति) अमहान् है। यहाँ महान् शब्द महत् अर्थ में ही है, [भूत अर्थ में नहीं, अर्थात् भूत का सामानाधिकरण्य प्रकृति अमहान् के साथ है, विकृति महान् के साथ नहीं।]

विवरण—यहाँ 'भूत' शब्द में अकर्मक भू धातु से 'गत्यर्थाकर्मक...' (३.४.७२) के अनुसार कर्ता में क्त है। 'अभूततद्भावे कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्त्तरि च्विः' (५.४.५०) सूत्र से महत् से च्वि होने के पश्चात् समास होकर महद्भूतः निष्पन्न है। यहाँ प्रस्तुत भाष्य का आशय है कि 'भूत' का कर्ता प्रकृति अमहान् है। महान् में प्रथमा विभक्ति तो अमहान् के साथ समानाधिकरण के कारण है। जैसे

तस्मादात्त्वं न स्यात्।

तस्मादात्त्वं न भविष्यति॥

पुंवत्तु कथं भवेदत्र॥ १॥

पुंवद्भावोऽपि तर्हि न प्राप्नोति—अमहती महती संपन्ना महद्भूता ब्राह्मणी॥ एवं तर्हि—

अमहति महान् हि वृत्तस्तद्वाची चात्र भूतशब्दोऽयम्।

अमहति महच्छब्दो वर्तते, तद्वाची चात्र भूतशब्दः प्रयुज्यते। किंवाची? महद्वाची॥

तस्मात् सिध्यति पुंवत्

'शुक्लः पटः' में पट कर्ता है, शुक्ल में प्रथमा उसके विशेषण होने के कारण है। इस प्रकार 'महाभूतः' में भूतः का सीधा समानाधिकरण 'अमहत्' के साथ है। महत् के साथ पारम्परिक है। इसीलिये 'पटीभवन्ति तन्तवः' में प्रकृति के आश्रित वचन होते हैं। भूतः का सीधा समानाधिकरण महत् के साथ न होने से यहाँ आत्व नहीं होता।

का०—इसलिये आत्व नहीं होगा।

का०—तब यहाँ पुंवत् कैसे होगा?

भा०—तब तो यहाँ पुंवद्भाव भी नहीं पाता—अमहती महती सम्पन्ना महद्भूता ब्राह्मणी। [पूर्वोक्त रीति से भूतः का महत् के साथ सीधा सामानाधिकरण न होने से 'स्त्रियाः पुंवत्...' (६.३.३४) से पुंवत् प्राप्त नहीं होता।]

अच्छा तो फिर—

का०—महान् शब्दार्थ अमहत् अर्थ में [एकात्मक रूप से] सम्पन्न हो गया है, उससे समानाधिकरण रूप में प्रकट करने वाला भूत शब्द है।

भा०—अमहत् में महान् शब्द है, और यहां भूत शब्द तद्वाची प्रयुक्त है। इससे भूत शब्द किसे प्रकट करता है? महत् को।

का०—इससे पुंवद्भाव सिद्ध हो जाता है।

विवरण—यह प्रबन्ध परिणामवाद सिद्धान्त के अनुसार कहा गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति अपने धर्मान्तर को प्राप्त करते हुए भी अपनी मूल अवस्था से अप्रच्युत रहती है। इससे प्रकृति विकृति दोनों ही एक समय वर्तमान हैं। इस स्थिति में अमहत् प्रकृति तथा महत् विकृति एकात्मक रूप से अवस्थित हैं। अतः यह सम्भव है कि भूत शब्द दोनों के साथ सम्बन्ध रख सके। अतः भूतः के दोनों कर्ता हैं। फिर भी महत् उद्भूत विकृति है। अतः भूतः का सीधा सम्बन्ध महत् के साथ है, इससे पुंवद्भाव सिद्ध है।

तस्मात् सिध्यति पुंवद्भावः ॥ यद्येवमात्त्वमपि प्राप्नोति—महद्भूतश्चन्द्रमाः ?

निवर्त्यमात्त्वं तु मन्यन्ते॥ २ ॥

आत्त्वमपि प्राप्नोति ? नैष दोषः ।

यस्तु महतः प्रतिपदं समास उक्तस्तदाश्रयं ह्यात्त्वम् ।
कर्तव्यं मन्यन्ते न लक्षणेन लक्षणोक्तश्चायम् ॥ ३ ॥

एवं तर्हि लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव' इति प्रतिपदं यः समासो विहितस्तस्य ग्रहणं लक्षणोक्तश्चायम् ॥ इहापि तर्हि न प्राप्नोति—महान् बाहुरस्य महाबाहुः ।

यह व्याख्या पिछले 'विवरण' से भिन्न है। अनेक पक्षों के उत्थापन में अनेक व्याख्याएँ होती हैं। यहाँ इस व्याख्या को मानकर पुंवद्भाव सिद्ध किया गया। इसके अनुसार यह शब्दशक्तिस्वभाव है कि 'पटीभवन्ति तन्तवः' में प्रकृति के अनुसार वचन होते हैं। परन्तु 'महद्भूतः' आदि में भूतः के दोनों कर्ता हैं, सीधा सम्बन्ध विकृति महत् के साथ है।

भा०—तब तो [इस व्याख्या के अनुसार] आत्व भी पाता है—'महद्भूतश्चन्द्रमाः' यहाँ पर।

का०—[पुंवद्भाव के समान आत्व का भी प्रसङ्ग होने से] आत्व को निवर्त्य (=निषेध्य) मानते हैं। [क्योंकि—]

भा०—आत्व भी प्राप्त होता है। यह दोष नहीं है। किस प्रकार?

का०—महत् का जो प्रतिपद समास उक्त है, तदाश्रित आत्व करणीय है, ऐसा मानते हैं। लक्षण से विहित [का आत्व नहीं।] यह 'महद्भूतः' तो लक्षणोक्त है।

भा०—अच्छा तो फिर, 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव' इस परिभाषा के अनुसार प्रतिपद जो समास विहित है, उसका [आत्व विधान में] ग्रहण है, यह तो लाक्षणिक है।

विवरण—'महापुरुषः' आदि की सिद्धि के लिये 'सन्महत्...' सूत्र से प्रतिपदोक्त समास का विधान है। परन्तु 'महद्भूतः' में च्वि के पश्चात् 'ऊर्यादिच्विडाचश्च' (१.४.६१) से गति संज्ञा के पश्चात् 'कुगतिप्रादयः' (२.२.१८) से लाक्षणिक समास का विधान है। अतः यहाँ आत्व नहीं होता।

भा०—तब तो यहाँ भी [आत्व] प्राप्त नहीं होता—महान् बाहुरस्य महाबाहुः। [क्योंकि यह भी 'अनेकमन्यपदार्थे' (२.२.२४) से विहित होकर लाक्षणिक है।

शेषवचनात्तु योऽसौ प्रत्यारम्भात्कृतो बहुव्रीहिः। तस्मात् सिध्यति तस्मिन्

यस्मात् 'शेषो बहुव्रीहिः' (२.२.२३) इति सिद्धे 'अनेकमन्यपदार्थे' (२४) इत्याह, तेन प्रतिपदं भवति॥

प्रधानतो वा यतो वृत्तिः॥ ४॥

अथवा 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः'। तद्यथा—गौरनूबन्ध्योऽजोऽग्नीषोमीय इति न वाहीकोऽनुबध्यते। कथं तर्हि वाहीके वृद्ध्यात्वे भवतः— गौस्तिष्ठति। गामानयेति? अर्थाश्रय एतदेवं भवति। यद्धि शब्दाश्रयं शब्दमात्रे तद्भवति। शब्दाश्रये च वृद्ध्यात्वे॥

का०—यह जो 'शेष' वचन करते हुए उसके प्रत्यारम्भ के साथ बहुव्रीहि का विधान करते हैं, उससे सिद्ध होता है कि वहाँ प्रतिपदोक्त मानते हुए कार्य होता है।

भा०—यह जो 'शेषो बहुव्रीहिः' से सिद्ध होने पर अनेकम् [के साथ] 'अन्यपदार्थे' कहा है, उससे सिद्ध होता है कि यहाँ बहुव्रीहि को प्रतिपदोक्त...के समान कार्यशील समझा जाता है।

विवरण—यहाँ 'शेष' ग्रहण के साथ 'अन्यपदार्थ' ग्रहण की अनिवार्यता नहीं है। क्योंकि पूर्वपदार्थ, उत्तरपदार्थ से शेष अन्य पदार्थ ही होगा, जिससे बहुव्रीहि समास विधारित होगा। पुनरपि 'अन्यपदार्थे' ग्रहण ज्ञापित करता है कि यह परिभाषा अनित्य है। अतः यहाँ लाक्षणिक बहुव्रीहि में भी आत्व हो जाता है।

का०—क्योंकि प्रधान से शास्त्र की प्रवृत्ति होती है। अतः [महाबाहुः में आत्वशास्त्र की प्रवृत्ति हो जाती है।]

भा०—अथवा गौण, मुख्य में से मुख्य में ही कार्य होता है। जैसे—अग्नीषोम देवता वाले अज, गौ का अनुबन्धन करना चाहिये। यहाँ वाहीक का अनुबन्धन नहीं होता। तो फिर 'वाहीक' अभिधेय में वृद्धि आत्व किस प्रकार हो जाते हैं? [समाधान—यह अनुबन्धन विधि] अर्थाश्रित होती है। परन्तु जो शब्दाश्रित कार्य है, वह तो शब्दमात्र को हो जाता है, और वृद्धि, आत्व तो शब्दाश्रित हैं।

विवरण—उपरिलिखित शब्दों की सिद्धि के लिये इस परिभाषा का प्रयोग अत्यन्त समुचित एवं न्याय प्राप्त है। लोक में हरयाणा के समीप वाहीक ग्राम के लोगों के अत्यन्त सीधे, सदाचरणशील होने से उन्हें 'गौ' कह देते थे। पर यह 'गौ' न तो इनका नाम था, न ही गौ शब्द से गौण रूप से अभिहित वाहीक का मन्त्रप्रोक्त मुख्य अनुबन्धन-क्रिया के साथ सम्बन्ध लगाया जाता था। पर किसी सामान्य वाक्य में गौ शब्द से गौण रूप से 'वाहीक' अभिहित होता था। यहाँ वृद्धि, आत्व आदि सम्पन्न होकर उस वाहीक के लिये भी 'गौः', 'गाम्' आदि शब्द निष्पन्न

महदात्त्वे घासकरविशिष्टेषूपसंख्यानं पुंवद्वचनं चासमानाधिकरणार्थम्॥ १॥

महदात्त्वे घासकरविशिष्टेषूपसंख्यानं कर्तव्यं पुंवद्भावश्चासमानाधिकरणार्थः कर्तव्यः। महत्या घासो महाघासः। महत्याः करो महाकरः। महत्या विशिष्टो महाविशिष्टः॥

अष्टनः कपाले हविषि॥ २॥

अष्टनः कपाले हविष्युपसंख्यानं कर्तव्यम्। अष्टाकपालं पुरोडाशं[1]

होते हैं। क्योंकि ये कार्य शब्दाश्रित हैं। किसी शब्दार्थ के अन्य शब्दार्थ के साथ अन्वय से पूर्व ही ये सम्पन्न हो जाते हैं। जबकि गौण मुख्य भाव का परिज्ञान वाक्य बनने पर होता है। अतः इन शब्दाश्रित कार्यों में यह परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती, अर्थाश्रित कार्यों में ही इसकी प्रवृत्ति होती है।

समानाधिकरण में विहित आत्वादि कार्य अर्थाश्रित हैं। प्रस्तुत उदाहरण में महत् का भूतः के साथ समानाधिकरण हैं। यहाँ प्रयुक्त 'महत्' शब्द पूर्णिमा के पूर्ण-चन्द्र को नहीं कह रहा। अपितु तृतीया वाले चन्द्र के सापेक्ष अष्टमी के चन्द्र को कह रहा है। इस प्रकार इसमें सापेक्ष महत्त्व है, पूर्ण महत्त्व नहीं। अतएव इसमें गौण महत्त्व है। इस प्रकार यहाँ अमहत्त्व में महत्त्व आरोपित है, जिस प्रकार पूर्वोक्त उदाहरण में वाहीक में गोत्व आरोपित है। च्विप्रत्ययान्त शब्दों से आरोपित महत्त्व को प्रकट किया जाता है। अतः इनमें गौणत्व होने से इनमें आत्वादि कार्य नहीं होते।

परन्तु 'महद्भूता ब्राह्मणी' इस उदाहरण में प्रयुक्त 'महत्' में स्त्रीत्व गौण नहीं है। उस ब्राह्मणी में आरोपित स्त्रीत्व नहीं है। अतः मुख्य स्त्री शब्द को विधीयमान पुंवत् सम्पन्न हो जाता है। भाषा के शब्दार्थ तथा उनकी गौण-मुख्यता के आधार पर यह बहुत समुचित न्यायप्राप्त व्याख्या है।

वा०—महत् को आत्व करने में घास, कर, विशिष्ट में उपसङ्ख्यान, पुंवत् वचन भी असमानाधिकरण के लिये।

भा०—महत् को आत्व के प्रसङ्ग में घास, कर, विशिष्ट परे रहने पर [आत्व का] उपसङ्ख्यान करना चाहिये। असमानाधिकरण के लिये, पुंवद्भाव भी कहना चाहिये। महत्याः घासः महाघासः...।

वा०—अष्टन् का कपाल में हवि होने पर।

भा०—अष्टन् का [आत्व] कपाल परे रहने पर हवि अभिधेय में—उपसङ्ख्यान करना चाहिये। अष्टाकपालं...। ['अष्टसु कपालेषु संस्कृतः' विग्रह के अनुसार

---

१. 'चरुं' इत्यपपाठो मुद्रितेषु।

निर्वपेत्। हविषीति किमर्थम्। अष्टकपालं ब्राह्मणस्य॥

गवि च युक्ते॥ ३॥

गवि च युक्त उपसंख्यानं कर्तव्यम्। अष्टागवेन शकटेन। युक्त इति किमर्थम्? अष्टगवं ब्राह्मणस्य॥

द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः॥ ६.३.४७॥

प्राक्शतादिति वक्तव्यम्। इह मा भूत्—द्विशतम्, द्विसहस्त्रम्। अष्टशतम्, अष्टसहस्त्रम्॥

विभाषा चत्वारिंशत्प्रभृतौ सर्वेषाम्॥ ६.३.४९॥

सर्वेषांग्रहणं किमर्थम्? चत्वारिंशत्प्रभृतौ सर्वेषां विभाषा यथा स्याद्,

---

'तद्धितार्थोत्तरपद...' (२.१.५१) से समास, 'संस्कृतं भक्षाः' (४.२.१६) से अण्, उसका 'द्विगोर्लुगनपत्ये' (४.१.८८) से लुक्] यहाँ 'हवि अभिधेय' क्यों कहा है? अष्टकपालं ब्राह्मणस्य। ['अष्टन्+कपाल' से समाहार में पूर्वोक्त से समास 'सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः' (२.१.५२) से द्विगु, 'पात्रादिभ्यः प्रतिषेधः' ('स नपुंसकम्' २.४.१७ सूत्र में प्रोक्त) वार्तिक से स्त्रीत्व-निषेध।]

वा०—गो में युक्त होने पर।

भा०—गो परे होने पर युक्त अर्थ का सम्प्रत्यय होने पर आत्व का उपसङ्ख्यान करना चाहिये। अष्टागवेन शकटेन (=आठ बैल वाले शकट के द्वारा) ['अष्टौ गावो युक्ता अस्मिन्' विग्रह के अनुसार त्रिपद बहुव्रीहि होने पर युक्त उत्तरपद परे होने पर 'तद्धितार्थोत्तरपद...' से पूर्व के दो पदों का द्विगु तत्पुरुष समास। 'गोरतद्धितलुकि' (५.४.९२) से समासान्त टच्। पश्चात् प्रस्तुत वार्तिक से अष्टन् के अन्तिम को आत्व। व्याख्याकारों के अनुसार इस आत्व से युक्त अर्थ के गतार्थ होने से युक्त का लोप। वैसे यह अलौकिक है। समास में इस प्रकार लोप अन्यत्र दृष्ट नहीं है।]

'युक्ते' किसलिये है? अष्टगवं ब्राह्मणस्य [पूर्वोक्त के समान समाहार में द्विगु होने पर युक्त अभिधेय न होने से आत्व नहीं। 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८.२.७) से नकारलोप।]

द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः॥

भा०—शत से पूर्ववर्ती [सङ्ख्यावाचक उत्तरपद परे होने पर द्वि, अष्टन् को आत्व] यह कहना चाहिये। यहाँ न हो—द्विशतम्... आदि।

विभाषा चत्वारिंशत्प्रभृतौ सर्वेषाम्॥

भा०—'सर्वेषाम्' ग्रहण किसलिये है? यहाँ यह ग्रहण इसलिये है कि सभी को—उपरिलिखित द्वि, अष्टन्, त्रि को आत्व का विकल्प होवे। यह प्रयोजन नहीं

द्व्यष्टनोश्च त्रेश्च ॥ नैतदस्ति प्रयोजनम्। प्रकृतं द्व्यष्टनोर्ग्रहणमनुवर्तिष्यते। यदि तदनुवर्तते त्रेस्त्रयो द्व्यष्टनोश्चेति द्व्यष्टनोरपि त्रय आदेशः प्राप्नोति? नैष दोषः। मण्डूकगतयोऽधिकाराः। यथा मण्डूका उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छन्ति तद्वदधिकाराः। अथवैकयोगः करिष्यते। द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योस्त्रेस्त्रयः। ततो विभाषा चत्वारिंशत्प्रभृतौ सर्वेषाम्। नैकयोगेऽनुवृत्तिर्भवति। अथवोभयं निवृत्तं तदपेक्षिष्यामहे ॥

हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु ॥ ६.३.५० ॥

यदण्ग्रहणमिदं प्रत्ययग्रहणम्, तत्र प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स तदादेर्ग्रहणं भवतीति यदणन्ते प्राप्नोति?

यदण्ग्रहणे रूपग्रहणं लेखग्रहणात् ॥ १ ॥

यदण्ग्रहणे रूपग्रहणं द्रष्टव्यम्। कुतः? लेखग्रहणात्। यदयं

है—प्रकृत द्वि, अष्टन् ग्रहण अनुवृत्त होगा। [प्रश्न–] यदि वह अनुवृत्त है तो 'द्व्यष्टनोः...' में भी 'त्रेस्त्रयः' की अनुवृत्ति होने से उस सूत्र से त्रि को त्रय आदेश भी पाएगा। [समाधान–] यह दोष नहीं है। अधिकार मण्डूक गति के सदृश होते हैं। जिस प्रकार मेंढक उछल-उछल कर आगे बढ़ते हैं, उसी प्रकार अधिकार होते हैं।

अथवा एक सूत्र बनाएँगे। 'द्व्यष्टनः..., त्रेस्त्रयः'। उसके पश्चात् 'विभाषा चत्वारिंशत्...'। एकयोग में अनुवृत्ति नहीं होती। अथवा दोनों निवृत्ति को प्राप्त हैं, यहाँ उनकी अपेक्षा करेंगे।

विवरण—पिछले अनुवृत्तिमूलक समाधान में अनुवृत्ति स्वरित के बल पर 'स्वरितेनाधिकारः' सूत्र द्वारा अनुशासित है। द्वितीय समाधान के अनुसार इस सूत्र में द्वि, अष्टन् आदि का सम्बन्ध किसी शासन के बल पर नहीं है। अपितु वह स्वतः न्याय प्राप्त है। शाब्दबोध में अन्यों के अलावा 'आकाङ्क्षा' को सहकारि-कारण माना गया है। यह आकाङ्क्षा स्वतः स्फूर्त सञ्चालित होते हुए अन्यों के साथ अन्वय में सहायक होती है। इसी आकाङ्क्षा रूप अपेक्षा से यहाँ द्वि, अष्टन् आदि का सम्बन्ध हो सकेगा।

हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु ॥

भा०—सूत्र में यह यत्, अण् ग्रहण प्रत्यय-ग्रहण है। अतः 'प्रत्ययग्रहणे यस्मात्...' परिभाषा के अनुसार तदन्त तदादि को कार्य होता है, अतः यदन्त, अणन्त [उत्तरपद परे] होने पर [पूर्वपद हृदय को हृत् आदेश] प्राप्त होता है?

वा०—यत्, अण् ग्रहण में रूप ग्रहण, लेख ग्रहण से।

भा०—यत्, अण् ग्रहण में स्वरूपग्रहण समझना चाहिये। [तदन्त-ग्रहण नहीं।] किस प्रकार? लेख ग्रहण से। यह जो इस सूत्र में लेख ग्रहण किया है,

लेखग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो न यदणन्ते भवतीति॥

अपर आह—अत्यल्पं ज्ञाप्यते। सर्वत्रैवोत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे रूपग्रहणं द्रष्टव्यम्। कुतः ? लेखग्रहणादेव। किं प्रयोजनम् ? कुमारीगौरितरा। घादिषु नद्या ह्रस्वो भवतीति ह्रस्वत्वं प्रसज्येत॥ यद्येतज्ज्ञाप्यते 'खित्यनव्ययस्य' (६.३.६६) इति खित्येवानन्तरस्यानव्ययस्य ह्रस्वत्वं प्राप्नोति। खित्यनन्तरो ह्रस्वभावी नास्तीति कृत्वा खिदन्ते उत्तरपदे भविष्यति। ननु चायमस्ति—स्तनन्धय इति ? अत्रापि शपा व्यवधानम्। एकादेशे कृते नास्ति व्यवधानम्। एकादेशः पूर्वविधौ स्थानिवद्भवतीति स्थानिवद्भावाद्

उससे आचार्य ज्ञापित करते हैं कि यदन्त, अणन्त के परे रहते नहीं होता। [यदि अणन्त का होता तो लेख अणन्त परे रहने पर पूर्वपद हृदय को स्वतः हृत् आदेश सिद्ध था। पुनः 'लेख' ग्रहण ज्ञापक है कि अन्यत्र केवल स्वरूप अण् परे रहने पर आदेश होता है।]

अन्य आचार्य कहते हैं—यह स्वल्प प्रसङ्ग में ज्ञापक है। वस्तुतः सम्पूर्ण उत्तरपद अधिकार में प्रत्यय-ग्रहण में स्वरूप-ग्रहण समझना चाहिये। किस प्रकार ? लेख ग्रहण से ही। [किसी विधि के अनर्थक होने पर उसे सार्थक करने के लिये नवीन निष्कर्ष की निष्पत्ति अपनी सुविधा या आवश्यकतानुसार होती है। अतः यहाँ ऐसी आवश्यकता होने से विस्तृत निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है।]

क्या प्रयोजन है ? 'कुमारीगौरितरा' यहाँ ['घरूपकल्प...' सूत्र से] घादि परे रहने पर नदी को ह्रस्व होता है, इस नियम से ह्रस्वत्व की प्राप्ति होती ? [घान्त इत्यादि परे रहने पर ह्रस्व इस अर्थ में 'गौरितरा' इस घान्त से पूर्व 'कुमारी' के अन्त को ह्रस्व प्राप्त होता ?]

विशेष—यहाँ समास में पुंवद्भाव होकर 'कुमारगौरितरा' रूप बनना चाहिये। इस पर महावैयाकरण नागेश भट्ट का कहना है कि 'जातेरस्त्री...' (४.१.६३) सूत्र में प्रोक्त एक अन्य जाति-लक्षण के अनुसार यह जाति है। अतः 'जातेश्च' (६.३.४१) से पुंवत् के निषेध पक्ष में यह रूप समाहित है।

भा०—यदि यह ज्ञापक है तो 'खित्यनव्ययस्य' सूत्र में केवल खित् प्रत्यय परे रहने पर ठीक उस स्वरूप के अनन्तर पूर्ववर्ती अनव्यय को ह्रस्व प्राप्त होता है ? [समाधान-] केवल खित् परे रहने पर ठीक अनन्तर ह्रस्वयोग्य है नहीं, अतः खिदन्त उत्तरपद परे रहने पर हो जाएगा। [प्रश्न-] क्यों यह तो है—स्तनन्धयः ? [यहाँ 'नासिकास्तनयो...' (३.२.२९) से खश् होने पर 'स्तन धे अ' इस दशा में अ परे रहने पर 'धे' को ह्रस्वयोग्य मान रहे हैं।] [समाधान-] यहाँ भी ['स्तन धे अ अ' इस दशा के होने पर] शप् के साथ व्यवधान है। [प्रश्न-] एकादेश करने पर व्यवधान नहीं होगा। [समाधान-] ['अचः परस्मिन्...' (१.१.५७) सूत्र से] एकादेश पूर्वविधि में स्थानिवत् होता है। अतः स्थानिवद्भाव से व्यवधान

व्यवधानमेव। अथवैतदेव ज्ञापयत्याचार्यः—खित्यनन्तरस्य न भवतीति, यदयमनव्ययस्येति प्रतिषेधं शास्ति। न हि खित्यनन्तरमव्ययमस्ति॥

पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु॥ ६.३.५२॥

पदादेशेऽन्तोदात्तनिपातनं पदोपहतार्थम्॥ १॥

पदादेशेऽन्तोदात्तनिपातनं कर्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? पदोपहतार्थम्। पादेनोपहतं पदोपहतम्। 'तृतीया कर्मणि' (६.२.४८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे पूर्वपदान्तोदात्तत्वं यथा स्यात्॥

उपदेशिवद्वचनं च स्वरसिद्ध्यर्थम्॥ २॥

उपदेशिवद्भावश्च कर्तव्यः। किं प्रयोजनम्? स्वरसिद्ध्यर्थम्। उपदेशावस्थायामन्तोदात्तनिपातने कृते समासस्वरेण बाधनं यथा स्यात्। पदाजिः, पदातिः॥

ही होगा। अथवा आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापक है कि खित् परे रहने पर अनन्तर को नहीं होता—जो अनव्यय प्रतिषेध का शासन किया है। खित् परे रहने पर कोई अनन्तर अव्यय होता नहीं है। [किसी विधि की प्राप्ति होने पर उसे निषेध की उपयोगिता होती है। केवल खित् स्वरूप परे होने पर उसके ठीक पूर्व कोई अव्यय नहीं मिलता। अतः सामर्थ्य से यहाँ खिदन्त उत्तरपद समझ लिया जाएगा।]

पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु॥

वा०—पद आदेश में अन्तोदात्त-निपातन, पदोपहत के लिये।

भा०—पद आदेश में अन्तोदात्त का निपातन करना चाहिये, क्या प्रयोजन है? पदोपहत के लिये। पादेन उपहतम्—पदोपहतम्। यहाँ 'तृतीया कर्मणि' से पूर्वपद-प्रकृतिस्वरत्व करने पर पूर्वपद को अन्तोदात्तत्व हो सके। [पाद शब्द वृषादि में होने से 'वृषादीनां च' (६.१.२०३) से आद्युदात्त है। उसे प्रकृतिस्वर द्वारा आद्युदात्त ही होता, अतः अन्तोदात्त-विधान है। इसके अनन्तर एकादेश होने पर 'स्वरितो वानुदात्ते पदादौ' (८.२.६) से एक पक्ष में स्वरित तथा अन्य पक्ष में उदात्त होता है।

वा०—उपदेशिवद् वचन भी स्वर की सिद्धि के लिये।

भा०—उपदेशिवद्भाव भी कहना चाहिये। ['उपदेशोऽस्यास्तीति' इस विग्रह के अनुसार जिस शब्द का 'उपदेश' किया गया है, वह उपदेशी होगा।] क्या प्रयोजन है? स्वर की सिद्धि के लिये। उपदेशावस्था में अन्तोदात्त-निपातन कर लेने पर समास [आश्रित कृत्स्वर] के द्वारा बाधन हो जावे। पदाजिः...। [जिस प्रकार उपदेश में परिपठित शब्द का स्वर अग्रिम सति शिष्ट प्रत्यय आदि के स्वर

पद्यत्यतदर्थे॥ ६.३.५३॥

पद्भाव इके चरतावुपसंख्यानम्॥ १॥

पद्भाव इके चरतावुपसंख्यानं कर्तव्यम्। पादाभ्यां चरति पदिकः॥

वा घोषमिश्रशब्देषु॥ ६.३.५६॥

निष्के चोपसंख्यानं कर्तव्यम्। पन्निष्केण, पादनिष्केण॥

उदकस्योदः संज्ञायाम्॥ ६.३.५७॥

संज्ञायामुत्तरपदस्य च॥ १॥

संज्ञायामुत्तरपदस्येति वक्तव्यम्। इहापि यथा स्यात्—क्षीरोदः, लोहितोदः।

से बाधा जाता है, उसी प्रकार 'पदाजिः' आदि में यह अन्तोदात्त निपातन अग्रिम प्राप्त कृत्स्वर (६.२.१३९) के द्वारा बाधा जाता है। 'पदाजिः' आदि में उत्तरपद 'आजि' शब्द औणादिक इण् प्रत्यय होकर प्रत्ययस्वर द्वारा अन्तोदात्त है। कृत्स्वर के द्वारा इस उत्तरपद का अन्तोदात्त सम्पन्न होता है।]

पद्यत्यतदर्थे॥

वा०—पद्भाव में इक में चरति में उपसङ्ख्यान।

भा०—पद्भाव के प्रसङ्ग में 'चरति' अर्थ में इक परे होने पर [पत् आदेश का] उपसङ्ख्यान करना चाहिये। पादेन चरति पदिकः [यहाँ इस अर्थ में 'पर्पादिभ्यः ष्ठन्' (४.४.१०) से ष्ठन् प्रत्यय।]

वा घोषमिश्रशब्देषु॥

वा०—निष्क परे रहने पर भी उपसङ्ख्यान।

भा०—निष्क परे रहने पर भी उपसङ्ख्यान करना चाहिये। पन्निष्केण...।

विशेष—वार्तिक से प्रकट है कि ऋग्वैदिक युग से प्रचलित तथा महर्षि पाणिनि के युग में सोने का यह जगमगाता सिक्का वार्तिककार तथा महाभाष्य के समय भी प्रचलित था। यहाँ निष्क के चौथाई मूल्य वाले सिक्के की सूचना दी गई है।

उदकस्योदः संज्ञायाम्॥

वा०—संज्ञा में उत्तरपद का भी।

भा०—संज्ञा में उत्तरपद का भी [उद आदेश होता है], यह कहना चाहिये। यहाँ भी हो सके—लोहितोदः...।

एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम्॥ ६.३.५९॥

एकहलादाविति किमर्थम्? उदकस्थानम्॥ उच्यमानेऽप्येतस्मिन्नत्र प्राप्नोति। एतदप्येकहलादि। किं कारणम्? एकैकवर्णवर्तित्वाद्वाच उच्चरित-प्रध्वंसित्वाच्च वर्णानाम्। एकैकवर्णवर्तिनी वाक्। न द्वौ वर्णौ युगपदुच्चारयति। तद्यथा—गौरित्युक्ते यावद्गकारे वाक्प्रवर्तते तावन्नौकारे न विसर्जनीये, यावदौकारे न गकारे न विसर्जनीये, यावद्विसर्जनीये न गकारे नौकारे। उच्चरितप्रध्वंसित्वाच्च वर्णानाम्। उच्चरितो वर्णः प्रध्वस्तश्च। अथापरः प्रयुज्यते न वर्णो वर्णान्तरस्य सहायः॥ एवं तर्ह्येकहलादावित्युच्यते, सर्वश्चैवैकहलादिः। तत्र प्रकर्षगतिर्विज्ञास्यते। साधीयो य एकहलादिरिति। कश्च साधीयः? यत्रैकं हलमुच्चार्याजुच्यते॥

इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य॥ ६.३.६१॥

एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम्॥

भा०—एकहलादौ किसलिये है? उदकस्थानम्। [यहाँ 'आनम्' के सापेक्ष दो हल् आदि में है।]

इस वचन के कहने पर भी यहाँ प्राप्त होता है, यह भी एकहलादि है। क्या कारण है? वाणी के [क्रमशः] एक-एक वर्ण में उपस्थित रहने से तथा वर्णों के उच्चारण के तत्काल पश्चात् विनाश के स्वभाव वाला होने से। जैसे—'गौ' कहते समय जब वाणी गकार के उच्चारण की ओर प्रवृत्त होती है, तब वह औकार तथा विसर्जनीय के उच्चारण में प्रवृत्तिशील नहीं होती। जब औकार में, तब गकार, विसर्जनीय में नहीं। जब विसर्जनीय में तब गकार, औकार में नहीं। वर्णों के उच्चारण के तत्काल पश्चात् विनाशशील स्वभाव वाला होने से भी। वर्ण उच्चारित हुआ, नष्ट हो गया। अतः जब अन्य वर्ण प्रयुक्त होता है, तब कोई वर्ण अन्य वर्ण की सहायता अथवा मेल नहीं रखता।

अच्छा तो फिर 'एकहलादौ' कहा है। इस दृष्टि से तो सभी एकहलादि हैं। अतः प्रकर्षगति समझी जाएगी—विशेष दृष्टि से जो एकहलादि। विशेष दृष्टि से कौन है? जहाँ एक हल् का उच्चारण करके अच् कहा जाता है। [विशेष दृष्टि से यहाँ 'एक' का 'असहाय' अर्थ लिया जाएगा तथा 'बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टाः कर्ता धीरस्तत्त्वन्नीतिः' इस न्याय के अनुसार बुद्धि में अन्य अक्षरों को एक साथ आरूढ करके उनके सापेक्ष 'एक हल् है या नहीं' यह विवेचना की जाएगी।]

इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य॥

इको ह्रस्वत्वमुत्तरपदमात्रे॥ १ ॥

इको ह्रस्वत्वमुत्तरपदमात्रे वक्तव्यम्। इहापि यथा स्यात्—अलाबु-कर्कन्धुदृन्भुफलमिति॥ किं पुनः कारणं न सिध्यति?

सर्वान्ते हि लोकविज्ञानम्॥ २ ॥

लोकविज्ञानाद्धि यदेव सर्वान्त्यं पदं तस्मिन्पूर्वपदस्य ह्रस्वत्वं स्यात्॥

अथवैवं विग्रहः करिष्यते—अलाबूश्च कर्कन्धूश्चालाबुकर्कन्ध्वौ। अलाबुकर्कन्ध्वौ च दृन्भूश्चालाबुकर्कन्धुदृन्भ्वः। अलाबुकर्कन्धुदृन्भूनां फलम्—अलाबुकर्कन्धुदृन्भुफलमिति। यद्येवं दृन्भ्वाः पूर्वनिपातः प्राप्नोति। राजदन्तादिषु पाठः करिष्यते॥ अथवा दृन्भ्वाः फलं दृन्भुफलम्, कर्कन्धूश्च दृन्भुफलं कर्कन्धुदृन्भुफलम्। अलाबूश्च कर्कन्धुदृन्भुफलं चालाबुकर्कन्धुदृन्भु फलम्। एवमपि फलेनाकृतोऽभिसम्बन्धो भवति? नैष दोषः। प्रत्येकं फल-शब्दः परिसमाप्यते॥

वा०—इक् को ह्रस्वत्व उत्तरपद मात्र में।

भा०—इक् को ह्रस्वत्व उत्तरपद-मात्र में कहना चाहिये। [किसी के भी सापेक्ष किसी के उत्तरपद बनने पर ह्रस्वत्व हो जाए।] यहाँ भी हो सके—अलाबुकर्कन्धु-दृन्भुफलम्। [यहाँ प्रत्येक उत्तरपद के सापेक्ष प्रत्येक पूर्वपद के अन्त को ह्रस्व हो गया है।]

क्या कारण है कि सिद्ध नहीं होता?

वा०—सर्वान्त में लोकविज्ञान से।

भा०—लोकप्रसिद्धि के अनुसार जो सबसे अन्तिम पद है, केवल उसके परे रहने पर [उससे ठीक पूर्ववर्ती] पूर्वपद का ह्रस्व होता।

अथवा इस प्रकार विग्रह करेंगे—[विग्रह का न्यास ऊपर देखें। इस प्रकार प्रत्येक उत्तरपद के सापेक्ष प्रत्येक पूर्ववर्ती पूर्वपद हो सकेगा।]

तब तो 'दृन्भू' का ['अल्पाच्तरम्' (२.२.३४) सूत्र से] पूर्व-निपात प्राप्त होता है? [क्योंकि दो के द्वन्द्व में 'दृन्भू' सबसे कम अचों वाला है। तीनों के द्वन्द्व में यह दोष नहीं होगा। क्योंकि इस सूत्र में 'तर' निर्देश को प्रधान मानने पर दो के मध्य सम्प्रधारणा होने पर ही यह कार्यशील होगा, तीन के मध्य होने पर नहीं।] राजदन्तादि (२.२.३१) में पाठ कर दिया जाएगा।

अथवा [इस प्रकार विग्रह करेंगे—विग्रह मूल में देखें] तो भी [कर्कन्धू आदि के साथ] फल का सम्बन्ध नहीं हो सकेगा? यह दोष नहीं है। प्रत्येक के साथ फल शब्द समापन्न होगा। ['कर्कन्धू' आदि से 'ओरञ्' (४.३.१३७) से अञ् करने पर उसका 'फले लुक्' (४.३.१६३) से लुक् करने पर यह फलवाचक हो सकेगा।]

इयङुवङव्ययप्रतिषेधः ॥ ३ ॥

इयङुवङ्भाविनामव्ययानां च प्रतिषेधो वक्तव्यः। श्रीकुलम्, भ्रूकुलम्। काण्डीभूतं वृषलकुलम्। कुड्यीभूतं वृषलकुलम्॥

अभ्रूकुंसादीनामिति वक्तव्यम्। भ्रूकुंसः, भ्रूकुटिः॥

अपर आह—अकारो भ्रूकुंसादीनामिति वक्तव्यम्। भ्रकुंसः, भ्रकुटिः॥

एकतद्धिते च॥ ६.३.६२॥

तद्धिते किमुदाहरणम्? एकत्वम्, एकता। नैतदस्ति प्रयोजनम्। पुंवद्भावेनाप्येतत्सिद्धम्। कथं पुंवद्भावः? 'तसिलादिष्वा कृत्वसुचः' (६.३.३५)। इदं तर्हि प्रयोजनम्—एकस्या आगतम्—एकरूप्यम् ,एकमयम्। इदं चाप्युदाहरणम्—एकत्वम्, एकता। ननु चोक्तं—पुंवद्भावेनाप्येतत्सिद्धमिति? न सिध्यति। उक्तमेतत्—त्वतलोर्गुणवचनस्येति॥

अथोत्तरपदे किमुदाहरणम्? एकशाटी। नैतदस्ति। पुंवद्भावेनाप्येतसिद्धम्। कथं पुंवद्भावः? समानाधिकरणलक्षणः। इदं तर्हि प्रयोजनम्—

वा०—इयङ्, उवङ्, अव्ययप्रतिषेध।

भा०—इयङ् उवङ् भावी [जिनमें उचित परिस्थिति में इयङ्, उवङ् हो सकता हो] तथा अव्ययों को [ह्रस्व का] प्रतिषेध कहना चाहिये। श्रीकुलम्...। काण्डीभूतम्....। [च्विप्रत्ययान्त होने से गति तथा निपात है।] भ्रूकुंस आदि को छोड़कर कहना चाहिये। भ्रूकुंस....। अन्य आचार्य कहते हैं—भ्रूकुंस आदि को अकार आदेश कहना चाहिये। भ्रकुंसः...।

एकतद्धिते च॥

भा०—'एकतद्धिते' यहाँ क्या उदाहरण है? एकत्वम्, एकता। यह प्रयोजन नहीं है। यह पुंवद्भाव से भी सिद्ध है। किस प्रकार? 'तसिलादिष्वा... 'सूत्र से। [एका त्व इस दशा में पुंवद्भाव होकर 'एकत्वम्' बन सकता है। अच्छा तो फिर यह प्रयोजन है—एकस्या आगतम् एकरूप्यम्...। [यहाँ ह्रस्व हो सके।]

यह भी उदाहरण है—एकत्वम्, एकता। इस पर तो कहा था—यह पुंवद्भाव से सिद्ध है। नहीं सिद्ध होता—यह कहा है—त्व, तल् परे रहने पर गुणवाचक को [पुंवत् होता है। यह 'एक' शब्द गुणवाचक नहीं है।]

अच्छा, उत्तरपद परे रहने पर [सूत्र का] क्या उदाहरण है? एकशाटी। यह नहीं है, यह तो पुंवद्भाव से भी सिद्ध है। किस प्रकार पुंवद्भाव है? समानाधिकरणलक्षण ['पुंवत्कर्मधारय...' (६.३.४२) से] पुंवद्भाव है। अच्छा

एकस्याः क्षीरमेकक्षीरम्। इदं चाप्युदाहरणम्—एकशाटी। ननु चोक्तं—पुंवद्भावेनाप्येतत्सिद्धमिति? न सिध्यति। 'न कोपधायाः' (६.३.३७) इति प्रतिषेधः प्राप्नोति? नैष दोषः। उक्तमेतत्कोपधप्रतिषेधे तद्धितवुग्रहणमिति॥

खित्यनव्ययस्य॥ ६.३.६६॥

खिति ह्रस्वाप्रसिद्धिरनजन्तत्वात्॥ १॥

खिति ह्रस्वस्याप्रसिद्धिः। कालिंमन्या, हरिणिंमन्या। किं कारणम्? अनजन्तत्वात्। मुमि कृतेऽनजन्तत्वाद् ह्रस्वत्वं न प्राप्नोति॥

सिद्धं तु ह्रस्वान्तस्य मुम्वचनात्॥ २॥

सिद्धमेतत्। कथम्? ह्रस्वान्तस्य मुम् भवतीति वक्तव्यम्॥

संनियोगाद्वा॥ ३॥

तो फिर, एकस्याः क्षीरम्—एकक्षीरम् [उदाहरण] है। यह उदाहरण भी है—एकशाटी। इस पर तो अभी कहा कि पुंवद्भाव से भी सिद्ध है? नहीं सिद्ध होता—'न कोपधायाः' से प्रतिषेध प्राप्त होता है। यह प्रतिषेध नहीं है—वहाँ कहा है—'कोपधप्रतिषेधे...' [इस प्रकार प्रतिषेध सिद्ध न होने से पुंवद्भाव से उदाहरण सिद्ध है, यह स्थिर रहा।]

खित्यनव्ययस्य॥

वा०—खित् परे रहने पर ह्रस्व की अप्रसिद्धि, अनजन्त होने से।

भा०—खित् परे रहने पर ह्रस्व की अप्रसिद्धि होती है—कालिम्मन्या...। क्या कारण है? अनजन्तत्व होने से। मुम् कर लेने पर अनजन्तत्व होने के कारण ह्रस्वत्व नहीं प्राप्त होता।

विवरण—'कालिम्मन्या' आदि में परत्व से मुम् होने के पश्चात् अजन्त न रहने से ह्रस्वत्व की प्राप्ति नहीं होती। यदि यह कहें कि इस प्रकार निरवकाश ह्रस्वत्व मुम् को बाध लेगा। तो भी दोष यह है कि 'स्तनन्धयः' आदि में सावकाश मुम् को यह ह्रस्वत्व अपवाद बनकर बाधने लगेगा। तब कालिम्मन्या में ह्रस्वत्व के पश्चात् भी मुम् नहीं हो सकेगा—यह दोष है।

वा०—सिद्ध है, ह्रस्वान्त को मुम् वचन से।

भा०—यह सिद्ध है। किस प्रकार? ह्रस्वान्त को मुम् होता है, यह कहना चाहिये। [ऐसा कहने से 'ह्रस्वान्त होना' यह मुम् का उपाय अथवा साधन बन जाएगा। इससे ह्रस्वत्व के पश्चात् इस उपाय की उपलब्धि के अनन्तर मुम् हो सकेगा।]

वा०—अथवा सन्नियोग से।

अथवा संनियोगः करिष्यते। क एष यत्नश्चोद्यते संनियोगो नाम? चकारः कर्तव्यः—मुम् च। किं च? यच्चान्यत् प्राप्नोति। किं चान्यत् प्राप्नोति? ह्रस्वत्वम्? सिध्यति। सूत्रं तर्हि भिद्यते॥ यथान्यासमेवास्तु। ननु चोक्तं खिति ह्रस्वाप्रसिद्धिरनजन्तत्वादिति? परिहृतमेतत्—'सिद्धं तु ह्रस्वान्तस्य मुम्वचनाद्' इति। तत्तर्हि ह्रस्वग्रहणं कर्तव्यम्? न कर्तव्यम्। प्रकृतमनुवर्तते। क्व प्रकृतम्? 'इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य' (६१) इति। तद्वै प्रथमानिर्दिष्टम्, षष्ठीनिर्दिष्टेन चेहार्थः। खितीत्येषा सप्तमी, ह्रस्व इति प्रथमायाः षष्ठीं प्रकल्पयिष्यति 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (१.१.६६) इति॥

अथवा खिति ह्रस्वो भवतीत्युच्यते। खित्यनन्तरो ह्रस्वभावी नास्तीति कृत्वा भूतपूर्वगतिर्विज्ञास्यते—अजन्तं यद् भूतपूर्वमिति॥ अथवा 'कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्' यत्र कार्यं तत्र द्रष्टव्यम्। खिति ह्रस्वो भवतीत्युपस्थितमिदं

भा०—अथवा सन्नियोग करेंगे। यह 'सन्नियोग' नाम का कौन सा प्रयत्न कहा जा रहा है?। ['अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' (६.३.६७) सूत्र में] चकार करना चाहिये—मुम् च। 'अन्य' क्या? जो भी अन्य पाता है। अन्य क्या पाता है? ह्रस्वत्व। [उपरिलिखित विवरण के अनुसार अनवकाश होने से ह्रस्वत्व के सम्पन्न होने पर चकार से मुम् भी हो सकेगा।]

इससे सिद्ध तो है, पर सूत्रभेद होता है। यथान्यास ही रहने दें। इस पर तो 'खिति ह्रस्वाप्रसिद्धिः...' दोष दिया था? इसका परिहार किया था—सिद्धन्तु... से। तो फिर ह्रस्व ग्रहण किया जावे? नहीं करना चाहिये। प्रकृत अनुवृत्त है। कहाँ से प्रकृत है? 'इको ह्रस्वो...' सूत्र से। वह तो प्रथमानिर्दिष्ट है, यहाँ षष्ठीनिर्दिष्ट की उपयोगिता है? [समाधान-] खिति यह सप्तमी 'ह्रस्वः' इस प्रथमा को षष्ठी में प्रकल्पित कर लेगी, 'तस्मिन्निति...' सूत्र के अनुसार।

अथवा 'खित्' परे रहने पर ह्रस्व होता है, यह कहा है। खित् परे रहने पर अनन्तर ह्रस्वभावी नहीं है, अतः भूतपूर्वगति समझी जाएगी, अजन्त जो भूतपूर्व।

विवरण—यहाँ आशय यह है कि पर्जन्यवत् सूत्र की प्रवृत्ति होने के कारण 'स्तनन्धयः' आदि में भी ह्रस्व के स्थान में ह्रस्व की प्राप्ति होती है। इस प्रकार स्थिति यह है कि ह्रस्व प्रत्येक स्थान में मुम् को बाधता है। साथ ही मुम् भी निरवकाश होकर प्रत्येक स्थान में ह्रस्व को बाधता है। इस प्रकार दोनों की निरवकाशरूपी एक ही स्थिति होने से विप्रतिषेध द्वारा परत्व से मुम् होगा तथा ह्रस्वत्व को चरितार्थ करने के लिये भूतपूर्व गति से ह्रस्वत्व होगा।

भा०—अथवा 'कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्' परिभाषा के अनुसार जहाँ कार्य हो, वहाँ परिभाषा को उपस्थित समझना चाहिये। इससे 'खित् परे रहने पर ह्रस्व

भवत्यच इति। तत्र वचनादनजन्तस्यापि भविष्यति॥ इहापि तर्हि वचनात् प्राप्नोति—वाङ्मन्यः ? नैतदस्ति। इक इति वर्तते। एवमपि खट्वंमन्यः— अत्र न प्राप्नोति ? नैष दोषः। आब्ग्रहणमपि प्रकृतमनुवर्तते। क्व प्रकृतम् ? 'ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' (६३) इति। एवमपि—कीलालपंमन्यः, शुभंयंमन्य अत्र न प्राप्नोति ? तस्मात्पूर्वोक्तावेव परिहारौ॥

इच एकाचोऽम्प्रत्ययवच्च॥ ६.३.६८॥

अमः प्रत्ययवदनुदेशे किं प्रयोजनम् ?

अमः प्रत्ययवदनुदेशे प्रयोजनमात्वपूर्वसवर्ण-गुणेयङुवङादेशाः॥ १॥

अमः प्रत्ययवदनुदेश आत्वपूर्वसवर्णगुणेयङुवङादेशाः प्रयोजनम्। आत्वं प्रयोजनम्—गांमन्यः। पूर्वसवर्णः प्रयोजनम्—स्त्रींमन्यः। गुणः

होता है' इस कार्य के प्रसङ्ग में इसे उपस्थित समझना चाहिये—अचः [अर्थात् 'अचश्च' (१.२.२८) यह सूत्र। इससे सूत्र का अर्थ होगा—खित् परे रहने पर अजन्त पूर्वपद को ह्रस्व।] तब वचन सामर्थ्य से अनजन्त को भी हो जाएगा।

विवरण—यहाँ मुम् कर लेने पर अजन्त पूर्वपद कहीं भी नहीं मिल पाता। अतः 'येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि वचनप्रामाण्यात्' इस नियमानुसार जिसका अवश्य व्यवधान हो उससे व्यवहित में भी कार्य मान्य होने से अनजन्त को भी ह्रस्व हो जाएगा।

किसी निरवकाश को सावकाश बनाने के लिये अनेक उपाय हो सकते हैं। इनमें से यह भी एक उपाय यहाँ वर्णित है।

भा०—तब तो यहाँ भी वचनसामर्थ्य से प्राप्त होता है—वाङ्मन्यः ? ऐसा नहीं होगा—इगन्त पूर्वपद को [एकहल्व्यवधान होने पर होगा।] तो भी 'खट्वंमन्यः' यहाँ पर नहीं पाता ? यह दोष नहीं है—प्रकृत आप् ग्रहण भी अनुवृत्त है। कहाँ से प्रकृत है—'ङ्यापोः...' सूत्र से। तो भी 'कीलालपंमन्यः...' यहाँ नहीं पाता ? अतः पूर्वोक्त परिहार ही समुचित हैं।

इच एकाचोऽम्प्रत्ययवच्च॥

भा०—यहाँ 'प्रत्ययवत्' इस अनुदेश में क्या प्रयोजन है ?

वा०—अम् के प्रत्ययवत् अनुदेश में प्रयोजन है—आत्व, पूर्वसवर्ण, गुण, इयङ्-उवङ् आदेश।

भा०—अम् के प्रत्ययवत् अनुदेश में आत्व, पूर्वसवर्ण, गुण, इयङ्, उवङ् आदेश प्रयोजन हैं। आत्व प्रयोजन है—गांमन्यः। ['औतोऽम्शसोः' (६.१.९३) से आत्व], पूर्वसवर्ण प्रयोजन है—स्त्रींमन्यः। ['प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (६.१.१०२)

प्रयोजनम्— नरम्मन्यः। इयङुवङौ प्रयोजनम्—श्रियम्मन्यः, भ्रुवम्मन्यः॥

अमः प्रत्ययवदनुदेश आत्वपूर्वसवर्णाप्रसिद्धिरप्रथमात्वात्॥ २॥

अमः प्रत्ययवदनुदेशे आत्वपूर्वसवर्णयोरप्रसिद्धिः। किं कारणम्? अप्रथमात्वात्। प्रथमयोरित्युच्यते न चात्र प्रथमां पश्यामः? किं च भो आत्वं प्रथमयोरित्युच्यते? न खलु प्रथमयोरित्युच्यते, प्रथमयोरिति तु विज्ञायते। कथम्? अम्शसोरित्युच्यते, त एवं विज्ञास्यामः शस्सहचरितो योऽम्शब्दः। कश्च शस्सहचरितः? प्रथमैव॥ ननु च प्रत्ययवदनुदेशाद्भविष्यति? न सिध्यति। किं कारणम्?

सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशः॥ ३॥

सामान्ये ह्यतिदिश्यमाने विशेषोऽनतिदिष्टो भवति। तद्यथा—ब्राह्मणवदस्मिन् क्षत्रिये वर्तितव्यमिति, सामान्यं यद्ब्राह्मणकार्यं तत्क्षत्रियेऽतिदिश्यते, यद्विशिष्टं माठरे कौण्डिन्ये वा न तदतिदिश्यते। एवमिहापि

से पूर्वसवर्ण।] गुण प्रयोजन है—नरम्मन्यः। ['ॠतो ङिसर्वनामस्थानयोः' (७.३.११०) से गुण।] इयङ् उवङ् प्रयोजन हैं—श्रियम्मन्यः, भ्रुवम्मन्यः। ['अचि श्नुधातुभ्रुवां...' (६.४.७७) से अजादि प्रत्यय परे रहने पर इयङ्, उवङ्]।

वा०—अम् के प्रत्ययवत् अनुदेश में आत्व, पूर्वसवर्ण की अप्रसिद्धि, अप्रथमात्व होने से।

भा०—अम् के प्रत्ययवत् अनुदेश में आत्व, पूर्वसवर्ण [उपलक्षण होने से गुण की भी] अप्रसिद्धि है। क्या कारण है? अप्रथमात्व होने से 'प्रथमयोः' कहा है। पर यहाँ हम प्रथमा नहीं देखते। क्यों, क्या आत्व प्रथमा विभक्ति के परे रहने पर कहा गया है? [समाधान-] यह कहा तो नहीं गया है, पर इस प्रकार समझ लिया जाता है। किस प्रकार? अम् शस् परे रहने पर कहा है। उससे ['सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्' इस परिभाषा के द्वारा] यह समझेंगे कि शस् से सहचरित जो अम् शब्द। शस् से सहचरित कौन है? प्रथमा ही। क्यों, प्रत्ययवत् अनुदेश से इस [अम् को प्रथमावत्] समझ लिया जाएगा? नहीं सिद्ध होता। क्या कारण है?

वा०—सामान्य का अतिदेश होने पर विशेष का अतिदेश नहीं।

भा०—सामान्य अतिदिष्ट होने पर विशेष अतिदिष्ट नही होता। [प्रत्यय सामान्य है, प्रथमा विशेष है।] जैसे—इस क्षत्रिय के प्रति ब्राह्मण के समान व्यवहार करना चाहिये। तब जो ब्राह्मण का सामान्य कार्य है, वह क्षत्रिय में अतिदिष्ट होता है। जो विशिष्ट माठर, कौण्डिन्य [गोत्रमूलक] कार्य है, वह अतिदिष्ट नहीं होता। इसी

सामान्यं यत्प्रत्ययकार्यं तददितिदिश्यते। यद्विशिष्टं द्वितीयैकवचने भवति प्रथमयोरिति न तददितिदिश्यते॥

सिद्धं तु द्वितीयैकवचनवद्वचनात्॥ ४॥

सिद्धमेतत्। कथम्? द्वितीयैकवचनवद् भवतीति वक्तव्यम्॥

एकशेषनिर्देशाद्वा॥ ५॥

अथवैकशेषनिर्देशोऽयम्। अम् च अम् च—अम्। इच एकाचोऽम् भवति। अम्प्रत्ययवच्चास्मिन्कार्यं भवतीति॥

अथेह कथं भवितव्यम्—श्रियमात्मानं मन्यते ब्राह्मणकुलम्। श्रियंमन्यमाहोस्विच्छ्रिमन्यमिति? श्रियंमन्यमिति भवितव्यम्। 'स्वमोर्नपुंसकात्' (७.१.२३) इति लुक् कस्मान्न भवति? नाप्राप्ते लुकि अम् आरभ्यते। स यथैव 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' (२.४.७१) इत्येतं

प्रकार यहाँ भी [इस वार्तिक से] सामान्य प्रत्यय कार्य अतिदिष्ट हो सकता है, जो विशिष्ट द्वितीया एकवचन या प्रथमा, द्वितीया विभक्ति [या उपलक्षण से सर्वनाम-स्थान] वह अतिदिष्ट नहीं हो सकता।

वा०—सिद्ध है, 'द्वितीयैकवचनवत्' कहने से।

भा०—यह सिद्ध है, किस प्रकार? द्वितीया के एकवचन के समान होता है, यह कहना चाहिये।

वा०—अथवा एकशेष-निर्देश से।

भा०—अथवा यह एकशेष-निर्देश है। इच्, एकाच् से अम् होता है। इसमें अम् प्रत्यय के समान कार्य भी होते हैं। [एकशेष के सामर्थ्य से विशेष प्रथमात्व भी अतिदिष्ट होगा।]

[प्रसङ्गान्तर—] अच्छा, यहाँ किस प्रकार होना चाहिये—श्रियम् आत्मानं मन्यते ब्राह्मणकुलम्—श्रियम्मन्यम् अथवा श्रिमन्यम्। [श्री उपपद होने पर मन् धातु से 'आत्ममाने खश् च' (३.२.८३) से खश् प्रत्यय, 'उपपदमतिङ्' (२.२.१९) से समास के पश्चात् अन्यपदार्थ ब्राह्मणकुल को अभिहित करने वाला सम्पूर्ण पद तथा इसके अन्तर्वर्ती श्री शब्द भी अब नपुंसक है। अतः नपुंसक को मानकर प्राप्ति विषयक विमर्श आगे प्रस्तुत है—]

भा०—'श्रियम्मन्यम्' बनना चाहिये। [श्री के नपुंसकलिङ्ग बन जाने से 'स्वमोर्नपुंसकात्' सूत्र से [इस सूत्र से विहित अम् का] लुक् क्यों नहीं होता?

[समाधान-] लुक् की अवश्य प्राप्ति में इस अम् का आरम्भ किया गया है। वह [इससे विहित अम्] जिस प्रकार 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' का बाधन करता है। [इस अम् का लुक् नहीं होने देता] इसी प्रकार 'स्वमोर्नपुंसकात्' से विहित

बाधत एवं 'स्वमोर्नपुंसकाद्' इत्येतमपि बाधेत ॥ न बाधते। किं कारणम्? येन नाप्राप्ते तस्य बाधनं भवति, न चाप्राप्ते 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इत्येतस्मिन्नेतदारभ्यते, 'स्वमोर्नपुंसकाद्' इत्येतस्मिन्पुनः प्राप्ते चाप्राप्ते च। अथवा 'मध्येऽपवादाः पूर्वान्विधीन् बाधन्ते' इत्येवमयं 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इत्येतं बाधते 'स्वमोर्नपुंसकाद्' इत्येतं न बाधिष्यते ॥ एवं तर्हि 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इत्यसिद्धत्वाद् बहिरङ्गलक्षणस्यामोऽन्तरङ्गलक्षणो लुग्न भविष्यति ॥ नैषा परिभाषेहोत्तरपदाधिकारे शक्या विज्ञातुम्। इह हि दोषः स्यात्—द्विषंतपः, परन्तपः इति, संयोगान्तलोपो न स्यात्? तस्माच्छ्रिमन्यमिति भवितव्यम् ॥

कारे सत्यागदस्य ॥ ६.३.७० ॥

अस्तुसत्यागदस्य कार उपसंख्यानम् ॥ १ ॥

अस्तुसत्यागदस्य कार उपसंख्यानं कर्तव्यम्। अस्तुंकारः, सत्यंकारः,

---

लुक् को बाधते हुए उससे भी लुक् नहीं होने देगा।

[पक्षान्तर—यह अम् उस लुक का] बाधन नहीं करेगा। क्या कारण है? जिसकी अवश्य प्राप्ति में विधान हो, उसका बाधन होता है। 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' की अवश्य प्राप्ति के साथ इसका आरम्भ है। परन्तु 'स्वमोर्नपुंसकात्' इसकी प्राप्ति में भी अप्राप्ति में भी। [नपुंसक से विहित इस अम् के लुक् की प्राप्ति है, अन्य से विहित अम् की नहीं।]

अथवा 'मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते' इस परिभाषा के अनुसार यह अम् आगम 'सुपो धातु...' का बाधन करेगा, 'स्वमोर्नपुंसकात्' का नहीं। [अतः उससे लुक् होकर 'श्रिमन्यम्' बनना चाहिये।]

अच्छा तो फिर 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इस परिभाषा के अनुसार बहिरङ्गलक्षण अम् के असिद्ध होने से अन्तरङ्गलक्षण लुक् नहीं होगा। [समाधान-] इस परिभाषा की प्रवृत्ति को इस उत्तरपदाधिकार में मान्य नहीं किया जा सकता। यहाँ दोष होगा—द्विषन्तपः... ? [यहाँ 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' (६.३.६७) से मुम् आगम के पश्चात् 'द्विष म् त् तपः' इस दशा में बहिरङ्गलक्षण मुम् के असिद्ध होने पर अन्तरङ्गलक्षण 'संयोगान्तस्य लोपः' (८.२.२३) से संयोगान्त तकारलोप की प्राप्ति न होती।] अतः 'श्रिमन्यम्' यही रूप होना चाहिये।

कारे सत्यागदस्य ॥

वा०—अस्तु, सत्य, अगद का कार में उपसङ्ख्यान।

भा०—अस्तु, सत्य, अगद के [मुम् का] कार परे रहने पर उपसङ्ख्यान

अगदंकारः ॥

भक्षस्य च्छन्दसि ॥ २ ॥

भक्षस्य च्छन्दस्युपसंख्यानं कर्तव्यम्। तस्य ते भक्षंकारस्य। छन्दसीति किमर्थम्? भक्षकारस्य तन्मतमिति ॥

धेनोर्भव्यायाम् ॥ ३ ॥

धेनोर्भव्यायामुपसंख्यानं कर्तव्यम्। धेनुम्भव्या ॥

लोकस्य पृणे ॥ ४ ॥

लोकस्य पृण उपसंख्यानं कर्तव्यम्। लोकंपृणस्य धन्विनः ॥

इत्येऽनभ्याशस्य ॥ ५ ॥

इत्येऽनभ्याशस्योपसंख्यानं कर्तव्यम्। अनभ्याशमित्यम् ॥

करना चाहिये। अस्तुंकारः (=ठीक है, हो जावे, इस प्रकार कहने वाला) [यहाँ 'विभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्च निपाताः' ('चादयोऽसत्त्वे' १.४.५७ पर वार्तिक) के अनुसार इसे निपात माना गया है।] सत्यंकारः....।

वा०—भक्ष का छन्द में।

भा०—भक्ष का छन्द में [मुम् का] उपसङ्ख्यान करना चाहिये। तस्य ते भक्षंकारस्य (=विशिष्ट याग में विशिष्ट द्रव्य का भक्षण करने वाले ऋत्विक् का)। छन्दसि क्यों कहा है? भक्षकारस्य तन्मतम् (किसी विशिष्ट 'भक्ष' नामक ग्रन्थ के प्रणेता का अभिमत।) [छान्दस प्रयोग न होने से यहाँ मुम् नहीं होगा।]

वा०—धेनु का भव्या में।

भा०—भव्या [अर्थात् भविष्यन्ती धेनु अभिधेय में] धेनु शब्द के [मुम् आगम का] उपसङ्ख्यान करना चाहिये। धेनुम्भव्या। ['भव्या' शब्द में भू धातु से 'अचो यत्' (३.१.९७) से यत् प्रत्यय। 'भव्यगेय...' (३.४.६८) से कर्ता में कृत्य प्रत्यय। धेनु का भव्या के साथ 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' (२.१.५७) से विशेषण-समास।]

वा०—लोक का पृण में।

भा०—लोक [शब्द के मुम्] का पृण परे रहने पर उपसङ्ख्यान करना चाहिये। लोकम्पृणस्य धन्विनः (लोक की अभिलाषाओं के पूरक धनुर्धारी का।)

वा०—इत्य में अनभ्याश का।

भा०—इत्य परे रहने पर 'अनभ्याश' [शब्द के मुम्] का उपसङ्ख्यान करना चाहिये। अनभ्याशमित्यम्। ['अनभ्याशम्=दूरम्, इत्यं=गन्तव्यम् अस्य' इस विग्रह के अनुसार बहुव्रीहि समास। 'इत्य' शब्द में 'एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्'

भ्राष्ट्राग्न्योरिन्धे॥ ६॥

भ्राष्ट्राग्न्योरिन्ध उपसंख्यानं कर्तव्यम्। भ्राष्ट्रमिन्धः, अग्निमिन्धः॥

गिलेऽगिलस्य॥ ७॥

गिलेऽगिलस्योपसंख्यानं कर्तव्यम्। तिमिंगिलः। अगिलस्येति किमर्थम्? गिलगिलः॥

गिलगिले च॥ ८॥

गिलगिले चेति वक्तव्यम्। तिमिंगिलगिलः॥

(३.१.१०९) से इ धातु से क्यप्। इसका अर्थ—जिस वस्तु को उस अभिमत प्रसङ्ग से दूर जाना है। अर्थात् अभिमत प्रसङ्ग से परिहर्तव्य।

वा०—भ्राष्ट्र, अग्नि का इन्ध में।

भा०—भ्राष्ट्र, अग्नि [के मुम्] का इन्ध परे रहने पर उपसङ्ख्यान करना चाहिये। भ्राष्ट्रमिन्धः...(भ्राष्ट में सेंका गया अपूप आदि]।

वा०—गिल परे रहने पर अगिल का।

भा०—गिल परे रहने पर गिलभिन्न शब्द [के मुम्] का उपसङ्ख्यान करना चाहिये। तिमिंगिलः (='तिमि' नामक विशालकाय मछली को निगलने वाला मत्स्य)। यहाँ 'अगिलस्य' क्यों कहा है? 'गिलगिलः' [यदि पूर्वपद में भी गिल हो तो मुम् नहीं होता।]

वा०—गिलगिल में भी।

भा०—गिलगिल परे रहने पर भी गिल भिन्न पूर्वपद को मुम् का उपसङ्ख्यान करना चाहिये। तिमिंगिलगिलः।

विशेष—व्याख्याकार 'तिमेर्गिलगिलः' इस विग्रह की कल्पना द्वारा इस वार्तिक की उपयोगिता सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। पर वास्तव में इस विग्रह से कुछ भी अभीप्सित अर्थ नहीं निकलता 'तिमिंगिलं गिलति' इस विग्रह से उपयोगी अर्थ प्राप्त होता है। पर इससे वार्तिक की उपयोगिता शान्त हो जाती है।

समुद्र में 'तिमि' नामक विशालकाय मछली को निगलने वाली 'तिमिंगिल' नामक मछलियाँ होती हैं। साथ ही इस जैसी मछली को भी निगलने वाली अत्यन्त विशालकाय 'ह्वेल' जैसी मछलियाँ भी वर्तमान हैं। इन्हें 'तिमिंगिलगिल' शब्द से प्रकट किया जाता है। ये शब्द समुद्र में पाई जाने वाली इन मछिलियों की जानकारी को भली प्रकार प्रकट करते हैं। साथ ही समुद्र में 'अपने से छोटा बड़े का भोजन है' इस कहावत को अथवा 'सर्वं बलवतां पथ्यम्' इस महाभारत की सूक्ति को चरितार्थ करते हैं। समुद्र में ही क्यों, सम्भवतः इस धरती में भी इस प्रकार के सङ्ग्राम को प्रकट करने के लिये ये शब्द सटीक हैं।

उष्णभद्रयोः करणे॥ ९॥

उष्णभद्रयोः करण उपसंख्यानं कर्तव्यम्। उष्णंकरणम्, भद्रंकरणम्॥

सूतोग्रराजभोजकुलमेरुभ्यो दुहितुः पुत्रड् वा॥ १०॥

सूतोग्रराजभोजकुलमेरुभ्यो दुहितुः पुत्रड् वा भवतीति वक्तव्यम्। सूतपुत्री सूतदुहिता। उग्रपुत्री, उग्रदुहिता। राजपुत्री, राजदुहिता। भोजपुत्री, भोजदुहिता। कुलपुत्री, कुलदुहिता। मेरुपुत्री, मेरुदुहिता॥

रात्रेः कृति विभाषा॥ ६.३.७१॥

किमियं प्राप्ते विभाषाहोस्विदप्राप्ते? कथं च प्राप्ते कथं वाप्राप्ते?

वा०—उष्ण, भद्र का करण में।

भा०—'करण' शब्द परे रहने पर उष्ण, भद्र [के मुम्] का उपसङ्ख्यान करना चाहिये। उष्णंकरणम्...[यहाँ 'ख्युन्' प्रत्यय की प्राप्ति न होने से मुम् कहना पड़ा है।]

वा०—सूत, उग्र, राज, भोज, कुल, मेरु से दुहिता का विकल्प से पुत्रट्।

भा०—सूत, उग्र, राज, भोज, कुल, मेरु से उत्तर दुहिता के स्थान में विकल्प से 'पुत्रट्' आदेश होता है, यह कहना चाहिये। सूतदुहिता के साथ सूतपुत्री का भी प्रयोग हो सके।

विशेष—यहाँ 'पुत्र' शब्द का शार्ङ्गरवादि गण में पाठ द्वारा 'शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्' (४.१.७३) से ङीन् होकर 'पुत्री' रूप सिद्ध हो सकता है। परन्तु ऐसा करने पर 'सूतपुत्री' आदि में लिङ्गविशिष्ट परिभाषा द्वारा 'पुत्रः पुम्भ्यः' (६.२.१३२) से 'पु' के उकार को उदात्त होता। 'पुत्रट्' आदेश करने पर (टित् होने से 'टिड्ढाणञ्द्वय...' (४.१.१५) से ङीप् होकर) उदात्तनिवृत्ति स्वर से 'त्री' के ईकार को उदात्त होता है।

केवल इस छोटे से स्वरभेद को सिद्ध करने के लिये वार्तिककार ने वह साधनिका अपनाई है, जिससे समाज में शब्द-विकास की स्वाभाविक प्रवृत्ति के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं हो पाता। वार्तिककार के विधान से तो ऐसा लगता है, मानों लोग पहले 'सूतदुहिता' ही बोलते रहे होंगे। पश्चात् वार्तिककार के इस आदेश से 'सूतपुत्री' भी बोलने लगे होंगे। जिसमें 'पुत्री' का अपना कोई अर्थ नहीं रहा होगा! पर यह वास्तविकता नहीं है। लोग तो स्वभावतः 'दुहिता' के साथ 'पुत्री' का भी प्रयोग करते रहे हैं। यदि अब भी इस वचन में आग्रह हो तब तो 'शैलपुत्री' जैसे शब्दों के लिये पुनः वचन बनाना होगा!!

रात्रेः कृति विभाषा॥

भा०—क्या यह [किसी से नित्य] प्राप्त होने पर विकल्प है या अप्राप्त होने पर? 'प्राप्त होने पर' कब मान्य होगा, अप्राप्त होने पर कब? यदि 'खिति' की

यदि खितीति अनुवर्तते, ततो नित्यं प्राप्ते। अथ नानुवर्तते, तदाऽप्राप्ते॥

रात्रेरप्राप्ते॥ १॥

रात्रेरप्राप्ते विभाषा। प्राप्ते नित्यो विधिः—रात्रिंमन्यः। अप्राप्ते विभाषा—रात्र्यटः, रात्रिमटः॥

नलोपो नञः॥ ६.३.७२॥

किमर्थं नञः सानुबन्धकस्य ग्रहणं क्रियते न नस्येत्येवोच्येत? नस्येतीयत्युच्यमाने—कर्णपुत्रः, वर्णपुत्र इत्यत्रापि प्रसज्येत? नैष दोषः। 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' इत्येवमेतस्य न भविष्यति॥ एवमपि—प्रश्नपुत्रः, विश्नपुत्र इत्यत्रापि प्राप्नोति? नैष दोषः। 'अननुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य' इत्येवमेतस्य न भविष्यति॥ एवमपि—वामनपुत्रः, पामनपुत्र इत्यत्रापि प्राप्नोति? तस्मात्सानुबन्धकस्य ग्रहणं कर्तव्यम्॥

अनुवृत्ति है तो ['अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' (६.३.६७) से] नित्य प्राप्त होने पर। यदि अनुवृत्ति नहीं है तो [खिद्-भिन्न में] अप्राप्त होने पर।

वा०—रात्रि को अप्राप्त में।

भा०—रात्रि को अप्राप्त में विभाषा है। प्राप्त में पूर्व सूत्र से नित्य विधि होती है—रात्रिम्मन्यः। [खित् की अनुवृत्ति न लाने पर यहाँ दोनों की प्राप्ति होने पर पूर्वविप्रतिषेध से नित्य मुम् होता है—यह आशय है।] अप्राप्त में विकल्प होता है। [एक पक्ष में विधान होता है।] रात्रिमटः, रात्र्यटः। [अधिकरण उपपद होने पर अट् धातु से 'कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' 'तुन्दशोकयोः...' (३.२.५) पर वार्तिक] से ट प्रत्यय।]

नलोपो नञः॥

भा०—यहाँ अनुबन्ध वाले नञ् का ग्रहण क्यों किया गया है, इसके स्थान पर 'नस्य' इतना ही क्यों न कह दिया जावे? 'नस्य' इतना ही कहने पर 'कर्णपुत्रः'... यहाँ भी [नलोप की] प्राप्ति होगी? यह दोष नहीं है—'अर्थवान् के ग्रहण के प्रसङ्ग में अनर्थक का ग्रहण नहीं' इस परिभाषा के अनुसार यहाँ नहीं होगा। [यहाँ औणादिक प्रत्ययों को अव्युत्पन्न मानते हुए अनर्थक कह रहे हैं।] तो भी प्रश्नपुत्रः...यहाँ भी प्राप्त होता है? [यहाँ 'यजयाच...' (३.३.९०) से उत्पन्न नङ् प्रत्यय सार्थक है।] यह दोष नहीं है। अननुबन्धक ग्रहण के प्रसङ्ग में सानुबन्धक का ग्रहण नहीं, इस परिभाषा के अनुसार यहाँ नहीं होगा। तो भी वामनपुत्रः 'पामनपुत्रः' यहाँ प्राप्त होता है? [यहाँ लोमन्, पामन् शब्दों से 'लोमादिपामादि...' (५.२.१००) सूत्र के अनुसार मत्वर्थ में 'न' प्रत्यय है।]

[सिद्धान्त-] अतः सानुबन्धक [ञकारसहित] का ग्रहण करना चाहिये।

नञो नलोपेऽवक्षेपे तिङ्युपसंख्यानम्॥ १॥

नञो नलोपेऽवक्षेपे तिङ्युपसंख्यानं कर्तव्यम्। अपचसि वै त्वं जाल्म। अकरोषि वै त्वं जाल्म॥

तस्मान्नुडचि॥ ६.३.७४॥

किमर्थं तस्मादित्युच्यते, न नुडचीत्येवोच्येत? नुडचीतीयत्युच्यमाने नञ एव नुट् प्रसज्येत॥ एवं तर्हि पूर्वान्तः करिष्यते। तत्रायमप्यर्थः 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' (७.२.१०६) इति तदोर्ग्रहणं न कर्तव्यं भवति। तत्र हि तवर्गानिर्देश एतत्प्रयोजनमिह मा भूत्—अनेषः करोतीति। यावता

वा०—नञ् के नलोप में अवक्षेप में तिङ् में उपसङ्ख्यान।

भा०—नञ् के नलोप के प्रसङ्ग में अवक्षेप अर्थात् निन्दा अर्थ में तिङ् परे रहने पर [नलोप का] उपसङ्ख्यान करना चाहिये। अपचसि वै त्वं जाल्म....। [प्रसज्य प्रतिषेध में नञ् का क्रिया के साथ सम्बन्ध होने पर समास न होने से नलोप की प्राप्ति न होने पर यह वचन है।]

तस्मान्नुडचि॥

भा०—यहाँ 'तस्मात्' क्यों कहा गया है? क्यों न 'नुडचि' इतना ही कह दिया जावे? [समाधान-] 'नुडचि' केवल इतना कहने पर नञ् को ही नुट् की प्राप्ति होती। ['अचि' सप्तमीनिर्दिष्ट होने से 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (१.१.६६) द्वारा इससे पूर्व को कार्य प्राप्त होता। 'तस्मात्' कहने पर इस वचन के सामर्थ्य से अजादि उत्तरपद को नुट् हो सकेगा। यहाँ 'अचि' में सप्तमी विभक्ति की चरितार्थता 'यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे' ('येन विधिः...' (१.१.७२) पर वार्तिक) की प्रवृत्ति के लिये सिद्ध होगी।]

अच्छा तो फिर पूर्वान्त करेंगे। [नुक् आगम करेंगे। इससे 'तस्मात्' कहे बिना नञ् के अन्त में नुक् सिद्ध हो सकेगा।] उससे यह भी प्रयोजन सिद्ध होगा—'तदोः सः...' में 'तदोः' ग्रहण नहीं करना पड़ेगा। वहाँ पर तवर्गसूचक ['तोः' इस प्रकार] न पढ़ने का प्रयोजन है कि 'अनेषः करोति' यहाँ न हो। जब यह पूर्वान्त होता है तो कोई दोष नहीं होता।

विवरण—यदि यहाँ नुट् आगम करते हुए इसे परादि अर्थात् उत्तरपद का भाग बनावें तो 'तदोः सः' कहना पड़ेगा। केवल तवर्गसूचक 'तोः' कहने से काम नहीं चलेगा। क्योंकि ऐसा कहने पर 'अनेषः' के नकार को सकार की प्राप्ति होगी। परन्तु इसे 'नुक्' के रूप में पूर्वान्त आगम करने पर 'तोः' कहने पर भी दोष न होगा। क्योंकि तब यह आगम नकार त्यदादि का भाग नहीं होगा। अतः सकार की प्राप्ति नहीं होगी।

पूर्वान्तः सोऽप्यदोषो भवति॥ नैवं शक्यम्। अनुष्ण इति 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८.२.७) इति नलोपः प्रसज्येत? नुग्वचनान्न भविष्यति। ङमुट् तर्हि प्राप्नोति? तस्मात्परादिः कर्तव्यः, परादौ च क्रियमाणे तस्मादिति च वक्तव्यम्॥

एकादिश्चैकस्य चादुक्॥ ६.३.७६॥

किमर्थमादुगुच्यते, न अदुगेवोच्येत? का रूपसिद्धिः—एकान्नविंशतिः, एकान्नत्रिंशत्? सवर्णदीर्घत्वेन सिद्धम्। न सिध्यति। 'अतो गुणे' (६.१.९७) इति पररूपत्वं प्राप्नोति॥ एवं तर्ह्यदुट् करिष्यते। अदुट् चाशक्यः कर्तुमानुनासिक्यं हि न स्यात्। यद्धि तद् 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' (८.४.४५) इति पदान्तस्येत्येवं तत्। किं पुनः कारणं पदान्तस्येत्येवं तत्? इह मा

भा०—यह सम्भव नहीं है। क्योंकि [पूर्वान्त करने पर] 'अनुष्णः' यहाँ [पदान्त में नकार मिल जाने से] 'नलोपः...' से नकार लोप की प्राप्ति होगी। [प्रसक्ति समाधान-] नुक् वचन सामर्थ्य से नहीं होगा। [यदि इससे सर्वत्र नकार का लोप होने लगे तो नुक्-विधान की उपयोगिता समाप्त हो जाएगी। प्रसक्ति-] अच्छा तो फिर 'ङमो ह्रस्वादचि...' (८.३.३२) सूत्र से] ङमुट् आगम पाता है। [इसके होने पर नुक् विधान की व्यर्थता नहीं होगी। क्योंकि नुक् आगम ङमुट् का उपाय होगा।]

[सिद्धान्त-] इसलिये इसे परादि कहना चाहिये। परादि करने पर 'तस्मात्' इसे भी कहना चाहिये।

एकादिश्चैकस्य चादुक्॥

भा०—यहाँ आदुक् आगम क्यों किया है? क्यों न 'अदुक्' ही कह देवें? कैसे रूप सिद्ध होगा—एकान्नविंशतिः...? ['एक अत् न विंशतिः' इस दशा में] सवर्णदीर्घत्व से सिद्ध है। नहीं सिद्ध होता। 'अतो गुणे' से पररूप प्राप्त होता है।

अच्छा तो फिर 'अदुट्' करेंगे। [अदुट् आगम करने पर 'एकस्य' नहीं कहेंगे। इससे प्रकृत नञ् को परादि अदुट् आगम होगा। इस दशा में 'एक' इसके पदान्त होने से पररूप प्राप्त नहीं होगा।]

अदुट् भी नहीं कर सकते। क्योंकि तब [अदुट् के दकार को] आनुनासिक्य नहीं हो सकेगा। क्योंकि 'यरोऽनुनासिको...' से [आनुनासिक्य आदेश] पदान्त को कहा गया है। [अदुट् करने पर इसके नञ् का भाग होने की दशा में यह पदान्त नहीं रह जाएगा।] क्या कारण है कि उसे 'पदान्तस्य' इस प्रकार कहा गया है?

भूत्—बुध्नः, ब्रध्नः, बध्नाति॥ एवं तर्ह्यनुट् करिष्यते। अनुट् चाशक्यः कर्तुम्। विभाषयानुनासिक्यम्। तेनैतदेव रूपं स्यात्—एकान्नविंशतिः। इदं न स्यात्— एकाद्नविंशतिरिति॥ अस्तु तर्ह्यदुगेव। ननु चोक्तम्—'अतो गुणे' इति पररूपत्वं प्राप्नोतीति ? नैष दोषः। अकारोच्चारणसामर्थ्यान्न भविष्यति॥ यदि तर्हि प्राप्नुवन् विधिरकारोच्चारणसामर्थ्याद् बाध्यते, सवर्णदीर्घत्वमपि न प्राप्नोति ? 'यं विधिं प्रत्युपदेशोऽनर्थकः स विधिर्बाध्यते यस्य तु विधेर्निमित्तमेव नासौ बाध्यते'। पररूपं च प्रत्यकारोच्चारणमनर्थकं सवर्णदीर्घत्वस्य पुनर्निमित्तमेव॥

ताकि बुध्नः... [आदि में अपदान्त नकार को न हो।]

अच्छा तो फिर 'अनुट्' करेंगे। [इससे स्वतः आनुनासिक्य सिद्ध रहेगा।] अनुट् भी नहीं कर सकते ? [उस 'यरोऽनुनासिके...' से] अनुनासिक विकल्पित होता है। [पर 'अनुट्' आगम करने पर केवल यही रूप बन सकेगा—एकान्नविंशतिः। यह नहीं बन सकेगा—एकाद् न विंशतिः।

अच्छा तो फिर 'अदुक्' ही रहने दें। इस पर तो कहा था कि 'अतो गुणे' से पररूप प्राप्त होता है ? यह दोष नहीं है। अकार उच्चारण सामर्थ्य से नहीं होगा। यदि कोई भी प्राप्त होती हुई विधि अकार उच्चारण-सामर्थ्य से बाधी जाती है, तब तो सवर्णदीर्घत्व भी नहीं पाता ? [समाधान-] जिस विधि के प्रति अकार उच्चारण अनर्थक हो, वह विधि बाधी जाती है। जिस विधि का निमित्त हो, वह विधि नहीं बाधी जाती। पररूप के प्रति अकार उच्चारण अनर्थक है, परन्तु सवर्णदीर्घत्व का वह निमित्त ही है। [ऊपर छत पर कदम रखने के लिए क्रमशः सीढ़ी के पहले तथा दूसरे डण्डे पर कदम रखना निरर्थक नहीं है। क्योंकि सीढ़ी पर पैर रखना उद्देश्य तो नहीं है। पर छत पर कदम रखने का उपाय अथवा निमित्त है। इसी प्रकार यहाँ अकार उच्चारण सवर्णदीर्घ का निमित्त होने से निरर्थक नहीं है। इस प्रकार अदुक् आगम सार्थक सिद्ध हुआ।]

विशेष—इस प्रकार के सूत्र केवल शब्द सिद्ध करने के लिए अपनाई गई साधनिका की दृष्टि से निर्मित प्रतीत होते हैं। इस पर विचार के क्रम में व्याख्याकारों ने भी आदुक्, अदुक् आदि विकल्पों को प्रस्तुत करते हुए यही देखा है कि किस प्रकार व्याकरण के नियम सुसङ्गत हो पाते हैं। पर यहाँ यह नहीं सोचा गया कि समाज में इन शब्दों का किस क्रम से विकास हुआ होगा। हम यह नहीं सोच सकते कि अदुक् या अनुक् आगम लगाकर लोगों ने बोलना प्रारम्भ किया होगा। पर यह सोचना बहुत रोचक एवं तर्कसङ्गत भी है कि लोगों ने 'एकात् न विंशतिः' अर्थात् 'एक के कारण बीस पूरा नहीं' (हेतु में पञ्चमी) इस भावना के साथ इस शब्द का प्रयोग किया होगा!

सहस्य सः संज्ञायाम्॥ ६.३.७८॥

सहस्य हलोपवचनम्॥ १॥

सहस्य हलोपो वक्तव्यः॥

सादेशे हि स्वरे दोषः॥ २॥

सादेशे हि स्वरे दोषः स्यात्। आन्तर्यत उदात्तानुदात्तयोः स्वरित आदेशः प्रसज्येत—सपुत्रः, सभार्यः॥ स तर्हि लोपो वक्तव्यः? न वक्तव्यः। आद्युदात्तनिपातनं करिष्यते, स निपातनस्वरः प्रकृतिस्वरस्य बाधको भविष्यति॥

इस भावना का विकास विश्व में अन्यत्र भी देखा गया है। रोम में एक, दो, तीन के लिये रोमन् अङ्क क्रमशः I, II, III इस प्रकार लिखे जाते थे। पर चार को 'एक कम पांच' मानते हुए IV इस प्रकार लिखने की परम्परा है। यहाँ यह लिखने का हमारा कदापि यह आशय नहीं है कि संस्कृत के उपरिलिखित शब्द रोम से प्रभावित हैं। वास्तव में अन्यत्र भी भावनाओं का समान रूप से विकसित दिखाना आशय है।

इस प्रकार 'एकात् न विंशतिः' इस विग्रह से समाज में शब्दों का विकास-क्रम तथा उसके पीछे छिपी भावनाओं को समझने में सहायता मिलती है। यद्यपि इस विग्रह से व्याकरण के कुछ नियमों का विपर्यास होता है। पर यदि समाज इन नियमों से विपरीत चल कर भी इन शब्दों को शिष्ट-जन-सम्मत मान लेता है तो हम इन नियमों के पीछे कैसे चल सकते हैं? अन्ततः आदुक्, आनुक् आगमों से भी तो व्याकरण के अन्तर्गत न आने वाले नियमों को उसके अन्तर्गत लाने की चेष्टा की गई है।

सहस्य सः संज्ञायाम्॥

वा०—सह का हलोप-वचन।

भा०—'सह' शब्द के हकार का लोप कहना चाहिये।

वा०—स-आदेश में स्वर में दोष।

भा०—इसके स्थान पर 'स' आदेश करने पर स्वर में दोष होगा। [क्योंकि 'सह' शब्द 'निपाता आद्युदात्ताः' (फिट्० ४.१२) के अनुसार आद्युदात्त है तथा अन्तिम अक्षर 'अनुदात्तं पदम्...' (६.१.१५८) के अनुसार अनुदात्त है। अतः] उदात्त, अनुदात्त के स्थान में होने वाला [स] आदेश आन्तर्य अथवा सादृश्य से स्वरित प्राप्त होता है। सपुत्रः...।

तो फिर यह लोप कहना चाहिये? नहीं कहना चाहिये। [स आदेश में] आद्युदात्त का निपातन करेंगे। वह निपातनस्वर प्रकृतिस्वर का बाधक हो जाएगा।

एवमप्युपदेशिवद्भावो वक्तव्यः। स यथैव हि निपात- नस्वरः प्रकृतिस्वरं बाधते, एवं समासस्वरमपि बाधेत। सेष्टि, सपशुबन्धम्॥

ग्रन्थान्ताधिके च॥ ६.३.७९॥

ग्रन्थान्ते वचनानर्थक्यमव्ययीभावेन कृतत्वात्॥ १॥

ग्रन्थान्ते वचनमनर्थकम्। किं कारणम्? अव्ययीभावेन कृतत्वात्। 'अव्ययीभावे चाकाले' (६.३.८१) इत्येव सिद्धम्॥ यस्तर्हि कालोत्तरपदो ग्रन्थस्तदर्थमिदं वक्तव्यम्—सकाष्ठं ज्योतिषमधीते। सकलम्, समुहूर्तम्॥

वोपसर्जनस्य॥ ६.३.८२॥

उपसर्जनस्य वावचने सर्वप्रसङ्गोऽविशेषात्॥ १॥

तो भी उपदेशिवद्भाव कहना होगा। [ताकि उपदेशकाल में ही आद्युदात्त हो। उसके पश्चात् जो अन्य स्वर पाते हैं, वे हो सकें। अन्यथा] जिस प्रकार निपातनस्वर प्रकृतिस्वर का बाधक होता है, उसी प्रकार [बलवान् होने से] समासस्वर को भी बाधने लगेगा? सेष्टि, सपशुबन्धम्। [दोनों शब्द अव्ययीभाव हैं। अतः अव्यय एवं नपुंसकलिङ्ग हैं। यहाँ 'स' आदेश के पश्चात् प्राप्त 'समासस्य' (६.१.२२३) से समासस्वर अर्थात् सम्पूर्ण समास को अन्तोदात्त सम्पन्न हो जाता है।]

ग्रन्थान्ताधिके च॥

वा०—ग्रन्थान्त में वचन का आनर्थक्य, अव्ययीभाव होने से सिद्ध होने के कारण से।

भा०—ग्रन्थान्त में वचन का आनर्थक्य है। किस कारण से? अव्ययीभाव होने से सिद्ध होने के कारण से। यहाँ 'अव्ययीभावे चाकाले' सूत्र से ही सिद्ध हो जाएगा।

अच्छा तो फिर जो कालवाचक उत्तरपद भी है तथा ग्रन्थान्त भी है, उसके लिये इस सूत्र को कहना चाहिये। [क्योंकि वहाँ 'अकाले' इस प्रतिषेध के कारण प्राप्त नहीं होता।] सकाष्ठं ज्योतिषमधीते...। [यहाँ 'काष्ठा' आदि शब्द कालवाचक हैं। १८ निमेष काल की एक काष्ठा, तीस काष्ठाओं की एक कला, तीस कलाओं का एक क्षण, बारह क्षणों (अड़तालीस मिनट) का एक मुहूर्त्त तथा तीस मुहूर्त्तों का एक अहोरात्र होता है। इस उदाहरण में काष्ठा आदि शब्द उपचार से ग्रन्थवाचक भी हैं। काष्ठा इत्यादि काल के प्रतिपादक ग्रन्थ को उपचार से 'काष्ठा' कहा गया है। इस प्रकार यह कालवाचक ग्रन्थान्त है।]

वोपसर्जनस्य॥

वा०—उपसर्जन के वावचन में सर्वप्रसङ्ग, अविशेष होने से।

उपसर्जनस्य वावचने सर्वप्रसङ्गः। सर्वस्योपसर्जनस्य सादेशः प्राप्नोति। अस्यापि प्राप्नोति—सहयुध्वा, सहकृत्वा। किं कारणम्? अविशेषात्। न हि कश्चिद्विशेष उपादीयत एवंजातीयकस्य सादेशो भवतीति। अनुपादीयमाने विशेषे सर्वप्रसङ्गः॥

सिद्धं तु बहुव्रीहिनिर्देशात्॥ १॥

सिद्धमेतत्। कथम्? बहुव्रीहिनिर्देशात्। बहुव्रीहिनिर्देशः कर्तव्यः॥ एवमपि—सहयुध्वप्रियः, सहकृत्वप्रियः—अत्रापि प्राप्नोति? बहुव्रीहौ यदुत्तरपदमित्येवं विज्ञायते। नन्वेतदपि बहुव्रीहावुत्तरपदम्? एवं तर्हि बहुव्रीहौ यदुपसर्जनमित्येवं विज्ञास्यते। बहुव्रीहौ च यदुपसर्जनं बहुव्रीहिं प्रति च यदुपसर्जनम्॥ स तर्हि बहुव्रीहिनिर्देशः कर्तव्यः? न कर्तव्यः। इह कश्चित्प्रधानानामेव समासः, कश्चिदुपसर्जनानामेव, कश्चित्प्रधानो-

---

भा०—उपसर्जन [सह शब्द के 'स' आदेश के] विकल्प वचन के प्रसङ्ग में सभी उपसर्जन को 'स' आदेश प्राप्त होता है। इसे भी प्राप्त होता है—सहयुध्वा...। [सह उपपद होने पर युध् धातु से 'सहे च' (३.२.९६) सूत्र से क्वनिप् होने पर 'उपपदमतिङ्' (२.२.१९) से तत्पुरुष समास। इसके उत्तर-पदार्थ-प्रधान होने से पूर्वपद सह उपसर्जन है।] क्या कारण है? यहाँ किसी विशेष का प्रयोग नहीं है कि इस प्रकार के उपसर्जन सह शब्द को 'स' आदेश होता है। विशेष का प्रयोग न होने पर सब को प्राप्त होता है। [जिस तत्पुरुष समास में केवल पूर्वपद सह उपसर्जन है, उसे भी प्राप्त होता है।]

वा०—सिद्ध है, बहुव्रीहि-निर्देश से।

भा०—यह सिद्ध है। किस प्रकार? बहुव्रीहि-निर्देश करना चाहिये। ['वोपसर्जनस्य बहुव्रीहौ' इस प्रकार न्यास करना चाहिये।]

तो भी सहयुध्वप्रियः...यहाँ ['स' आदेश] पाता है। [सहयुध्वा का प्रिय के साथ बहुव्रीहि समास है।] बहुव्रीहि में जो उत्तरपद, इस प्रकार समझा जाएगा। यह भी तो बहुव्रीहि में उत्तरपद है। [सम्पूर्ण का बहुव्रीहि समास होने के पश्चात् युध्व को उत्तरपद मान कर सह को 'स' आदेश की प्राप्ति—यह एकदेशी रूप से दोष है।]

अच्छा तो फिर बहुव्रीहि में जो उपसर्जन, इस प्रकार समझा जाएगा। बहुव्रीहि में जो उपसर्जन अर्थात् बहुव्रीहि के प्रति जो उपसर्जन—यह अर्थ होगा। [यहाँ बहुव्रीहि के प्रति सहयुध्वा तथा प्रिय उपसर्जन हैं, सह नहीं। अतः स आदेश नहीं होगा।]

तो फिर बहुव्रीहि-निर्देश किया जावे? नहीं करना चाहिये। यहाँ कहीं प्रधान [पदों] का ही समास होता है [जैसे—द्वन्द्व समास।] कभी उपसर्जन [पदों का]

पसर्जनानाम्। तद्य उपसर्जनानामेव समासस्तदुपसर्जनस्येदं ग्रहणम्॥ अथवाकारो मत्वर्थीयः। तद्यथा—तुन्दः, घाट इति॥ अथवा मतुब्लोपोऽत्र द्रष्टव्यः। तद्यथा—पुष्पका एषां त इमे पुष्पकाः। कालका एषां त इमे कालका इति॥

प्रकृत्याशिषि॥ ६.३.८३॥

प्रकृत्याशिष्यगवादिषु॥ १॥

प्रकृत्याशिष्यगवादिष्विति वक्तव्यम्। इह मा भूत्—स्वस्ति भवते सगवे सवत्साय सहलायेति॥

चरणे ब्रह्मचारिणि॥ ६.३.८६॥

चरणे किं निपात्यते?

ही। [जैसे बहुव्रीहि] कभी प्रधान, उपसर्जन दोनों [पदों] का [जैसे तत्पुरुष आदि।] तब जहाँ उपसर्जन पदों का ही समास है, उसका ग्रहण है। [यह तथ्य 'उपसर्जन' ग्रहण सामर्थ्य से लभ्य है। क्योंकि 'सह' शब्द के असत्त्ववाचक होने से द्वन्द्व तो हो नहीं सकता। अन्य तत्पुरुष, बहुव्रीहि में या तो केवल सह शब्द या सम्पूर्ण समस्यमान पद उपसर्जन मिल ही जाते हैं। पुनरपि उपसर्जन ग्रहण करने से 'सर्वोपसर्जन समास का अवयव जो सह शब्द' यह अर्थ होता है।]

अथवा ['अर्शआदिभ्योऽच्' (५.२.१२७) से मत्वर्थ में अकार प्रत्यय है। जैसे तुन्दः (=तोंद वाला)। [इससे यहाँ 'सर्वोपसर्जन वाला समास'— यह अर्थ होगा। अथवा—यहाँ मतुप् का लोप समझना चाहिये। जैसे पुष्पक [कोई फूल जैसा निशान है] जिनके [शरीर में] वे पुष्पकाः...।

प्रकृत्याशिषि॥

वा०—आशीर्वाद में प्रकृतिभाव, गो आदि परक को छोड़कर।

भा०—आशीर्वाद में प्रकृतिभाव गो आदि परक को छोड़कर होता है। [इनके परे रहने पर तो पूर्व सूत्र से 'स' आदेश होता ही है।] स्वस्ति भवते सगवे सवत्साय सहलाय। [जिनके पास गाएँ होने से दूध, घी है, पुत्र, पौत्र हैं, हल होने से कृषि के पदार्थ हैं, उन आप का कल्याण हो।]

चरणे ब्रह्मचारिणि॥

भा०—चरण में क्या निपातन है? [चरण शब्द 'वेदों की शाखा के मूल' का वाचक है। इस सूत्र के 'सब्रह्मचारी' उदाहरण का अभिधेय शाखा नहीं है। अतः निपातन की आवश्यकता मानते हुए 'निपात्यते' कहा है।]

ब्रह्मण्युपपदे समानपूर्वे व्रते कर्मणि चरेर्णिनिर्व्रतलोपश्च॥ १॥

ब्रह्मण्युपपदे समानपूर्वे व्रते कर्मणि चरेर्णिनिर्व्रतलोपश्च निपात्यते। समाने ब्रह्मणि व्रतं चरतीति सब्रह्मचारी॥

दृग्दृशवतुषु॥ ६.३.८९॥

दृग्दृशवतुषु दृक्ष उपसंख्यानम्॥ १॥

दृग्दृशवतुषु दृक्ष उपसंख्यानं कर्तव्यम्। सदृक्षासः, प्रतिसदृक्षासः॥

समः समि॥ ६.३.९३॥

नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ॥ ६.३.११६॥

किमर्थमञ्चतिनह्यादिषु क्विब्ग्रहणं क्रियते?

वा०—ब्रह्म उपपद होने पर समान पूर्व में व्रत कर्म में चर से णिनि प्रत्यय, व्रतलोप भी।

भा०—ब्रह्म उपपद होने पर, 'समान' शब्द के उससे पूर्व में होने पर, व्रत कर्म होने पर चर से णिनि प्रत्यय, व्रतलोप का भी निपातन है। समाने ब्रह्मणि व्रतं चरतीति सब्रह्मचारी।

विवरण—यहाँ ब्रह्म का अर्थ 'वेद की शाखा' है। समान शाखा अध्ययन के सन्दर्भ में व्रत आचरण करने वाला अर्थात् उसी शाखा का सहपाठी सब्रह्मचारी कहा जाएगा। यहाँ व्रत का अर्थ गतार्थ होने से उसका अप्रयोग ही उसका लोप है। यहाँ चरण अभिधेय नहीं, अपितु गम्यमान है। इस प्रकार यहाँ सहपाठी मुख्य अभिधेय है। समान चरण यह अर्थ गम्य है। इस तथ्य को भगवान् भाष्यकार ने 'निपातन' उक्ति से प्रकट किया है।

दृग्दृशवतुषु॥

वा०—दृग्, दृश, वतु में दृक्ष में उपसङ्ख्यान।

भा०—दृग्, दृश, वतु के प्रसङ्ग में 'दृक्ष' परे रहने पर भी [स आदेश का] उपसङ्ख्यान करना चाहिये। सदृक्षासः...। [यहाँ 'समान' उपपद रहते हुए दृश् धातु से छान्दस 'क्स' प्रत्यय है। जस् परे रहने पर 'आज्जसेरसुक्' (७.१.५०) से असुक् आगम है।]

समः समि॥

नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ॥

भा०—अञ्चति, नहि आदि में 'क्विप्' ग्रहण क्यों किया गया है? [यह विमर्श 'विष्वग्देवयोश्च...' (६.३.९२), 'समः समि' (६.३.९३) के साथ-साथ इस 'नहिवृति...' से भी सम्बद्ध है। समान विचार होने से इन सभी का सङ्ग्रह कर लिया गया है।]

इह मा भूत्—समञ्चनम्, उपनहनम्। नैतदस्ति प्रयोजनम्। उत्तरपद इति वर्तते, न चान्तरेण क्विपमञ्च-तिनह्यादय उत्तरपदानि भवन्ति। तत्रान्तरेण क्विब्ग्रहणं क्विबन्त एव भविष्यति। तदादिविधिना प्राप्नोति॥ अत उत्तरं पठति—

अञ्चतिनह्यादिषु क्विब्ग्रहणानर्थक्यं यस्मिन्विधिस्त-दादावल्ग्रहणे॥ १॥

अञ्चतिनह्यादिषु क्विब्ग्रहणमनर्थकम्। किं कारणम्? यस्मिन्विधिस्तदा-दावल्ग्रहण एव भवति, न चेदमल्ग्रहणम्॥ एवं तर्हि सिद्धे सति यत्क्विब-ग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्योऽन्यत्र धातुग्रहणे तदादिविधिर्भवतीति। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्? 'अतः कृकमि...' (८.३.४६) इत्यत्र अयस्कृत्, अयस्कार इत्यपि सिद्धं भवति॥

['समः समि' सूत्र से] यहाँ आदेश न हो—समञ्चनम् ['नहिवृति...' से] उपनहनम्।

यह प्रयोजन नहीं है। 'उत्तरपदे' की अनुवृत्ति है। क्विप् के बिना अञ्च्, नह् उत्तरपद नहीं हो सकते। [ल्युट् आदि प्रत्यय होने पर 'अञ्चन' सम्पूर्ण उत्तरपद होगा। केवल 'अञ्च्' का उत्तरपदत्व क्विप् में ही सम्भव है।] तब क्विप् ग्रहण के बिना भी क्विबन्त में ही कार्य होगा।

तदादिविधि से प्राप्त होता है। [यदि तदादि विधि हो तो अञ्चत्यादि परे रहने पर होगा। तब 'अञ्चन' उत्तरपद परे रहने पर भी प्राप्ति होती है।] इसके पश्चात् [वार्तिककार] विमर्श करते हैं—

वा०—अञ्चति, नहि आदि में क्विप् ग्रहण का आनर्थक्य, 'यस्मिन् विधि...' [इस वार्तिक से]

भा०—अञ्चति, नहि आदि में क्विप् ग्रहण अनर्थक है। क्या कारण है? [तदादि विधि के विधायक वार्तिक] 'यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे' के अनुसार अल्ग्रहण में ही सप्तमी से निर्दिष्ट होने पर तदादिविधि होती है। यह अल् ग्रहण नहीं है। [क्योंकि यहाँ धात्वाश्रित विधि है।]

अच्छा तो फिर, इस प्रकार सिद्ध होने पर भी जो अञ्चति, नहि आदि में क्विप् ग्रहण किया है, उससे आचार्य ज्ञापित करते हैं कि अन्यत्र धातु-ग्रहण में तदादि विधि हो जाती है। इसके ज्ञापन में क्या प्रयोजन है? 'अतः कृकमि...' सूत्र में अयस्कृत् के साथ अयस्कारः में [धात्वादि प्रत्ययान्त परे होने पर भी] सत्व हो जाता है। [इससे सूत्र का अर्थ होता है—कृ आदि वाले (आक्षिप्त) उत्तरपद परे रहने पर सत्व।]

विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतौ वप्रत्यये ॥ ६.३.९२ ॥

सहस्य सध्रिः ॥ ६.३.९५ ॥

अद्रिसध्र्योरन्तोदात्तवचनं कृत्स्वरनिवृत्त्यर्थम् ॥ १ ॥

अद्रिसध्र्योरन्तोदात्तत्वं वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? कृत्स्वरनिवृत्त्यर्थम्। कृत्स्वरो मा भूत्—विष्वद्र्यङ्, विष्वद्र्यञ्चौ, विष्वद्र्यञ्चः। सध्र्यङ्, सध्र्यञ्चौ, सध्र्यञ्चः॥

तत्र च्छन्दसि स्त्रियां प्रतिषेधः ॥ २ ॥

तत्र च्छन्दसि स्त्रियां प्रतिषेधो वक्तव्यः। वि॒श्वाचीँ (ऋ० ७.४३.३), घृ॒ताचीँ (ऋ० १.१६७.३)॥ यदि च्छन्दसि स्त्रियां प्रतिषेध उच्यते, कथं—सा क॒द्रीचीँ (ऋ० १.१६४.१७)? एवं तर्हि च्छन्दसि स्त्रियां बहुलमिति वक्तव्यम्॥

द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् ॥ ६.३.९७ ॥

समाप ईत्त्वप्रतिषेधः ॥ १ ॥

समाप ईत्त्वप्रतिषेधो वक्तव्यः। समापं नाम देवयजनम्॥

विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतौ वप्रत्यये ॥

सहस्य सध्रिः ॥

वा०—अद्रि, सध्रि का अन्तोदात्तवचन, कृत्स्वर की निवृत्ति के लिये।

भा०—अद्रि, सध्रि का अन्तोदात्तत्व कहना चाहिये। क्या प्रयोजन है? कृत्-स्वर न होवे। विष्वद्र्यङ्...। [यहाँ वार्तिक न कहने पर 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (६.२.१३९) से उत्तरपद 'अङ्' के अकार को उदात्त की प्राप्ति होती। वार्तिक से अद्रि को अन्तोदात्त करने पर यणादेश के पश्चात् 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनु-दात्तस्य' (८.२.४) से इस 'अङ्' के अकार को स्वरित सिद्ध होता है।

वा०—तब छन्द में स्त्रीलिङ्ग में प्रतिषेध।

भा०—तब छन्द में स्त्रीलिङ्ग में [अद्रि आदेश का] प्रतिषेध कहना चाहिए। विश्वाची...। यदि छन्द में स्त्रीलिङ्ग में प्रतिषेध करते हैं तो 'कद्रीची' किस प्रकार बनेगा? अच्छा तो फिर, छन्द में स्त्रीलिङ्ग में बहुल करके होता है, यह कहना चाहिये।

द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् ॥

वा०—'समाप' में 'ईत्व' प्रतिषेध।

भा०—'समाप' में ईत्व का प्रतिषेध कहना चाहिये। समापं नाम देवयजनम् (काठक संहिता २५.२)।

अपर आह—ईत्त्वमनवर्णादिति वक्तव्यम्। समीपम्, अन्तरीपम्। इह मा भूत्—प्रापम्, परापम्॥

ऊदनोर्देशे॥ ६.३.९८॥

दीर्घोच्चारणं किमर्थं, न उदनोर्देश इत्येवोच्येत? का रूपसिद्धिः—अनूपम्? सवर्णदीर्घत्वेन सिद्धम्। न सिध्यति। अवग्रहे दोषः स्यात्॥

अषष्ठ्यतृतीयास्थस्यान्यस्य दुगाशीराशास्थास्थितोत्सुकोतिकारकरागच्छेषु॥ ६.३.९९॥

अषष्ठ्यतृतीयास्थस्येत्युच्यते, तत्रेदं न सिध्यति—अन्यस्येदमन्यदीयम्। अन्यस्य कारकमन्यत्कारकम्॥ एवं तर्ह्यविशेषेण 'अन्यस्य दुक्छकारकयोः' इत्युक्त्वा ततो वक्ष्यामि—'अषष्ठ्यतृतीयास्थस्याशीराशास्थास्थितोत्सुकोतिरागेषु' इति॥

कोः कत्तत्पुरुषेऽचि॥ ६.३.१०१॥

अन्य आचार्य कहते हैं—ईत्व अनकारान्त से होता है, यह कहना चाहिये—समीपम्। यहाँ न हो—प्रापम्, परापम्। ['ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' (५.४.७४) से समासान्त 'अ' प्रत्यय होने से यह अकारान्त है।]

ऊदनोर्देशे॥

भा०—दीर्घ [ऊकार का] उच्चारण किसलिये है? क्यों न 'उदनोर्देश' इतना ही कह देवें? किस प्रकार रूपसिद्धि होगी—अनूपम्? सवर्णदीर्घत्व से सिद्ध होगा। नहीं सिद्ध होता। अवग्रह में 'दोष' होगा। [अनूपे गोमान्...(ऋ० ९.१०७.९) इत्यादि का पदपाठ करते समय शब्द को विगृहीत करके पढ़ा जाता है। सूत्र में ह्रस्व उकार करने पर 'अनु उपम्' इस प्रकार परम्परा से विपरीत विग्रह करना होगा।]

अषष्ठ्यतृतीयास्थस्यान्यस्य०॥

भा०—'अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य' [यहाँ षष्ठीस्थ का निषेध करते हैं, इससे यहाँ सिद्ध नहीं होता—अन्यस्येदं अन्यदीयम्...।

अच्छा तो फिर—छ, कारक परे रहने पर 'अन्य' को दुक्, इस प्रकार सामान्य रूप से कह कर पश्चात् कहेंगे—अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य...। [इससे छ परे रहने पर किसी भी विभक्ति के होने पर दुक् हो सकेगा।]

कोः कत्तत्पुरुषेऽचि॥

कद्भावे त्रावुपसंख्यानम्॥ १ ॥

कद्भावे त्रावुपसंख्यानं कर्तव्यम्। कुत्सितास्त्रयः—कत्त्रयः। के वा त्रयः, न बिभृयुः—कत्त्रयः॥

पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्॥ ६.३.१०९ ॥

पृषोदरादीनीत्युच्यते, कानि पृषोदरादीनि ? पृषोदरप्रकाराणि। कानि पुनः पृषोदरप्रकाराणि ? येषु लोपागमवर्णविकाराः श्रूयन्ते, न चोच्यन्ते॥ अथ यथेति किमिदम् ? 'प्रकारवचने थाल्' (५.३.२३)॥ अथ किमिदमुपदिष्टानीति ? उच्चारितानि। कुत एतत् ? दिशिरुच्चारणक्रियः। उच्चार्य हि वर्णानाह उपदिष्टा इमे वर्णा इति। कैः पुनरुपदिष्टाः ? शिष्टैः। के पुनः शिष्टाः ? वैयाकरणाः। कुत एतत् ? शास्त्रपूर्विका हि शिष्टिः, वैयाकरणाश्च शास्त्रज्ञाः। यदि तर्हि शास्त्रपूर्विका शिष्टिः, शिष्टिपूर्वकं च शास्त्रं

वा०—कद् भाव में 'त्रि' में उपसङ्ख्यान।

भा०—कद्भाव के प्रसङ्ग में 'त्रि' परे रहने पर उपसङ्ख्यान करना चाहिये। कत्त्रयः। यह 'कत्त्रयः' क्या है ? कुत्सित तीन। अथवा—ये क्या तीन हैं, जो पालन नहीं कर सकते। [यहाँ वार्तिक द्वारा निन्दा अर्थ में वर्तमान 'किम्' के स्थान पर 'कत्' आदेश हुआ है।

पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्॥

भा०—यहाँ 'पृषोदरादीनि' कहा गया है। 'पृषोदरादि' कौन से हैं ? [समाधान-] 'पृषोदर' के प्रकार (उसकी तरह) वाले। [यह आकृतिगण के रूप में मान्य है।] पृषोदर (=पृषत् उदरं यस्य सः, बूँद या धब्बे वाले पेट वाला कोई पशु) के प्रकार वाले कौन हैं ? जिनमें लोप, आगम वर्ण-विकार सुने गये हैं, पर शासन नहीं किया गया है। [जैसे 'पृषोदर' में पृषत् का तकार लोप सुना जा रहा है।]

अच्छा, 'यथा' यह क्या है ? 'प्रकारवचने थाल्' सूत्र से [यद् शब्द से थाल् प्रत्यय है। विग्रह—येन प्रकारेण यथा=जिस प्रकार का है, वैसा ही]

अच्छा, 'उपदिष्ट' क्या है ? उच्चरित। यह किस प्रकार ? 'दिश्' धातु उच्चारण क्रिया अर्थ में है। वर्णों का उच्चारण करके कहते हैं, ये वर्ण उपदिष्ट हुए। किनके द्वारा उपदिष्ट हुए ? शिष्टों के द्वारा। ['यथोपदिष्ट' शब्द में 'यथा' का 'उपदिष्ट' के साथ 'पदार्थानतिवृत्ति' में अव्ययीभाव समास। विग्रह—उपदिष्टम् अनतिक्रम्य यथोपदिष्टम्।]

शिष्ट कौन है ? वैयाकरण। ऐसा क्यों ? शास्त्र अध्ययन के द्वारा ही 'शिष्टि' बनती है। वैयाकरण ही शास्त्रों के जानकार होते हैं। यदि शास्त्र पूर्वक 'शिष्टि' होती है तथा 'शिष्टि द्वारा' [पृषोदरादि जैसे] शास्त्र-नियम बनते हैं, तो यह

तदितरेतराश्रयं भवति। इतरेतराश्रयाणि च न प्रकल्पन्ते। एवं तर्हि निवासत आचारतश्च। स चाचार आर्यावर्त एव।

इतरेतराश्रय होता है। इतरेतराश्रय प्रयोग कृतकार्य नहीं होते। [व्याकरण शास्त्र के अध्ययन से 'शिष्टि' बनती है, शिष्टि से पृषोदरादि जैसे शब्दों का अनुशासन करने वाले नियम। इस प्रकार यदि इन शब्दों के लिये व्याकरण-शास्त्र के नियम उन्हीं पूर्व-प्रचलित व्याकरण के नियमों का अनुसरण करने वाले शिष्टों द्वारा सञ्चालित हैं, तो इतरेतराश्रय दोष होगा।]

अच्छा तो फिर, निवास से तथा आचार से। वह आचार भी केवल आर्यावर्त में रहने वालों का ही। [इस प्रकार आर्यावर्त में रहने वाले विशुद्ध आचरण करने वाले शिष्ट हैं, उनके प्रयोग द्वारा सञ्चालित साधु शब्द कहे जाएँगे।]

विशेष—दर्भपवित्रपाणि पाणिनि ने वैदिक, लौकिक करोड़ों शब्दों के अनुशासन के पश्चात् यहाँ यह स्वीकार कर लिया है कि अभी भी अनुशासनीय शब्दों की इयत्ता पूर्ण नहीं हुई है। वास्तव में शब्दशास्त्र के महाविस्तार की यह स्वीकृति है। पाणिनि ने माना कि ऐसे अननुशासित शब्दों का साधुत्व शिष्टों पर निर्भर है। यदि शब्दों के अधिकृत विद्वान् साधु-प्रयोगों की परम्परा में उन्हें स्वीकृति देते हैं तो उसे मान्य समझना चाहिये।

ऐसे अननुशासित शब्दों की सिद्धि के लिये वैदिक शब्दों के साथ अथवा देशान्तर में प्रयुक्त अन्य शब्दों के साथ तुलना द्वारा अप्रोक्त धातु अथवा शब्दों के प्रति शिष्ट-जन-सम्मति का परिज्ञान होता है। उस मूल शब्द के साथ विवेचनीय शब्द की अर्थसंगति, अनुमत ध्वनि विपरिणाम आदि के द्वारा मूल शब्द का निश्चय करना चाहिए। यहाँ भी केवल शब्द-सिद्धि के आवेश में स्वेच्छाचारिता से किसी भी धातु के साथ सम्बन्ध को शिष्ट-जन-सम्मत नहीं कहा जा सकता।

उदाहरणतः, संस्कृत में 'रोहित' तथा 'लोहित' शब्द लाल रङ्ग तथा खून अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। अब पाणिनीय धातुपाठ में रुह् धातु इस अर्थ में नहीं है। लुह् तो कोई धातु ही नहीं है। अतः ऋग्वेद ४.४३.६ में 'रोधति' प्रयोग से एक अन्य अर्थ में अन्य गण वाली रुध धातु का परिज्ञान होता है। इस रुध् धातु से अथर्व० ५.२९.१० में प्रयुक्त रुधिर शब्द तथा लाल तना वाले वृक्ष अर्थ में 'रोध्र' की सिद्धि होती है। इससे रोहित, लोहित शब्द अर्थसङ्गति के साथ सिद्ध होते हैं। फारसी में लहू, 'लोहूलुहान' जैसे शब्दों से देशान्तर में भी इस धातु तथा इससे प्रयुक्त शब्दों के प्रचलन का परिज्ञान होता है।

महामति महाभाष्यकार ने अन्य प्रसङ्ग में प्रासिज्ञ के साथ-साथ 'इष्टिज्ञ' के सम्बोधन द्वारा इन शिष्टों द्वारा प्रयुक्त शब्दों को महनीयता प्रदान की है। (देखें—'प्रासिज्ञो देवानांप्रियः, नत्विष्टिज्ञः' ('अजेर्व्यघञपोः' २.४.५६ पर महाभाष्य)

कः पुनरार्यावर्तः ? प्रागादर्शात्प्रत्यक्कालकवनाद्दक्षिणेन हिमवन्तमुत्तरेण पारियात्रम्। एतस्मिन्नार्यावर्ते, आर्यनिवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किंचिदन्तरेण कस्याश्चिद्विद्यायाः पारगास्तत्र भवन्तः शिष्टाः ॥

भा०—आर्यावर्त कौन हैं ? आदर्श (पर्वत) के पूर्व, कालकवन के पश्चिम, हिमालय के दक्षिण तथा पारियात्र (पर्वत) से उत्तर [आर्यावर्त है। यहाँ प्राक् के योग में 'अन्यरादितरर्ते...' (२.३.२९) से आदर्श में अञ्चूत्तरपदलक्षण पञ्चमी हुई है। दक्षिणेन, उत्तरेण में तृतीया नहीं है। अपितु 'एनबन्यतरस्याम्...' (५.३.३५) सूत्र से प्रथमान्त उत्तर से एनप् प्रत्यय है। अतः यह अव्यय शब्द है। 'हिमवन्तम्' में 'एनपा द्वितीया' (२.३.३१) से द्वितीया है।] इस आर्यावर्त में, आर्यों के निवास में जो ब्राह्मण कुम्भीधान्य (=कुम्भ्यामेव धान्यं येषाम्। जिनके पास जीविका चलाने के लिये केवल घड़ेभर धान्य है। अपरिग्रह की पराकाष्ठा है!!) अलोलुपाः=जिनके कोई लालच नहीं है। अगृह्यमाणकारणाः (=नहीं देखा गया है, सदाचार अनुष्ठान आदि के लिये कोई लौकिक कारण जिनका। जो सदाचरण आदि के लिये किसी लौकिक लाभ आदि से सञ्चालित नहीं हैं।) जो अन्य किसी अभियोग—किसी विवशता से प्रेरित न होते हुए किसी विद्या में पारङ्गत हैं, वे शिष्ट हैं।

विशेष—यह आर्यावर्त की सीमा का ज्ञापक महाभाष्यकार का विशिष्ट वचन है। यह मनुस्मृति के २.२१ श्लोक[१] के समतुल्य है। इसमें इसे मध्यदेश कहा गया है। इसके समकक्ष एक अन्य श्लोक[२] २.२२ में इसे आर्यावर्त भी कहा गया है। यह अतिप्राचीन काल से अत्यन्त पवित्र एवं सुपूजित क्षेत्र माना जाता रहा है। इसके अन्तर्गत उदीच्य देश का काफी भाग सम्मिलित रहा है। इस क्षेत्र से बाहर रहने वालों को 'निरवसित' नाम प्रदान किया गया था। मूलतः महर्षि पाणिनि ने यह नाम प्रदान किया था। (द्र०—'शूद्राणामनिरवसितानाम्' २.४.१०)

यहाँ महाभाष्यकार ने जिन नामों का उल्लेख किया है उनमें 'आदर्श' कुरुक्षेत्र में अवस्थित पर्वत था। कालकवन आधुनिक प्रयाग के जंगल के रूप में विख्यात था। इस प्रकार मोटे तौर पर गङ्गा यमुना का दोआब इसके अन्तर्गत आता था। उत्तर में हिमालय इसकी सीमा थी। दक्षिण में पारियात्र वर्तमान भोपाल के पश्चिम में स्थित विन्ध्य तथा अरावली पर्वत का प्राचीन नाम माना जाता था। इस प्रकार यह कथन मनुस्मृति के 'हिमालय और विन्ध्य का मध्यवर्ती क्षेत्र मध्यदेश या आर्यावर्त' इस वचन के समतुल्य है। (हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत् प्राग्विनशनादपि, —मनुस्मृति २.२१)

यह माना जाता रहा है कि इस भूभाग में वेद-वाणी की सर्वाधिक सुरक्षा हुई

---

१. हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि। प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्त्तितः ॥
२. आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्। तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः ॥

यदि तर्हि शिष्टाः शब्देषु प्रमाणं किमष्टाध्याय्या क्रियते? शिष्टपरिज्ञानार्थाष्टाध्यायी। कथं पुनरष्टाध्याय्या शिष्टाः शक्या विज्ञातुम्? अष्टाध्यायीमधीयानोऽन्यं पश्यत्यनधीयानं येऽत्र विहिताः शब्दास्तान्प्रयुञ्जानम्। स पश्यति—नूनमस्य दैवानुग्रहः स्वभावो वा, योऽयं न चाष्टाध्यायीमधीते, ये चात्र विहिताः शब्दास्तांश्च प्रयुङ्क्ते। अयं नूनमन्यानपि जानाति। एवमेषा शिष्ट-परिज्ञानार्थाष्टाध्यायी॥

दिक्शब्देभ्यस्तीरस्य तारभावो वा॥ १॥

दिक्शब्देभ्यस्तीरस्य तारभावो वा वक्तव्यः। दक्षिणतीरम्, दक्षिणतारम्॥

वाचो वादेर्डत्वं वल्भावश्चोत्तरपदस्येञि॥ २॥

वाचो वादे डत्वं वक्तव्यं वल्भावश्चोत्तरपदस्येञि वक्तव्यः।

है। इसकी सुरक्षा करने वाले वेदपाठी नितान्त अपरिग्रही, अलोलुप तथा अनायास ही विद्याओं में निष्णात होते थे। ये व्याकरण में अनुशासित शब्दों के अलावा भी शुद्ध शब्दों के जानकार होते थे। अत एव इन्हें 'शिष्ट' कहा जाता था तथा इनके द्वारा प्रोक्त शब्दों को भी प्रमाण माना जाता था।

भा०—अच्छा तो फिर, यदि 'शिष्ट' शब्दों में प्रमाण हैं तो अष्टाध्यायी के द्वारा क्या किया जाता है? 'शिष्टों' के परिज्ञान के लिये अष्टाध्यायी है। 'अष्टाध्यायी' से शिष्ट लोगों को किस प्रकार पहचाना जा सकता है? अष्टाध्यायी को पढ़ने वाला किसी अन्य अष्टाध्यायी न पढ़ने वाले को, परन्तु उसके द्वारा विहित शुद्ध शब्दों के प्रयोग करने वाले को देखता है। इससे वह यह समझता है कि निश्चय ही इस शिष्ट पर देवताओं की कृपा है या यह इसका स्वभाव है कि यह अष्टाध्यायी का अध्ययन नहीं करता, परन्तु इसमें विहित शब्दों का प्रयोग करता है। निश्चय ही यह अन्य शब्दों को भी जानता है। इस प्रकार अष्टाध्यायी 'शिष्ट' लोगों की पहचान के लिये है।

वा०—दिक् शब्द से तीर का तार-भाव विकल्प से।

भा०—दिक्-वाचक शब्दों से उत्तर तीर के स्थान में 'तार' आदेश विकल्प से कहना चाहिये। दक्षिणतीरम्, दक्षिणतारम्। [दोनों शब्दों का समानाधिकरण समास है। आदेश अनावश्यकसम है। तॄ धातु से अधिकरण में 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' (३.३.१९) से घञ् प्रत्यय द्वारा 'तार' शब्द निष्पन्न हो सकता है।]

वा०—वाच् के वादि को डत्व, इञ् परे रहने पर उत्तरपद को वल्भाव भी।

भा०—वाच् शब्द के, वा आदि में है जिसके ऐसे 'चकार' के स्थान में डकार आदेश तथा इञ् परे रहने पर उत्तरपद को 'वल्' आदेश भी कहना चाहिये।

वाग्वादस्यापत्यं वाड्वलिः॥

षष उत्वं दतृदशसूत्तरपदादेः ष्टुत्वं च॥ ३॥

षष उत्वं वक्तव्यमुत्तरपदादेः ष्टुत्वं च वक्तव्यम्। षोडन्, षोडश॥

धासु वा॥ ४॥

धासु वेति वक्तव्यमुत्तरपदादेः ष्टुत्वं च वक्तव्यम्। षोढा। षड्ढा कुरु॥ अथ किमर्थं बहुवचननिर्देशः क्रियते, न पुनर्धायामित्येवोच्येत? नानाधिकरणवाची यो धाशब्दस्तस्य ग्रहणं यथा विज्ञायेत। इह मा भूत्—षड् दधातीति षड्धेति॥

दुरो दाशनाशदभध्येषु॥ ५॥

दुरो दाशनाशदभध्येषूत्वं वक्तव्यमुत्तरपदादेश्च ष्टुत्वम्। दूडाशः (शौ०सं० १.१३.१), दूणाशः (ऋ० ७.३२.६७), दूडभः (ऋ० ४.९.८), दूढ्यः (ऋ० ८.७५.९)॥

वाग्वादस्यापत्यं वाड्वलिः।

वा०—दतृ, दश परे रहने पर षष् को उत्व तथा उत्तरपदादि को ष्टुत्व भी।

भा०—[दतृ, दश परे रहने पर] षष् को उत्व कहना चाहिये तथा उत्तरपद के आदि को ष्टुत्व भी कहना चाहिये। षोडन् ['षड् दन्ता अस्य' विग्रह के अनुसार बहुव्रीहि तथा 'वयसि दन्तस्य दतृ' (५.४.१४१) से समासान्त दतृ आदेश।] षोडश। ['षट् च दश च' विग्रह के अनुसार द्वन्द्व समास।]

वा०—धा में विकल्प।

भा०—[बहुत्व अर्थ वाले] धा पर रहने पर विकल्प से [उकार आदेश] तथा उत्तरपद अर्थात् धा [यहाँ पद=प्रत्यय] के आदि को ष्टुत्व भी कहना चाहिये। षोढा, षड्ढा कुरु। [षष् शब्द से 'अधिकरणविचाले च' (५.३.४३) से धा प्रत्यय]

अच्छा, यहाँ बहुवचन-निर्देश क्यों है? यहाँ 'धायाम्' इस प्रकार ही क्यों न कह देवें? नानाधिकरणवाची=विविध द्रव्यवाची जो धा शब्द है, उसका ग्रहण जिससे समझा जाए। [अतः 'षोढा कुरु' का अर्थ 'एक ढेर को छह ढेर वाला बनाओ'।] यहाँ न होवे—षड् दधातीति षड्धा। [षष् उपपद रहने पर 'धा' धातु से 'क्विप् च' (३.२.७६) सूत्र से क्विप् प्रत्यय।]

वा०—दुर् को दाश, नाश, दभ, ध्या के परे रहते।

भा०—दाश, नाश, दभ, ध्या के परे रहने पर 'दुर्' को उत्व तथा [दाश आदि] उत्तरपद के आदि को ष्टुत्व कहना चाहिये। दूडाशः...।

स्वरो रोहतौ छन्दसि॥ ६॥

स्वरो रोहतौ छन्दस्युत्वं वक्तव्यम्। जा॒य ए॒हि॒ स्वो रो॒हाव (श०ब्रा० ५.२.१.१०)॥

पीवोपवसनादीनां छन्दसि लोपो वक्तव्यः। पीवोँपवसनानाम् (मा० सं० २१.४३), पयोपवसनानाम्, श्रियेदम्॥

ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः॥ ६.३.१११॥

पूर्वग्रहणं किमर्थं न 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (१.१.६६) इति, पूर्वस्यैव भविष्यति? न सिध्यति। न हि ढ्रलोपेनानन्तर्यम्॥ इह कस्मान्न भवति— करणीयम्, हरणीयम्? नैवं विज्ञायते—ढ्रोर्लोपः—ढ्रलोपः, ढ्रलोप इति। कथं तर्हि? ढ्रोर्लोपोऽस्मिन्सोऽयं ढ्रलोपः, ढ्रलोप इति। यद्येवं नार्थः पूर्वग्रहणेन, भवति हि ढ्रलोपेनानन्तर्यम्॥ इदं तर्हि प्रयोजनम्—

वा०—रोहति परे रहने पर स्वर् का छन्द में उत्व।

भा०—रोहति अर्थात् रुह धातु परे रहने पर छन्द में स्वर् का उत्व कहना चाहिये। जाय एहि स्वो रोहाव—शतपथ ब्राह्मण ५.२.१.१० (=तुम पत्नी आओ, हम दोनों स्वर्ग का आरोहण करें।) ['रोहाव' शब्द लोट् लकार, उत्तम पुरुष, द्विवचन का रूप है।]

वा०—'पीवोपवसन' आदि का छन्द में लोप।

भा०—'पीवोपवसन' आदि [के पूर्वपद के अन्तिम] का छन्द में लोप कहना चाहिये। पीवोपवसनानाम्... [पीवस्, पयस् के सकार का लोप]

ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः॥

भा०—यहाँ 'पूर्व' ग्रहण किसलिये है? क्या 'तस्मिन्निति...' सूत्र के अनुसार पूर्व को कार्य नहीं सम्पन्न हो जाएगा? नहीं सिद्ध होता, ढ, र के लोप के सापेक्ष पूर्व का आनन्तर्य नहीं हो सकता।

अच्छा यहाँ [क के अकार का] दीर्घ क्यों नहीं होता—करणीयम्। ['अनीयर्' प्रत्यय के इत्संज्ञक रेफ के लोप को मान कर कह रहे हैं।] यहाँ यह नहीं माना गया—ढ, र का लोप ढ्रलोप [षष्ठी तत्पुरुष समास नहीं है।] तो फिर किस प्रकार? ढ, र का लोप हुआ है, जिसके परे रहने वह ढ्रलोप होगा। [बहुव्रीहि समास मान्य होगा। अतः ढ, र का लोप प्रत्यासत्ति से जिस अन्य ढ, र परे रहने पर होता है, वह अन्य ढ, र ढ्रलोप कहाएगा। जैसे—'लिढ् ढ' यहाँ अगला 'ढ' ढ्रलोप है। 'करणीयम्' में रलोप अभावपरक है। इसलिये यह ढ्रलोप नहीं होगा।]

तब तो पूर्व-ग्रहण की आवश्यकता नहीं। तब तो 'ढ्रलोप' से आन्तर्य हो जाएगा। अच्छा तो फिर यह प्रयोजन है—उत्तरपदे की अनुवृत्ति है [ढ्रलोप से]

उत्तरपद इति वर्तत, आनन्तर्यमात्रे कार्यं यथा स्यात्। औदुम्बरी राजा। पुना रूपाणि कल्पयेत्॥

सहिवहोरोदवर्णस्य॥ ६.३.११२॥

वर्णग्रहणं किमर्थम्, न सहिवहोरोदस्येत्येवोच्येत? वृद्धावपि कृतायामोत्त्वं यथा स्यात्—उदवोढाम्, उदवोढम्, उदवोढेति॥ अथावर्णग्रहणं किमर्थम्? इह मा भूत्—ऊढः, ऊढवानिति। नैतदस्ति प्रयोजनम्। भवत्येवात्रौत्त्वम्। श्रवणं कस्मान्न भवति? पूर्वत्वमस्य भविष्यति। इदमिह सम्प्रधार्यम्—ओत्त्वं क्रियतां पूर्वत्वमिति, किमत्र कर्तव्यम्? परत्वादोत्त्वम्। अन्तरङ्गं पूर्वत्वम्॥ एवं तर्हीदमिह सम्प्रधार्यम्—ओत्त्वं क्रियतां संप्रसारणमिति।

आनन्तर्यमात्र में हो जावे। औदुम्बरी राजा... [तात्पर्य यह है कि उत्तरपदपरत्व के अभाव में भी हो जाए। समास में उत्तरपदत्व माना जाता है। इस प्रकार असमास में भी दीर्घ हो सकेगा। यहाँ 'औदुम्बरि र् राजा' इस दशा में 'रो रि' (८.३.१४) से रेफलोप होने पर इससे दीर्घ सिद्ध होता है।

सहिवहोरोदवर्णस्य॥

भा०—यहाँ वर्ण-ग्रहण किसलिये है? क्यों न 'सहिवहोरोदस्य' इतना ही कह देवें? [समाधान-] वृद्धि करने पर भी ओत्व हो सके। उदवोढाम्...। [उद् उपसर्ग, वह् धातु, लुङ् लकार प्रथम पुरुष, द्विवचन का रूप। यहाँ सिच् परे रहने पर 'वदव्रज-हलन्तस्याचः' (७.२.३) से वृद्धि। पुनः सिज्लोप, ढत्व, धत्व, ष्टुत्व के पश्चात् 'उत् अ वाढ् ढाम्' बनने पर 'ढो ढे लोपः' (८.३.१३) से ढकार-लोप के अनन्तर इस प्रस्तुत सूत्र से दीर्घ आकार के स्थान में ओकार न होता। क्योंकि 'ओत्' इस रूप के तपर होने से 'तादपि परस्तपरः' इस नियम के अनुसार 'अस्य' यह भी तपर माना जाता। वर्ण ग्रहण करने से दीर्घ आकार को भी ओत्व होता है।]

अवर्ण-ग्रहण किसलिये है? यहाँ न हो—ऊढः, ऊढवान्। [वह् धातु से क्त प्रत्यय होने पर सम्प्रसारण, पूर्वरूप के पश्चात् 'उढ् ढ' इस दशा में पूर्वोक्त से ढलोप होने पर इस सूत्र से इस उकार को ओकार नहीं होता।]

यह प्रयोजन नहीं है। यहाँ तो [वर्ण-ग्रहण करने पर भी] ओत्व हो ही जाता है। पुनः श्रवण क्यों नहीं होता? इसे पूर्वरूप हो जाता है। ['उ अ ढ् ढ' इस दशा में ढलोप के पश्चात् अकार के स्थान में ओकार होने पर 'उ ओ ढ' बनने पर पूर्वरूप होने से ओकार का श्रवण नहीं होता।]

यह सम्प्रधारणा करें कि पहले ओत्व करें या पूर्वत्व। क्या करना चाहिये? परत्व से ओत्व। परन्तु पूर्वत्व तो अन्तरङ्ग है।

अच्छा तो फिर यह सम्प्रधारणा करें कि ओत्व करें या सम्प्रसारण? क्या

किमत्र कर्तव्यम्? परत्वादोत्त्वम्। नित्यं संप्रसारणम्। कृतेऽप्योत्त्वे प्राप्नोत्यकृतेऽपि। ओत्त्वमपि नित्यम्। कथम्? कृतेऽपि संप्रसारणे प्राप्नोत्यकृतेऽपि। अनित्यमोत्वं, न हि कृते सम्प्रसारणे प्राप्नोति। किं कारणम्? अन्तरङ्गं पूर्वत्वम्। यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते न तदनित्यम्। न च संप्रसारणमेवौत्त्वस्य निमित्तं विहन्त्यवश्यं लक्षणान्तरं पूर्वत्वं प्रतीक्ष्यम्। उभयोर्नित्ययोः परत्वादोत्वम्। ओत्त्वे कृते सम्प्रसारणम्, सम्प्रसारणपरपूर्वत्वम्। तत्र कार्यकृतत्वात् पुनरोत्त्वं न भविष्यति॥

इको वहेऽपीलोः॥ ६.३.१२१॥

अपील्वादीनामिति वक्तव्यम्। इह मा भूत्—रुचिवहम्, चारुवहम्॥

उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्॥ ६.३.१२२॥

अमनुष्यादिष्विति वक्तव्यम्। इह मा भूत्—प्रसेवः, प्रहारः, प्रसारः॥

करना चाहिये? ['वह त्' इस दशा में वकार के अकार को ओत्व-प्राप्ति की परिकल्पना कर रहे हैं। यद्यपि इस प्रस्तुत सूत्र में 'ढ्रलोप' की अनुवृत्ति होने से उसके पश्चात् ही ओत्व की प्राप्ति होती है। अतः व्याख्याकारों ने ढ्रलोप में तत्पुरुष समास तथा विषय सप्तमी मानते हुए इस प्राप्ति को प्रदर्शित करने का उपक्रम किया है।

परत्व से ओत्व। सम्प्रसारण नित्य है—ओत्व करने पर भी पाता है, न करने पर भी। ओत्व भी नित्य है। कैसे? सम्प्रसारण करने पर भी पाता है, न करने पर भी। ओत्व अनित्य है—सम्प्रसारण करने पर नहीं पाता। क्या कारण है? पूर्वत्व अन्तरङ्ग है।

जिसका लक्षणान्तर से निमित्त का विघात होता है, वह अनित्य नहीं होता। यहाँ सम्प्रसारण ही ओत्व के निमित्त का विघात नहीं करता। अवश्य ही अन्य लक्षण पूर्वत्व की प्रतीक्षा करनी होगी। दोनों के नित्य होने पर परत्व से ओत्व। ओत्व कर लेने पर, सम्प्रसारण कर लेने पर, सम्प्रसारणपरपूर्वत्व। तब 'कार्यकृत' अर्थात् एक बार यह सूत्र कार्य कर चुका, अतः पुनः ओत्व नहीं होगा। [इतने सुदीर्घ विमर्श के पश्चात् 'अवर्णस्य' ग्रहण न करने पर भी कार्य सिद्ध हो सकता है।]

इको वहेऽपीलोः॥

भा०—'पील्वादि को छोड़कर हो, यह कहना चाहिये। ताकि यहाँ भी [दीर्घत्व] न होवे—रुचिवहम्...।

उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्॥

भा०—मनुष्यादि से भिन्न के परे रहने पर होता है। यह कहना चाहिये। ताकि यहाँ भी न हो—प्रसेवः।

सादकारयोः कृत्रिमे॥ १॥

सादकारयोः कृत्रिम इति वक्तव्यम्। इहैव यथा स्यात्—प्रासादः, प्राकारः। इह मा भूत—एषोऽस्य प्रसादः। एषोऽस्य प्रकारः॥

प्रतिवेशादीनां विभाषा॥ २॥

प्रतिवेशादीनां विभाषा दीर्घत्वं वक्तव्यम्। प्रतिवेशः, प्रतीवेशः॥

दस्ति॥ ६.३.१२४॥

कथमिदं विज्ञायते—दा इत्येतस्मिंस्तकारादाविति, आहोस्विद्दा इत्येतस्मिंस्तकारान्त इति? किं चातः? यदि विज्ञायते—तकारादाविति नीत्ता,

---

वा०—साद, कार परे रहने पर कृत्रिम में।

भा०—साद, कार परे होने पर कृत्रिम=बनावटी होने पर [दीर्घत्व] कहना चाहिये। ताकि यहीं हो—एषोऽस्य प्रासादः। [पुरुष व्यापार से निर्मित भवन को कहा जाएगा।] कृत्रिम किसलिये है? एषोऽस्य प्रकारः।

वा०—प्रतिवेश आदि का विकल्प से।

भा०—प्रतिवेश आदि का विकल्प से दीर्घत्व कहना चाहिये। प्रतिवेशः, प्रतीवेशः।

दस्ति॥

भा०—यहाँ किस प्रकार समझा जाता है—'दा' इसका जो तकार [तदादि उत्तरपद] परे रहने पर। अथवा तकारान्त [जो दा उसके सम्बन्धी उत्तरपद परे रहने पर।

विवरण—प्रथम पक्ष में—दा से तकार को विशेषित करते हैं, पुनः उस तकार से उत्तरपद को विशेषित करते हैं। इस प्रकार 'दा' का तकार विशेष्य होता है, पुनः यही तकार उत्तरपद का विशेषण होता है। दूसरे पक्ष में तकार से दा को विशेषित करते हैं। यहाँ 'तकार' के विशेषण होने से तदन्त विधि होने से 'तकारान्त' जो दा यह अर्थ होता है। यहाँ विशेषण विशेष्य भाव बनाने के लिये 'ति' में षष्ठी के अर्थ में सौत्र सप्तमी मानते हैं। अब इस 'दा' का उत्तरपद के साथ समानाधिकरण सम्बन्ध करते हैं। इस सम्बन्ध के लिये 'दः' को सप्तम्यर्थ मानना आवश्यक होता है।

तात्पर्य यह है कि प्रथम पक्ष में 'दः' का 'ति' के साथ व्यधिकरण सम्बन्ध पुनः 'ति' का उत्तरपदे के साथ समानाधिकरण सम्बन्ध होता है। अन्य पक्ष में 'ति' 'दः' का समानाधिकरण बनाने के लिये 'ति' में षष्ठ्यर्थ की तथा 'दः', उत्तरपदे का समानाधिकरण बनाने के लिये श्लेष से अन्य शब्द मानते हुए 'दः' में सप्तम्यर्थ की कल्पना करनी पड़ती है।

भा०—इससे क्या? यदि प्रथम पक्ष 'तकारादौ' वाला है तो नीत्ता, वीत्ता—

वीत्ता—अत्र न प्राप्नोति। अथ विज्ञायते—तकारान्त इति सुदत्तम्, प्रतिदत्तम्—अत्रापि प्राप्नोति। यथेच्छसि तथास्तु॥ अस्तु तावत्तकारादाविति। कथं नीत्ता, वीत्ता? चर्त्वे कृते भविष्यति। असिद्धं चर्त्वं तस्यासिद्धत्वान्न प्राप्नोति। आश्रयात्सिद्धत्वं भविष्यति॥ अथवा पुनरस्तु तकारान्त इति। कथं सुदत्तम्, प्रतिदत्तम्? नैतत्तकारान्तम्, किं तर्हि? थकारान्तमेतत्॥

चौ॥ ६.३.१३८॥

इहान्य आचार्याश्चौ प्रत्यङ्गस्य प्रतिषेधमाहुस्तदिहापि साध्यम्। नैष दोषः। एतज्ज्ञापयत्याचार्यः—न चौ प्रत्यङ्गं भवतीति, यदयं चौ दीर्घत्वं शास्ति॥

यहाँ [दीर्घत्व] नहीं पाता। [यहाँ 'नि दा त' इस दशा में 'अच उपसर्गात्तः' (७.४.४७) से दा के आकार के स्थान में तकारादेश होने पर दा का जो आकार तदादि उत्तरपद परे न होने से दीर्घ नहीं पाता।]

यदि द्वितीय पक्ष में तकारान्त जो दा मानें तो सुदत्तम्... यहाँ भी पाता है। [सु दा त इस दशा में 'दो दद् घोः' (७.४.४६) से दत् आदेश होने पर यह स्थानिवद्भाव से तकारान्त 'दा' होने से यहाँ भी दीर्घ पाता है।]

जैसा चाहें, वैसा होवे। अच्छा, प्रथम पक्ष मान्य होवे। 'नीत्ता' आदि रूप किस प्रकार बनेंगे? चर्त्व कर लेने पर हो जाएगा। [दा के दकार को 'अभ्यासे चर्च' (८.४.५४) से तकार आदेश के पश्चात् इस तकार की दृष्टि से तकारादि उत्तरपद बन जाएगा।] चर्त्व असिद्ध है, उसके असिद्ध होने से नहीं पाता। आश्रय=वचनसामर्थ्य से सिद्धत्व हो जाएगा। [क्योंकि यदि यहाँ कार्य न हो तो सूत्र निरवकाश होने लगेगा।]

अथवा तकारान्त पक्ष मान्य होवे। तब सुदत्तम्...में किस प्रकार होगा? यह तकारान्त नहीं है। तो फिर क्या है? थकारान्त है। [सूत्र में मूलतः थकारान्त निर्दिष्ट है। उदाहरण में चर्त्व होकर तकार हो सकेगा। इस सूत्र के प्रति चर्त्व के असिद्ध होने से यहाँ यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा।]

चौ॥

भा०—यहाँ अन्य आचार्य 'चौ' सूत्र के प्रति जो प्रत्यङ्ग=अन्तरङ्ग है, उसका प्रतिषेध कहते हैं। उसे यहाँ भी सिद्ध करना चाहिये। ['प्राचः' में एकादेश, 'दधीचः' में दधि अच् अस्' इस दशा में अन्तरङ्ग होने से यणादेश कर लेने पर इससे दीर्घत्व नहीं पाता।]

यह दोष नहीं है। इससे ही आचार्य ज्ञापित करते हैं कि 'चौ' के प्रति जो अन्तरङ्ग है, वह नहीं होता, जो वे [इस सूत्र से] दीर्घत्व का शासन करते हैं। [इस प्रकार एकादेश यणादेश से पूर्व, 'अचः' (६.४.१३८) से अकार लोप, लुप्ताकार होने पर इससे दीर्घ सम्पन्न होता है।]

सम्प्रसारणस्य ॥ ६.३.१३९ ॥

इको ह्रस्वात्संप्रसारणदीर्घत्वं विप्रतिषेधेन ॥ १ ॥

इको ह्रस्वात्संप्रसारणदीर्घत्वं भवति विप्रतिषेधेन। इको ह्रस्वस्यावकाशः—ग्रामणिकुलम्, सेनानिकुलम्। संप्रसारणदीर्घत्वस्यावकाशः—विभाषा ह्रस्वत्वम्, यदा न ह्रस्वत्वं सोऽवकाशः। ह्रस्वप्रसङ्ग उभयं प्राप्नोति—कारीषगन्धीपुत्रः। संप्रसारणदीर्घत्वं भवति विप्रतिषेधेन॥ अथेदानीं दीर्घत्वे कृते पुनःप्रसङ्गविज्ञानाद्ध्रस्वत्वं कस्मान्न भवति? सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेवेति॥

इति पातञ्जलमहाभाष्ये षष्ठाध्यायस्य तृतीयपादे तृतीयमाह्निकम्॥

पादश्च समाप्तः॥

—०—

सम्प्रसारणस्य॥

वा०—इक् को ह्रस्व से सम्प्रसारण-दीर्घत्व, विप्रतिषेध से।

भा०—इक् को ह्रस्व से सम्प्रसारण-दीर्घत्व विप्रतिषेध से होता है। इक् को ह्रस्व का अवकाश है—ग्रामणिकुलम्...। [यहाँ अन्त में सम्प्रसारण न होने से 'इको ह्रस्वो...' (६.३.६१) से ह्रस्वत्व सावकाश है।] सम्प्रसारण दीर्घत्व का अवकाश है—उस सूत्र से ह्रस्वत्व विकल्प से होता है, जब ह्रस्वत्व नहीं, तब अवकाश है। जब [सम्प्रसारण है तथा] उससे ह्रस्वत्व-प्राप्ति का पक्ष है तब दोनों की प्राप्ति होती है—कारीषगन्धीपुत्रः। विप्रतिषेध से सम्प्रसारण-दीर्घत्व होता है। [इस प्रकार यहाँ सदा दीर्घत्व बना रहता है।] अच्छा, यहाँ दीर्घत्व कर लेने पर पुनः प्रसङ्ग विज्ञान से ह्रस्वत्व क्यों नहीं होता? विप्रतिषेध में एक बार जो बाधित हो गया, वह बाधित ही बना रहता है।

—०—

अङ्गस्य॥ ६.४.१॥

आ कुतोऽयमधिकारः? आ सप्तमाध्यायपरिसमाप्तेरङ्गाधिकारः॥ यद्या सप्तमाध्यायपरिसमाप्तेरङ्गाधिकारो 'गुणो यङ्लुकोः' (७.४.८२) इति यङ्लुग्ग्रहणं कर्तव्यम्? प्रागभ्यासविकारेभ्यः पुनरङ्गाधिकारे सति प्रत्ययलक्षणेन सिद्धम्। अस्तु तर्हि, प्रागभ्यासविकारेभ्योऽङ्गाधिकारः॥ यदि प्रागभ्यासविकारेभ्योऽङ्गाधिकारो 'वव्रश्च' वकारस्य सम्प्रसारणं प्राप्नोति? आ सप्तमाध्यायपरिसमाप्तेः पुनरङ्गाधिकारे सत्युरदत्त्वस्य स्थानिवद्भावाद् 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' (६.१.३७) इति प्रतिषेधः सिद्धो भवति।

अङ्गस्य॥

भा०—यह अधिकार कहाँ तक है? [उत्तर-] सप्तम अध्याय की परिसमाप्ति तक यह अङ्गाधिकार है।

यदि सप्तम अध्याय की परिसमाप्ति तक अङ्ग का अधिकार है तो 'गुणो यङ्लुकोः' सूत्र में 'यङ्लुक्' ग्रहण करना होगा। [क्योंकि अङ्ग-अधिकार होने पर यङ्लुक् में 'न लुमताऽङ्गस्य' (१.१.६३) से प्रत्यय-लक्षण का प्रतिषेध होगा। अतः यहाँ गुण की प्राप्ति न होने पर यङ्लुक् में अलग से गुण का विधान आवश्यक होगा।] अभ्यास-विकार से पूर्व अङ्ग का अधिकार मानने पर ['न लुमताङ्गस्य' की प्रवृत्ति न होने से] प्रत्यय-लक्षण से सिद्ध हो सकेगा।

[प्रागभ्यासविकार में दोष-] यदि अभ्यास-विकार से पूर्व अङ्ग का अधिकार हो तो 'वव्रश्च' यहाँ वकार को सम्प्रसारण पाता है? [व्रश्च् धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन में 'व्रश्च् व्रश्च् अ' रेफ को सम्प्रसारण तथा हलादिशेष, इन दोनों की प्राप्ति में 'अभ्यास-सम्प्रसारणं हलादिशेषाद् विप्रतिषेधेन' ('लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' ६.१.१७ पर वार्तिक) से सम्प्रसारण, हलादिशेष, 'उरत्' (७.४.६६) से अत्व होने पर 'व व्रश्च् अ' इस दशा में अङ्ग-अधिकार न होने पर 'ग्रहिज्यावयिव्यधिव्रश्चि...' (६.१.१६) सूत्र से वकार को सम्प्रसारण पाता है।]

परन्तु सप्तम अध्याय की परिसमाप्ति तक अङ्ग-अधिकार होने पर 'उरत्' से हुए अत्व का स्थानिवद्भाव हो जाएगा। [क्योंकि अङ्ग संज्ञा के प्रत्ययनिमित्तक होने से उरदत्व परनिमित्तक हो जाएगा। तब 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' (१.१.५७) से स्थानिवद्भाव होगा।] ऐसी दशा में [सम्प्रसारणपरक मिल जाने से] 'न सम्प्रसारणे...' से प्रतिषेध सिद्ध हो जाएगा।

[अभ्यास-विकार से पूर्व अङ्ग-अधिकार होने पर 'सन्वल्लघुनि...' (७.४.९३) सूत्र से 'अमीमयत्' आदि उदाहरणों में सन्वद्भाव होने से 'सनि मीमा...' (६.४.५४) से इस् तथा 'अत्र लोपो...' (६.४.५८) से अभ्यास-लोप

स चेदानीमपरिहारो भवति यत्तदुक्तम्—'अङ्गान्यत्वाच्च सिद्धम्' इति॥ अस्तु तर्ह्या सप्तमाध्यायपरिसमाप्तेरङ्गाधिकारः। ननु चोक्तं—'गुणो यङ्लुकोः' इति यङ्लुग्ग्रहणं कर्तव्यमिति? क्रियते न्यास एव॥

किं पुनरियं स्थानषष्ठी—अङ्गस्य स्थान इति? एवं भवितुमर्हति।

अङ्गस्येति स्थानषष्ठी चेत्पञ्चम्यन्तस्य चाधिकारः॥ १॥

अङ्गस्येति स्थानषष्ठी चेत्पञ्चम्यन्तस्य चाधिकारः कर्तव्यः। अङ्गादित्यपि वक्तव्यम्। अनुच्यमाने हि 'अतो भिस ऐस्' भवतीति अत इति पञ्चमी, अङ्गस्येति स्थानषष्ठी, तत्राशक्यं विविभक्तित्वादत इति पञ्चम्याङ्गं विशेषयितुम्। तत्र को दोषः? 'अतो भिस ऐस्' इति अकारात्परस्य भिस्मात्रस्यैस्भावो भवतीतीहापि प्रसज्येत—ब्राह्मणभिस्सा, ओदनभिस्सटा- इति॥

अवयवषष्ठ्यादीनां चाप्रसिद्धिः॥ २॥

प्राप्त होता है। इस दोष के समाधान के लिये] यह जो परिहार दिया है—'अङ्गान्यत्वाच्च सिद्धम्' वह परिहार भी नहीं बन सकेगा। [इस वार्तिक का प्रकरण और अर्थ वहीं देखें]

भा०—अच्छा तो सप्तम अध्याय की परिसमाप्ति तक अङ्ग-अधिकार होवे। इस पर तो दोष कहा था कि 'गुणो यङ्लुकोः' में यङ्लुक् ग्रहण करना होगा? [समाधान-] वह तो यथान्यास किया ही है।

[प्रसङ्गान्तर-] क्या इस सूत्र में स्थान-षष्ठी है अङ्ग के स्थान पर, इस प्रकार? ऐसा ही प्रतीत होता है।

वा०—'अङ्गस्य' यहाँ स्थान-षष्ठी हो तो पञ्चम्यन्त का अधिकार भी।

भा०—'अङ्गस्य' यहाँ स्थान-षष्ठी हो तो पञ्चम्यन्त का अधिकार भी करना होगा। 'अङ्गात्' यह भी कहना होगा। ['अङ्गात्' के] न कहने पर 'अतो भिस ऐस्' (७.१.९) सूत्र में 'अतः' में पञ्चमी है, 'अङ्गस्य' यहाँ स्थान-षष्ठी है, तब भिन्न विभक्ति होने से 'अतः' इस पञ्चमी से अङ्ग को विशेषित नहीं कर सकेंगे। उससे क्या दोष होगा? 'अतो भिस् ऐस्' में अकार से परे भिस् मात्र को ऐस् भाव होने पर यहाँ भी प्राप्त होगा—ब्राह्मणभिस्सा। [भिस्सा, भिस्सटा का अर्थ 'उबला हुआ भात' है। 'अकारान्त अङ्ग' अर्थ मानने पर दोष नहीं है। क्योंकि 'भिस्सा' के प्रत्यय न होने से उसके परे रहने पर 'ब्राह्मण' अङ्गसंज्ञक नहीं है। अतः इससे उत्तर इस भिस् को ऐस् नहीं हो सकेगा।]

वा०—अवयव षष्ठी आदि की भी प्रतिपत्ति [=अवबोध] नहीं।

अवयवषष्ठ्यादयश्च न सिध्यन्ति। तत्र को दोषः ? 'शास इदङ्हलोः' (६.४.३४) इति शासेश्चान्त्यस्य स्यादुपधामात्रस्य च। 'ऊदुपधाया गोहः' (६.४.८९) इति गोहेश्चान्त्यस्य स्यादुपधामात्रस्य च॥

सिद्धं तु परस्परं प्रत्यङ्गप्रत्ययसंज्ञाभावात्॥ ३॥

सिद्धमेतत्। कथम् ? परस्परं प्रत्यङ्गप्रत्ययसंज्ञे भवतः। अङ्गसंज्ञां प्रति प्रत्ययसंज्ञा, प्रत्ययसंज्ञां प्रत्यङ्गसंज्ञा॥ किमतो यत्परस्परं प्रत्यङ्गप्रत्ययसंज्ञे भवतः ?

सम्बन्धषष्ठीनिर्देशश्च॥ ४॥

सम्बन्धषष्ठीनिर्देशश्चायं कृतो भवति। अङ्गस्य यो भिस्शब्द इति। किं चाङ्गस्य भिस्शब्दः ? निमित्तम्। यस्मिन्नङ्गमित्येतद्भवति। कस्मिंश्चैतद्भवति ? प्रत्यये॥ एवमप्यवयवषष्ठ्यादयोऽविशेषिता भवन्ति ?

भा०—अवयव षष्ठी आदि [के आश्रित कार्य] भी सिद्ध नहीं होंगे। उसमें क्या दोष है ? 'शास इदङ्हलोः' से शास् के अन्त्य को भी [इकार] पाएगा, उपधामात्र को भी। [अङ्गस्य में स्थान षष्ठी होने पर 'अलोऽन्त्यस्य' (१.१.५२) की प्रवृत्ति होने से अन्त्य को पाएगा। 'उपधायाः' की अनुवृत्ति होने से उपधा को भी।] 'ऊदुपधाया गोहः' से 'गोहः' के अन्त्य को पाएगा, उपधा को भी।

वा०—सिद्ध है, परस्पर के प्रति अङ्ग, प्रत्यय संज्ञा होने से।

भा०—यह सिद्ध है। किस प्रकार ? परस्पर के प्रति अङ्ग, प्रत्यय संज्ञा होती है। अङ्ग संज्ञा के प्रति प्रत्यय संज्ञा, प्रत्यय संज्ञा के प्रति अङ्ग संज्ञा।

इससे क्या होगा कि परस्पर के प्रति अङ्ग संज्ञा होगी ?

वा०—सम्बन्ध-षष्ठी निर्देश भी।

भा०—इससे सम्बन्ध-षष्ठी निर्देश सम्पन्न हो सकेगा—अङ्ग का जो भिस् शब्द। अङ्ग का भिस् शब्द क्या है ? निमित्त है। जिसके परे होने पर 'अङ्गम्' यह बनता है। किसके परे रहने पर यह बनता है ? प्रत्यय के परे रहने पर।

विवरण—'अङ्गस्य' की उपस्थित में 'अतो भिस् ऐस्' का अर्थ होगा—अकार से उत्तर अङ्ग के भिस् को ऐस् होता है। अङ्ग का भिस् वही होगा जो अङ्ग का निमित्त है। इस भिस् निमित्त के प्रति ही पूर्ववर्ती प्रातिपदिक अङ्ग कहा जाएगा। इस प्रकार 'ओदनभिस्सा' में भिस्सा के प्रति ओदन अङ्ग नहीं है। इसीलिये यह अङ्ग का भिस् नहीं है। इस प्रकार अर्थ करने से यहाँ ऐस्-भाव नहीं होगा।

भा०—फिर भी अवयव षष्ठी अविशेषित होंगी ? [षष्ठी विभक्ति अवयव सम्बन्ध मानते हुए विशेषीकृत नहीं हो सकेगी।] [समाधान-] अवयव षष्ठी

अवयवषष्ठ्यादयोऽपि सम्बन्ध एव॥ एवमपि स्थानमविशेषितं भवति? स्थानमपि सम्बन्ध एव। एवमपि न ज्ञायते—क्व स्थानषष्ठी क्व विशेषण-षष्ठीति? यत्र षष्ठ्यन्ययोगं नापेक्षते सा स्थानषष्ठी। यत्र ह्यन्ययोगमपेक्षते सा विशेषणषष्ठी॥

कानि पुनरङ्गाधिकारस्य प्रयोजनानि? अङ्गाधिकारस्य प्रयोजनम्—

सम्प्रसारणदीर्घत्वे॥ ५॥

आदि भी सम्बन्ध हैं। [अतः अवयव का प्रयोग करने पर यह षष्ठी सम्पन्न होगी। जैसे—'ऊदुपधाया गोहः' का अर्थ होगा—अङ्ग के गोह के अवयव उपधा के स्थान में ऊकार।]

तो भी स्थान अविशेषित होगा? [षष्ठी विभक्ति स्थान षष्ठी के रूप में विशेषीकृत नहीं हो सकेगी।] स्थान भी सम्बन्ध [के अन्तर्गत अन्तर्भूत] है। [अतः जहाँ 'अवयव' आदि विशेष सम्बन्ध का निर्धारण नहीं किया गया है, वहाँ स्थान-षष्ठी होगी। जैसे—'हन्तेर्जः' का अर्थ होगा—हन् अङ्ग के अन्त्य अक्षर के स्थान में जकार। तात्पर्य यह कि षष्ठी विभक्ति के प्रयोग में व्यधिकरण, समानाधिकरण सम्बन्ध बनाना विवक्षाधीन है। व्यधिकरण सम्बन्ध में अवयव आदि षष्ठी तथा समानाधिकरण में स्थान षष्ठी सम्पन्न होती है। इस विषय-विभाग को न समझते हुए अगला प्रश्न है—] फिर भी यह ज्ञात नहीं हो पाता कि स्थान-षष्ठी कहाँ तथा [अवयव आदि] विशेषण षष्ठी कहाँ अन्वित करें? [समाधान-] जहाँ षष्ठी अन्य [स्थान से अतिरिक्त अवयव आदि] सम्बन्धों की अपेक्षा नहीं करती, वहाँ स्थान-षष्ठी है। जहाँ [अवयव आदि] अन्य सम्बन्धों की अपेक्षा करे, वहाँ विशेषण षष्ठी होती है।

विवरण—इस प्रबन्ध से प्रकट है कि 'अङ्गस्य' में स्थान-षष्ठी होना अनिवार्य नहीं है। अपितु प्रसङ्ग के अनुसार अलग-अलग अर्थों में षष्ठी है—

१. 'अतो भिस ऐस्' में अङ्ग का भिस् के साथ व्यधिकरण सम्बन्ध तथा निमित्त में षष्ठी है।

२. 'ऊदुपधाया गोहः' में अङ्ग का गोह के साथ तथा उसका उपधा के साथ व्यधिकरण सम्बन्ध तथा निमित्त में षष्ठी है।

३. 'हन्तेर्जः' में अङ्ग का हन् के साथ समानाधिकरण सम्बन्ध तथा स्थान में षष्ठी है।

[प्रसङ्गान्तर-] अच्छा, अङ्ग अधिकार के क्या प्रयोजन हैं? अङ्ग अधिकार के प्रयोजन हैं—

वा०—सम्प्रसारण के दीर्घत्व में।

हल उत्तरस्य संप्रसारणस्य दीर्घो भवति। हूतः, जीनः, संवीतः, शूनः। अङ्गस्येति किमर्थम्? निरुतम्, दुरुतम्॥

नाम्सनोर्दीर्घत्वे॥ ६॥

नाम्सनोश्च दीर्घत्वे प्रयोजनम्। नामि दीर्घो भवति—अग्नीनाम्, वायूनाम्। अङ्गस्येति किमर्थम्? क्रिमिणां पश्य। पामनां पश्य॥ सनि दीर्घो भवति— चिचीषति, तुष्टूषति। अङ्गस्येति किमर्थम्? दधि सनोति। मधु सनोति॥

लिङ्येत्वे॥ ७॥

लिङ्येत्वे प्रयोजनम्। ग्लेयात्, म्लेयात्। अङ्गस्येति किमर्थम्? निर्यायात्, निर्वायात्॥

भा०—[हलः (६.४.२) सूत्र से] हल् से उत्तर सम्प्रसारण को दीर्घत्व होता है। जैसे—हूतः...। [यहाँ 'अङ्गस्य' इस अधिकार की श्लेष से आवृत्ति की जाती है। प्रथम अङ्गस्य के व्यधिकरण सम्बन्ध द्वारा अवयव में षष्ठी से हल् को विशेषित किया जाता है। द्वितीय दशा में समानाधिकरण सम्बन्ध द्वारा सम्प्रसारण से अङ्ग को विशेषित किया जाता है। इससे अर्थ होता है—अङ्ग का अवयव जो हल्, उससे उत्तर जो सम्प्रसारण तदन्त अङ्ग को दीर्घ होता है।] इस प्रकार 'अङ्गस्य' का उपादान किसलिये? निरुतम्...। [यहाँ निर् का रेफ अङ्ग का अवयव नहीं है। अतः उकार को दीर्घ नहीं होता।]

वा०—नाम्, सन् परे रहने पर दीर्घत्व में।

भा०—नाम, सन् परे रहने पर दीर्घत्व में प्रयोजन है। नाम् परे रहने पर ['नामि' (६.४.३) सूत्र से] दीर्घ होता है। अग्नीनाम्...। यहाँ अङ्गस्य किसलिये? क्रिमिणां पश्य...। [क्रिमयोऽस्यां सन्ति' इस विग्रह के अनुसार क्रिमि से 'लोमादिपामादि...' (५.२.१००) से न प्रत्यय। तदन्त से स्त्रीलिङ्ग में टाप्। द्वितीया एकवचन। यहाँ 'न' प्रत्यय के सापेक्ष क्रिमि का अङ्गत्व है। नाम् के सापेक्ष अङ्गत्व न होने से क्रिमि के इकार को इससे दीर्घत्व नहीं होता।

सन् परे रहने पर ['अज्झनगमां सनि' (६.४.१६) सूत्र से] दीर्घ होता है—चिचीषति। 'अङ्गस्य' किसलिये है? दधि सनोति...। [यहाँ 'दधि' अङ्ग न होने से दीर्घत्व नहीं होता।

वा०—लिङ् परे रहने पर एत्व में।

भा०—लिङ् परे रहने पर एत्व में प्रयोजन है। ग्लेयात्...। [यहाँ 'वान्यस्य संयोगादेः' (६.४.६८) सूत्र से संयोगादि, आकारान्त अङ्ग को एकारादेश होता है।] अङ्गस्य किसलिये? निर्यायात्...। [यहाँ संयोगादि, आकारान्त 'र्या' के अङ्ग न होने से एकारादेश नहीं होता।]

अतो भिस ऐस्त्वे ॥ ८ ॥

अतो भिस ऐस्त्वे प्रयोजनम्। वृक्षैः, प्लक्षैः। अङ्गस्येति किमर्थम्? ब्राह्मणभिस्सा, ओदनभिस्सटा ॥

लुङादिष्वडाटौ ॥ ९ ॥

लुङादिष्वडाटौ प्रयोजनम्। अकार्षीत्, ऐहिष्ट। अङ्गस्येति किमर्थम्? प्राकरोत्, अवैहिष्ट ॥

इयङुवङ्युष्मदस्मत्तातङमिनुडानेमुक्केह्रस्वयि-दीर्घभितत्वानि ॥ १० ॥

इयङुवङौ प्रयोजनम्। श्रियौ, श्रियः। भ्रुवौ, भ्रुवः। अङ्गस्येति किमर्थम्? श्र्यर्थम्, भ्र्वर्थम् ॥ युष्मदस्मदोः प्रयोजनम्। 'साम आकम्' (७.१.३३) युष्माकम्, अस्माकम्। अङ्गस्येति किमर्थम्? युष्मत्साम। अस्मत्साम ॥ तातङ् प्रयोजनम्। जीवतु जीवताद्भवान्। अङ्गस्येति किमर्थम्? पच हि तावत्त्वम्। जल्प तु तावत्त्वम् ॥ आमि नुट् प्रयोजनम्। कुमारीणाम्, किशोरीणाम्।

वा०—अकारान्त [अङ्ग] से उत्तर भिस् के ऐस्त्व में।

भा०—अकारान्त [अङ्ग] से उत्तर भिस् के ऐस्त्व में प्रयोजन है। वृक्षैः...। अङ्गस्य किसलिये है? ब्राह्मणभिस्सा....। [भिस्सा के प्रति ब्राह्मण के अङ्ग न होने से ऐस् आदेश नहीं होता।]

वा०—लुङ् आदि परे रहने पर अट्, आट् में।

भा०—लुङादि परे रहने पर अट्-आट् में प्रयोजन है। अकार्षीत्...। अङ्गस्य किसलिये है? प्राकरोत्, अवैहिष्ट। [प्र, अव के अङ्ग न होने से उससे पूर्व क्रमशः अट्, आट् नहीं होते।]

वा०—इयङ्, उवङ्...इत्यादि।

भा०—इयङ्-उवङ्प्रयोजन हैं। श्रियौ...। अङ्गस्य किसलिये है? श्र्यर्थम्...। ['अर्थम्' के प्रति 'श्री' के अङ्ग न होने से नहीं होता।]

युष्मद्, अस्मद् में प्रयोजन है। 'साम आकम्' सूत्र से युष्माकम्। [यहाँ युष्मद् अङ्ग से उत्तर साम् को आकम् आदेश हो जाता है।] अङ्गस्य किसलिये है? युष्मत्, साम [यहाँ साम प्रत्यय न होने से उससे पूर्व 'युष्मत्' अङ्ग नहीं है।]

तातङ् प्रयोजन है। जीवतु—जीवताद् भवान्। यहाँ अङ्गस्य किसलिये है? जल्प हि तावत् त्वम्...। [अङ्ग के 'हि' को तातङ् आदेश करने से यहाँ नहीं होता। यहाँ 'हि' निपात है। इसके परे रहने पर जल्प अङ्ग नहीं है। अतः यह अङ्गसम्बन्धी 'हि' नहीं है।]

आम् परे रहने पर नुट् प्रयोजन है। किशोरीणाम्...।

अङ्गस्येति किमर्थम्? कुमारी आमित्याह। किशोरी आमित्याह॥ 'आने मुक्' (७.२.८२) प्रयोजनम्। पचमानः, यजमानः। अङ्गस्येति किमर्थम्? प्राणः॥ के ह्रस्वः प्रयोजनम्। किशोरिका, कुमारिका। अङ्गस्येति किमर्थम्? कुमारीं कायति कुमारीकः॥ यि दीर्घः प्रयोजनम्। चीयते, स्तूयते। अङ्गस्येति किमर्थम्? दधियानम्, मधुयानम्॥ भि तत्वं प्रयोजनम्। अद्भिः, अद्भ्यः। अङ्गस्येति किमर्थम्? अब्भारः, अब्भक्षः॥

नैतानि सन्ति प्रयोजनानि। कथम्?

अर्थवद्ग्रहणप्रत्ययग्रहणाभ्यां सिद्धम्॥ ११॥

अर्थवद्ग्रहणप्रत्ययग्रहणाभ्यामेवैतानि सिद्धानि।

अङ्गस्य किसलिये है? कुमारी आम् इत्याह...। [यहाँ 'आम्' के प्रत्यय न होने से 'कुमारी' नद्यन्त अङ्ग नहीं है।]

आन परे रहने पर मुक् प्रयोजन है। यजमानः...। अङ्गस्य किसलिये है? प्राणः। [यहाँ प्र उपसर्ग पूर्वक अन् धातु से घञ्। उसके परे रहने पर उपधा अकार को वृद्धि होने पर 'प्र आन' इस दशा में 'प्र' के अङ्ग का अकार न होने से उसे 'आने मुक्' (७.२.८२) से मुक् आगम नहीं होता। यह प्रत्युदाहरण 'आने मुक्' सूत्र में 'सार्वधातुक' की अनुवृत्ति की अनपेक्षा करके प्रस्तुत है।]

['केऽणः' (७.४.१३) सूत्र से] क परे रहने पर ह्रस्व प्रयोजन है। कुमारिका...। अङ्गस्य किसलिये है? कुमारीं कायति [विग्रह के अनुसार] कुमारीकः। [यहाँ कुमारी कर्म उपपद होने पर 'कै' धातु को 'आदेच उपदेशेऽशिति' (६.१.४५) से आत्व होने पर 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३.२.३) से क प्रत्यय। इसके परे रहने पर 'आतो लोप इटि च' (६.४.६४) से आकारलोप। 'कुमारी क् अ' इस दशा में इस 'क' परे रहने पर कुमारी के अङ्ग न होने से 'केऽणः' (७.४.१३) से ह्रस्व नहीं होता।]

य परे रहने पर 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' (७.४.२५) से दीर्घ प्रयोजन है। चीयते...। अङ्गस्य किसलिये है? दधियानम् [यहाँ अप्रत्यय यान परे रहने पर दधि के अङ्ग न होने से दधि के अन्तिम अक्षर को दीर्घ नहीं होता।]

'भ' परे रहने पर तत्व प्रयोजन है। अद्भिः...। [यहाँ भिस् परे रहने पर 'अपो भि' (७.४.४८) सूत्र से 'अप्' के पकार को तकार आदेश हुआ है।] अङ्गस्य किसलिये है? अब्भारः...। [यहाँ अप् का भार के साथ समास होने पर 'भार' परे रहने पर अप् के अङ्ग न होने से तकार आदेश नहीं होता।]

ये प्रयोजन नहीं हैं। किस प्रकार?

वा०—अर्थवद् ग्रहण, प्रत्यय-ग्रहण से सिद्ध।

भा०—अर्थवद् ग्रहण अथवा प्रत्यय-ग्रहण परिभाषा से ये प्रयोजन सिद्ध हैं।

क्वचिद् अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्येत्येवं भविष्यति, क्वचित्प्रत्ययाप्रत्यययोर्ग्रहणे प्रत्ययस्यैव ग्रहणं भवतीति॥ अथवा प्रत्यय इति प्रकृत्याङ्गकार्यमध्येष्ये। यदि प्रत्यय इति प्रकृत्याङ्गकार्यमधीषे प्राकरोत्, अवैहिष्ट उपसर्गात्पूर्वमडाटौ प्राप्नुतः। सिद्धं तु प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स तदादितदन्तविज्ञानात्। सिद्धमेतत्। कथम्? प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य च ग्रहणं भवतीति, एवमुपसर्गात्पूर्वमडाटौ न भविष्यतः॥

कहीं पर 'अर्थवान् के ग्रहण के सन्दर्भ में अनर्थक का नहीं', कहीं 'प्रत्यय या अप्रत्यय के ग्रहण की सम्भावना में से केवल प्रत्यय का ग्रहण ही' इस परिभाषा से सिद्ध हो जाएगा।

विवरण—अर्थवद्ग्रहण-परिभाषा से ये उदाहरण समाहित हैं—निर्यायात्। यहाँ संयोगादि 'र्या' निरर्थक है। ब्राह्मणभिस्सा यहाँ 'भिस्' निरर्थक है। युष्मत्साम—यहाँ 'साम' में से साम् सार्थक नहीं है।

प्रत्ययग्रहण परिभाषा से इनका समाधान सम्भव है—दधि सनोति—यहाँ सन् प्रत्यय नहीं है। 'पच तु तावत् त्वम्' यहाँ तु प्रत्यय नहीं है। 'प्राणः' में 'आन' प्रत्यय नहीं है।

परन्तु कुछ उदाहरण दोनों परिभाषाओं से सिद्ध नहीं है। जैसे—निरुतम्, क्रिमिणां पश्य, प्राकरोत्। अत एव इस समाधान से असन्तुष्ट होकर भाष्यकार अन्य समाधान प्रस्तुत करते हैं—

भा०—अथवा प्रत्यय के प्रयोग से [आक्षिप्त] प्रकृति के द्वारा अङ्ग कार्य का ज्ञापन करेंगे। [अङ्ग अधिकार के सूत्रों में किसी प्रत्यय परे रहने का उल्लेख होगा यह 'प्रत्यय' सापेक्ष शब्द है। किसी प्रकृति की अपेक्षा ही प्रत्ययत्व होता है। अतः प्रत्यय के उल्लेख से उससे सम्बद्ध या आक्षिप्त प्रकृति का ज्ञापन होगा। इस दशा में प्रत्ययत्व वाले प्रत्यय परे न होने पर अथवा उस प्रत्यय की प्रकृति के पूर्व में न होने पर कार्य नहीं होगा।]

यदि प्रत्यय के उल्लेख से आक्षिप्त प्रकृति के द्वारा अङ्ग-कार्य का बोधन करेंगे तो प्राकरोत्... यहाँ उपसर्ग से पूर्व अट्, आट् पाते हैं? [यहाँ लङ् परे रहने पर 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्व...' (६.४.७१) सूत्र से लङ् से पूर्व प्रकृति कार्यी होगी। पर विशेष उल्लेख न होने से पूर्वमात्र 'प्रकृ' को अट् होने से प्र से पहले अट् की उपस्थिति होने लगेगी।] [समाधान-] यह सिद्ध है, प्रत्यय-ग्रहण होने पर, उस प्रत्यय का विधान जिससे किया गया है, तदादि-तदन्त को कार्य होने से। यह सिद्ध है। किस प्रकार? इस परिभाषा द्वारा उस प्रत्यय का विधान जिस प्रकृति से किया गया है, ठीक उसी प्रकृति आदि वाले को तथा उस प्रत्ययान्त को कार्य होता है। इससे उपसर्ग से पूर्व अट्, आट् नहीं होंगे।

हलः ॥ ६.४.२ ॥

इह कस्मान्न भवति—तृतीयः ?

अण्प्रकरणादृकारस्याप्राप्तिः ।

अण्प्रकरणादृकारस्य दीर्घत्वं न भविष्यति। अण इति वर्तते। क्व प्रकृतम्? 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (६.३.१११) इति॥ तद्वै 'इकः काशे' (६.३.१२३) इत्यनेनेग्ग्रहणेन व्यवच्छिन्नं न शक्यमनुवर्तयितुम्।

इग्ग्रहणस्य चाण्विशेषणत्वात्।

अण्विशेषणमिग्ग्रहणम्। अण इक इति॥ यदि तर्ह्यण्विशेषणमिग्ग्रहणं चौ दीर्घो भवतीतीह न प्राप्नोति—अवाचा, अवाचे? नैष दोषः। अण्ग्रहण-

---

विवरण—'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्व...' में जहाँ प्रत्यय परे रहने पर पूर्व को कार्य कहा गया है, वहाँ तदादि को कार्यी होगा। 'अतो भिस् ऐस्' आदि में जहाँ प्रत्यय को कार्य कहा गया है वहाँ तदादि से उत्तर प्रत्यय कार्यी होगा।

इस प्रस्तुत समाधान में दोष यह है कि १- अङ्गस्य को हटा कर 'प्रत्यये' न्यास में कोई लाघव नहीं है। २- 'अतो भिस ऐस्' आदि सूत्रों में 'भिसः' षष्ठी है। इसके 'प्रत्यये' के साथ समानाधिकरण सम्बन्ध नहीं बन सकेगा। ३- 'हलः' इत्यादि सूत्रों में 'प्रत्यये' का सम्बन्ध सम्भव नहीं होगा। वहाँ निरुतम् आदि में दोष बना ही रहेगा।

इन दोषों के कारण 'प्रत्यये' नहीं, अपितु 'अङ्गस्य' अधिकार करना ही चाहिये, यह भगवान् भाष्यकार का गूढ आशय है।

हलः ॥

भा०—यहाँ [इस सूत्र से दीर्घ] क्यों नहीं होता—तृतीयः ?

वा०—अण् प्रकरण से ऋकार को अप्राप्ति।

भा०—अण् का प्रकरण होने से [तथा पूर्व णकार से अण् का ग्रहण होने से] ऋकार का दीर्घत्व नहीं होगा। अण् का अनुवर्तन है। कहाँ से प्रकृत है? 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से।

प्रश्न—वह [अण्] तो 'इकः काशे' में इक् ग्रहण से व्यवच्छिन्न होकर अनुवृत्त नहीं किया जा सकता।

वा—इक् ग्रहण के अण् का विशेषण होने से।

भा०—अण् का विशेषण इक् ग्रहण होगा। इक् जो अण् (=इक् के अन्तर्गत आने वाले अण् को दीर्घ। इससे 'प्रकाशः' आदि में प्र के अकार को दीर्घ नहीं होगा।)

यदि अण् का विशेषण इक् ग्रहण है तो 'चौ' सूत्र से दीर्घ होता है। इससे यहाँ नहीं प्राप्त होता—अवाचा...। यह दोष नहीं है। अण् की अनुवृत्ति है, इक् की

मनुवर्तत इग्ग्रहणं निवृत्तम्॥ एवमपि—कर्तृचा, कर्तृचे—अत्र न प्राप्नोति? यथालक्षणमप्रयुक्ते॥ अथवोभयं निवृत्तम्। कस्मान्न भवति तृतीय इति? निपातनात्। किं निपातनम्? 'द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्याण्यन्यतरस्याम्' (२.२.३) इति॥

नामि॥ ६.४.३॥

किमर्थमामः सनकारस्य ग्रहणं क्रियते, न आमि दीर्घ इत्येवोच्येत? केनेदानीं सनकारके भविष्यति? नुडयमाम्भक्त आम्ग्रहणेन ग्राहिष्यते॥ अत उत्तरं पठति—

नामि दीर्घ आमि चेत्स्यात्कृते दीर्घे न नुड्भवेत्।

नामि दीर्घ आमि चेत्स्यात्, कृते दीर्घत्वे न नुट् स्यात्। अग्नीनाम्, इन्दूनाम्॥ इदमिह सम्प्रधार्यम्—दीर्घत्वं क्रियतां नुडिति, किमत्र कर्तव्यम्?

निवृत्ति हो गई। फिर भी कर्तृचः... में ['चौ' से दीर्घ] नहीं पाता? [समाधान-] अप्रयुक्ते=लोक में शब्द का प्रयोग न होने पर यथालक्षणम्=सूत्र से जिस प्रकार का रूप अनुमत हो, वही मान्य कर लेना चाहिये। [शब्दों का अनुशासन उस स्वरूप में शब्दों का प्रयोग करने के लिये है। पर यदि उसका प्रयोग न होता हो तो हम यह नहीं जान सकते कि कौन सा स्वरूप शुद्ध है, न ही इस प्रकार के परिज्ञान की अपेक्षा है। ऐसी दशा में सूत्र से जिस भी स्वरूप की अनुमति प्राप्त हो, उसे ही मान्य कर लेना चाहिये। इस प्रकार यहाँ 'कर्तृचः' स्वरूप मान्य होगा।]

[समाधानान्तर-] अथवा दोनों [अण् तथा इक्] की निवृत्ति हो गई। फिर 'तृतीयः' में क्यों नहीं होता? निपातन से। क्या निपातन है? 'द्वितीयतृतीय...' इस सूत्र से।

नामि॥

भा०—यहाँ नकार-सहित आम् का ग्रहण क्यों किया गया है, इसके स्थान पर 'आमि दीर्घः' इतना ही क्यों न कह दिया जावे? तो फिर नकारसहित आम् परे रहने पर किससे दीर्घ होगा? यह नुट् आम् का भाग होकर आम् के ग्रहण से गृहीत होगा।

का०—नाम परे रहने पर दीर्घ यदि आम् परे हो तो दीर्घ करने पर नुट् नहीं हो सकेगा।

भा०—नाम परे रहने पर होने वाला दीर्घ यदि ['आमि' इस न्यास के द्वारा] आम् परे रहने पर विहित हो तो [पहले] दीर्घ कर लेने पर नुट् नहीं हो सकेगा। अग्नीनाम्...। अच्छा तो फिर यह सम्प्रधारणा करें—दीर्घत्व करें या नुट्? क्या कहना चाहिये?

परत्वान्नुट्। नित्यं दीर्घत्वम्। कृतेऽपि नुटि प्राप्नोत्यकृतेऽपि। नित्यत्वाद्दीर्घत्वे कृते ह्रस्वाश्रयो नुड् न प्राप्नोति। एवं तर्ह्याहायं ह्रस्वान्तान्नुडिति, न च ह्रस्वान्तोऽस्ति, तत्र वचनाद् भविष्यति॥

वचनाद्यत्र तन्नास्ति

नेदं वचनाल्लभ्यम्। अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम्। किम्? यत्र दीर्घत्वं प्रतिषिध्यते। तिसृणाम्, चतसृणामिति॥ नैतदस्ति प्रयोजनम्। इह तावच्चतसृणामिति? 'षट्चतुर्भ्यश्च' (७.१.५५) इत्येवं भविष्यति। तिसृणामिति त्रिग्रहणमपि तत्र प्रकृतमनुवर्तते। क्व प्रकृतम्? 'त्रेस्त्रयः' (५३) इति॥ इदं तर्हि—त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः (ऋ० २.१.१)॥ नैकमुदाहरणं ह्रस्वग्रहणं प्रयोजयति। तत्र वचनाद् भूतपूर्वगतिर्विज्ञास्यते। ह्रस्वान्तं यद्भूतपूर्वमिति॥ उत्तरार्थं तर्हि सनकारग्रहणं कर्तव्यम्।

नोपधायाश्च चर्मणाम्॥

परत्व से नुट्। दीर्घत्व नित्य है। नुट् करने पर भी पाता है, न करने पर भी। [नुट् करने पर पूर्वोक्तानुसार आम् ग्रहण से गृहीत होने से दीर्घ की प्राप्ति है।] नित्य होने से दीर्घ कर लेने पर ह्रस्व के आश्रित नुट् नहीं पाता।

अच्छा तो फिर यह कहा है कि ह्रस्वान्त से नुट्। पर ह्रस्वान्त कहीं मिलता नहीं। [सर्वत्र 'आमि' से दीर्घ पाएगा।] अतः वचनसामर्थ्य से [नुट्] हो जाएगा।

का०—वचन से कहें तो जहाँ वह (=दीर्घत्व) नहीं, [वहाँ नुट् सावकाश होगा।]

भा०—यह वचन [सामर्थ्य] से लभ्य नहीं है। इस वचन में अन्य प्रयोजन है। क्या? जहाँ दीर्घत्व का ['न तिसृचतसृ' (६.४.४) सूत्र से] प्रतिषेध होता है—तिसृणाम्...। [यहाँ नुट् के सावकाश होने से 'अग्नीनाम्' इत्यादि में दीर्घ कर लेने पर नुट् नहीं प्राप्त होगा।]

यह प्रयोजन नहीं है। यहाँ 'चतसृणाम्' में 'षट्चतुर्भ्यश्च' से नुट् सिद्ध हो जाएगा। तिसृणाम् के लिये वहां ['षट्चतुर्भ्यश्च' सूत्र में] त्रि ग्रहण भी प्रकृत अनुवृत्त है। कहाँ से प्रकृत है? 'त्रेस्त्रयः' सूत्र से। अच्छा तो फिर—त्वं नृणां...। [इस उदाहरण के लिये नुट् सावकाश हो सकेगा।] [समाधान-] केवल एक उदाहरण 'ह्रस्व' इस विन्यास का प्रयोजक नहीं हो सकता। अतः वचनसामर्थ्य से भूतपूर्व-गति समझ ली जाएगी, ह्रस्वान्त जो भूतपूर्व। [इस प्रकार अभी तक सनकार आम् का प्रयोजन स्थिर नहीं हुआ।]

अच्छा तो फिर, अग्रिम सूत्र के लिये सनकार-ग्रहण करना चाहिये।

वा०—'चर्मणाम्' उदाहरण में नोपधायाः प्रवृत्त होवे।

नोपधाया नामि यथा स्यात्। इह मा भूत्—चर्मणाम्, वर्मणामिति॥

नामि दीर्घ आमि चेत्स्यात्कृते दीर्घे न नुड् भवेत्।

वचनाद्यत्र तन्नास्ति नोपधायाश्च चर्मणाम्॥

इन्हन्पूषार्यम्णां शौ॥ ६.४.१२॥

सौ च॥ ६.४.१३॥

हनः क्वावुपधादीर्घत्वप्रसङ्गः॥ १॥

हनः क्वावुपधालक्षणं दीर्घत्वं प्राप्नोति। 'अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति' (१५) इति। तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। वृत्रहणौ, वृत्रहण इति॥ नियमवचनात्सिद्धम्। 'इन्हन्पूषार्यम्णां शौ' 'सौ च' इत्येतस्मान्नियमवचनाद्दीर्घत्वं न भविष्यति।

नियमवचनात्सिद्धमिति चेत्सर्वनामस्थानप्रकरणे नियमवचनादन्यत्रानियमः॥ २॥

भा०—'नोपधायाः' सूत्र 'नाम्' परे रहने पर प्रवृत्त हो, [आम् परे रहने पर नहीं।] चर्मणाम्.......। [यहाँ 'चर्मन्+आम्' इस दशा में आम् परे रहने पर इससे दीर्घत्व नहीं होता।]

इन्हन्पूषार्यम्णां शौ॥

सौ च॥

वा०—हन् का क्वि में उपधा-दीर्घत्व-प्रसङ्ग।

भा०—हन् का क्वि परे रहने पर उपधा-से लक्षित दीर्घत्व प्राप्त होता है। सर्वत्र 'अनुनासिकस्य...' सूत्र से। उसका प्रतिषेध कहना चाहिये।

विवरण—'वृत्रहणौ' आदि सभी शब्द 'वृत्रं हतवान्' इस विग्रह के अनुसार 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्' (३.२.८७) से क्विप् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न हैं। यहाँ औ आदि सर्वनामस्थान विभक्तियों में 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (६.४.८) से तथा सभी विभक्तियों में 'अनुनासिकस्य...' से उपधा को दीर्घत्व प्राप्त होता है।

भा०—'वृत्रहणौ' आदि में नियम-वचन से सिद्ध होगा। [उपरिलिखित के अनुसार सर्वत्र दीर्घ सिद्ध होने पर प्रस्तुत सूत्र नियमार्थ होंगे—यदि सर्वनामस्थान परे रहने पर दीर्घ हो तो शि, सु परे रहने पर ही हो।] इस प्रकार इन् हन्...आदि के नियमार्थ होने से 'वृत्रहणौ आदि में दीर्घत्व नहीं होगा।

वा०—नियमवचन से सिद्ध हो तो सर्वनामस्थान-प्रकरण में नियम होने से अन्यत्र अनियम।

नियमवचनात्सिद्धिमिति चेत्सर्वनामस्थानप्रकरणे नियमवचनादन्यत्र नियमो न प्राप्नोति। क्वान्यत्र? वृत्रहणि, भ्रूणहनि॥ एवं तर्हि—

दीर्घविधिर्य इहेन्प्रभृतीनां तं विनियम्य सुटीति सुविद्वान्।

दीर्घविधिर्य इहेन्प्रभृतीनां तं सर्वनामस्थाने विनियम्य। इन्हन्पूषार्यम्णां सर्वनामस्थाने दीर्घो भवति। किमर्थमिदम्? नियमार्थम्। इन्हन्पूषार्यम्णां सर्वनामस्थान एव, नान्यत्र।

शौ नियमं पुनरेव विदध्यात्

ततः शौ। शावेव सर्वनामस्थाने, नान्यत्र। ततः सौ, सावेव सर्वनामस्थाने, नान्यत्र॥

भ्रूणहनीति तथास्य न दुष्येत्॥ १॥

भा०—नियम-वचन से सिद्ध है, ऐसा कहें तो सर्वनामस्थान-प्रकरण में नियम होने से अन्यत्र नियम प्राप्त नहीं होता। अन्यत्र कहाँ? ब्रह्महणि...। [सर्वनामस्थान का प्रकरण होने से पूर्व उल्लिखित के अनुसार नियम होगा। इससे इस नियम का सर्वनामस्थान ही व्यावर्त्य हो सकेगा। अतः अन्यत्र 'वृत्रहणि' आदि में किसी निषेधक के न होने से 'अनुनासिकस्य...' से दीर्घ की प्राप्ति होती है।]

का०—[इस सम्पूर्ण कारिका का अन्वय इस प्रकार है—'इहेन्-प्रभृतीनां यः दीर्घविधिः तं सुविद्वान् सुटि (=सर्वनामस्थाने) विनियम्य शौ नियमं पुनः विदध्यात्। तथा=योगद्वये सति, इति=हेतोः 'भ्रूणहनि' इति अस्य नैव दुष्येत्।

भा०—यहाँ इन् इत्यादि को विधीयमान जो दीर्घ-विधि, उसे [सुट्=] सर्वनाम-स्थान में विनियमित करने के पश्चात्...। 'इन्हन्पूषार्यम्णां' अर्थात् इन्हें सर्वनामस्थान परे रहने पर दीर्घ होता है। [परन्तु इन्हें सर्वनामस्थान परे रहने पर तो 'सर्वनामस्थाने चासुम्बुद्धौ' से ही दीर्घ सिद्ध है।] फिर यह वचन किसलिये? नियम के लिए। इन्, हन्, पूषन्, अर्यमन् को सर्वनामस्थान परे रहने पर ही दीर्घ हो, अन्यत्र नहीं। [इससे 'वृत्रहणि' इत्यादि में अनुनासिक-लक्षण दीर्घ की व्यावृत्ति की जाती है।]

का०—पुनः शि परे रहने पर नियम करेंगे।

भा०—उसके पश्चात् 'शौ' तथा 'सौ'। सर्वनामस्थान परे रहने पर हो तो शि परे रहने पर ही तथा सु परे रहने पर ही हो। [इससे 'वृत्रहणौ' इत्यादि में सर्वनामस्थानलक्षण दीर्घत्व की व्यावृत्ति की जा सकेगी।]

का०—इस प्रकार [दो सूत्र होने पर इस कारण से] 'भ्रूणहनि' में दोष नहीं होगा।

भा०—इससे 'भ्रूणहनि' में [दीर्घत्व का] दोष नहीं होगा।

तथास्य भ्रूणहनीति न दोषो भवति॥

शास्मि निवर्त्य सुटीत्यविशेषे शौ नियमं कुरु वाप्यसमीक्ष्य।

अथवा निवृत्ते सर्वनामस्थानप्रकरणेऽविशेषेण शौ नियमं वक्ष्यामि। इन्हन्पूषार्यम्णां शावेव। ततः सौ। सावेव॥ इहापि तर्हि नियमान्न प्राप्नोति— इन्द्रो वृत्रहायते?

दीर्घविधेरुपधानियमान्मे हन्त यि दीर्घविधौ च न दोषः॥ २॥

उपधालक्षणदीर्घत्वस्य नियमः, न चैतदुपधालक्षणं दीर्घत्वम्॥

सुट्यपि वा प्रकृतेऽनवकाशः शौ नियमोऽप्रकृतप्रतिषेधे।

अथवानुवर्तमाने सर्वनामस्थानग्रहणेऽनवकाशः शौ नियमोऽप्रकृतस्यापि दीर्घत्वस्य नियामको भविष्यति। कथम्?

का०—[अन्वय-] सुटि इति निवर्त्य असमीक्ष्य वा अविशेषे शौ नियमं कुरु, (इत्येवमहं) शास्मि।

भा०—अथवा सर्वनामस्थान-प्रकरण के निवृत्त होने पर अविशेष या 'सामान्य रूप से 'शि' परे रहने पर नियम करेंगे—इन्, हन्, पूषन् अर्यमन् को शि परे रहने पर ही, पश्चात्—सु परे रहने पर ही। [सर्वनामस्थान की अनुवृत्ति न लाने पर शि तथा सु के प्रयोग से तुल्यजातीय प्रत्यय या विभक्ति के सापेक्ष नियम होगा—शि, सु परे रहने पर ही इन्हें दीर्घ हो, अन्य प्रत्यय परे रहने पर नहीं। इससे 'वृत्रहनि' आदि में ङि आदि परे रहने पर दीर्घ का निवारण होगा।]

तब तो फिर नियम करने से यहाँ भी [दीर्घ] नहीं पाता—इन्द्रो वृत्रहायते? ['वृत्रहेवाचरति' इस विग्रह के अनुसार क्यङ् होने पर 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' (७.४.२५) से दीर्घ। यहाँ विशेष का आश्रयण न होने से किसी भी प्रत्यय के परे होने पर सुदूरवर्त्ती दीर्घ का भी निवारण प्राप्त होगा।]

का०—दीर्घविधियों में से [निर्धारण में षष्ठी] जो उपधा [लक्षण दीर्घ] उसका नियम होने से हन्ति से उत्तर यकार परे रहने पर दीर्घविधि में कोई दोष न होगा।

भा०—[यहाँ 'नोपधायाः' (६.४.७) से उपधा की अनुवृत्ति होने से] उपधालक्षण दीर्घत्व का नियम होता है, यह उपधालक्षण दीर्घत्व नहीं [अपितु अजन्त-लक्षण दीर्घत्व है। अतः इसका निवारण नहीं होगा।]

का०—[अन्वय-] वा प्रकृते सुटि अनवकाशः शौ नियमः, अप्रकृतप्रतिषेधेऽपि [नियामको भविष्यति।]

भा०—अथवा सर्वनामस्थान-प्रकरण के अनुवर्तमान होने पर शि परे रहने पर नियम अनवकाश होकर अप्रकृत में भी दीर्घत्व का नियामक होगा। किस प्रकार?

यस्य हि शौ नियमः सुटि नैतत्तेन न तत्र भवेद्विनियम्यम्॥ ३॥

यस्य हि शिः सर्वनामस्थानं न तस्य सुट्। यस्य सुट् सर्वनामस्थानं न तस्य शिः। तत्र सर्वनामस्थानप्रकरणे नियम्यं नास्तीति कृत्वाऽविशेषेण शौ नियमो विज्ञास्यते॥

दीर्घविधिर्य इहेन्प्रभृतीनां तं विनियम्य सुटीति सुविद्वान्।
शौ नियमं पुनरेव विदध्याद् भ्रूणहनीति तथाऽस्य न दुष्येत्॥ १॥
शास्मि निवर्त्य सुटीत्यविशेषे शौ नियमं कुरु वाप्यसमीक्ष्य।
दीर्घविधेरुपधानियमान्मे हन्त यि दीर्घविधौ च न दोषः॥ २॥
सुट्यपि वा प्रकृतेऽनवकाशः शौ नियमोऽप्रकृतप्रतिषेधे।
यस्य हि शौ नियमः सुटि नैतत्तेन न तत्र भवेद्विनियम्यम्॥ ३॥

का०—जिस नपुंसक का शि परे रहने पर नियम किया जा रहा है, वह नपुंसक सर्वनामस्थान-संज्ञक सुट् के प्रति, उपस्थित नहीं है। अतः उसका विनियम्य प्राप्त नहीं होता। [अन्वय—यस्य=नपुंसकस्य हि शौ नियमः, एतत्=नपुंसकम्, सुटि=सुट्, विषये नास्ति, तेन तत्र विनयम्यं=नियन्तव्यं न प्राप्नोति।]

भा०—जिस नपुंसक का शि-सर्वनामस्थान है, उस नपुंसक का सुट् [सर्वनामस्थान] नहीं है। जिस [स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिङ्ग] का सुट् सर्वनामस्थान है, उसका शि [सर्वनामस्थान] नहीं है। अतः नपुंसक में सर्वनामस्थान-प्रकरण में दीर्घत्व का नियन्तव्य सम्भव नहीं है, अतः सामर्थ्य से शि के सन्दर्भ में अविशेष से नियम समझा जाएगा।

विवरण—यह प्रबन्ध 'इन्हन्पूषार्यम्णां शौ' यहाँ योगविभाग न करने पर भी तथा सर्वनामस्थान की अनुवृत्ति लाने पर भी 'ब्रह्महणि' में दीर्घत्व किस प्रकार न हो, इस समाधान के लिये प्रस्तुत है। 'इन्हन्...' सूत्र से 'शि' परे रहने पर किया गया नियम सजातीय का व्यावर्तक होना चाहिये। नपुंसक शब्दों से 'शि' सर्वनामस्थान उपलब्ध होता है। अतः 'तुल्यजातीय का नियम' इस न्याय के द्वारा नपुंसक शब्दों से उत्पन्न शि से भिन्न सर्वनामस्थान का इस नियम से निवारण हो सकता है। पर स्थिति यह है कि नपुंसक में 'शि' से भिन्न सर्वनामस्थान होता ही नहीं। शि से भिन्न सुट् सर्वनामस्थान स्त्रीलिङ्ग-पुल्लिङ्ग में ही होते हैं। इस दशा में 'शौ' से निर्दिष्ट नियम का नियन्तव्य या निवारणीय कोई शब्द न मिलने से यह नियम वचन-सामर्थ्य से असमानजातीय सुदूरवर्ती प्रत्ययपरक का भी निवारण करने लगेगा। इससे इस नियम द्वारा सामर्थ्य से ब्रह्महणि में ङि प्रत्यय परे रहने पर भी दीर्घत्व का निवारण हो सकेगा।

अत्वसन्तस्य चाधातोः॥ ६.४.१४॥

अत्वसन्तस्य दीर्घत्वे पित उपसंख्यानम्॥ १॥

अत्वसन्तस्य दीर्घत्वे पित उपसंख्यानं कर्तव्यम्। गोमान्, यवमान्। किं पुनः कारणं न सिध्यति? 'अननुबन्धकग्रहणे हि सानुबन्धकस्य ग्रहणं न' इत्येवं पितो न प्राप्नोति॥ अननुबन्धकग्रहण इत्युच्यते, सानुबन्धकस्येदं ग्रहणम्। एवं तर्हि 'तदनुबन्धकग्रहणेऽतदनुबन्धकस्य ग्रहणं न' इत्येवं पितो न प्राप्नोति॥

तत्तर्ह्युपसंख्यानं कर्तव्यम्? न कर्तव्यम्। पकारलोपे कृते नातुबन्तं भवति, अत्वन्तमेव। यथैव तर्हि पकारलोपे कृते नातुबन्तमेवमुकारलोपेऽपि कृते नात्वन्तम्? ननु च भूतपूर्वगत्या भविष्यत्यत्वन्तम्?

अत्वसन्तस्य चाधातोः॥

वा०—अत्वसन्त के दीर्घत्व में पित् का उपसङ्ख्यान।

भा०—'अतु' अन्त वाले तथा 'अस्' अन्त वाले के दीर्घत्व के प्रसङ्ग में पित् का उपसङ्ख्यान करना चाहिये। गोमान्...। क्या कारण है कि सिद्ध नहीं होता? अननुबन्धक के ग्रहण में सानुबन्धक का ग्रहण नहीं होता—इस परिभाषा के अनुसार पित् [मतुप् अन्त वाले] को दीर्घत्व नहीं पाता। [सूत्रोपात्त अनुबन्ध को अननुबन्धक तथा उससे भिन्न अनुबन्ध को सानुबन्धक मान कर कह रहे हैं।]

इस परिभाषा में 'अननुबन्धक-ग्रहणे' कहा है। पर यहाँ सूत्र में तो सानुबन्धक [अतु का उकार] का ग्रहण है। [अतः यह परिभाषा यहाँ प्रवृत्त नहीं होगी।] अच्छा तो फिर, [सूत्र में] उस उकार (क) अनुबन्ध का ग्रहण करने पर उस (क) तथा उस से भिन्न अनुबन्ध वाले का ग्रहण नहीं होता, इस परिभाषा के अनुसार पित् [मतुप् अन्त वाले] का [दीर्घत्व] नहीं पाता।

तो फिर उपसङ्ख्यान करना चाहिये। नहीं करना चाहिये। पकारलोप करने पर यह [मतुप्] अतुबन्त नहीं है, अत्वन्त ही है। [अनुबन्ध उस प्रत्यय के अवयव होते हैं, या नहीं होते—ये दोनों पक्ष व्याकरण में माने जाते हैं। पर एक उदाहरण में तो कोई एक पक्ष ही मान्य होगा। यहाँ 'मतुप्' को 'अतु' अन्त वाला सिद्ध करने के लिये उकार को उसका अवयव मानना चाहते हैं। साथ ही इसे ही सिद्ध करने के लिये अनवयव पक्ष मानते हुए पकार को उसका अवयव नहीं मानना चाहते। ये दोनों स्थितियाँ एक ही उदाहरण में नहीं मानी जा सकतीं। इसी समस्या का यहाँ निरूपण है।]

जिस प्रकार [अनवयव पक्ष में] पकारलोप करने पर यह अतुबन्त नहीं है, उसी प्रकार उकार लोप करने पर अत्वन्त भी नहीं रह सकेगा? क्यों, यह भूतपूर्वगति से अत्वन्त समझ लिया जाएगा? ['साम्प्रतिकाभावे भूतपूर्वगतिः' परिभाषा

यथैव तर्हि भूतपूर्वगत्यात्वन्तमेवमतुबन्तमपि? एवं तर्ह्याश्रीयमाणे भूतपूर्व-गतिः, अत्वन्तं चाश्रीयते, नातुबन्तम्॥ न सिध्यति। इह हि व्याकरणे सर्वेष्वेव सानुबन्धकग्रहणेषु रूपमाश्रीयते, यत्रास्यैतद्रूपमिति। रूपनिर्ग्रहश्च शब्दस्य नान्तरेण लौकिकं प्रयोगम्। तस्मिंश्च लौकिके प्रयोगे सानुबन्ध-कानां प्रयोगो नास्तीति कृत्वा द्वितीयः प्रयोग उपास्यते। कोऽसौ? उपदेशो नाम। उपदेशे चैतदतुबन्तं नात्वन्तम्॥

के अनुसार यदि कोई स्थिति वर्तमान में उपलब्ध न हो, परन्तु पहले रही हो, तो उसे मान लिया जाता है।] जिस प्रकार भूतपूर्व-गति से अत्वन्त है, उसी प्रकार अतुबन्त भी हो सकता है?

अच्छा तो फिर, आश्रीयमाण में भूतपूर्व-गति होती है। अत्वन्त का आश्रय लिया गया है, अतुबन्त का नहीं। [पूर्वोक्त परिभाषा को विस्तृत करते हुए कहेंगे कि सूत्र में जिस स्थिति का उपयोग किया गया है, उसमें भूतपूर्व गति होती है, अन्य का आश्रय करने में नहीं। यहाँ उकार का आश्रय लिया गया है, अतः भूतपूर्वगति से इसे अत्वन्त मान लिया जाएगा, पर अतुबन्त नहीं।]

नहीं सिद्ध होता। यहाँ व्याकरण में सर्वत्र ['स्वं रूपं....' (१.१.६८) के अनुसार] सभी सानुबन्धक प्रयोगों के सन्दर्भ में उस प्रकार के रूप का आश्रय लिया जाता है, जहाँ [अनुबन्ध वाला] इस [प्रत्यय] का ऐसा रूप हो। शब्द के रूप का निश्चयपूर्वक ग्रहण लौकिक प्रयोग के बिना नहीं होता। अब लौकिक प्रयोगों में तो सानुबन्धक का उच्चारण होता नहीं, अतः दूसरे प्रकार का प्रयोग समझ लिया जाएगा। वह कौन सा? उपदेश। उपदेश में तो यह अतुबन्त है, अत्वन्त नहीं।

विवरण—यहाँ अनेक पक्षों के आश्रयण से अलग-अलग मत उपस्थित किये गये हैं। यथा—

१. अनुबन्ध उस प्रत्यय के अवयव होते हैं। इसके अनुसार यह अतुबन्त है, अत्वन्त नहीं।

२. अनुबन्ध उसके अवयव नहीं होते। अतः यह अत् अन्त है, अत्वन्त नहीं।

३. प्रत्यय के अनुबन्ध-लोप होने पर भूतपूर्व-गति मानी जाती है। इससे यह अतुबन्त होगा, अत्वन्त नहीं।

४. सूत्र में जिसका आश्रय लिया गया है, उसमें भूतपूर्वगति होती है। इस पक्ष में मतुप् प्रत्यय अत्वन्त बनता है। इससे अभीष्ट सिद्धि होती है।

५. इस पक्ष में चतुर्थ पक्ष का निवारण करते हुए यह माना गया कि पिछले उपदेश के प्रयोग में जिस प्रकार की स्थिति रही हो, वह स्थिति पश्चात् भी भूतपूर्व-गति द्वारा मान्य होती है। इस पक्ष के अनुसार सूत्र में जिस प्रकार का प्रयोग हो, वह नहीं, अपितु उपदेश में जिस प्रकार का प्रयोग हो, उसे भूतपूर्वगति के

यदि पुनरच्छब्दं गृहीत्वा दीर्घत्वमुच्येत? नैवं शक्यम्। इहापि प्रसज्येत— जगत्, जनगत्। 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' इत्येवमेतस्य न भविष्यति। इहापि तर्हि न प्राप्नोति—कृतवान्, भुक्तवानिति? क्व तर्हि स्यात्? पचन्, यजन्। न वा अत्रेष्यते? अनिष्टं च प्राप्नोति। इष्टं च न सिध्यति। तस्मादुपसंख्यानं कर्तव्यम्॥

अज्झनगमां सनि॥ ६.४.१६॥

गमेर्दीर्घत्व इङ्ग्रहणम्॥ १॥

गमेर्दीर्घत्व इङ्ग्रहणं कर्तव्यम्। इङो गमेरिति वक्तव्यम्।

अनुसार मान्य किया जाता है। ये सभी पक्ष अलग-अलग व्याख्या से बनते हैं। इस पञ्चम पक्ष में यह पुनः अतुबन्त रहेगा, अत्वन्त नहीं। इस प्रकार अब तक दोष बना रहा।

भा०—यदि [अतु न कह कर] अत् शब्द का ग्रहण करते हुए दीर्घत्व कहें तो [क्या दोष होगा]? यह सम्भव नहीं है। यहाँ भी प्राप्त होता है—जगत्, जनगत्। ['गच्छति' इस विग्रह के अनुसार गम् धातु से 'द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे च' ('अन्येभ्योऽपि दृश्यते' ३.२.१७८ पर वार्तिक) से क्विप्। 'गमः क्वौ' (६.४.४०) से मलोप। 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (६.१.७१) से तुक्। जनगत् में जनं गच्छति विग्रह के अनुसार 'क्विप् च' (३.२.७६) से क्विप्। यहाँ 'अत्' अन्त होने से दीर्घ प्राप्त होगा]

अर्थवान् के ग्रहण के प्रसङ्ग में अनर्थक का ग्रहण नहीं होता, इस परिभाषा से यहाँ नहीं होगा। इस परिभाषा के प्रवृत्त होने पर यहाँ भी दीर्घ नहीं पाता— कृतवान्...। तब फिर [अत् ग्रहण करने से] कहाँ दीर्घ होता? पचन्...। पर यहाँ तो इष्ट नहीं है? इस प्रकार अत् ग्रहण करने से अनिष्ट प्राप्त होता है, इष्ट सिद्ध नहीं होता। अतः [यही समुचित है कि 'अतु' ग्रहण करते हुए पूर्वोक्त] उपसङ्ख्यान करना चाहिये। [यहाँ काशिकाकार ने माना है कि सूत्र में अन्त-वचन-सामर्थ्य से उपदेश में उल्लिखित के एकदेश को भी अत्वन्त मान लिया जाता है। अतः मतुबन्त को अत्वन्त मानते हुए कार्य सिद्ध होगा।]

अज्झनगमां सनि॥

वा०—गम् के दीर्घत्व में इङ्-ग्रहण।

भा०—गम् के दीर्घत्व के प्रसङ्ग में इङ् का ग्रहण करना चाहिये। इङ् के स्थान में होने वाले गम् का दीर्घत्व, यह कहना चाहिये। [यहाँ 'इङ्' से इण् के स्थान में तथा इक् के स्थान में भी होने वाले गम् आदेश का उपलक्षण है। यहाँ इण् के स्थान में 'सनि च' (२.४.४७) से तथा इक् के स्थान में 'इण्वदिक इति वक्तव्यम्' ('इणो गा लुङि' २.४.४८ पर वार्तिक) इस अतिदेश से तथा इङ् के

इह मा भूत्—

संजिगंसते वत्सो मात्रेति॥

अग्रहणे ह्यनादेशस्यापि दीर्घप्रसङ्गः॥ २॥

अक्रियमाणे हीङ्ग्रहणेऽनादेशस्यापि दीर्घत्वं प्रसज्येत। संजिगंसते वत्सो मात्रेति॥

न वा छन्दस्यनादेशस्यापि दीर्घत्वदर्शनादिङ्ग्रहणानर्थक्यम्॥ ३॥

न वेङ्ग्रहणं कर्तव्यम्। किं कारणम्? छन्दस्यनादेशस्यापि दीर्घत्वदर्शनात्। छन्दस्यनादेशस्यापि गमेर्दीर्घत्वं दृश्यते। स्वर्गं लोकं संजिगांसत्। छन्दस्यनादेशस्यापि गमेर्दीर्घत्वदर्शनादिङ्ग्रहणमनर्थकम्॥ यथैव तर्हि च्छन्दस्यनादेशस्यापि गमेर्दीर्घत्वं भवत्येवं भाषायामपि प्राप्नोति? तस्मादिङ्ग्रहणं कर्तव्यम्॥

स्थान में 'इङश्च' (२.४.४८) से गम् आदेश विहित है। आदेश के एकत्व से तीनों स्थानी उपलक्षित हैं। इससे अनादिष्ट गम् के दीर्घत्व का निवारण होता है।] यहाँ न हो—सञ्जिगंसते वत्सो मात्रा (=बच्चा माता के साथ चलना चाहता है।) [इङ् के स्थान में गम् की इससे विहित दीर्घत्व से पहचान मिलती है। अधिजिगांसते= अध्ययन करना चाहता है।]

वा०—अग्रहण होने पर अनादेश का भी दीर्घ-प्रसङ्ग।

भा०—इङ्-ग्रहण न करने पर जो आदेश वाली गम् नहीं है, उसका भी दीर्घत्व प्राप्त होगा। सञ्जिगंसते...। [यहाँ अनादिष्ट गम् से सन् विहित है।]

वा०—नहीं, क्योंकि छन्द में अनादेश के भी दीर्घत्व-दर्शन से इङ्ग्रहण का आनर्थक्य।

भा०—इङ्-ग्रहण नहीं करना चाहिये। क्या कारण है? छन्द में जो आदेश वाली गम् नहीं है, उसका भी दीर्घत्व देखा जाता है—स्वर्ग लोकं सञ्जिगांसत् (=स्वर्ग लोक में जाना चाहा)। [सम् उपसर्गपूर्वक गम् धातु से सन्। लङ् लकार प्रथम पुरुष, एकवचन। 'बहुलं छन्दस्य माङ्योगेऽपि' (६.४.७५) से अट् का निवारण।]

जिस प्रकार छन्द में अनादिष्ट गम् का दीर्घत्व होता है, उसी प्रकार भाषा में भी प्राप्त होता है। अतः इङ् ग्रहण करना चाहिये। [ताकि भाषा में अनादिष्ट गम् का दीर्घ न हो। व्याख्याकारों के अनुसार छन्द में वर्ण-व्यत्यय से ह्रस्व को दीर्घ होगा। इससे भाषा-विज्ञान के लिये यह सूचना प्राप्त है कि अति प्राचीन काल में सभी आदिष्ट या अनादिष्ट गम् के प्रयोगों में दीर्घ होता था। पर आगे चल कर इनमें पहचान बनाने के लिए आदिष्ट में ही दीर्घ तथा अन्यत्र ह्रस्व का प्रयोग होने लगा।

न कर्तव्यम्। योगविभागः करिष्यते। 'अचः सनि'। अजन्तानां सनि दीर्घो भवति। ततो 'हनिगम्योः'। हनिगम्योश्च सनि दीर्घो भवति। अच इत्येव। अचः स्थाने यौ हनिगमी॥

अथोपधाग्रहणमनुवर्तत उताहो न? किं चातः?

सनि दीर्घ उपधाधिकारश्चेद् व्यञ्जनप्रतिषेधः॥ ४॥

सनि दीर्घ उपधाधिकारश्चेद्व्यञ्जनस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। चिचीषति, तुष्टूषतीत्येवमर्थम्॥ एवं तर्हि निवृत्तम्।

अनधिकार उक्तम्॥ ५॥

किमुक्तम्? हनिगमिदीर्घेष्वज्ग्रहणमिति॥ नैष दोषः। उक्तमेतद्—

महर्षि पाणिनि ने प्राचीनतम रूप की सुरक्षा की है। परन्तु कात्यायन ने तत्कालीन प्रयोग पर ध्यान दिया है।]

नहीं करना चाहिये। योगविभाग करेंगे—अजन्त का सन् परे रहने पर दीर्घ होता है। पश्चात्—हन्, गम् का भी सन् परे रहने पर दीर्घ होता है। यहाँ पूर्वोक्त 'अचः' की अनुवृत्ति आएगी। अतः अर्थ होगा—अच् के स्थान में होने वाले जो हन्, गम्। [हन् के साथ इस विशेषण के सम्भव न होने से अचः का सम्बन्ध केवल गम् के साथ होगा। इस प्रकार कार्य सिद्ध हो जाएगा।]

[प्रसङ्गान्तर-] यहाँ 'उपधा' ग्रहण अनुवृत्त होता है, या नहीं? इससे क्या?

वा०—'सनि दीर्घः' यहाँ उपधा अधिकार हो तो व्यञ्जन का प्रतिषेध।

भा०—'सनि दीर्घः' से उपलक्षित इस सूत्र में 'उपधा' का अधिकार हो तो व्यञ्जन का प्रतिषेध कहना चाहिये। 'चिचीषति' [में व्यञ्जन चकार को दीर्घ न हो] इसके लिये। [उपधा अधिकार होने पर 'अचश्च' परिभाषा का बाध होने लगेगा। इससे 'अजन्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ' यह सूत्र का अर्थ होगा।]

अच्छा तो फिर, उपधा का अधिकार निवृत्त होवे।

वा०—अनधिकार पक्ष में कहा गया है।

भा०—क्या कहा गया है? ['अचश्च' (१.२.२८) सूत्र में कहा है कि हन्, गम् के दीर्घ के प्रसङ्ग में अच् का ग्रहण करना होगा। [क्योंकि 'अचश्च' सूत्र 'अलोऽन्त्यस्य' (१.१.५२) का शेष है, इस पक्ष में इस सूत्र का अर्थ होगा—हन्, गम् के अन्तिम अच् को दीर्घ होता है। पर यहाँ अन्तिम अच् उपलब्ध नहीं है। अतः इस सूत्र की सावकाशता बनाने के लिये इन दोनों परिभाषाओं का बाध होने पर हन्, गम् सम्पूर्ण के स्थान में दीर्घ प्राप्त होने लगेगा।]

यह दोष नहीं है। [वहाँ कहा है कि 'अचश्च' सूत्र 'अलोऽन्त्यस्य' का शेष भी नहीं, अपवाद भी नहीं। अपितु] ह्रस्वः, दीर्घः, प्लुतः जहाँ कहें वहाँ 'अचः'

ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति यत्र ब्रूयाद् 'अचः' इत्येतत्तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यमिति॥

च्छ्वोः शूडनुनासिके च॥ ६.४.१९॥

अथ ऊडादिः कस्मान्न भवति? आदिष्टिद् भवतीति प्राप्नोति। कस्य पुनरादिः? वकारस्य। अस्तु। वकारस्य का प्रतिपत्तिः? 'लोपो व्योर्वलि' (६.१. ६६) इति लोपो भविष्यति। नैवं शक्यम्। 'ज्वरत्वरस्त्रिव्यविमवामुपधायाश्च' (६.४.२०) इति द्वावूटौ स्याताम्॥ एवं तर्हि नैष टित्। कस्तर्हि? ठित्। यदि तर्हि ठित्—धौतः पट इति 'एत्येधत्यूट्सु' (६.१.८९) इति वृद्धिर्न प्राप्नोति? चर्त्वे कृते भविष्यति।

की उपस्थिति समझनी चाहिये। [यहाँ 'अचः' के साथ सुविधा के अनुसार सम्बन्ध बनाया जा सकता है। अतः हनिगम्योः का अचः के साथ व्यधिकरण सम्बन्ध बनाते हुए 'हनिगम्योः' से अच् को विशेषित करेंगे—हन्, गम् के अच् को दीर्घ होता है। इस प्रकार स्वतः उपधा को दीर्घ सिद्ध हो सकेगा।]

च्छ्वोः शूडनुनासिके च॥

भा०—अच्छा, यह ऊट् आगम आदि में क्यों नहीं अवस्थित होता? किसके आदि में? [वकार में षष्ठी होने से] वकार के आदि में। ['अङ्ग का जो वकार उसे अनुनासिकादि प्रत्यय परे तथा क्वि एवं झलादि परे रहने पर ऊट् आगम होता है' इस अर्थ के मानने पर वकार के आदि को ऊट् आगम पाता है। यहाँ सम्बन्धी के भेद से 'च्छ्वोः' में शकार आदेश के प्रति स्थान में षष्ठी तथा ऊट् आगम के प्रति अवयव में मानी जाएगी। इससे 'द्यूतः' आदि उदाहरणों में वकार के पूर्व ऊट् की अवस्थिति होने से 'दि ऊव् तः' यह दशा प्राप्त होगी।]

यहाँ वकार [लोप] की क्या स्थिति होगी? 'लोपो व्योर्वलि' से लोप हो जाएगा। यह सम्भव नहीं है। यहाँ 'ज्वरत्वर...' के उदाहरणों में वकार के आदि तथा उपधा अकार के आदि में दो ऊट् की प्राप्ति होगी। [इससे 'ज् ऊ व् ऊ अ र्' इस अनिष्ट रूप की प्राप्ति होगी।]

अच्छा तो फिर यह टित् नहीं है। तो फिर क्या है? ठित् है। [इस प्रकार श् तथा ऊठ् ये दोनों आदेश क्रमशः छ् तथा 'व्' के स्थान में आदिष्ट होंगे। ज्वर आदि में उपधा तथा वकार के स्थान में दो ऊठ् होंगे। इन्हें सवर्णदीर्घ से सिद्धि होगी।]

यदि यह ठित् है, 'धौतः पटः' में 'एत्येधत्यूठ्सु' से वृद्धि नहीं प्राप्त होती। [क्योंकि 'एत्येधत्यूट्सु' इस प्रकार वहाँ ऊट् टित् है। यह मान कर कह रहे हैं।]

चर्त्व करने पर हो जाएगा। [इस प्रस्तुत सूत्र से ऊठ् आदेश करने पर 'खरि च' (८.४.५५) से चर्त्व हो जाएगा। तब ऊट् रूप बन जाने से 'एत्येधत्यूट्सु' प्रवृत्त हो सकेगा। वास्तव में यह तथा अग्रिम भाष्य एकदेश्युक्ति है। क्योंकि सभी

असिद्धं चर्त्वं तस्यासिद्धत्वान्न प्राप्नोति ? आश्रयात्सिद्धत्वं भविष्यति। असत्यन्यस्मिन्नाश्रयात्सिद्धत्वं स्यादस्ति चान्यः सिद्धो 'वाह ऊट्' इति। एषोऽपि ठित्करिष्यते। तत्रोभयोश्चर्त्वे कृत आश्रयात्सिद्धत्वं भविष्यति॥

अथ क्विडद्ग्रहणमनुवर्तत उताहो न ? किं चातः ?

शूट्त्वे क्विडदधिकारश्चेच्छः षत्वम्।

शूट्त्वे क्विडदधिकारश्चेच्छः षत्वं वक्तव्यम्। प्रष्टा, प्रष्टुम्, प्रष्टव्यम्॥

तुक्प्रसङ्गश्च।

तुक् च प्राप्नोति॥ निवृत्तेऽपि वै क्विडद्ग्रहणेऽवश्यमत्र तुगभावार्थो

विधियों से लोप विधि बलवान् होती है, इस परिभाषा के अनुसार सबसे पहले अनुबन्ध लोप हो जाएगा। तब इसके चर्त्व का प्रश्न ही नहीं है।]

['एत्येधत्यूट्सु' के प्रति 'खरि च' से विहित] चर्त्व असिद्ध होगा। उसके असिद्ध होने से [एत्येधत्यूट्स] नहीं पाता। आश्रय अर्थात् वचनसामर्थ्य से सिद्धत्व होगा। [क्योंकि तब तो 'एत्येधत्यूट्सु' को 'ऊट्' रूप कभी नहीं मिल पाएगा।] अन्य के न होने पर आश्रय से सिद्धत्व होगा, अन्यत्र सिद्ध 'ऊट्' निर्देश उपस्थित है ही—'वाह ऊट्'। [इसी प्रकार का सूत्र-न्यास मान कर कह रहे हैं।] इसे भी ठित् करेंगे। इस प्रकार दोनों के चर्त्व होने से आश्रय से सिद्ध हो जाएगा।

विवरण—'सर्वविधिभ्यो लोपविधिर्बलीययान्' इस परिभाषा के अनुसार अनुबन्ध-लोप सबसे पहले होने से इसके चर्त्व के होने का कोई प्रसङ्ग नहीं है। इस सूत्र के अलावा 'एत्येधत्यूठ्सु' में भी 'ऊठ्' करने से सभी दोष समाहित हैं। अतः यह विवरण एकदेश्युक्ति है।

भा०—अच्छा, यहाँ 'क्विडत्' ग्रहण की अनुवृत्ति है या नहीं ? इससे क्या ?

वा०—शूट्त्व में क्विडत् अधिकार है तो छ के स्थान में षत्व।

भा०—श् ऊठ् आदेश के प्रसङ्ग में क्विडत् का अधिकार हो तो ['व्रश्चभ्रस्ज...' (८.२.३६) सूत्र से] छ के स्थान में षत्व कहना होगा। प्रष्टा... ['प्रच्छ् ता' इस दशा में तृच् के क्विडत् न होने से इस सूत्र से शत्व नहीं होगा। अतः 'व्रश्चभ्रस्ज...' से शकार के स्थान में विहित षत्व नहीं हो पाएगा। इस दशा में छ के स्थान में अलग से षत्व-विधान करना होगा।]

वा०—तुक् का प्रसङ्ग भी।

भा०—तुक् भी प्राप्त होगा। ['प्रष् ता' इस दशा में षत्व के असिद्ध होने से छकार दिखने पर 'छे च' (६.१.७३) से प्र के अकार को तुक् प्राप्त होगा।

क्विडत् के निवृत्त होने पर भी तुक् के निवारण के लिये अवश्य ही यत्न करना

यत्नः कर्तव्यः। अन्तरङ्गत्वाद्धि तुक् प्राप्नोति। च्छ्वोरिति तुका सह संनिपातग्रहणं विज्ञायते। ननु चैवमप्यन्त्यस्य प्राप्नोति? संनिपातग्रहणसामर्थ्यात्सर्वस्य भविष्यति। एवमप्यङ्गस्य प्राप्नोति? निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीत्येवमङ्गस्य न भविष्यति॥ यद्येवमुत्पुच्छयतेरप्रत्यय उत्पुडिति प्राप्नोति, उत्पुदिति चेष्यते। तथा वाञ्छतेरप्रत्ययः—वान्, वांशौ, वांश इति न सिध्यति। यथालक्षणमप्रयुक्ते॥ तत्र त्वेतावान्विशेषः—अनुवर्तमाने क्ङिद्ग्रहणे छः षत्वं वक्तव्यम्, तत्र चापि संनिपातग्रहणं विज्ञेयम्।

होगा। अन्तरङ्ग होने से तुक प्राप्त होता है। [इस सूत्र से शकार आदेश करने से पूर्व ही] अन्तरङ्ग होने से तुक् प्राप्त होता है।] [समाधान-] 'च्छ्वोः' इस न्यास के द्वारा तुक् सहित छकार का ग्रहण समझा जाएगा।

फिर भी ['अलोऽन्त्यस्य' (१.१.५२) के अनुसार अन्तिम छकार के स्थान में आदेश प्राप्त होता है? सन्निपात ग्रहण-सामर्थ्य से सम्पूर्ण के स्थान में होगा। [क्योंकि यदि केवल छकार के स्थान में ही होना हो तो चकार सहित छकार स्थानी के निर्देश की उपयोगिता ही नहीं रह जाएगी।]

फिर भी अङ्ग को प्राप्त होता है? [यदि इस ग्रहण-सामर्थ्य से 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा को प्रवृत्त नहीं होना है, तो अङ्ग के स्थान में ऊठ् आदेश पाएगा। सूत्र का अर्थ होगा—च्छकारान्त अङ्ग के स्थान में ऊठ् होता है।] निर्दिश्यमान के स्थान में आदेश होता है—इस परिभाषा के अनुसार अङ्ग के स्थान में नहीं होगा। [सूत्र का अर्थ होगा—च्छकारान्त अङ्ग के निर्दिश्यमान के स्थान में ऊठ् होता है।]

यदि ऐसा है तो 'उत्पुच्छि' से क्विप् करने पर 'उत्पुट्' रूप प्राप्त होता है, 'उत्पुत्' अभीष्ट है। [पुच्छमुदस्यति विग्रह के अनुसार 'पुच्छभाण्डचीवराण्णिङ्' (३.१.२०) से णिङ् प्रत्यय, सम्पूर्ण की धातु संज्ञा के पश्चात् क्विप् प्रत्यय। यहाँ चकार सहित छकार के स्थान में शकार आदेश होने पर 'व्रश्चभ्रस्ज...' से षकार तथा इसे जश्त्व होने पर 'उत्पुट्' रूप की प्राप्ति होती है। जबकि 'उत्पुत्' अभीष्ट है।] साथ ही 'वाञ्छ्' से क्विप् करने पर वान्...आदि रूप सिद्ध नहीं होंगे। [क्योंकि तकार सहित छकार स्थानी का निर्देश होने से केवल छकार के स्थान में शकार नहीं हो सकेगा।] लोक में प्रयोग के अप्रयुक्त होने पर सूत्र के अनुसार पद का स्वरूप मान्य समझना चाहिये। [लोक में इन शब्दों का प्रयोग नहीं होता। अतः इनमें किसी स्वरूप के अभीष्ट या अनभीष्ट का प्रश्न नहीं है। अतः सूत्र के अनुसार जो भी रूप सिद्ध हो उसे मान्य करना चाहिये।]

उपसंहार—इस प्रकार क्ङित् की अनुवृत्ति लाने में विशिष्टता यह है ['प्रष्टा' इत्यादि के लिये 'व्रश्चभ्रस्ज्...' से] छकार के स्थान में अलग से षत्व कहना होगा। [साथ ही उस सूत्र में तुक् सहित छकार को स्थानी बनाना होगा तथा सूत्र में भी 'पुष्टः' आदि के लिये तुक् सहित छकार के स्थान में आदेश के लिये] सन्निपात ग्रहण समझना होगा।

निवृत्ते दिव ऊठ्भावः

निवृत्ते दिव ऊठ्भावः प्राप्नोति—द्युभ्याम्, द्युभिः? अस्तु। कथं द्युभ्याम्, द्युभिरिति? ऊठि कृते 'दिव उत्' (६.१.१३१) इत्युत्त्वं भविष्यति। न सिध्यति। आन्तर्यतो दीर्घस्य दीर्घः प्राप्नोति।

तदर्थं तपरः कृतः॥

एवमर्थं तपरः क्रियते॥

क्व पुनः क्ङिद्ग्रहणं प्रकृतम्? 'अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति' (६.४.१५) इति। यदि तदनुवर्तते, 'अज्झनगमां सनि' (१६) क्विझलोश्चेति क्विझलोरपि दीर्घत्वं प्राप्नोति? झलि तावन्न दोषः। सनमत्र झल्ग्रहणेन विशेषयिष्यामः। सनि झलादाविति। क्वावप्याचार्य-

---

वा०—निवृत्त होने पर दिव् के स्थान में ऊठ् भाव।

भा०—क्ङित् की निवृत्ति होने पर दिव् के स्थान में ऊठ् आदेश पाता है। द्युभ्याम्...। [इस सूत्र से ऊठ् का अवकाश—स्यूतः...। जहाँ दिव् नहीं है। 'दिव उत्' (६.१.३१) का अवकाश—विमलद्यु अहः। जहाँ झलादि क्ङित् परे नहीं है। 'द्युभ्याम्' में दोनों की प्राप्ति होने पर परत्व से ऊठ् पाता है।]

[ऊठ्] हो जावे। तब द्युभ्याम्...कैसे बनेगा? ऊठ् कर लेने पर 'दिव उत्' से [पुनः प्रसङ्ग विज्ञान से] उत्व हो जाएगा। नहीं सिद्ध होता—आन्तर्य से दीर्घ के स्थान पर दीर्घ आदेश प्राप्त होता है।

वा०—इसलिये तपर किया गया है।

भा०—[इस दीर्घ के स्थान में भी ह्रस्व आदेश हो] इसके लिये तपर किया गया है। [इस प्रकार सिद्ध हुआ कि इस विवेचना के अनुसार 'क्ङित्' की अनुवृत्ति की आवश्यकता नहीं है। फिर भी 'व्रश्चभ्रस्ज...' सूत्र में छ ग्रहण से यह सङ्केत प्राप्त होता है कि सूत्रकार यहाँ क्ङित् की अनुवृत्ति के पक्ष में हैं। अतः यही पक्ष समुचित है, इस गूढ आशय को रखते हुए भाष्यकार 'क्ङित्' पर प्रश्न करते हैं—]

'क्ङित्' ग्रहण कहाँ से प्रकृत है? 'अनुनासिकस्य...' सूत्र से। यदि वहाँ से अनुवृत्त है तो 'अज्झनगमां सनि' सूत्र में [क्ङित् से सहयोग-निर्दिष्ट] 'क्विज्झलोः' की भी अनुवृत्ति होगी। अतः क्विप् परे रहने पर तथा झलादि क्ङित् परे रहने पर भी दीर्घत्व प्राप्त होगा?

[समाधान-] झल् परे रहने पर तो दोष नहीं है। यहाँ सन् को झल् ग्रहण से विशेषित करेंगे—झलादि सन् परे रहने पर। [इससे इण्, इक् के स्थान में होने वाले गम् को अजादि सन् परे रहने पर—'जिगमिषति' आदि में दीर्घ नहीं होगा।] क्विप् में भी आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापित करती है कि इस सूत्र से क्विप् परे रहने

प्रवृत्तिर्ज्ञापयति नानेन क्वौ दीर्घत्वं भवतीति, यदयं 'क्विब्वचिप्रच्छ्याय-तस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घोऽसंप्रसारणं च' इति दीर्घत्वं शास्ति॥

इति पातञ्जलमहाभाष्ये षष्ठाध्यायस्य चतुर्थपादे प्रथममाह्निकम्॥

—०—

असिद्धवदत्राभात्॥ ६.४.२२॥

असिद्धवचनं किमर्थम्?

असिद्धवचन उक्तम्॥ १॥

किमुक्तम्? तत्र तावदुक्तं—'षत्वतुकोरसिद्धवचनमादेशलक्षण-प्रतिषेधार्थमुत्सर्गलक्षणभावार्थं च' इति। इहाप्यसिद्धवचनमादेशलक्षण-प्रतिषेधार्थमुत्सर्गलक्षणभावार्थं च। आदेशलक्षणप्रतिषेधार्थं तावत्—आगहि, जहि। गतः, गतवानिति। अनुनासिकलोपे जभावे च कृते 'अतो लोपः', (६.४.४८) 'अतो हेः' (६.४.१०५) इति च प्राप्नोति। असिद्धत्वान्न भवति। उत्सर्गलक्षणभावार्थं च। एधि, शाधीति।

पर दीर्घत्व नहीं होता। तभी तो 'क्विप् वचि...' ['अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (३.२.१७८) पर वार्तिक] से क्विप् के साथ दीर्घत्व का भी शासन करते हैं।

असिद्धवदत्राभात्॥

भा०—असिद्ध-वचन किसलिये है?

वा०—असिद्धवचन पर कहा है।

भा०—वहाँ ['षत्वतुकोरसिद्धः' (६.१.८६) सूत्र में कहा है—षत्व, तुक् का असिद्धवचन आदेश-लक्षण प्रतिषेध के लिये तथा उत्सर्ग-लक्षण भाव के लिये है। यहाँ भी उसी प्रकार है।

आदेश को मानकर होने वाले कार्य के प्रतिषेध के लिये। जैसे—आगहि, [आङ् उपसर्ग, गम् धातु, मध्यम पुरुष एकवचन में सिप्। 'बहुलं छन्दसि' (२.४.७३) से शप् का लुक्। 'अनुदात्तोपदेश...' (६.४.३७) सूत्र से] अनुनासिक-लोप कर लेने पर 'अतो हेः' से हि का लोप प्राप्त होता है। गतः, गतवान् में पूर्वोक्त से अनुनासिक-लोप करने पर 'अतो लोपः' से गकार के अकार का लोप प्राप्त होता है। असिद्ध होने से नहीं होता है। जहि में ['हन्तेर्जः' (६.४.३६) सूत्र से] जभाव करने पर पूर्वोक्त हिलोप की प्राप्ति होने पर जभाव के असिद्ध होने से इनका निवारण होता है।

भा०—उत्सर्ग को मानकर होने वाले कार्य के सम्पादन के लिये। [इस प्रबन्ध के द्वारा यह ज्ञापित होता है कि यहाँ भी 'षत्वतुकोरसिद्धः' के समान शास्त्रासिद्धत्व

अस्तिशास्त्योरेत्त्वशाभावयोः कृतयोर्झल्लक्षणं धित्वं न प्राप्नोति। असिद्धत्वाद् भवति॥

अथ 'अत्र' ग्रहणं किमर्थम्?

अत्रग्रहणं विषयार्थम्॥ २॥

विषयः प्रतिनिर्दिश्यते। अत्रैतस्मिन्ना भाच्छास्त्र आ भाच्छास्त्रमसिद्धं यथा स्यात्। इह मा भूत्—अभाजि, रागः, उपबर्हणम् इति॥

कानि पुनरस्य योगस्य प्रयोजनानि?

प्रयोजनं शैत्त्वं धित्वे॥ ३॥

स्वीकार्य है, कार्यासिद्धत्व नहीं। यदि आदेश रूपी कार्य असिद्ध होता तो उत्सर्ग रूपी स्थानी का पुनः अभ्युत्थान नहीं हो सकता था। जैसा कि महाभाष्य में अन्यत्र कहा है—देवदत्त के मारने वाले को मारने पर देवदत्त का पुनर्जीवन नहीं होता। (न हि देवदत्तस्य हन्तरि हते देवदत्तस्य प्रादुर्भावो भवति)। अतः यहाँ शास्त्रासिद्धत्व मानते हुए इसकी सिद्धि की गई है।] जैसे एधि, शाधि। यहाँ अस् तथा शास् धातु को [नित्य होने के कारण क्रमशः 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' (६.४.११९) से] एत्व तथा ['शा हौ' (६.४.३५) से शा आदेश कर लेने पर झल् को मानकर होने वाला 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' (६.४.१०१) से धि आदेश नहीं पाता। [शास्त्र] असिद्ध होने से [पूर्ववर्ती स्थिति—अस्, शास् के उपलब्ध होने से] यह सम्पन्न हो जाता है।

अच्छा, यहाँ 'अत्र' ग्रहण किसलिये है?

वा०—'अत्र' ग्रहण विषय के लिये।

भा०—[इस 'अत्र' ग्रहण से इस सूत्र की प्रस्तुति का] विषय बताया जा रहा है। [एक ही अधिकार वाले दो सूत्र इस असिद्धत्व के विषय होंगे।] इस भाधिकार पर्यन्त शास्त्र के प्रति भाधिकार पर्यन्त शास्त्र वाला कोई अन्य सूत्र असिद्ध होवे। यहाँ न हो—अभाजि, रागः, उपबर्हणम्।

विवरण—'अभाजि' शब्द भञ्ज् धातु से लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। कर्म में चिण्, तलोप। 'अ भञ्ज् इ' इस दशा में 'भञ्जेश्च चिणि' (६.४.३३) से न लोप। यह नलोप 'अत उपधायाः' (७.२.११६) से इस दशा में 'घञि च भावकरणयोः' (६.४.२७) से नलोप होने पर वृद्धि के प्रति असिद्ध नहीं होता। 'उपबर्हणम्' में 'उपबृंह् अन' इस दशा में 'बृंहेरच्यनिटि' ('अनिदितां हल०' (६.४.२४) पर वार्तिक) से नलोप होने पर यह गुणविधि के प्रति असिद्ध नहीं होता।

भा०—[प्रसङ्गान्तर-] इस सूत्र के क्या प्रयोजन हैं?

वा०—प्रयोजन है, शाभाव तथा एत्व, धित्व के प्रति।

शाभाव एत्त्वं च धित्वे प्रयोजनम्। एधि, शाधीति। अस्तिशास्त्योरेत्त्वशाभावयोः कृतयोर्झल्लक्षणं धित्वं न प्राप्नोति। असिद्धत्वाद् भवति॥ शाभावस्तावन्न प्रयोजयति। एवं वक्ष्यामि—शास् हौ—शा हाविति। यत्वभूतः सकारस्तत्र साद्धित्वं 'धि च' (८.२.२५) इति सकारस्य लोपः। अथवा आ हाविति वक्ष्यामि। एवमपि सकारस्य प्राप्नोति? उपधाया इति वर्तते। उपधाया आत्वे कृते साद्धित्वम्, 'धि च' इति सकारलोपः। अथवा न हाविति वक्ष्यामि। तत्रेत्त्वे प्रतिषिद्धे साद्धित्वं धि चेति सकारलोपः॥ एत्त्वमपि लोपावादो विज्ञास्यते, न च सकारस्य लोपः प्राप्नोति॥

भा०—'धि' आदेश करने में शाभाव तथा एत्व का असिद्धत्व इस का प्रयोजन है। एधि, शाधि। 'एधि' में [अस् के स्थान में 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' (६.४.११९) से तथा 'शाधि' में ['शा हौ' (६.४.३५) से] क्रमशः एत्व तथा शा आदेश कर लेने पर झल् से उत्तर विधीयमान 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' (६.४.१०१) से धित्व नहीं प्राप्त होता। [एत्व, शा भाव के असिद्ध होने से] हो जाता है।

शाभाव के असिद्धत्व का प्रयोजन नहीं है। इस प्रकार कहेंगे—शास् हौ—शा हौ। [यहाँ शास् के सकार को रु आदेश के पश्चात् 'भोभगोअघो...' (८.३.१७) से] रु के रेफ को यत्व करके 'लोपः शाकल्यस्य' (८.३.१९) से यलोप किया गया है। [इस प्रकार 'शास हौ' के स्थान में 'शा हौ' रूप निष्पन्न होता है। सूत्र का अर्थ होगा—हि परे रहने पर शास् आदेश होता है। शास् के स्थान में शास् का प्रयोजन 'शास इदङ्हलोः' (६.४.३४) से प्राप्त इत्व-बाधन के लिये होगा] इस प्रकार स् से उत्तर झल् से उत्तर बन जाने से धि आदेश हो सकेगा। इसके पश्चात् 'धि च' से सकार का लोप हो जाएगा।

अथवा 'आ हौ' इस प्रकार कहेंगे। तब तो सकार के स्थान में आत्व प्राप्त होगा। [ऐसा होने पर आकार के स्थान में विधीयमान इत्व का निवारण नहीं हो सकेगा, यह आशय है।] उपधा की अनुवृत्ति है। तब उपधा को आत्व कर लेने पर [इत्व का निवारण कर लेने पर] सकार [झल्] से उत्तर धिभाव तथा 'धि च' से सकार-लोप होगा।

अथवा 'न हौ' इस प्रकार कहेंगे। इससे इत्व का प्रतिषेध होने पर सकार से उत्तर धित्व तथा 'धि-च' से सकार-लोप होगा।

एत्व को भी लोप का अपवाद समझा जाएगा। सकार का लोप प्राप्त नहीं होता। [एत्व-विधायक सूत्र में 'श्नसोरल्लोपः' (६.४.१११) की अनुवृत्ति द्वारा अस् के अकार-लोप के प्रसङ्ग में एत्व किया जाएगा। यह लोप सकार के स्थान में नहीं, अपितु अकार के स्थान में होता है। अतः अकार के स्थान में लोप को बाधकर उसके स्थान में एत्व किया जाएगा। पश्चात् पूर्वोक्त रीति से सकार से उत्तर धित्व तथा सकार-लोप होगा।]

करोतेर्हिलोप उत्त्वे प्रयोजनम्॥ ४॥

हिलोप उत्त्वे प्रयोजनम्। कुर्वित्यत्र हिलोपे कृते सार्वधातुकपर उकार इत्युत्त्वं न प्राप्नोति। असिद्धत्वाद्भवति॥ एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। वक्ष्यति तत्र सार्वधातुकग्रहणस्य प्रयोजनम्—सार्वधातुके भूतपूर्वमात्रेऽपि यथा स्यादुत्त्वम्॥

तास्तिलोपेण्यणादेशा अडाड्विधौ॥ ५॥

तलोपोऽस्तिलोप इणश्च यणादेशोऽडाड्विधौ प्रयोजनम्। अकारि, ऐहीति। तलोपे कृते लुङीत्यडाटौ न प्राप्नुतः। असिद्धत्वाद्भवतः। अस्तिलोप इणश्च यणादेशः प्रयोजनम्। आसन्, आयन्निति। इणस्त्योर्यणलोपयोः कृतयोरनजादित्वादाड् न प्राप्नोति। असिद्धत्वाद्भवति॥

वा०—करोति से हिलोप कर लेने पर उत्व में प्रयोजन है।

भा०—हिलोप कर लेने पर उत्व में प्रयोजन है। 'कुरु' यहाँ पर ['कृ उहि' इस दशा में नित्य होने से 'उतश्च प्रत्ययाद...' (६.४.१०६) से] हि लोप (=लुक्) कर लेने पर ['अत उत् सार्वधातुके' (६.४.११०) से] सार्वधातुक परे रहने पर विधीयमान उत्व प्राप्त नहीं होता। [हिलोप के असिद्ध होने अर्थात् हि के दृष्ट होने से] हो जाता है।

यह भी प्रयोजन नहीं है। वहाँ पर 'सार्वधातुक' ग्रहण का यह प्रयोजन दिया है कि भूतपूर्व सार्वधातुक होने पर भी उत्व हो जावे।

वा०—अट् आट् विधि में त अस्ति-लोप, इण् यणादेश प्रयोजन है।

भा०—अट् आट् विधान के प्रसङ्ग में तलोप, अस्तिलोप, इण् के स्थान में यणादेश का असिद्धत्व इस सूत्र का प्रयोजन है। [तलोप का उदाहरण—] अकारि, ऐहि—यहाँ तलोप कर लेने पर 'लुङि..' अट्,आट् नहीं पाते। ['अकारि' रूप कृ धातु कर्मवाच्य में लुङ् लकार प्रथम पुरुष, एकवचन में है। 'कारि त' इस दशा में 'चिणो लुक्' से त का लुक् कर लेने पर लुङ् को मानकर होने वाला अट् आगम प्राप्त नहीं होता। 'ऐहि' शब्द ईह् धातु से पूर्वोक्त रीति से 'ईहि त' बनने पर 'आडजादीनाम्' (६.४.७२) से आट् प्राप्त नहीं होता।

अस्ति-लोप तथा इण् का यणादेश भी असिद्धत्व में प्रयोजन है—आसन्, आयन्। इण् का यण् तथा अस्ति के [अकार का] लोप होने पर अनजादि होने के कारण आट् नहीं पाता। [यण् तथा लोप के] असिद्ध होने के कारण हो जाता है। [आसन् शब्द अस्-धातु कर्तृवाच्य में लङ् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन का रूप है। यहाँ 'अस् अन्त्' इस दशा में 'श्नसोरल्लोपः' (६.४.१११) से अकारलोप होने पर अजादि प्रयुक्त आट् आगम नहीं पाता। 'आयन्' में 'इ अन्त्' इस दशा में 'इणो यण्' (६.४.८१) से यण् के पश्चात् आट् की प्राप्ति नही होती।]

अस्तिलोपस्तावन्न प्रयोजयति। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति लोपादाड् बलीयानिति यदयं 'श्नसोरल्लोपः' (६.४. १११) इति तपरकरणं करोति। इण्यणादेशश्चापि न प्रयोजयति। यणादेशे योगविभागः करिष्यते। 'इणो यण्' भवति। तत 'एरनेकाचः'। एश्चानेकाच इणो यण् भवति। ततः 'असंयोगपूर्वस्य' असंयोगपूर्वस्य यणभवति। एरनेकाच इत्येव॥ सर्वेषामेष परिहारः—उपदेश इति वर्तते, तत्रोपदेशावस्थायामेवाडाटौ भवतः। अथवार्धधातुक इति वर्तते। अथवा लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडिति द्विलकारको निर्देशः। लुङादिषु लकारादिष्विति॥ सर्वथा ऐज्यत, औप्यतेति न सिध्यति। वक्ष्यत्येतद्—'अजादीनामटा सिद्धम्' इति॥

अनुनासिकलोपो हिलोपाल्लोपयोर्जभावश्च॥ ६॥

अस्तिलोप [असिद्धत्व का] प्रयोजन नहीं है। आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापित करती है कि लोप से आट् बलवान् होता है। यह जो 'श्नसोरल्लोपः' में तपरकरण किया है। [तपरकरण का प्रयोजन है कि आस्ताम्, आसन् इत्यादि में आट् कर लेने पर 'वार्णादाङ्गं बलीयः' परिभाषा के अनुसार एकादेश को बाधकर प्राप्त आकारलोप न हो। परन्तु यदि पहले लोप होता है तब तो अनजादि होने से आट् न होने से दीर्घ आकार के लोप की प्राप्ति ही नहीं है। फिर भी उसके निवारण के लिये तपरकरण ज्ञापित करता है कि लोप से पहले ही आट् हो जाता है।]

इण् के स्थान में यणादेश भी असिद्धत्व का प्रयोजन नहीं है। यणादेश में योगविभाग करेंगे—'इणो यण्' इण् के स्थान में यण् होता है। पश्चात् 'एरनेकाचः'—अनेकाच् इण् की इ को यण् होता है। [अब आट् के बिना यह इण् एकाच् नहीं बनता। अतः आट् पहले होता है, यह अनुमान होता है।] उसके पश्चात् 'असंयोगपूर्वस्य' असंयोगपूर्व इकार को यण् होता है। इसमें एरनेकाचः की अनुवृत्ति से यथाप्राप्त अर्थ होगा।

सबका परिहार यह है—'उपदेशे' की अनुवृत्ति है। अतः [अन्तरङ्ग विधियों को भी बाध कर] लुङ् आदि के उपदेश काल में ही अट्-आट् होते हैं। अथवा—'आर्धधातुके' की अनुवृत्ति है। [परन्तु कभी भी आर्धधातुक परे मिलता ही नहीं। अतः अनुवृत्तिसामर्थ्य से लादेश से पहले ही लुङ् उपदेश में ही अट्-आट् होंगे।] अथवा—लुङ् लङ्... इत्यादि में द्विलकारक निर्देश है। अतः लकार अवस्था में ही अट्, आट् होंगे। सर्वथा ऐज्यत, औप्यत सिद्ध नहीं होता [लावस्था में आट् मानने पर इस अवस्था में सम्प्रसारण न होने से अजादि न मिलने से आट् की प्राप्ति नहीं होती।] इस पर वहाँ (६.४.७४) कहा है—'अजादीनामटा सिद्धम्'। [अर्थ वहीं देखें]

वा०—हिलोप, अल्लोप में अनुनासिकलोप, जभाव भी।

अनुनासिकलोपो हिलोपाल्लोपयोर्जभावश्च प्रयोजनम्। आगहि, जहि। गतः, गतवानिति। अनुनासिकलोपे कृते जभावे च 'अतो हेः', 'अतो लोप' इति च लोपः प्राप्नोति। असिद्धत्वान्न भवति॥ अनुनासिकलोपस्तावन्न प्रयोजयति। अल्लोप 'उपदेश' इति वर्तते। यद्युपदेश इति वर्तते, धिनुतः, कृणुतः अत्र न प्राप्नोति? नैष दोषः। नोपदेशग्रहणेन प्रकृतिरभिसंबध्यते। किं तर्हि? आर्धधातुकमभिसंबध्यते। आर्धधातुकोपदेशे यदकारान्तमिति॥ जभावश्चापि न प्रयोजयति। हिलोपे योगविभागः करिष्यते। 'अतो हेः'। तत 'उतश्च'। उतश्च हेर्लुग्भवतीति। ततः 'प्रत्ययात्'। प्रत्ययादित्युभयोः शेषः॥

भा०—हिलोप तथा अल्लोप करने में अनुनासिकलोप तथा जभाव का असिद्धत्व प्रयोजन है। आगहि, जहि—यहाँ क्रमशः अनुनासिक-लोप तथा जभाव कर लेने पर 'अतो हेः' से हि का लोप पाता है। गतः, गतवान् में अनुनासिक लोप करने पर 'अतो लोपः' से लोप प्राप्त होता है। [विवरण इसी सूत्र में पूर्वोक्त है।] [अनुनासिक-लोप तथा जभाव के] असिद्ध होने से नहीं होता।]

अनुनासिक-लोप का असिद्धत्व प्रयोजन नहीं है। अल्लोप [के विधायक 'अतो लोपः' सूत्र में] उपदेश की अनुवृत्ति है। [अतः अनुनासिक लोप से पूर्व दशा में अङ्ग के अन्त में अकार होने पर ही उसका लोप होता है।] यदि उपदेश की अनुवृत्ति है तो धिनुतः...यहाँ [अकारलोप] नहीं पाता। [उपदेश की अनुवृत्ति आने पर सूत्र का अर्थ करेंगे—उपदेश में जो अकारान्त प्रकृति, उसके अन्त्य का लोप। 'धिनुतः' में 'धिन्व् तस्' इस दशा में 'धिन्विकृण्व्योर च' (३.१.८०) सूत्र से वकार के स्थान में अकार तथा उ विकरण होकर 'धिन् अ उ तस्' बनता है। यहाँ धातु प्रकृति उपदेश में अकारान्त न होने से इस अकार का लोप प्राप्त नहीं होता।]

यह दोष नहीं है। यहाँ उपदेश से प्रकृति को सम्बन्धित नहीं करेंगे। [पूर्वोक्त अर्थ।] तो फिर क्या? आर्धधातुक को सम्बन्धित करेंगे। [अर्थ होगा—आर्धधातुक उपदेश-काल में जो अकारान्त अङ्ग उसके अन्त्य का आर्धधातुक परे रहने पर लोप होता है। यहाँ 'उ' आर्धधातुक के प्रति अङ्ग बनने के साथ ही अकारान्तता उपस्थित है। अतः अकारलोप हो जाएगा।]

जभाव का असिद्धत्व भी प्रयोजन नहीं है। हिलोप में योग-विभाग करेंगे—'अतो हेः'। उसके पश्चात्—'उतश्च'—उकारान्त प्रत्यय से उत्तर हि का लुक् होता है। उसके पश्चात्—'प्रत्ययात्'—इसका सम्बन्ध दोनों सूत्रों के साथ होगा। अतः सूत्र का अर्थ होगा—अकारान्त प्रत्यय से उत्तर हि का लुक्। [पच, पठ में शप् अकारान्त प्रत्यय है। 'जहि' में 'ज' इस प्रकार का नहीं है। अतः यहाँ हिलोप नहीं होगा।]

अथ किमर्थमनुनासिकलोपो हिलोपाल्लोपयोर्जभावश्चेत्युच्यते, नानुनासिकलोपजभावावल्लोपहिलोपयोरित्येवोच्येत? संख्यातानुदेशो मा भूदिति। अनुनासिकलोपो हिलोपे प्रयोजयति। मण्डूकि ताभिरा गहि (मा०सं० १७.६)। रोहिदश्व इहागहि (मा०सं० ११.७२)। मरुद्भिरग्न आगहि॥

संप्रसारणमवर्णलोपे प्रयोजनम्॥ ७॥

संप्रसारणमवर्णलोपे प्रयोजनम्। मघोनः पश्य। मघोना, मघोने। संप्रसारणे कृते 'यस्य' इति लोपः प्राप्नोति। असिद्धत्वान्न भवति॥ नैतदस्ति प्रयोजनम्। वक्ष्यत्येतद्—मघवन्शब्दोऽव्युत्पन्नं प्रातिपदिकमिति॥

रेभाव आल्लोपे॥ ८॥

रेभाव आल्लोपे प्रयोजनम्। कं स्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपः (ऋ०

अच्छा यहाँ अनुनासिकलोपो.... इस प्रकार [वार्तिकोक्त] न्यास क्यों किया गया है? क्यों न यहाँ [वार्तिकार्थ के समतुल्य अनुनासिकलोप...इस प्रकार न्यास किया जावे? सङ्ख्यातानुदेश न हो। हिलोप करने में अनुनासिकलोप का असिद्धत्व प्रयोजन है—मण्डूकि ताभिरागहि।

विवरण—स्थिति इस प्रकार है—

१. अल्लोप करने में अनुनासिकलोप का असिद्धत्व—गतः, गतवान्

२. हिलोप करने में अनुनासिकलोप का असिद्धत्व—आगहि

३. हिलोप करने में जभाव का असिद्धत्व—जहि।

इस प्रकार हिलोप का सम्बन्ध अनुनासिकलोप, जभाव दोनों के साथ होने से सङ्ख्यातानुदेश नहीं है।

वा०—अवर्ण-लोप करने में सम्प्रसारण का असिद्धत्व प्रयोजन है।

भा०—सम्प्रसारण [का असिद्धत्व] अवर्ण-लोप में प्रयोजन है। मघोनः पश्य...। सम्प्रसारण कर लेने पर 'यस्येति च' से लोप प्राप्त होता है। ['मघमस्यास्ति' इस विग्रह के अनुसार 'छन्दसीवनिपौ च' ('केशाद्वोन्यतरस्याम्' ५.२.१०९ पर वार्तिक) से वनिप्। मघ वन् अस् इस दशा में 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' (६.४.१३३) से सम्प्रसारण, पूर्वरूप कर लेने पर 'मघ उन् अस्' इस दशा में 'यस्येति च' से अकारलोप प्राप्त होता है।

आगे कहेंगे कि 'मघवन्' अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है। [अतः 'वन्' के तद्धित न होने से तद्धित परे रहने पर विधीयमान यस्येति लोप नहीं होगा।]

वा०—आल्लोप में रे भाव असिद्धत्व का प्रयोजन है।

भा०—कंस्विद् गर्भं प्रथमं दध्र आपः (ऋग्वेद १०.८२.५) [अर्थ—जल ने सर्वप्रथम गर्भ-धारण किया। सृष्टि के आदि में सर्वप्रथम जल में जीवन उत्पन्न

१०.८२.५)। रेभावे कृत 'आतो लोप इटि च' (६.४.६४) इत्याकारलोपो न प्राप्नोति। असिद्धत्वाद्भवति॥ एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। छान्दसो रेभावो लिट् च च्छन्दसि सार्वधातुकमपि भवति। तत्र सार्वधातुकमपिन्ङिद्भवतीति ङित्त्वं 'श्नाभ्यस्तयोरातः' (६.४.११२) इत्याकारलोपो भवति॥

यदि तर्ह्ययं योगो नारभ्यते—

उत्तु कृञः कथमोर्विनिवृत्तौ

इह—कुर्वः, कुर्मः, कुर्याद्—इत्युकारलोपे कृते सार्वधातुकपर उकार इत्युत्त्वं न प्राप्नोति॥

णेरपि चेटि कथं विनिवृत्तिः ?

होने का सिद्धान्त प्रतिपादित है। इसका अनुसरण करते हुए मनुस्मृति में इस अर्थ में 'नारायण' नाम प्रतिपादित किया। वहाँ कहा है कि 'नार' का अर्थ जल है। वह सम्पूर्ण जीवन का अयन=निवास-स्थान होने से नारायण है। **ता यदस्यायानं पूर्वं तस्मान्नारायणः स्मृतः।**—मनुस्मृति (१.१०)।]

[यहाँ 'दध्रे' में धा धातु लिट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन में 'धा इरे' इस दशा में 'इरयो रे' (६.४.७६) सूत्र से] [नित्य होने से] रे भाव पहले कर लेने पर 'आतो लोप इटि च' से [अजादि परे न मिलने से] अकार-लोप नहीं प्राप्त होता। [रे के] असिद्ध होने से हो जाता है।

यह भी प्रयोजन नहीं है। रे भाव छान्दस है। लिट् लकार छन्द में ['छन्दस्यु-भयथा' (३.४.११७) सूत्र के अनुसार] सार्वधातुक भी होता है। तब 'सार्वधातुक-मपित्' (१.२.४) से ङित्त्व होने पर [सार्वधातुक क्ङित् परे रहने पर] 'श्नाभ्यस्त-योरातः' से आकारलोप होगा।

अच्छा यदि यह सूत्र नहीं है तो—

का०—[१. दोष]—उत्व की विनिवृत्ति होने पर कृञ् को उत्व किस प्रकार?

भा०—यहाँ कुर्वः.....में ['लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः' (६.४.१०७) सूत्र से] उकारलोप कर लेने पर सार्वधातुकपरक उकार (=ऐसा उकार जिसके परे सार्वधातुक हो) नहीं है, अतः उत्व नहीं पाता। ['अत उत् सार्वधातुके' (६.४.११०) में 'उतश्च प्रत्ययात्...' (६.४.१०६) से उतः की अनुवृत्ति लाकर सप्तमी में विपरिणमित करेंगे। अतः अर्थ होगा—सार्वधातुकपरक उकार परे रहने पर कृ के अकार को उकार। उकारलोप होने पर यह स्थिति न मिलने से उत्व प्राप्त नहीं होता।]

का०—[२. दोष—] इट् परे रहने पर णि का किस प्रकार विनिवृत्ति=लोप हो सकेगा?

इह च कारयतेः कारिष्यते 'णेरनिटि' (६.४.५१) इति णिलोपो न प्राप्नोति॥

अब्रुवतस्तव योगमिमं स्याल्लुक् च चिणो नु कथं न तरस्य ?

इह च अकारितराम्, अहारितरामिति चिण उत्तरस्य तरस्य लुक्कथं न स्यात्।

चं भगवान्कृतवांस्तु तदर्थं तेन भवेदिटि णेर्विनिवृत्तिः।

इह—'स्यसिच्सीयुट्तासिषु भावकर्मणोरुपदेशेऽज्झनग्रहदृशां वा चिण्वदिट् च' (६.४.६२)। किं च ? णिलोपश्च॥

म्वोरपि ये च तथाप्यनुवृत्तौ

इहापि—कुर्वः, कुर्मः, कुर्याद्—इति म्वोर्ये चेति एदप्यनुवर्तिष्यते॥

चिण्लुकि च क्ङित्त एव हि लुक् स्यात्॥

भा०—यहाँ 'कारि' इस णिजन्त धातु से [कर्मवाच्य में लृट् लकार में 'स्यसिच्सीयुट्....' (६.४.६२) से चिण्वदिट् होने पर 'कारि इ स्य' इस दशा में] 'कारिष्यते' रूप के लिये 'णेरनिटि' से णिलोप नहीं पाता। [अतः इट् का असिद्धत्व आवश्यक है।]

का०—[३. दोष—] तुम्हारे इस ['असिद्धवदत्राभात्' सूत्र के] न कहने पर चिण् से उत्तर तर का लुक् क्यों न होवे ?

भा०—यहाँ 'अकारितराम्...' में ['चिणो लुक्' (६.४.१०४) से] चिण् से उत्तर 'तर' का लुक् क्यों न होवे ? ['असिद्धवत्...' सूत्र होने पर तलोप के असिद्ध होने से उसका व्यवधान होने से तर-लोप नहीं होगा।]

[२ दोष की समाधान कारिका—[उपरिलिखित णिलोप के लिये] भगवान् पाणिनि ने स्यसिच्.... सूत्र में 'च' का प्रयोग किया है। इससे इस इट् के परे रहने पर णि का विलोप सिद्ध होगा।

यहाँ 'स्यसिच्...चिण्वदिट् च' इस प्रकार 'च' कहा है। यहाँ 'च' किस अतिरिक्त के सङ्ग्रह के लिये ? णिलोप भी। [इससे जहाँ चिण्वद्भाव होकर इट् होगा, वहाँ णिलोप भी होगा।]

[१. दोष की समाधान] **का०**— 'म्वोः' तथा 'ये च' की भी अनुवृत्ति होने पर सिद्ध होगा।

भा०—यहाँ कुर्वः...इत्यादि के लिये पूर्व सूत्रों में 'म्वोः' तथा 'ये च' उल्लिखित है, उसका भी अनुवर्तन करेंगे। अतः मकार, वकार तथा यकार परे रहने पर भी उत्व हो सकेगा।

[३. दोष की समाधान] **का०**—चिण्लुक् के प्रसङ्ग में भी क्ङित् का ही लुक् होगा।

चिण्लुक्यपि प्रकृतं क्ङिद्ग्रहणमनुवर्तते। क्व प्रकृतम्? 'गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि' (६.४.९८) इति। तद्वै सप्तमीनिर्दिष्टम्, षष्ठीनिर्दिष्टेन चेहार्थः? चिण इत्येषा पञ्चमी क्ङितीति सप्तम्याः षष्ठीं प्रकल्पयिष्यति तस्मादित्युत्तरस्य (१.१.६७) इति॥

उत्तु कृञः कथमोर्विनिवृत्तौ णेरपि चेटि कथं विनिवृत्तिः?
अब्रुवतस्तव योगमिमं स्याल्लुक् च चिणो नु कथं न तरस्य?
चं भगवान्कृतवांस्तु तदर्थं तेन भवेदिटि णेर्विनिवृत्तिः।
म्वोरपि ये च तथाप्यनुवृत्तौ चिण्लुकि च क्ङित्त एव हि लुक् स्यात्॥

आरभ्यमाणेऽप्येतस्मिन्योगे—

सिद्धं वसुसंप्रसारणमज्विधौ॥ ९॥

वसोः संप्रसारणमज्विधौ सिद्धं वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? पपुषः पश्य। तस्थुषः पश्य। निन्युषः पश्य। चिच्युषः पश्य। लुलुवुषः पश्य। पुपुवुषः पश्येति। वसोः संप्रसारणे कृतेऽचीत्याकारलोपादीनि यथा स्युरिति॥

भा०—चिण् लुक् विधायक 'चिणो लुक्' सूत्र में प्रकृत क्ङित् ग्रहण का अनुवर्तन है। कहाँ से प्रकृत है? 'गमहन...क्ङित्यनङि' सूत्र से वह तो सप्तमीनिर्दिष्ट है, यहाँ षष्ठीनिर्दिष्ट से प्रयोजन है? ['चिण् से उत्तर क्ङित् का लुक्' यह अर्थ अभीष्ट है।] 'चिणः' यह पञ्चमी क्ङिति इस सप्तमी को षष्ठी में बदल देगी—'तस्मादित्युत्तरस्य' के अनुसार।

[इस प्रकार सूत्र-प्रयोजन के अन्यथा सिद्ध होने पर तथा सूत्र के अभाव में सभी दोषों का समाधान होने पर सूत्र अनावश्यक सिद्ध होता है। फिर भी अवबोध में काठिन्य तो होता ही है। अतः—]

सूत्र के आरम्भ करने पर भी—

वा०—अच् विधि में वसु-सम्प्रसारण सिद्ध।

भा०—अच् को निमित्त मान कर सम्पन्न होने वाली विधियों के प्रति सम्प्रसारण को सिद्ध कहना चाहिये। क्या प्रयोजन है? पपुषः पश्य...। [पा धातु से लिट् लाने पर उसके स्थान में 'क्वसुश्च' (३.२.१०७) से क्वसु आदेश, धातु को द्विर्वचन होने पर द्वितीया बहुवचन विभक्ति में प पा वस् अस्' इस दशा में 'वसोः सम्प्रसारणम्' (६.४.१३१) से वसु के वकार को सम्प्रसारण होने पर 'आतो लोप इटि च' (६.४.६४) से पा के आकार का लोप करना है। पर यदि सम्प्रसारण असिद्ध हो तो प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि अजादि परे नहीं मिल सकेगा। आगे लुलुवुषः पश्य...इत्यादि लू धातु से हैं। यहाँ अजादि को मानकर 'अचि श्नु...' (६.४.७७) से उवङ् प्राप्त नहीं होता।]

किं पुनः कारणं न सिध्यन्ति?

बहिरङ्गलक्षणत्वादसिद्धत्वाच्च॥ १०॥

बहिरङ्गलक्षणं चैव हि वसुसंप्रसारणमसिद्धं च॥

आत्त्वं यलोपाल्लोपयोः पशुषो न वाजान् चाखायिता चाखायितुम्॥ ११॥

आत्त्वं यलोपाल्लोपयोः सिद्धं वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? पशुषो न वाजान् (ऋ० ५.४१.१)। पशुष इत्यात्त्वस्यासिद्धत्वाद् 'आतो धातोः' (६.४.१४०) इत्याकारलोपो न प्राप्नोति। चाखायिता, चाखायितुमित्यात्त्वस्यासिद्धत्वाद् 'यस्य हलः' (६.४. ४९) इति यलोपः प्राप्नोति॥

समानाश्रयवचनात्सिद्धम्॥ १२॥

समानाश्रयमसिद्धं भवति व्याश्रयं चैतत्। इह तावत्—पपुषः पश्य, तस्थुषः पश्य, निन्युषः पश्य, चिच्युषः पश्य, लुलुवुषः पश्य, पुपुवुषः पश्येति वसावाकारलोपादीनि वस्वन्तस्य विभक्तौ संप्रसारणम्।

क्या कारण है कि सिद्ध नहीं होता?

वा०—बहिरङ्गलक्षणत्व तथा असिद्धत्व होने से।

भा०—वसु-सम्प्रसारण बहिरङ्गलक्षण भी है तथा इस सूत्र से असिद्ध भी है। [अतः अजादि परे न मिलने से प्राप्त नहीं होता।]

वा०—यलोप, आल्लोप में आत्व, पशुषो...आदि के लिये।

भा०—यलोप तथा आल्लोप विधियों के करने में आत्व को सिद्ध कहना चाहिये। क्या प्रयोजन है? पशुषो...। [यहाँ 'पशुं सनोति' विग्रह के अनुसार 'जनसनखनक्रमगमो विट्' (३.२.६७) से विट्। 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (६.४.४१) से अनुनासिक को आकार। 'पशु स आ अस्' इस दशा में एकादेश के पश्चात्] आत्व के असिद्ध होने से 'आतो धातोः' से आकारलोप प्राप्त नहीं होता। चाखायिता [यहाँ खन् धातु से यङ् 'खन् य' इस दशा में 'ये विभाषा' (६.४.४३) से नकार के स्थान में आकार, द्विर्वचन तथा तृच् प्रत्यय होकर 'चा खा य इ तृ' रूप बनने पर आत्व के असिद्ध होने से [हल् से उत्तर यकार के प्राप्त हो जाने से 'यस्य हलः' से यलोप प्राप्त होता है।]

वा०—समानाश्रय-वचन से सिद्ध है।

भा०—समानाश्रय-असिद्ध होता है, व्याश्रय नहीं। [जिसे असिद्ध करना है, वह तथा जिस विधि के प्रति असिद्ध करना है, वह विधि—इन दोनों का निमित्त अथवा आश्रय समान होने पर असिद्ध होता है, विपरीत स्थिति में नहीं।] यहाँ पपुषः पश्य... में वसु परे रहने पर आकारलोप आदि करना है, वस्वन्त का विभक्ति परे रहने पर सम्प्रसारण होता है।

पशुष इति विट्यात्त्वं विडन्तस्य विभक्तावाकारलोपः। चाखायिता, चाखायितुमिति यङ्यात्त्वं यङन्तस्य चार्धधातुके लोप इति॥ किं वक्तव्यमेतत्? न हि। कथमनुच्यमानं गंस्यते? अत्रग्रहणसामर्थ्यात्॥ ननु चान्यदत्रग्रहणस्य प्रयोजनमुक्तम्? किमुक्तम्? अत्रग्रहणं विषयार्थमिति। अधिकारादप्येतत् सिद्धम्॥

इह पपुषः, चिच्युषः, लुलुवुषः, द्वौ हेतू व्यपदिष्टौ—बहिरङ्गलक्षणत्वं चासिद्धत्वं चेति। तत्र भवेदसिद्धत्वं प्रत्युक्तं बहिरङ्गलक्षणं तु नैव प्रत्युक्तम्? नैष दोषः। बहिरङ्गमन्तरङ्गमिति च प्रतिद्वन्द्विभाविनावेतावर्थौ। कथम्? सत्यन्तरङ्गे बहिरङ्गम्, सति च बहिरङ्गेऽन्तरङ्गम्। न चात्रान्तरङ्गबहिरङ्गयोर्युगपत्समवस्थानमस्ति। नानभिनिर्वृत्ते बहिरङ्गेऽन्तरङ्गं प्राप्नोति। तत्र निमित्तमेव बहिरङ्गमन्तरङ्गस्य॥

'पशुषः' यहाँ विट् परे रहने पर आत्व होता है, विडन्त का विभक्ति परे होने पर आकारलोप होता है। 'चाखायिता...' यहाँ पर यङ् परे रहने पर आत्व होता है, यङ्न्त का आर्धधातुक परे रहने पर लोप होता है।

क्या इसे कहा जावे? नहीं। कहे बिना कैसे प्रतीति होगी? 'अत्र' ग्रहण सामर्थ्य से। 'अत्र' ग्रहण का तो अन्य प्रयोजन कहा था? क्या कहा था? 'अत्र' ग्रहण विषयार्थ है। यह तो अधिकार से भी सिद्ध है। [अतः यहाँ असिद्धत्व नहीं होगा।]

यहाँ पपुषः...आदि में [सिद्धत्व के] दो हेतु बताए गये थे—१. बहिरङ्गलक्षणत्व तथा २. 'असिद्धवदत्राभात्'। तो २. असिद्धत्व का तो निवारण कर दिया, परन्तु बहिरङ्गलक्षणत्व का तो निवारण नहीं किया। [अतः उस परिभाषा से तो असिद्धत्व पाता ही है।]

बहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग ये दोनों एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी [सापेक्ष] शब्द हैं। किस प्रकार? अन्तरंग के होने पर [उसकी दृष्टि से] बहिरङ्ग होता है। बहिरङ्ग होने पर [उसकी दृष्टि से] अन्तरङ्ग होता है। यहाँ अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग की एक साथ उपस्थिति नहीं है। यहाँ बहिरङ्ग के निर्मित हुए बिना अन्तरङ्ग प्राप्त नहीं होता। अतः बहिरङ्ग अन्तरङ्ग का निमित्त ही है, [सापेक्ष नहीं।]

विवरण—जिस काल में किसी (१) की बहिरङ्गता दिखाई गई है, उसी (१) काल में उस बहिरङ्ग के सापेक्ष किसी को अन्तरङ्ग कहा जाएगा। बहिरङ्ग के असमकाल में अन्तरङ्ग के होने पर उनमें परस्पर बहिरङ्ग-अन्तरङ्गभाव ही नहीं होगा। पिता के सापेक्ष पुत्रभाव होने से दोनों समकाल में उपस्थित होते हैं। पपुषः में जिस काल में बहिरङ्ग कहे जाने वाले सम्प्रसारण की निर्मिति होती है, उस काल

ह्रस्वयलोपाल्लोपाश्चायादेशे ल्यपि सिद्धा वक्तव्याः॥ १३॥

ह्रस्वयलोपाल्लोपाश्चायादेशे ल्यपि सिद्धा वक्तव्याः। प्रशमय्य गतः, प्रतमय्य गतः। प्रबेभिदय्य गतः, प्रचेच्छिदय्य गतः। प्रस्तनय्य गतः। प्रगदय्य गतः। ह्रस्वयलोपाल्लोपानामसिद्धत्वाद् 'ल्यपि लघुपूर्वात्' (६.४.५६) इत्ययादेशो न प्राप्नोति॥ अत्राप्येष परिहारः—समानाश्रय-वचनात्सिद्धमिति। कथम्? णावेते विधयो णेर्ल्यप्ययादेशः॥

वुग्युटावुवङ्यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ॥ १४॥

वुग्युटावुवङ्यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ। बभूवतुः, बभूवुः। वुकोऽसिद्धत्वा-

---

में अन्तरङ्ग के रूप में प्रस्तुत किये जाने वाले आकारलोप की वर्तमानता नहीं है। अपितु यह सम्प्रसारण के पश्चात् उसे निमित्त मानकर बाद में निर्मित होता है। अतः यह परिभाषा यहाँ प्रस्तुत नहीं हो सकती।

वा०—ल्यप् परे रहने पर अयादेश के प्रति ह्रस्व, यलोप, अल्लोप को सिद्ध कहना चाहिये।

भा०—ल्यप् के परे रहते अयादेश के करने में ह्रस्व, यलोप तथा अलोप को सिद्ध कहना चाहिए। प्रशमय्य गतः...। [प्र उपसर्गपूर्वक णिजन्त शम् धातु से क्त्वा, उसके स्थान में ल्यप्। उपधावृद्धि का 'मितां ह्रस्वः' (६.४.९२) से ह्रस्व। 'प्र शमि य' इस दशा में] ह्रस्व के असिद्ध होने से 'ल्यपि लघुपूर्वात्' से अयादेश प्राप्त नहीं होता। प्रबेभिदय्य में [प्र बेभिद्य इस यङन्त धातु से णिच् करने पर 'प्रबेभिद्य+इ' इस दशा में धातु से क्त्वा, उसके स्थान में ल्यप् करने पर 'प्र बेभिद्य इ य' इस दशा में 'यस्य हलः' (६.४.४९) से यकार-लोप कर लेने पर 'प्र बेभिद् इ य' इस स्थिति में यकार-लोप के असिद्ध होने से यकार के साथ व्यवधान होने के कारण लघुपूर्व से उत्तर णिच् के न मिलने से पूर्वोक्त सूत्र से अयादेश प्राप्त नहीं होता। 'प्रस्तनय्य' में प्र स्तन इ य इस दशा में 'अतो लोपः' (६.४.४८) से अकार-लोप कर लेने पर इस अलोप के असिद्ध होने से अकार के व्यवधान होने से अयादेश प्राप्त नहीं होता।]

यहाँ भी यही परिहार है—समानाश्रय-वचन से सिद्ध है। किस प्रकार? ये ह्रस्व आदि विधियाँ णि परे रहने पर हैं तथा ल्यप् परे रहने पर णि के स्थान में अयादेश है।

वा०—उवङ् यण् के प्रति वुक्, युट् को सिद्ध कहना चाहिये।

भा०—उवङ् और यण् के करने में वुक् और युट् को सिद्ध कहना चाहिए। बभूवतुः...। ['ब भू अतुस्' इस दशा में 'भुवो वुग्लुङ्लिटोः' (६.४.८८) से वुक् करने पर 'बभूव् अतुस्' इस दशा में] वुक् के असिद्ध होने से ['अचि श्नु...' सूत्र

दुवङादेशः प्राप्नोति। उपदिदीये, उपदिदीयाते। युटोऽसिद्धत्वाद्यणादेशः प्राप्नोति॥ वुकस्तावन्न वक्तव्यम्। वुकं न वक्ष्यामि। एवं वक्ष्यामि— 'भुवो लुङ्लिटोरूदुपधाया' इति। अत्रोवङादेशे कृते या उपधा तस्या ऊत्त्वं भविष्यति॥ एवमपि कुतो नु खल्वेतदुवङादेशे कृते या उपधा तस्या ऊत्त्वं भविष्यति, न पुनः साम्प्रतिकी या उपधा तस्याः स्याद्भकारस्येति? नैष दोषः। ओरिति वर्तते, तेनोवर्णस्य भविष्यति॥ भवेत्सिद्धं बभूवतुः, बभूवुः। इदं तु न सिध्यति—बभूव, बभूविथेति। किं कारणम्? गुणवृद्ध्योः कृतयोरुवर्णाभावात्। नात्र गुणवृद्धी प्राप्नुतः। किं कारणम्? 'क्ङिति च' (१.१.५) इति प्रतिषेधात्। कथं कित्त्वम्? 'इन्धिभवतिभ्यां च' (१.२.६) इति। तद्वै वयं कित्त्वं प्रत्याचक्ष्महे वुका। इह तु कित्त्वेन वुक् प्रत्याख्यायते। किं पुनरत्र न्याय्यम्? वुग्वचनमेव न्याय्यम्। सत्यपि हि कित्त्वे स्यातामेवात्र गुणवृद्धी। किं कारणम्? इग्लक्षणयोर्गुणवृद्ध्योः स प्रतिषेधो, न चैषेग्लक्षणा वृद्धिः॥

से] उवङ् आदेश पाता है। उपदिदीये... में ['उप दि दी ए' इस दशा में 'दीङो युडचि क्ङिति' (६.४.६३) से युट् होने पर 'उप दिदीय् ए' इस दशा में युट् के असिद्ध होने से यणादेश प्राप्त होता है।

वुक् का सिद्धत्व कहने की आवश्यकता नहीं। 'वुक्' आगम नहीं कहेंगे। इस प्रकार कहेंगे—लुङ्, लिट् परे रहने पर भू की उपधा को दीर्घ ऊकार आदेश होता है। यहाँ उवङ् आदेश करने पर जो उपधा उसे ऊकार हो जाएगा।

इस पर भी यह किस प्रकार—उवङ् आदेश करने के पश्चात् जो उपधा उसे ऊत्व होगा, ऐसा क्यों नहीं कि वर्तमान में जो उपधा है, उसे अर्थात् भकार के स्थान में ऊकार हो? यह दोष नहीं है—'ओः' की अनुवृत्ति है। अतः भू की जो उकार उपधा उसे ऊत्व होगा।

ठीक है—यह तो सिद्ध होगा—बभूवतुः...। यह तो सिद्ध नहीं होगा—बभूव...। क्या कारण है? गुण-वृद्धि करने पर उकार का अभाव होने से। यहाँ गुण, वृद्धि नहीं पाते। क्या कारण है? 'क्ङिति च' प्रतिषेध होने से। कित्व किस प्रकार है? 'इन्धिभवतिभ्यां च' से। वहाँ पर वुक् के आधार पर कित्व का प्रत्याख्यान किया है। ['इन्धि...' सूत्र में 'भुवो वुको नित्यत्वात् ताभ्यां किद्वचनानर्थक्यम्' इस वार्तिक से सूत्रोक्त कित्व-शासन का प्रत्याख्यान है।] यहाँ पर कित्व के आधार पर वुक् का प्रत्याख्यान कर रहे हैं।] क्या समुचित है? वुक् वचन ही समुचित है। कित्त्व होने पर भी यहाँ गुण, वृद्धि होते ही। क्या कारण है? वहाँ ['क्ङिति च' में] इग्लक्षण गुण, वृद्धि का प्रतिषेध है, यह इग्लक्षण वृद्धि नहीं है।

एवं तर्हि नार्थो वुका नापि कित्त्वेन। स्तामत्र गुणवृद्धी गुणवृद्ध्योः कृतयोरवावोश्च कृतयोर्योपधा तस्या ऊत्त्वं भविष्यति। कथम्? ओरित्यत्रावर्णमपि प्रतिनिर्दिश्यते। इहापि तर्हि प्राप्नोति—कीलालपः पश्य। शुभंयः पश्येति। लोपोऽत्र बाधको भविष्यति। इह तर्हि प्राप्नोति—कीलालपौ, कीलालपा इति। एवं तर्हि व्योरिति वर्तते, तेनोवर्णं विशेषयिष्यामः—व्योः—ओः इति। इहेदानीमोरित्यनुवर्तते, व्योरिति निवृत्तम्॥

विवरण—यदि यहाँ वुक् न कह कर कित्त्व का शासन करें तो सभी रूप सिद्ध नहीं हो पाएँगे। 'बभूव' यहाँ 'ब भू अ' इस दशा में उवङ् नहीं, अपितु 'अचो ञ्णिति' (७.२.११५) से वृद्धि पाएगी। यहाँ 'क्ङिति च' नहीं लग पाएगा। क्योंकि यह इग्लक्षण वृद्धि नहीं है। 'इन्धिभवतिभ्यां च' की सार्थकता बभूविथ तथा उत्तम पुरुष के 'बभूव' के लिये होगी। क्योंकि वहाँ इग्लक्षण गुण की प्राप्ति है। उत्तम पुरुष एकवचन में भी 'णलुत्तमो वा' (७.१.९१) से एक पक्ष में णित् न होने से गुण की प्राप्ति है। इस प्रकार यहाँ भाष्यकार का यह वचन 'कित्त्व होने पर भी गुण, वृद्धि होते होते ही' यह केवल प्रथम पुरुष एकवचन के 'बभूव' तक ही सीमित है।

भा०—तब तो फिर न तो वुक् की, न ही कित्त्व की आवश्यकता है। यहाँ गुण, वृद्धि हो जावें। गुण, वृद्धि कर लेने पर तथा अव्, आव् आदेश कर लेने पर उसे [पूर्व-प्रकल्पित सूत्र से] ऊत्व हो जाएगा। किस प्रकार? 'ओः' यहाँ अवर्ण का भी प्रतिनिर्देश है। ['ओः' यह रूप अ+उ का 'आद्गुणः' (६.१.८७) से गुण के पश्चात् ओ अस् इस दशा में 'ङसिङसोश्च' (६.१.११०) से पूर्वरूप द्वारा निर्मित मान्य होगा।]

तब तो ['ओः सुपि' (६.४.८३ सूत्र से)] कीलालपः पश्य...। यहाँ भी [आकार के स्थान में यण्] पाएगा। [समाधान-] यहाँ 'आतो धातो' (६.४.१४०) से लोप बाधक हो जाएगा। अच्छा तो फिर 'कीलालपौ...' [यहाँ भ संज्ञा न होने से 'आतो धातोः' की प्राप्ति न होने पर यण् पाएगा।] अच्छा तो फिर 'व्योः' की अनुवृत्ति है। [वास्तव में 'अचि श्नु...' से 'य्वोः' की अनुवृत्ति है। उसका वर्णविपर्यय से 'व्योः' कहा है।] इससे उवर्ण को विशेषित करेंगे—व्योः ओः [अर्थात् उ इ के अन्तर्गत आने वाले जो अ उ अर्थात् केवल उकार को यण् होता है। खींचतान की पराकाष्ठा है। पहले सन्धि द्वारा 'ओः' के अन्तर्गत अकार को सम्मिलित कर रहे हैं। फिर उसी सूत्र में व्योः के द्वारा अकार का निवारण भी कर रहे हैं!! यह सब आगे नव-प्रकल्पित सूत्र से समुचित कार्य प्राप्त करने के लिये है।] इसके पश्चात् नव-प्रकल्पित सूत्र—'भुवो लुङ्लिटोरूदुपधायाः' में ओः की अनुवृत्ति है, व्योः की अनुवृत्ति समाप्त हो गई। [इससे उपधा अकार को ऊत्व सिद्ध होगा। इससे

युटश्चापि न वक्तव्यम्। युड्वचनसामर्थ्यान्न भविष्यति। अस्त्यन्यद्युड्वचने प्रयोजनम्। किम्? द्वयोर्यकारयोः श्रवणं यथा स्यात्। न व्यञ्जनपरस्यानेकस्यैकस्य वा यकारस्य श्रवणं प्रति विशेषोऽस्ति॥

किं पुनः प्राग्भादसिद्धत्वमाहोस्वित्सह तेन? कुतः पुनरयं संदेहः? आङायं निर्देशः क्रियते, आङ्च पुनः संदेहं जनयति। तद्यथा—आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो देव इति संदेहः—किं प्राक् पाटपुित्रात्सह तेनेति? एवमिहापि संदेहः— प्राग्भात्सह तेनेति? कश्चात्र विशेषः?

प्राग्भादिति चेत्शुनामघोनाभूगुणेषूपसंख्यानम्॥ १५॥

प्राग्भादिति चेच्शुनामघोनाभूगुणेषूपसंख्यानं कर्तव्यम्। शुनः पश्य। शुना शुने। संप्रसारणे कृते, 'अल्लोपोऽनः' (६.४.१३४) इति प्राप्नोति।

वुट् आगम नहीं कहना होगा। तब उसके सिद्धत्व कहने की भी आवश्यकता नहीं होगी।]

युट् का भी सिद्धत्व कहने की आवश्यकता नहीं। युट्वचन सामर्थ्य से नहीं होगा। [यदि युट् के असिद्ध होकर यणादेश हो, तब तो युट् वचन ही व्यर्थ होने लगेगा।] युट् वचन में अन्य प्रयोजन है। क्या? दो यकार का [युट् तथा यणादेश से प्राप्त का] श्रवण हो सके। [समाधान-] व्यञ्जन से परे एक या अनेक यकार के श्रवण में कोई भेद नहीं है। [साथ ही यदि दो यकार का श्रवण प्राप्त करना ही हो, तो उसके लिये 'द्विर्वचने यणो मयः' ('अनचि च' ८.४.४७ पर वार्त्तिक) से द्विर्वचन उपस्थित ही है। इस प्रकार इस प्रबन्ध से सिद्ध है कि युट् के सिद्धत्व विधान की भी आवश्यकता नहीं है।]

[प्रसङ्गान्तर-] क्या 'भ' अधिकार से पहले तक असिद्ध होता है, अथवा उसे सम्मिलित करके? यह सन्देह किस प्रकार है? यहाँ आङ्से निर्देश किया गया है। यह आङ्सन्देह उत्पन्न करता है। ['निपात एकाजनाङ्' (१.१.१४) सूत्र की कारिका में बताया है कि आङ्मर्यादा, अभिविधि दोनों अभिधेय में होता है।] जैसे—आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः, यहाँ सन्देह हो सकता है कि पाटलिपुत्र से पहले या उसे सम्मिलित करके। [क्योंकि उसके दोनों अर्थ हैं।] इसी प्रकार यहाँ भी सन्देह है—'भ' से पहले, उसे लेकर के? इन पक्षों में क्या विशेष है?

वा०—भ से पूर्व है तो शुना, मघोना, भूगुण में उपसङ्ख्यान।

भा०—भ से पूर्व होने पर शुना, मघोना, भूगुण में उपसङ्ख्यान करना चाहिए। शुनः पश्य...। ['श्वन् अस्' इस दशा में 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' (६.४.१३३) से] सम्प्रसारण कर लेने पर [श् उ अन् अस् इस दशा में 'वार्णादाङ्गं बलीयः' के अनुसार पूर्वरूप को बाधकर] 'अल्लोऽपोऽनः' से अकारलोप प्राप्त होता है।

यस्य पुनः सह तेनासिद्धत्वमसिद्धत्वात्तस्य 'न संयोगाद्वमन्तात्' (१३७) इति प्रतिषेधो भविष्यति॥ यस्यापि प्राग्भादसिद्धत्वं तस्याप्येष न दोषः। कथम्? नास्त्यत्र विशेषोऽल्लोपेन वा निवृत्तौ सत्यां पूर्वत्वेन वा॥ अयमस्ति विशेषः—अल्लोपेन निवृत्तौ सत्यामुदात्तनिवृत्तिस्वरः प्रसज्येत। नात्रोदात्त-निवृत्तिस्वरः प्राप्नोति। किं कारणम्? 'न गोश्वन्साववर्ण०' (६.१.१८२) इति प्रतिषेधात्। नैष उदात्तनिवृत्तिस्वरस्य प्रतिषेधः। कस्य तर्हि? तृतीयादि-स्वरस्य। यत्र तर्हि तृतीयादिस्वरो नास्ति—शुनः पश्येति। एवं तर्हि न वयं लक्षणस्य प्रतिषेधं शिष्मः। किं तर्हि? येन केनचिल्लक्षणेन प्राप्तस्य विभक्तिस्वरस्यायं प्रतिषेधः। यत्र तर्हि विभक्तिस्वरो नास्ति—बहुशुनीति॥

जिस पक्ष में भ को सम्मिलित करके है उस पक्ष में 'न संयोगाद्वमन्तात्' से प्रतिषेध हो जाएगा। [असिद्ध होने पर वकार दृष्ट होगा। इस प्रतिषेध के होने पर पूर्वरूप हो सकेगा।]

जिसके पक्ष में भ से पूर्व तक असिद्धत्व है, उसके पक्ष में भी दोष नहीं है। किस प्रकार? इसमें कोई विशेष नहीं है, चाहे अल्लोप से निवृत्ति हो या पूर्वत्व से। [अतः 'अल्लोपोऽनः' से भी अकारलोप होकर रूप सिद्ध हो सकेगा।]

यह विशेष है, अल्लोप से निवृत्ति होने पर 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' (६.१.१६१) से उदात्तनिवृत्ति-स्वर की प्राप्ति होगी। [इस प्रकार 'अस्' विभक्ति का अकार उदात्त होने लगेगा।]

यहाँ पर उदात्तनिवृत्तिस्वर नहीं पाता। क्या कारण है? 'न गोश्वन्....' से प्रतिषेध होने के कारण। यह सूत्र उदात्तनिवृत्ति-स्वर का प्रतिषेधक नहीं है। तो फिर किसका? तृतीयादिस्वर का ['सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः' (६.१.१६८) से प्राप्त स्वर का। तब इससे तृतीयादिस्वर का प्रतिषेध होने पर भी उदात्तनिवृत्तिस्वर की प्राप्ति तो होगी ही।] साथ ही [तर्हि च के अर्थ में है] जहाँ तृतीयादिस्वर नहीं है—शुनः पश्य [वहाँ तो अनिवार्यतः उदात्तनिवृत्तिस्वर की प्राप्ति होगी।]

अच्छा तो फिर हम [इस 'न गोश्वन्...' से] किसी सूत्र से प्राप्त स्वर का प्रतिषेध नहीं करते। तो फिर क्या? किसी भी सूत्र से प्राप्त विभक्तिस्वर का प्रतिषेध करते हैं। ['सावेकाचः...' से विभक्ति की अनुवृत्ति लाएंगे। इससे विभक्ति को किसी भी सूत्र से प्राप्त स्वर का प्रतिषेध करेंगे।]

तब तो फिर जहाँ विभक्तिस्वर नहीं है—बहुशुनी। ['बहवः श्वानोऽस्याम्' विग्रह के अनुसार बहुव्रीहि। यहाँ अल्लोपवादी के मत से 'अन उपधालोपिनोऽन्य-तरस्याम्' (४.१.२८) से ङीप्। 'बहोर्नञ्वदुत्तरपदभूम्नि' (६.२.१७५) से नञ्वत् होने से 'नञ्सुभ्याम्' (६.२.१७२) से 'बहु श् उ अन् ई' इस अवस्था में अकार

यदि पुनरयमुदात्तनिवृत्तिस्वरस्यापि प्रतिषेधो विज्ञायेत? नैवं शक्यम्। इहापि प्रसज्येत—कुमारीति॥ एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नोदात्तनिवृत्तिस्वरः शुन्यवतरतीति यदयं श्वन्शब्दं गौरादिषु पठति। अन्तोदात्तार्थं यत्नं करोति। सिद्धं हि स्यान्ङीपैव॥

मघोनः पश्य, मघोना, मघोने। संप्रसारणे कृते यस्येति लोपः प्राप्नोति। यस्य पुनः सह तेनासिद्धत्वमसिद्धत्वात्तस्य न भविष्यति॥ यस्यापि हि प्राग्भादसिद्धत्वं तस्याप्येष न दोषः। कथम्? वक्ष्यत्येतद्—मघवन्शब्दोऽव्युत्पन्नं प्रातिपदिकमिति॥ भूगुणः—भूयान्। भूभावे कृत 'ओर्गुणः' प्राप्नोति। यस्य पुनः सह तेनासिद्धत्वमसिद्धत्वात्तस्य न भविष्यति॥

उदात्त। पश्चात् अकारलोप होने पर ईकार-अनुदात्त को उदात्तनिवृत्तिस्वर से उदात्त की प्राप्ति होती है। यहाँ 'न गोश्वन्...' से निषेध नहीं लग सकेगा। क्योंकि यहाँ विभक्ति को उदात्त प्राप्त नहीं हो रहा है।]

यदि यह ['न गोश्वन्....' सूत्र विभक्ति की अनुवृत्ति लाए बिना।] उदात्तनिवृत्तिस्वर का भी प्रतिषेध करे तो? यह सम्भव नहीं है। यहाँ भी प्रतिषेध पाने लगेगा—कुमारी। [क्योंकि 'कुमार सु' इस दशा में सु परे रहने पर अवर्णान्त है, अतः 'कुमार् ई सु' इस दशा में उदात्तनिवृत्ति स्वर का भी इससे प्रतिषेध होने लगेगा।]

अच्छा तो फिर आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापक है कि 'श्वन्' के सन्दर्भ में उदात्तनिवृत्तिस्वर प्रवृत्त नहीं होता, जो श्वन् शब्द का गौरादि में पाठ करते हैं। इस प्रकार अन्तोदात्त के लिये यत्न करते हैं। [परन्तु यदि अल्लोपवादी के मत में उदात्तनिवृत्तिस्वर होता] तब तो ङीप् से ही सिद्ध हो जाता।

[निष्कर्ष-विवरण—] इससे सिद्ध हुआ कि जिस पक्ष में भ से पूर्व असिद्धत्व है उसके पक्ष में भी 'शुनः पश्य' इत्यादि में अल्लोप से निवृत्ति होने पर भी इस ज्ञापक से उदात्तनिवृत्तिस्वर नहीं होगा। इस प्रकार इस पक्ष में भी कोई दोष नहीं है।

भा०—मघोनः पश्य...। यहाँ सम्प्रसारण कर लेने पर ['मघ उ अन्' इस दशा में घकार के अकार का] 'यस्येति च' से लोप प्राप्त होता है। जिस पक्ष में भ को सम्मिलित करके असिद्धत्व है, उस पक्ष में दोष नहीं है। [सम्प्रसारण के] असिद्ध होने से नहीं होगा। जिस पक्ष में भ से पूर्व असिद्धत्व है, उस पक्ष में भी नहीं होगा। किस प्रकार? यह कहेंगे कि मघवन् शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है। [इस प्रकार 'वन्' के तद्धित प्रत्यय परे न होने से यस्येति लोप नहीं होगा।]

भू का गुण—भूयान् [बहु शब्द से ईयसुन् प्रत्यय करने पर 'बहु ईयस्' इस दशा में 'बहोर्लोपो भू च बहोः' (६.४.१५८) से] भू आदेश करने पर उसे] 'ओर्गुणः' से गुण पाता है। जिसके मत में भ सहित को असिद्ध होता है, उसके मत में भू के असिद्ध होने से नहीं होगा।

यस्यापि प्राग्भादसिद्धत्वं तस्याप्येष न दोषः। कथम्? दीर्घोच्चारण-सामर्थ्यान्न भविष्यति। अस्त्यन्यद्दीर्घोच्चारणस्य प्रयोजनम्। किम्? भूमेति। निपातनादेतत्सिद्धम्। किं निपातनम्? 'बहोर्नञ्वदुत्तरपदभूम्नि' (६.२.१७५) इति॥ अथवा पुनरस्तु सह तेनेति।

आ भादिति चेद्वसुसंप्रसारणयलोपप्रस्थादीनां प्रतिषेधः॥ १६॥

आ भादिति चेद्वसुसंप्रसारणयलोपप्रस्थादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः। पपुषः पश्य, तस्थुषः। निन्युषः, चिच्युषः, लुलुवुषः, पुपुवुष इति। वसुसं-प्रसारणे कृते तस्यासिद्धत्वादचीत्याकारलोपदीनि न सिध्यन्ति॥ नैष दोषः। उक्तमेतत्समानाश्रयवचनात् सिद्धमिति। कथम्? वसावाकारलोपादीनि वस्वन्तस्य विभक्तौ संप्रसारणमिति॥ यलोपः—सौरी बलाका। योऽसावण्यकारो लुप्यते तस्यासिद्धत्वादीतीति यलोपो न प्राप्नोति॥

जिसके पक्ष में भ से पूर्व असिद्ध होता है, उसके पक्ष में भी दोष नहीं है। किस प्रकार? दीर्घ भू के उच्चारण सामर्थ्य से नहीं होगा। [यदि इसे गुण होना होता तो ह्रस्व से भी काम चल सकता था।] दीर्घ उच्चारण का अन्य प्रयोजन है। क्या? भूमा। [भसंज्ञक न होने से यहाँ गुण प्राप्त नहीं है।] यह निपातन से भी सिद्ध हो सकता है। क्या निपातन है? 'बहोर्नञ्वदुत्तरपदभूम्नि' में 'भूम्नि' प्रयोग। [इस प्रकार सिद्ध हुआ कि भ से पूर्व असिद्ध मानने में भी कोई दोष नहीं है।]

अथवा 'भ अधिकार सहित प्रकरण में असिद्धत्व' पक्ष मान्य होवे।

वा०—यदि भ-पर्यन्त हो तो वसु-सम्प्रसारण, यलोप, प्रस्थ आदि का प्रतिषेध।

भा०—भ-पर्यन्त असिद्धत्व पक्ष हो तो वसु-सम्प्रसारण यलोप, प्र-स्थ आदि का प्रतिषेध कहना होगा। पपुषः पश्य...। वसु-सम्प्रसारण कर लेने पर उसके असिद्ध होने से 'अचि' इस प्रकार मानते हुए अकार-लोप आदि सिद्ध नहीं होते। [सिद्धि इसी सूत्र में पूर्व-उल्लिखित है।] यह दोष नहीं है। सामानाश्रय-वचन से सिद्ध है। किस प्रकार? वसु के परे रहने पर आकार-लोप इत्यादि है, वस्वन्त का विभक्ति परे रहने पर सम्प्रसारण है। [व्याख्या पूर्वोक्त है।]

यलोप—सौरी बलाका (=सूर्य की दिशा में वर्तमान पक्षी) ['सूर्येण एकदिक्' विग्रह के अनुसार 'तेनैकदिक्' (४.३.११२) से अण्। 'सूर्य अ' इस दशा में यकार के अकार का यस्येति लोप। वृद्धि 'टिड्ढाणञ्...' (४.१.१५) से ङीप्। 'सौर्य ई' इस दशा में 'यस्य हलः' (६.४.४९) से यकारलोप।] यहाँ जो अण् परे रहने पर 'यस्येति च' से अकार लुप्त है, उसके असिद्ध होने पर ईकार परे मान कर होने वाला यलोप प्राप्त नहीं होता।

अत्राप्येष एव परिहारः समानाश्रयवचनात्सिद्धमिति। कथम्? अण्यकारलोपोऽणन्तस्येति यलोपः॥ प्रस्थादिषु— प्रेयान्, स्थेयान्। प्रस्थादीनामसिद्धत्वात् 'प्रकृत्यैकाच्' (६.४.१६३) इति प्रकृतिभावो न प्राप्नोति॥ नैष दोषः। यथैव प्रस्थादीनामसिद्धत्वात्प्रकृतिभावो न भवत्येवं टिलोपोऽपि न भविष्यति॥

श्नान्नलोपः॥ ६.४.२३॥

अथ किमर्थं श्नमः सशकारस्य ग्रहणं क्रियते, न नान्नलोप इत्येवोच्येत? नान्नलोप इतीयत्युच्यमाने नन्दिता, नन्दक इत्यत्रापि प्रसज्येत॥ एवं तर्ह्येवं वक्ष्यामि—नान्नलोपोऽनिदिताम्। ततः—हल उपधायाः क्ङिति, अनिदितामिति। नैवं शक्यम्। इह हि न स्यात्—हिनस्ति। तस्मान्नैवं शक्यम्। न चेदेवं नन्दिता, नन्दक इति प्राप्नोति॥

समाधान—यहाँ भी यही परिहार है—समानाश्रय वचन से सिद्ध। किस प्रकार? अण् परे रहने पर अकारलोप है। अणन्त का ईकार परे रहने पर यलोप है।

प्रस्थादि—प्रेयान्....। ['प्रिय ईयसुन्' इस दशा में 'प्रियस्थिरस्फिरोरु....' (६.४.१५७) से] प्र, स्थ आदेश।] प्र, स्थ आदि के असिद्ध होने से 'प्रकृत्यैकाच्' से प्रकृतिभाव प्रास नहीं होता। [क्योंकि असिद्ध होने पर आदेशों का एकाच्त्व दृष्ट नहीं होता।] यह दोष नहीं है। जिस प्रकार प्र, स्थ आदि के असिद्ध होने से प्रकृतिभाव नहीं होता, उसी प्रकार ['टेः' (६.४.११५) सूत्र से] टिलोप भी नहीं होगा। [टिलोप की दृष्टि से भी प्र, स्थ आदेश असिद्ध होंगे। असिद्ध होने पर 'प्र' आदेश उपस्थित नहीं है। अतः उसका टिलोप नहीं हो सकेगा। इस प्रकार जिस टिलोप के निवारण के लिए प्रकृतिभाव किया जा रहा है, वह स्वयं ही सम्पन्न नहीं होगा।]

श्नान्नलोपः॥

भा०—अच्छा, यहाँ श्नम् का शकार सहित का ग्रहण किसलिये किया जा रहा है, 'नान्नलोपः' इतना ही क्यों न कह दिया जावे? [समाधान-] 'नान्नलोपः' इतना ही कहने पर नन्दिता, नन्दकः यहाँ भी [न से उत्तर नकार उपस्थित होने से लोप] प्रास होगा।

अच्छा तो फिर यों कहेंगे—अनिदित् के नकार से उत्तर नकार का लोप होता है। उसके पश्चात् 'हल उपधायाः क्ङिति' यहाँ 'अनिदिताम्' की अनुवृत्ति होगी। यह सम्भव नहीं है—हिनस्ति [इदित् हिसि, रुधादिगणीय धातु, लट् लकार में 'हि न न् स् ति' इस दशा में नुम् के नकार का लोप करना है। पर 'अनिदिताम्' कहने पर प्रास नहीं होगा।] अतः 'अनिदिताम्' कहना सम्भव नहीं है। यदि ऐसा नहीं है तो [शकार ग्रहण न करने पर] 'नन्दिता...' यहाँ भी प्रास होगा।

एवं तर्हि क्ङितीति वर्तते। एवमपि हिनस्तीत्यत्र न प्राप्नोति। नैषा परसप्तमी। का तर्हि? सत्सप्तमी क्ङिति सति। एवमपि नन्दमान इत्यत्रापि प्राप्नोति। एवं तर्हि नशब्द एवात्र क्ङित्त्वेन विशेष्यते—क्ङिच्चेन्नशब्दो भवतीति। एवमपि—यज्ञानाम्, यत्नानामित्यत्र प्राप्नोति? दीर्घत्वमत्र बाधकं भविष्यति। इदमिह संप्रधार्यम्—दीर्घत्वं क्रियतां नलोप इति, किमत्र कर्तव्यम्? परत्वान्नलोपः। तस्मात् सशकारस्य ग्रहणं कर्तव्यम्॥ अथ क्रियमाणेऽपि सशकारग्रहण इह कस्मान्न भवति—विश्नानाम्, प्रश्नानामिति? 'लक्षण-प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव' इत्येवं न भविष्यति॥

अच्छा तो फिर क्ङिति की अनुवृत्ति है। तो भी 'हिनस्ति' में नहीं पाएगा। [वस्तुतः अनक्ति, भनक्ति जैसे इसके किसी भी उदाहरण में नलोप नहीं पाएगा। क्योंकि 'श्नम्' से उत्तर क्ङित् परे नहीं है। अपितु श्नम् स्वयं क्ङित् है।] [समाधान] यह पर-सप्तमी नहीं है, तो फिर क्या? सत्-सप्तमी है। क्ङित् होने पर। [अध्याहार में कामचार होने से यहाँ 'सति' का अध्याहार करेंगे।]

तो भी [नान्नलोपः कहने पर] 'नन्दमानः' यहाँ भी नलोप पाता है? ['नदि' इदित् धातु से नुम् कर लेने पर 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्' (३.२.१२९) से चानश् प्रत्यय, शप् विकरण। 'नन्द् अ म् आन' इस दशा में नकार से उत्तर चानश् क्ङित् परे न होने पर भी वहाँ क्ङित् उपस्थित है, इतने मात्र से नलोप की प्राप्ति होगी।]

अच्छा तो फिर न शब्द को ही 'क्ङित्' से विशेषित करेंगे—क्ङित् जो 'न'। [सप्तम्यन्त क्ङिति का विभक्तिविपरिणाम करके समानाधिकरण सम्बन्ध करेंगे।] तो भी 'यज्ञानाम्...' में [नाम् के नकार का] लोप प्राप्त होता है। [यज् धातु से 'यजयाच...' (३.३.९०) से नङ् प्रत्यय। 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८.४.४०) से नकार के स्थान में ञकार। 'यज् ञा नाम्' इस दशा में श्चुत्व के असिद्ध होने से क्ङित् नकार से उत्तर नकार का लोप प्राप्त होता है।]

यहाँ दीर्घत्व बाधक हो जाएगा। [नलोप तथा 'नामि' (६.४.३) से दीर्घत्व की प्राप्ति में दीर्घत्व होगा। तब 'न' रूप नहीं होने से नलोप नहीं होगा।] यहाँ यह सम्प्रधारण करें कि दीर्घत्व करें या नलोप। क्या करना चाहिये? परत्व से नलोप। इस प्रकार [नलोप के निवारण के लिये] शकार-ग्रहण करना चाहिये।

अच्छा शकार-ग्रहण करने पर भी यहाँ [नलोप] क्यों नहीं होता—विश्नानाम्...? 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः....' परिभाषा से [दोनों की सम्भावना में प्रतिदोक्त को ही कार्य होता है। अतः लक्षण द्वारा निर्मित होने वाले 'श्न' इस रूप से उत्तर नकार-लोप] नहीं होगा। [इस उदाहरण में भी विच्छ् धातु से 'यजयाच...' (३.३.९०) सूत्र से नङ् प्रत्यय होता है।]

अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति ॥ ६.४.२४ ॥

अनिदितां नलोपे लङ्गिकम्प्योरुपतापशरीरविकार-योरुपसंख्यानम् ॥ १ ॥

अनिदितां नलोपे लङ्गिकम्प्योरुपतापशरीरविकारयोरुपसंख्यानं कर्तव्यम्। विलगितः, विकपितः। उपतापशरीरविकारयोरिति किमर्थम्? विलङ्गितः, विकम्पितः ॥

बृंहेरच्यनिटि ॥ २ ॥

बृंहेरच्यनिट्युपसंख्यानं कर्तव्यम्। निबर्हयति, निबर्हकः। अचीति किमर्थम्? निबृंह्यते। अनिटीति किमर्थम्? निबृंहिता, निबृंहितुम्॥ तत्तर्ह्युपसंख्यानं कर्तव्यम्? न कर्तव्यम्। बृहिः प्रकृत्यन्तरम्। कथं ज्ञायते? अचीति लोप उच्यतेऽनजादवपि दृश्यते—निबृह्यते। अनिटीत्युच्यत इडादावपि दृश्यते— निबर्हितुम्। अजादावित्युच्यतेऽजादावपि न दृश्यते—निबृंहयति, निबृंहकः॥

अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति॥

वा०—अनिदित् के नलोप में लङ्ग, कम्प का उपताप, शरीर-विकार में उपसङ्ख्यान।

भा०—अनिदित् के नलोप के प्रसङ्ग में लङग्, कम्प् के [नकारलोप का] उपताप, शरीर-विकार में उपसङ्ख्यान करना चाहिये। विलगितः (=उपताप अर्थात् मानस दुःख को प्राप्त हुआ)। विकपितः (=शारीरिक व्याधि से क्षीण हुआ) [अकर्मक होने से कर्ता में क्त) उपताप शरीर-विकार अभिधेय क्यों कहा गया? [इनके न होने पर] विलङ्गितः, विकम्पितः [में नकार-लोप नहीं होगा।]

वा०—बृंह् धातु का अनिट् में अच् परे रहने पर।

भा०—बृंह् धातु का अनिट् में अच् परे रहने पर नलोप का उपसङ्ख्यान करना चाहिये। निबर्हयति....। ['बृहि' इदित् धातु से निर्मित बृंह् में नलोप प्राप्त नहीं था।] अच् परे रहने पर किसलिये है? निबृह्यते। अनिट् परे रहने पर किसलिए है? निबृंहिता।

तो फिर उपसङ्ख्यान किया जावे? नहीं करना चाहिये। बृह् अन्य प्रकृति—स्वतन्त्र धातु है। किस प्रकार ज्ञात होता है? अच् परे रहने पर लोप कहा है, अनजादि में भी देखा जाता है—निबृह्यते। अनिट् में कहा है, इडादि में भी लोप देखा जाता है—निबर्हिता। अजादि में भी नहीं देखा जाता—निबृंहयति, निबृंहकः।

विशेष—बृह् तथा बृंह् ये दो परस्पर स्वतन्त्र धातु हैं। यह धातुपाठ में 'बृह,

रञ्जेर्णौ मृगरमणे॥ ३॥

रञ्जेर्णौ मृगरमण उपसंख्यानं कर्तव्यम्। रजयति मृगान्। मृगरमण इति किमर्थम्? रञ्जयति वस्त्राणि॥

घिनुणि च॥ ४॥

घिनुणि चोपसंख्यानं कर्तव्यम्। रागी।

बृहि वृद्धौ' पाठ से भी ज्ञापित होता है। 'पारस्करप्रभृतीनि...' (६.१.१५७) सूत्र में 'तद्बृहतोः...' वार्तिक से निर्मित 'बृहस्पति' शब्द से भी 'बृह्' धातु का परिज्ञान होता है। किसी एकदेश में बृंह का प्रयोग प्रबल था, उसका निदर्शन ही यह वार्तिक है। इसका प्राकृत रूप बंह किसी भाग में प्रचलित रहा। जिसकी स्वीकृति महर्षि पाणिनि ने ६.४.१५७ में बंह आदेश के माध्यम से प्रदान की है।

वा०—रञ्ज् धातु का णि परे रहने पर मृगरमण में।

भा०—रञ्ज् धातु के [नलोप का] णि परे रहने पर मृगरमण अभिधेय में उपसङ्ख्यान करना चाहिये। रजयति मृगान्। 'मृगरमण' किसलिये है? रञ्जयति वस्त्राणि [इस अभिधेय के न होने पर नलोप नहीं होता।]

विशेष—यहाँ 'मृगरमण' के अर्थ में मतभेद है। कुछ विद्वानों के अनुसार मृगरमण का अर्थ शिकार करना है। तदनुसार रजयति मृगान् का अर्थ 'हिरणों का शिकार करता या मारता है' यह है। उस मध्यकाल में 'मारना' शब्द का सीधे प्रयोग न करके लक्षणा से ज्ञापित करने की परम्परा रही है। 'मारना' के सीधे प्रयोग से अभद्रता झलकती थी। अत एव इस अर्थ के लिये 'संज्ञपयति' जैसे शब्दों से मारने का सङ्केत दिया जाता था। धातुपाठ में 'मारणतोषणनिशामनेषु ज्ञा' कहते हुए सहज ही इस लाक्षणिक अर्थ को स्वीकृति प्रदान की है। पुनरपि इस अर्थ वाले शब्द को अन्यों से विशिष्ट बनाने के लिये 'ज्ञप मिच्च' (चुरादिगण में) विधान के द्वारा उसे ह्रस्व भी किया गया है। इसी प्रकार यहाँ मारण अर्थ के लिये 'रजयति' प्रयोग को नलोप द्वारा विशिष्ट बनाया गया है।

अन्य आचार्य इस साङ्केतिक प्रयोग से मारण अर्थ के पक्षपाती नहीं थे। अतः उनके मतानुसार 'रजयति मृगान्' का अर्थ उन्हें 'आनन्द देना' यह है। इसे प्रमाणित करते हुए महावैयाकरण नागेश ने महाकवि भारवि के 'रजयाञ्चकार विरजाः स मृगान्' इस वचन का उद्धरण दिया है।

वा०—घिनुण् परे रहने पर भी।

भा०—घिनुण् परे रहने पर भी [नलोप का] उपसङ्ख्यान करना चाहिये। रागी [यहाँ रञ्ज् धातु से 'सम्पृचानुरुधा...' (३.२.१४२) से घिनुण् करने पर उसके परे होने पर नलोप]।

घिनुणि निपातनात् सिद्धम्। किं निपातनम्? त्यजरजेति। अशक्यं धातुनिर्देशे निपातनं तन्त्रमाश्रयितुम्। इह हि दोषः स्यात्—'...दशनहः करणे' (३.२.१८२) दंष्ट्रा? नैतद्धातुनिपातनम्। किं तर्हि? प्रत्ययान्तस्यैतद्रूपम्। तस्मिंश्चऽस्य प्रत्यये लोपो भवति 'दंशसञ्जस्वञ्जां शपि' (६.४.२५) इति॥

रजकरजनरजःसूपसंख्यानम्॥ ५॥

रजकरजनरजःसूपसंख्यानं कर्तव्यम्। रजकः, रजनम्, रज इति।

रजकरजनरजःसु कित्त्वात्सिद्धम्। कित एवैत औणादिकाः। तद्यथा—रुचकः, भुवनम्, शिर इति॥

शास इदङ्हलोः॥ ६.४.३४॥

शास इत्त्व आशासः क्वौ॥ १॥

घिनुण् में निपातन से सिद्ध है। क्या निपातन है? [उसी प्रस्तुत सूत्र में] 'त्यजरज' [इस प्रकार नकार का लुप्त करके निर्देश।] धातुनिर्देश में निपातन को तन्त्र=प्रधान (साधुत्व में प्रामाण्य-बोधक) नहीं मान सकते। यहाँ दोष होगा—'...दशनहः करणे'—दंष्ट्रा (सूत्र में 'दश' प्रयोग के आधार पर 'दंष्ट्रा' में नलोप होने लगेगा।]

यह धातु-निपातन नहीं है। तो फिर क्या है? [शप्] प्रत्ययान्त का यह रूप है। ['प्रकृतिवदनुकरणं भवति' परिभाषा के अनुसार शप् प्रत्ययान्त अनुकरण का प्रकृतिवत् बनाकर निर्देश है। इससे इस रूप के निष्पन्न होने पर नलोप होता है।] इस प्रत्यय के परे रहने पर लोप होता ही है। 'दंशसञ्जस्वञ्जां शपि' शासन के अनुसार। [इस प्रकार सिद्ध हुआ कि 'दंश' प्रयोग शप्प्रत्ययान्त 'दशति' में नलोप के प्रामाण्य का बोधक है। इससे निपातन के तन्त्र सिद्ध होने से 'त्यजरज' निपातन से कार्य पूर्ण हो जाने से 'घिनुणि च' वार्तिक आवश्यक नहीं है।]

वा०—रजक, रजन, रजः में उपसङ्ख्यान।

भा०—रजक, रजन, रजः में [नलोप का] उपसङ्ख्यान करना चाहिये। रजकः..।

रजक... में कित्त्व से सिद्ध है। यहाँ औणादिक कित् प्रत्यय हैं। [जैसे रजक में क्वुन् प्रत्यय है।] जिस प्रकार रुचकः भुवनम्, शिरः [शब्द भी क्रमशः क्वुन्, क्युन् तथा असुन् कित्वत् से निष्पन्न होते हैं।]

शास इदङ्हलोः॥

वा०—शास् के इत्व में आशास् को क्वि में उपसङ्ख्यान।

शास इत्त्व आशासः क्वावुपसंख्यानं कर्तव्यम्। आशीरिति। किं पुनरिदं नियमार्थमाहोस्विद्विध्यर्थम्? कथं च नियमार्थं स्यात्कथं वा विध्यर्थम्? यदि तावच्छासिमात्रस्य ग्रहणं ततो नियमार्थम्। अथ हि यस्माच्छासेरङ् विहितस्तस्य ग्रहणं ततो विध्यर्थम्। यद्यपि शासिमात्रस्य ग्रहणम्, एवमपि विध्यर्थमेव। कथम्? अङ्हलोरित्युच्यते न चात्र हलादिं पश्यामः। ननु च क्विबेव हलादिः? क्विपो लोपे कृते हलाद्यभावान्न प्राप्नोति। इदमिह संप्रधार्यम्—क्विब्लोपः क्रियतामङ्हलोरित्त्वमिति। किमत्र कर्तव्यम्? परत्वादङ्हलोरित्वम्। नित्यः क्विब्लोपः। कृतेऽप्यङ्ह-

---

भा०—शास् के इत्व के प्रसङ्ग में आशास् को क्वि परे रहने पर उपसङ्ख्यान करना चाहिये। आशीः।

क्या यह [वार्तिक] नियम के लिये है या विधि के लिये है? नियम के लिये कैसे होगा, विधि के लिये किस प्रकार? यदि [सूत्र में] शास् मात्र का ग्रहण है तो नियम के लिये। यदि जिस शास् से अङ् विहित है, [अर्थात् परस्मैपद शास् धातु है। इस धातु से ही 'सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च' (३.१.५६) से अङ् विहित है।] उसका ग्रहण है तो विधि के लिये।

विवरण—धातुपाठ में दो प्रकार की धातुएँ हैं—प्रथम 'शासु अनुशिष्टौ' (अदा० ६८), परस्मैपद है। इससे उपरिलिखित सूत्र से अङ् विहित है। द्वितीय 'आङः शासु इच्छायाम्' (अदा० १२)—अर्थात् आङ् उपसर्गपूर्वक शास् धातु आत्मनेपद है। भाष्यकार का कहना है कि यदि प्रस्तुत सूत्र में दोनों धातुओं का ग्रहण है तो प्रस्तुत वार्तिक नियम करेगा—आशास् को क्वि परे रहने पर ही इत्व हो—आशास्ते आदि में न हो। यदि प्रस्तुत सूत्र केवल परस्मैपद शास् के अङ् का विधायक है तो प्रस्तुत वार्तिक क्वि परे रहने पर आशास् को इत्व का विधान करेगा।

भा०—यदि [सूत्र में] शास्मात्र का ग्रहण हो तो भी यह वार्तिक विधायक होगा। किस प्रकार? [सूत्र में] अङ् परे या हलादि [क्ङित्] परे रहने पर इत्व कहा गया है। पर आशास् से हलादि [क्ङित्] परे देखते नहीं। क्यों, क्विप् ही हलादि है। क्विप् लोप करने पर हलादि परे न होने से [सूत्र से इत्व] नहीं पाता। [अतः इस आशीः में इत्व की सिद्धि के लिये वार्तिक विधायक होगा। पर इसे विधायक मानने पर 'आशास्ते' आदि में इत्व का निवारण सिद्ध नहीं हो पाएगा। अतः व्याख्याकारों ने माना है कि यह आचार्यदेशीय का वचन है। आगे प्रत्यय-लक्षण से इत्व-सिद्धि करके इस पक्ष को हटा दिया गया है।]

अच्छा तो फिर यह सम्प्रधारणा करें कि क्विप्-लोप करें या अङ् हलादि परे रहने पर इत्व। क्या करना चाहिये? परत्व से अङ्-हलादि परे रहने पर इत्व। क्विब्लोप नित्य है—अङ्-हलादि परे रहने पर होने वाले इत्व के करने पर भी पाता

लोरित्त्वे प्राप्नोत्यकृतेऽपि। नित्यत्वात्क्विब्लोपे कृते हलाद्यभावान्न प्राप्नोति। एवं तर्हि प्रत्ययलक्षणेन भविष्यति। वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम्। यदि वा कानिचिद्वर्णाश्रयाण्यपि प्रत्ययलक्षणेन भवन्ति, तथा चेदमपि भविष्यति॥ अथवैवं वक्ष्यामि—'शास इदङ्हलोः'। ततः—'क्वौ'। क्वौ च शास इद्भवति। आर्यशीः। मित्रशीः। तत—'आङः'। आङ्पूर्वाच्च क्वौ शास इद्भवति। आशीरिति। इदमिदानीं किमर्थम्? नियमार्थम्। आङ्पूर्वाच्छासेः क्वावेव। क्व मा भूत्? आशास्ते, आशास्यते, आशास्यमान इति॥ तत्तर्हि वक्तव्यम्? न वक्तव्यम्। अविशेषेण शास इद्भवतीत्युक्त्वा ततोऽङीति वक्ष्यामि। तन्नियमार्थं भविष्यति। अङ्येवाजादौ नान्यस्मिन्नजादाविति।

है, न करने पर भी। नित्य होने से क्विब्लोप करने पर हलादि परे न रहने से इत्व नहीं पाता। अच्छा तो फिर, प्रत्ययलक्षण से हो जाएगा। वर्णाश्रय में प्रत्यय-लक्षण नहीं होता। यदि वा=जिस प्रकार [कुछ] वर्णाश्रय भी प्रत्यय-लक्षण से हो जाते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी होगा। ['अतृणेट्' जैसे कुछ उदाहरणों में प्रत्यय-लक्षण मान कर 'तृणह इम्' (७.३.९२) से इम् आगम होता है, उसी प्रकार यहाँ भी हो जाएगा। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि आशास् से क्विप् परे रहने पर प्रत्यय-लक्षण द्वारा यह सूत्र ही इत्व का विधान करेगा। इस प्रकार यह वार्तिक नियमार्थ ही होगा। इस नियम से 'आशास्ते' में इत्व का निवारण सिद्ध होगा। इसे अन्य प्रकार से सिद्ध करने के लिये आगे अन्य उपाय प्रस्तुत हैं—]

अथवा इस प्रकार कहेंगे—'शास इदङ्हलोः'। उसके पश्चात्—'क्वौ'—क्विप् परे रहने पर शास् को इकार होता है—आर्यशीः...। उसके पश्चात्—'आङः' आङ्पूर्व शास् को भी क्विप् परे रहने पर इकार होता है—आशीः। कहाँ न हो? आशास्ते...। [यहाँ 'क्वौ' यह विन्यास परस्मैपद शास् धातु से 'आर्यशीः' आदि में प्रत्यय-लक्षण न होने पर अप्राप्त के विधान के लिये है तथा 'आङः' यह आङ्पूर्वक शास् धातु से आशास्ते आदि में हलादि क्ङित् परे रहने पर प्राप्त इत्व के निवारण के लिए है।]

तो फिर इसे कहा जावे? नहीं कहना चाहिये। सामान्यतः शास् को इत् कह कर, पश्चात् 'अङि' कहेंगे। वह नियमार्थ होगा—अजादि परे होने पर हो तो अङ् परे रहने पर ही हो, अन्य अजादि परे रहने पर न हो। [इससे शासति (प्रथम पुरुष, बहुवचन) 'शशासुः' आदि में इत्व नहीं होगा। तुल्यजातीय का नियम होने से यह अङ् से भिन्न अजादिपरक का व्यावर्तन करेगा। हलादि क्ङित् परे रहने पर नहीं। अतः 'शिष्टः' आदि में इनके परे रहने पर सामान्यतः प्रोक्त 'शासः' से इत् हो जाएगा।]

इहापि तर्हि नियमादित्त्वं प्राप्नोति—आशास्ते, आशास्यते, आशास्यमान इति ? यस्माच्छासेरङ्विहितस्तस्य ग्रहणं, न चैतस्माच्छासेरङ्विहितः। कथमाशीरिति ? निपातनात्सिद्धम्। किं निपातनम् ? 'क्षियाशीःप्रैषेषु तिङाकाङ्क्षम्' (८.२. १०४) इति॥

['शासः' से शास्मात्र का ग्रहण होने पर] यहाँ भी इस नियम से इत्व पाएगा—आशास्ते...। [समाधान-] जिस शास् से अङ् विहित है, उस [परस्मैपद शास्] का ग्रहण है। ['आशास्ते' में आङ्पूर्वक] इस शास् से अङ् विहित नहीं है। पुनः आशीः कैसे सिद्ध होगा ? निपातन से सिद्ध है। क्या निपातन है ? 'क्षियाशीः-प्रैषेषु...' [सूत्र में आङ् का प्रयोग]।

विवरण—प्रस्तुत सूत्र से निम्न कार्य सिद्ध करना चाहते हैं—

१. परस्मैपद शास् से अङ् तथा हलादि क्ङित् परे रहने पर इत्व करना चाहते हैं। शिष्टः, शिष्टवान्।

२. परस्मैपद शास् से क्विप् परे रहने पर भी इत्व करना चाहते हैं। आर्यशीः।

३. आत्मनेपद आङ्पूर्वक शास् धातु से भी क्विप् परे रहने पर इत्व करना चाहते हैं—आशीः।

४. आत्मनेपद आङ् पूर्वक शास् धातु से अन्य हलादि क्ङित् परे रहने पर इत्व नहीं करना चाहते। आशास्ते...आदि।

इनकी सिद्धि के लिये निम्न उपाय कहे गये हैं—

१. यदि 'शास इदङ्हलोः' सूत्र में परस्मैपद शास् कही गई है। तो प्रस्तुत वार्तिक से आशीः आदि में क्विप् परे रहने पर इत्व का विधान होगा। आर्यशीः आदि के लिये प्रत्ययलक्षण मान्य होगा।

२. यदि प्रस्तुत सूत्र में शास्मात्र का ग्रहण है तो प्रस्तुत वार्तिक से आशास्ते आदि में इत्व के निवारण के लिये नियम होगा।

३. (क) 'शास इदङ्हलोः' में शास्त्रमात्र का ग्रहण होगा। (ख) पुनः 'क्वौ' सूत्र से प्रत्ययलक्षण न होने पर भी 'आर्यशीः' सिद्ध होगा। (ग) पुनः 'आङः' इस नियम से 'आशास्ते' आदि में इत्व का निवारण होगा।

४. (क) केवल 'शासः' सूत्र से परस्मैपदी शास् को किसी के भी परे रहने पर इत्व होगा। इससे हलादि क्ङित् परे रहने पर 'शिष्टः' आदि में इत्व सिद्ध होगा। पश्चात् (ख) 'अङि' से दो कार्य होंगे—

अङि — अङ् परे रहने पर इत्व का विधान
अङ्भिन्न अजादि परे रहने पर इत्व का प्रतिषेध

(ग) आशीः निपातन से सिद्ध होगा।

(घ) शास्मात्र का ग्रहण न होने से 'आशास्ते' आदि में इत्व नहीं होगा।

अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति ॥ ६.४.३७ ॥

अनुदात्तोपदेशेऽनुनासिकलोपो ल्यपि च ॥ १ ॥

अनुदात्तोपदेशेऽनुनासिकलोपो ल्यपि चेति वक्तव्यम्। प्रमत्य, प्रतत्य ॥ ततः

वामः ॥ २ ॥

वाम इति वक्तव्यम्। प्रयत्य, प्रयम्य। प्ररत्य, प्ररम्य। प्रणत्य, प्रणम्य ॥

गमः क्वौ ॥ ६.४.४० ॥

गमादीनामिति वक्तव्यम्। इहापि यथा स्यात्—परीतत् सह कण्ठिका। संयत्, सुनदिति ॥

ऊङ् च ॥ १ ॥

ऊङ् च गमादीनामिति वक्तव्यम्। अग्रेगूः। अग्रेभ्रूः ॥

अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिक० ॥

वा—अनुदात्तोपदेश में अनुनासिकलोप ल्यप् परे भी।

भा०—अनुदात्तोपदेश के प्रसङ्ग में अनुनासिक लोप ल्यप् परे रहने पर भी होता है, यह कहना चाहिये। प्रमत्य...। प्र उपसर्ग पूर्व मन् धातु से क्त्वा के स्थान में ल्यप्। नकारलोप।

वा०—अमन्त का विकल्प।

भा०—'अमन्त का अनुनासिक-नलोप' विकल्प से यह कहना चाहिये। प्रयत्य...[प्र उपसर्ग यम् धातु से] क्त्वा के स्थान में ल्यप्। विकल्प से म-लोप।

विवरण—यह विन्यास समुचित विषय-विभाजन के लिये है। अग्रिम 'वा ल्यपि' सूत्र से सभी अनुदात्तोपदेश वनति...आदि का ल्यप् परे रहने पर विकल्प से अनुनासिक लोप पाता है। इन वार्तिकों से अनुदात्तोपदेश, वनति आदि का नित्य अनुनासिक-लोप होता है। केवल अमन्त धातुओं का ही विकल्प से होता है। काशिकाकार ने इस तथ्य को व्यवस्थित विभाषा द्वारा सिद्ध किया है।

गमः क्वौ ॥

भा०—गम् आदि का, यह कहना चाहिये। यहाँ भी हो सके—परीतत् सह कण्ठिका। [परि उपसर्ग तन् धातु से क्विप्। इस वचन से नलोप होने पर तुक् आगम। 'नहिवृति...' (६.३.११६) से पूर्वपद के अन्तिम को दीर्घ।] संयत् [सम् उपसर्ग यम् धातु] सुनत् [सु उपपद नम् धातु।]

वा०—ऊङ् भी।

भा०—'गम् आदि का ऊङ् भी' यह कहना चाहिये। अग्रेगूः...। [अग्रे

जनसनखनां सञ्झलोः ॥ ६.४.४२ ॥

अथ किमयं समुच्चयः ? सनि च झलादौ चेति। आहोस्वित्सन्विशेषणं झल्ग्रहणम्—सनि झलादाविति ? किं चातः, यदि समुच्चयः, सन्यझलादावपि प्राप्नोति—सिसनिषति, जिजनिषते, चिखनिषति। अथ सन्विशेषणं झल्ग्रहणम्, जातः, जातवानित्यत्र न प्राप्नोति॥ यथेच्छसि तथास्तु। अस्तु तावत्समुच्चयः। ननु चोक्तं सन्यझलादावपि प्राप्नोति ? नैष दोषः। प्रकृतं झल्ग्रहणमनुवर्तते, तेन सनं विशेषयिष्यामः। सनि झलादाविति। अथवा पुनरस्तु सन्विशेषणम्। कथं—जातः, जातवानिति ? प्रकृतं झलि क्ङिती-त्यनुवर्तते॥ यद्येवं नार्थो झल्ग्रहणेन। योगविभागः करिष्यते। जनसनखना-मनुनासिकस्याकारो भवति झलि क्ङिति। ततः—सनि। सनि च जनसनखनामनुनासिकस्या-कारो भवति झलीत्येव। तस्मान्नार्थो झल्ग्रहणेन॥

उपपद गम् धातु का अनुनासिक-लोप अन्तिम अकार के स्थान में वार्तिक से ऊकार। क्विबन्त होने से सु विभक्ति।]

जनसनखनां सञ्झलोः ॥

भा०—क्या यहाँ [द्वन्द्व समास द्वारा] समुच्चय है—सन् परे रहने पर तथा झलादि परे रहने पर भी। अथवा झल् ग्रहण सन् का विशेषण है—'झलादि सन् परे रहने पर'। [इस पक्ष में सौत्र द्विवचन मानना होगा। विशेष्य के एकत्व होने से एकवचन की प्राप्ति है। साथ ही विशेषण का नियमतः पूर्व-निपात होना चाहिये। सौत्र निर्देश के अनुसार पर-निपात मानना होगा।]

यदि समुच्चय है तो अझलादि सन् परे रहने पर भी [आत्व] प्राप्त होता है। सिसनिषति...['सनीवन्तर्ध...' (७.२.४९) से एक पक्ष में इडागम होने से यह झलादि नहीं है।]

यदि झल् ग्रहण सन् का विशेषण है तो जातः...यहाँ प्राप्त नहीं होता। जो पक्ष चाहें, उसे मान्य करें।

अच्छा, यहाँ समुच्चय पक्ष होवे। इस पर तो दोष दिया था—अझलादि सन् में भी प्राप्त होता है ? यह दोष नहीं है। प्रकृत झल् ग्रहण का अनुवर्तन करेंगे। उससे सन् को विशेषित करेंगे—झलादि सन् परे रहने पर।

अथवा यह [झल्] सन् का विशेषण होवे। तब जातः, जातवान् कैसे सिद्ध होंगे ? प्रकृत 'झलि, क्ङिति' का अनुवर्तन करेंगे। तब तो फिर झल् ग्रहण की आवश्यकता नहीं। योगविभाग करेंगे—'जनसनखनाम्'—'सनि च' यहां भी 'झलि' की अनुवृत्ति आने से झलादि सन् परे होने पर जन, सन्, खन के अनुनासिक को आकार आदेश होता है। अतः झल् ग्रहण की आवश्यकता नहीं।

सनोतेरनुनासिकलोपादात्त्वं विप्रतिषेधेन॥ १॥

सनोतेरनुनासिकलोपादात्त्वं भवति विप्रतिषेधेन। सनोतेरनुनासिकलोपस्यावकाशः—अन्ये तनोत्यादयः। आत्त्वस्यावकाशः—अन्ये जनादयः। सनोतेरनुनासिकस्योभयं प्राप्नोति, आत्त्वं भवति विप्रतिषेधेन॥ नैष युक्तो विप्रतिषेधः। न हि सनोतेरनुनासिकलोपस्यान्ये तनोत्यादयोऽवकाशः। सनोतेर्यस्तनोत्यादिषु पाठः सोऽनवकाशः। न खल्वप्यात्त्वस्यान्ये जनादयोऽवकाशः। सनोतेर्यदात्त्वे ग्रहणं तदनवकाशम्, तस्यानवकाशत्वादयुक्तो विप्रतिषेधः॥

[प्रसङ्गान्तर **वा०**-] सनोति के अनुनासिक-लोप से आत्व, विप्रतिषेध से।

सनोति के अनुनासिक-लोप से आत्व [पहले] होता है, विप्रतिषेध से। [सनोति धातु तनोत्यादि-गण में है। अतः पूर्वोक्त 'अनुदात्तोपदेश...' से अनुनासिक-लोप प्राप्त होता है।] सनोति के अनुनासिक-लोप का अवकाश है—अन्य तनोति आदि धातुएँ। [यद्यपि इस विवरण से सूत्र में 'तनोत्यादीनाम्' यह वचन सार्थक होता है। परन्तु तनोत्यादि में सनोति पाठ की सार्थकता सिद्ध नहीं होती। इसकी व्याख्या के लिये आगे महाभाष्यकार ने अन्य सूत्रों में वर्णित 'तनादि' के अन्तर्गत 'सन्' धातु के पाठ की सार्थकता सिद्ध की है।] आत्व का अवकाश है—अन्य जनादि। [जन्, खन् धातुओं में झलादि क्ङित् परे रहने पर आत्व की सार्थकता सिद्ध होगी। सन् धातु में आत्व की सार्थकता सन् प्रत्यय परे रहने पर सम्पन्न होगी।] अब यहाँ सन् धातु के अनुनासिक के स्थान में दोनों पाते हैं—सातः, सातवान्। विप्रतिषेध से आत्व हो जाता है।

यह विप्रतिषेध समुचित नहीं है। सन् धातु के अनुनासिक-लोप की [सावकाशता की सिद्धि के लिये] अन्य तनोत्यादि के अवकाश को प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। तनोत्यादि में जो सन् का पाठ है, वह अनवकाश है।

[झलादि क्ङित् परे रहने पर सन् धातु के] आत्व के लिये भी [सन् धातु से] अन्य जनादि को अवकाश के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। सन् धातुओं का जो [झलादि क्ङित् परे रहने पर] आत्व में ग्रहण है, वह अनवकाश है। उसके अनवकाश होने से विप्रतिषेध अयुक्त है।

विवरण—सन् धातु के अनुनासिक-लोप तथा आत्व का विप्रतिषेध दिखाने के लिए उन्हीं परिस्थितियों में इन दोनों को सावकाश सिद्ध करना अनिवार्य है। पर इसकी सिद्धि नहीं हो पाती—

१. सन् धातु को झलादि क्ङित् परे रहने पर अनुनासिक-लोप का सावकाश दिखाना आवश्यक है। पर यह सम्भव नहीं है। क्योंकि सर्वत्र आत्व की प्राप्ति होती है। अतः 'अनुदात्तोपदेश...' सूत्र में तनोत्यादि के अन्तर्गत सन् का पाठ निरवकाश ही सिद्ध होता है। सन् के अलावा तनोत्यादि की अन्य धातुओं के लिये सूत्र तो

एवं तर्हि तनोत्यादिषु पाठस्तावत्सावकाशः। कोऽवकाशः? अन्यानि तनोत्यादिकार्याणि। 'तनादिभ्यस्तथासोः' (२.४.७९) इति। आत्त्वेऽपि ग्रहणं सावकाशम्। कोऽवकाशः? 'सनि च' 'ये विभाषा' (६.४.४३) च। उभयोः सावकाशयोर्युक्तो विप्रतिषेधः। एवमप्ययुक्तो विप्रतिषेधः। पठिष्यति ह्याचार्यः—'पूर्वत्रासिद्धे नास्ति विप्रतिषेधोऽभावादुत्तरस्य' इति। एकस्य हि नामाभावे विप्रतिषेधो न स्यात्, किं पुनर्यत्रोभयं नास्ति॥ नैष दोषः। भवतीह विप्रतिषेधः। किं वक्तव्यमेतत्? न हि। कथमनुच्यमानं गंस्यते?—

सावकाश होता है। पर तनोत्यादि में सन् धातु का पाठ सावकाश नहीं बन पाता।

२. झलादि क्ङित् परे रहने पर सन् से भिन्न जन, खन के आत्व की सावकाशता तो सिद्ध होती है। क्योंकि जन, खन के उदात्त होने से, अनुदात्तोपदेश न होने से अनुनासिक-लोप की प्राप्ति नहीं है। पर इसी परिस्थिति में सन् के आत्व की सावकाशता सिद्ध नहीं होती। क्योंकि सन् के तनोत्यादि के अन्तर्गत होने से सर्वत्र अनुनासिक-लोप की प्राप्ति होती है। इस प्रकार स्थिति यह है कि सन् धातु के सन्दर्भ में सभी स्थानों में दोनों की एक साथ प्राप्ति है। इससे ये दोनों सावकाश नहीं बन पाते।

भा०—अच्छा तो फिर तनोत्यादि में [जो सन् का] पाठ है वह सावकाश बन सकता है। क्या अवकाश है? अन्य तनोत्यादिकार्य—'तनादिभ्यस्तथासोः'। [इस प्रकार तनोत्यादि में सन् की सार्थकता अन्य सूत्रों के सन्दर्भ में सिद्ध हो जाएगी।]

आत्व में भी सन् [धातु] का ग्रहण सावकाश है। क्या अवकाश है? सन् परे रहने पर तथा य परे रहने पर विकल्प से। [इसी सूत्र में झलादि क्ङित् के साथ-साथ सन् प्रत्यय परे रहने पर भी आत्व कहा है। अतः सन् प्रत्यय परे रहने पर सन् धातु को आत्व करने के लिए आत्व विधान सार्थक है। अन्यत्र भी ऐसी ही परिस्थति देखी जाती है। जन्, खन् को आत्व-विधान केवल झलादि क्ङित् परे सार्थक है। क्योंकि इनके सेट् होने से झलादि सन् परे न मिलने से यहाँ आत्व नहीं होता। इसी प्रकार सन् धातु को सन् प्रत्यय परे रहने पर ही आत्व-विधान सार्थक होगा।] दोनों के सावकाश होने पर विप्रतिषेध समुचित है।

तो भी विप्रतिषेध युक्ति सङ्गत नहीं, आचार्य पाठ करेंगे—पूर्वत्रासिद्ध में विप्रतिषेध नहीं, उत्तर [त्रिपादी के असिद्ध होने से] उसके अभाव होने से। जब एक के अभाव होने पर विप्रतिषेध नहीं होता तो दोनों के न होने पर तो कहना ही क्या! ['असिद्धवदत्राभात्' सूत्र से दोनों सूत्र एक-दूसरे के प्रति असिद्ध होंगे। इस प्रकार एक-दूसरे की दृष्टि से दोनों के अभाव होने से विप्रतिषेध नहीं हो सकता।]

यह दोष नहीं है। यहाँ विप्रतिषेध होता है। [विप्रतिषेध से व्यवस्था के अवसर पर असिद्धत्व नहीं होता।] क्या इसे कहा जावे? नहीं। कहे बिना कैसे

आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति, भवतीह विप्रतिषेध इति, यदयं 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' (६.४.६६) इति हल्ग्रहणं करोति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्? हल्ग्रहणस्यैतत्प्रयोजनं हलादावीत्वं यथा स्यात्, इह मा भूत्—गोदः कम्बलद इति। यदि चात्र विप्रतिषेधो न स्यादिह हल्ग्रहणमनर्थकं स्यात्। अस्त्वत्रेत्त्वम्। ईत्त्वस्यासिद्धत्वाल्लोपो भविष्यति। पश्यति त्वाचार्यः—भवतीह विप्रतिषेधस्ततो हल्ग्रहणं करोति॥ नैतदस्ति ज्ञापकम्। व्यवस्थार्थमेतत् स्यात्। हलादावीत्त्वं यथा स्यादजादौ मा भूदिति। किं च स्यात्? इयङादेशः प्रसज्येत। ननु चासिद्धत्वादेवेयङादेशो न भविष्यति।

प्रतीति होगी। आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापक है कि यहाँ विप्रतिषेध होता है, जो उन्होंने 'घुमास्था...' सूत्र में हल् ग्रहण किया है। यह ज्ञापक किस प्रकार है? हल् ग्रहण का प्रयोजन यह है कि हलादि [क्ङित्] परे रहने पर ईत्व हो। यहाँ [अजादि परे रहने पर] न हो—गोदः, कम्बलदः। [गोद में 'आतो लोप इटि च' (६.४.६४) से आकारलोप तथा प्रस्तुत सूत्र में हल् ग्रहण न करने पर उससे ईत्व की प्राप्ति है।] अगर यहाँ [दोनों के परस्पर असिद्ध होने से] विप्रतिषेध न हो तो हल् ग्रहण अनर्थक होगा। यहाँ ईत्व हो जावे। ईत्व के असिद्ध होने से लोप हो जाएगा। [विप्रतिषेध न होने पर दोनों सूत्र क्रमशः प्रवृत्त होंगे तथा असिद्ध होने से एक-दूसरे से निर्मित परिस्थिति को ध्यान नहीं रखेंगे।] पर आचार्य तो यह देखते हैं कि यहाँ विप्रतिषेध होता है, इसलिये हल् ग्रहण करते हैं। [विप्रतिषेध होने पर परत्व से ईत्व होगा। उस ईत्व के असिद्ध न होने से उसका लोप नहीं पाएगा। अतः हल् ग्रहण सार्थक होता है।]

यह ज्ञापक नहीं है। यह [हल् ग्रहण] व्यवस्था के लिये होगा। हलादि परे रहने पर ईत्व हो, अजादि परे रहने पर न हो। यदि हो जाता तो क्या होता? यदि अजादि परे रहने पर भी ईत्व होता तो इयङ् आदेश की प्राप्ति होती।

विवरण—यदि यहाँ विप्रतिषेध न हो तो भी हल् ग्रहण अनर्थक नहीं है। क्योंकि यदि यहाँ ईत्व हो जावे तो ईकार के असिद्ध होने से 'आतो लोप...' से आकारलोप तथा ईकार के श्रूयमाण होने से उसे 'अचि श्नु...' (६.४.७७) से इयङ् की प्राप्ति होती है। अतिदेश होने पर भी स्वाश्रय कार्य निवृत्त नहीं होते। साथ ही श्रूयमाण होने से स्वाश्रय कार्य ही प्रबल होते हैं। अतः दोनों की प्राप्ति होने पर स्वाश्रय कार्य इयङ् की प्राप्ति होती है। उसके निवारण के लिये हल् ग्रहण सार्थक है। इस प्रकार अब तक हल्-ग्रहण के द्वारा 'विप्रतिषेध होता है', यह ज्ञापक नहीं बन सका।

भा०—क्यों, [ईत्व के] असिद्ध होने से इयङ् आदेश भी नहीं होगा [ज्ञापकवादी का कहना है कि जिस प्रकार आकारलोप की दृष्टि से ईत्व असिद्ध

न शक्यमीत्त्वमियङादेशेऽसिद्धं विज्ञातुम्। इह हि दोषः स्यात्—धियौ, धियः, पियौ, पिय इति। नैतदीत्त्वम्। किं तर्हि? ध्याप्योः संप्रसारणमेतत्। समानाश्रयं खल्वप्यसिद्धं भवति, व्याश्रयं चैतत्। कथम्? क्वावीत्त्वं क्विबन्तस्य विभक्तावियङादेशः॥ व्यवस्थार्थमेव तर्हि हल्ग्रहणं कर्तव्यम्। कुतो ह्येतदीत्त्वस्यासिद्धत्वाल्लोपः स्यात्, न पुनर्लोपस्यासिद्धत्वादीत्त्वमिति? तत्र चक्रकमव्यवस्था प्रसज्येत? नास्ति चक्रकप्रसङ्गः। न ह्यव्यवस्थाकारिणा शास्त्रेण भवितव्यम्। शास्त्रतो नाम व्यवस्था। तत्रेत्त्वस्यासिद्धत्वाल्लोपो लोपेनावस्थानं भविष्यति। न खल्वपि तस्मिंस्तदेवासिद्धं भवति॥

है, उसी प्रकार इयङ् की दृष्टि से भी ईत्व असिद्ध होगा। पूर्वोक्त रीति से श्रूयमाण के आधार पर कार्य को अमान्य करके यह वचन है।]

इयङ् आदेश के प्रति ईत्व को असिद्ध नहीं मान सकते। यहाँ दोष होगा—धियौ, धियः। [धा धातु से क्विप्, उसका सर्वापहारी लोप, प्रत्ययलक्षण से ईत्व। 'औ' परे रहने पर 'धी औ' इस दशा में ईकार को इयङ् करना है। यदि इयङ् की दृष्टि में ईकार असिद्ध हो तो इयङ् नहीं पाएगा।]

यह ईत्व नहीं है। तो फिर क्या है? ध्या, प्या का सम्प्रसारण है। ['ध्यायतेः सम्प्रसारणं च' ('अन्येभ्योऽपि दृश्यते' ३.२.१७८) के अनुसार। अतः सम्प्रसारण के असिद्ध प्रकरण में न होने से वह सिद्ध ही रहेगा।] दूसरी बात यह कि समानाश्रय असिद्ध होता है, यह तो व्याश्रय है। किस प्रकार? 'क्वि' परे रहने पर ईत्व होता है, क्विबन्त का विभक्ति परे रहने पर इयङ् आदेश होता है। [इस प्रकार स्थापित हुआ कि इयङ् की दृष्टि में ईत्व सिद्ध होगा। इससे ज्ञापक बन सकेगा।]

अच्छा तो फिर व्यवस्था के लिये ही हल् ग्रहण करना चाहिये। ऐसा क्यों कि ईत्व के असिद्ध होने पर लोप होगा, ऐसा क्यों नहीं कि लोप के असिद्ध होने पर ईत्व हो? इससे चक्रक अव्यवस्था प्राप्त होगी?

विवरण—यदि यहाँ विप्रतिषेध न हो तथा एक-दूसरे के प्रति दोनों असिद्ध हों तो यह आवश्यक नहीं कि ईत्व ही असिद्ध हो, अपितु यह भी हो सकता है कि लोप पहले हो तथा ईत्व करने में वह लोप असिद्ध हो। ऐसा होने पर क्रम-क्रम से चक्रानुसार कभी ईत्व, कभी आलोप दिखने लगेगा।

भा०—यह चक्रक-प्रसङ्ग नहीं है। शास्त्र को अव्यवस्थाकारी नहीं होना चाहिये। शास्त्र से व्यवस्था ही सम्पन्न होती है। तब [इष्टानुसार व्याख्या करते हुए] पहले ईत्व होगा, उसके असिद्ध होने पर आल्लोप होगा। [व्यवस्थाकारी होने से] इस लोप के पश्चात् अवस्थिति हो जाएगी। [आगे क्रम रुक जाएगा।] साथ ही तर्क है कि उसके (क) प्रति वही (क) ही असिद्ध नहीं होता। [आगे स्वयं इस तर्क का निवारण करेंगे। क्योंकि यहाँ क्रम-क्रम से करना है। इस प्रकार

व्यवस्थार्थमेव तर्हि हल्ग्रहणं कर्तव्यम्। हलादावीत्त्वं यथा स्यादजादौ मा भूदिति। कुतो ह्येतदीत्त्वस्यासिद्धत्वाल्लोपः, लोपेनावस्थानं भविष्यति। न पुनर्लोपस्यासिद्धत्वादीत्त्वमीत्त्वेन व्यवस्थानं स्यात्? तदेव खल्वपि तस्मिन्नसिद्धं भवति। कथम्? पठिष्यति ह्याचार्यः—'चिणो लुकि तग्रहणानर्थक्यं संघातस्याप्रत्ययत्वात्तलोपस्य चासिद्धत्वाद्' इति। चिणो लुक् चिणो लुक्येवासिद्धो भवति॥ एवं तर्हि यदि व्यवस्थार्थमेतत् स्यान्नैवायं हल्ग्रहणं कुर्वीत। अविशेषेणायमीत्त्वमुक्त्वा तस्याजादौ लोपमपवादं विदधीत। इदमस्ति—'आतो लोप इटि च' इति। ततो घुमास्थागापाजहातिसाम्। लोपो भवतीटि चाजादौ क्ङितीति। किमर्थं पुनरिदम्? ईत्त्वं वक्ष्यति, तद्बाधनार्थम्। तत ईत्। ईच्च भवति घ्वादीनाम्। तत एर्लिङि। वान्यस्य संयोगादेः। न ल्यपि। मयतेरिदन्यतरस्याम्। ततो यति। यति च ईद् भवति। सोऽयमेवं लघीयसा न्यासेन सिद्धे सति यद्धल्ग्रहणं करोति, गरीयांसं यत्नमारभते, तज्ज्ञापयत्याचार्यः—भवतीह विप्रतिषेध इति॥

अभी तक हल् ग्रहण का ज्ञापकत्व सुस्थिर रहा।]

तो फिर व्यवस्था के लिये ही हल् ग्रहण करना चाहिये। हलादि परे रहने पर ईत्व हो, अजादि परे रहने पर न हो। ऐसा क्यों कि ईत्व के असिद्ध होने पर लोप होगा, लोप होने पर क्रम रुक जाएगा। ऐसा क्यों न हो कि लोप के असिद्ध होने पर ईत्व होगा, ईत्व होने पर क्रम रुक जाएगा? [पहले हमने इष्टानुसार कहा था—पर इष्ट हो या अनिष्ट—प्राप्ति तो होती है।] साथ ही यह भी कि [व्यक्ति पदार्थ पक्ष में अलग-अलग व्यक्ति की दृष्टि से क्रम-क्रम से] वही उसके प्रति असिद्ध होता है। [किस प्रकार? 'चिणो लुक्' (६.४.१०४) सूत्र में कहेंगे 'चिणो लुकि...'। [इसकी व्याख्या वहीं देखें।] [यहाँ व्यक्ति-पक्ष में चिण् का लुक् चिण् के लुक् के प्रति ही असिद्ध होता है।]

[आगे पुनः ज्ञापकवादी का कहना है कि-] यदि [हल् ग्रहण] व्यवस्था के लिये होता, तब तो हल् ग्रहण करते ही नहीं। सामान्यतः ईत्व का विधान करके अजादि परे रहने पर अपवाद आल्लोप का शासन कर देते। यह किस प्रकार? इस प्रकार—'आतो लोप इटि च'। पश्चात् 'घुमास्था...' इनका अजादि क्ङित् परे रहने पर लोप होता है। यह किसलिये? [अभी सामान्यतः] ईत्व कहेंगे, उसका [अजादि परे रहने पर] बाधन के लिये। उसके पश्चात् 'ईत्'। घु आदि को [सामान्यतः किसी के भी परे रहने पर] ईत्व होता है। उसके पश्चात् 'एर्लिङि...' आदि। पश्चात् अन्त में 'यति'। यत् परे रहने पर भी ईत्व होता है। इस प्रकार लघीयान् न्यास से सिद्ध होने पर भी जो हल् ग्रहण किया है—गरीयान् यत्न किया है, उससे आचार्य ज्ञापित करते हैं कि यहाँ विप्रतिषेध होता है।

सनः क्तिचि लोपश्चास्यान्यतरस्याम्॥ ६.४.४५ ॥

इहान्यतरस्यांग्रहणं शक्यमकर्तुम्। कथम्? सनः क्तिचि लोपश्च। आत्वं च विभाषेति॥

अपर आह—सर्व एवायं योगः शक्योऽवक्तुम्। कथम्? इह लोपोऽपि प्रकृतः, आत्त्वमपि प्रकृतम्, विभाषाग्रहणमपि प्रकृतम्। तत्र केवलमभिसम्बन्धमात्रं कर्तव्यम्। सनः क्तिचि लोपश्चात्त्वं च विभाषेति॥

विवरण—प्रस्तुत प्रबन्ध एकदेश्युक्ति है। ज्ञापक का प्रकार यह हो सकता है—यदि यहाँ विप्रतिषेध न होता तथा हल् ग्रहण व्यवस्था के लिये होता तब तो—हल् ग्रहण व्यर्थ होने लगता है। इसके स्थान पर उपर्युक्त विन्यास से काम चल जाता। इससे सिद्ध होता है कि विप्रतिषेध होता है। इसके होने पर उपरिलिखित विन्यास से काम नहीं चल रहा था। इसे करने के लिये हल् ग्रहण की सार्थकता या उसकी चरितार्थता प्रमाणित होती है।

परन्तु यहाँ स्थिति यह है कि विप्रतिषेध होना ज्ञापित होने पर भी उपरिलिखित विन्यास से भली प्रकार काम चल सकता है। प्रस्तुत विन्यास के अनुसार 'गोदः' में आल्लोप ईत्व का अपवाद होकर बाधन कर लेगा। इस प्रकार ज्ञापन के पश्चात् भी हल् ग्रहण की चरितार्थता प्रमाणित नहीं होती। इसलिये यह भाष्य एकदेश्युक्ति है। महावैयाकरण नागोजी भट्ट ने भी ऐसा ही स्वीकार किया है।

इस ज्ञापक के बिना भी 'इनमें विप्रतिषेध होता है, इस सिद्धान्त की स्थापना की जा सकती है। क्योंकि परस्पर दोनों के असिद्ध होने पर तुल्यबलत्व तो बना ही रहता है? इससे दोनों के असिद्धत्व का आरोपमात्र होता है। शास्त्रों का अभाव नहीं होता।

सनः क्तिचि लोपश्चास्यान्यतरस्याम्॥

भा०—यहाँ 'अन्यतरस्याम्' न कहें तो भी कार्य सिद्ध हो सकता है। किस प्रकार? 'सनः क्तिचि लोपश्च' [सूत्र होगा। पुनः] 'आत्वं च विभाषा' [अनुवर्तन होगा।] [प्रस्तुत सूत्र से नकारलोप होने से 'सतिः' बनेगा। [आत्व के विकल्प-विधान से सातिः तथा आत्व न होने पर यथोपलब्ध 'सन्तिः' सिद्ध होगा।]

अन्य आचार्य कहते हैं—यह सम्पूर्ण सूत्र के अनारम्भ से भी कार्य सिद्ध हो सकता है। [तात्पर्य यह है कि 'सनः क्तिचि' इतना ही कहा जावे। 'लोपश्च' की भी आवश्यकता नहीं है। अधिकांश सूत्र के अनावश्यक होने से सम्पूर्ण सूत्र कह दिया है। यह किस प्रकार? यहाँ लोप भी प्रकृत है, आत्व भी प्रकृत है तथा 'विभाषा' ग्रहण भी प्रकृत है। अब केवल सम्बन्धमात्र करना है—सन् का क्तिच् परे रहने पर लोप भी होता है तथा आत्व भी विकल्प से होता है।

आर्धधातुके ॥ ६.४.४६ ॥

कानि पुनरार्धधातुकाधिकारस्य प्रयोजनानि ?

अतो लोपो यलोपश्च णिलोपश्च प्रयोजनम्।

आल्लोप ईत्त्वमेत्वं च चिण्वद्धावश्च सीयुटि ॥

'अतो लोपः' (६.४.४८) चिकीर्षितुम्। आर्धधातुक इति किमर्थम्? चिकीर्षति ॥ नैतदस्ति प्रयोजनम्। अस्त्वत्र सनोऽकारलोपः शपोऽकारस्य श्रवणं भविष्यति। शप एव तर्हि मा भूदिति। एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—नानेन शबकारस्य लोपो भवतीति, यदयमदि-प्रभृतिभ्यः शपो लुकं शास्ति। नैतदस्ति ज्ञापकम्। कार्यार्थमेतत्स्यात्। वित्तः, मृष्ट इति। यत्तर्ह्याकारान्तेभ्यो लुकं शास्ति। याति, वाति।

आर्धधातुके ॥

भा०—'आर्धधातुक' अधिकार के क्या प्रयोजन हैं ?

का०—[अनुपद व्याख्यात है।]

भा०—अकार का लोप प्रयोजन है—चिकीर्षिता। आर्धधातुके किसलिये ? चिकीर्षति। [सनन्त चिकीर्ष धातु से लट् लकार में चिकीर्ष अ ति' इस दशा में स का अकारलोप प्राप्त है।]

यह प्रयोजन नहीं है। यहाँ सन् के अकार का लोप हो जावे, शप् के अकार का श्रवण हो जाएगा। अच्छा तो फिर, शप् का भी लोप न हो जावे। यह भी प्रयोजन नहीं है। आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापक है कि इससे शप् के अकार का लोप नहीं होता, जो 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' से शप् के लुक् का शासन करते हैं। [यदि इस सूत्र से सार्वधातुक परे रहने पर भी लोप होता तो 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' से पुनः विधान की आवश्यकता नहीं थी।]

यह ज्ञापक नहीं है। यह तो कार्य के लिये हो सकता है—वित्तः, मृष्टः ['अदिप्रभृतिभ्यः शपः' से लुक् का शासन लुक् के आश्रित होने वाले कार्य 'न लुमताऽङ्गस्य' (१.१.६३) से प्रत्ययलक्षण-प्रतिषेध के लिये सम्पन्न हो सकता है। 'वित्तः' में प्रत्ययलक्षण होने पर सार्वधातुक अक्ङित् शप् के दृष्ट होने से गुण की प्राप्ति होती।]

अच्छा तो फिर जो आकारान्त से लुक् का शासन करते हैं, [वह ज्ञापक हो सकता है।] याति, वाति। [या, वा का अदादि गण में पाठ होने से 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' से शप् का लुक् होता है। यदि इस प्रस्तुत सूत्र से सार्वधातुक परे रहने पर भी लोप होता तब तो इस धातु का अदादिगण में पाठ नहीं करते। क्योंकि यहाँ लुक्

अस्तेश्च—अस्तेश्चापि लुकं शास्ति। अस्ति॥ इदं तर्हि प्रयोजनम्—वृक्षस्य, प्लक्षस्य। अतो लोपः प्राप्नोति॥ यलोपोऽपि प्रयोजनम्—बेभिदिता, चेच्छिदिता। आर्धधातुक इति किमर्थम्? बेभिद्यते, चेच्छिद्यते॥ णिलोपः—पाच्यते, याज्यते। आर्धधातुक इति किमर्थम्? पाचयति, याजयति॥ आल्लोपः—ययतुः, ययुः। ववतुः, ववुः। आर्धधातुक इति किमर्थम्? यान्ति, वान्ति॥ ईत्त्वम्—दीयते, धीयते। आर्धधातुक इति किमर्थम्? अदाताम्, अधाताम्॥ एत्वम्—ग्लेयात्, म्लेयात्। आर्धधातुक इति किमर्थम्? स्नायात्, स्नायाताम्॥

के आश्रित कोई कार्य विधेय नहीं है।] साथ ही 'अस्' धातु से जो लुक् का शासन करते हैं। [इसे भी अदादि में पठित करने की आवश्यकता नहीं थी। व्यर्थ होकर यह ज्ञापक बन सकता है कि इससे सार्वधातुक परे रहने पर लोप नहीं होता]।

अच्छा तो फिर यह प्रयोजन है—वृक्षस्य...। [यहाँ 'स्य' आदेश कर लेने पर 'वृक्ष+स्य' इस दशा में 'आर्धधातुके' न कहने पर 'अतो लोपः' से क्ष के अकार-लोप की प्राप्ति है।]

यलोप में भी प्रयोजन है—बेभिदिता...। 'आर्धधातुके' किसलिये है? बेभिद्यते...। [यङन्त भिद् धातु से लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन में 'बेभिद्य अ ते' इस दशा में 'आर्धधातुके' न कहने पर सार्वधातुक 'अ' परे रहने पर 'यस्य हलः' (६.४.४९) से यलोप की प्राप्ति होती है।]

णिलोप प्रयोजन है—याज्यते...[णिजन्त यज् धातु से कर्मवाच्य लट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में 'य' आर्धधातुक परे रहने पर 'णेरनिटि' (६.४.५१) से णिलोप] यहाँ 'आर्धधातुके' किसलिये? पाचयति...। ['पाचि अ ति' इस दशा में सार्वधातुक शप् परे रहने पर 'णेरनिटि' से इ का लोप न हो।]

आल्लोप—ययतुः...। [या धातु लिट् लकार प्रथम पुरुष, द्विवचन। 'आतो लोप इटि च' (६.४.६४) से आकारलोप।] 'आर्धधातुके' किसलिये है? यान्ति..। ['अन्ति' सार्वधातुक परे रहने पर आकार-लोप न हो।]

ईत्व—धीयते...। [दा धातु, कर्मवाच्य, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। 'घुमास्थागा...' (६.४.६६) से दा के आकार को ईकार।] 'आर्धधातुके' किसलिये है? अदाताम्...। [दा धातु, लङ् लकार प्रथम पुरुष, द्विवचन। 'अ दा स् ताम्' इस दशा में 'गातिस्थाघु...' (२.४.७७) से सिच्लोप। 'अ दा ताम्' इस दशा में 'आर्धधातुके' न कहने पर पूर्वोक्त से ईत्व की प्राप्ति।]

एत्व—ग्लेयात्....। [ग्ला धातु आशीर्लिङ् प्रथम पुरुष, एकवचन। 'ग्ला या त्' इस दशा में 'लिङाशिषि' से आर्धधातुक होने से 'वान्यस्य संयोगादेः' (६.४.६८) से एकार।] 'आर्धधातुके' किसलिये? स्नायात्...[स्ना धातु, विधिलिङ् प्रथम पुरुष, एकवचन में तिप् के भाग यासुट् के सार्वधातुक होने से उसके परे रहने पर

चिण्वद्भावश्च सीयुटि—चिण्वद्भावे सीयुटि किमुदाहरणम्? कारिषीष्ट, हारिषीष्ट। आर्धधातुक इति किमर्थम्? क्रियेत, ह्रियेत। नैतदुदाहरणम्। यका व्यवहितत्वान्न भविष्यति। इदं तर्ह्युदाहरणम्—प्रस्नुवीत। इदं चाप्युदाहरणम्—क्रियेत, ह्रियेत। ननु चोक्तं यका व्यवहितत्वान्न भविष्यतीति? यक एव तर्हि मा भूदिति? किं च स्यात्? वृद्धिः। वृद्धौ कृतायां युक्प्रसज्येत॥

भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम्॥ ६.४.४७॥

अयं 'रम्' रेफस्य स्थाने कस्मान्न भवति? 'मिदचोऽन्त्यात्परः' (१.१.४७) इत्यनेनाचामन्त्यात्परः क्रियते। रेफस्य तर्हि श्रवणं कस्मान्न भवति? षष्ठ्युच्चारणसामर्थ्यात्॥

एकार नहीं होता।]

सीयुट् परे रहने पर चिण्वद्भाव—इसमें क्या उदाहरण है? कारिषीष्ट...। [कृ धातु, कर्मवाच्य, आशीर्लिङ्, प्रथम पुरुष-एकवचन यहाँ आर्धधातुक लिङ् के अवयव सीयुट् परे रहने पर इट् तथा चिण्वत् होने से कृ को वृद्धि।] 'आर्धधातुके' किसलिये? क्रियेत...। [कृ धातु, कर्मवाच्य, विधिलिङ्, प्रथम पुरुष, एकवचन। 'कृ य ईय् त' इस दशा में सीयुट् के ईय् के सार्वधातुक त का भाग होने से सार्वधातुक होने से, उसके परे रहते चिण्वत् इट् नहीं होता।] यह उदाहरण नहीं है। यक् के साथ व्यवधान होने से नहीं होगा। [सीयुट् परे रहने पर अजन्त को कार्य करना है। यहाँ यक् का व्यवधान है।]

अच्छा तो फिर यह उदाहरण है—प्रस्नुवीत। [यह कर्मकर्ता का उदाहरण है। यहाँ 'न दुहस्नुनमां यक्चिणौ' (३.१.८९) से यक् का प्रतिषेध है। 'आर्धधातुके' कहने से यहाँ विधिलिङ् में चिण्वत् नहीं होता।]

यह भी [प्रत्यु]दाहरण है—क्रियेत...। इस पर तो कहा था कि यक् के व्यवधान होने से नहीं होगा। अच्छा तो फिर यक् को ही [चिण्वदिट्] न हो जावे। यदि होता तो क्या हो जाता? वृद्धि। वृद्धि करने के पश्चात् युक् की प्राप्ति होती। [इस प्रकार 'आर्धधातुके' का यह प्रयोजन भी स्थिर रहा।]

भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम्॥

भा०—यह 'रम्' रेफ के स्थान में क्यों नहीं होता? 'मिदचोऽन्त्यात् परः' सूत्र से अन्तिम अच् [भ्र के अ] के उत्तर अवस्थित किया जाता है। तब फिर रेफ का श्रवण क्यों नहीं होता? ['मिदचो...' सूत्र से अन्त्य अच् से परे अवस्थिति का विधान होने से आदेश के लिये स्थानी अविशेषित होता है।] [समाधान-] षष्ठी-उच्चारणसामर्थ्य से। [उच्चारणसामर्थ्य से वाक्यभेद से दो अर्थ होते हैं—१. र-उपधा के स्थान में या प्रसङ्ग में उस स्थानी को निवृत्त करते हुए रम्। २. अन्तिम

भारद्वाजीयाः पठन्ति—'भ्रस्जो रोपधयोर्लोप आगमो रम् विधीयते' इति॥

भ्रस्जादेशात्संप्रसारणं विप्रतिषेधेन॥ १॥

भ्रस्जादेशात् संप्रसारणं भवति विप्रतिषेधेन। भ्रस्जादेशस्यावकाशः—भर्ष्टा, भर्ष्टुम्। सम्प्रसारणस्यावकाशः—भृज्जति। इहोभयं प्राप्नोति—भृष्टः, भृष्टवानिति। संप्रसारणं भवति विप्रतिषेधेन॥ स तर्हि पूर्वविप्रतिषेधो वक्तव्यः। न वक्तव्यः।

रसोर्वर्वचनात्सिद्धम्॥ २॥

रसोर्वा ऋ भवतीति वक्ष्यामि॥

अच् से उत्तर रम्। इस प्रकार 'भ्रस्ज् ता' इस दशा में इस सूत्र से 'भर्ज् ता' बनता है।] भारद्वाज गोत्र के आचार्य स्पष्ट ही दोनों विधान करते हैं—भ्रस्ज् की र-उपधा का लोप तथा रम् आगम का विधान किया जाता है।

विशेष—यह पूर्व आचार्यों का अनुसरण करते हुए महर्षि पाणिनि द्वारा अपनाया गया सुदीर्घ उपाय है। आसान रीति से 'भृजी भर्जने' धातु को अनिट् भी मानते हुए तथा भृज् के जकार का षकार विधान करते हुए भर्ष्टा, भृष्टः आदि सिद्ध हो सकते हैं। 'भ्रष्टा' प्रयोग भ्रस्ज् धातु से सिद्ध होगा।

वा०—भ्रस्ज् के आदेश से सम्प्रसारण, विप्रतिषेध से।

भा०—भ्रस्ज् के स्थान में आदेश से पहले ['ग्रहिज्यावयि....' (६.१.१६) से सम्प्रसारण [पूर्व] विप्रतिषेध से होता है। भ्रस्ज् के स्थान में आदेश का अवकाश है—भर्ष्टा...। [जहाँ क्ङित् परे नहीं हो।] सम्प्रसारण का अवकाश है—भृज्जति। [जहाँ आर्धधातुक परे नहीं है।] यहाँ [क्ङित् तथा आर्धधातुक परे रहने पर] दोनों पाते हैं—भृष्टः, भृष्टवान्। [पूर्व] विप्रतिषेध से सम्प्रसारण हो जाता है।

तो फिर यह पूर्वविप्रतिषेध कहा जावे? नहीं कहना चाहिये।

वा०—र, स के स्थान में विकल्प से ऋ-वचन से सिद्ध।

भा०—[अच् सहित] रेफ तथा सकार के स्थान में 'ऋ' आदेश विकल्प से होता है, यह कहेंगे। [इससे अक्ङित् तृच् आदि परे होने पर ऋकारादेश तथा उसे गुण होकर भर्ष्टा, एक पक्ष में ऋकार आदेश न होने पर 'भ्रष्टा' बनेगा। क्ङित् तस् आदि परे होने पर ऋकारादेश होने पर भृष्टः तथा ऋकारादेश न होने पर सम्प्रसारण होकर वही रूप 'भृष्टः' बनेगा। स्थिति इस प्रकार है—

१. अक्ङित् में — ऋकारादेश होने पर भर्ष्टा
— ऋकारादेश न होने पर भ्रष्टा

२. क्ङित् में — ऋकारादेश होने पर भृष्टः
— ऋकारादेश न होने पर सम्प्रसारण होकर वही भृष्टः।]

रसोर्वर्वचने सिचि वृद्धेर्भ्रस्जादेशः ॥ ३ ॥

रसोर्वा ऋवचने सिचि वृद्धेर्भ्रस्जादेशो वक्तव्यः। वृद्धौ कृतायामिदमेव रूपं स्यात्—अभ्राक्षीत्। इदं न स्यात्—अभार्क्षीदिति। सर्वथा वयं पूर्वविप्रतिषेधान्न मुच्यामहे। सूत्रं च भिद्यते॥ यथान्यासमेवास्तु। ननु चोक्तम्—'भ्रस्जादेशात् संप्रसारणं विप्रतिषेधेन' इति? इदमिह संप्रधार्यम्—भ्रस्जादेशः क्रियताम्, संप्रसारणमिति किमत्र कर्तव्यम्? परत्वाद् भ्रस्जादेशः। नित्यत्वात्संप्रसारणम्। कृतेऽपि भ्रस्जादेशे प्राप्नोत्यकृतेऽपि। भ्रस्जादेशोऽपि नित्यः। कृतेऽपि संप्रसारणे प्राप्नोत्यकृतेऽपि प्राप्नोति। कथम्? योऽसावृकारे रेफस्तस्य चोपधायाश्च कृतेऽपि प्राप्नोति। अनित्यो भ्रस्जादेशः न हि कृते संप्रसारणे प्राप्नोति। किं कारणम्? न हि वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन

वा०—र, स को वावचन में सिच् परे रहते वृद्धि की अपेक्षा भ्रस्जादेश।

भा०—र, स के स्थान में ऋकार आदेश का वचन बनाने पर सिच् परे रहने पर वृद्धि से पहले [पूर्वविप्रतिषेध द्वारा] भ्रस्ज् आदेश कहना होगा। यदि यहाँ वृद्धि करें तो यही रूप बन पाता—अभ्राक्षीत्। यह न बन पायेगा—अभार्क्षीत्।

विवरण—भ्रस्ज् धातु लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन में 'अ भ्रस्ज् स् इ त्' इस दशा में इस सूत्र से ऋ आदेश के साथ-साथ 'वदव्रजहलन्तस्याचः' (७.२.३) से अकार को वृद्धि भी पाती है। यदि पर-विप्रतिषेध से ऋ-आदेश को बाधकर वृद्धि हो जावे तो 'अभ्राक्षीत्' रूप बनेगा। परन्तु ऋकार आदेश वाला 'अभार्क्षीत्' रूप नहीं बन पाएगा। इसकी सिद्धि के लिये ऋकारादेश तथा वृद्धि के बीच पूर्वविप्रतिषेध कहना ही पड़ेगा। यदि पूर्वविप्रतिषेध करना ही होगा तो यथान्यास रख कर पूर्वोक्त विप्रतिषेध ही क्यों न मान्य कर लिया जाय—यह आशय है।

भा०—हम किसी भी प्रकार पूर्व-विप्रतिषेध से मुक्त नहीं हो पाते। सूत्र-भेद भी होता है। यथान्यास ही बना रहने देवें। इस पर तो पूर्वोक्त दोष कहा था? यह सम्प्रधारणा करें—पहले भ्रस्ज् के स्थान में आदेश करें या सम्प्रसारण। क्या करना चाहिये? परे होने से भ्रस्ज् आदेश पहले। नित्य होने से सम्प्रसारण। भ्रस्ज् आदेश के करने पर भी पाता है, न करने पर भी। भ्रस्ज के स्थान में आदेश भी नित्य है, सम्प्रसारण करने पर भी पाता है, न करने पर भी। किस प्रकार? ऋकार में जो रेफ है, उसे तथा उपधा को [सम्प्रसारण] करने पर भी पाता है। [सम्प्रसारण के पश्चात् 'भृस्ज्' रूप बनने पर स्थान षष्ठी को मुख्य मानकर उसके स्थान में रम् पाता है। मित्त्व का अवकाश भर्ष्टा आदि होंगे, जहाँ सम्प्रसारण नहीं होता।]

भ्रस्ज् के स्थान में आदेश अनित्य है, सम्प्रसारण करने पर प्राप्त नहीं है क्या कारण है? वर्ण के एकदेश वर्ण-ग्रहण से गृहीत नहीं होते। ['ऐ औच्' सूत्र के भाष्य के अनुसार यदि किसी प्रकार वर्णग्रहण से गृहीत हों भी तो भी अनित्य है।

गृह्यन्ते। अथापि गृहन्त एवमप्यनित्यः। कथम्? उपदेश इति वर्तते। तच्चावश्यमुपदेशग्रहणमनुवर्त्यम्—बरीभृज्यत इत्येवमर्थम्॥

अतो लोपः॥ ६.४.४८॥

ण्यल्लोपावियङ्यण्गुणवृद्धिदीर्घत्वेभ्यः पूर्वविप्रतिषिद्धम्॥ १॥

ण्यल्लोपावियङ्यण्गुणवृद्धिदीर्घत्वेभ्यो भवतः पूर्वविप्रतिषेधेन। णिलोपस्यावकाशः—कार्यते, हार्यते। इयडादेशस्यावकाशः—श्रियौ, श्रियः। इहोभयं प्राप्नोति—आटिटत्, आशिशत्। ननु चात्र यणादेशेन भवितव्यम्? इदं तर्हि—अततक्षत्, अररक्षत्॥ यणादेशस्यावकाशः—निन्यतुः, निन्युः।

किस प्रकार? उपदेश की अनुवृत्ति है। [अतः भ्रस्ज् के उपदेश में जो रेफ है, उसके स्थान में रम् होता है।] उस उपदेश की अनुवृत्ति अवश्य लानी होगी। 'बरीभृज्यते' के लिये। [यङन्त भ्रस्ज् धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। द्विर्वचन, अभ्यास-कार्य के पश्चात् 'रीगृदुपधस्य च' (७.४.९०) से रीक् आगम। 'तन्मध्यपतित' न्याय से रीक् के भ्रस्ज का भाग होने से इस रीक् के रेफ को भी 'रम्' प्राप्त होता है। परन्तु भ्रस्ज् के उपदेश में न होने से नहीं होता।]

विवरण—यह आदेश आर्धधातुक परे रहने पर विहित है। रीक् से आर्धधातुक के मध्य उत्तरवर्ती 'भृज्' का व्यवधान होने से रम् की प्राप्ति न होने से यह प्रबन्ध एकदेश्युक्ति है, यह महावैयाकरण नागोजी भट्ट का भी मानना है। इस प्रकार वर्णैकदेश वर्ण-ग्रहण से गृहीत न होने से आदेश के अनित्य होने तथा सम्प्रसारण के नित्य होने से पूर्व-विप्रतिषेध की आवश्यकता नहीं, यह सिद्धान्त स्थिर हुआ।

अतो लोपः॥

वा०—इयङ्, यण्, गुण, वृद्धि, दीर्घत्व से णिलोप, अल्लोप पूर्वविप्रतिषिद्ध।

भा०—इयङ्, यण्, गुण, वृद्धि, दीर्घत्व से पहले णिलोप तथा अल्लोप होता है, पूर्वविप्रतिषेध से। णिलोप का अवकाश है—कार्यते...। [जहाँ अच् परे नहीं है।] इयङ् आदेश का अवकाश है—श्रियौ...। [जहाँ णि नहीं है।] यहाँ दोनों पाते हैं—आटिटत्। [णिजन्त आटि धातु, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। 'आटि' से 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' (३.१.४८) से चङ् होने पर 'आटि अ त्' इस दशा में दोनों की प्राप्ति है।] क्यों, यहाँ तो ['एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' (६.४.८२) से] यणादेश होना चाहिये। [तब इस यण् के द्वारा बाधन होने से इयङ् के साथ सम्प्रधारण प्राप्त ही नहीं है।] अच्छा तो फिर अततक्षत्...। ['अ तक्ष् इ अ त्' इस दशा में दोनों की प्राप्ति है।]

['एरनेकाचो...' से] यणादेश का अवकाश है—निन्यतुः...। [जहाँ णि नहीं है।] णिलोप का वही। यहाँ दोनों प्राप्त हैं—आटिटत्। [व्याख्या पूर्वोक्त है।

णिलोपस्य स एव। इहोभयं प्राप्नोति—आटिटत्, आशिशत्॥ वृद्धेरवकाशः—सखायौ, सखायः। णिलोपस्य स एव। इहोभयं प्राप्नोति—कारयतेः—कारकः। हारयतेः—हारकः॥ गुणस्यावकाशः—चेता, स्तोता। णिलोपस्यावकाशः—आटिटत्, आशिशत्। इहोभयं प्राप्नोति—कारणा, हारणा॥ दीर्घत्वस्यावकाशः—चीयते, स्तूयते। णिलोपस्य स एव। इहोभयं प्राप्नोति—कार्यते, हार्यते। णिलोपो भवति विप्रतिषेधेन॥ स तर्हि पूर्वविप्रतिषेधो वक्तव्यः? न वक्तव्यः। सन्त्वत्रैते विधयः। एतेषु विधिषु कृतेषु स्थानिवद्भावाण्णिग्रहणेन ग्रहणाण्णिलोपो भविष्यति। नैवं शक्यम्। इयङादेशे हि दोषः स्यात्। किम्? अन्त्यस्य लोपः प्रसज्येत। अल्लोपस्येयङ्यणोश्च नास्ति सम्प्रधारणा॥ वृद्धेरवकाशः—प्रियमाचष्टे

पूर्व-विप्रतिषेध से णिलोप होने पर 'द्विर्वचनेऽचि' (१.१.५९) से 'टि ट्' द्विर्वचन होने पर आटिटत्।]

['सख्युरसम्बुद्धौ' (७.१.९२) से शास्त्रातिदेश पक्ष में] वृद्धि का अवकाश है—सखायौ...। [इस पक्ष में 'अचोञ्णिति' (७.२.११५) इस शास्त्र की सखायौ में तथा इसी की 'कारकः' में सम्प्रधारणा होती है।] णिलोप का अवकाश है—पूर्वोक्त वही। यहाँ दोनों की प्राप्ति है—णिजन्त कारि से कारकः, हारि से हारकः। [णि के इकार को वृद्धि तथा णिलोप की प्राप्ति में णिलोप होता है।]

गुण का अवकाश है—चेता, स्तोता। णिलोप का अवकाश है—आटिटत्...। [क्योंकि उपर्युक्त रीति से यण् को बाधकर णिलोप होता है। यहाँ चङ् के ङित् होने से गुण की प्राप्ति नहीं है।] यहाँ दोनों की प्राप्ति है—कारणा...। [णिजन्त कारि से 'ण्यासश्रन्थो युच्' (३.३.१०७) से युच् होने पर णि के स्थान में दोनों की प्राप्ति।]

['अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' (७.४.२५) से] दीर्घ का अवकाश है—चीयते...। [जहाँ णि नहीं है।] णिलोप का वही। यहाँ दोनों प्राप्त होते हैं—कार्यते। [णिजन्त कारि से कर्मवाच्य में 'कारि य ते'] इस दशा में दोनों की प्राप्ति में णिलोप।

तो यह पूर्व-विप्रतिषेध कहा जावे? नहीं कहना चाहिये। ये विधियाँ हो जावें। इन विधियों के सम्पन्न हो जाने पर स्थानिवद्भाव से णिग्रहण से ग्रहण होने से लोप हो जाएगा।

यह सम्भव नहीं है। इयङ् आदेश में दोष होगा। क्या? [इयङ् के पश्चात् लोप करने पर 'अलोऽन्त्यस्य' (१.१.५२) के अनुसार] अन्त्य का लोप पाएगा। अल्लोप की इयङ्, यण् के साथ सम्प्रधारणा का उदाहरण नहीं है।

वृद्धि का अवकाश है—प्रियमाचष्टे प्रापयति। [प्रिय से 'तत्करोति, तदाचष्टे'—धातुपाठ-सूत्र (चुरा० ३३८, ३३९) से णिच्। 'प्रिय इ' इस दशा में 'प्रियस्थिर...'

प्रापयति। अल्लोपस्यावकाशः—चिकीर्षिता, चिकीर्षितुम्। इहोभयं प्राप्नोति—चिकीर्षकः, जिहीर्षकः॥ गुणस्याल्लोपस्य च नास्ति संप्रधारणा॥ दीर्घत्वस्यावकाशः—अपि काकः श्येनायते। अल्लोपस्य स एव। इहोभयं प्राप्नोति—चिकीर्ष्यते, जिहीर्ष्यते। अल्लोपो भवति विप्रतिषेधेन॥ स तर्हि पूर्वविप्रतिषेधो वक्तव्यः? न वक्तव्यः। इष्टवाची परशब्दः। विप्रतिषेधे परं—यदिष्टं तद्भवतीति॥

यस्य हलः॥ ६.४.४९॥

किमिदं यलोपे वर्णग्रहणमाहोस्वित्संघातग्रहणम्? कश्चात्र विशेषः?

यलोपे वर्णग्रहणं चेद्धात्वन्तस्य प्रतिषेधः॥ १॥

यलोपे वर्णग्रहणं चेद्धात्वन्तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। शुच्यिता, शुच्यितुम्॥

(६.४.१५७) से प्र आदेश। 'अचो ञ्णिति' (७.२.११५) से वृद्धि के पश्चात् 'अर्तिह्री...' (७.३.३६) से पुक् आगम। यहाँ 'प्र इ' इस दशा में अल्लोप की प्राप्ति नहीं है। क्योंकि वहाँ 'धातोः' ऐसा कहकर विहित न होने से णिच् आर्धधातुक नहीं है।] अल्लोप का अवकाश है—चिकीर्षिता...। [जहाँ ञित्, णित् परे नहीं है।] यहाँ दोनों पाते हैं—चिकीर्षकः...। [पूर्व-विप्रतिषेध से अल्लोप होता है। यहाँ सनन्त चिकीर्ष से ण्वुल् प्रत्यय होता है।] गुण तथा अल्लोप की सम्प्रधारणा नहीं है।

['अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' (७.४.२५) से दीर्घ का अवकाश है—अपि काकः श्येनायते। [श्येन से 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' (३.१.११) से क्यङ्। 'श्येन य' इस दशा में प्राप्ति।] अल्लोप का वही। यहाँ दोनों प्राप्त होते हैं—चिकीर्ष्यते...। [चिकीर्ष से सनन्त से कर्मवाच्य में] विप्रतिषेध से अल्लोप पहले होता है।

तो फिर यह पूर्व-विप्रतिषेध कहा जावे? कहने की आवश्यकता नहीं। ['विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (१.४.२) सूत्र में] 'पर' शब्द इष्टवाचक है। अतः अर्थ होगा—विप्रतिषेध में जो पर अर्थात् जो इष्ट है, वह होता है।

यस्य हलः॥

भा०—यहाँ यलोप में क्या वर्ण-ग्रहण है, या सङ्घात-ग्रहण है? [यदि 'य' में अकार मुखसुखार्थ होकर अविवक्षित हो तो वर्ण ग्रहण अन्यथा य्+अ सहित सङ्घात-ग्रहण होगा।] इसमें क्या विशेष है?

वा०—यलोप में वर्ण-ग्रहण हो तो धात्वन्त का प्रतिषेध।

भा०—यलोप के प्रसङ्ग में 'य्' इस प्रकार वर्ण-ग्रहण मान्य हो तो धातु के अन्त में वर्णमात्र यकार का प्रतिषेध कहना होगा। शुच्यिता...। [धातु के अन्तिम य् को लोप की प्राप्ति।]

अस्तु तर्हि संघातग्रहणम्। यदि संघातग्रहणमन्त्यस्य लोपः प्राप्नोति। सिद्धोऽन्त्यस्य पूर्वेणैव। तत्रारम्भसामर्थ्यात्सर्वस्य भविष्यति॥ एवमपि तेनातिप्रसक्तमिति कृत्वा नियमो विज्ञास्यते। यस्य हल एव, नान्यतः। क्व मा भूत्? लोलूयिता, पोपूयिता। कैमर्थक्यान्नियमो भवति? विधेयं नास्तीति कृत्वा। इह चास्ति विधेयम्। किम्? अन्त्यस्य लोपः प्राप्तः? स सर्वस्य विधेयः। तत्रापूर्वो विधिरस्तु नियमोऽस्त्वित्यपूर्व एव विधिर्भविष्यति न नियमः। एवमप्यन्त्यस्य प्राप्नोति। किं कारणम्? न हि लोपः सर्वापहारी। ननु च संघातग्रहणसामर्थ्यात्सर्वस्य भविष्यति।

संघातग्रहणं चेत्क्यस्य विभाषायां दोषः॥ २॥

अच्छा तो फिर सङ्घात-ग्रहण होवे। यदि सङ्घात-ग्रहण है, तो [‘अलोऽन्त्यस्य’ (१.१.५२] से] अन्तिम अकार का लोप प्राप्त होता है। अन्तिम अकार का लोप तो पूर्व [अतो लोपः] से ही सिद्ध है। तब आरम्भ-सामर्थ्य से सम्पूर्ण का लोप होगा।

फिर भी उस पूर्व सूत्र से अतिप्रसक्त है, ऐसा मानते हुए इसे नियम समझा जाने लगेगा—हल् से उत्तर ही यकार के अकार का लोप है। अन्य से उत्तर नहीं। कहाँ न हो? लोलूयिता...। नियम कब होता है? यह मानकर कि विधेय नहीं है। यहाँ तो विधेय है। क्या? अन्त्य का लोप प्राप्त होता है। सब का (=सङ्घात का) विधान करना है।

विवरण—सङ्घात-ग्रहण पक्ष में अन्तिम अकार के लोप की प्राप्ति में, उसकी पूर्व सूत्र से सिद्धि होने पर सूत्रारम्भ-सामर्थ्य से दो प्रकार के कार्य हो सकते हैं—

१. या तो यह सूत्र ‘अलोऽन्त्यस्य’ को बाधकर सम्पूर्ण के लोप का विधान करे। २. अथवा यकार के अन्त्य का लोप हल् से उत्तर ही होता है, अन्य से नहीं, यह नियम करे। इस दशा में ‘विधिनियमसम्भवे विधिरेव ज्यायान्’ इस परिभाषा के अनुसार दोनों की उपस्थिति सम्भव होने पर विधि-कार्य ही होगा। यही आगे कहा गया है—

भा०—तो अपूर्व विधि हो, या नियम हो, [उक्त परिभाषा के अनुसार] अपूर्व विधि ही होगी। फिर भी अन्त्य का लोप प्राप्त होता है। क्या कारण है? लोप सर्वापहारी नहीं है। [अपितु ‘अलोऽन्त्यस्य’ से अन्त्य का ही अपहरण हो सकता है। उक्त परिभाषा को न समझ कर कह रहे हैं।] क्यों, सङ्घात ग्रहण-सामर्थ्य से सम्पूर्ण का लोप होगा। [परिभाषा को अन्वित करते हुए सम्पूर्ण-लोप का विधान मान रहे हैं।]

वा०—सङ्घात-ग्रहण हो तो क्य की विभाषा में दोष।

भा०—सङ्घात-ग्रहण मान्य हो तो ‘क्य’ के विकल्प में दोष होता है।

संघातग्रहणं चेत् क्यस्य विभाषायां दोषो भवति। समिधिता, समिध्यिता। यदा लोपस्तदा सर्वस्य लोपः। यदालोपस्तदा सर्वस्यालोपः प्राप्नोति॥

आदेः परवचनात्सिद्धम्॥ ३॥

हल इति पञ्चमी। 'तस्मादित्युत्तरस्य' आदेः परस्य' (१.१.६७; ५४) इति यकारस्यैव भविष्यति॥ अथवा पुनरस्तु वर्णग्रहणम्। ननु चोक्तं 'यलोपे वर्णग्रहणं चेद्धात्वन्तस्य प्रतिषेध' इति? नैष दोषः। अङ्गादिति हि वर्तते। न वै अङ्गादिति पञ्चम्यस्ति। एवं तर्ह्यङ्गस्येति सम्बन्धषष्ठी विज्ञास्यते। अङ्गस्य यो यकारः। किं चाङ्गस्य यकारः? निमित्तम्। यस्मिन्नङ्गमित्येतद्भवति। कस्मिंश्चैतद्भवति? प्रत्यये॥

समिधिता, समिध्यिता। ['समिधम् आत्मन इच्छति' विग्रह के अनुसार 'सुप आत्मनः क्यच्' (३.१.८) से क्यच्। 'समिध्य' धातु से तृच् प्रत्यय, इट् आगम।]

विवरण—इस पक्ष में 'यस्य हलः' सूत्र 'अतो लोपः' का अपवाद है तथा अग्रिम 'क्यस्य विभाषा' सूत्र 'यस्य हलः' का अपवाद होगा। इस दशा में 'क्यस्य विभाषा' से एक पक्ष में सम्पूर्ण का लोप होगा। दूसरे पक्ष में उससे विपरीत परिस्थिति में सम्पूर्ण का लोपाभाव होगा। इस स्थिति में समिध्यिता में यकार के साथ अकार का लोप भी नहीं हो सकेगा। आगे यही वर्णन है—

भा०—जब लोप होगा तो सबका लोप। जब लोप नहीं होगा तो सबका [अकार का भी] लोप नहीं पाएगा।

वा०—पर-वचन से आदि का सिद्ध।

भा०—'हलः' यह पञ्चमी तथा 'तस्मादित्युत्तरस्य, आदेः परस्य' इस वचन से यकार का ही लोप होगा।

विवरण—इस पक्ष में सूत्रारम्भ-सामर्थ्य से सङ्घात का लोप, अन्त्य-लोप का बाध—इत्यादि कुछ भी नहीं होगा। अपितु 'आदेः परस्य' के अनुसार आदि य् वर्ण का लोप होगा। 'क्यस्य विभाषा' सूत्र इसी य् लोप का विकल्प करेगा, अल्लोप का नहीं। इससे एक पक्ष में अल्लोप सिद्ध हो सकेगा। इस पक्ष में जिस उदाहरण में सम्पूर्ण यकार उपस्थित है, उसके आदि य् का लोप होगा।

भा०—अथवा वर्ण ग्रहण पक्ष मान्य होवे। इस पर तो 'यलोपे वर्ण-ग्रहणम्...' पूर्वोक्त दोष कहा था? यह दोष नहीं है। 'अङ्गात्' की अनुवृत्ति है। [इससे अङ्ग धातु से उत्तरवर्ती प्रत्यय का ही लोप होगा।] अङ्गात् इस प्रकार पञ्चम्यन्त तो नहीं है? अच्छा तो फिर 'अङ्गस्य' में सम्बन्ध में षष्ठी समझी जाएगी—अङ्ग का जो यकार। अङ्ग का यकार कौन है? निमित्त, जिसके परे रहने पर 'अङ्ग' यह होता है। किसके परे होने पर अङ्ग यह होता है? प्रत्यय परे रहने पर। [अतः प्रत्यय ही अङ्ग का यकार होगा। उसका ही लोप होगा। धातु के यकार का नहीं।]

णेरनिटि ॥ ६.४.५१ ॥

अथानिटीति किमर्थम्? कारयिता, कारयितुम्॥ अनिटीति शक्यमवक्तुम्। कस्मान्न भवति—कारयिता, कारयितुम्? 'निष्ठायां सेटि' (४.६.५२) इत्येतन्नियमार्थं भविष्यति। निष्ठायामेव सेटि णेर्लोपो भवति नान्यत्र। क्व मा भूत्? कारयिता, कारयितुम्॥ अथवोपरिष्टाद्योगविभागः करिष्यते। इदमस्ति—'निष्ठायां सेटि' (५२) 'जनिता मन्त्रे' (५३) 'शमिता यज्ञे' (५४) ततः—अय्। अयादेशो भवति णेः सेटि। तत आमन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु। अय् भवतीत्येव॥

निष्ठायां सेटि॥ ६.४.५२ ॥

अथ सेड्ग्रहणं किमर्थम्? निष्ठायां सेड्ग्रहणमनिटि प्रतिषेधार्थम्। निष्ठायां सेड्ग्रहणं क्रियतेऽनिटि प्रतिषेधो यथा स्यादिति। संज्ञपितः पशुरिति॥

णेरनिटि॥

भा०—'अनिटि' यह किसलिये है? यहाँ न हो—कारयिता...। ['कारि' इस णिजन्त धातु से लुट् लकार में 'कारि इ ता' इस दशा में प्राप्ति।] 'अनिटि' न कहें तो भी काम चल सकता है। यहाँ क्यों नहीं होता—कारयिता...? 'निष्ठायां सेटि' यह नियमार्थ हो जाएगा—सेट् होने पर निष्ठा परे रहने पर ही णिलोप हो, अन्यत्र नहीं। कहाँ न हो—कारयिता...। अथवा आगे योगविभाग करेंगे—'निष्ठायां सेटि' के पश्चात्... 'अय्'। सेट् होने पर णि के स्थान में अयादेश होता है। [यह पूर्वोक्त 'णेः' सूत्र से प्राप्त णिलोप का बाधक हो जाएगा।] इसके पश्चात्...आमन्ता..., यहाँ अय् की अनुवृत्ति होगी।

निष्ठायां सेटि॥

भा०—यहाँ 'सेट्' ग्रहण किसलिये है? निष्ठा में सेट् ग्रहण अनिट् में प्रतिषेध के लिए। निष्ठा परे रहने पर सेट् ग्रहण करते हैं ताकि अनिट् में णिलोप का प्रतिषेध हो सके। संज्ञपितः पशुः। [यहाँ सम् उपसर्ग पूर्वक ज्ञा धातु से 'मारणतोषणनिशामनेषु ज्ञा' इस धातुपाठ-सूत्र (भ्वा० ५५१) से णिच्। 'ज्ञप मिच्च' (चुरा० ९०) से मित् होने से ह्रस्व। 'अर्तिह्रीव्ली...' (७.३.३६) से पुक् आगम। 'सनीवन्तर्ध...' (७.२.४९) से सन् परे रहने पर विकल्प-विधान होने से 'यस्य विभाषा' (७.२.१५) से इट्- प्रतिषेध। 'सं ज्ञपि त' इस दशा में सेट् न होने से इससे णिलोप नहीं होता। साथ ही इस सूत्र से सेट् वचनसामर्थ्य से 'णेरनिटि' से भी णिलोप नहीं होता। क्योंकि यदि अनिट् में णिलोप होता, तब तो 'सेट्' कहने की आवश्यकता ही नहीं थी।]

निष्ठायां सेड्ग्रहणमनिटि प्रतिषेधार्थमिति चेत्तत्सिद्धमनिडभावात्॥ १॥

निष्ठायां सेड्ग्रहणमनिटि प्रतिषेधार्थमिति चेदन्तरेणापि सेड्ग्रहणं तत्सिद्धम्। कथम्? अनिडभावात्॥ ननु न 'यस्य विभाषा' (७.२.१५) इति ज्ञपेरिट्प्रतिषेधः।

एकाचो हि प्रतिषेधः॥ २॥

एकाचो हि स प्रतिषेधो ज्ञपिश्चानेकाच्॥

इड्भावार्थं तु तन्निमित्तत्वाल्लोपस्य॥ ३॥

इड्भावार्थं तर्हि सेड्ग्रहणं क्रियते। कथं पुनः सेटीत्यनेनेट् शक्यो भावयितुम्? तन्निमित्तत्वाल्लोपस्य। नात्राकृत इटि णिलोपेन भवितव्यम्। किं कारणम्? सेटीत्युच्यते॥

वा०—निष्ठा में सेट् ग्रहण अनिट् में प्रतिषेध के लिये कहें तो वह सिद्ध है, अनिट् का अभाव होने से।

भा०—निष्ठा में सेट् ग्रहण अनिट् में प्रतिषेध के लिये कहें तो वह 'सेट्' ग्रहण के बिना भी सिद्ध है। किस प्रकार? [णिजन्त से] अनिट् के प्राप्त न होने से।

क्यों, ज्ञप् से 'यस्य विभाषा' सूत्र से इट् का प्रतिषेध होता है?

वा०—एकाच् से प्रतिषेध।

भा०—वह प्रतिषेध एकाच् से है। ज्ञप् अनेकाच् है। [इस सूत्र में 'एकाचः' की अनुवृत्ति है। अनुदात्त धातुओं में भी 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' (७.२.१०) से एकाच् से इट्-प्रतिषेध के कारण णिजन्त अनेकाच् से कोई धातु अनिट् नहीं होती। अपितु सेट् ही उपलब्ध होती है।]

वा०—तो इट् के भाव के लिये, लोप के तन्निमित्त होने से।

भा०—अच्छा तो फिर, इट् के भाव के लिये सेट् ग्रहण किया गया है। यहाँ 'सेटि' इस निमित्त के प्रयोग से इट् का भाव किस प्रकार किया जा सकता है? इस णिलोप के इट् निमित्त वाला होने से। यहाँ इट् किये बिना णिलोप नहीं हो सकता। क्या कारण है? यहाँ 'सेटि' कहा है।

विवरण—'कारि त' इस दशा में 'निष्ठायाम्' से णिलोप तथा 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' (७.२.३५) से इट् की भी प्राप्ति है। यहाँ नित्य होने से णिलोप होना चाहिये। यदि यह णिलोप पहले हो जाए तो एकाच् अङ्ग बन जाने से 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' (७.२.१०) से इट् का प्रतिषेध पाता है। इससे रूप सिद्ध नहीं होगा।

अवचने हि णिलोप इट्प्रतिषेधप्रसङ्गः ॥ ४॥

अक्रियमाणे हि सेड्ग्रहणे णिलोपे कृत 'एकाचः' इतीट्प्रतिषेधः प्रसज्येत। कारितम्, हारितम्॥

एवं तर्हि नार्थः सेड्ग्रहणेन, नापि सूत्रेण। कथम्? सप्तमे योगविभागः करिष्यते। इदमस्ति—निष्ठायां नेड् भवति। ततो—णेः। ण्यन्तस्य निष्ठायां नेड् भवति। कारितम्, हारितम्। ततो—वृत्तम्। वृत्तमिति च निपात्यते। किं निपात्यते? णेर्निष्ठायां लोपो निपात्यते। किं प्रयोजनम्? नियमार्थम्। अत्रैव णेर्निष्ठायां लोपो भवति नान्यत्र। क्व मा भूत्? कारितम्, हारितम्। इहापि तर्हि प्राप्नोति—वर्तितमन्नम्, वर्तिता भिक्षेति। ततः—अध्ययने। अध्ययने चेद् वृतिर्वर्तत इति॥

'सेटि' ग्रहण करने पर यह काल के अवधारण के लिये होगा। अर्थ होगा—सेट् बन जाने पर उसकी अवस्थिति में णिच् का लोप। इससे 'कारि इ त' बनने पर णिच् का लोप होकर 'कारितम्' सिद्ध होगा।

वा०—अवचन होने पर णिलोप करने पर इट्-प्रतिषेध का प्रसङ्ग।

भा०—सेट् ग्रहण के न करने पर [नित्य होने से] णिलोप कर लेने पर 'एकाचः...' से इट् के प्रतिषेध का प्रसङ्ग होगा। कारितम्, हारितम्।

तब तो फिर न तो सेट् ग्रहण की आवश्यकता है, न ही सूत्र की। किस प्रकार? सप्तम अध्याय में योगविभाग करेंगे—यह है—'श्वीदितो निष्ठायाम्' (७.२.१४) के अन्तर्गत 'निष्ठायाम्' का अर्थ होगा—इस निष्ठा परे रहने पर इट् नहीं होता। [इस 'निष्ठायाम्' की आगे अनुवृत्ति आएगी।] उसके पश्चात् ['णेरध्ययने वृत्तम्' (७.२.२६) के तीन विभाजन करेंगे—] 'णेः' ण्यन्त को निष्ठा में इट् नहीं होता। कारितम्...। उसके पश्चात्—'वृत्तम्'। क्या प्रयोजन है? ['णेरनिटि' से णिलोप सिद्ध होने पर] यह नियमार्थ होगा—निष्ठा में यहीं णिलोप होता है, अन्यत्र नहीं। कहाँ न हो? कारितम्, हारितम्? तब तो यहाँ भी [णिलोप] पाता है—वर्तितमन्नम्, वर्तिता भिक्षा। ['वर्ति' इस णिजन्त धातु से 'क्त' परे रहने पर पूर्वोक्त योगविभाग से णिलोप पाता है। उसके पश्चात्—'अध्ययने' यदि वृत् धातु अध्ययन में हो तो। [इससे यहाँ अध्ययन अभिधेय न होने पर णिलोप नहीं होगा।]

विवरण—यहाँ 'कारितम्' की सिद्धि के लिये दो उपाय सुझाए हैं। सूत्रकार महर्षि पाणिनि के अनुसार 'कारि त' इस दशा में यहाँ कालावधारक 'सेटि' कहने से पहले इट् होता है, पश्चात् 'निष्ठायां' से णिलोप होकर 'कारितम्' बनता है। महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि के अनुसार 'कारि त' इस दशा में 'णेः' इस विभाजन से इट् नहीं होगा। तब 'णेरनिटि' से णिलोप पाने लगेगा। इसका 'वृत्तम्' इस नियम से निवारण होगा। 'अध्ययने' से अभिधेयविशेष में ही यह नियम होगा। इस प्रकार

वृधिरमिशृधीनामुपसंख्यानं सार्वधातुकत्वात्॥ ५॥

वृधिरमिशृधीनामुपसंख्यानं कर्तव्यम्। किं कारणम्? सार्वधातुकत्वात्। वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे (ऋ० ७.९९.७)। वर्धयन्त्वित्येवं प्राप्ते। बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रम्णातु (यजुः० ४.२१)। रमयत्वित्येवं प्राप्ते। अग्ने शर्ध महते सौभगाय (यजुः० ३३.१२)। शर्धयेति प्राप्ते॥ तत्तर्हि वक्तव्यम्? न वक्तव्यम्। वृधिरमिशृधीनामार्धधातुकत्वात्सिद्धम्। कथमार्धधातुकत्वम्? अन्येऽपि हि धातुप्रत्यया उभयथा छन्दसि दृश्यन्ते॥

अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु॥ ६.४.५५॥

किं पुनरयं क्नुराहोस्विादित्नुः? कश्चात्र विशेषः?

स्थिति यह है कि यदि इट् हो तो णिलोप करना पड़ता है। यदि इट् न हो तो णिलोप का निवारण करना पड़ता है। यहाँ सूत्रकार के अनुसार 'कारितम्' में णिलोप करने से इट् का श्रवण होता है। महाभाष्यकार के अनुसार इट् न होने पर णिच् का श्रवण होगा।

वा०—वृध्, रम्, शृध् का उपसङ्ख्यान, सार्वधातुक होने से।

भा०—वृध, रम्, शृध् के [णिलोप का] उपसङ्ख्यान करना चाहिये। क्या कारण है? सार्वधातुक परे होने से। वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे (=मेरी सुन्दर स्तुतियों वाली वाणी आपको बढ़ावें) ऋ० ७.९९.७। यहाँ 'वर्धयन्तु' प्राप्त है। बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रम्णातु (=बृहस्पति आपको सौमनस्य के लिये आनन्दित करें) (यजुर्वेद ४.२१) यहाँ रमयतु प्राप्त है। ['रमि' इस णिजन्त से श्ना प्रत्यय नहीं होना चाहिये। अतः व्याख्याकारों ने माना है कि व्यत्यय से श्ना प्रत्यय है। वस्तुतः धातुओं के अनेकार्थक होने से यहाँ रम् धातु ही 'रमण कराने' अर्थ में है। व्याकरण में इसे 'अन्तर्भावितण्यर्थ' कहा जाता है। इसे न मानने पर अनेकानेक वचन बनाने पड़ते हैं।] अग्ने शर्ध महते सौभगाय—यजुः० ३३.१२ (=हे अग्ने! अत्यन्त सौभाग्य के लिये हमें उत्साहित करो।) [निरुक्त ४.१९ की स्कन्द टीका में शृध को उत्साहार्थक माना है।] यहाँ शर्धय की प्राप्ति थी।

तो फिर इसे कहना चाहिये? नहीं कहना चाहिये। वृध्, रम्, शृध् से सम्बन्धित प्रत्ययों के आर्धधातुकत्व से सिद्ध है। आर्धधातुकत्व किस प्रकार है? छन्द में अन्य भी धातु से विहित प्रत्यय दोनों प्रकार [सार्वधातुक तथा आर्धधातुक भी] देखे जाते हैं। [अतः आर्धधातुक प्रत्यय मान कर यहाँ णिलोप हो सकेगा।]

अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु॥

भा०—यहाँ क्नु प्रत्यय का पाठ समुचित है, अथवा इत्नु प्रत्यय का? [अथवा प्रश्न का प्रकार यह है—व्याकरण में क्नु प्रत्यय का या इत्नु प्रत्यय का विधान समुचित है?] यहाँ क्या विशेष है?

क्त्नाविटि णेर्गुणवचनम्॥ १॥

क्त्नौ सतीटि णेर्गुणो वक्तव्यः। गदयित्नुः, स्तनयित्नुः॥ अस्तु तर्हीत्नुः।

इत्नौ प्रत्ययान्तरकरणम्॥ २॥

यदि तर्हीत्नुः प्रत्ययान्तरं कर्तव्यम्॥

अयादेशे चोपसंख्यानम्॥ ३॥

अयादेशे चोपसंख्यानं कर्तव्यम्॥ उभयं क्रियते न्यास एव॥

ल्यपि लघुपूर्वात्॥ ६.४.५६॥

वा०—क्त्नु में इट् परे रहने पर णि का गुण-वचन।

भा०—[उणादि में 'स्तनिहृषि...' (३.२९) आदि सूत्र से] क्त्नु का विधान मानने पर इट् परे रहने पर णि को गुण कहना होगा। गदयित्नुः...। [क्त्नु प्रत्यय मानने पर इट् आगम के पश्चात् 'गदि इ त्नु' इस दशा में सेट् होने से णिलोप नहीं होगा। यहाँ क्त्नु के कित् होने से णिच् के इकार को गुण प्रतिषेध की प्राप्ति में गुण का विधान करना होगा। इस सूत्र में 'इत्नु' का पाठ न करके गुण का विधायक वचन बनाना होगा—यह आशय है।]

अच्छा तो फिर इत्नु।

वा०—इत्नु में प्रत्ययान्तर-करण।

भा०—यदि इत्नु प्रत्यय है [तो पूर्वोक्त उणादि-सूत्र में] इत्नु का विधान करना होगा।

वा०—अयादेश में भी उपसङ्ख्यान।

भा०—अयादेश के अनुवादक इस शास्त्र में [णिलोप के अभाव के लिये इत्नु का] उपसङ्ख्यान [=पाठ] करना होगा। [क्योंकि इत्नु परे रहने पर पूर्व अवस्थित णि के लोप की प्राप्ति होती है।]

दोनों को यथान्यास किया ही है। [प्रस्तुत सूत्र में 'इत्नु' का पाठ किया ही है। इस सूत्र-विधान से उणादि में इत्नु-विधान की कल्पना कर ली जाती है। [भाष्य में 'क्रियते' शब्द का अर्थ श्लेष से विधीयते तथा 'कल्प्यते' दोनों है।]

विवरण—क्त्नु मानने पर इस सूत्र का पाठ बदलना पड़ता है। साथ ही अयादेश के स्थान पर गुण का विधान करना पड़ता है। 'इत्नु' मानने पर उणादि का पाठ बदलना पड़ता है। भाष्यकार ने माना कि सूत्र में इत्नु का पाठ है ही, उणादि में इसकी कल्पना या अनुमान किया जाता है।

ल्यपि लघुपूर्वात्॥

ल्यपि लघुपूर्वस्येति चेद् व्यञ्जनान्तेषूपसंख्यानम्॥ १॥

ल्यपि लघुपूर्वस्येति चेद् व्यञ्जनान्तेषूपसंख्यानं कर्तव्यम्। प्रशमय्य गतः। प्रतमय्य गतः॥

अल्लोपे च गुरुपूर्वात् प्रतिषेधो वक्तव्यः। प्रतिचिकीर्ष्य गतः॥

ल्यपि लघुपूर्वादिति वचनात्सिद्धम्॥ २॥

ल्यपि लघुपूर्वादिति वक्तव्यम्॥ एवमपि ह्रस्वयलोपाल्लोपानामसिद्धत्वाद् 'ल्यपि लघुपूर्वाद्' इत्ययादेशो न प्राप्नोति। प्रशमय्य गतः,

---

वा०—'ल्यपि लघुपूर्वस्य' हो तो व्यञ्जनान्त में उपसङ्ख्यान।

भा०—'ल्यपि लघुपूर्वस्य' इस प्रकार षष्ठ्यन्त पाठ हो तो व्यञ्जनान्त धातुओं में [णि के स्थान में अयादेश का] उपसङ्ख्यान करना होगा। प्रशमय्य गतः...।

विवरण—कुछ आचार्यों ने इस सूत्र को 'लघुपूर्वस्य' के रूप में पढ़ाया है, कुछ ने लघुपूर्वात् रूप में। अतः षष्ठ्यन्त पाठ मानने पर अर्थ होगा—लघु पूर्व में है जिसके उस णि के स्थान में अयादेश। यहाँ 'प्रशमय्य' में 'प्र शम् इ य' इस दशा में णि के पूर्व मकार लघु नहीं है। अतः उपसङ्ख्यान करना होगा।

भा०—अल्लोप कर लेने पर जो गुरुपूर्व है, उससे उत्तर णि के स्थान में [भूतपूर्व लघुपूर्वता मानकर] अयादेश पाता है। प्रतिचिकीर्ष्य गतः।

विवरण—प्रति उपसर्ग पूर्वक सनन्त के पश्चात् णिजन्त कृ धातु से क्त्वा के स्थान में ल्यप् होने पर 'प्रति चिकीर्ष इ य' इस दशा में 'अतो लोपः' से अल्लोप होने पर इस सूत्र से णि के स्थान में अयादेश की प्रासि मान रहे हैं। क्योंकि यहाँ णिच् से पहले वाला अक्षर लोप से पहले लघु अकार था। इस प्रकार भूतपूर्व लघु अकार मान कर दोष दे रहे हैं। यहाँ महाभाष्य वचन में की के ई को णि से पूर्व गुरु मानते हुए 'गुरुपूर्व ई से उत्तर णि' यह प्रयोग किया है। यहाँ व्यवधान में भी पूर्व का प्रयोग मान लिया है। परन्तु इससे पहले के वार्तिक में व्यवधान में 'पूर्व' का प्रयोग न मानते हुए दोष दिया है।

वा०—'ल्यपि लघुपूर्वात्' इस वचन से सिद्ध।

भा०—'ल्यपि लघुपूर्वात्' यह कहना चाहिये। तब अर्थ होगा—लघु है पूर्व में जिसके ऐसा जो व्यञ्जन अक्षर उससे उत्तर णि के स्थान में अय्। यहाँ 'प्रशमय्य' में इस प्रकार लघुपूर्व अक्षर 'म' व्यञ्जन होगा, उससे पूर्व श का अकार लघु है तथा उससे उत्तर णिच् उपस्थित है। अतः अयादेश हो सकेगा।

तो भी ह्रस्व, यलोप, अल्लोप के असिद्ध होने से 'ल्यपि लघुपूर्वात्' से अयादेश नहीं पाता। प्रशमय्य गतः...। [यहाँ 'प्रशम् इ य' इस दशा में उपधा वृद्धि के पश्चात् 'मितां ह्रस्वः' (६.४.९२) से ह्रस्व हुआ है। उसके असिद्ध होने से

प्रतमय्य गतः। प्रबेभिदय्य गतः, प्रचेच्छिदय्य गतः। प्रगदय्य गतः, प्रस्तनय्य गतः।

ह्रस्वादिषु चोक्तम्॥ ३॥

किमुक्तम्? समानाश्रयवचनात्सिद्धमिति। कथम्? णावेते विधयः, णेर्ल्यप्ययादेशः॥

विभाषाऽऽपः॥ ६.४.५७॥

इङादेशस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। अध्याप्य गतः।

आपः सानुबन्धकनिर्देशादिङि सिद्धम्॥ १॥

आपः सानुबन्धकस्य निर्देशः करिष्यते। आप्लृ इति। तेनेङादेशस्य न भविष्यति॥ स तर्हि सानुबन्धकनिर्देशः कर्तव्यः? न कर्तव्यः।

लघुपूर्वता प्राप्त नहीं होती। प्रचेच्छिदय्य गतः...। [प्र उपसर्ग पूर्वक यङन्त, उसके पश्चात् णिजन्त छिद् धातु से क्त्वा, उसके स्थान में ल्यप्। 'प्र चेच्छिद्य इ य' इस दशा में 'यस्य हलः' (६.४.४९) से यलोप। उसके असिद्ध होने से लघुपूर्वता प्राप्त नहीं होती।] प्रगदय्य गतः...। [सिद्धि पूर्वोक्त है। गद् अदन्त है। उसका 'अतो लोपः' (६.४.४८) से अकार-लोप। उसके असिद्ध होने से लघुपूर्वता प्राप्त नहीं है।]

वा०—ह्रस्वादि में कहा है।

भा०—क्या कहा है? समानाश्रय वचन से सिद्ध है। किस प्रकार? ये [ह्रस्व आदि विधियाँ] णि परे रहने पर होती हैं तथा णि का ल्यप् परे रहने पर अयादेश होता है। [अतः असिद्धत्व न होगा।]

विभाषाऽऽपः॥

भा०—इङ् के स्थान में होने वाले आप् से [अयादेश का] प्रतिषेध कहना चाहिये। अध्याप्य गतः। [अधि उपसर्ग पूर्वक इङ् धातु से णिच् परे रहने पर 'क्रीङ्जीनां णौ' (६.१.४८) से इ के स्थान में आत्व, 'अर्तिह्री...' (७.३.३६) से पुक् आगम होने पर 'अधि आपि य' इस दशा में प्रस्तुत सूत्र से अय् आदेश की प्राप्ति।]

वा०—आप् का सानुबन्धक-निर्देश होने से इङ् में सिद्ध।

भा०—आप्लृ [इस प्रकार सानुबन्धक का पञ्चमी में 'आपुल्' इस प्रकार] पढ़ना चाहिये। ['आप्लृ' इस अनुकरण धातु से पञ्चमी में 'ऋकारलृकारयोः सवर्णविधिः' इस वार्तिक से सवर्ण विधि द्वारा 'ऋत उत्' (६.१.१११) सूत्र में लृकार का भी ग्रहण होने से उत्व। 'उरण् रपरः' (१.१.५१) में 'र' प्रत्याहार ग्रहण से लपरत्व।] ऐसा कहने से इङ् के स्थान में आप् को नहीं होगा।

तो फिर सानुबन्धक का निर्देश किया जावे? नहीं करना चाहिये।

लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैवेत्येवं न भविष्यति॥

इति पातञ्जलमहाभाष्ये षष्ठाध्यायस्य चतुर्थपादे द्वितीयमाह्निकम्॥

—०—

स्यसिच्सीयुट्तासिषु भावकर्मणोरुपदेशेऽज्झनग्रहदृशां वा चिण्वदिट् च॥ ६.४.६२॥

भावकर्मणोरिति कथमिदं विज्ञायते—भावकर्मणोर्ये स्यादय इति, आहोस्विद्भावकर्मवाचिनि परतो ये स्यादय इति? किं चातः? यदि विज्ञायते भावकर्मणोर्ये स्यादय इति सीयुड्विशेषितः स्यसिच्तासयोऽविशेषिताः। अथ विज्ञायते—भावकर्मवाचिनि परतो ये स्यादय इति, स्यसिच्तासयो विशेषिताः, सीयुडविशेषितः। उभयथा चिण्वद्भावोऽविशेषितः॥ यथेच्छसि तथास्तु। अस्तु तावद्—भावकर्मणोर्ये स्यादय इति। ननु चोक्तं—सीयुड्विशेषितः, स्यसिच्तासयोऽविशेषिता इति? स्यसिच्तासयश्च विशेषिताः। कथम्? भावकर्मणोर्यग्भवतीत्यत्र स्यादयोऽप्यनुवर्तिष्यन्ते।

लक्षण, प्रतिपदोक्त के मध्य प्रतिपदोक्त को ही होता है, इस नियम से नहीं होगा। [इङ् के स्थान में आप् लक्षण से निर्मित होने से लाक्षणिक है।]

स्यसिच्सीयुट्तासिषु भावकर्मणोरुपदेशेऽज्झनग्रह०॥

भा०—यहाँ किस प्रकार समझा जाता है—भावकर्म [अभिधेय] में जो स्य आदि। [अभिधेय निर्दिष्ट है। इस अभिधेय में स्य आदि विकरण।] अथवा भावकर्मवाची [प्रत्यय] परे रहने पर जो स्य आदि। [प्रत्यय निर्दिष्ट है। तद्वाची प्रत्यय परे रहने पर पूर्ववर्ती स्य आदि विकरण।]

इससे क्या? यदि भावकर्म में स्य आदि यह प्रथम पक्ष समझा जाता है तो सीयुट् विशेषित है, स्य, सिच्, तासि अविशेषित हैं। [क्योंकि सीयुट् आगम उस लिङ् का भाग होने से स्वयं भी भावकर्माभिधायी है। पर स्य आदि ऐसे नहीं है।] यदि भावकर्मवाची परे रहने पर यह द्वितीय पक्ष मानें तो स्य आदि विशेषित होंगे, सीयुट् नहीं। [क्योंकि सीयुट् उसका अङ्ग होने से उसमें प्रत्यय-परत्वभाव नहीं है।] इस प्रकार दोनों दशाओं में चिण्वद्भाव के सभी विषय विशेषित नहीं हो पाते।

जैसा चाहें, वह पक्ष होवे।

अच्छा तो फिर, 'भाव कर्म में जो स्य आदि' यह पक्ष मान्य होवे। इस पक्ष में तो सीयुट् ही विशेषित होगा, अन्य नहीं—यह दोष कहा था। स्य आदि भी विशेषित हैं। किस प्रकार? ['सार्वधातुके यक्' (३.१.६७) इस] भावकर्म में यक्-विधायक सूत्र में स्य आदि का भी अनुवर्तन करेंगे। [इस अनुवृत्ति से इस

अथवा पुनरस्तु भावकर्मवाचिनि परतो ये स्यादय इति। ननु चोक्तं स्यसिच्तासयो विशेषिताः, सीयुडविशेषित इति? सीयुट् च विशेषितः। कथम्? भावकर्मवाचिनि परतः सीयुड् नास्तीति कृत्वा भावकर्मवाचिनि सीयुटि कार्यं विज्ञास्यते॥

अथ 'इट् च' इत्युच्यते, कस्यायमिड् भवति? अङ्गस्येति वर्तते। यद्येवमादित इट् प्राप्नोत्यडाड्वत्। तद्यथा—अडाटौ टित्त्वादादितो भवतस्तद्वत्॥ एवं तर्हि स्यादीनामेव भविष्यति। एवमपि षष्ठ्यभावान्न प्राप्नोति। ननु च भावकर्मणोरित्येषा षष्ठी। नैषा षष्ठी। किं तर्हि? अर्थनिर्देश एषा सप्तमी। भावे चार्थे कर्मणि चेति। एवं तर्हि भावकर्मणोरित्येषा सप्तमी स्यादिष्विति सप्तम्याः षष्ठीं प्रकल्पयिष्यति 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (१.१.६६) इति। एवमपि न सिध्यति। किं कारणम्? न ह्यर्थेन पौर्वापर्यमस्ति। अर्थेऽसंभवात्तद्वाचिनि शब्दे कार्यं विज्ञास्यते।

यक् के साथ पूर्व सूत्रों से विहित स्य आदि भावकर्म में होते हैं। यह वाक्यभेद से अर्थ होगा।]

अथवा 'भावकर्मवाची परे रहने पर स्य आदि' यह पक्ष मान्य होवे। इस पक्ष में तो 'स्य आदि मान्य होंगे, अन्य नहीं' यह दोष कहा था? सीयुट् भी विशेषित होगा। किस प्रकार? भाव-कर्म-वाची [लिङ्] के परे रहने पर सीयुट् नहीं है, अतः भावकर्मवाची सीयुट् में कार्य समझा जाएगा। [विषय सप्तमी मानी जाएगी। अतः भाव-कर्म विषय में वर्तमान जो सीयुट् यह अर्थ मान्य किया जाएगा।]

[प्रसङ्गान्तर-] अच्छा, यहाँ पर इट् कहा है। यह इट् किसको होता है? 'अङ्गस्य' की अनवृत्ति है। [अतः अङ्ग को होता है।] तब तो फिर अङ्ग के आदि को इट् पाता है, अट्, आट् के समान। जैसे अट्, आट् टित् होने से [अङ्ग के] आदि में अवस्थित होते हैं, वैसे ही।

अच्छा तो फिर, स्य आदि को इट् होगा। तो भी [स्य आदि में] षष्ठी न होने से प्राप्त नहीं होता। क्यों, 'भावकर्मणोः' यह षष्ठी है। [शिष्य की कल्पना है।] यह षष्ठी नहीं है। तो फिर क्या? अर्थ-निर्देश प्रदान करते हुए सप्तमी है—भाव अर्थ में तथा कर्म अर्थ में।

अच्छा तो फिर, 'भावकर्मणोः' यह सप्तमी 'स्यादिषु' इस सप्तमी को षष्ठी में बदल देगी—'तस्मिन्निति...' सूत्र के अनुसार। तो भी सिद्ध नहीं होता। क्या कारण है? अर्थ से पौर्वापर्य नहीं होता। ['तस्मिन्निति...' सूत्र के अनुसार परसप्तमी वाचक के निर्दिष्ट होने पर अन्य सप्तम्यन्त को षष्ठी में बदला जाता है। इससे पर सप्तम्यन्त से पूर्व को कार्य होता है। पर यहाँ भावकर्मणोः परसप्तमी वाचक शब्द नहीं है—यह प्रश्न है।] [समाधान-] अर्थ में असम्भव होने पर भावकर्मवाची शब्द परे रहने पर कार्य समझा जाएगा।

एवमपि सीयुटो न प्राप्नोति॥ एवं तर्हि सप्तमे योगविभागः करिष्यते। आर्धधातुकस्येट्। यावानिड्नाम स सर्व आर्धधातुकस्य भवति। ततो वलादेः। वलादेरार्धधातुकस्येड् भवतीति॥ यद्येवं स्यसिच्सीयुट्तासिष्विड् भवति, चिण्वद्भावोऽविशेषितो भवति। तत्र को दोषः? स्यसिच्सीयुट्तासिष्विड्भवति, अज्झनग्रहदृशां वा चिण्वदिति, क्वचिदेव चिण्वद्भावः स्यात्। एवं तर्हि स्यादीनेवापेक्षिष्यामहे। स्यसिच्सीयुट्तासिष्विड् भवति। अज्झनग्रहदृशां वा चिण्वत्स्यादिष्विति॥

फिर भी, [इसे परसप्तमी मानने पर पुनः वही पूर्वोक्त दोष—] सीयुट् को [इट्] नहीं पाता। [क्योंकि सीयुट् होकर प्रत्यय का अवयव होने से उसका प्रत्यय के साथ पौर्वापर्य नहीं हो सकता।]

अच्छा तो फिर, सप्तम अध्याय में योगविभाग करेंगे—'आर्धधातुकस्येट्'। [यह परिभाषा-सूत्र होगा।] जहाँ भी कहीं इट् होता है, वह आर्धधातुक को होता है, यह समझना चाहिए। [इससे स्य आदि आर्धधातुक को तथा सीयुट् के प्रसङ्ग में सीयुडादि आर्धधातुक को इट् होगा।] उसके पश्चात्—'वलादेः'। वलादि आर्धधातुक को इट् होता है।

[इस पक्ष को स्वीकार करने पर स्य आदि का उपयोग आर्धधातुक को विशेषित करने के लिये तथा इन्हें इस प्रकार इट् का आगमी बनाने के लिये होगा। अब दूसरी बार चिण्वद्भाव को विशेषित करने के लिये स्यादि का पाठ उपलब्ध नहीं है। अतः-] ऐसा मानने पर स्य, सिच्... को इट् होगा। चिण्वद्भाव अविशेषित रहेगा? उसमें क्या दोष है? स्य, सिच् आदि आर्धधातुक को इट् होगा। अच्, हन्... को चिण्वत् [यह अन्वाचयशिष्ट होकर] कहीं-कहीं होगा। ['कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' (३.१.११) के समान सलोप जैसी अन्वाचय शिष्ट विधियाँ मुख्य विधियों के सायुज्य के साथ उपलब्ध नहीं होतीं। अपितु कहीं-कहीं उपलब्ध होती हैं। यही स्थिति चिण्वत् के साथ भी होगी।]

अच्छा तो फिर स्यादि की ही अपेक्षा करेंगे। स्य, सिच् को इट् आगम। स्य आदि परे रहने पर अजन्त, हन्...को चिण्वत्। [पहले स्य आदि परे रहने पर अजन्त अङ्ग...को चिण्वत् होगा। पश्चात् प्रत्यासत्ति-न्याय से उसी स्यादि को तन्त्र-युक्ति द्वारा विभक्ति-विपरिणमित रूप में प्राप्त करके उससे इट् को सम्बन्धित करेंगे।]

प्रस्तुत विवेचना का निष्कर्ष—१. 'भावकर्मणोः' में विषय सप्तमी है। 'भावकर्म वाचक प्रत्यय परे रहने पर' इस प्रकार परसप्तमी नहीं है। ऐसा मानने से सीयुट् विशेषित होता है तथा सीयुडादि आर्धधातुक को इट् सिद्ध होता है।

२. स्य, सिच् आदि परे रहने पर अजन्त, हन्...आदि को चिण्वत् होता है।

अथ के पुनरिममिटं प्रयोजयन्ति ? येऽनुदात्ताः। अथ य उदात्तास्तेषां कथम् ? सिद्धं तेनैव परत्वात्॥ उदात्तेभ्योऽपि वा अनेनैवेडेषितव्यः। किं प्रयोजनम् ? कारयतेः—कारिष्यते। हारयतेः—हारिष्यते। इटोऽसिद्धत्वाद् 'णेरनिटि' (६.४.५१) इति णिलोपो यथा स्यात्। कथं पुनरिच्छतापि भवतोदात्तेभ्योऽनेनैवेड् लभ्यो न पुनरनेनास्तु तेन वेति तेनैव स्याद्विप्रतिषेधेन। ननु च नित्योऽयम्। कृतेऽपि तस्मिन्प्राप्नोत्यकृतेऽपि प्राप्नोति। न त्वस्मिन्कृतेऽपि स प्राप्नोति। किं कारणम् ? अवलादित्वात्। तस्मादनेनैव इडेषितव्यः॥

कानि पुनरस्य योगस्य प्रयोजनानि ?

वृद्धिश्चिण्वद्युक्च हन्तेश्च घत्वं दीर्घश्चोक्तो यो मितां वा चिणीति।

पुनः तन्त्र-युक्ति से उसी स्य आदि को इट् होता है।

[प्रसङ्गान्तर-] इस इट्-विधान के प्रयोजक कौन उदाहरण बनते हैं ? जो अनुदात्त हैं। अच्छा जो उदात्त हैं, उन्हें किस प्रकार होगा ? उनमें तो परत्व से उससे ही ['आर्धधातुकस्येड्वलादेः' (७.२.३५) से सिद्ध है। उदात्त में भी इस सूत्र से ही इट् प्राप्त करना चाहये। क्या प्रयोजन है ? कारि से कारिष्यते। हारि [णिजन्त धातु] से हारिष्यते। इट् के असिद्ध होने से 'णेरनिटि' से णिलोप हो सके। [यद्यपि यहाँ कृ धातु अनुदात्त है। अतः भगवान् भाष्यकार का यहाँ उदात्त ग्रहण उपलक्षण है। अतः अर्थ होगा—जिस प्रकार उदात्त से इट् होता है। उसी प्रकार जहाँ भी इट् होता है, वहाँ वलादि-लक्षण इट् के स्थान पर इस सूत्र से अभीष्ट है। 'करिष्यते' में 'ऋद्धनोः स्ये' (७.२.७०) से इट् होता है। कारि णिजन्त के द्व्यच् होने से कर्तृवाच्य में लृट् लकार में इट् होकर 'कारयिष्यते' बनता है। पर कर्मवाच्य में वलादि लक्षण इट् नहीं, अपितु प्रस्तुत सूत्र से इट् होकर उसके असिद्ध होने से 'कारिष्यते' बनता है।]

आपके चाहते हुए भी उदात्त [से उपलक्षित वे सभी धातुएँ, जिनसे वलादि लक्षण इट् पाता है] उनसे इस सूत्र से किस प्रकार इट् लभ्य है ? ऐसा क्यों नहीं कि इससे हो या उससे—विप्रतिषेध से उससे [वलादिलक्षण] से ही इट् होगा।

यह नित्य है। उसके [वलादिलक्षण के] करने पर भी पाता है, न करने पर भी। परन्तु इसके करने पर वह नहीं पाता। क्या कारण है ? अवलादि होने से। इसलिये [प्राप्त होने से तथा उचित होने से] इससे ही इट् उपलब्ध करना चाहिये।

इस सूत्र के क्या प्रयोजन हैं ?

का०—वृद्धि, युक्, हन्ति का घत्व तथा चिण् परे रहते मित् को वा दीर्घ।

वृद्धिः प्रयोजनम्—चेष्यते, चायिष्यते॥ युक् च प्रयोजनम्—ग्लास्यते, ग्लायिष्यते॥ हन्तेश्च घत्वं प्रयोजनम्—हनिष्यते, घानिष्यते॥ दीर्घश्चोक्तो यो मितां वा चिणीति स च प्रयोजनम्—शमिष्यते, शामिष्यते। तमिष्यते, तामिष्यते॥

इट्चासिद्धस्तेन मे लुप्यते णिर्नित्यश्चायं वल्निमित्तो विघाती॥

इटोऽसिद्धत्वाद् 'णेरनिटि' (६.४.५१) इति णिलोपो यथा स्यात्। कथं पुनरयं नित्यः ? कृताकृतप्रसङ्गित्वात्। कृताकृतप्रसङ्गी ह्ययम्। कृतेऽपि तस्मिन्निटि साप्तमिक 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (७.२.३४) इति पुनरयं भवति। अस्मिंस्तु विहिते वलादित्वस्य निमित्तस्य विहतत्वात्साप्तमिको न भवति॥ निमित्तं विहतं भवति। अयं तस्य निमित्तं विहन्ति, तस्मादयं नित्यः। स तु अस्य निमित्तं न विहन्ति।

अथोपदेशग्रहणं किमर्थम् ?

चिण्वद्भाव उपदेशवचनमृकारगुणबलीयस्त्वात्॥ १॥

भा०—चिण्वत् करने का वृद्धि प्रयोजन है—चेष्यते, चायिष्यते। [एक पक्ष में वृद्धि होकर अयादेश होता है। युक् प्रयोजन है—ग्लास्यते, ग्लायिष्यते। ['आतो युक्चिण्कृतोः' (७.३.३३) से युक् होता है।] ['हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' (७.३.५४) से] हन् धातु को घत्व होता है—हनिष्यते, घानिष्यते। साथ ही जो ['चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्य-तरस्याम्' (६.४.९३) से] चिण् परे रहने पर मित् को विकल्प से दीर्घ कहा गया है, वह भी प्रयोजन है। शमिष्यते, शामिष्यते...।

का०—साथ ही इससे इट् होने से वह असिद्ध हो जाता है, इससे मेरे णि का लोप हो जाता है। इस पकार वल् को निमित्त मान कर वह वलादिलक्षण इट् अनित्य है। यह उसके निमित्त का विघात करने वाला इट् नित्य है।

भा०—इट् के असिद्ध होने से 'णेरनिटि' से णिलोप हो सके। यह नित्य किस प्रकार है ? कृताकृतप्रसङ्गी होने से। यह कृत तथा अकृत होने पर भी प्रसक्त होता है। उस साप्तमिक 'आर्धधातुकस्य...' से इट् कर लेने पर भी यह पुनः प्राप्त होता है। परन्तु इसके विहित होने पर वलादित्व निमित्त का विघात होने से साप्तमिक नहीं होता। निमित्त विहत हो जाता है। इस प्रकार यह उसके निमित्त का विघात करता है। अतः यह नित्य है। परन्तु वह इसके निमित्त का विघात नहीं करता। [अतः वह नित्य नहीं है।]

[प्रसङ्गान्तर-] यहाँ उपदेश-ग्रहण किसलिये है ?

वा०—चिण्वद्भाव में उपदेशवद् वचन ऋकार का गुण-बलीयस्त्व होने से।

चिण्वद्भाव उपदेशवचनं क्रियत ऋकारगुणस्य बलीयस्त्वात्। कारिष्यते। परत्वाद् गुणे कृते रपरत्वे चानजन्तत्वाच्चिण्वद्भावो न प्राप्नोति। उपदेशग्रहणाद्भवति॥

वधिभावात्सीयुटि चिण्वद्भावो विप्रतिषेधेन॥ २॥

वधिभावात्सीयुटि चिण्वद्भावो भवति विप्रतिषेधेन। वधिभावस्यावकाशः—वध्यात्, वध्यास्ताम्, वध्यासुः। चिण्वद्भावस्यावकाशः—घानिष्यते, अघानिष्यत। इहोभयं प्राप्नोति—घानिषीट, घानिषीयास्ताम्, घानिषीरन्। चिण्वद्भावो भवति विप्रतिषेधेन॥ अथेदानीं चिण्वद्भावे कृते पुनःप्रसङ्गविज्ञानाद्वधिभावः कस्मान्न भवति? सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेवेति॥

हनिणिङादेशप्रतिषेधश्च॥ ३॥

हनिणिङादेशानां च प्रतिषेधो वक्तव्यः। हनिष्यते, घानिष्यते। एष्यते, आयिष्यते। अध्येष्यते, अध्यायिष्यते। लुङीति हनिणिङादेशाः प्राप्नुवन्ति॥

भा०—[उपदेश में जो अजन्त इस अर्थ-प्राप्ति के साथ] चिण्वद्भाव में उपदेश-वचन करते हैं, ऋकार-गुण के अधिक बलवान् होने से। कारिष्यते। परत्व से गुण तथा रपरत्व कर लेने पर अनजन्त होने से चिण्वद्भाव नहीं पाता, उपदेश ग्रहण से हो जाता है।

[प्रसङ्गान्तर-] सीयुट् में वध भाव से चिण्वद्भाव, विप्रतिषेध से।

सीयुट् परे रहने पर वध-भाव से पहले चिण्वद्भाव होता है। विप्रतिषेध से। ['हनो वध लिङि' (२.४.४२) सूत्र से] वधभाव का अवकाश है—वध्यात्...। [जहाँ लिङ् परे नहीं है।] यहाँ दोनों प्राप्त हैं—घानिषीष्ट...। [जहाँ भाव-कर्म भी है, लिङ् परे भी है।] विप्रतिषेध से चिण्वद्भाव होता है। [ऐसा होने से 'हो हन्ते...' (७.३.५४) से कुत्व होता है। अच्छा अब चिण्वद्भाव होने पर पुनः प्रसङ्गविज्ञान से वध भाव क्यों नहीं होता? विप्रतिषेध में प्रथम प्रयास में जो बाधित है। वह बाधित ही बना रहता है।

वा०—हन्, इण्, इङ् के आदेश का प्रतिषेध भी।

भा०—हन्, इण्, इङ् के स्थान में होने वाले आदेश का प्रतिषेध भी कहना चाहिये। हनिष्यते, घानिष्यते। ['लुङि च' (२.४.४३) से वध आदेश नहीं होता] एष्यते, आयिष्यते। ['इणो गा लुङि' (२.४.४५) से गा आदेश नहीं होता।] अध्येष्यते, अध्यायिष्यते। ['विभाषा लुङ्लृङोः' (२.४.५०) से गाङ् आदेश नहीं होता। चिण् परे रहने पर जो भी कार्य देखे गये हैं, उनका अतिदेश मानने पर प्रकारान्तर से विहित कार्यों के अतिदेश की प्राप्ति होती है। चिण् लुङ् परे रहने पर होता है, इसके साथ लुङ् परे वध आदेश देखा गया है, अतः यहाँ भी इसकी प्राप्ति है।]

अङ्गस्येति तु प्रकरणादाङ्गशास्त्रातिदेशात्सिद्धम्॥ ४॥

आङ्गं यत्कार्यं तत्प्रतिनिर्दिश्यते। न च हनिणिङादेशा आङ्गा भवन्तीति॥

आतो लोप इटि च॥ ६.४.६४॥

अथेड्ग्रहणं किमर्थम्?

इड्ग्रहणमक्ङिदर्थम्॥ १॥

इड्ग्रहणं क्रियतेऽक्ङिति लोपो यथा स्यात्। पपिथ, तस्थिथेति॥

सार्वधातुके चादीत्यार्धधातुकाधिकारादुपसंख्यानं कर्तव्यम्। इषमूर्जमहमित आदि इति॥ ननु च क्ङित्तीति वर्तमाने यथैवेड्ग्रहणमक्ङिदर्थमेवमार्धधातुक इत्यपि वर्तमान इड्ग्रहणं सार्वधातुकार्थं भविष्यति?

वा०—'अङ्गस्य' इस प्रकरण से आङ्ग शास्त्र के अतिदेश से सिद्ध।

भा०—'अङ्गस्य' इस अधिकार में विहित जो कार्य हैं, उनका अतिदेश है। हन्, इण्, इङ् के स्थान में होने वाले आदेश अङ्ग के अधिकार में विहित नहीं है।

आतो लोप इटि च॥

भा०—'इट्' ग्रहण किसलिये है?

वा०—'इट्' ग्रहण अक्ङित् के लिये।

भा०—'इट्' ग्रहण करते हैं, ताकि अक्ङित् परे रहने पर लोप हो सके। पपिथ, तस्थिथ।

विवरण—इस सूत्र में अचि, क्ङिति, आर्धधातुके इन तीनों की अनुवृत्ति है। विशेषण-विशेष्यभाव में कामचार होने से अनेक पक्ष सम्भव हैं। अतः अभीष्ट की सिद्धि के लिये इट् को किसी से भी विशेषित न करते हुए अन्य के साथ समुच्चित करते हैं। इससे अर्थ होता है—इट् परे रहने पर तथा अजादि क्ङित् आर्धधातुक परे रहने पर। इस प्रकार इट् अविशेषित होकर क्ङित् या अक्ङित् इट् परे रहने पर भी लोपविधायक हो सकता है। इससे 'पपिथ' में अक्ङित् इथ परे होने पर भी आकारलोप सिद्ध होता है।

भा०—'आदि' इस उदाहरण में सार्वधातुक परे रहने पर भी [आकार-लोप] का उपसङ्ख्यान करना चाहिये। आर्धधातुक अधिकार होने से [अप्राप्ति है।] इषमूर्जमहमित आदि (=मैने इससे शक्ति, ऊर्जा का आदान किया।) [आदि में आङ् उपसर्गपूर्वक दा धातु, लङ् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन छान्दस शप्-लुक् तथा द्विर्वचन का अभाव। 'आ दा इ' इस दशा में इट् प्रत्यय के सार्वधातुक होने से आकारलोप नहीं पाता।]

क्यों, जिस प्रकार क्ङिति की अनुवृत्ति होने पर इट्-ग्रहण अक्ङित् के लिये है, उसी प्रकार 'आर्धधातुके' अनुवृत्ति होने पर भी इट्-ग्रहण सार्वधातुक के लिए होगा।

न सिध्यति। किं कारणम्? न हि क्ङिताज्विशेष्यते। अचि भवति कतरस्मिन्? क्ङितीति। किं तर्हि? अचा क्ङिद्विशेष्यते। क्ङिति भवति, कतरस्मिन्? अचीति। किं पुनः कारणमचा क्ङिद्विशेष्यते? यथेडप्यज्ग्रहणेन विशेष्येत। अस्ति चेदानीं क्वचिदिडनजादिः, यदर्थो विधिः स्यात्? अस्तीत्याह। दासीय, धासीय॥ तत्तर्ह्युपसंख्यानं कर्तव्यम्? न कर्तव्यम्। आर्धधातुकत्वात्सिद्धम्। कथमार्धधातुकत्वम्? उभयथा छन्दसीति वचनात्। अन्येऽपि हि धातुप्रत्यया उभयथा छन्दसि दृश्यन्ते॥

घुमास्थागापाजहातिसां हलि॥ ६.४.६६ ॥

ईत्त्वे वकारप्रतिषेधो घृतं घृतपावान इति दर्शनात्॥ १॥

[पूर्वोक्त निरूपित अर्थ के अनुसार इट्-ग्रहण क्ङित् तथा आर्धधातुक दोनों से स्वतन्त्र दिखाया गया है। इस प्रकार उस पूर्वोक्त अर्थ में आर्धधातुक तथा अनार्धधातुक दोनों इट् परे रहने पर आलोप सिद्ध हो सकेगा।]

नहीं सिद्ध होता। क्या कारण है? यहाँ क्ङित् से अच् को विशेषित नहीं किया जाता। अच् परे होता है। किस अच् परे रहने पर? क्ङित् अच् परे रहने पर। तो फिर क्या? अच् से क्ङित् को विशेषित किया जाता है। क्ङित् परे रहने पर होता है। किस क्ङित् परे होने पर? 'अचि' [अर्थात् अजादि क्ङित् परे होने पर। तात्पर्य यह है कि अजादि आर्धधातुक का सम्बन्ध दोनों के साथ करना अभीष्ट है। ताकि अर्थ हो—अजादि आर्धधातुक इट् परे रहने पर तथा अजादि आर्धधातुक क्ङित् परे रहने पर। ऐसा अर्थ मानने पर पूर्वोक्त 'आदि' उदाहरण में आकार-लोप सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि यहाँ इट् सार्वधातुक है।]

क्या कारण है कि अच् से क्ङित् को विशेषित करते हैं? ताकि इट् भी अच् ग्रहण से विशेषित हो सके। [इस प्रकार पूर्वोक्त 'अजादि आर्धधातुक इट्' यह अर्थ हो सके।] क्या कोई इट् अनजादि भी है, जिसके लिये 'अजादि इट्' यह विधि सार्थक हो? हां है। दासीय...। [दा धातु आशीर्लिङ्, उत्तम पुरुष एकवचन। 'दा सीय् इ' इस दशा में इट् के सीयुट् भाग होने से यह अनजादि इट् है। अतः यहाँ आलोप नहीं होता।] तो फिर उपसङ्ख्यान किया जावे? नहीं करना चाहिये। [इट् के] आर्धधातुक होने से सिद्ध है। [यह उत्तम पुरुष का इट्] आर्धधातुक कैसे होगा? छन्द में दोनों प्रकार का होता है—ऐसा कहने से। ['छन्दस्युभयथा' (३.४.११७)।] छन्द में अन्य भी धातु से विहित प्रत्यय उस सूत्र से दोनों प्रकार के देखे जाते हैं।

घुमास्थागापाजहातिसां हलि॥

वा०—ईत्व में वकार के [निमित्तभाव का] प्रतिषेध, 'घृतं घृतपावानः' इसके देखे जाने से।

ईत्त्वे वकारप्रतिषेधो वक्तव्यः। किं प्रयोजनम्? घृतं घृतपावान इति दर्शनात्। इह मा भूत्—घृतं घृतपावानः पिबत, वसां वसापावानः पिबतेति॥ यदि तर्हि वकारे प्रतिषेध उच्यते कथं—धीवरी, पीवरीति?

धीवरी पीवरीति चोक्तम्॥ २॥

किमुक्तम्? नैतदीत्त्वम्। किं तर्हि? ध्याप्योरेतत्संप्रसारणमिति॥

स तर्हि प्रतिषेधो वक्तव्यः? न वक्तव्यः। वनिबेष भविष्यति, न क्वनिबिति॥

न माङ्योगे॥ ६.४.७४॥

कस्यायं प्रतिषेधः? आटः प्राप्नोति। अटोऽपीष्यते। तत्तर्ह्यटो ग्रहणं कर्तव्यम्? न कर्तव्यम्। प्रकृतमनुवर्तते। क्व प्रकृतम्? 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' (६.४.७१) इति। यदि तर्हि तदनुवर्तत 'आडजादीनाम्' (७२) अट् चेत्यडपि प्राप्नोति? अस्तु। अटि कृते पुनराड् भविष्यति।

भा०—ईत्व के प्रसङ्ग में वकार के निमित्तभाव का प्रतिषेध कहना चाहिये। [वकार हल् को निमित्त मानकर ईत्व न हो।] क्या प्रयोजन है? यहाँ न हो—घृतं घृतपावानः पिबत.... (=घी पीने वाले घी पियें)। [घृतपावानः में घृत उपपद होने पर 'पा' धातु से 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च' (३.२.७४) से क्वनिप्। यहाँ वन् परे रहने पर 'पा' को ईत्व न हो।]

यदि वकार परे रहने पर प्रतिषेध करते हो तो धीवरी, पीवरी कैसे सिद्ध होगा?

वा०—धीवरी, पीवरी के लिये कह चुके हैं।

भा०—क्या कहा है? ['जनसनखनां सञ्झलोः' (६.४.४२) में कहा है कि] यह ईत्व नहीं है। तो फिर क्या? ध्या, प्या का सम्प्रसारण है। [३.२.१७८ के वार्तिक अनुसार]

तो फिर यह प्रतिषेध कहा जावे? नहीं कहना चाहिये। यहाँ वनिप् होगा, क्वनिप् नहीं। [पूर्वोक्त सूत्र से वनिप् ही होता है। 'दृष्टानुविधिश्छन्दसि' के अनुसार उस सूत्र से यहाँ क्वनिप् नहीं होता। इससे कित् परे न मिलने से ईत्व नहीं होगा।]

न माङ्योगे॥

भा०—यह किसका प्रतिषेध है? आट् का प्राप्त होता है। [क्योंकि आट् के साथ ही आनन्तर्य है।] अट् का भी तो [प्रतिषेध] इष्ट है। तो फिर अट् का ग्रहण करना चाहिये? नहीं करना चाहिये। प्रकृत अनुवृत्त है। कहाँ से प्रकृत है? 'लुङ् लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' सूत्र से। यदि उसकी अनुवृत्ति है तो 'आडजादीनाम्' में अट् की भी अनुवृत्ति होने से [अजादि को] अट् भी पाता है? ठीक है, अट् करने पर पुनः आट् हो जाएगा। [व्यक्ति पदार्थ में प्रत्येक उदाहरण के प्रति सूत्र को चरितार्थ

इहापि तर्ह्यटि कृते पुनराट् प्राप्नोति—अकार्षीत्, अहार्षीत्? अड्वचनान्न भविष्यति। इहापि तर्ह्याड्वचनान्न स्यात्—ऐहिष्ट, ऐक्षिष्ट? आड्वचनाद्भविष्यति। इहापि तर्ह्याड्वचनात्प्राप्नोति—अकार्षीत्, अहार्षीत्? अकृतेऽटि योऽजादिरित्येवमेतद्विज्ञास्यते। किं वक्तव्यमेतत्? न हि। कथमनुच्यमानं गंस्यते? अज्वचनसामर्थ्यात्। यदि कृतेऽटि योऽजादिस्तत्र स्यादज्ग्रहणमनर्थकं स्यात्। अथवोपदेश इति वर्तते। अथवार्धधातुक इति वर्तते।

होना चाहिये। अतः अट् होने के पश्चात् भी अजादि वाले सभी उदाहरणों को चरितार्थ करने के लिये पुनः आट् हो जाएगा।] तब तो यहाँ भी अट् करने पर पुनः आट् पाता है—'अकार्षीत्...' आदि। [यदि एक शास्त्र के प्रवृत्त होने के पश्चात् भी सम्बद्ध प्रत्येक उदाहरणों के प्रति चरितार्थता दिलाने के लिये सम्बद्ध सूत्र की पुनः प्रवृत्ति हो सकती है, तो अट् करने के पश्चात् अजादि बन जाने से इसे चरितार्थ बनाने के लिये पुनः आट् की प्राप्ति होती है।] अट्-वचन से नहीं होगा। [यदि हलादि से अट् के पश्चात् आट् भी होगा तब तो 'लुङ्लङ्..' से आट् आगम का ही विधान कर देते? अट् विधान की आवश्यकता ही नहीं थी।] तब तो यहाँ भी अट्-वचन होने से आट् न होता—ऐक्षिष्ट...। [यदि अजादि से अट् विधान के पश्चात् आट् करें तब तो पूर्वोक्त अनुसार यहाँ भी आट् नहीं पाएगा।] आट्-वचन सामर्थ्य से हो जाएगा। [यदि हलादि से अट् के पश्चात् आट् (क) हो तो अट् (ख) विधान अनर्थक होने लगेगा, अतः उससे आट् (क) नहीं होगा। परन्तु यदि अजादि से अट् के पश्चात् आट् न होवे तो अजादि से आट् विधान अनर्थक होने लगेगा। अतः अजादि से आट् होगा। जिस विधि (क) की प्राप्ति होने पर जो विधि (ख) अनर्थक होने लगती है उसे (ख) सार्थक बनाने के लिए उस विधि (क) का निवारण कराया जाता है।]

[इस उपरिलिखित तथ्य को न समझ कर आगे प्रश्न है—] तब तो यहाँ भी आट् वचन से [आट्] प्राप्त होता है—अकार्षीत्...। [समाधान-] अट् न करने पर जो अजादि इस प्रकार समझा जाएगा। क्या इसे कहना होगा? नहीं। बिना कहे कैसे प्रतीति होगी? अट्-वचन सामर्थ्य से। यदि अट् करने पर जो अजादि है, वहाँ भी [आट्] होवे, तब तो अट्-वचन व्यर्थ होने लगेगा। [अकार्षीत् आदि में अट् के पश्चात् आट् होने पर अट्-वचन निरर्थक होगा। अतः वहाँ आट् नहीं होगा। ऐक्षिष्ट... आदि में भी यदि अट् ही हो तो अजादि से आट् वचन निरर्थक होने लगेगा। अतः वहाँ आट् होगा।]

अथवा 'उपदेशे' की अनुवृत्ति है। [अतः उपदेश में जो अजादि है, उसे आट् होगा।] अथवा 'आर्धधातुके' की अनुवृत्ति है। [अतः आर्धधातुक लकार की

अथवा लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडिति द्विलकारको निर्देशः। लुङादिषु लकारादिषु योऽजादिरिति॥ सर्वथा—ऐज्यत, औप्यत—इत्येतन्न सिध्यति। एवं तर्हि—

अजादीनामटा सिद्धम्

अजादीनामटैव सिद्धं नार्थ आटा॥ एवं तर्हि वृद्ध्यर्थमाड् वक्तव्यः।

वृद्ध्यर्थमिति चेदटः।

अटो वृद्धिं वक्ष्यामि॥ यदि तर्ह्यटो वृद्धिरुच्यते—

अस्वपो हसतीत्यत्र

अस्वपो हसतीत्यत्रापि वृद्धिः प्राप्नोति रोरुत्त्वे कृते॥

उत्पत्ति-काल में जो अजादि है, उसे आट् होगा।] अथवा 'लुङ्लङ्...' में दो लकार वाला निर्देश है। [अतः लुङ् आदि जब लकारादि होते हैं, उस समय अजादि होने पर आट् होगा।]

सर्वथा ऐज्यत, औप्यत सिद्ध नहीं होता। [लकार उत्पत्ति काल में यज् के अजादि न होने से आट् प्राप्त नहीं होता। 'ऐज्यत' में यज् धातु कर्मवाच्य लङ् लकार प्रथम पुरुष, एकवचन है। यहाँ सम्प्रसारण के पश्चात् आट् करना चाहते हैं। ताकि 'एज् य त' इस दशा में आट् होकर 'आटश्च' (६.१.९०) से पूर्व पर को वृद्धि-एकादेश होकर ऐज्यत बन सके। वह सिद्ध नहीं होता।]

का०—अजादि अङ्ग को अट् से सिद्ध।

भा०—अजादि अङ्ग को 'अट्' आगम से ही सिद्ध है। आट् की उपयोगिता नहीं। अच्छा तो फिर ['आटश्च' से] वृद्धि के लिये आट् कहना चाहिये।

का०—वृद्धि के लिये कहें तो अट् का ही।

भा०—अट् को ही वृद्धि कह देंगे। यदि अट् को [पूर्व-पर को] वृद्धि कहेंगे, [तब तो—]

का०—'अस्वपो हसति' यहाँ पर।

भा०—'अस्वपो हसति' यहाँ भी रु को उत्व करने पर वृद्धि पाती है।

विवरण—स्वप् धातु, लङ् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन। अदादिगणीय होने से शप् लुक्। 'अड्गार्ग्यगालवयोः' (७.३.९९) से अट्। 'अ स्वप् अ स्' इस दशा में सकार को रुत्व, हसति परे रहने पर 'हशि च' (६.१.११४) से उत्व। 'अ स्वप् अ उ स्' इस दशा में अट् को वृद्धि कहने पर इस अट् को भी वृद्धि पाती है।

दोष प्रदान करने के लिये उदाहरण खोजा गया है। लोक में प्रयोग की सम्भावना अतिस्वल्प है। दोनों मिलकर असमर्थ क्रियाएँ हैं। 'त्वम् अस्वपः, हसति सः' इस प्रकार अध्याहार करना होगा।

धातौ वृद्धिमटः स्मरेत्॥ १॥

धातावटो वृद्धिं वक्ष्यामि॥ तत्तर्हि धातुग्रहणं कर्तव्यम्। न कर्तव्यम्। योगविभागः करिष्यते। अटोऽचि वृद्धिर्भवति। तत उपसर्गादृति वृद्धिर्भवति। ततो धातौ। धातावित्युभयोः शेषः॥ इह तर्हि—आटीत्, आशीदिति 'अतो गुणे' (६.१.९७) इति पररूपं प्राप्नोति?

पररूपं गुणे नाटः।

पररूपं गुणे 'अटो न' इति वक्ष्यामि॥ तत्तर्हि वक्तव्यम्? न वक्तव्यम्।

ओमाङोरुसि तत्समम्।

यद्यप्येतदुच्यतेऽथवैतर्ह्युस्योमाङ्क्ष्वाटः पररूपप्रतिषेधश्चोदितः स न

का०—धातु परे रहने पर अट् की वृद्धि का स्मरण करेंगे।

भा०—धातु परे रहने पर अट् के [पूर्व पर को] वृद्धि कहेंगे। तो फिर धातु ग्रहण किया जावे? नहीं करना चाहिये। योगविभाग करेंगे। 'अटः' अट् से अच् परे रहने पर [पूर्व पर को] वृद्धि होती है। उसके पश्चात् 'उपसर्गादृति' वृद्धि होती है। उसके पश्चात् 'धातौ' इसका सम्बन्ध उपर्युक्त दोनों सूत्रों के साथ होगा।

अच्छा तो फिर—आटीत्, आशीत्—यहाँ 'अतो गुणे' से पररूप प्राप्त होता है? ['आटीत्' शब्द अट् धातु, लुङ् लकार प्रथम पुरुष, एकवचन। उससे अट् आगम होने पर 'अ अट् ई त्' 'नेटि' (७.२.४) सूत्र से वृद्धि का प्रतिषेध होने पर इस नवीन वृद्धि विधायक सूत्र के परे 'अतो गुणे' के होने से उससे पररूप प्राप्त होता है।

का०—अट् से उत्तर गुण परे होने पर [पूर्व पर को] पररूप नहीं।

भा०—गुण परे रहने पर पररूप अट् से उत्तर नहीं, ऐसा कहेंगे। तो फिर इसे कहा जावे? नहीं कहना चाहिये।

का०—'ओम्, आङ् उस्' परे रहने पर यह वचन [अथवा यह वचन कर्तव्यता में] समान हैं।

भा०—यद्यपि यह कहना तो पड़ेगा, परन्तु इससे ओम्, आङ् तथा उस् परे रहने पर आट् [को जो पररूप] का प्रतिषेध कहा है, उसे नहीं कहना पड़ेगा।

विवरण—औङ्कारीयत्, औढीयत्, औसीयत्—ये उदाहरण क्यजन्त ओङ्कार आदि से ओङ्कारीय आदि धातु बनने पर उससे लङ् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में निर्मित हैं। यहाँ आट् होने पर 'आ ओङ्कारीय अ त्' इस दशा में 'ओमाङोश्च' (६.१.९५) से पररूप प्राप्त होता है, उसका प्रतिषेध करना चाहिये—यह उक्त वार्तिक में कहा है। अब यदि यहाँ अट् का विधान करते हैं तथा अट् से उत्तर गुण परे रहने पर पररूप का प्रतिषेध करते हैं तो पूर्वोक्त वार्तिक का कार्य इसी वार्तिक

वक्तव्यो भवति॥ छन्दोऽर्थं तर्ह्याड् वक्तव्यः। आरैगु कृष्णा (ऋ० १.११३.२)। त्रित एनमायुनक् (ऋ० १.१६३.२)। सुरुचो वेन आवः (यजुः० १३.३)।

छन्दोऽर्थं बहुलं दीर्घम्

बहुलं छन्दसि दीर्घत्वं दृश्यते। तद्यथा—पूरुषः, नारक इति॥ एवं तर्हि— आयन्, आसन् इणस्त्योर्यणलोपयोः कृतयोरनजादित्वाद् वृद्धिर्न प्राप्नोति।

इणस्त्योरन्तरङ्गतः॥ २॥

अन्तरङ्गत्वाद् वृद्धिर्भविष्यति। तस्मान्नार्थ आड्ग्रहणेन॥

अजादीनामटा सिद्धं वृद्ध्यर्थमिति चेदटः।

अस्वपो हसतीत्यत्र धातौ वृद्धिमटः स्मरेत्॥ १॥

पररूपं गुणे नाट ओमाङोरुसि तत्समम्।

छन्दोऽर्थं बहुलं दीर्घमिणस्त्योरन्तरङ्गतः॥ २॥

से सिद्ध हो जाएगा। इससे पूर्वोक्त वार्तिक नहीं बनाना पड़ेगा। इससे समान गौरव हो जाएगा।

भा०—अच्छा तो फिर—छन्द के लिये आट् कहना चाहिये—आरैगु कृष्णा (ऋ० १.११३.२) [आङ् पूर्वक रिच् धातु से आरैक्] त्रित एनमायुनक् [आङ् पूर्वक युज् धातु] सुरुचो वेन आवः (यजुर्वेद १३.३) [आङ् पूर्वक वृञ् धातु। सभी उदाहरणों में 'छन्दस्यपि दृश्यते' (६.४.७३) से अनजादि अङ्ग होने पर भी आट्। आट् विधान न करने पर इस सूत्र से आट् नहीं हो सकेगा।]

का०—छन्द के लिये बहुल करके दीर्घ।

भा०—छन्द में बहुल करके दीर्घ देखा जाता है—पूरुषः, नारकः।

अच्छा तो फिर आयन्, आसन्। इण् तथा अस् धातु में क्रमशः यण् तथा अल्लोप करने पर अनजादि होने से वृद्धि नहीं पाती। ['आयन्' शब्द में इण् धातु लङ् लकार प्रथम पुरुष, बहुवचन। यहाँ 'अ इ अन्ति' इस दशा में 'इणो यण्' (६.४.८१) से यणादेश 'अ यन्ति' इस दशा में अनजादि होने से वृद्धि नहीं पाती। 'आसन्' में 'श्नसोरल्लोपः' (६.४.१११) से अस् के अकार का लोप।]

का०—इण्, अस्ति में अन्तरङ्ग होने से।

भा०—यहाँ अन्तरङ्ग होने से वृद्धि पहले होगी। [इस प्रकार वृद्धि के पश्चात् यणादेश होने से आयन् आदि सिद्ध हैं।] अतः 'आट्' विधान की आवश्यकता नहीं।

अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ ॥ ६.४.७७ ॥

इयङादिप्रकरणे तन्वादीनां छन्दसि बहुलम् ॥ १ ॥

इयङादिप्रकरणे तन्वादीनां छन्दसि बहुलमुपसंख्यानं कर्तव्यम्। तन्वं (अथर्व० ५.३.१) पुषेम। तनुवं (तै०सं० १.५.५.४) पुषेम। विष्वं पश्य। विषुवं पश्य। स्वर्गं लोकम्। सुवर्गं लोकम्। त्र्यम्बकं यजामहे (तै०सं० १.८.६.२)। त्रियम्बकं यजामहे ॥

एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य ॥ ६.४.८२ ॥

अथेह कस्मान्न भवति—ब्राह्मणस्य नियौ। ब्राह्मणस्य नियः? अङ्गाधि-कारात्। अङ्गस्येत्यनुवर्तते ॥ एवमपि—परमनियौ, परमनिय इत्यत्र प्राप्नोति? गतिकारकपूर्वस्यैवेष्यते ॥

अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ ॥

वा०—इयङ् आदि प्रकरण में तनु आदि का छन्द में बहुल से।

भा०—इयङ् आदि प्रकरण में तनु आदि का छन्द में बहुल से [इयङ् उवङ् का] उपसङ्ख्यान करना चाहिये। तन्वं पुषेम, तनुवं पुषेम। ['तनुवम्' में 'अमि पूर्वः' (६.१.१०७) से पूर्वरूप नहीं हुआ है। 'अमि पूर्वः' में 'वा छन्दसि' की अनुवृत्ति होने से विकल्प से पूर्वरूप होता है। विष्वं पश्य, विषुवं पश्य। ['विसूते' अर्थ में वि उपसर्गपूर्वक सू धातु 'सत्सूद्विष...' (३.२.६१) से क्विप्। यहाँ 'ओः सुपि' (६.४.८३) से नित्य यण् की प्राप्ति में उवङ् का विधान है।] स्वर्गं लोकम्, सुवर्गं लोकं। त्र्यम्बकं यजामहे, त्रियम्बकं यजामहे। [अधातु होने के कारण अप्राप्त उवङ् का एक पक्ष में विधान।

एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य ॥

भा०—यहाँ [यणादेश] क्यों नहीं होता—ब्राह्मणस्य नियौ (=ब्राह्मण को ले जाने वाले) [यहाँ नी धातु से ताच्छील्य आदि अर्थों में 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (३.२.१७८) से क्विप्। इस सुबन्त 'नी' का ब्राह्मण कर्म के साथ पश्चात्कालिक सम्बन्ध होने पर 'ब्राह्मण' में 'कर्तृकर्मणोः कृति' (२.३.६५) से षष्ठी (यहाँ 'नियौ' में 'नी औ' इस दशा में इससे यणादेश की प्राप्ति है।]

अङ्ग का अधिकार होने से। 'अङ्गस्य' का अनुवर्तन है। [इससे इकारान्त अनेकाच् अङ्ग के अन्तिम अक्षर को यणादेश होता है।] तो भी परमनियौ...यहाँ पाता है? गतिकारकपूर्व का ही इष्ट है। [इससे नियम होता है कि यदि सपूर्वपद को हो तो गतिकारकपूर्व को ही हो। किसी भी पूर्वपद के न होने पर तो यणादेश स्वतन्त्र है। अतः 'निन्यतुः' आदि में तो यणादेश होता ही है।]

यणादेशः स्वरपदपूर्वोपधस्य च॥ १॥

यणादेशः स्वरपूर्वोपधस्य पदपूर्वोपधस्य चेति वक्तव्यम्। स्वरपूर्वा च यस्योपधापदपूर्वा च। स्वरपूर्वा—निन्यतुः, निन्युः। पदपूर्वोपधा। उन्यौ, उन्यः। उद्ध्यौ, उद्ध्यः। उभयपूर्वा—ग्रामण्यौ, ग्रामण्यः। सेनान्यौ, सेनान्यः॥

असंयोगपूर्वे ह्यनिष्टप्रसङ्गः॥ २॥

असंयोगपूर्वस्येति ह्युच्यमानेऽनिष्टं प्रसज्येत—उद्ध्यौ, उद्ध्यः। उन्यौ, उन्यः। असंयोगपूर्वस्येति प्रतिषेधः प्रसज्येत॥

तत्तर्हि वक्तव्यम्? न वक्तव्यम्। धातोरिति वर्तते तत्र धातुना संयोगं विशेषयिष्यामः। धातोर्यः संयोगस्तत्पूर्वस्य नेति। उपसर्जनं वै संयोगः, न चोपसर्जनस्य विशेषणमस्ति। धातोरित्यनुवर्तनसामर्थ्यादुपसर्जनस्यापि विशेषणं भविष्यति। अस्त्यन्यद्धातोरित्यनुवर्तनस्य प्रयोजनम्। किम्?

वा०—यणादेश स्वर, पद पूर्व वाली उपधा [वाले इकार] को।

भा०—यणादेश स्वर या पद पूर्व वाली उपधा [ऐसी उपधा जिसके पूर्व में स्वर या पद हो] वाले इकार को, इस प्रकार कहना चाहिये। [ऐसा इकार] जिसकी उपधा स्वर-पूर्व वाली हो या पद पूर्व वाली हो। स्वरपूर्व वाली—निन्यतुः...। पद पूर्व वाली—उन्यौ...[उपधानकार से पूर्व 'उत्' पद है।] उभयपूर्वा—ग्रामण्यौ...।

वा०—'असंयोगपूर्व' कहने पर अनिष्ट-प्रसङ्ग।

भा०—'असंयोगपूर्वस्य' कहने पर अनिष्ट की प्राप्ति होगी—उन्यौ...। [इकार से पूर्व संयोग होने से] 'असंयोगपूर्वस्य' से प्रतिषेध की प्राप्ति होगी।

तो फिर इसे कहा जावे? नहीं कहना चाहिये। 'धातोः' की अनुवृत्ति है। धातु से संयोग को विशेषित करेंगे—धातु का जो संयोग, वह [संयोग] है पूर्व में जिसके ऐसा जो इकार उसे [यण्] नहीं होता। [अर्थात् वह सम्पूर्ण संयोग धातु का अंश होना चाहिये। जैसे—'यवक्री' में इ से पूर्व 'क्र' संयोग धातु का अवयव है।]

'संयोग' तो उपसर्जन है। उपसर्जन का तो विशेषण होता नहीं।

विवरण—यहाँ 'असंयोगपूर्वस्य' बहुव्रीहि समास वाला एक पद है। इसका एक अंश 'असंयोग' उपसर्जन है। व्याकरण में 'वृत्तस्य वा विशेषणयोगो न' इस महाभाष्य-वचन के अनुसार समास के अन्तवर्ती पदों का विशेषण नहीं होता। अतः 'धातोः' यह 'असंयोग' का विशेषण किस प्रकार बन सकेगा—यह प्रश्नाशय है।

भा०—'धातोः' के अनुवर्तन-सामर्थ्य से उपसर्जन का भी विशेषण हो सकेगा। धातु की अनुवृत्ति का अन्य प्रयोजन है। क्या?

इवर्णं विशेषयिष्यामः। नैतदस्ति प्रयोजनम्। यद्ध्यधातोरिवर्णं भवितव्यमेव तस्य यणादेशेन 'इको यणचि' (६.१.७७) इत्येव॥

वर्षाभ्वश्च॥ ६.४.८४॥

वर्षाभूपुनर्भ्वश्च॥ १॥

वर्षाभू इत्यत्र पुनर्भ्वश्चेति वक्तव्यम्। पुनर्भ्वौ, पुनर्भ्वः॥

अत्यल्पमिदमुच्यते। वर्षादृन्कारपुनःपूर्वस्य भुव इति वक्तव्यम्। वर्षाभ्वौ, वर्षाभ्वः। दृन्भ्वौ, दृन्भ्वः। कारभ्वौ, कारभ्वः। पुनर्भ्वौ, पुनर्भ्वः॥

हुश्नुवोः सार्वधातुके॥ ६.४.८७॥

हुश्नुग्रहणानर्थक्यमन्यस्याभावात्॥ १॥

हुश्नुग्रहणमनर्थकम्। किं कारणम्? अन्यस्याभावात्। न ह्यन्यत्सार्वधातुकेऽस्ति यस्य यणादेशः स्यात्॥ ननु चायमस्ति—याति, वातीति?

इवर्ण को विशेषित करेंगे। यह प्रयोजन नहीं है। जो अधातु का इवर्ण है, उसे तो यणादेश होता ही है—'इको यणचि'। [इसलिये 'धातु जो इवर्ण उसे यण्' ऐसा कहने की कोई उपयोगिता नहीं। इसलिये धातु की अनुवृत्ति का एक ही प्रयोजन बचता है—वह असंयोग का विशेषण हो सके। अतः सामर्थ्य से उस प्रकार विशेषित होकर अर्थ होगा—धातु का अवयव संयोग नहीं है पूर्व में जिसके ऐसा जो इवर्ण तदन्त अनेकाच् अङ्ग को यण्। काशिकाकार ने ऐसा ही अर्थ किया है।]

वर्षाभ्वश्च॥

वा०—वर्षाभू, पुनर्भू का भी।

भा०—'वर्षाभू' यहाँ पर 'पुनर्भू' का भी यह कहना चाहिये। पुनर्भ्वौ...[यण् सिद्ध होता है। 'वर्षासु भवति' विग्रह के अनुसार ओषधि विशेष (पुनर्नवा) अर्थ में सिद्धि।

यह बहुत कम कहा है। वर्षा, दृन्, कार, पुनः शब्द पूर्व वाले भू उत्तरपद वाले को यण् कहना चाहिये। वर्षाभ्वौ...।

हुश्नुवोः सार्वधातुके॥

वा०—हु, श्नु ग्रहण का आनर्थक्य, अन्य का अभाव होने से।

भा०—हु, श्नु ग्रहण अनर्थक है। क्या कारण है? अन्य का अभाव होने से। सार्वधातुक परे रहने पर अन्य कोई नहीं है, जिसे यणादेश हो सके।

क्यों, यह तो है—याति, वाति?

क्ङितीत्यनुवर्तते। इह तर्हि—यातः, वात इति? अचीति वर्तते। इह तर्हि—यान्ति, वान्तीति? य्वोरिति वर्तते। एवमपि—धियन्ति, पियन्तीत्यत्र प्राप्नोति। ओरिति वर्तते। एवमपि—सुवन्ति, रुवन्तीत्यत्र प्राप्नोति? अनेकाच इति वर्तते। एवमपि—अयुवन्, अरुवन्नित्यत्र प्राप्नोति? एतदप्यटोऽसिद्धत्वादेकाज्भवति। एवमपि—प्रोर्णुवन्तीत्यत्र प्राप्नोति? असंयोगपूर्वस्येति वर्तते। यङ्लुगर्थं तर्हि हुश्नुग्रहणं कर्तव्यम्। यङ्लुगन्तमनेकाजसंयोगपूर्वमुवर्णान्तमस्ति तदर्थमिदम्। नदं योयुवतीनाम् (ऋ० ८.६९.२)। वृषभं रोरुवतीनाम्।

यङ्लुगर्थमिति चेदार्धधातुकत्वात्सिद्धम्॥ २॥

यङ्लुगर्थमिति चेत्तन्न। किं कारणम्? आर्धधातुकत्वात्सिद्धम्।

क्ङिति की अनुवृत्ति है।

अच्छा तो फिर—यातः, वातः? अचि की अनुवृत्ति है। [यहाँ अच् परे नहीं है।]

अच्छा तो फिर—यान्ति, वान्ति। य्वोः की अनुवृत्ति होने से इकार, उकार को ही होगा।

अच्छा तो फिर—धियन्ति, पियन्ति? [धि धारणे, पि गतौ तुदादिगणीय धातु से श विकरण है।] ओः की अनुवृत्ति है।

तब भी—सुवन्ति, रुवन्ति में प्राप्त है? अनेकाच् की अनुवृत्ति है।

तो भी—अयुवन्... में भी प्राप्त होता है? यहाँ भी अट् के असिद्ध होने से यह एकाच् रहता है।

तो भी—'प्रोर्णुवन्ति' यहाँ भी प्राप्त होता है? असंयोगपूर्वस्य की अनुवृत्ति है। [तात्पर्य यह है कि अजादि क्ङित् सार्वधातुक परे रहने पर उकारान्त, अनेकाच्, असंयोगपूर्व अङ्ग हु, श्नु के अलावा प्राप्त नहीं होता। अतः 'हुश्नुवोः' न कहने पर भी स्वतः उसे ही होगा।]

अच्छा तो फिर—यङ्लुक् के लिये हुश्नु ग्रहण करना चाहिये। यङ्लुगन्त अनेकाच्, असंयोगपूर्व, उवर्णान्त होता है। उसमें [यणादेश के निवारण] के लिये यह है। नदं योयुवतीनाम्, वृषभं...। ['योयुवतीनाम्' शब्द यङ्लुगन्त 'योयु' धातु से शतृ प्रत्यय के स्त्रीलिङ्ग षष्ठी बहुवचन में निर्मित है। यहाँ 'योयु अत् ई' इस दशा में यणादेश प्राप्त होता है, 'हुश्नु' ग्रहण करने पर यणादेश नहीं, अपितु उवङ् आदेश होकर रूप सिद्ध होता है।]

वा०—यङ्लुक् के लिए ऐसा कहें तो, आर्धधातुक होने से सिद्ध।

भा०—यङ्लुक् के लिये कहें तो वह ठीक नहीं। क्या कारण है? आर्धधातुक

कथमार्धधातुकत्वम्। उभयथा छन्दसीति वचनात्। अन्येऽपि हि धातुप्रत्ययाश्छन्दस्युभयथा दृश्यन्त इति॥ एवं तर्हि सिद्धे सति यद्‌धुश्नुग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो यङ्लुग्भाषायामपि भवतीति। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्? बेभिदीति, चेच्छिदीत्येतत्सिद्धं भवति, भाषायामपि॥

ऊदुपधाया गोहः॥ ६.४.८९॥

अथ किमर्थं गुहेर्विकृतस्य ग्रहणं क्रियते, न पुनर्गुह इत्येवोच्येत?

गोहिग्रहणं विषयार्थम्॥ १॥

गोहिग्रहणं क्रियते विषयार्थम्। विषयः प्रतिनिर्दिश्यते। यत्रास्यैतद्रूपं

होने से [यणादेश का निवारण] सिद्ध है। आर्धधातुक किस प्रकार है? उभयथा छन्दसि (३.४.११७ सूत्र) कहने से। अन्य भी धातु प्रत्यय छन्द में दोनों प्रकार देखे जाते हैं।

अच्छा तो फिर इस प्रकार सिद्ध होने पर भी जो हु, श्नु ग्रहण किया है। उससे आचार्य ज्ञापित करते हैं कि भाषा में भी—यङ्लुक् होता है। इसके ज्ञापन में क्या प्रयोजन है? बेभिदीति, चेच्छिदीति जैसे [यङ्लुगन्त के प्रयोग] भाषा में भी सिद्ध हो जाते हैं। [इस प्रकार यङ्लुक् में यणादेश के निवारण के लिये हुश्नु-ग्रहण सार्थक होता है।]

विशेष—महामुनि महाभाष्यकार का यह ज्ञापन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस ज्ञापन से उन्होंने भाषा में यङ्लुगन्त प्रयोग को अनुमति प्रदान की है। इसका अनुसरण करते हुए धातुवृत्तिकार ने सभी लौकिक वैदिक धातुओं के यङ्लुगन्त प्रक्रिया में रूप प्रदान किये हैं। इस अनुमति को प्राप्त करते हुए संस्कृत काव्य नाटकों की लम्बी परम्परा में यङ्लुगन्त के सैकड़ों रूपों का प्रयोग किया है। इस स्थिति में यहाँ महावैयाकरण नागेश भट्ट के इस कथन का आशय अज्ञात है कि बेभिदीति, चेच्छिदीति को छोड़कर भाषा में किसी यङ्लुगन्त का प्रयोग नहीं होता।

कशिकाकार आदि सभी व्याख्याकार 'यङोऽचि च' (२.४.७४) में छन्दसि की अनुवृत्ति न लाते हुए वेद तथा भाषा में भी यङ्लुगन्त को स्वीकार करते हैं। तभी लोलुवः, पोपुवः जैसे प्रयोग भाषा में भी सिद्ध होते हैं।

ऊदुपधाया गोहः॥

भा०—'गुह' धातु का विकृत [गुणभूत गोह] निर्देश क्यों किया गया है? क्यों न [मूल धातु रूप] गुह का ही निर्देश कर दिया जावे?

वा०—गोह ग्रहण विषय के लिये।

भा०—गोह ग्रहण के द्वारा विषय का प्रतिनिर्देश किया जाता है। जहाँ पर

तत्र यथा स्यात्। इह मा भूत्—निजुगुहतुः, निजुगुहुरिति॥

अयादेशप्रतिषेधार्थं च विकृतग्रहणं क्रियते॥

ह्रस्वादेशे ह्ययादेशप्रसङ्ग ऊत्त्वस्यासिद्धत्वात्॥ २॥

ह्रस्वादेशे हि सत्ययादेशः प्रसज्येत। प्रगूह्य गतः, उपगूह्य गतः। किं कारणम्? ऊत्त्वस्यासिद्धत्वात्। असिद्धमूत्त्वं तस्यासिद्धत्वाद् 'ल्यपि लघु-पूर्वात्' (६.४.५६) इत्ययादेशः प्रसज्येत॥

विषयार्थेन तावन्नार्थो गोहिग्रहणेन। प्रश्लिष्टनिर्देशात्सिद्धम्। प्रश्लिष्ट-निर्देशोऽयम्। उ ऊत् ऊदिति। तत्र ह्रस्वस्यावकाशः—निजुगुहतुः, निजुगुहुः। गुणस्यावकाशः—निगोढा, निगोढुम्। इहोभयं प्राप्नोति—निगूहयति, निगूहकः। परत्वाद् गुणे कृत आन्तर्यतो दीर्घस्य दीर्घो भवति॥

इसका [गुणभूत गोह] रूप हो, वहाँ पर हो। यहाँ [अकृत गुण वाले क्ङित् विषय में] न हो, निजुगुहतुः...।

अय् आदेश के प्रतिषेध के लिए भी विकृत ग्रहण किया जाता है।

वा०—ह्रस्व का आदेश करने पर अयादेश का प्रसङ्ग, ऊत्व के असिद्ध होने से।

भा०—ह्रस्व के स्थान में दीर्घ ऊकार का आदेश करने पर अयादेश प्राप्त होता है। प्रगूह्य गतः...। क्या कारण है? ऊत्व असिद्ध है। उसके असिद्ध होने से 'ल्यपि लघुपूर्वात्' से अयादेश पाता है। [प्र उपसर्ग पूर्वक णिजन्त गुहि से क्त्वा के स्थान में ल्यप्। इस सूत्र से दीर्घ ऊकार करने पर 'ल्यपि लघु पूर्वात्' की दृष्टि में उस दीर्घ ऊकार के असिद्ध होने से उससे अयादेश की प्राप्ति होती है। परन्तु गुणभूत गोह के स्थान में ऊत्व करने पर उसके असिद्ध होने की स्थिति में गुणभूत ओकार दृष्टिगोचर होगा। इससे लघुपूर्व न होने से अयादेश नहीं हो सकेगा।]

विषय के लिये 'गोह' ग्रहण की आवश्यकता नहीं। प्रश्लिष्ट-निर्देश से सिद्ध है—यह इस प्रकार प्रश्लिष्ट-निर्देश होगा—उ ऊत् ऊत्। [इस प्रकार यह ह्रस्व तथा दीर्घ ऊकार दोनों आदेशों का विधान करेगा। यहाँ 'स्थानेऽन्तरतमः' (१.१.४९) परिभाषा द्वारा अगुणीभूत ह्रस्व के स्थान पर ह्रस्व तथा अगुणीभूत ओ के स्थान में दीर्घ ऊकार का विधान करेगा।]

तब [ह्रस्व के स्थान में] ह्रस्व का अवकाश है—निजुगुहतुः...। [जहाँ क्ङित् परे रहने से गुण की प्राप्ति नहीं है।] गुण का अवकाश है—निगोढा...। [जहाँ अच् परे नहीं है।] यहाँ दोनों पाते हैं—निगूहयति...। परत्व से गुण करने पर आन्तर्य से [गुण के स्थान में] दीर्घ हो जाएगा। [वास्तव में 'ऊदुपधाया गुहः' सूत्र बनाने पर 'नि गुहि अ ति' इस दशा में दीर्घ ऊकार तथा गुण ये दोनों एक साथ

अयादेशप्रतिषेधार्थेनापि नार्थः। समानाश्रयवचनात् सिद्धम्। समानाश्रयमसिद्धं भवति। व्याश्रयं चैतत्। कथम्? णावूत्त्वम्, णेर्ल्यप्ययादेशः॥

दोषो णौ॥ ६.४.९०॥

अथ किमर्थं दुषेर्विकृतस्य ग्रहणं क्रियते, न पुनर्दुष इत्येवोच्येत?

दोषिग्रहणे च॥ १॥

किम्? अयादेशप्रतिषेधार्थं विकृतग्रहणं क्रियते। ह्रस्वादेशे ह्ययादेशप्रसङ्ग ऊत्त्वस्यासिद्धत्वात्। ह्रस्वादेशे हि सत्ययादेशः प्रसज्येत। प्रदूष्य गतः, उपदूष्य गतः। किं कारणम्?। ऊत्त्वस्यासिद्धत्वात्। असिद्धमूत्त्वं तस्यासिद्धत्वाद् 'ल्यपि लघुपूर्वाद्' इत्ययादेशः प्रसज्येत॥ अत्रापि समानाश्रयवचनात् सिद्धमित्येव। समानाश्रयमसिद्धम्। व्याश्रयं चैतत्। णावूत्त्वम्, णेर्ल्यप्ययादेश इति॥

चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम्॥ ६.४.९३॥

चिण्णमुलोर्णिज्व्यवेतानां यङ्लोपे च॥ १॥

नहीं पाते। गुण करने से पूर्व ह्रस्व उकार पाता है। दीर्घ ऊकार तो पाता ही नहीं। इससे दीर्घ ऊकार विधान की सावकाशता सिद्ध नहीं होती। इस प्रकार 'निजुगुहतुः' में ह्रस्व-विधान की सावकाशता दिखा कर 'निगूहयति' में दीर्घ विधान की सावकाशता बताना विचारणीय रहा है।]

अयादेश-प्रतिषेध के लिए भी आवश्यकता नहीं। यह समानाश्रय-वचन से सिद्ध है। समानाश्रय असिद्ध होता है। यह तो व्याश्रय है। णि परे रहने पर ऊत्व होता है। णि को ल्यप् परे रहने पर अयादेश होता है।

दोषो णौ॥

भा०—यहाँ दुष् के विकृत [गुणीभूत] का ग्रहण क्यों किया गया है? 'दुषः' इतना ही क्यों न कह देवें।

वा०—'दोष्' ग्रहण पर भी।

आगे का भाष्य ठीक 'उदुपधाया गोहः' के भाष्य के सदृश है। इसकी व्याख्या वहीं देखें।

चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम्॥

वा०—चिण्, णमुल् परे रहने पर णिच् के व्यवधान वाले का तथा यङ्लोप में भी।

चिण्णमुलोर्णिज्व्यवेतानां यङ्लोपे चोपसंख्यानं कर्तव्यम्। शमयन्तं प्रयोजितवान्—अशमि अशामि, शमं शमम्, शामं शामम्। शंशमयतेः—अशंशमि अशंशामि, शंशमं शंशमम्। शंशामं शंशामम्। किं पुनः कारणं न सिध्यति? चिण्णमुल्परे णौ मितामङ्गानां दीर्घो भवतीत्युच्यते, यश्चात्र चिण्णमुल्परो न तस्मिन्मिदङ्गं यस्मिंश्च मिदङ्गं नासौ चिण्णमुल्पर इति। लोपे कृते चिण्णमुल्परो भवति। स्थानिवद्भावान्न चिण्णमुल्परः। ननु च प्रतिषिध्यते तत्र स्थानिवद्भावो दीर्घविधिं प्रति न स्थानिवदिति? एवमप्यसिद्धत्वान्न प्राप्नोति॥ एवं तर्हि—

चिण्णमुलोर्णिव्यपेतानां यङ्लोपे चान्तरङ्गलक्षणत्वात् सिद्धम्॥ किमिदमन्तरङ्गलक्षणत्वादिति। यावद् ब्रूयात्समानाश्रयवचनात्सिद्धमित्येव। व्याश्रयं चैतत्। कथम्? णेर्णौ लोपो णौ चिण्णमुल्परे मितामङ्गानां दीर्घत्वमुच्यते।

भा०—चिण्, णमुल् परे रहने पर णिच् के व्यवधान वाले का तथा यङ्लोप में भी [णिच् के व्यवधान वाले का] उपसङ्ख्यान करना चाहिये। शमयन्तं प्रयोजितवान् [तात्पर्यार्थ है, मूलतः कर्मवाच्य विग्रह अभिप्रेत है।]—अशमि, अशामि। [णिजन्त शम् धातु से पुनः णिच् कर्मवाच्य, लुङ् लकार प्रथम पुरुष, एकवचन। 'अ शम् इ इ इ' इस दशा में 'चिण् णमुल् परक णि परे रहने पर मित् अङ्ग को विकल्प से दीर्घ' इस सूत्रार्थ में णिच् से पूर्व एक अन्य णिच् के साथ व्यवधान होने से दीर्घ नहीं पाता।] शमं शमम्... [णिजन्त शम् से पुनः णिच् तदन्त धातु से णमुल्।] शंशमयतेः— अशंशमि...। यङन्त धातु से णिच्। 'अ शंशम्य इ इ' इस दशा में 'यस्य हलः' से व्यञ्जन य का लोप होने पर अकार का व्यवधान होने से दीर्घ नहीं पाता।]

क्या कारण है कि सिद्ध नहीं होता? चिण्परक या णमुल् परक णिच् परे रहने पर मित् अङ्ग को दीर्घ कहा गया है। यहाँ पर [अ शम् १. णिच् २. णिच् चिण् इस प्रदर्शनपरक विग्रह में] जो २. णिच् चिण्णमुल्परक है, उसके परे रहने पर मित् अङ्ग नहीं है, जिस १. णिच् के परे रहने पर मित् अङ्ग है, वह चिण्णमुल्परक नहीं है।

लोप करने पर 'चिण्णमुल्परक है। स्थानिवद्भाव से चिण्णमुल्परक नहीं है। क्यों, वहाँ तो स्थानिवद्भाव का प्रतिषेध है—दीर्घ विधि के प्रति स्थानिवद्भाव नहीं होता? तो भी असिद्ध होने से नहीं पाता।

अच्छा तो फिर, चिण् णमुल् परे णिज् व्यवेत का तथा यङ्लोप में अन्तरङ्गलक्षण से सिद्ध है। ये अन्तरङ्गलक्षण क्या है? इसे अन्य शब्दों में कहें—समानाश्रय वचन से सिद्ध है। यह तो व्याश्रय है। किस प्रकार? णि परे रहने पर णिलोप है। चिण् णमुल् परक णि परे रहने पर मित् अङ्ग को दीर्घत्व है। [इस प्रकार णिलोप के

तस्मान्नार्थ उपसंख्यानेनेति॥

छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य॥ ६.४.९६॥

अद्विप्रभृत्युपसर्गस्येति वक्तव्यम्। इहापि यथा स्यात्—समुपाभिच्छाद इति॥ तत्तर्हि वक्तव्यम्? न वक्तव्यम्। यत्र त्रिप्रभृतयः सन्ति द्वावपि तत्र स्तस्तत्राद्व्युपसर्गस्येत्येव सिद्धम्॥ न वा एष लोके संप्रत्ययः। न हि द्विपुत्र आनीयतामित्युक्ते त्रिपुत्र आनीयते। तस्माद द्विप्रभृत्युपसर्गस्येति वक्तव्यम्॥

घसिभसोर्हलि॥ ६.४.१००॥

हल्ग्रहणमनर्थकमन्यत्रापि दर्शनात्॥ १॥

हल्ग्रहणमनर्थकम्। किं कारणम्? अन्यत्रापि दर्शनात्। अन्यत्रापि लोपो दृश्यते। अ॒ग्निस्तृणा॑नि बप्सति। शरावे बप्सति चरुः॥

असिद्ध न होने से णिलोप दृष्ट होगा। इससे चिण्णमुल्परक णि प्राप्त हो जाने से दीर्घत्व सिद्ध हो जाएगा।] अतः उपसङ्ख्यान की आवश्यकता नहीं।

छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य॥

भा०—दो से अधिक उपसर्ग वाली [छाद् धातु की उपधा को घपरक णि परे रहने पर ह्रस्व नहीं होता] यह कहना चाहिये। ताकि [तीन उपसर्ग होने पर भी निषेध] हो सके—समुपाभिच्छादः। तो फिर कहा जावे? नहीं कहना चाहिये। जहाँ तीन तथा उससे अधिक हैं वहाँ दो भी तो हैं, वहाँ 'अद्व्युपसर्गस्य' से ही सिद्ध हो जाएगा। परन्तु ऐसी प्रतीति लोक में नहीं होती। 'दो पुत्र वाले को बुलाओ' यह कहने पर तीन पुत्र वाले को नहीं बुलाया जाता? [३ सङ्ख्या को '२+१' इस रूप में भी कह सकते हैं। पर वह भी अन्ततः ३ सङ्ख्या में ही पर्यवसित होती है।] अतः 'अद्विप्रभृत्युपसर्गस्य' इस प्रकार कहना चाहिये।

घसिभसोर्हलि॥

वा०—हल् ग्रहण का आनर्थक्य, अन्यत्र भी देखे जाने से।

भा०—हल् ग्रहण अनर्थक है। क्या कारण है? अन्यत्र भी लोप के देखे जाने से। अग्निस्तृणानि बप्सति (=आग तिनकों को खा जाती है।) ['बप्सति' के लिये जुहोत्यादिगणीय भस् धातु लट् लकार प्रथम पुरुष, कर्ता एक होने पर व्यत्यय से बहुवचन, शप् का श्लु, अन्तरङ्ग होने से प्रथमतः 'श्लौ' (६.१.१०) से द्विर्वचन, 'अदभ्यस्तात्' (७.१.४) से झि के स्थान में अत् आदेश। 'खरि च' (८.४.५५) से चर्त्व। ब भस् अति इस दशा में हलादि क्ङित् परे न होने पर भी उपधालोप।]

हुझल्भ्यो हेर्धिः ॥ ६.४.१०१ ॥

इटः प्रतिषेधो वक्तव्यः। रुदिहि, स्वपिहि। झल इति धित्वं प्राप्नोति॥

हेर्धित्वे हलधिकारादिटोऽप्रतिषेधः ॥ १ ॥

हेर्धित्वे हलधिकारादिटोऽप्रतिषेधः। अनर्थकः प्रतिषेधोऽप्रतिषेधः। धित्वं कस्मान्न भवति? हलधिकारात्। प्रकृतं हल्ग्रहणमनुवर्तते। क्व प्रकृतम्? 'घसिभसोर्हलि' (६.४.१००) इति। तद्वै सप्तमीनिर्दिष्टं षष्ठीनिर्दिष्टेन चेहार्थः। तद्वै तत्र प्रत्याख्यायते, तत्र प्रत्याख्यातं सद्यया विभक्त्या निर्दिश्यमानमर्थवत्तया निर्दिष्टमिहानुवर्तिष्यते॥ अथवा हुझल्भ्य इत्येषा पञ्चमी 'हलि' इति सप्तम्याः षष्ठीं प्रकल्पयिष्यति 'तस्मादित्युत्तरस्य' (१.१.६७) इति॥ अथवा 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इत्येवं न भविष्यति। यस्तर्हि निर्दिश्यते तस्य कस्मान्न भवति? इटा व्यवहितत्वात्॥

हुझल्भ्यो हेर्धिः ॥

भा०—इट् [वाले हि] का प्रतिषेध कहना चाहिये। रुदिहि, स्वपिहि। [रुद् धातु के मध्यम पुरुष एकवचन में 'रुद् हि' इस दशा में परत्व से इट् करने पर पुनः प्रसङ्गविज्ञान से 'इहि' के स्थान में धि की प्राप्ति। यह इट् हि का अङ्ग होने से इट् आगम के पश्चात् भी यह झल् से उत्तर है। अतः] झल् से उत्तर बनने से धि की प्राप्ति होती है।

वा०—हि के धित्व में हल् का अधिकार होने से इट् का अप्रतिषेध।

भा०—हि के धित्व के प्रसङ्ग में हल् का अधिकार होने से [हलादि हि के स्थान में 'धि' इस अर्थ के होने से] इट् का अप्रतिषेध। अनर्थक प्रतिषेध अर्थ में अप्रतिषेध। धित्व क्यों नहीं होता? प्रकृत हल् ग्रहण अनुवृत्त है। कहाँ से प्रकृत है? 'घसिभसोर्हलि' सूत्र से। वहाँ तो सप्तमी-निर्दिष्ट है, यहाँ षष्ठी-निर्दिष्ट की उपयोगिता है। उसका वहाँ प्रत्याख्यान किया गया है। वहाँ प्रत्याख्यात होने पर जिस विभक्ति से निर्दिश्यमान होने पर सार्थकता सिद्ध हो, उससे निर्दिष्ट मानते हुए यहाँ अनुवृत्ति होगी। [हलि के प्रत्याख्यात होने पर उसके सप्तम्यर्थ में सप्तम्यन्त होने में प्रमाण नहीं प्राप्त होता। अतः यहाँ सम्बन्ध अर्थ की उपयोगिता होने से षष्ठ्यर्थ में सप्तमी मानी जाएगी।]

अथवा 'हुझल्भ्यः' यह पञ्चमी हलि इस सप्तमी को षष्ठी में बदल देगी—'तस्मादित्युत्तरस्य' के एक अर्थ के अनुसार।

अथवा निर्दिश्यमान के स्थान में आदेश होते हैं, इसलिये ['इहि' के स्थान में धि] नहीं होगा। तो फिर जिस [हि] का निर्देश है, उसके स्थान में क्यों नहीं होता? इट् के साथ व्यवधान होने से।

यद्येवं छिन्द्धकि, भिन्द्धकीत्यत्र धित्वं न प्राप्नोति? एवं तर्हि धित्वे कृतेऽकज् भविष्यति। इदमिह सम्प्रधार्यम्—धित्वं क्रियतामकजिति, किमत्र कर्तव्यम्? परत्वाद्धित्वम्। नित्योऽकच्। कृतेऽपि धित्वे प्राप्नोत्यकृतेऽपि। अकजप्यनित्यः। अन्यस्य कृते धित्वे प्राप्नोत्यन्यस्याकृते "शब्दान्तरस्य च प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति"। उभयोरनित्ययोः परत्वाद्धित्वं धित्वे कृतेऽकज्भविष्यति॥ अथवा हकारस्यैवाशक्तिजेनेकारेण ग्रहणमिति॥

चिणो लुक्॥ ६.४.१०४॥

चिणो लुकि तग्रहणम्॥ १॥

चिणो लुकि तग्रहणं कर्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? इह मा भूत्—अकारितराम्, अहारितरामिति॥

तब तो 'भिन्धकि'...यहाँ धित्व नहीं पाता। ['भिन्ध् हि' इस दशा में 'अव्ययसर्व-नाम्नामकच् प्राक्टेः' (५.३.७१) से टि से पूर्व अकच्। अब 'हकि' बनने पर यह निर्दिश्यमान 'हि' नहीं रहा।] अच्छा तो फिर, धित्व करने पर अकच् हो जाएगा। यह सम्प्रधारणा करें—धित्व करें या अकच्। क्या करना चाहिये? परत्व से धित्व। अकच् नित्य है, धित्व करने पर भी पाता है, न करने पर भी। अकच् भी अनित्य है। धित्व करने पर अन्य को पाता है, न करने पर अन्य को। शब्दान्तर को प्राप्त होने वाली विधि अनित्य होती है। दोनों के अनित्य होने पर परत्व से धित्व। धित्व करने पर अकच् करने पर 'भिन्धकि' सिद्ध हो सकेगा।

अथवा हकार का ही अशक्ति इकार के साथ ग्रहण है। [इस पक्ष में स्थानी केवल व्यञ्जन ह् है। इकार का प्रयोग केवल व्यञ्जन के बोलने की अशक्ति के कारण मुखसुखार्थ है। इससे 'रुदिहि' में इकार के साथ व्यवधान होने से धि नहीं होगा। इट् आगम हि को विहित होने से उसका ही अङ्ग है। अतः हि से इहि का ग्रहण होगा। पर ह् का अङ्ग न होने से वह व्यवधायक होगा। 'भिन्धकि' में अकच् हो जाने पर हकार व्यञ्जन को धकार करने से रूप सिद्धि हो सकेगी।]

चिणो लुक्॥

वा०—चिण् से लुक् में 'त' ग्रहण।

भा०—चिण् से उत्तर लुक् विधान के प्रसङ्ग में त ग्रहण करना चाहिये। यहाँ न हो—'अकारितराम्...'। [कृ धातु, कर्मवाच्य, लुङ् लकार प्रथम पुरुष, एकवचन में 'अ कारि त' इस दशा में 'तिङश्च' (५.३.५६) से तरप्, 'किमेत्तिङव्यय-घादाम्वद्रव्यप्रकर्षे' (५.४.११) से आम्। 'अ कारि त तर आम्' इस दशा में चिण् से उत्तर तीनों प्रत्ययों के अवस्थित होने से तीनों का लुक् पाता है।]

चिणो लुकि तग्रहणानर्थक्यं संघातस्याप्रत्ययत्वात्॥ २॥

चिणो लुकि तग्रहणमनर्थकम्। किं कारणम्? संघातस्याप्रत्ययत्वात्। संघातस्य लुक्कस्मान्न भवति? अप्रत्ययत्वात्। प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपो भवन्तीत्युच्यते, न संघातः प्रत्ययः॥ तलोपे तर्हि कृते परस्य प्राप्नोति?

तलोपस्य चासिद्धत्वात्॥ २॥

असिद्धस्तलोपस्तस्यासिद्धत्वान्न भविष्यति॥

कार्यकृतत्वाद्वा॥ ३॥

अथवा कृतश्चिणो लुगिति कृत्वा पुनर्न भविष्यति लुक्। तद्यथा—'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' इति। सकृदाधाय कृतः शास्त्रार्थ इति कृत्वा पुनः प्रवृत्तिर्न भवति॥ विषम उपन्यासः। युक्तं यत्तस्यैव पुनः प्रवृत्तिर्न स्याद्यत्तु तदाश्रयं प्राप्नोति न तच्छक्यं बाधितुम्। तद्यथा—'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निष्टोमादिभिः क्रतुभिर्यजेत' इत्यग्न्याधाननिमित्तं वसन्ते वसन्त इज्यते।

वा०—चिण् से लुक् में त ग्रहण का आनर्थक्य, सङ्घात के अप्रत्यय होने से।

भा०—चिण् से लुक् में त ग्रहण अनर्थक है। सङ्घात का लुक् क्यों नहीं होता? सङ्घात के प्रत्यय न होने से। 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' से प्रत्यय के अदर्शन को लुक् कहा गया है। परन्तु सङ्घात प्रत्यय नहीं है। [चिण् से उत्तर केवल त प्रत्यय है। तीन प्रत्ययों का समूह प्रत्यय नहीं है। अतः तीनों का एक साथ लुक् नहीं हो सकता।] तो फिर तलोप करने पर परवर्त्ती का प्राप्त होता है?

वा०—तलोप के असिद्धत्व से।

भा०—तलोप असिद्ध होगा। उसके असिद्ध होने से नहीं होगा। [यदि कहें कि क्रम-क्रम से त के पश्चात् तर का...इस प्रकार लोप करते समय त लोप के असिद्ध होने से उसका व्यवधान होगा।]

वा०—अथवा कार्यकृतत्व होने से।

भा०—अथवा एक बार चिण् से उत्तर त का लुक् हो गया, अतः दूसरी बार पुनः सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी। जैसे—'वसन्त में ब्राह्मण अग्नि का आधान करे' इस के अनुसार एक बार आधान करने से शास्त्र का प्रयोजन सम्पन्न हुआ, अतः पुनः प्रवृत्ति नहीं होती।

यह प्रबन्ध [व्यक्ति पदार्थ में] समुचित नहीं है। यह सही है कि उसकी ही पुनः प्रवृत्ति नहीं होती। परन्तु उसके आश्रित जो अन्य कार्य प्राप्त होते हैं, उनकी अनेक बार प्रवृत्ति होते हुए उनका बाधन नहीं होता। जैसे—'वसन्त में ब्राह्मण अग्निष्टोम आदि क्रतुओं के द्वारा यज्ञ करे' यहाँ अग्न्याधान है निमित्त जिसका ऐसे

तस्मात्पूर्वोक्तावेव परिहारौ ॥

अथवा क्ङितीति वर्तते। क्व प्रकृतम्? 'गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि' (६.४.९८) इति। तद्वै सप्तमीनिर्दिष्टं षष्ठीनिर्दिष्टेन चेहार्थः। चिण इत्येषा पञ्चमी क्ङितीति सप्तम्याः षष्ठीं प्रकल्पयिष्यति 'तस्मादित्युत्तरस्य' (१.१.६७) इति॥

(अर्थात् वे काम्य, नैमित्तिक अनुष्ठान जो कि अग्न्याधान के द्वारा सम्पन्न होते हैं), वे प्रत्येक वसन्त में किये जाते हैं। अतः पूर्वोक्त [त ग्रहण या असिद्धत्व—ये] ही समुचित परिहार हैं।

विशेष—प्रस्तुत प्रबन्ध के अन्तर्गत शब्दों के जाति पदार्थ वाला होने या व्यक्ति पदार्थ वाला होने का प्रसङ्ग उठाया गया है। इससे पूर्व 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' (१.२.६४) सूत्र में व्यक्ति पदार्थ तथा वाजप्यायन आचार्य के मत में जाति पदार्थ की स्थापना की जा चुकी है।

संक्षेपतः—कारक सामान्य से सम्बन्धित होने वाली तथा देश-काल से अनिर्बद्ध सङ्क्रियाओं के प्रति जाति पदार्थ का प्रयोग होता है। 'गाय को न मारो' यह एक ही जातिपदार्थ वाक्य विश्व की सभी गायों के मारण का प्रतिषेध कर देता है। पर 'गाय को बाँधो, ले जाओ' जैसे वाक्य विशिष्ट देश-काल से सम्बन्धित हैं। इन द्रव्यपदार्थक वाक्यों का पुनः प्रयोग करना पड़ता है। क्योंकि ये विशिष्ट सङ्क्रिया को संसूचित करते हैं।

यहाँ वसन्त में ब्राह्मण अग्न्याधान करे, यह जातिपरक वाक्य है। वह आहिताग्नि एक बार अग्न्याधान करके आजीवन उसे बुझने नहीं देता। इस शास्त्र की एक बार प्रवृत्ति होती है। परन्तु उस अग्न्याधान के निमित्त से अनेक काम्य, नैमित्तिक अनुष्ठान प्रतिवर्ष किये जाते हैं। यह व्यक्तिपरक वाक्य आहिताग्नि को पुनः पुनः प्रतिवर्ष करने के लिये प्रेरित करता है। यहाँ इस वाक्य का अनेकधा आवर्तन होता है।

लोक में कौन सा वाक्य जातिपरक, कौन व्यक्तिपरक होगा, इसका निर्णय प्रसङ्ग-परिवेश के अनुसार होता है। प्रस्तुत सूत्र में यदि व्यक्ति पदार्थ हो तो त का लुक् करने के लिये एक बार तथा तरप् का लुक् करने के लिये उस सूत्र की पुनः प्रवृत्ति होगी। पर जाति पदार्थ में एक बार लुक् के पश्चात् पुनः प्रवृत्ति नहीं होगी। महाभाष्यकार ने यहाँ विषम उपन्यास के आगे व्यक्ति पदार्थ को मान्य ठहराते हुए त के लुक् के पश्चात् तरप् के लुक् की प्राप्ति का दोष उपस्थित किया है। अतः पूर्वोक्त परिहारों को ही मान्य बताया है।

भा०—अथवा 'क्ङिति' की अनुवृत्ति है। कहाँ से प्रकृत है? 'गमहनजनखनघसां...' से। वह तो सप्तमी निर्दिष्ट है। यहाँ षष्ठी-निर्दिष्ट से प्रयोजन है। 'चिणः' यह पञ्चमी 'क्ङिति' इस सप्तमी को षष्ठी में बदल देगी—'तस्मादित्युत्तरस्य' सूत्र के अनुसार।

उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्॥ ६.४.१०६॥

कथमिदं विज्ञायते—उकारात्प्रत्ययादिति, आहोस्विदुकारान्तात्प्रत्ययादिति? किं चातः? यदि विज्ञायते उकारात्प्रत्ययादिति—सिद्धं—तनु, कुरु। चिनु, सुन्विति न सिध्यति। अथ विज्ञायते—उकारान्तात् प्रत्ययादिति, सिद्धं—चिनु, सुनु। तनु, कुर्विति न सिध्यति॥ तथासंयोगपूर्वग्रहणेनेहैव पुर्यदासः स्यात्— तक्ष्णुहि, अक्ष्णुहि। आप्नुहि, शक्नुहीत्यत्र न स्यात्॥ यथेच्छसि तथास्तु। अस्तु तावदुकारात्प्रत्ययादिति। कथं चिनु, सुन्विति? तदन्तविधिना भविष्यति। अथवा पुनरस्तूकारान्तात्प्रत्ययादिति। कथं तनु, कुरु। व्यपदेशिवद्भावेन भविष्यति॥ यदप्युच्यते—तथासंयोगपूर्वग्रहणेनेहैव पर्युदासः स्यात्—तक्ष्णुहि, अक्ष्णुहि। आप्नुहि, शक्नुहीत्यत्र न स्यादिति। नास्माभिरसंयोगपूर्वग्रहणेनोकारान्तं विशेष्यते। किं तर्हि? उकारो विशेष्यते। उकारो योऽसंयोगपूर्वस्तदन्तात्प्रत्ययादिति॥

उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्॥

भा०—यहाँ किस प्रकार समझा जाता है—'प्रत्ययविशिष्ट उकार' से अथवा 'उकारान्त प्रत्यय' से। [विशेषण-विशेष्य भाव में कामचार होने से प्रत्यय विशेषण होने पर प्रथम पक्ष, परन्तु उकार के विशेषण होने पर 'उकारान्त प्रत्यय' यह पक्ष होगा।]

इससे क्या? यदि 'प्रत्यय विशिष्ट उकार' पक्ष है तो तनु, कुरु सिद्ध है। [तन् से उ विकरण], पर चिनु, सुनु सिद्ध नहीं होगा। [चि से श्नु विकरण। यहाँ केवल उकार प्रत्यय नहीं है।]

यदि यह समझा जाता है—उकारान्त प्रत्यय से —तो चिनु, सुनु सिद्ध है। तनु, कुरु सिद्ध नहीं होगा। साथ ही 'असंयोगपूर्वस्य' इस पर्युदास से यहीं [निषेध होगा—अक्ष्णुहि, तक्ष्णुहि। [जहाँ उकारान्त प्रत्यय से पूर्व संयोग है।] आप्नुहि, तक्ष्णुहि—यहाँ निषेध] नहीं पाएगा। [जहाँ उकार से पूर्व संयोग है।]

जैसा चाहें वैसा रहने दें। अच्छा प्रत्ययविशिष्ट उकार से यह पक्ष मान्य होवे। चिनु, सुनु किस प्रकार सिद्ध होगा? तदन्तविधि से हो जाएगा। [उकार विशेष्य होने पर सूत्रानुसार इसमें तदन्तविधि सम्भव नहीं है। साथ ही यदि यहाँ तदन्तविधि हो तो दोनों पक्षों में कोई भेद भी नहीं रह जाएगा। इसका उत्तर व्याख्याकारों ने यह दिया है कि श्लेष से इसी प्रकार के दो सूत्र होंगे। इस स्थिति में दूसरा सूत्र तदन्त विधि भी कर सकेगा।]

अथवा 'उकारान्त प्रत्यय से' यह पक्ष होवे। तब 'तनु, कुरु' किस प्रकार होगा? व्यपदेशिद्भाव से होगा। यह जो पूर्वोक्त 'असंयोगपूर्व' के अन्तर्गत दोष दिया था, उस पर कहना है कि असंयोगपूर्व से उकारान्त को विशेषित नहीं करेंगे। तो फिर क्या? उकार को विशेषित करेंगे। उकार जो असंयोगपूर्व तदन्त प्रत्यय से।

उतश्च प्रत्ययाच्छन्दोवावचनम्॥ १॥

उतश्च प्रत्ययादित्यत्र च्छन्दसि वेति वक्तव्यम्। अव स्थिरा तनुहि यातुजू-नाम्। धिनुहि यज्ञं, धिनुहि यज्ञपतिम् (काठ०सं० १.६)। तेन मा भगिनं कृणुहि (अथर्व० ६.१२९.२)॥

उत्तरार्थं च॥ २॥

केचित्तावदाहुः—छन्दोग्रहणं कर्तव्यमिति। अपर आहुः—वावचनं कर्तव्यमिति। 'लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः' (१०७) इत्यत्रान्यतरस्यां-ग्रहणं न कर्तव्यं भवति॥

अत उत् सार्वधातुके॥ ६.४.११०॥

सार्वधातुक इति किमर्थम्? इह मा भूत्—संचस्करतुः, संचस्करुः॥ स्यान्तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। करिष्यति, करिष्यतः।

[पहले असंयोगपूर्व का विशेषण उकार होगा, इसके पश्चात् यह सम्पूर्ण प्रत्यय का विशेषण होगा। ऐसा करने से असंयोगपूर्व के साथ तदन्तविधि लभ्य न होने से कोई दोष नहीं होगा।]

वा०—'उतश्च प्रत्ययात्' यहाँ छन्द में विकल्प-वचन।

भा०—'उतश्च प्रत्ययात्' यहाँ 'छन्द में विकल्प से' यह कहना चाहिये। अव स्थिरा तनुहि...आदि उदाहरणों में कहीं-कहीं हि का लोप नहीं भी होता है।

वा०—आगे [सूत्रों] के लिये भी।

भा०—कुछ लोग व्याख्या करते हैं—छन्द ग्रहण करना चाहिये। अन्य आचार्य कहते हैं—'वा' ग्रहण करना चाहिये। 'लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः' में 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं होती।

अत उत् सार्वधातुके॥

भा०—'सार्वधातुके' किसलिये कहा गया है? यहाँ [उकार] न होवे—सञ्चस्करतुः...। [अतुस् प्रत्यय 'लिट् च' (३.३.१५९) से आर्धधातुक है।] स्य अन्त वाले से प्रतिषेध कहना चाहिये। करिष्यति...। ['सार्वधातुक परे रहने पर कृ के अकार को उकार' यह अर्थ नहीं कर सकते। क्योंकि 'कुरुतः' आदि कहीं भी तस् सार्वधातुक परे रहने पर कृ नहीं मिलता। उकार का व्यवधान होता है। अतः सार्वधातुक परे रहने पर जो अङ्ग उसका अवयव कृ के अकार को उकार, यह अर्थ मानना होगा। ऐसा मानने पर 'करिष्यति' आदि में भी प्राप्त होता है, उसका प्रतिषेध आवश्यक है।]

कृञ उत्त्व उकारान्तनिर्देशात्स्यान्तस्याप्रतिषेधः ॥ १ ॥

कृञ उत्त्वे उकारान्तनिर्देशात्स्यान्तस्याप्रतिषेधः। अनर्थकः प्रतिषेधोऽप्रतिषेधः। उत्त्वं कस्मान्न भवति? उकारान्तनिर्देशात्॥ अशक्यः करोतावुकारान्तनिर्देशस्तन्त्रमाश्रयितुम्। इह संपरिभ्यां भूषणसमवाययोः करोताविती हैव स्यात्—संस्करोति। संस्कर्ता, संस्कर्तुमित्यत्र न स्यात्॥ न ब्रूमोऽस्मादुकारान्तनिर्देशाद्योऽयं करोतेरिति। किं तर्हि? उकारान्तप्रकरणादुकारान्तमङ्गमभिसम्बध्यते। उत इति वर्तते। यद्येवं नार्थः सार्वधातुकग्रहणेन। कस्मान्न भवति—संचस्करतुः, संचस्करुरिति? उत इति वर्तते॥ उत्तरार्थं तर्हि सार्वधातुकग्रहणं कर्तव्यम्—'श्नसोरल्लोपः' (१११) इति। 'श्नम्' सार्वधातुक एव। अस्तेरप्यार्धधातुके भूभावेन भवितव्यम्॥ उत्तरार्थमेव तर्हि—'श्नाभ्यस्तयोरातः' (११२) इति। श्ना सार्वधातुक एव। अभ्यस्तमप्याकारान्तमार्धधातुके नास्ति। ननु चेदमस्ति—अप्सु यायावरः प्रवपेत पिण्डानिति?

वा०—कृञ् के उत्त्व में उकारान्त-निर्देश होने से स्यान्त का अप्रतिषेध।

भा०—कृञ् के उत्त्व में उकारान्त-निर्देश होने से स्य अन्त वाले का प्रतिषेध अनर्थक है। उत्त्व क्यों नहीं होता? उकारान्त निर्देश होने से। ['करोति' निर्देश में उकारान्त निर्देश तन्त्र है। अतः सार्वधातुक परे रहने पर उकारान्त करोति के अकार को उकार' यह अर्थ होगा।]

करोति में उकारान्त निर्देश को [तन्त्र=प्रधान] मानना सम्भव नहीं है। क्योंकि 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे', 'समवाये च' (६.१.१३२, १३३) यह यहीं पर होता—संस्करोति। [जहाँ उप्रत्ययान्त करोति उपलब्ध है।] संस्कर्ता...यहाँ न होता।

हम यह नहीं कह रहे कि 'करोति' में उकारान्त निर्देश को प्रधान मानकर यह सम्भव होगा। तो फिर क्या? उकारान्त प्रकरण से उकारान्त अङ्ग को सम्बन्धित करते हैं। उतः की अनुवृत्ति लाते हैं। अतः उकारान्त अङ्ग का अवयव जो करोति, उसके अकार को उकार, यह सूत्रार्थ होगा।] तब तो फिर सार्वधातुक ग्रहण की आवश्यकता नहीं। 'सञ्चस्करतुः' में [अकार के स्थान में उकार] क्यों नहीं होता? उतः की अनुवृत्ति है। [यह उकारान्त अङ्ग नहीं है।]

तब फिर आगे के लिये 'सार्वधातुक' ग्रहण करना चाहिये—'श्नसोरल्लोपः'। [प्रयोजन-खण्डन-] श्नम् प्रत्ययान्त 'सार्वधातुक' परे रहने पर ही होता है। अस् धातु को भी आर्धधातुक परे रहने पर ['अस्तेर्भूः' (२.४.५२) से] भू आदेश हो जाता है। [अतः सार्वधातुक परे रहने पर ही अस् मिलता है।]

भा०—तब फिर आगे के लिये ही होवे—'श्नाभ्यस्तयोरातः'। [प्रयोजन-खण्डन-] श्नाप्रत्ययान्त सार्वधातुक परे रहने पर ही प्राप्त होता है। अभ्यस्त आकारान्त भी आर्धधातुक परे रहने पर मिलता ही नहीं। क्यों, यह है तो—अप्सु यायावरः... ?

नैतदाकारान्तम्। किं तर्हि? यकारान्तमेतत्॥ उत्तरार्थमेव तर्हि—'ई हल्यघोः' (११३) इति। तत्रापि श्नाभ्यस्तयोरित्येव॥ अतोऽप्युत्तरार्थमेव तर्हि—इद्दरिद्रस्य (११४) इति। वक्ष्यत्येतद्—'दरिद्रातेरार्धधातुके लोपः, सिद्धश्च प्रत्ययविधौ' इति॥ अतोऽप्युत्तरार्थम्—'भियोऽन्यतरस्याम्' (११५) अभ्यस्तस्येत्येव॥ अतोऽप्युत्तरार्थमेव—'जहातेश्च' (११६) अभ्यस्तस्येत्येव॥ अतोऽप्युत्तरार्थम्—'आ च हौ' (११७)॥ हावित्युच्यते। अभ्यस्तस्येत्येव॥ अतोऽप्युत्तरार्थम्— 'लोपो यि' (११८) अभ्यस्तस्येत्येव॥ अतोऽप्युत्तरार्थम्—'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' (११९) इति। हावित्युच्यते॥ तदेव तर्हि प्रयोजनं—'श्नसोरल्लोप' इति। नुन चोक्तं श्नम्-सार्वधातुक एव अस्तेरप्यार्धधातुके भूभावेन भवितव्यमिति?

अनुप्रयोगे तु भुवास्त्यबाधनं स्मरन्ति कर्तुर्वचनान्मनीषिणः।

[यङन्त या धातु से 'यश्च यङः' (३.२.१७६) से वरच् प्रत्यय। 'याया' को अभ्यस्त आकारान्त मान रहे हैं।] [प्रयोजन-खण्डन-] यह आकारान्त नहीं है। तो फिर क्या? यकारान्त है। ['सन्यङोः' से यङन्त के प्रथम एकाच् को द्विर्वचन विधान होने से 'याय्' को द्विर्वचन होगा। इससे यकारान्त अभ्यस्त होगा।]

तब फिर आगे के लिये ही होवे—'ई हल्यघोः'। वहाँ भी 'श्नाभ्यस्तयोः' की अनुवृत्ति है।

तब फिर आगे के लिये ही होवे—'इद् दरिद्रस्य'। वहाँ तो 'दरिद्रातेरार्धधातुके...' आदि कहेंगे। [इससे आर्धधातुक परे रहने पर लोप का विधान करेंगे।]

तब इससे भी आगे के लिये होवे—'भियोऽन्यतरस्याम्'। वहाँ भी 'अभ्यस्त' कहा है। [श्लु परे रहने पर द्विर्वचन होने से आर्धधातुक परे रहने पर अभ्यस्त उपलब्ध नहीं है।] तब इससे भी आगे के लिये होवे—'जहातेश्च'। यहाँ भी 'अभ्यस्तस्य' की अनुवृत्ति है। तब इससे भी आगे के लिये होवे—'आ च हौ'। यहाँ स्वतः हि परे रहने पर कहा है तथा 'अभ्यस्तस्य की भी अनुवृत्ति है। तब इससे भी आगे के लिये होवे—'लोपो यि'। यहाँ भी 'अभ्यस्तस्य' की अनुवृत्ति है। तब इससे भी आगे के लिये होवे—'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च'। यहाँ भी हि परे रहने पर कहा है।

तब [सार्वधातुके अनुवृत्ति का] वही पूर्वोक्त प्रयोजन होवे—'श्नसोरल्लोपः'। इसके खण्डन में तो पूर्व में कह ही चुके हैं।

का०—कर्ता के वचन से [सूत्रकार पाणिनि के 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' (३.१.४०) सूत्र में कृञ् के प्रत्याहार ग्रहण सामर्थ्य से] मनीषी विद्वान् लोग अनुप्रयोग में भू के द्वारा अस्ति का बाधन न हो, ऐसा चाहते हैं।

अनुप्रयोगे तु भुवास्तेरबाधनमिष्यते। ईहामास, ईहामासतुः, ईहामासुरिति॥ किं च स्याद् यद्यत्र लोपः स्यात्?

लोपे द्विर्वचनासिद्धिः

लोपे कृतेऽनच्कत्वाद् द्विर्वचनं न स्यात्॥ स्थानिवद्भावाद्भविष्यति।

स्थानिवदिति चेत्कृते भवेद् द्वित्वे।

स्थानिवदिति चेत् कृते द्वित्वे लोपः प्राप्नोति॥ अस्तु तर्हि परस्य लोपः। अभ्यासस्य योऽकारस्तस्य दीर्घत्वं भविष्यति॥

नैवं सिध्यति कस्मात्प्रत्यङ्गत्वाद् भवेद्धि पररूपम्।

नैवं सिध्यति। कस्मात्? प्रत्यङ्गत्वात्पररूपं प्राप्नोति।

तस्मिंश्च कृते लोपः

पररूपे च कृते लोपः प्राप्नोति।

भा०—अनुप्रयोग में भूभाव से अस्ति का अबाधन चाहते हैं—ईहामास...। [यहाँ आर्धधातुक परे रहने पर अकारलोप न हो, इसके लिये 'श्नसोरल्लोपः' में सार्वधातुके की अनुवृत्ति लाना सार्थक होगा।] यदि यहाँ 'ईहाम् अस् अतुस्' इस दशा में अकारलोप हो जावे, तो क्या होगा?

का०—लोप होने पर द्विर्वचन की असिद्धि।

भा०—लोप होने पर अच्-विरहित होने से द्विर्वचन नहीं हो सकेगा। स्थानिवद्भाव से होगा।

का०—स्थानिवत् से कहें तो द्वित्व करने पर होगा।

भा०—स्थानिवत् से कहें तो ['द्विर्वचनेऽचि' (१.१.५९) से रूप स्थानिवत् मान रहे हैं।] द्वित्व करने पर लोप पाता है।

ठीक है, पर का लोप हो। [तब 'ईहाम् अ स् अतुस्' इस दशा में 'अत आदेः' (७.४.७०) से अभ्यास का जो अकार उसे दीर्घ हो जाएगा।

का०—इस पर भी सिद्ध नहीं है। क्योंकि प्रत्यङ्ग होने से पररूप होगा।

भा०—इस पर भी सिद्ध नहीं होता। क्यों? प्रत्यङ्ग अर्थात् अन्तरङ्ग होने से पररूप प्राप्त होता है। ['अ अस् अतुस्' इस दशा में वर्णाश्रित होने से अन्तरङ्ग होने से पररूप पहले होगा। पश्चात् 'अस् अ' बनने पर इससे अल्लोप होने पर 'सतुः, सुः' रूप पाएगा।]

का०—उसके करने पर लोप।

भा०—उस पररूप के कर लेने पर ['सार्वधातुके' की अनुवृत्ति न होने पर] इससे लोप प्राप्त होता है।

दीर्घत्वं बाधकं भवेत्तत्र॥

'अत आदेः' (७.४.७०) इति दीर्घत्वं बाधकं भविष्यति।

इदं तर्हि प्रयोजनं सार्वधातुके भूतपूर्वमात्रेऽपि यथा स्यात्। कुरु-इति॥

श्नसोरल्लोपः॥ ६.४.१११॥

अथात्र तपकरणं किमर्थम्? इह मा भूत्—आस्ताम्, आसन्॥ नैतदस्ति प्रयोजनम्। आटोऽसिद्धत्वान्न भविष्यति॥

इद् दरिद्रस्य॥ ६.४.११४॥

दरिद्रातेरार्धधातुके लोपः॥ १॥

दरिद्रातेरार्धधातुके लोपो वक्तव्यः॥

सिद्धश्च प्रत्ययविधौ॥ २॥

का०—वहाँ दीर्घत्व बाधक हो जाएगा।

भा०—['अ अस् अतुस्' इस दशा में येन नाप्राप्ति न्याय से पररूप का] 'अत आदेः' से विहित दीर्घत्व बाधक हो जाएगा। [स्वाभाविक सिद्धि में भी ऐसा ही होता है। इस प्रकार अभी तक 'सार्वधातुके' का प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ।]

अच्छा तो फिर यह प्रयोजन है कि सार्वधातुक भूतपूर्वमात्र में भी हो जाए। कुरु। [यहाँ 'कर् उ हि' इस दशा में 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' (६.४.१०६) से हि का लुक् कर लेने पर सार्वधातुक परे दृष्ट न होने पर उकार नहीं पाता। 'न लुमताऽङ्गस्य' (१.१.६३) से निषेध होने से प्रत्ययलक्षण भी सम्भव नहीं है।]

श्नसोरल्लोपः॥

भा०—अच्छा यहाँ [अत् में] तपरकरण किसलिये है? यहाँ न हो—आस्ताम्...। ['अस् ताम्' इस दशा में इससे अल्लोप कर लेने पर उसके असिद्ध होने से आट्। तपरकरण करने से अब इस आकार का लोप नहीं होता।] यह प्रयोजन नहीं है। आट् के असिद्ध होने से नहीं होगा। [इस सूत्र के प्रति आट् के असिद्ध होने से वह दृष्ट नहीं है। अतः तपरकरण न करने पर भी उसका लोप नहीं होगा। अतः तपरकरण अनावश्यक है।]

इद् दरिद्रस्य॥

वा०—दरिद्रा का आर्धधातुक परे रहने पर लोप।

भा०—दरिद्रा [अङ्ग का] आर्धधातुक में लोप कहना चाहिये।

वा०—वह प्रत्यय-विधि में सिद्ध।

स च सिद्धः प्रत्ययविधौ। किं प्रयोजनम्? दरिद्रातीति दरिद्रः। आकारान्तलक्षणः प्रत्ययविधिर्मा भूदिति॥

न दरिद्रायके लोपो दरिद्राणे च नेष्यते।
दिदरिद्रासतीत्येके दिदरिद्रिषतीति वा॥

वाद्यतन्याम्॥ ३॥

अद्यतन्यां वेति वक्तव्यम्। अदरिद्रीत्, अदरिद्रासीत्॥

अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि॥ ६.४.१२०॥

णकारषकारादेशादेरेत्त्ववचनं लिटि॥ १॥

णकारषकारादेशादेरेत्त्वं लिटि वक्तव्यम्। नेमतुः, नेमुः। सेहे, सेहाते, सेहिरे। किं पुनः कारणं न सिध्यति? अनादेशादेरिति प्रतिषेधः प्राप्नोति॥

भा०—वह [आकारलोप] प्रत्यय-विधान के समय वर्तमान रहता है। [इस प्रकार यह विषय-सप्तमी है। आर्धधातुक विषय में किसी प्रत्यय की उत्पत्ति से पूर्व ही आकारलोप हो जाता है।

क्या प्रयोजन है? 'दरिद्राति' अर्थ में 'दरिद्रः'। यहाँ आकारान्त मान कर ['श्याद्व्यधा...' (३.१.१४१) से ण प्रत्यय की विधि नहीं होती। यदि ण होता तो 'आतो युक्चिण्कृतोः' (७.३.३३) से युक् होता। विषय-सप्तमी होने से पहले लोप होकर पश्चात् 'नन्दिग्रहि...' (३.१.१३४) से अच् हो जाता है।]

का०—[पर अग्रिम कुछ उदाहरणों में पूर्वोक्त लोप अभीष्ट नहीं है—] 'दरिद्रायकः' में लोप नहीं चाहते। [अतः दरिद्रा से ण्वुल् होकर पूर्वोक्त से युक् होता है।] 'दरिद्राणः' में भी लोप इष्ट नहीं है। [अतः 'आतो युच्' (३.३.१२८) से युच् होता है।] 'दिदरिद्रासति' [यहाँ एक पक्ष में लोप नहीं चाहते।] अथवा दिदरिद्रिषति [यहाँ एक पक्ष में लोप होता है। लोप होने पर 'तनिपतिदरिद्राणामुपसङ्ख्यानम्' से इट् आगम होता है।]

वा०—अद्यतनी में विकल्प से।

भा०—अद्यतनी [पूर्व आचार्यों द्वारा लुङ् की संज्ञा।] में विकल्प से लोप होता है। [लोप होने पर] अदरिद्रीत्। [लोप न होने पर 'यमरमनमातां सक् च' (७.२.७३) से सक् तथा इट् आगम होकर अदरिद्रासीत्।]

अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि॥

वा०—णकार-षकारादि का एत्व-वचन लिट् में।

भा०—णकारादि तथा षकारादि का लिट् परे रहने पर एत्व कहना चाहिये। नेमतुः...। क्या कारण है कि सिद्ध नहीं होता? 'अनादेशादेः' वचन से प्रतिषेध प्राप्त होता है।

तत्तर्हि वक्तव्यम्? न वक्तव्यम्। लिटात्रादेशादिं विशेषयिष्यामः। लिटि य आदेशादिस्तदादेर्नेति॥ अस्त्यन्यल्लिङ्ग्रहणस्य प्रयोजनम्। किम्? इह मा भूत्—पक्ता, पक्तुम्। नैतदस्ति प्रयोजनम्। क्ङितीति वर्तते। एवमपि पक्वः, पक्ववानित्यत्र प्राप्नोति? अभ्यासलोपसंनियोगेनैत्त्वमुच्यते, न चात्राभ्यासलोपं पश्यामः। एवमपि पापच्यते अत्र प्राप्नोति? दीर्घत्वमत्र बाधकं भविष्यति। नाप्राप्तेऽभ्यासविकार एत्वमारभ्यते, तद्यथासावन्यानभ्यासविकारान्बाधत एवं दीर्घत्वमपि बाधेत? सत्यमेवमेतत्। अभ्यासविकारेष्वपि तु ज्येष्ठमध्यम-कनीयांसः प्रकारा भवन्ति। तत्र ह्रस्वहलादिशेषावुत्सर्गौ तयोर्दीर्घत्वमपवाद एत्वं च। अपवादविप्रतिषेधाद्दीर्घत्वं भविष्यति॥

तो फिर कहना चाहिये? नहीं कहना चाहिये। लिट् से आदेशादि को विशेषित करेंगे। लिट् परे रहने पर जो आदेश, तदादि को नहीं होता [—यह अर्थ होगा। नत्व तथा सत्व आदेश अनैमित्तिक है, वे लिट् परे नहीं होते। अतः यहाँ दोष नहीं होगा।]

यहाँ लिट् ग्रहण का अन्य ही प्रयोजन है। क्या? [लिट् से भिन्न परे होने पर न हो। अर्थात् लिट् का सम्बन्ध विधेय एत्व के साथ हो सके।] यहाँ न हो—पक्ता, पक्तुम्। यह प्रयोजन नहीं है, यहाँ 'क्ङिति' की अनुवृत्ति है। फिर भी पक्वः, पक्ववान् में [एत्व] प्राप्त होता है? [पच् से क्त, क्तवतु। 'पचो वः' (८.२.५२) तकार के स्थान में वकार] [समाधान-] अभ्यास-लोप के सन्नियोग में एत्व कहा है। यहाँ अभ्यास-लोप नहीं देखते। [यहाँ 'च' समुच्चय में है, अन्वाचय में नहीं। अतः जहाँ अभ्यास-लोप है, वहीं एत्व होगा।]

फिर भी 'पापच्यते' यहाँ [एत्व] पाता है। [यहाँ ['दीर्घोऽकितः' (७.४.८३) से विहित] दीर्घत्व बाधक हो जाएगा। [समाधान-] अभ्यास-विकार की अवश्य-प्राप्ति में एत्व का आरम्भ किया गया है। [ऐसा कोई उदाहरण नहीं, जहाँ एत्व करते समय कोई न कोई अभ्यास-विकार प्राप्त न होता हो।] अतः वह [एत्व] जिस प्रकार अन्य अभ्यास-विकारों को बाधता है, उसी प्रकार दीर्घत्व को भी बाधने लगेगा?

यह ठीक ही है। पर अभ्यास-विकारों में भी तो बड़ा, मझला, छोटा प्रकार होता है। इस प्रकार 'ह्रस्वः' (७.४.५९) से ह्रस्व तथा 'हलादिः शेषः' (७.४.६०) से हलादि शेष उत्सर्ग हैं। [सर्वत्र प्राप्त होते हैं।] उनका दीर्घत्व अपवाद है तथा एत्व भी। [इस प्रकार दीर्घत्व और एत्व समान कक्षा के हैं। इनका तुल्यबल है। अतः] अपवाद-विप्रतिषेध से दीर्घत्व हो जाएगा। [अतः यहाँ एत्व का दोष नहीं है। इस प्रकार 'लिट् परे रहने पर जो आदेशादि तदादि को एत्व नहीं,' यह पक्ष स्थापित हो गया। आगे 'अनादेशादेः' पर पुनः दोष प्रस्तुत है—]

इह तर्हि—बभणतुः, बभणुरित्यभ्यासादेशस्यासिद्धत्वादेत्वं प्राप्नोति।

फलिभजिग्रहणं तु ज्ञापकमभ्यासादेशसिद्धत्वस्य॥ २॥

यदयं फलिभज्योर्ग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः सिद्धोऽभ्यासादेश एत्व इति॥ यद्येवं—

प्रथमतृतीयादीनामादेशादित्वादेत्वाभावः॥ ३॥

प्रथमतृतीयादीनामपि तर्ह्यादेशादित्वादेत्वं न प्राप्नोति। पेचतुः, पेचुः। देभतुः, देभुः॥

न वा शसिदद्योः प्रतिषेधो ज्ञापको रूपाभेद एत्वविज्ञानस्य॥ ४॥

न वैष दोषः। किं कारणम्? शसिदद्योः प्रतिषेधो ज्ञापको रूपाभेद एत्त्वविज्ञानस्य। यदयं शसिदद्योः प्रतिषेधं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यो

अच्छा तो फिर, बभणतुः...अभ्यास के स्थान में आदेश के असिद्ध होने से एत्व पाता है। [भण् धातु, लिट् लकार में अभ्यास को 'अभ्यासे चर्च' (८.४.५३) से चर्त्व। इस चर्त्व के असिद्ध होने से यह अनादेशादि है, अतः एत्व पाता है।]

वा०—फल्, भज् ग्रहण ज्ञापक है, अभ्यासादेश के सिद्धत्व का।

भा०—यह जो 'तृफलभजत्रपश्च' (६.४.१२२) सूत्र में] फल्, भज् का ग्रहण करते। [हुए उससे एत्व का विधान करते हैं] उससे आचार्य ज्ञापित करते हैं कि अभ्यास का आदेश सिद्ध होता है। [यदि अभ्यास का आदेश असिद्ध होकर अनादेशादि बनकर एत्व होता, तब तो फल, भज् में भी एत्व सिद्ध हो जाता। पुनः विधान आदेश के सिद्धत्व में ज्ञापक है।]

तब तो फिर—

वा०—प्रथम, तृतीयादि का आदेशादित्व होने से एत्वाभाव।

भा०—[वर्ग के] प्रथम अक्षर आदि वाले तथा तृतीय अक्षर आदि वाले का भी एत्व नहीं पाता। पेचतुः...देभतुः....। [पच् और दभ् क्रमशः पवर्ग के आदि तथा तवर्ग के आदि हैं। इन्हें 'प्रकृतिचरां प्रकृतिचरः, प्रकृतिजशां प्रकृतिजशः ('अभ्यासे चर्च' ८.४.५४ पर वार्तिक) से उसके स्थान में वही अक्षर आदिष्ट होता है। इससे स्वरूप तो नहीं बदलता। पर वे आदेशादि तो बन जाते हैं। अतः वहाँ भी एत्व सिद्ध नहीं हो सकेगा।]

वा०—शस्, दद् का प्रतिषेध ज्ञापक, रूपाभेद में एत्व विज्ञान का।

भा०—यह दोष नहीं है। क्या कारण है? ['न शसददवादिगुणानाम्' (६.४.१२६) से जो शस्, दद् के [एत्व का] प्रतिषेध किया है, वह ज्ञापक है कि रूपाभेद [से आदेशादि होने पर उसे अनादेशादि ही माना जाता है। तथा इस प्रकार] रूप में अभेद होने पर एत्व विज्ञान ज्ञापित होता है। आचार्य ज्ञापित करते

रूपाभेदेन य आदेशादयो न तेषां प्रतिषेधो भवतीति॥

दम्भ एत्त्वम्

दम्भ एत्त्वं वक्तव्यम्। देभतुः, देभुः। किं पुनः कारणं न सिध्यति?

नलोपस्यासिद्धत्वात्॥ ५॥

असिद्धो नलोपस्तस्यासिद्धत्वादेत्वं न प्राप्नोति॥

नशिमन्योरलिट्येत्वम्

नशिमन्योरलिट्येत्त्वं वक्तव्यम्॥

छन्दस्यमिपचोरपि।

छन्दस्यमिपचोरपीति वक्तव्यम्॥ किं प्रयोजनम्?

अनेशं मेनकेत्येतद् व्येमानं लिङि पेचिरन्॥ १॥

यज् आयेजे वप् आवेपे दम्भ एत्वमलक्षणम्।

हैं कि रूप के अभेद से जो आदेशादि बनते हैं, उनसे एत्व का प्रतिषेध नहीं होता।

वा०—दम्भ का एत्व।

भा०—दम्भ का एत्व कहना चाहिये। देभतुः...। क्या कारण है कि सिद्ध नहीं होता?

वा०— न लोप के असिद्ध होने से।

भा०—['अनिदितां हल...' (६.४.२४) से विहित] नलोप असिद्ध होगा। उसके असिद्ध होने पर [एकहल्मध्य न बन पाने से] एत्व प्राप्त नहीं होता।

वा०—नश्, मन् का अलिट् में एत्व।

भा०—नश्, मन् का लिट् भिन्न प्रत्यय परे रहने पर एत्व कहना चाहिये।

वा०—छन्द में अम्, पच् का भी।

भा०—छन्द में अम्, पच् का भी [लिङ् भिन्न में] भी [एत्व] कहना चाहिए। क्या प्रयोजन है?

का०— अनेशम्, मेनका, व्येमानम्, लिङ् में पेचिरन्, यज् से आयेजे, वप् से आवेपे—प्रयोजन हैं।

विवरण—'अनेशम्' में नश् धातु, लुङ् लकार, उत्तम पुरुष एकवचन। धातु के पुषादि-गणीय होने से 'पुषादिद्युतादि...' (३.१.५५) से अङ् विकरण। 'अ नश् अ अम्' इस दशा में प्रस्तुत वार्तिक से एकार।

मेनका में मन् धातु से 'आशिषि च' (३.१.१५०) इस सूत्र से वुन् प्रत्यय। 'आशिषि चोपसङ्ख्यानम्' ('न यासयोः' (७.३.४५) पर वार्तिक) से 'प्रत्ययस्थात् कात्....' (७.३.४४) से प्राप्त इत्व का निषेध। प्रस्तुत वार्तिक से एकार।

अनसिद्धत्वान्नलोपस्य दम्भ एत्वं न सिध्यति॥
श्नसोरत्त्वे तकारेण ज्ञाप्यते त्वेत्वशासनम्॥ २॥
अनित्योऽयं विधिरिति॥

थलि च सेटि॥ ६.४.१२१॥

थल्ग्रहणं किमर्थम्?

थल्ग्रहणमक्ङिदर्थम्॥ १॥

थल्ग्रहणं क्रियतेऽक्ङिदर्थम्। अक्ङित्येत्वं यथा स्यात्। पेचिथ, शेकिथ॥ नैतदस्ति प्रयोजनम्। सेड्ग्रहणमेवात्राक्ङिदर्थं भविष्यति॥

'व्येमानम्' में वि उपसर्ग पूर्वक अम् धातु धातु से 'ताच्छील्यवयोवचन...' (३.२.१२९) से चानश्। छान्दस होने से शप् का लुक्। इस वार्तिक से एकार।

पेचिरन् में पच् धातु विधिलिङ् प्रथमपुरुष, बहुवचन। 'पचेरन्' की प्राप्ति में इस वार्तिक से पकारस्थ अकार को एत्व तथा चे के एकार को ह्रस्वत्व किया गया है।

'आयेजे' यहाँ यज् धातु लङ् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन, 'यज् इ' इस दशा में 'छन्दस्यपि दृश्यते' (६.४.७३) से आट्। प्रस्तुत वार्तिक से एत्व।

का०—दम्भ का एत्व लक्षणसिद्ध नहीं।

भा०—नलोप के असिद्ध होने से दम्भ का एत्व सिद्ध नहीं होता। [पूर्वोक्त वार्तिक के कथ्य को अन्य आचार्यों ने इस प्रकार कहा है।]

का०—'श्नसोरल्लोपः' में 'अत्' में तकार के उच्चारण से ज्ञात होता है कि [असिद्धत्व विधि अनित्य है।] अतः एत्व का शासन हो जाएगा।

भा०—यह असिद्ध विधि अनित्य है। [यदि असिद्ध विधि नित्य होती तो 'आस्ताम्' में आट् के पश्चात् उसके असिद्ध होने से लोप की प्राप्ति ही नहीं थी। पुनः आकारलोप की निवृत्ति के लिये तपरकरण व्यर्थ था। फिर भी तपरकरण असिद्ध की अनित्यता में ज्ञापक है।]

थलि च सेटि॥

भा०—थल् ग्रहण किसलिये है?

वा०—थल् ग्रहण अक्ङित् के लिये।

भा०—थल् ग्रहण है, ताकि कित् ङित् भिन्न [सेट् थल् परे रहने पर] एत्व हो सके। पेचिथ,...। [पूर्व सूत्र क्ङित् में कार्यशील है। यह अक्ङित् के लिये उपयोगी होगा।]

यह प्रयोजन नहीं है। यहाँ सेट् ग्रहण ही अक्ङित् [थल्] के लिये हो जाएगा। [क्योंकि अक्ङित् सेट् थल् ही है, अन्य कोई नहीं।

इदं तर्हि प्रयोजनं— समुच्चयो यथा विज्ञायेत। थलि च सेटि क्ङिति च सेटीति। किं प्रयोजनम्? पेचिव, पेचिम। तत्र 'पचादिभ्य इड्वचनम्' इति वक्ष्यति, तन्न वक्तव्यं भवति॥

इह कस्मान्न भवति—लुलविथ? गुणस्य प्रतिषेधात्। इहापि तर्हि न प्राप्नोति—पेचिथ, शेकिथ? गुणस्य योऽकार इत्येवमेतद्विज्ञास्यते। एवमपि शशरिथ अत्र प्राप्नोति। गुणस्यैषोऽकारः। कथम्? वृद्धिर्भवति गुणो भवतीति रेफशिरा गुणवृद्धिसंज्ञकोऽभिनिर्वर्तते।

तो फिर यह प्रयोजन है—समुच्चय हो सके, थल् सेट् में तथा क्ङित् सेट् में। क्या प्रयोजन है? पेचिव, पेचिम यहाँ 'पचादिभ्य इड्वचनम्' वार्तिक से इट् का विधान करेंगे, उसे नहीं कहना पड़ेगा।

विवरण—एक पक्ष के अनुसार 'कृसृभृ...' (७.२.१३) आदि सूत्र को नियमार्थ मानकर कृ, सृ से भिन्न पच् आदि धातुओं से लिट् को इट् का सम्पादन किया जाता है। पर एक अन्य पक्ष के अनुसार यह सूत्र कृ, सृ से इट् निषेध का सम्पादक है। अन्य पच् आदि से लिट् को इट् के सम्पादन के लिए कार्यशील नहीं है।

इस दशा में 'पच् व' इस दशा में द्विर्वचन, एत्व, अभ्यासलोप के पश्चात् एकाच् होने से 'एकाच उपदेशे...' (७.२.१०) से इट्प्रतिषेध की प्राप्ति होती है। उसका निवारण करते हुए इट्विधान के लिए 'पचादिभ्य इड्वचनम्' वार्तिक कहना पड़ता है। परन्तु 'क्ङिति सेटि' कहने पर यह काल का अवधारण करेगा—सेट् होने पर ही एत्वाभ्यासलोप। ऐसा कहने पर द्विर्वचन दशा में अनेकाच् होने से इट् तथा आगे एत्व आदि सिद्ध हो सकेंगे। वह वार्तिक नहीं कहना पड़ेगा।

यहाँ [एत्व, अभ्यासलोप] क्यों नहीं होता—लुलविथ। [अवादेश होने पर एकहल्मध्यगत अकार होने से प्राप्ति है।] ['न शसदद...' (६.४.१२६) सूत्र में] गुण का प्रतिषेध करने के कारण। तब तो यहाँ भी नहीं पाता—पेचिथ, शेकिथ। [क्योंकि यहाँ भी पच् में गुण अकार है।] [समाधान-] गुण का जो अकार यह अर्थ समझा जाएगा। [यहाँ व्यधिकरण में षष्ठी समझी जाएगी। 'पेचिथ' में पच् का गुण संज्ञा द्वारा निर्मित नहीं है। अतः गुण का अकार नहीं है।]

फिर भी 'शशरिथ' यहाँ [एत्व-अभ्यास-लोप प्राप्त होता है। ['न शसदद...' से प्रतिषेध नहीं पाता। क्योंकि यह सम्पूर्ण आदिष्ट 'अर्' गुण नहीं है। [समाधान-] यह गुण का अकार है। किस प्रकार? वृद्धि होती है, गुण होता है—[इसके प्रसज्यमान दशा में ही] ऊर्ध्व रेफ वाला गुण-वृद्धि संज्ञक निर्वृत्त होता है। ['उरण् रपरः' (१.१.५१) से गुण को प्रसज्यमान रपर उस गुण अकार का भाग होता है। अतः यह अर् गुण ही है।]

अथवाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नैवंजातीयकानामेत्वं भवतीति यदयं 'तृफलभजत्रपश्च' (६.४.१२२) इति तृग्रहणं करोति॥

राधो हिंसायाम्॥ ६.४.१२३॥

राधादिषु स्थानिनिर्देशः॥ १॥

राधादिषु स्थानिनिर्देशः कर्तव्यः॥ न कर्तव्यः। एकहल्मध्य इति वर्तते। यद्येवं त्रेसतुः, त्रेसुः रशब्दस्यैत्वं प्राप्नोति? अस्तु। अलोऽन्त्यस्य विधयो भवन्तीत्यकारस्य भविष्यति। अनर्थकेऽलोऽन्त्यविधिर्नेत्येवं न प्राप्नोति। नैतस्याः परिभाषायाः सन्ति प्रयोजनानि। अथवा 'अतः' इति वर्तते। एवमपि राधेर्न प्राप्नोति? आकारग्रहणमपि प्रकृतमनुवर्तते। क्व प्रकृतम्? 'श्नाभ्यस्तयोरातः' (६.४.११२) इति। अथवा 'श्नसोरल्लोपः' (१११) इत्यत्र तपरकरणं प्रत्याख्यायते, तत्प्रकृतमिहानुवर्तिष्यते। यदि तदनुवर्तते 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' (१२०) अस्य चेत्यवर्णमात्रस्यैत्वं प्राप्नोति—बबाधे?

आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापक है—इस प्रकार के शब्दों का एत्व नहीं होता है, जो 'तृफल...' सूत्र से [एत्व, अभ्यासलोप के निषेध के लिये] तृ ग्रहण करते हैं।

राधो हिंसायाम्॥

वा०—राध् आदि में स्थानी का निर्देश।

भा०—राध् आदि में स्थानी का निर्देश करना चाहिये। नहीं करना चाहिये। 'एकहल्मध्ये' की अनुवृत्ति है। ['अतः' की अनुवृत्ति नहीं होगी। अतः दो व्यञ्जनों के बीच दीर्घ आकार को इससे एत्व हो सकेगा।]

तब तो फिर [अगले 'वा जृभ्रमुत्रसाम्' (६.४.१२४) सूत्र से] त्रेसतुः... में 'र' के स्थान में एत्व पाता है। [क्योंकि त्, स् व्यञ्जनों के बीच 'र' है। ठीक है, हो जावे। 'अलोऽन्त्यस्य' नियम के अनुसार स्थानी के अन्त्य के स्थान में आदेश विधियाँ होती हैं, [अतः 'र' के अन्तिम अक्षर] अकार के स्थान में [एत्व] विधि होगी। 'अनर्थक में अलोऽन्त्य-विधि नहीं होती', इस परिभाषा के अनुसार प्राप्ति नहीं होती। इस परिभाषा के प्रयोजन नहीं है। [अथवा बहुत सीमित हैं।]

अथवा [पूर्व-सूत्र से] अतः की अनुवृत्ति भी होगी। तब भी राध् का एत्व नहीं पाता? [क्योंकि वहाँ ह्रस्व अकार नहीं है] [समाधान-] प्रकृत आकार-ग्रहण भी अनुवृत्त है। कहाँ से प्रकृत है? 'श्नाभ्यस्तयोरातः' से।

अथवा—'श्नसोरल्लोपः' में तपरकरण का प्रत्याख्यान किया है। वह तपर विरहित अकार प्रकृत है, उसका अनुवर्तन करेंगे। यदि उसका अनुवर्तन है तो 'अत एकहल्मध्ये...' यहाँ भी 'अस्य' का अनुवर्तन होने से अवर्णमात्र [दीर्घ आकार का भी] एत्व प्राप्त होगा—बबाधे?

अकारेण तपरेणावर्णं विशेषयिष्यामः। अस्यात इति। इहेदानीमस्येत्यनुवर्ततेऽत इति निवृत्तम्॥

अर्वणस्त्रसावनञः॥ ६.४.१२७॥

मघवा बहुलम्॥ ६.४.१२८॥

अर्वणस्तृ मघोनश्च न शिष्यं छान्दसं हि तत्।

अर्वणस्तृ मघोनश्च न शिष्यम्। किं कारणम्? छान्दसं हि तत्। दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति॥

मतुब्वन्योर्विधानाच्च

मतुब्वनी खल्वपि च्छन्दसि विधीयेते॥

छन्दस्युभयदर्शनात्॥

उभयं खल्वपि च्छन्दसि दृश्यते। इ॒मान्यर्व॑णः प॒दानि। अ॒न॒र्वाणं॑ वृ॒ष॒भं म॒न्द्रजि॑ह्वम् (ऋ० १.१९०.१)॥

इति पातञ्जलमहाभाष्ये षष्ठाध्यायस्य चतुर्थपादे तृतीयमाह्निकम्॥

अकार तपर से अवर्ण को विशेषित करेंगे। [अत् जो अकार] अर्थात् अ वर्ण का अत् या ह्रस्व अकार। इस सूत्र में अस्य की अनुवृत्ति है। अतः की निवृत्ति हो गई। [इससे इस सूत्र में दीर्घ आकार को भी एत्व हो सकेगा।]

अर्वणस्त्रसावनञः॥

का०—अर्वन् का तृ तथा मघवन् का भी [तृ आदेश] शासन योग्य नहीं है, वह छान्दस है।

भा०—अर्वन् का तृ तथा मघवन् का भी [तृ आदेश] शासन योग्य नहीं है। क्या कारण है? वह छान्दस है। छन्द में दृष्ट प्रयोग के अनुसार तदनुरूप विधि होती है।

वा०—मतुप्, वन् के विधान से भी।

भा०—छन्द में मतुप्, वन् का भी विधान किया जाता है। [इसलिये 'अर्वन्तौ' आदि की सिद्धि के लिये ऋ धातु से विच् प्रत्यय द्वारा 'अर्' प्रातिपदिक बनाएँगे। पुनः उससे मतुप् प्रत्यय करेंगे। 'अनर्वाणौ' के लिये इसी प्रातिपदिक से वन् प्रत्यय करेंगे। मघवन्तौ, मघवानौ के लिये भी इसी प्रकार दोनों प्रत्यय करेंगे।]

वा०—वेद में दोनों देखे जाने से।

भा०—वेद में दोनों देखे जाते हैं। इमान्यर्वणः पदानि, अनर्वाणं वृषभं...। [वेद में 'अर्वणः' जैसे उदाहरणों में अनञ् में भी तृ आदेश नहीं देखा जाता। अतः उसके लिये वन् प्रत्यय मानना समुचित है।]

पादः पत्॥ ६.४.१३०॥

पाद उपधाह्रस्वत्वम्॥ १॥

पाद उपधाह्रस्वत्वं वक्तव्यम्। द्विपदः पश्य॥

आदेशे हि सर्वादेशप्रसङ्गः॥ २॥

आदेशे हि सति सर्वादेशः प्रसज्येत। सर्वस्य द्विपाच्छब्दस्य त्रिपाच्छब्दस्य च पच्छब्द आदेशः प्रसज्येत—'येन विधिस्तदन्तस्य' (१.१.७२) इति। तत्तर्हि वक्तव्यम्?

न वा निर्दिश्यमानस्यादेशत्वात्॥ ३॥

न वा वक्तव्यम्। किं कारणम्? निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इत्येषा परिभाषा कर्तव्या॥ कः पुनरत्र विशेषः—एषा वा परिभाषा क्रियेत, उपधाह्रस्वत्वं वोच्येत? अवश्यमेषा परिभाषा कर्तव्या। बहून्येतस्याः परिभाषायाः प्रयोजनानि। कानि?

प्रयोजनं सुप्तिङादेशे॥ ४॥

सुप्—कुमार्याम्, किशोर्याम्। खट्वायाम्, मालायाम्। तस्याम्,

पादः पत्॥

वा०—पाद् का उपधाह्रस्वत्व।

भा०—पाद् की उपधा के स्थान में ह्रस्वत्व कहना चाहिये। द्विपदः पश्य।

वा०—आदेश होने पर सर्वादेश-प्रसङ्ग।

भा०—[पत्] आदेश होने पर सम्पूर्ण के स्थान में आदेश प्राप्त होगा। सम्पूर्ण द्विपात्, त्रिपात् के स्थान में पत् शब्द आदेश पाएगा—'येन विधिस्तदन्तस्य' के अनुसार। [उस परिभाषा से सम्पूर्ण पादन्त स्थानी होगा।]

तो फिर कहा जावे?

वा०—नहीं, निर्दिश्यमान के स्थान में आदेश होने से।

भा०—नहीं कहना चाहिये। क्या कारण है? [तदन्त के] निर्दिश्यमान के स्थान में आदेश होते हैं, यह परिभाषा करनी चाहिये। [परिभाषा बल से तदन्त प्रतीयमान है; परन्तु स्थानी निर्दिश्यमान ही होगा।]

इसमें क्या विशेष है—यह परिभाषा करें या उपधाह्रस्वत्व कहें। यह परिभाषा अवश्य कहनी चाहिये। इस परिभाषा के बहुत से प्रयोजन हैं। वे कौन प्रयोजन हैं?

वा०—सुप्, तिङ् के स्थान में आदेश में प्रयोजन है।

भा०—सुप्—कुमार्याम्...।

यस्याम्। आड्याट्स्याट्सु कृतेषु साड्याट्स्याट्कस्याम्प्राप्नोति। 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इति न दोषो भवति। इदमिह सम्प्रधार्यम्—आड्याट्स्याटः क्रियन्तामामिति, किमत्र कर्तव्यम्? परत्वादाम्। नित्या आड्याट्स्याटः। कृतेऽप्यामि प्राप्नुवन्त्यकृतेऽपि। अनित्या आड्याट्स्याटः। अन्यस्य कृत आमि प्राप्नुवन्त्यन्यस्याकृते, शब्दान्तरस्य च प्राप्नुवन्तोऽनित्या भवन्ति। उभयोरनित्ययोः परत्वादाम्। इदं तर्हि—तस्यै, यस्यै। स्याटि कृते सस्याट्कस्य स्मैभावः प्राप्नोति। निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीति न दोषो भवति। यस्तर्हि निर्दिश्यते तस्य कस्मान्न भवति? स्याटा व्यवहितत्वात्। सुप्॥ तिङ्—अरुदिताम्, अरुदितम्, अरुदितेति। इटि कृते सेट्कस्य ताम्तम्तामादेशाः प्राप्नुवन्ति। निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीति न दोषो भवति। इदमिह संप्रधार्यम्—इट्क्रियतां ताम्तम्ताम इति, किमत्र कर्तव्यम्? परत्वादिडागमः। अन्तरङ्गास्ताम्तम्तामः।

आट्, याट्, स्याट् कर लेने पर उनके सहित ङि को आम् प्राप्त होता है। इस परिभाषा के होने से दोष नहीं होता। ['कुमार्याम्' में 'कुमारी ङि' इस दशा में 'आण् नद्याः' (७.३.११२) से आट् करने पर 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' (७.३.११६) से ङ्यन्त के स्थान में आम् आदेश-विधान होने पर आट् सहित ङि को आम् प्राप्त होता है। 'खट्वायाम्' में उसी स्थिति में 'याडापः' (७.३.११३) से याट् आगम होता है। तस्याम् में 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' (७.३.११४) से स्याट् होता है।]

अच्छा तो फिर यह सम्प्रधारणा करें—आट्, याट्, स्याट् पहले किये जावें या आम्, क्या करना चाहिये? परत्व से आम्। आट्, याट्, स्याट् नित्य हैं। आम् करने पर भी पाते हैं, न करने पर भी। आट्, याट्, स्याट् अनित्य हैं। किस प्रकार? आम् करने पर अन्य को पाते हैं, न कहने पर अन्य को। शब्दान्तर को प्राप्त होते हुए अनित्य होते हैं। दोनों के अनित्य होने पर परत्व से [ङि के स्थान में] आम् सिद्ध हो जाएगा।

भा०—अच्छा तो फिर, यस्यै...। [यहाँ परत्व से] स्याट् कर लेने पर स्याट् सहित को ['सर्वनाम्नः स्मै' (७.१.१४) सूत्र से] स्मै आदेश पाता है। 'निर्दिश्यमान के स्थान में आदेश' इस परिभाषा से दोष नहीं होता। अच्छा तो फिर, जिसका (ङे का) निर्देश किया गया है, उसके स्थान में [स्मै] क्यों नहीं होता? स्याट् के साथ व्यवधान होने से।

तिङ्—अरुदिताम्...। ['रुदादिभ्यः सार्वधातुके' (७.२.७६) से] इट् कर लेने पर इट् सहित को ताम्, तम् आदेश प्राप्त होते हैं। 'निर्दिश्यमानस्य...' परिभाषा के अनुसार दोष नहीं होता। अच्छा यह सम्प्रधारणा करें—इट् करें, या ताम्, तम्...। क्या करना चाहिये? परत्व से इडागम। ताम्, तम्... अन्तरङ्ग हैं। [लादेश से पहले

इदं तर्हि—क्रियास्ताम्, क्रियास्तम्, क्रियास्त। यासुटि कृते सयासुट्कस्य ताम्तम्तामः प्राप्नुवन्ति। निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीति न दोषो भवति॥

ल्यब्भावे च॥ ५॥

ल्यब्भावे च प्रयोजनम्। प्रकृत्य, प्रहृत्य। क्त्वान्तस्य ल्यप् प्राप्नोति। निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीति न दोषो भवति॥

त्रिचतुर्युष्मदस्मत्त्यदादिविकारेषु च प्रयोजनम्। अतितिस्रः, अतिचतस्रः। त्रिचतुरन्तस्य तिसृचतसृभावः प्राप्नोति। निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीति न दोषो भवति॥ युष्मद्अस्मद्—अतियूयम्, अतिवयम्। युष्मदस्मदन्तस्य यूयवयौ प्राप्नुतः। निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीति न दोषो भवति॥

धात्वधिकार पक्ष में ये धातु को निमित्त मानकर नहीं हैं।] अच्छा तो फिर—क्रियास्ताम्... [कृ धातु, आशीर्लिङ्, प्रथम पुरुष, द्विवचन] यहाँ यासुट् करने पर यासुट् सहित को ताम्, तम् आदि आदेश पाते हैं। [यहाँ परत्व से अथवा 'लावस्था में यासुट्' इस पक्ष में अन्तरङ्ग होने से यासुट् पहले होगा।] 'निर्दिश्यमानस्य...' परिभाषा के अनुसार दोष नहीं होता।

वा०—ल्यप् भाव में भी।

भा०—ल्यप् आदेश में भी प्रयोजन है। प्रकृत्य...। क्त्वान्त के स्थान में ल्यप् पाता है। ['समासेऽनञ्पूर्वे...' (७.१.३७) से ल्यप् विधान की स्थिति में 'येन विधि...' तथा 'प्रत्ययग्रहणे...' परिभाषा की उपस्थिति में क्त्वान्त तदादि के स्थान में अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय समूह के स्थान में ल्यप् पाता है।] 'निर्दिश्यमान...' परिभाषा से दोष नहीं होता। [इससे क्त्वान्त तदादि के निर्दिश्यमान के स्थान में ल्यप् होगा।]

त्रि, चतुर् इत्यादि के स्थान में आदेश के सन्दर्भ में भी प्रयोजन है। अतितिस्रः...। ['अतिक्रान्तः तिस्रः' विग्रह के अनुसार 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' ('कुगतिप्रादयः' २.२.१८ पर वार्तिक) से तत्पुरुष समास। 'अतित्रि' रूप बनने पर 'त्रिचुतरोः स्त्रियां तिसृचतसृ' (७.२.९९) सूत्र से अङ्ग के साथ तदन्तविधि होने पर] त्रिचतुरन्त [अङ्ग को] तिसृ-चतसृ भाव प्राप्त होता है। निर्दिश्यमान को आदेश होने से दोष नहीं होता।

युष्मद्-अस्मद्—अतियूयम्... [पूर्वोक्त विधि से समास होने पर ['यूयवयौ जसि' (७.२.९३) सूत्र से युष्मदन्त, अस्मदन्त को यूय, वय प्राप्त होते हैं। 'निर्दिश्यमानस्य...' परिभाषा से दोष नहीं होता।

त्यदादिविकारः— अतिस्यः, उत्तमस्यः। अत्यसौ, उत्तमासौ। त्यदाद्यन्तस्य त्यदादिविकाराः प्राप्नुवन्ति। किमन्तस्य कादेशः प्राप्नोति—अतिकः, परमकः। निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीति न दोषो भवति॥

उदः स्थास्तम्भोः पूर्वत्वे प्रयोजनम्। उदस्थात्, उदस्थाताम्। अटि कृते साट्कस्य पूर्वसवर्णः प्राप्नोति 'उदः स्थास्तम्भोः...' इति। निर्दिश्यमान-स्यादेशा भवन्तीति न दोषो भवति। यस्तर्हि निर्दिश्यते तस्य कस्मान्न भवति? अटा व्यवहितत्वात्॥

सा तर्ह्येषा परिभाषा कर्तव्या? न कर्तव्या। उक्तं 'षष्ठी स्थानेयोगा' (१.१.४९) इत्येतस्य योगस्य वचने प्रयोजनं—'षष्ठ्यन्तं स्थानेन यथा युज्येत, यतः षष्ठ्युच्चारिता' इति॥

वाह ऊठ्॥ ६.४.१३२॥

ऊडादिः कस्मान्न भवति, आदिष्टिद्भवतीत्यादिः प्राप्नोति? संप्रसार-णमित्यनेन यणः स्थाने ह्रियते। यद्येवं—

त्यदादिविकार—अतिस्यः...। यहाँ सम्पूर्ण (त्यदाद्यन्त को त्यदादिविकार—['त्यदादीनामः' (७.२.१०२) से अ, 'अदस औ सुलोपश्च' (७.२.१०७) से औ] पाता है। किमन्त को ['किमः कः' (७.२.१०३) सूत्र से क आदेश पाता है। 'निर्दिश्यमानस्य...' परिभाषा से दोष नहीं होता।

['उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' (८.४.६१) से] उत् से उत्तर स्था, स्तम्भ के पूर्वत्व में प्रयोजन है। 'उदस्थात्' में अट् कर लेने पर ['उत् अ स्था त्' इस दशा में] 'उदः स्थास्तम्भोः...' सूत्र से अट् सहित को पूर्वसवर्ण पाता है। 'निर्दिश्यमानस्य...' परिभाषा से दोष नहीं होता। तब फिर जो निर्दिष्ट है [स्था] उसे क्यों नहीं होता? अट् के साथ व्यवधान होने से।

तो फिर यह परिभाषा कही जावे? नहीं कहनी चाहिये। 'षष्ठी स्थानेयोगा' सूत्र वचन का यह प्रयोजन बताया है कि षष्ठ्यन्त ही—जिस शब्द से षष्ठी उच्चारित की गई है—वही स्थान से युक्त होता है—स्थानी बनता है।

वाह ऊठ्॥

भा०—यह ऊठ् आदि में क्यों नहीं होता? ['आद्यन्तौ टकितौ' (१.१.४६) से] टित् आदि में होता है, इससे आदि में प्राप्त होता है। [यद्यपि 'च्छ्वोः शूड...' (६.४.१९) में इसका ठित्व प्रतिपादित कर चुके हैं, पुनरपि इसे टित् मानते हुए आगम मान कर प्रश्न है।] ['वसोः सम्प्रसारणम्' (६.४.१३१) की अनुवृत्ति से] सम्प्रसारण मानते हुए यण् के स्थान में किया जाता है। ['इग्यणः सम्प्रसारणम्' (१.१.४५) सूत्र से सभी सम्प्रसारण यण् के स्थान में ही होते हैं।] तब तो फिर—

वाह ऊड्वचनानर्थक्यं संप्रसारणेन कृतत्वात्॥ १॥

वाह ऊड्वचनमनर्थकम्। किं कारणम्? संप्रसारणेन कृतत्वात्। सम्प्रसारणेनैव सिद्धम्। का रूपसिद्धिः—प्रष्ठौहः पश्य?

गुणः प्रत्ययलक्षणत्वात्॥ २॥

प्रत्ययलक्षणेन गुणो भविष्यति॥

एज्ग्रहणा वृद्धिः॥ ३॥

एज्ग्रहणा वृद्धिर्भविष्यति॥

एवं तर्हि सिद्धे सति यद्वाह ऊठं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यो भवत्येषा परिभाषा—'असिद्धं बहिरङ्गलक्षणमन्तरङ्गलक्षणे' इति। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्? पचावेदम्, पचामेदम्। असिद्धत्वाद् बहिरङ्गलक्षणस्याद्-गुणस्यान्तरङ्गलक्षणमैत्वं न भवतीति॥

वा०—वाह् का ऊठ् वचन का आनर्थक्य, सम्प्रसारण से कृत होने से।

भा०—वाह का ऊठ् वचन अनर्थक है। क्या कारण है? सम्प्रसारण से सिद्ध होने से। तब किस प्रकार से सिद्ध होगा—प्रष्ठौहः पश्य?

वा०—प्रत्ययलक्षणत्व से गुण होगा।

भा०—प्रत्यय लक्षण से गुण हो जाएगा। ['प्रष्ठ वह् ण्वि' इस दशा में ण्वि का सर्वापहारी लोप होने पर सुप् उत्पत्ति, सम्प्रसारण होने पर 'प्रष्ठ उह् अस्' इस दिशा में ण्वि के प्रत्ययलक्षण से गुण होकर 'प्रष्ठ ओह अस्' यह दशा निष्पन्न होगी।]

वा०—पुनः एच् ग्रहण वाली वृद्धि।

भा०—पुनः ['वृद्धिरेचि' (६.१.८५) सूत्र से एच् को निमित्त मानकर होने वाली वृद्धि से रूप सिद्ध होगा।

अच्छा तो फिर इस प्रकार सिद्ध होने पर भी जो वाह् को ऊठ् का शासन करते हैं, उससे आचार्य ज्ञापित करते हैं कि यह परिभाषा होती है—'असिद्धं बहिरङ्गलक्षण-मन्तरङ्गलक्षणे'। [अर्थात् अन्तरङ्ग लक्षण या सूत्र के प्रति बहिरङ्ग शास्त्र असिद्ध होता है। यहाँ ण्वि के आश्रित गुण अन्तरङ्ग है। सम्प्रसारण 'भ' संज्ञा के आश्रित होने से यकारादि अजादि स्वादि प्रत्यय के निमित्त वाला होने से बहिरङ्ग है। इस अन्तरङ्ग गुण के प्रति सम्प्रसारण के असिद्ध होने से गुण सिद्ध न होता। इसकी सिद्धि के लिये यह सूत्र सार्थक होता है।]

इसके ज्ञापन में क्या प्रयोजन है? पचावेदम्...। यहाँ बहिरङ्गलक्षण 'आद्गुणः' के असिद्ध होने से अन्तरङ्गलक्षण एत्व नहीं होता। ['पचाव इदम्' इस दशा में पूर्व- पर को निमित्त मानकर होने वाला गुण बहिरङ्ग है। यह एकार लोट्, उत्तम पुरुष का है। अतः 'एत ऐ' (३.४.९३) से इसे ऐकार आदेश पाता है। बहिरङ्ग गुण के असिद्ध होने से नहीं होता।]

श्वयुवमघोनामतद्धिते ॥ ६.४.१३३ ॥

श्वादीनां सम्प्रसारणे नकारान्तग्रहणमनकारान्तप्रतिषेधार्थम् ॥ १ ॥

श्वादीनां सम्प्रसारणे नकारान्तग्रहणं कर्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? अनकारान्तप्रतिषेधार्थम्। अनकारान्तस्य मा भूत्। मघवता, मघवते ॥ तथा 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं भवति' इति यथेह भवति— यूनः, पश्येत्येवं युवतीः पश्येत्यत्रापि स्यादिति ॥ यत्तावदुच्यते—नकारान्तग्रहणं कर्तव्यमिति, न कर्तव्यम्।

उक्तं वा ॥ २ ॥

किमुक्तम्? 'अर्वणस्तृ मघोनश्च न शिष्यं छान्दसं हि तद्' इति ॥ यदप्युच्यते तथा 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं भवति' इति यथेह भवति यूनः पश्येत्येवं युवतीः पश्येत्यत्रापि स्यादिति। लिङ्गविशिष्टग्रहणे चोक्तम्। किमुक्तम्? न वा विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणादिति ॥

श्वयुवमघोनामतद्धिते ॥

वा०—'श्वा' आदि के सम्प्रसारण में नकारान्त ग्रहण, अनकारान्त के प्रतिषेध के लिये।

भा०—'श्वा' आदि के सम्प्रसारण के प्रसङ्ग में नकारान्त का ग्रहण करना चाहिये। क्या प्रयोजन है? अनकारान्त को न हो। मघवता... । [मघवन् को 'मघवा बहुलम्' (६.४.१२८) से तृ आदेश करने पर एकदेशविकृत को अनन्य माने जाने से प्रस्तुत सूत्र से सम्प्रसारण की प्राप्ति होती है।]

साथ ही 'प्रातिपदिक-ग्रहण होने पर उससे विशिष्ट लिङ्ग वाले का भी ग्रहण होता है।' इस परिभाषा के अनुसार 'यूनः पश्य' के समान 'युवतीः पश्य' यहाँ ['युवति' शब्द को भी सम्प्रसारण] प्राप्त होता है।]

यह जो कहा है कि 'नकारान्त-ग्रहण' ग्रहण करना चाहिये, नहीं करना चाहिये।

वा०—इस पर कहा है।

भा०—क्या कहा है? अर्वन् के स्थान में तथा मघवन् के स्थान में तृ का शासन नहीं करना चाहिये। वह छान्दस है। [इस प्रकार 'मघवता' में मतुप् प्रत्यय है, वन् है ही नहीं। अत: यह सूत्र नहीं लगेगा।]

साथ ही लिङ्गविशिष्ट विषय पर जो कहा है, उस पर भी कहा जा चुका है। क्या कहा है? विभक्ति परे होने पर निष्पद्यमान कार्य में लिङ्गविशिष्ट परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती। [सम्प्रसारण भसंज्ञक को होने से विभक्ति परे होने पर होता है।]

अथवोपरिष्टाद्योगविभागः करिष्यते। श्वयुवमघोनामतद्धिते। ततोऽल्लोपः। अकारस्य च लोपो भवति। ततोऽनः। अन इत्युभयोः शेषः॥

षपूर्वहन्धृतराज्ञामणि॥ ६.४.१३५॥

किमिदं षपूर्वादीनां पुनर्वचनमल्लोपार्थमाहोस्विन्नियमार्थम्? कथं चाल्लोपार्थं स्यात्कथं वा नियमार्थम्? यद्यविशेषेणाल्लोपटिलोपयोः स प्रकृतिभावस्ततोऽल्लोपार्थम्। अथ ह्यणि टिलोपस्यैव प्रकृतिभावस्ततो नियमार्थम्॥ अत उत्तरं पठति—

षपूर्वादीनां पुनर्वचनमल्लोपार्थम्॥ १॥

षपूर्वादीनां पुनर्वचनं क्रियतेऽल्लोपार्थम्। अविशेषेणाल्लोपटिलोपयोः प्रकृतिभावः॥

अवधारणे ह्यन्यत्र प्रकृतिभाव उपधालोपप्रसङ्गः॥

अथवा—ऊपर योगविभाग करेंगे—श्वयुवमघोनामतद्धिते। पश्चात्—अल्लोपः—अर्थात् अकार का लोप होता है। पश्चात्—'अनः' यह दोनों का शेष है। [अतः अन्नन्त के अकार का लोप होता है तथा अन्नन्त मघवन् आदि को ही सम्प्रसारण होता है। तृ आदेश कर लेने पर मघवत् अन्नन्त नहीं है। अतः वहाँ सम्प्रसारण नहीं होगा।]

षपूर्वहन्धृतराज्ञामणि॥

भा०—यहाँ षपूर्व आदि से [अलोप का] पुनर्वचन अल्लोप [के विधान] के लिये है या नियम के लिये है? अल्लोप विधान के लिये किस प्रकार होगा, नियम के लिये किस प्रकार? यदि ('अन्' ६.४.१६७) सूत्र से] अल्लोप, टिलोप दोनों का प्रकृतिभाव होता है तो विध्यर्थ होगा। यदि अण् परे रहने पर टिलोप का ही प्रकृतिभाव है तो नियमार्थ होगा। [यदि 'अन्' सूत्र 'अनन्तरस्य विधिर्वा...' परिभाषा के अनुसार टिलोप का ही प्रकृतिभाव करे तो षपूर्व उक्षन् आदि में तो 'अल्लोपोऽनः' से अल्लोप की सिद्धि हो ही जाएगी। पुनः प्रकृत सूत्र नियमार्थ होगा। पर यदि 'अन्' सूत्र अल्लोप, टिलोप दोनों का अण् परे रहने पर प्रकृतिभाव करे तो षपूर्व उक्षन् आदि में अल्लोप की प्राप्ति न होने पर प्रस्तुत सूत्र विधायक होगा।]

वा०—ष पूर्व आदि का पुनर्वचन, अल्लोप के लिये।

भा०—षपूर्व आदि का पुनर्वचन करते हैं—अल्लोप के विधान के लिये। [अन् सूत्र से] अल्लोप, टिलोप दोनों का सामान्यतः प्रकृतिभाव होता है।

वा०—अवधारण होने पर अन्यत्र प्रकृतिभाव में उपधा-लोप का प्रसङ्ग।

अवधारणे हि सत्यन्यत्र प्रकृतिभाव उपधालोपः प्रसज्येत। कथम्? यदि तावदेवं नियमः स्यात्—षपूर्वादीनामेवाणीति, भवेदिह नियमान्न स्यात्—सामनः, वैमन इति, ताक्षण्य इति प्राप्नोति। अथाप्येवं नियमः स्यात्—षपूर्वादीनामण्येवेति, एवमपि भवेदिह नियमान्न स्यात्—ताक्षण्य इति, सामनः, वैमन इति तु प्राप्नोति। अथाप्युभयतो नियमः स्यात्—षपूर्वादीनामेवाण्यण्येव षपूर्वादीनामित्येवमपि सामन्यः, वेमन्य इति प्राप्नोति। तस्मासुष्ठूच्यते—षपूर्वादीनां पुनर्वचनमल्लोपार्थमवधारणे ह्यन्यत्र प्रकृतिभाव उपधालोपप्रसङ्ग इति॥

आतो धातोः॥ ६.४.१४०॥

आतोऽनापः॥ १॥

भा०—अवधारण होने पर अन्यत्र (=षपूर्व आदि से अतिरिक्त प्रकृतिभाव विषय में) उपधालोप की प्राप्ति होगी। किस प्रकार?

यदि यह नियम हो—अण् परे रहने पर षपूर्व आदि को ही। इससे [षपूर्व आदि से भिन्न] सामनः, वैमनः में अल्लोप नहीं होगा। पर ताक्षण्यः में [यह नियम निवारक नहीं हो सकेगा। अतः 'अल्लोपोऽनः' से अल्लोप] प्राप्त होगा। [क्योंकि इस पक्ष में 'ये चाभावकर्मणोः' (६.४.१६८) केवल टिलोप का प्रकृतिभाव करते हुए अल्लोप का प्रकृतिभाव नहीं कर सकेगा।]

यदि यह नियम हो—ष पूर्व आदि को हो तो अण् परे रहने पर ही हो। इससे ताक्षण्यः में तो अल्लोप नहीं होगा। पर सामनः, वैमनः में तो पाएगा ही। [क्योंकि इस पक्ष में 'अन्' (६.४.१६७) सूत्र केवल टिलोप का प्रकृतिभाव करते हुए यहाँ प्रकृतिभाव नहीं कर सकेगा।]

यदि उभयतो-नियम हो तो सामन्यः, वेमन्यः [जो षपूर्व भी नहीं, तथा अण् परे वाला भी नहीं है, वहाँ इस नियम से निवारित न होने से अल्लोप] प्राप्त होगा। [तात्पर्य यह है कि 'अन्', 'ये चाभावकर्मणोः' सूत्र यदि केवल टिलोप का प्रकृतिभाव करें तो यह सूत्र नियामक होकर अण् से भिन्न प्रत्यय परे होने पर तथा साथ ही ष-पूर्व से भिन्न प्रकृति होने पर अल्लोप का निवारण नहीं कर सकेगा। पर उन दोनों सूत्रों से अल्लोप, टिलोप दोनों का प्रकृतिभाव करने पर उपरिलिखित सभी उदाहरणों में प्रकृतिभाव होकर अल्लोप का निवारण हो सकेगा। इस दशा में यह सूत्र केवल अण् परे रहने पर अल्लोप का विधान करेगा।]

अतः यह समुचित कहा है कि 'षपूर्वादीनां...' आदि वार्तिक।

आतो धातोः॥

वा०—'आतोऽनापः' यह सूत्र।

आतोऽनाप इति वक्तव्यम्। इहापि यथा स्यात्—'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' (७.१.३७) इति। अनाप इति किमर्थम्? खट्वायाम्, मालायाम्॥ यद्यनाप इत्युच्यते, कथं क्त्वायाम्? निपातनादेतत्सिद्धम्। किं निपातनम्? 'क्त्वायां वा प्रतिषेध' इति॥ यद्येवं नार्थोऽनाप इत्यनेन। कथं—'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' इति? निपातनादेतत्सिद्धम्। कथं—'हलः श्न शानज्झौ' (३.१.८३) इति? एतदपि निपातनात्सिद्धम्॥ अथवा योगविभागः करिष्यते। आतः। आकारलोपो भवति। ततो धातोः। धातोश्चाकारस्य लोपो भवतीति॥

मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः॥ ६.४.१४१॥

मन्त्रेष्वात्मनः प्रत्ययमात्रे लोपः प्रसङ्क्तव्यः।

भा०—आबन्त भिन्न आकारान्त से यह कहना चाहिये। [धातोः का पाठ नहीं करना चाहिये।] ताकि यहाँ भी हो सके—'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्'। [यहाँ धातुभिन्न क्त्वा के आकार का लोप हो सके। 'प्रकृतिवदनुकरणं भवति' परिभाषा के अनुसार अनुकरण को शब्दपदार्थक मानकर अर्थवत् माना गया है। इससे विभक्त्यन्त प्रयोग साधु है।]

यहाँ 'अनापः' किसलिये? यहाँ 'खट्वायाम्...' में न होवे। यदि अनापः कहते हैं तो 'क्त्वायाम्' यह कैसे बनेगा। [आकारलोप से विरहित प्रयोग भी अभीष्ट है।]

वा०—यह निपातन से।

भा०—यह निपातन से सिद्ध होगा। क्या निपातन है? 'क्त्वायां वा प्रतिषेधः' ['तत्पुरुषे तुल्यार्थ...' (६.२.२) में प्रोक्त वार्तिक में प्रयोग] तब तो 'अनापः' की आवश्यकता नहीं। किस प्रकार—'समासेऽनञ्पूर्वे...' सूत्र में? निपातन से सिद्ध होगा। 'हलः श्नः शानज्झौ' में [आकारलोप] किस प्रकार होगा? यह भी निपातन से सिद्ध होगा।

अथवा योगविभाग करेंगे—'आतः' आकार का लोप होता है। पुनः 'धातोः' धातु के आकार का भी लोप होता है। ['आतः' इस उत्सर्ग सूत्र से ही धातु का आकार-लोप सिद्ध होने पर भी पुनः 'धातोः' वचन इस 'आतः' के सार्वत्रिक न होने को ज्ञापित करेगा। इसलिये प्रत्येक आकारान्त शब्द के आकार का लोप नहीं होगा।]

मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः॥

भा०—वेद में आत्मन् शब्द का किसी भी प्रत्यय परे रहने पर लोप कहना चाहिये। [आङ् यह पूर्व आचार्यों की परम्परा के अनुसार तृतीया एकवचन 'टा'

इहापि यथा स्यात्—त्मन्या॑ सम॒ञ्जन् (ऋ० १०.११०.१०)। त्मनोरन्तरस्थ इति ॥ यदि प्रत्ययमात्रे लोप उच्यते कथम्—आत्मन एव निर्मिमीष्व इति ? तस्मान्नार्थः प्रत्ययमात्रे लोपेन। कथं त्मन्या॑ सम॒ञ्जन्। त्मनोरन्तरस्थ इति ? छान्दसत्वात्सिद्धम्। छान्दसमेतत्। दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति ॥

आदिग्रहणानर्थक्यं चाकारप्रकरणात्॥ १ ॥

आदिग्रहणं चानर्थकम्। किं कारणम् ? आकारप्रकरणात्। आत इति वर्तते ॥

ति विंशतेर्डिति ॥ ६.४.१४२ ॥

तिग्रहणं किमर्थं, न विंशतेर्डिति लोप इत्येवोच्येत ? नैवं शक्यम्। विंशतेर्डिति लोप इतीयत्युच्यमानेऽन्त्यस्य प्रसज्येत। सिद्धोऽन्त्यस्य यस्येति लोपेनैव। तत्रारम्भसामर्थ्यात्तिशब्दस्य भविष्यति। कुतो नु खल्वेतदनन्त्यार्थ आरम्भे तिशब्दस्य भविष्यति, न पुनरङ्गस्येति ?

का द्योतक है। ऐसा मानने पर अव्याप्ति होती है।] ताकि यहाँ भी हो जावे—त्मन्या समञ्जन्, त्मनोरन्तरस्थः। [त्मन्या में आत्मन् शब्द से सप्तमी एकवचन ङि परे रहने पर आकार लोप तथा ङि के स्थान में 'सुपां सुलुक्...' (७.१.३९) से या आदेश होता है।]

यदि प्रत्ययमात्र परे रहने पर लोप कहेंगे तो 'आत्मन एव...' यहाँ आकार-लोप का अभाव किस प्रकार होगा ? अतः प्रत्ययमात्र-लोप की आवश्यकता नहीं। तो फिर त्मन्या...किस प्रकार सिद्ध होगा ? छान्दस होने से सिद्ध है। छन्द में दृष्ट प्रयोग के अनुसार तदनुरूप विधि सम्पन्न होती है।

वा०—'आदि' ग्रहण का आनर्थक्य, आकार-प्रकरण होने से।

भा०—'आदि' ग्रहण भी अनर्थक है। क्या कारण है ? आकार का प्रकरण होने से। 'आतः' की अनुवृत्ति है। [इससे आदि आकार का ही लोप होगा।]

ति विंशतेर्डिति ॥

भा०—'ति' ग्रहण किसलिये है ? 'विंशतेर्डिति लोपः' इतना ही क्यों न कह देवें। यह सम्भव नहीं है। 'विंशतेर्डिति लोपः' इतना ही कहने पर ['अलोऽन्त्यस्य' (१.१.५२) के अनुसार] अन्त्य को प्राप्त होगा।

अन्त्य का लोप तो 'यस्येति च' से विहित लोप से ही सिद्ध था। तब सूत्र आरम्भ सामर्थ्य से सम्पूर्ण ति शब्द का [लोप] होगा।

पर यह किस प्रकार—अनन्त्य के लिये सूत्र आरम्भ सिद्ध होने पर केवल 'ति' का लोप होगा। क्यों न पूरे अङ्ग का लोप होने लगे ?

तस्मात्तिग्रहणं कर्तव्यम्॥ अथ क्रियमाणेऽपि तिग्रहणेऽन्त्यस्य कस्मान्न भवति? 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इत्येवं न भविष्यति॥

टेः॥ ६.४.१४३॥

अभस्योपसंख्यानं कर्तव्यम्। इहापि यथा स्यात्—उपसरजः, मन्दुरज इति॥

डित्यभस्याप्यनुबन्धकरणसामर्थ्याद् भविष्यति॥

नस्तद्धिते॥ ६.४.१४४॥

नकारान्तस्य टिलोपे

सब्रह्मचारिपीठसर्पिकलापिकुथुमितैतिलिजाजलि-लाङ्गलिशिलालिशिखण्डिसूकरसद्मसुपर्वणामुपसंख्यानम्॥ १॥

अतः 'ति' ग्रहण करना चाहिये। अच्छा 'ति' ग्रहण करने पर भी [पुनः 'अलोऽन्त्यस्य' के अनुसार] उसके अन्त्य [इकार का लोप] क्यों न होने लगे? 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' के अनुसार ऐसा नहीं होगा। [अपितु सम्पूर्ण 'ति' का लोप होगा।] [आशय यह है—'विंशति' शब्द की सिद्धि विन् आदेश तथा 'शति' प्रत्यय मानने पर इस प्रत्यय का 'ति' अनर्थक है। अनर्थक में 'नानर्थकेऽलोन्त्यविधि...' इस परिभाषा के अनुसार 'अलोऽन्त्यस्य' की प्रवृत्ति नहीं होती। उसकी अनुपस्थिति में 'निर्दिश्यमानस्य...' परिभाषा प्रवृत्त हो जाएगी। इससे सम्पूर्ण 'ति' का लोप सिद्ध हो सकेगा।]

टेः॥

भा०—'भ' संज्ञा रहित का उपसङ्ख्यान करना चाहिये। ताकि यहाँ भी हो जावे—'उपसरजः...'। [उपसर उपपद होने पर जन् धातु से 'सप्तम्यां जनेर्डः' (३.२.९७) से ड प्रत्यय। इससे जन् के टि का लोप अभीष्ट है।] डित् परे रहने पर भ संज्ञा से विरहित के टि का लोप भी [डकार] अनुबन्ध करण सामर्थ्य से हो जाएगा। [अन्यथा प्रत्यय में यह अनुबन्ध लगाना व्यर्थ होने लगेगा।]

नस्तद्धिते॥

वा०—नकारान्त के टिलोप में सब्रह्मचारी...का उपसङ्ख्यान।

भा०—नकारान्त के टिलोप के प्रसङ्ग में सब्रह्मचारिन्...इत्यादि के टिलोप का उपसङ्ख्यान करना चाहिये। ['इनण्यनपत्ये' (६.४.१६४) से प्रकृतिभाव की प्राप्ति में यह वचन है।]

नकारान्तस्य टिलोपे सब्रह्मचारिन् पीठसर्पिन् कलापिन् कुथुमिन् तैतिलिन् जाजलिन् लाङ्गलिन् शिलालिन् शिखण्डिन् सूकरसद्मन् सुपर्वन्नित्येतेषामुप-संख्यानं कर्तव्यम्। सब्रह्मचारिन्—सब्रह्मचारिण इमे—साब्रह्मचाराः। सब्रह्मचारिन्॥ पीठसर्पिन्—पैठसर्पाः। पीठसर्पिन्॥ कलापिन्—कालापाः। कलापिन्॥ कुथुमिन्—कौथुमाः। कुथुमिन्॥ तैतिलिन्—तैतिलाः। तैतिलिन्। जाजलिन्—जाजलाः। जाजलिन्॥ लाङ्गलिन्—लाङ्गलाः। लाङ्गलिन्॥ शिलालिन्—शैलालाः। शिलालिन्॥ शिखण्डिन्—शैखण्डाः। शिखण्डिन्॥ सूकरसद्मन्—सौकरसद्माः। सूकरसद्मन्॥ सुपर्वन्—सौपर्वाः। सुपर्वन्॥

चर्मणः कोश उपसंख्यानं कर्तव्यम्। चार्मः कोशः॥

अश्मनो विकार उपसंख्यानं कर्तव्यम्। अश्मनो विकार आश्मः॥

शुनः संकोचे। शौवः संकोचः॥

अव्ययानां च सायंप्रातिकाद्यर्थम्॥ २॥

'सब्रह्मचारिण इमे' इस विग्रह के अनुसार 'साब्रह्मचाराः'। [यहाँ 'सब्रह्मचारिन्' से 'तस्येदम्' (४.३.१२०) से अण् 'पीठेन सर्पति' विग्रह के अनुसार पूर्वोक्त से अण् होकर 'पैठसर्पाः'। 'कालापाः' में 'कलापिना प्रोक्तमधीयते' विग्रह के अनुसार कलापिन् से प्रोक्त अर्थ में 'कलापिनोऽण्' (४.३.१०८) से अण्, पुनः अधीते, वेद अर्थ में 'तदधीते तद्वेद' से पुनः अण्। उसका 'प्रोक्ताल्लुक्' (४.२.६४) से लुक्। इस वार्तिक से टिलोप। तैतिला...इत्यादि में 'तैतिलिन्' शब्द गोत्रवाचक है। उनके द्वारा प्रोक्त शाखा को भी तैतिलिन् कहा गया है। उसका अध्ययन करने वाले अर्थ में पूर्वोक्त से अण्। प्रस्तुत वार्तिक से टिलोप। अग्रिम शब्दों की सिद्धियाँ पूर्ववत् हैं।

चर्मन् को कोश अभिधेय में [टिलोप का] उपसङ्ख्यान करना चाहिये। चार्मः कोशः। [चर्मन् से विकार अर्थ में 'तस्य विकारः' (८.३.१३४) से अण्। तलवार रखने के लिये चमड़े की म्यान 'चार्मः' कही जाएगी।]

अश्मन् को विकार में [टिलोप का] उपसङ्ख्यान करना चाहिये। अश्मनो विकारः आश्मः (=पत्थर की बनी हुई कोई वस्तु)। श्वन् का सङ्कोच में। शौवः सङ्कोचः (=कुत्ते का सिकुड़ना) [श्वन् शब्द से 'तस्येदम्' (४.३.१२०) से इदम् अर्थ में अण्। सङ्कोच से भिन्न में 'शौवनः' होगा। वहाँ 'अन्' (६.४.१६७) से प्रकृतिभाव होगा। इस प्रकार ये वार्तिक विशिष्ट अभिधेयों में विधायक हैं।]

वा०—अव्यय का भी सायम्प्रातिक आदि के लिये।

अव्ययानां चोपसंख्यानं कर्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? सायम्प्रातिकाद्यर्थम्॥

सायंप्रातिकः, पौनःपुनिकः॥

शाश्वतिके प्रतिषेधो वक्तव्यः। न वक्तव्यः। निपातनादेतत् सिद्धम्। किं निपातनम्? 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' (२.४.९) इति। एवं तर्हि शाश्वते प्रतिषेधो वक्तव्यः। शाश्वतम्॥

यस्येति च॥ ६.४.१४८॥

इवर्णान्तस्य ईति किमुदाहरणम्? हे दाक्षि, दाक्ष्या, दाक्षेयः। हे दाक्षीति। यदि लोपो न स्यात्परस्य ह्रस्वत्वे कृते सवर्णदीर्घत्वं प्रसज्येत। दाक्ष्येति।

भा०—अव्यय के [टिलोप का भी] उपसङ्ख्यान करना चाहिये। क्या प्रयोजन है? सायम्प्रातिक आदि के लिए सायम्प्रातिकः...। (=सायं प्रातः होने वाला कार्य)। ['सायम्प्रातः' द्वन्द्व से 'कालाट्ठञ्' (४.३.११) से ठञ् प्रत्यय। व्याख्याकार इस द्वन्द्व को 'यथाकथञ्चित्' कालवाचक सिद्ध करना चाहते हैं। पर यह तो समाज की विवक्षा है कि वे उन दोनों में अनेक समानताओं के होने से दोनों को एक साथ कालवाचक मान लेना चाहते हैं।]

शाश्वतिक में [टिलोप का] प्रतिषेध करना चाहिये। [पूर्व वार्तिक से प्राप्त है। 'शश्वत्' से पूर्व सूत्र से ठञ्] नहीं कहना चाहिये। यह निपातन से सिद्ध है। क्या निपातन है? 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' (२.४.९) यह सूत्र। [इसी निपातन से 'इसुसुक्तान्तात् कः' (७.३.५१) से प्राप्त ठञ् के स्थान में क आदेश नहीं होता।] अच्छा तो फिर—'शाश्वत' में प्रतिषेध कहना चाहिये। [यहाँ 'कालाट्ठञ्' से बाधित होने से अण् नहीं होना चाहिये। अतः व्याख्याकारों न माना है कि यहाँ भाष्यकार-वचन प्रामाण्य से अण् हो जाता है। वास्तव में समाज की विवक्षा ही भाष्यकार का प्रामाण्य है।]

यस्येति च॥

भा०—इवर्ण का दीर्घ ईकार परे रहने पर लोप का क्या उदाहरण है? हे दाक्षि [सम्बोधन में, दाक्षि शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'इतो मनुष्यजातेः' (४.१.६५) से ङीष् कर लेने पर 'दाक्षि ई स्' इस दशा में] यदि दीर्घ ईकार परे रहने पर इस सूत्र से पूर्व इकार का लोप न हो तो [सु परे रहने पर 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' (७.३.१०७) से ईकार का] ह्रस्व कर लेने पर सवर्णदीर्घ की प्राप्ति होगी। [इससे दीर्घ ईकार का श्रवण प्राप्त होगा।]

दाक्ष्या—[तृतीया एकवचन में 'दाक्षि ई आ' इस दशा में]

यदि लोपो न स्यात्परस्य यणादेशे कृते पूर्वस्य श्रवणं प्रसज्येत। दाक्षेय इति। यदि लोपो न स्यात्परस्य लोपे कृते पूर्वस्य श्रवणं प्रसज्येत॥ नैतानि सन्ति प्रयोजनानि। सवर्णदीर्घत्वेनाप्येतानि सिद्धानि॥ इदं तर्हि—अतिसखेरागच्छति, अतिसखेः स्वम्? यदि लोपो न स्यादुपसर्जनह्रस्वत्वे कृतेऽसखीति प्रतिषेधः प्रसज्येत?

यस्येत्यादौ श्यां प्रतिषेधः॥ १॥

यदि इससे लोप न हो तो पर [ईकार] का यणादेश कर लेने पर पूर्व इकार के श्रवण की प्राप्ति होगी। [इससे 'दाक्षिया' बनने लगेगा।]

दाक्षेयः—[स्त्रीलिङ्ग में अपत्यार्थ में इससे 'स्त्रीभ्यो ढक्' (४.१.१२०) से ढक् तथा उसे एय् आदेश करने पर 'दाक्षि ई एय' इस दशा में] पर ई का ['यस्येति च' से लोप कर लेने पर पूर्व इकार का श्रवण [तथा उसे अन्ततः यणादेश] की प्राप्ति होगी। [यह प्रबन्ध 'ईति' का प्रत्युदाहरण है। अतः एकार परे रहने पर इससे ईलोप होने में कोई आपत्ति नहीं है।]

ये प्रयोजन नहीं है। ये सभी सवर्णदीर्घत्व से भी सिद्ध हैं। [इन सभी उदाहरणों में शब्दपरविप्रतिषेध से ईकार के स्थान में विविध कार्य पहले सम्पन्न कराए गए हैं। उनके सम्पन्न होने के पश्चात् सवर्ण-दीर्घ आदि का दोष प्रस्तुत किया गया है। वास्तव में क्रम से अन्वाख्यान पक्ष में 'दाक्षि इ' इस दशा में पहले सवर्ण दीर्घ होगा। उसके पश्चात् सवर्ण दीर्घ ईकार के स्थान में विविध कार्य निष्पादन करने पर कोई दोष नहीं होगा।]

अच्छा तो फिर अतिसखेरागच्छति...। यहाँ यदि [ईकार परे रहने पर] लोप न होता तो उपसर्जनह्रस्वत्व करने पर 'असखि' से प्रतिषेध की प्राप्ति होती? [यहाँ सखि शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'सख्यशिश्वीति भाषायाम्' (४.१.६२) से पहले ङीष् करते हैं। पश्चात् 'सखीम् अतिक्रान्तः' विग्रह के अनुसार 'कुगतिप्रादयः' (२.२.१८) में प्रोक्त वार्तिक के अनुसार तत्पुरुष समास करते हैं। पश्चात् 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' (१.२.४८) से ह्रस्व करके षष्ठी विभक्ति में 'अतिसखेः' रूप बनता है। यहाँ पूर्व प्रोक्त 'सखि ई' इस दशा में यदि इस सूत्र से इकार का लोप न होकर सवर्ण दीर्घ होवे तब 'अन्तादिवच्च' (६.१.८५) से अन्तवद्भाव होने पर 'सखि' रूप उपलब्ध होने से 'शेषो घ्यसखि' (१.४.७) में असखि प्रतिषेध के कार्यशील हो जाने से घि संज्ञा नहीं हो पाएगी। तब 'अतिसखेः' में 'घेर्ङिति' (७.३.१११) से गुण सिद्ध नहीं हो सकेगा। अतः ईकार परे रहने पर ह्रस्व इकार का लोप विधान समुचित सिद्ध होता है।]

वा०—यस्य इत्यादि में शी परे रहने पर प्रतिषेध।

यस्येत्यादौ श्यां प्रतिषेधो वक्तव्यः। काण्डे, कुड्ये। सौर्ये नाम हिमवतः शृङ्गे॥ स तर्हि प्रतिषेधो वक्तव्यः ? न वक्तव्यः। इह श्यामित्यपि प्रकृतं नेत्यपि तत्राभिसंबन्धमात्रं कर्तव्यम्। यस्येत्यादौ लोपो भवति, श्यां न॥

इयङुवङ्भ्यां लोपो विप्रतिषेधेन॥ २॥

इयङुवङ्भ्यां लोपो भवति विप्रतिषेधेन। इयङुवङोरवकाशः—श्रियौ, श्रियः। भ्रुवौ, भ्रुवः। लोपस्यावकाशः—कामण्डलेयः, माद्रबाहेयः। इहोभयं प्राप्नोति—वात्सप्रेयः, लैखाभ्रेयः। लोपो भवति विप्रतिषेधेन॥

गुणवृद्धी च॥ ३॥

भा०—यस्य इत्यादि सूत्र में शी परे रहने पर [अकार-लोप का] प्रतिषेध कहना चाहिये। काण्डे, कुड्ये [काण्ड से प्रथमा द्विवचन में औ विभक्ति। उसके स्थान पर 'नपुंसकाच्च' (७.१.१९) से शी। ['सुडनपुंसकस्य' से नपुंसक को सर्वनाम-स्थान संज्ञा का प्रतिषेध होने से 'यचि भम्' (१.४.१८) से भ संज्ञा होने से लोप प्राप्त होता है।] सौर्ये नाम हिमवतः शृङ्गे (=हिमालय के दो शिखर सूर्य की दिशा, पूर्व दिशा में अवस्थित हैं।) [यहाँ 'सूर्येणैकदिक्' विग्रह के अनुसार 'तेनैकदिक्' (४.३.११२) से अण्। पश्चात् 'टिड्ढाणञ्....' (४.१.१५) से ङीप्। 'सूर्य अ ई' इस दशा में अण् परे रहने पर अकारलोप के पश्चात् 'इ' परे रहने पर अण् के अकार का लोप प्राप्त होता है तथा 'सूर्यतिष्या...' (६.४.१४९) से यलोप भी प्राप्त होता है। प्रस्तुत वार्तिक से अकारलोप का निषेध। अग्रिम वार्तिक 'सूर्यमत्स्ययोर्ङ्याम्' से यलोप का निषेध होगा।]

तो फिर इसे कहा जावे ? नहीं कहना चाहिये। यहाँ ['विभाषा ङिश्योः' से] श्याम् की भी अनुवृत्ति है। ['न संयोगाद्वमन्तात्' से] न की भी। तब [वाक्यभेद से] सम्बन्धमात्र करना है—यस्येति लोप होता है, शी परे रहने पर नहीं।

वा०—इयङ्, उवङ् से विप्रतिषेध से लोप।

भा०—विप्रतिषेध द्वारा इयङ्, उवङ् से लोप पहले होता है। ['अचि श्नु...' (६.४.७७) से] इयङ्, उवङ् का अवकाश है—श्रियौ, श्रियः [जहाँ ईकार तथा तद्धित परे नहीं है।] लोप का अवकाश है—कामण्डलेयः...[जहाँ श्नु, धातु आदि नहीं है] यहाँ दोनों पाते हैं—वात्सप्रेयः। ['वत्सं प्रीणाति' विग्रह के अनुसार 'क्विप् च' (३.२.७६) से क्विप्। पुनः 'चतुष्पाद्भ्यो ढञ्' (४.१.१३५) से ढञ्।] लैखाभ्रेयः [लेखाभ्रू शब्द से शुभ्रादिभ्यश्च (४.१.१२३) से ढक्। विप्रतिषेध द्वारा उवङ् न होकर 'ढे लोपोऽकद्र्वाः' (६.४.१४७) से ऊलोप।]

वा०—गुण, वृद्धि भी।

गुणवृद्धी चेयडुवङ्भ्यां भवतो विप्रतिषेधेन। गुणवृद्ध्योरवकाशः—चेता, गौः। इयङुवङोः स एव। इहोभयं प्राप्नोति—चयनम्, चायकः। लवनम्, लावकः। गुणवृद्धी भवतो विप्रतिषेधेन॥

न वेयङुवङादेशस्यान्यविषये वचनात्॥ ४॥

न वार्थो विप्रतिषेधेन। किं कारणम्? इयङुवङादेशस्यान्यविषये वचनात्। इयङुवङादेशोऽन्यविषय आरभ्यते। किंविषये? यणादेशविषये। स यथैव यणादेशं बाधत एवं गुणवृद्धी अपि बाधेत॥

तस्मात्तत्र गुणवृद्धिविषये प्रतिषेधः॥ ५॥

तस्मात्तत्र गुणवृद्धिविषये प्रतिषेधो वक्तव्यः॥ न वक्तव्यः। मध्येऽपवादाः पूर्वान्विधीन्बाधन्ते, इत्येवमियङुवङादेशो यणादेशं बाधिष्यते गुणवृद्धी न बाधिष्यते॥

सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः॥ ६.४.१४९॥

सूर्यादीनामणन्तेऽप्रसिद्धिरङ्गान्यत्वात्॥ १॥

भा०—विप्रतिषेध द्वारा इयङ्, उवङ् से गुण-वृद्धि भी पहले हो जाते हैं। गुण, वृद्धि का अवकाश है—चेता, गौः ['गोतो णित्' (७.१.९०) से णित्वत् होने से 'अचो ञ्णिति' (७.२.११५) से वृद्धि।] इयङ्, उवङ् का वही। यहाँ दोनों पाते हैं—चयनम्, चायकः...। विप्रतिषेध से गुण, वृद्धि होते हैं।

वा०—इयङ्, उवङ् आदेश के अन्य-विषय में वचन होने से नहीं।

भा०—विप्रतिषेध की आवश्यकता नहीं। क्या कारण है? इयङ्, उवङ् आदेश के अन्य-विषय में आरम्भ होने के कारण से। किस विषय में? यणादेश-विषय में। वह [इयङ्, उवङ्] जिस प्रकार यणादेश को बाधता है, उसी प्रकार गुण, वृद्धि को भी बाधेगा। [इस व्याख्या के अनुसार वार्तिक का आशय यह सिद्ध हुआ कि तुल्य-बल न होने से विप्रतिषेध बनना सम्भव नहीं है। इयङ्, उवङ् अपवाद के स्तर पर गुण, वृद्धि का भी बाधन करने लगेंगे।]

वा०—अतः वहाँ गुण-वृद्धि विषय में प्रतिषेध।

भा०—अतः वहाँ गुण-वृद्धि विषय में [इयङ्, उवङ् का] प्रतिषेध कहना चाहिये। नहीं कहना चाहिये। 'मध्य में स्थित अपवाद पूर्व विधियों को बाधते हैं' इस परिभाषा के अनुसार इयङ्, उवङ् आदेश यणादेश को बाधेंगे, गुण, वृद्धि को नहीं बाधेंगे।

सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः॥

वा०—सूर्य आदि की अणन्त में अप्रसिद्धि, अङ्ग के अन्यत्व होने से।

सूर्यादीनामणन्तेऽप्रसिद्धिः। सौरी बलाका। किं कारणम्? अङ्गान्यत्वात्। अणन्तमेतदङ्गमन्यद् भवति? लोपे कृते नाङ्गान्यत्वम्। स्थानिवद्भावादङ्गान्यत्वं भवति॥

सिद्धं तु स्थानिवत्प्रतिषेधात्॥ २॥

सिद्धमेतत्। कथम्? स्थानिवत्प्रतिषेधात्। प्रतिषिध्यतेऽत्र स्थानिवद्भावः—यलोपविधिं प्रति न स्थानिवद् भवतीति॥ एवमपि न सिध्यति। किं कारणम्? शब्दान्यत्वात्। अन्यो हि सूर्यशब्दोऽन्यः सौर्यशब्दः। नैष दोषः। एकदेशविकृतमनन्यवद्भवतीति भविष्यति॥

उपधाग्रहणानर्थक्यं च॥ ३॥

स्थानिवद्भावे चेदानीं प्रतिषिद्ध उपधाग्रहणमनर्थकम्। किं कारणम्? अन्त्य एव हि सूर्यादीनां यकारः। किं यातमेतद्भवति? सुष्ठु च यातम्, साधु च यातम्, यदि प्राग्भादसिद्धत्वम्। अथ हि सह तेनासिद्धत्वमसिद्धत्वाल्लोपस्य नान्त्यो यकारो भवति।

भा०—सूर्य आदि के [यलोप की] अणन्त में अप्रसिद्धि। सौरी बालका। क्या कारण है? अणन्त होने पर अन्य अङ्ग होने से। [सूर्य अङ्ग न होने से।] लोप करने पर अन्य अङ्ग नहीं होगा। स्थानिवद्भाव से अन्य अङ्ग ही होगा। ['सूर्य' शब्द से 'तेनैकदिक्' (४.३.११२) से अण्। पूर्ववत् ङीप्। अब इस ईकार के परे रहने पर अणन्त अङ्ग है। ङीप् परे होने पर अण् का लोप करने पर भी स्थानिवद्भाव से अणन्त अङ्ग ही है, सूर्य नहीं। अतः इस सूत्र से सूर्य आदि अङ्ग को विहित कार्य प्राप्त नहीं है।]

वा०—सिद्ध है, स्थानिवत् प्रतिषेध से।

भा०—यह सिद्ध है। किस प्रकार? ['न पदान्त...' (१.१.५८) सूत्र से] यलोप-विधि के प्रति स्थानिवद्भाव का प्रतिषेध होने से। तब भी सिद्ध नहीं होता। क्या कारण है? [सूत्र में परिपठित] सूर्य शब्द अन्य है। [गुण-विधि के पश्चात्] सौर्य शब्द अन्य है। यह भी दोष नहीं है। एकदेश-विकृत अनन्य के समान होता है।

वा०—उपधा-ग्रहण का आनर्थक्य भी।

भा०—अब स्थानिवद्भाव के प्रतिषिद्ध होने पर उपधा-ग्रहण अनर्थक है। क्या कारण है? सूर्य आदि का यकार अन्त्य ही है। ['अ ई' इस दशा में दोनों अकारों का लोप कर लेने पर अब 'अलोऽन्त्यस्य' (१.१.५२) के अनुसार अन्तिम यकार का लोप सिद्ध है। अतः उपधा-ग्रहण की आवश्यकता नहीं है।]

क्या इस प्रकार [उपधा कहे बिना] यकार-लोप गतार्थ है? भली प्रकार गतार्थ है। यदि 'भ' से पहले असिद्धत्व है। यदि 'भ' अधिकार को सम्मिलित करते हुए असिद्धत्व है तो लोप के असिद्ध होने से यकार अनन्त्य होता है। [तब

यद्यपि सह तेनासिद्धत्वमेवमपि न दोषः। नैवं विज्ञायते—सूर्यादीनामङ्गानां यकारलोप इति। कथं तर्हि? अङ्गस्य यलोपो भवति स चेत्सूर्यादीनां यकार इति॥ एवमपि सूर्यचरी अत्र प्राप्नोति? तस्मादुपधाग्रहणं कर्तव्यम्॥

'उपधायाः' की आवश्यकता होगी। उपधाग्रहण करने पर ईकार परे रहने पर अण् के लोप का असिद्धत्व होगा। पर अण् परे रहने पर यकार के अकारलोप का व्याश्रय होने से असिद्धत्व नहीं होगा। अतः अन्तिम अण् से पूर्व यकार उपधा प्राप्त हो जाएगी।]

यदि भ अधिकार सम्मिलित करते हुए भी असिद्धत्व हो तो भी दोष नहीं है। यह नहीं समझा जाता—सूर्य आदि अङ्ग के यकार का लोप होता है। [स्थान षष्ठी नहीं है।] तो फिर किस प्रकार? अङ्ग के सूर्य आदि के अवयव यकार का लोप होता है। [अवयव में षष्ठी है। अतः 'अलोऽन्त्यस्य' प्रवृत्त नहीं होगा। तो भी 'सूर्यचरी' यहाँ पर पाता है? [सूर्यस्य स्त्री सूरी भूतपूर्वा' इस अर्थ में 'भूतपूर्वे चरट्' (५.३.५३) से चरट् प्रत्यय। 'सूर्य ई चर' इस दशा में उपधा ग्रहण न करने पर यलोप पाता है। उपधा ग्रहण करने पर 'चर' तद्धित परे रहने पर उपधा में यकार न होने से यलोप नहीं होता। यहाँ 'तसिलादिष्वाकृत्वसुचः' (६.३.४५) से पुंवद्भाव होने से 'ई' की निवृत्ति होती है।] अतः उपधा-ग्रहण करना चाहिए।

विवेचना का निष्कर्ष—१. यहाँ सौरी बलाका में अलोप को स्थानिवद्भाव का प्रतिषेध होने से 'उपधायाः' के बिना भी यकारलोप सिद्ध है।

२. भ से पहले असिद्ध होने पर भी 'उपधायाः' के बिना यकारलोप सिद्ध है।

३. 'भ' अधिकार को सम्मिलित करके असिद्ध मानने पर अन्त में यकार न मिलने से उपधायाः के बिना सिद्ध नहीं है। उपधा-ग्रहण करने पर ईकार परे रहने पर अण्-लोप का असिद्धत्व होगा। अण् परे रहने पर अकार-लोप का असिद्धत्व नहीं होगा। इस प्रकार अण् के वर्तमान बने रहने से उपधा यकार प्राप्त हो सकेगी। यही पक्ष ज्यायान् है। काशिकाकार ने भी मान्य किया है।

४. महाभाष्यकार ने अङ्ग सूर्य का अवयव यकार मानकर इसे सिद्ध करने का प्रयास किया है। परन्तु इस पक्ष में किसी भी स्थान में अवस्थित यकार के लोप की प्राप्ति होती है। जब कि केवल उपधा में अवस्थित यकार का लोप करना चाहते हैं। ऐसा न मानने पर 'सूर्यचरी' आदि में य-लोप प्राप्त होता है। इस प्रकार इस पक्ष में उपधा कहे बिना 'सौरी' सिद्ध होता है, पर 'सूर्यचरी' सिद्ध नहीं होता।

५. तृतीय पक्ष में 'अङ्ग सूर्य के अन्तिम यकार के स्थान में लोप' इस स्थान षष्ठी पक्ष में 'सौरी' में विधान करने के लिये भी तथा 'सूर्यचरी' में निवारण करने के लिये भी 'उपधायाः' की अनिवार्यता होती है।

विषयपरिगणनं च॥ ४॥

विषयपरिगणनं च कर्तव्यम्॥

सूर्यमत्स्ययोर्ङ्याम्॥ ५॥

सूर्यमत्स्ययोर्ङ्यामिति वक्तव्यम्। सौरी, मत्सी॥

सूर्यागस्त्ययोश्छे च॥ ६॥

सूर्यागस्त्ययोश्छे च ङ्यां चेति वक्तव्यम्। सौरी, सौरीयः। आगस्ती आगस्तीयः॥

तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राणि॥ ७॥

तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राणि लोपो वक्तव्यः। तैषम्, पौषः॥

अन्तिकस्य तसि कादिलोप आद्युदात्तत्वं च॥ ८॥

अन्तिकस्य तसि कादिलोपो वक्तव्य आद्युदात्तत्वं च वक्तव्यम्। अन्तितो न दूरात् (ऋ० २.२७.१३)॥

वा०—विषय-परिगणन भी।

भा०—विषय-परिगणन भी करना चाहिये।

वा०—सूर्य, मत्स्य का ङी परे रहने पर।

भा०—सूर्य, मत्स्य का ङी परे रहने पर [यलोप] कहना चाहिये। सौरी, मत्सी। [इससे अण् परे रहने पर 'सौर्यं चरुं निर्वपेत्' आदि में नहीं होता।

वा०—सूर्य, अगस्त्य का छ तथा ङी परे रहने पर।

भा०—सूर्य, अगस्त्य का छ तथा ङी परे रहने पर [यलोप] कहना चाहिये। सौरी, सौरीयः। [यहाँ 'सूर्यस्यायम्' विग्रह के अनुसार 'वृद्धाच्छः' (४.२.११४) से छ।] आगस्ती, आगस्तीयः। ['अगस्त्यस्यापत्यम्' विग्रह के अनुसार 'ऋष्यन्धक...' (४.१.११४) से अण्। तदन्त से ङीप्। पुनः 'आगस्त्या अयम्' विग्रह के अनुसार पुनः पूर्वोक्त से छ।]

वा०—तिष्य, पुष्य का नक्षत्र के अण् परे रहने पर।

भा०—तिष्य, पुष्य का नक्षत्र-सम्बन्धी अण् परे रहने पर यलोप कहना चाहिये। तैषम्, पौषः। ['तैषम्' में 'तिष्येण युक्तम् अहः' विग्रह के अनुसार 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' (४.३.३) से अण्। 'पौषः' में 'पुष्ये भवः' विग्रह के अनुसार 'तत्र भवः' (४.३.५३) से अण्।]

वा०—अन्तिक का तस् परे रहने पर कादिलोप तथा आद्युदात्त भी।

भा०—अन्तिक का तस् परे रहने पर 'क' आदि में है जिस समुदाय के उसका लोप तथा आदि अक्षर को उदात्त भी कहना चाहिये। अन्तितो न दूरात्।

तमे तादेश्च कादेश्च लोपो वक्तव्यः। अग्ने त्वं नो अन्तमः (ऋ० ५.२४.१)। अन्तितमो अवरोहति॥

तसीत्येष न वक्तव्यो दृष्टो दाशतयेऽपि हि।

द्यौ लोपोऽन्तिषदित्यत्र

अन्तिषत्॥

तथाद्यौ येऽन्त्यथर्वसु॥

अन्तिये च दूरके॥

बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक्॥ ६.४.१५३॥

छग्रहणं शक्यमकर्तुम्। इह कस्मान्न भवति—बिल्वकेभ्यः? भस्येति वर्तते॥

['अन्तिक' शब्द से अपादान में 'अपादाने चाहीयरुहोः' (५.४.४५) से तसि। इस वार्तिक से कादि-लोप।]

'तम' प्रत्यय परे रहने पर [अन्तिक शब्द के] तादि अर्थात् 'तिक' का तथा कादि अर्थात् 'क' का लोप कहना चाहिये। अग्ने त्वं नो अन्तमः (=हे अग्नि! तुम हमारे बहुत समीप हो)। अन्तितमो अवरोहति।

का०—तस् परे रहने पर [कादिलोप] नहीं कहना चाहिये। दाशतय (=ऋग्वेद, 'दश अवयवा यस्य' विग्रह के अनुसार दस मण्डल वाला) में द्यु अर्थात् उत्तरपद (इस अर्थ में पूर्वाचार्यों द्वारा प्रदत्त संज्ञा है।) परे रहने पर 'अन्तिषत्' यह रूप देखा गया है। [यह शब्द 'अन्तिके सीदति' विग्रह के अनुसार 'सत्सूद्विष....' (३.२.६१) सूत्र से क्विप् प्रत्यय होकर निष्पन्न है। यहाँ 'पूर्वपदात्' (८.३.१०४) से षत्व हुआ है। यहाँ 'अन्ति' उपपद से यह निष्पन्न शब्द प्रमाण है कि समीप अर्थ में 'अन्ति' शब्द भी है। इससे ही 'अन्तितः' शब्द निष्पन्न होगा। अतः कादिलोप की आवश्यकता नहीं।]

तथा अथर्ववेद में उत्तरपद परे न होने पर भी 'य' अर्थात् यत् प्रत्यय परे रहने पर 'अन्ति' का प्रयोग देखा जाता है। अन्तिये च दूरके (=समीप तथा दूर वाले स्थानों में।) [यहाँ अन्तिय शब्द 'अन्ति' शब्द से 'भवे च्छन्दसि' (४.४.११०) से यत् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न है। इससे भी 'अन्ति' शब्द का अस्तित्व प्रमाणित है।]

बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक्॥

भा०—यहाँ 'छ' ग्रहण न करने पर भी कार्य सिद्ध हो सकता है। तब 'बिल्वकेभ्यः' यहाँ क्यों नहीं होता? [बिल्व शब्द से 'अल्पे' (५.३.८५) सूत्र से 'क' प्रत्यय होने पर इस 'बिल्वक' से उत्तर भ्यस् के लोप की प्राप्ति होती है। समाधान—] 'भस्य' की अनुवृत्ति है। [सामर्थ्य से पञ्चमी में विभक्ति विपरिणाम कर लेने पर 'भ' से उत्तर लोप होगा। यहाँ बिल्वक भसंज्ञक नहीं है।]

एवमपि बिल्वकाय अत्र प्राप्नोति? तद्धितस्येति वर्तते॥ एवमपि बिल्वकस्य विकारोऽवयवो वा बैल्वकः, अत्र प्राप्नोति? तद्धिते तद्धितस्येति वर्तते॥ एवमपि बिल्वकीयायां भवो बैल्वकः, बैल्वकस्य किंचिद्बैल्वकीयम्, अत्र प्राप्नोति? न स बिल्वकात्। बिल्वकादिभ्यो यो विहित इत्युच्यते न चासौ बिल्वकशब्दाद्विहितः। किं तर्हि? बिल्वकीयशब्दात्॥ एवं तर्हि सिद्धे सति यच्छग्रहणं करोति, तज्ज्ञापयत्याचार्यः—भवत्येषा

तो भी 'बिल्वकाय' यहाँ विभक्ति-लुक् की प्राप्ति होती है? ['हलस्तद्धितस्य' (६.४.१५०) से] तद्धितस्य की अनुवृत्ति है। [विभक्ति तद्धित नहीं है।] फिर भी बिल्वकस्य विकारः अवयवो वा अर्थ में बैल्वकः में पाता है? [यहाँ इस अर्थ में 'अनुदात्तादेश्च' (४.३.१४०) से अञ्। इस प्रत्यय के लोप की प्राप्ति है।] यहाँ तद्धिते, तद्धितस्य की अनुवृत्ति है। ['नस्तद्धिते' (६.४.१४४) से तद्धिते की अनुवृत्ति होने पर 'बिल्वकादि भसंज्ञक से परे तद्धित का तद्धित परे रहने पर लुक्' यह अर्थ होगा। यहाँ अञ् से परे तद्धित न होने से लोप नहीं होगा।]

फिर भी बिल्वकीयायां भवः बैल्वकः, बैल्वकस्य किञ्चित् बैल्वकीयम्। यहाँ [अण् का लुक्] प्राप्त होता है। [यहाँ 'बिल्वा विद्यन्ते अस्याम्' विग्रह के अनुसार 'नडादीनां कुक् च' (४.२.९१) से छ प्रत्यय तथा कुक् आगम। इस प्रकार निष्पन्न बिल्वकीया से 'तत्र भवः' (४.३.५३) से अण्। इसके परे रहने पर प्रस्तुत सूत्र से छ का लोप। इस प्रकार बैल्वक निष्पन्न। इस बैल्वक से 'वृद्धाच्छः' (४.२.११४) से छ। यहाँ पर सूत्र में 'छस्य' ग्रहण न करने की स्थिति में इस छ परे रहने पर पूर्व स्थित अण् के लुक् की प्राप्ति होती है। इसके लुक् होने की दशा से 'न लुमताऽङ्गस्य' (१.१.६३) से प्रत्यय-लक्षण का प्रतिषेध होने से आदि-वृद्धि न हो पाती।]

यह बिल्वक से नहीं है। बिल्वक से जो विहित [छ] प्रत्यय उसका लुक् कहा गया है। यह [अण् प्रत्यय] बिल्वक से विहित नहीं है। तो फिर किससे? बिल्वकीय शब्द से।

विवरण—वास्तव में यहाँ छ प्रत्यय 'बिल्वक' से विहित नहीं है। अपितु पूर्वोक्त सूत्र द्वारा बिल्व से छ प्रत्यय तथा कुक् आगम एक साथ विहित हैं। अतः व्याख्याकार महाभाष्य के इस प्रबन्ध का प्रयत्नपूर्वक अर्थ निकालना चाहते हैं—भावी कुक् आगम वाले बिल्व आदि से उत्पन्न प्रत्यय का तद्धित परे रहने पर लुक्। इस अर्थ के अनुसार बिल्वक से सन्निहित छ का अण् परे रहने पर लुक् होगा। परन्तु बिल्वकीय से विहित अण् का छ परे रहने पर लुक् नहीं होगा।

भा०—इस प्रकार सिद्ध होने पर भी जो छ ग्रहण किया है, उससे आचार्य ज्ञापित करते हैं

परिभाषा—'संनियोगशिष्टानामन्यतराभाव उभयोरप्यभाव' इति। तस्माच्छ-ग्रहणं कर्तव्यम्, छस्यैव लुग्यथा स्यात्कुको मा भूदिति॥

तुरिष्ठेमेयःसु॥ ६.४.१५४॥

तुः सर्वस्य लोपो वक्तव्योऽन्त्यस्य लोपो मा भूदिति। स तर्हि वक्तव्यः ? न वक्तव्यः।

तुः सर्वलोपविज्ञानमन्त्यस्य वचनानर्थक्यात्॥ १॥

तु सर्वलोपो विज्ञायते। कुतः ? अन्त्यस्य वचनानर्थक्यात्। अन्त्यस्य लोपवचने प्रयोजनं नास्तीति कृत्वा सर्वस्य भविष्यति॥

अथवा लुक्प्रकृतः सोऽनुवर्तिष्यते। अशक्यो लुगनुवर्तयितुम्। किं कारणम् ? विजयिष्ठकरिष्ठयोर्गुणदर्शनात्। विजयिष्ठकरिष्ठयोर्गुणो दृश्यते। विजयिष्ठः। आसुतिं करिष्ठः (ऋ० ७.९७.७)॥

कि यह परिभाषा होती है—'सन्नियुक्त या एक साथ अनुशासित आगम, प्रत्यय में से एक का अपाय होने पर अन्य का भी स्वतः अपाय हो जाता है।' इसलिये छ ग्रहण करना चाहिये। ताकि छ का ही लुक् हो, [सन्नियुक्त अनुशासित आगम] कुक् का लुक् न हो।

विवरण—प्रस्तुत उदाहरण के अनुसार जिस नगरी में बेल के फल बहुत हैं, उसे 'बिल्वकीया' कहते हैं। उसमें रहने वाले मनुष्यों को 'बैल्वक' कहते हैं। उसके धन को 'बैल्वकीयं धनम्' कहते हैं। उसे 'बिल्वकीयम्' नहीं कहा जावे, इसके लिये प्रस्तुत प्रबन्ध है।

तुरिष्ठेमेयःसु॥

भा०—सम्पूर्ण तृ शब्द का लोप कहना चाहिये। ताकि ['अलोऽन्त्यस्य' के अनुसार] अन्त्य को न हो जावे। तो फिर कहना चाहिये ? नहीं कहना चाहिये।

वा०—सम्पूर्ण लोप का विज्ञान, अन्त्य-वचन के आनर्थक्य से।

भा०—इस सूत्र से सम्पूर्ण 'तृ' का लोप समझा जाता है। किस प्रकार ? अन्त्य के लोप-वचन का आनर्थक्य होने से। अन्त्य के लोप-वचन का उपयोग नहीं है, [क्योंकि अन्त्य-लोप तो 'टेः' (६.४.१५५) से ही सिद्ध हो जाता है।] अतः सम्पूर्ण का ही लोप होगा।

अथवा—लुक् प्रकृत है, उसका अनुवर्तन करेंगे। [प्रत्यय के अदर्शन की ही लुक् संज्ञा होने से सम्पूर्ण प्रत्यय का लुक् हो सकेगा।]

लुक् का अनुवर्तन सम्भव नहीं है। क्या कारण है ? विजयिष्ठ, करिष्ठ में गुण देखे जाने से। विजयिष्ठः, आसुतिङ्करिष्ठः। [यहाँ विजेतृ शब्द से 'तुश्छन्दसि'

टेः ॥ ६.४.१५५ ॥

णाविष्ठवत्प्रातिपदिकस्य

णौ प्रातिपदिकस्येष्ठवद्भावो वक्तव्यः। किं प्रयोजनम्?

पुंवद्भावरभावटिलोपयणादिपरार्थम्॥ १॥

पुंवद्भावार्थम्—एनीमाचष्ट—एतयति, श्येतयति। रभावार्थम्—पृथुमाचष्टे—प्रथयति, म्रदयति। टिलोपार्थम्—पटुमाचष्टे—पटयति। यणादिपरार्थम्—स्थूलमाचष्टे—स्थवयति, दवयति॥ किं पुनरिदं परिगणनमाहोस्विदुदाहरणमात्रम्? उदाहरणमात्रमित्याह। प्रादयोऽपि हीष्यन्ते—प्रियमाचष्टे— प्रापयतीति॥

भारद्वाजीयाः पठन्ति—'णाविष्ठवत्प्रातिपदिकस्य पुंवद्भावरभाव-

(५.३.५९) से इष्ठन् प्रत्यय। यदि यहाँ 'तृ' का लुक हो तो 'न लुमताङ्गस्य' (१.१.६३) से प्रत्ययलक्षण-प्रतिषेध होने से गुण नहीं हो सकेगा।]

टेः ॥

वा०—णि परे रहने पर प्रातिपदिक का इष्ठवद्भाव।

भा०—णि परे रहने पर प्रातिपदिक का इष्ठवद्भाव कहना चाहिये। क्या प्रयोजन है?

वा०—पुंवद्भाव, रभाव, टिलोप, यणादिपर के लिये।

भा०—पुंवद्भाव के लिये—एनीमाचष्टे एतयति...। ['तसिलादिष्वाकृत्वसुचः' (६.३.३५) से तसिलादि के अन्तर्गत होने से इष्ठ परे रहने पर पुंवद्भाव होता है। इस वार्तिक से यह कार्य णि परे रहने पर भी हो जाता है।]

रभाव के लिये—प्रथयति, म्रदयति। ['र ऋतो हलादेर्लघोः' (६.४.१६१) से इष्ठ परे रहने पर विहित रभाव णिच् परे रहने पर भी होता है।]

टिलोप—पटुमाचष्टे पटयति। [पटु शब्द से 'तत्करोति, तदाचष्टे' (धातुपाठ (चुरा० ३३८, ३३९) में परिपठित सूत्र से णिच्। इष्ठवद्भाव होने से 'टेः' (६.४.१५५) से टिलोप।]

यणादिपर के लिये—दूरमाचष्टे दवयति। [दूर शब्द से 'स्थूलदूर...' (६.४.१५६) से णिच् परे रहने पर भी यणादिपर का लोप तथा पूर्व का गुण।]

क्या यह परिगणन है या उदाहरणमात्र है? उदाहरणमात्र है, ऐसा कहते हैं। ['प्रियस्थिरोरु...' (६.४.१५७) से णिच् परे रहने पर 'प्र' आदि आदेश भी अभीष्ट हैं। प्रियमाचष्टे प्रापयति [प्र आदेश के पश्चात् वृद्धि तथा 'अर्तिह्री...' (७.३.३६) से पुक् आगम।] [इसके प्रमाण के लिये—] भारद्वाजीय आचार्य पढ़ते हैं—णि परे रहने पर प्रातिपदिक का इष्ठवद्भाव होता है, पुंवद्भाव, रभाव,

टिलोपयणादिपरप्रादिविन्मतोर्लुक्कन्विध्यर्थम्' इति॥

इष्ठस्य यिट् च॥ ६.४.१५९॥

किमयं यिशब्दः, आहोस्विद्यकारः? किं चातः? यदि लोपोऽप्यनुवर्तते, ततो यिशब्दः। अथ निवृत्तं, ततो यकारः॥

ज्यादादीयसः॥ ६.४.१६०॥

किमर्थं ज्यात्परस्येयस आत्त्वमुच्यते, न लोपः प्रकृतः सोऽनुवर्तेत? का रूपसिद्धिः—ज्यायान्? अकृद्यकार इति दीर्घत्वं भविष्यति॥ एवं तर्हि सिद्धे सति यज्ज्यात्परस्येयस आत्त्वं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यः—भवत्येषा परिभाषा—'अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिः' इति। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्? पिबेर्गुणप्रतिषेधश्चोदितः स न वक्तव्यो भवति॥

टिलोप, यणादिपर, प्रादि आदेश, विन्, मत् का ['विन्मतोर्लुक्' (५.३.६५) से] लुक् तथा ['युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्' (५.३.६४) से] कन् की विधि के लिये।

इष्ठस्य यिट् च॥

भा०—यह यि शब्द [इकारान्त समुदाय 'यि' आगम है] अथवा यकार मात्र है। [इकार उच्चारणार्थ है।] इससे क्या? यदि लोप भी अनुवृत्त है तो यि शब्द। [तब अर्थ होगा—बहु से परे इष्ठ के आदि का लोप यिट् आगम भी। तभी भूयिष्ठः बन सकेगा।] यदि निवृत्त है तो [लोप का अपवाद] यकार आगम। [प्रक्रिया-लाघव होने से यही अन्तिम पक्ष समुचित है।]

ज्यादादीयसः॥

भा०—यहाँ ज्य से परे ईयस् का आत्व-विधान क्यों कर रहे हैं, ऐसा क्यों नहीं कि लोप प्रकृत है, उसका अनुवर्तन कर लेवें? [इससे 'ज्य ईयस्' इस दशा में 'आदेः परस्य' (१.१.५४) के अनुसार ईयस् के आदि ईकार का लोप हो सकेगा।] तब रूप कैसे बनेगा—ज्यायान्। अकृत् यकार को मानकर विहित सूत्र 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' (७.४.२५) से दीर्घ हो जाएगा।

अच्छा तो फिर, इस प्रकार सिद्ध होने पर भी जो ज्य से परे ईयस् का आत्व करते हैं, उससे आचार्य ज्ञापित करते हैं कि यह परिभाषा सम्पन्न होती है—'अङ्ग में एक बार कार्य निष्पन्न होने पर दूसरी बार उस अङ्ग को ही अन्य कार्य विधान का अवसर हो तो वह नहीं होता।'

इसके ज्ञापन में क्या प्रयोजन है? 'पाघ्राध्मा...' (७.३.७८) सूत्र से पा के स्थान में हलन्त पिब् आदेश मानने पर गुण-प्रतिषेध कहा गया है, उसके कहने की आवश्यकता नहीं होगी।

अथ किमर्थं ज्यात्परस्येयसो दीर्घ उच्यते, न अकार एवोच्येत ? का रूपसिद्धिः—ज्यायान् ? आन्तर्यतो दीर्घस्य दीर्घो भविष्यति॥ एवं तर्हि सिद्धे सति यद्दीर्घग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः—भवत्येषा परिभाषा—'भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न' इति॥

र ऋतो हलादेर्लघोः॥ ६.४.१६१॥

कथमिदं विज्ञायते—हलादेरङ्गस्येति, आहोस्विद्धलादेर्ऋकारस्येति ? युक्तं पुनरिदं विचारयितुम् ? नन्वनेनासंदिग्धेनाङ्गविशेषणेन भवितव्यम् ? कथं ह्यृकारस्य नाम हलादिः स्यादन्यस्यान्यः ? अयमादिशब्दोऽस्त्येवावयववाची। तद्यथा—ऋगादिः अर्धर्चादिः श्लोकादिरिति। अस्ति सामीप्ये वर्तते। तद्यथा— दधिभोजनमर्थसिद्धेरादिः। दधिभोजनसमीपे। घृतभोजनमारोग्यस्यादिः। घृतभोजनसमीपे। यावता सामीप्येऽपि वर्तते, जायते विचारणा—हल्समीपस्यर्कारस्य स्यादथवा हलादेरङ्गस्येति। किं चातः ?

[प्रसङ्गान्तर-] अच्छा, ज्य से उत्तर ईयस् को दीर्घ आकार आदिष्ट क्यों किया है ? ऐसा क्यों नहीं कि अकार ही आदिष्ट कर देवें ? [तपर-विरहित 'ज्याद ईयसः' इस प्रकार सूत्र-पाठ रखें।] इससे रूप किस प्रकार सिद्ध होगा—ज्यायान् ? अकार का सवर्ण-ग्रहण होने पर आन्तर्य से दीर्घ ईकार के स्थान में दीर्घ आकार आदिष्ट होगा।

अच्छा तो फिर इस प्रकार सिद्ध होने पर भी जो [तपर करते हुए] दीर्घ ग्रहण करते हैं, उससे आचार्य ज्ञापित करते हैं कि यह परिभाषा होती है कि—'भाव्यमान= विधीयमान से सवर्ण ग्रहण नहीं होता।' [यहाँ 'अ' आदेश विधीयमान है। इस परिभाषा के द्वारा 'अणुदित्...' (१.१.६९) सूत्र से सवर्ण-ग्रहण का बाध होने से दीर्घ आकार प्राप्त नहीं था। अतः तपर आत् का विधान सार्थक है।]

र ऋतो हलादेर्लघोः॥

भा०—यहाँ किस प्रकार समझा जाता है—हलादि अङ्ग को या हलादि ऋकार को। [विशेषण-विशेष्य भाव में कामचार होने से हलादि का सम्बन्ध किसी के भी साथ हो सकता है। अतः यहाँ किसके साथ हो, यह प्रश्न है।]

क्या यहाँ यह विचार समुचित है। यहाँ तो निःसन्दिग्ध रूप से [हलादि को] अङ्ग का विशेषण होना चाहिये। परन्तु [ऋकार का विशेषण होने पर] यह ऋकार किस प्रकार हल् आदि वाला हो सकता है—अन्य का अन्य।

यह आदि शब्द अवयववाची है। जैसे—ऋगादिः...(=ऋग्वेद का प्रारम्भ वाला भाग)। यह सामीप्य अर्थ में भी है। जैसे—दधिभोजनम्...(=दही का भोजन अर्थसिद्धि के समीप तथा घृत का भोजन आरोग्य के समीप में है।) यह जब सामीप्य अर्थ में भी है तो यह विचार हो सकता है कि 'हल् के समीप ऋकार' अथवा 'हल् आदि वाला अङ्ग' इसमें से क्या अर्थ है ? इससे क्या ?

यदि विज्ञायते—हलादेरङ्ग-स्येति, अप्रथीयान्, अम्रदीयान् अत्र न प्राप्नोति। अथ विज्ञायते—हलादेर्ऋकारस्येति, अनृचीयान् अत्रापि प्राप्नोति। उभयथा स्वृचीयानित्यत्र प्राप्नोति। यथेच्छसि तथास्तु॥ अस्तु तावद्—हलाादेरङ्ग-स्येति। कथमप्रथीयान् ? तद्धितान्तेन समासो भविष्यति। न प्रथीयान-प्रथीयानिति। भवेत्सिद्धं यदा तद्धितान्तेन समासः, यदा तु खलु समासात्त-द्धितोत्पत्तिस्तदा न सिध्यति। नैव समासात्तद्धितोत्पत्त्या भवितव्यम्। किं कारणम् ? बहुव्रीहिणोक्तत्वान्मत्वर्थस्य। भवेद्यदा बहुव्रीहिस्तदा न स्याद्, यदा तु खलु तत्पुरुषस्तदा प्राप्नोति—न पृथुरपृथुः—अयमप्यपृथुः, अयमप्यपृथुः, अयमनयोरतिशयेनाप्रथुः—अप्रथीयानिति ?

यदि यह समझा जाता है—'हलादि अङ्ग का' तो अप्रथीयान्... यहाँ नहीं पाता। [अपृथु से ईयसुन् होने पर यह हलादि अङ्ग नहीं है।]

यदि यह समझा जाता है—हल्-समीप ऋकार तो 'अनृचीयान्' यहाँ भी पाता है। ['न सन्ति ऋचो येषां तेऽनृचाः माणवकाः' इस विग्रह के अनुसार 'ऋक्पूरब्धूः..' (५.४.७४) से समासान्त अ प्रत्यय कर लेने पर 'ते सन्ति यस्मिन् देशे' इस अर्थ में मतुप् होकर 'अनृचवान्'। इससे ईयसुन् प्रत्यय होने पर 'विन्मतोलुक्' (५.३.६५) से मतुप् का लुक्। यहाँ 'अनृच' अङ्ग हलादि नहीं है। पर ऋकार के हल्समीप होने से पाता है।]

दोनों ही दशाओं में 'स्वृचीयान्' यहाँ पाता है। ['स्वृग्वत्' शब्द से पूर्ववत् ईयसुन्, मतुप्-लुक्।] जो पक्ष चाहे उसे रहने देवें।

अच्छा हलादि अङ्ग—यह पक्ष मान्य होवे। तब 'अप्रथीयान्' किस प्रकार सिद्ध होगा? तद्धितान्त से [नञ्] समास हो जाएगा—'न प्रथीयान् अप्रथीयान्' इस प्रकार। ठीक है, जब तद्धितान्त से समास होगा, तब सिद्ध हो जाएगा। पर जब समास [अपृथु से ईयसुन्] तद्धित की उत्पत्ति होती है, तब सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार के समास से तद्धित उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये। क्या कारण है ? बहुव्रीहि के द्वारा मत्वर्थ के उक्त हो जाने से। [१. 'अपृथु' शब्द तत्पुरुष हो या बहुव्रीहि—उसके गुणवाचक न होने से उससे ईयसुन् उत्पन्न नहीं होता। २. यदि बहुव्रीहि से मत्वन्त से ईयसुन् मानें तो वह भी ठीक नहीं। क्योंकि बहुव्रीहि से अन्य पदार्थ के उक्त होने से उस बहुव्रीहि से मतुप् हो नहीं सकता। ३. यदि तत्पुरुष से मतुप् मानें तो वह भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि अन्य पदार्थ का प्रकाशन करना हो तो लाघव से बहुव्रीहि होगा। तत्पुरुष से मतुप् नहीं होगा। यहाँ महाभाष्यकार ने द्वितीय पक्ष की व्याख्या की है।]

ठीक है, जब बहुव्रीहि है, तब [ईयसुन्] नहीं होगा। [बहुव्रीहि के गुणवाचक न होने से तथा बहुव्रीहि से मतुप् की उत्पत्ति सम्भव न होने से।] पर जब यह तत्पुरुष है, तब [ईयसुन्] पाता है। न पृथुः अपृथुः... [इत्यादि विग्रह के अनुसार।]

न समासादजादिभ्यां भवितव्यम्। किं कारणम्? गुणवचनादित्युच्यते, न च समासो गुणवचन इति। यदा तर्हि समासाद्विन्मतुपौ, विन्मतुबन्ता-दजादी, तदा प्राप्नुतः। अविद्यमानाः पृथवोऽपृथवः, अपृथवोऽस्य सन्ति—अपृथुमान्। अयमप्यपृथुमान्, अयमप्यपृथुमान्। अयमनयोरतिशयेना-प्रथीयानिति? नैष दोषः। अपृथव एव न सन्ति कुतो यस्यापृथव इति॥ इह कस्मान्न भवति—मातयति, भ्रातयति? लोपोऽत्र बाधको भविष्यति। इदमिह सम्प्रधार्यम्—टिलोपः क्रियतां रभाव इति, किमत्र कर्तव्यम्? परत्वाद्रभावः॥ यदि पुनरवशिष्टस्य रभाव उच्येत? नैवं शक्यम्।

[तत्पुरुष] समास से अजादि [ईयसुन्, इष्ठन्] प्रत्यय उत्पन्न ही नहीं होंगे। क्या कारण है? ['अजादी गुणवचनादेव' (५.३.५८) में] 'गुणवचनात्' कहा है। समास गुणवाचक नहीं है। ['गुणमुक्तवान् गुणवचनः' इस विग्रह के अनुसार जो गुणवाचक होकर द्रव्यवाचक हो, वह गुणवचन कहा जाएगा। यह समास कभी भी इस प्रकार का गुणवाचक नहीं है। पूर्वोक्त विवरण के प्रथम पक्ष की व्याख्या है।]

अच्छा तो फिर जब [तत्पुरुष] समास से विन्-मतुप् होते हैं, विन्मतुबन्त से अजादि [ईयसुन्, इष्ठन्] तब वे प्राप्त होते हैं। अविद्यमानाः पृथवः—अपृथवः... [आदि विग्रह के अनुसार।]

यह दोष नहीं है। [मतुप् की प्रकृति 'अपृथु' ही नहीं है तो अपृथु वाला [मतुबर्थ] किस प्रकार हो जाएगा? [पूर्वोक्त तृतीय पक्ष की व्याख्या। तत्पुरुष समास वाली अपृथु मतुप् की प्रकृति नहीं बन सकेगी। यदि अन्यपदार्थ द्योतन करना अभीष्ट होगा तो तत्पुरुष से मतुप् द्वारा नहीं, अपितु सीधे बहुव्रीहि द्वारा होगा।]

विवरण—इस प्रकार सिद्ध हुआ कि अप्रथीयान् में समास से तद्धित उत्पत्ति नहीं होगी। अपितु तद्धित उत्पत्ति के पश्चात् समास होगा। इस प्रकार हलादि अङ्ग मिलने से पहले प्रथीयान् बनेगा। पश्चात् समास होकर 'अप्रथीयान्' सिद्ध होगा।

भा०—[प्रसङ्गान्तर-] यहाँ [रेफ आदेश] क्यों नहीं होता—मातयतिः...। [औणादिक प्रत्ययों को अव्युत्पन्न मानते हुए यहाँ औणादिक तृच् प्रत्यय का 'तुरिष्ठेमेयःसु' (६.४.१५४) से लोप नहीं हुआ है।]

यहाँ ['टेः' (६.४.१५५) सूत्र से विहित] टिलोप बाधक हो जाएगा। अच्छा तो फिर यह सम्प्रधारणा करें—लोप करें या रभाव, क्या करना चाहिये? परत्व से रभाव। यदि अवशिष्ट को रभाव करें तो [यहाँ टिलोप का भी अनुवर्तन करेंगे। इससे अन्तिम तृ शब्द का टिलोप तथा अवशिष्ट अनन्त्य का रभाव, यह अर्थ होगा। इससे यहाँ 'मातयति' में अन्तिम ऋ का रभाव नहीं होगा।] यह सम्भव नहीं है।

इहापि प्रसज्येत—कृतमाचष्टे कृतयतीति॥ एवं तर्हि परिगणनं कर्तव्यम्—पृथुमृदुभृशकृशदृढपरिवृढानामिति वक्तव्यम्॥

प्रकृत्यैकाच्॥ ६.४.१६३॥

प्रकृत्यैकाजिति किमिष्ठेमेयःसु, आहोस्विदविशेषेण? किं चातः? यद्यविशेषेण, स्वी, खी, शौवम्, अधुनेत्यत्रापि प्राप्नोति। स्विखिनावेव न स्तः। कथम्? उक्तमेतद्—'एकाक्षरात्कृतो जातेः सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ'। स्ववान्, खवानित्येव भवितव्यम्। शौवमिति परत्वादैजागमे कृते टिलोपेन भवितव्यम्। अधुनेति सप्रकृतिकस्य सप्रत्ययकस्य स्थाने निपातनं क्रियते॥

यहाँ भी पाएगा—कृतमाचष्टे—कृतयति। [यहाँ अन्तिम टि का लोप के साथ अनन्तिम ऋ को रभाव की प्राप्ति होगी।

अच्छा तो फिर, परिगणन करना चाहिये—

'केवल पृथु, मृदु, भृश, कृश, दृढ, परिवृढ इनके ऋकार को ही रभाव' यह कहना चाहिये। [इससे अन्यत्र नहीं होगा।]

प्रकृत्यैकाच्॥

भा०—प्रस्तुत प्रकृत्यैकाच् से प्रकृतिभाव इष्ठ, इमन्, ईयसुन् परे रहने पर होता है, या सामान्यतः तद्धितमात्र परे होने पर। [यदि प्रत्यासत्ति से अनन्तर इष्ठ आदि की अपेक्षा करते हैं तो प्रथम पक्ष, यदि 'तद्धिते' की अनुवृत्ति कार्यशील है तो द्वितीय पक्ष प्रभावी होता है।] इससे क्या?

यदि सामान्यतः तद्धितमात्र परे रहने पर है तो स्वी, खी, आदि में भी [प्रकृतिभाव] प्राप्त होता है। [प्रकृतिभाव होने की दशा में स्वी, खी में क्रमशः स्व, ख से 'अत इनिठनौ' (५.२.११५) से इनि कर लेने पर 'यस्येति च' से अकारलोप नहीं हो सकेगा। 'शौवम्' में 'शुनो विकारोऽवयवो वा' इस विग्रह के अनुसार 'प्राणि-रजतादिभ्योऽञ्' (४.३.१५४) से अञ् करने पर 'नस्तद्धिते' से टिलोप नहीं हो सकेगा। 'अधुना' में इदम् शब्द से 'अधुना' (५.३.१७) सूत्र द्वारा अधुना प्रत्यय करने पर 'इदम इश्' (५.३.३) से सम्पूर्ण इदम् के स्थान में इश् आदेश करने पर 'यस्येति च' से इकार-लोप नहीं हो सकेगा।]

[दोषनिवारक-] स्वी, खी शब्द ही नहीं है। ['अत इनिष्ठनौ' (५.२.११५) में श्लोक-वार्तिक रूप में कहा गया है कि]—'एकाक्षरात्...' [अर्थ वहीं देखें]। अतः स्ववान्, खवान् यही [रूप मतुप् प्रत्यय द्वारा] निष्पन्न होता है।

'शौवम्' में परत्व से ऐच् आगम करने पर टिलोप हो जाएगा। [ऐच् आगम के पश्चात् 'एकाच्' न होने से प्रकृतिभाव नहीं होगा।]

'अधुना' में प्रकृति-सहित तथा प्रत्यय-सहित के स्थान में निपातन करते हैं।

इह तर्हि प्राप्नोति—द्रव्यम्?

'यस्य' इत्यादौ प्रकृतिभावः। 'यस्य' इति यस्य लोपप्राप्तिस्तस्य प्रकृतिभावो न चैतानि 'यस्य' इत्यादौ॥ एवमपि श्रियै हितः श्रीयः, ज्ञा देवतास्य स्थालीपाकस्य ज्ञः स्थालीपाक इत्यत्र प्राप्नोति—तस्मादिष्ठेमेयःसु प्रकृतिभावः॥

अथेष्ठेमेयःसु प्रकृतिभावे किमुदाहरणम्? प्रेयान्, प्रेष्ठः। नैतदस्ति। प्रादीनामसिद्धत्वान्न भविष्यति॥ इदं तर्हि—श्रेयान्, श्रेष्ठः।

प्रकृत्यैकाजिष्ठेमेयःसु चेदेकाच उच्चारणसामर्थ्यादवचनात्प्रकृतिभावः॥ १॥

[इदम् के स्थान में अश् आदेश तथा धुना प्रत्यय का निपातन है। अनजादि प्रत्यय परे होने से अलोप का तथा उसके प्रकृतिभाव का कोई प्रश्न नहीं है।]

तब यहाँ [प्रकृतिभाव] प्राप्त होता है—द्रव्यम्। ['द्रु' शब्द से 'द्रोर्विकारः' इस अर्थ में 'द्रोश्च' (४.३.१६१) से यत् प्रत्यय। यहाँ प्रकृतिभाव होने पर 'ओर्गुणः' (६.४.१४६) से गुण नहीं हो सकेगा।

'यस्य...' सूत्र तथा अग्रिम की अपेक्षा से प्रकृतिभाव है। 'यस्येति च' इत्यादि सूत्रों से जिसे लोप की प्राप्ति है, उसे प्रकृतिभाव होता है। यह [गुण] 'यस्य' अधिकार में नहीं है।

फिर भी श्रियै हितः श्रीयः..., 'ज्ञः स्थालीपाकः' यहाँ [प्रकृतिभाव] पाता है। ['श्रीयः' में 'प्राक्क्रीताच्छः (५.१.१) के अधिकार में 'तस्मै हितम्' (५.१.५) से छ। 'श्री ईय' इस दशा में यदि इससे प्रकृतिभाव हो यस्येति लोप नहीं हो सकेगा।] 'ज्ञः' में ज्ञा शब्द से 'सास्य देवता' (४.२.२३) से अण्। यहाँ भी प्रकृतिभाव पाता है। अतः अनन्तर इष्ठ, इम, ईयसुन् परे रहने पर ही प्रकृतिभाव होगा।

अच्छा, इष्ठ आदि परे रहने पर प्रकृतिभाव का क्या उदाहरण है? प्रेयान्, प्रेष्ठः। ['प्रियस्थिर...' (६.४.१५७) से विहित] 'प्र' आदेश के असिद्ध होने से [यस्येति लोप] नहीं होगा। अच्छा तो फिर श्रेयान्, श्रेष्ठः। [यहाँ ईयसुन् परे रहने पर प्रशस्य के स्थान में 'प्रशस्यस्य श्रः' (५.३.६०) से श्र आदेश। यह आदेश असिद्ध अधिकार के अन्तर्गत नहीं है। अतः असिद्ध न होने से यस्येति लोप की प्राप्ति होने पर प्रकृतिभाव-विधान सार्थक है।]

वा०—प्रकृत्यैकाच् इष्ठ आदि परे होने पर कहें तो एकाच् के उच्चारण-सामर्थ्य से अवचन से प्रकृतिभाव।

प्रकृत्यैकाजिष्ठेमेयःसु चेत्तन्न। किं कारणम्? एकाच उच्चारणसामर्थ्यादन्तरेणापि वचनं प्रकृतिभावो भविष्यति॥

विन्मतोस्तु लुगर्थं प्रकृतिभावो वक्तव्यः। स्रग्वितरः—स्रजीयान्। स्रग्वितमः—स्रजिष्ठः। स्रुग्वत्तरः—स्रुचीयान्। स्रुग्वत्तमः—स्रुचिष्ठः॥ ननु च विन्मतोर्लुक् टिलोपं बाधिष्यते? कथमन्यस्योच्यमानमन्यस्य बाधकं स्यात्? असति खल्वपि सम्भवे बाधनं भवति, अस्ति च सम्भवो यदुभयं स्यात्। यथैव खल्वपि विन्मतोर्लुक् टिलोपं बाधते, एवं 'नस्तद्धिते' (१४४) इत्येतमपि बाधेत। यतरो नौ ब्रह्मीयान्। ब्रह्मवत्तर इति॥

भा०—'प्रकृत्यैकाच्' सूत्र इष्ठ आदि परे होने पर [प्रकृतिभाव के विधान के लिये कहें तो] यह ठीक नहीं। क्या कारण है? एकाच् के उच्चारण-सामर्थ्य से वचन के बिना प्रकृतिभाव हो जाएगा। [श्र आदि आदेशों में अन्तिम अकार श्रवणार्थ प्रतिज्ञात है उच्चारणार्थ नहीं। यदि उसका लोप हो तो वह अकारकरण व्यर्थ होने लगेगा। अतः लोप की प्राप्ति न होने से उसका प्रकृतिभाव-करण अनावश्यक है।]

विन् मत् का लुक् करने पर प्रयोजन है जिसका, इस प्रकार का प्रकृतिभाव [टिलोप के लिये] कहना चाहिये। [यहाँ लुगर्थम् में बहुव्रीहि असमर्थ समास है।] 'सग्वितरः' अर्थ में स्रजीयान्...। [यहाँ स्रग्वी शब्द से ईयसुन् के पश्चात् 'विन्मतोर्लुक्' (५.३.६५) से विन् का लोप होने पर 'टेः' (६.४.१५५) से टिलोप पाता है, इसके लिये प्रकृतिभाव आवश्यक होगा।]

क्यों, यहाँ 'विन्मतोर्लुक्' यह टिलोप का बाधन कर लेगा?

अन्य को कहा कार्य अन्य का बाधक किस प्रकार हो जाएगा? [विन् मतुप् को कहा गया लुक् विन्मतुबन्त को प्राप्त टिलोप का बाधक हो सकता है। विन् के लुक् के पश्चात् प्राप्त टिलोप का वह किस प्रकार बाधन कर सकता है? अन्य (क) के स्थान में कहा गया (च) कार्य अन्य (ख) के स्थान में होने वाले किसी (छ) कार्य का बाधक नहीं हो सकता। दूसरा तर्क यह है कि] सम्भव न होने पर बाधन होता है। यह सम्भव है कि दोनों [विन्मत् के लुक् के पश्चात् टिलोप भी] हो जावे।

यदि किसी प्रकार इस तरह के बाधन को मान लें, तो भी जिस प्रकार 'विन्मतोर्लुक्' टिलोप को बाधता है, उसी प्रकार 'नस्तद्धिते' को भी बाधने लगेगा? यतरो नौ ब्रह्मीयान्। अर्थ—ब्रह्मवत्तरः। ['अतिशयेन ब्रह्मवान्' इस विग्रह के अनुसार ब्रह्मवत् से ईयसुन्। उसके परे होने पर मतुप् का लुक् कर लेने पर 'नस्तद्धिते' (६.४.१४४) से टिलोप होता है। इस प्रकृतिभाव से उसका भी प्रतिषेध होने लगेगा।]

यत्तावदुच्यते—कथमन्यस्योच्यमानमन्यस्य बाधकं स्यादिति, इदं तावदयं प्रष्टव्यः—यदि तर्हि विन्मतोर्लुग्नोच्येत किमिह स्यादिति ? टिलोप इत्याह। टिलोपश्चेत्, नाप्राप्ते टिलोपे विन्मतोर्लुगारभ्यते, स बाधको भविष्यति। यदप्युच्यतेऽसति खल्वपि सम्भवे बाधनं भवत्यस्ति च संभवो यदुभयं स्यादिति, सत्यपि संभवे बाधनं भवति। तद्यथा—दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयतां तक्रं कौण्डिन्याय, इति सत्यपि संभवे दधिदानस्य तक्रदानं निवर्तकं भवति। एवमिहापि सत्यपि सम्भवे विन्मतोर्लुक् टिलोपं बाधिष्यते। यदप्युच्यते यथैव खल्वपि विन्मतोर्लुक् टिलोपं बाधत एवं नस्तद्धित इत्येतमपि बाधेतेति ? न बाधते। किं कारणम् ? येन नाप्राप्ते तस्य बाधनम्। नाप्राप्ते टिलोपे विन्मतोर्लुगारभ्यते, 'नस्तद्धिते' इत्येतस्मिन्पुनः प्राप्ते चाप्राप्ते च।

यह जो कहा है कि अन्य का कार्य अन्य का बाधक नहीं हो सकता। इस पर पहले यह पूछना चाहिये कि यदि विन्, मत् का लुक् न हो तो यहाँ क्या होगा ? स्पष्टतः टिलोप होगा। यदि टिलोप होगा तो उस टिलोप की अवश्य प्राप्ति में विन्, मत् के लुक् का आरम्भ किया गया है, अतः वह [लुक् टिलोप को] बाध लेगा।

विवरण—स्थिति यह है कि 'स्रजीयान्' में 'स्रग्विन् ईयसुन्' इस दशा में 'विन्मतोर्लुक्' की प्रवृत्ति के अवसर पर भी 'स्रग्विन्' को टिलोप की प्राप्ति है। 'विन्' के लुक् के पश्चात् 'स्रज्' को टिलोप की प्राप्ति है। इस प्रकार विषय भेद से टिलोप की अवश्य-प्राप्ति है। इस स्थिति में येन नाप्राप्ति न्याय से विन्मतोर्लुक् अपवाद होकर विषय-सामान्य में टिलोप का बाधन करेगा। इस प्रकार स्रज् में टिलोप नहीं होगा।

भा०—यह जो कहा है कि सम्भव न होने पर बाधन होता है। यह सम्भव है कि दोनों [विन् मत् का लुक् तथा टिलोप] भी हो जावें।

सम्भव होने पर भी बाधन होता है। जैसे—ब्राह्मणों के लिये दही दो, कौण्डिन्य गोत्र वाले [ब्राह्मण के लिये] मट्ठा परोसो। यहाँ सम्भव होने पर भी दधि-दान तक्र-दान का निवर्तक होता है। इसी प्रकार यहाँ भी विन् मतुप् का लुक् टिलोप को बाध लेगा। [इस न्याय के अनुसार एकवाक्य में विशेष-विधि सामान्य-विधि की बाधिका होती है। चाहे देश-भेद या काल-भेद से सामान्य-विधि सम्भव हो तो भी। यहाँ कौण्डिन्य गोत्र वाला भी ब्राह्मण है। अतः उसे भी दधि-दान सम्भव है। फिर भी ऐसा नहीं होता। इसी प्रकार यहाँ भी लुक् टिलोप को बाध लेगा।]

यह जो कहा है कि जिस प्रकार विन्, मतुप् का लुक् टिलोप को बाधता है, उसी प्रकार 'नस्तद्धिते' को भी बाधेगा। ऐसा बाधन नहीं होता। क्या कारण है ? जिसकी अवश्यप्राप्ति में विधान हो, उसका बाधन होता है। टिलोप की अवश्य प्राप्ति में विन् मतुप् के लुक् का आरम्भ है, 'नस्तद्धिते' की प्राप्ति में भी, अप्राप्ति में भी।

अथवा पुरस्तादपवादा अनन्तरान्विधीन् बाधन्त इत्येवं विन्मतोर्लुक् टिलोपं बाधिष्यते, नस्तद्धित इत्येतन्न बाधिष्यते॥ यदि तर्हि विन्मतोर्लुक् टिलोपं बाधते, पयिष्ठ इति न सिध्यति, पयसिष्ठ इति प्राप्नोति। यथालक्षणमप्रयुक्ते॥

प्रकृत्याके राजन्यमनुष्ययुवानः॥ ३॥

राजन्यमनुष्ययुवानोऽके प्रकृत्या भवन्तीति वक्तव्यम्। राजन्यकम्, मानुष्यकम्, यौवनिका॥

न मपूर्वोऽपत्येऽवर्मणः॥ ६.४.१७०॥

मपूर्वात्प्रतिषेधे 'वा हितनाम्नः' इति वक्तव्यम्। आरोहितो वै हैतनामः। आरोहितो वै हैतनामनः। समानो हैतनामः। समानो हैतनामन इति च॥

ब्राह्मोऽजातौ॥ ६.४.१७१॥

अथवा पूर्व में कहे गये अपवाद अनन्तर या समीप-विधि का बाधन करते हैं, इससे विन्, मतुप् का लुक् टिलोप का बाधन करेगा, 'नस्तद्धिते' का बाधन नहीं करेगा। [इस प्रकार सिद्ध हुआ कि विन् मतुप् का लुक् टिलोप का बाधन कर लेगा, इसके लिये प्रकृतिभाव-विधान की आवश्यकता नहीं है।]

यदि विन्, मतुप् का लुक् टिलोप का बाधन करता है, तो 'पयिष्ठः' सिद्ध नहीं होता, 'पयसिष्ठः' रूप प्राप्त होता है। ['पयस्विन् इष्ठ' इस दशा में विन् का लुक् कर लेने पर टिलोप न होने पर 'अस्' भाग का लोप प्राप्त नहीं होता। समाधान—] शब्द के अप्रयुक्त होने पर लक्षण या सूत्र के द्वारा निर्मिति को मान्य कर लेना चाहिये।

वा०—अक परे रहने पर राजन्य, मनुष्य, युवन् का प्रकृतिभाव।

भा०—अक परे रहने पर राजन्य, मनुष्य,युवन् का प्रकृतिभाव होता है, यह कहना चाहिये। राजन्यकम्, मानुष्यकम् [राजन्य तथा मनुष्य शब्द से 'गोत्रोक्षोष्ट्रो'.. (४.२.३९) से समूह अर्थ में वुञ्। 'आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति' (६.४.१५१) से यलोप की प्राप्ति में इस वार्तिक से प्रकृतिभाव।] यौवनिका ['यूनो भावः' इस अर्थ में 'द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च' (५.१.१३३) से वुञ्। 'नस्तद्धिते' (६.४.१४४) से टिलोप की प्राप्ति में प्रकृतिभाव।]

न मपूर्वोऽपत्येऽवर्मणः॥

भा०—मपूर्व से प्रतिषेध के प्रसङ्ग में 'हितनामन्' से विकल्प से कहना चाहिये। हैतनामः, हैतनामनः...[हितनाम्नोऽपत्यम् इस अर्थ में 'तस्यापत्यम्' (४.१.९२) से अण्। 'अन्' (६.४.१६७) सूत्र से प्राप्त प्रकृतिभाव का इस सूत्र से निषेध होने पर इस वार्तिक से हैतनामनः में एक पक्ष में प्रकृतिभाव।]

ब्राह्मोऽजातौ॥

अथ किमिदं ब्राह्मस्याजातावनो लोपार्थं वचनमाहोस्विन्नियमार्थम्? कथं च लोपार्थं स्यात्कथं वा नियमार्थम्? यदि तावदपत्य इति वर्तते, ततो नियमार्थम्। अथ निवृत्तं ततो लोपार्थम्॥ अत उत्तरं पठति—

ब्राह्मस्याजातौ लोपार्थं वचनम्॥ १॥

ब्राह्मस्याजातौ लोपार्थं वचनं क्रियते। अपत्य इति निवृत्तम्॥

भा०—यहाँ 'ब्राह्म' शब्द का अजाति में अन् के लोप के विधान के लिये वचन है, या नियम के लिये? लोप के विधान के लिये किस प्रकार हो सकता है, नियम के लिये किस प्रकार? यदि 'अपत्ये' की अनुवृत्ति है तो नियम के लिये। यदि निवृत्त है तो लोप के विधान के लिये। ['अपत्ये' की अनुवृत्ति होने पर 'न मपूर्वो...' से प्रकृतिभाव का निषेध होने से टिलोप सिद्ध होने पर पुनः वचन नियमार्थ होगा। अन्य दशा में विधायक होगा।]

विवरण—यहाँ शब्द-व्यवस्था इस प्रकार है—

१. अजाति अपत्य में टिलोप अभीष्ट है—ब्राह्मो नारदः। विधायक पक्ष में अपत्य, अनपत्य में विधान होने से सिद्ध 'अपत्य में हो तो अजाति में ही टिलोप' इस नियम से भी सिद्ध।

२. अजाति अनपत्य में टिलोप अभीष्ट है—ब्राह्मो मुहूर्तः अजाति अनपत्य में टिलोप के विधान से सिद्ध है। नियम पक्ष में सिद्धि नहीं। क्योंकि नियम केवल अपत्य से सम्बन्धित है।

३. जाति अपत्य में टिलोप अभीष्ट नहीं—ब्राह्मणः। विधायक पक्ष में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं। तब 'न मपूर्वोऽपत्येऽवर्मणः' (६.४.१७०) से प्रकृतिभाव का प्रतिषेध होने से टिलोप की प्राप्ति। परन्तु 'अपत्य' में हो तो अजाति में ही (जाति में टिलोप नहीं) इस नियम से सिद्ध।

४. जाति अनपत्य में टिलोप अभीष्ट है—ब्राह्मी ओषधिः। जाति में निवारण करने से विधायक पक्ष में सिद्धि नहीं। नियम के अपत्य में कार्यशील होने से नियम पक्ष में भी सिद्धि नहीं हो पाती।

संक्षेपतः, विधि पक्ष में अपत्य अजाति, अनपत्य अजाति—इन दोनों में सिद्धि होती है। नियम पक्ष में अपत्य जाति, अपत्य अजाति—इनमें सिद्धि हो पाती है। अनपत्य जाति में दोनों दशाओं में सिद्धि नहीं हो पाती। अतः इसके लिये योग-विभाग से सिद्ध करना आवश्यक होता है।

इस सम्पूर्ण तथ्य को महाभाष्य में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

वा०—ब्राह्म का अजाति में लोप के लिए वचन।

भा०—इसके पश्चात् आचार्य कहते हैं—'ब्राह्म' का अजाति में लोप के विधान के लिये वचन है। 'अपत्य' की अनुवृत्ति समाप्त हो गई। [यह सूत्र १.

तत्राप्राप्तविधाने प्राप्तप्रतिषेधः ॥ २ ॥

तत्राप्राप्तस्य टिलोपस्य विधाने प्राप्तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः । ब्राह्मणः ॥

न वा पर्युदाससामर्थ्यात् ॥ ३ ॥

न वा वक्तव्यः । किं कारणम् ? पर्युदाससामर्थ्यात् । पर्युदासोऽत्र भविष्यति ॥ अस्त्यन्यत्पर्युदासे प्रयोजनम् । किम् ? या जातिरेव नापत्यम्—ब्राह्म्योषधिरिति ॥ न वा अत्रेष्यते । अनिष्टं च प्राप्नोतीष्टं च न सिध्यति ॥ एवं तर्ह्यनुवर्ततेऽपत्य इति ।

अजाति अपत्य में तथा २. अजाति अनपत्य में टिलोप के विधान के लिये कार्यशील है। इन उदाहरणों में 'अन्' (६.४.१६७) से प्रकृतिभाव प्राप्त होने पर प्रस्तुत सूत्र लोप का विधान करेगा। इससे ब्राह्मो नारदः तथा ब्राह्मो मुहूर्तः सिद्ध होंगे।]

वा०—अप्राप्त के विधान में प्राप्त का प्रतिषेध।

भा०—तब अप्राप्त के टिलोप का विधान करने पर प्राप्त का प्रतिषेध करना होगा। ब्राह्मणः । ३. जाति अपत्य में टिलोप का अभाव सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि प्रस्तुतः सूत्र जाति अपत्य में कार्यशील नहीं होगा। अपितु 'न मपूर्वोऽपत्येऽवर्मणः' (६.४.१७०) से प्रकृतिभाव का प्रतिषेध होने से 'नस्तद्धिते' (६.४.१४४) से टिलोप की प्राप्ति होगी। उसका प्रतिषेध करना होगा।]

वा०—यह दोष नहीं, पर्युदास-सामर्थ्य से।

भा०—यह दोष नहीं है। क्या कारण है ? पर्युदास-सामर्थ्य से। यहाँ पर्युदास-प्रतिषेध हो जाएगा। [आचार्य का वक्ष्यमाण अभिप्राय यह है कि 'ब्राह्मणः' में योगविभाग करण से टिलोप का प्रतिषेध होगा। इस गूढ अभिप्राय को न समझ कर आचार्यदेशीय का अग्रिम भाष्य है।]

पर्युदास-प्रतिषेध में तो अन्य प्रयोजन है। क्या ? जो जाति अपत्य नहीं है [उसमें टिलोप का निषेध हो जावे।] ब्राह्मी ओषधिः । [आचार्यदेशीय का मानना है कि इस सूत्र से टिलोप विधान का उपयोग यह है कि १. अजाति अपत्य में २. अजाति अनपत्य में टिलोप होवे। पर ४. जाति अनपत्य में टिलोप न होवे। पर वास्तविकता यह है कि जाति अनपत्य में भी टिलोप का निषेध नहीं चाहते, अपितु टिलोप चाहते हैं। अतः अग्रिम भाष्य—]

यहाँ 'अजातौ' यह पर्युदास प्रतिषेध इष्ट नहीं है। अनिष्ट प्राप्त होता है। [जाति अनपत्य में 'ब्राह्मी ओषधिः' में टिलोप का पर्युदास-प्रतिषेध प्राप्त होता है।] इष्ट सिद्ध नहीं होता। [जाति अपत्य में—'ब्राह्मणः' में 'न मपूर्वो...' से प्रकृतिभाव का प्रतिषेध होने से टिलोप की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि विधायक पक्ष में पूर्वोक्त विवरण के अनुसार ३. तथा ४. की सिद्धि नहीं होती।]

अच्छा तो फिर, अपत्य की अनुवृत्ति है। [यहाँ भगवान् भाष्यकार का अभिप्राय

न त्वपत्य इत्यनेन निपातनमभिसंबध्यते। ब्राह्म इति निपात्यतेऽपत्येऽजाताविति। किं तर्हि? प्रतिषेधोऽभिसम्बध्यते—ब्राह्म इति निपात्यतेऽपत्ये जातौ नेति॥

यह नहीं है कि अपत्य की अनुवत्ति होकर नियमार्थ है। विवरण २., ४. में दिखाया जा चुका है कि वहाँ नियम पक्ष में सिद्ध नहीं होता। अतः व्याख्याकारों का यह मानना सर्वथा समुचित है कि अपत्य की अनुवृत्ति लाकर उसे योगविभाग द्वारा 'अजातौ' से सम्बन्धित करते हैं, ब्राह्मः के साथ नहीं। इस प्रकार 'ब्राह्मः' प्रयोग अजाति अपत्य, अजाति अनपत्य दोनों में तथा साथ ही जाति अनपत्य में भी होता है। पश्चात् अजातौ सूत्र के द्वारा प्रसज्य प्रतिषेध से केवल अपत्य जाति में टिलोप नहीं होता। इस तथ्य को इस प्रकार प्रकट करते हैं—]

यहाँ 'अपत्ये' को 'ब्राह्मः' इस निपातन से सम्बन्धित नहीं करते—ब्राह्म निपातन है, अपत्य अजाति में। [ऐसा नहीं करते।] तो फिर किस प्रकार? [अपत्ये का सम्बन्ध अजाति इस] प्रतिषेध के साथ करते हैं—ब्राह्म निपातन है, पर अपत्य जाति में नहीं।

विवेचना का निष्कर्ष—महाभाष्यकार ने यहाँ निम्न तथ्यों की स्थापना की है—

१. अपत्ये की अनुवृत्ति नहीं है। अतः यह सूत्र अजाति अपत्य तथा अजाति अनपत्य दोनों में 'ब्राह्मः' टिलोप वाला रूप निष्पन्न करता है।

२. परन्तु 'अजातौ' कहने से यह दोष उपस्थित होता है कि यह सूत्र जाति अपत्य तथा जाति अनपत्य में कार्यशील नहीं होगा। ऐसी दशा में जाति अपत्य—'ब्राह्मणः' 'न मपूर्वोऽपत्येऽवर्मणः' से प्रकृतिभाव का प्रतिषेध होने से 'नस्तद्धिते' से टिलोपे की प्राप्ति होने से यह इष्ट रूप सिद्ध नहीं होता। साथ ही जाति अनपत्य—ब्राह्मी ओषधि में इस सूत्र की प्रवृत्ति न होने से 'अन्' (६.४.१६७) से प्रकृतिभाव होने से 'ब्राह्मणी ओषधिः' यह अनिष्ट रूप प्राप्त होता है।

३. इस दोष के निवारण के लिये योगविभाग किया है—१. 'ब्राह्मः' सूत्र से १. अपत्य अजाति, २. अनपत्य अजाति तथा साथ ही सामान्य विधान होने से ४. अनपत्य जाति में भी टिलोप करेगा। २. 'अजातौ' सूत्र प्रसज्य प्रतिषेध द्वारा तथा 'अपत्ये' की अनुवृत्ति द्वारा १. अपत्य जाति में टिलोप का प्रतिषेध करेगा। इससे ब्राह्मणः सिद्ध होगा।

इस प्रकार 'ब्राह्मणः' शब्द में 'ब्रह्मन् अण्' इस दशा में पहले 'अल्लोपोऽनः' (६.४.१३४) से अकार लोप प्राप्त, उसका 'न संयोगाद् वमन्तात्' (६.४.१३७) से प्रतिषेध। पुनः 'नस्तद्धिते' (६.४.१४४) से टिलोप प्राप्त। उसका 'अन्' (६.४.१६७) सूत्र से प्रकृतिभाव द्वारा प्रतिषेध। पुनः 'न मपूर्वो...' (६.४.१७०) से प्रकृतिभाव का प्रतिषेध होने से टिलोप की प्राप्ति। पुनः 'अजातौ' द्वारा अपत्य जाति में टिलोप का प्रतिषेध होने से 'ब्राह्मणः' शब्द सिद्ध होता है। सचमुच ब्राह्मण के साथ-साथ 'ब्राह्मण' शब्द बनना भी आसान नहीं है।

कार्मस्ताच्छील्ये ॥ ६.४.१७२ ॥

किमर्थमिदमुच्यते, न 'नस्तद्धिते' (१४४) इत्येव सिद्धम्? न सिध्यति। 'अन्' अणीति प्रकृतिभावः प्रसज्येत। अणीत्युच्यते, णश्चायम्॥ एवं तर्हि सिद्धे सति यन्निपातनं करोति, तज्ज्ञापयत्याचार्यः—'ताच्छीलिके णेऽण्कृतानि भवन्ति' इति। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्? चौरी, तापसीत्यणन्तादितीकारः सिद्धो भवति॥

दाण्डिनायनहास्तिनायनाथर्वणिकजैह्माशिनेयवासिनायनिभ्रौणहत्यधैवत्यसारवैक्ष्वाकमैत्रेयहिरणमयानि ॥ ६.४.१७४ ॥

अत्र भ्रौणहत्ये किं निपात्यते? यकारादौ तद्धिते तत्वं निपात्यते।

कार्मस्ताच्छील्ये ॥

भा०—यह ['कार्मः' निपातन] किसलिये कहा है? क्या 'नस्तद्धिते' से ही [टिलोप] सिद्ध नहीं है? ['कर्म शीलम् अस्य' विग्रह के अनुसार 'छत्रादिभ्यो णः' (४.४.६२) से ण करने पर टिलोप सिद्ध है।] नहीं सिद्ध होता। अण् परे रहने पर विहित 'अन्' सूत्र से प्रकृतिभाव प्राप्त है।

सूत्र में 'अण्' प्रत्यय परे रहने पर कहा है। यहाँ तो ण परे है। अच्छा तो फिर इस टिलोप के सिद्ध होने पर भी जो निपातन करते हैं, उससे आचार्य ज्ञापित करते हैं कि 'तच्छील में विहित ण में अण् कृत कार्य हो जाते हैं।' इसके ज्ञापन में क्या प्रयोजन है? चौरी, तापसी में अणन्त से विहित ईकार सिद्ध हो जाता है। ['चुरा शीलमस्य' विग्रह के अनुसार पूर्वोक्त से ण होकर 'टिड्ढाणञ्...' (४.१.१५) से ङीप्।]

दाण्डिनायनहास्तिनायनाथर्वणिक० ॥

भा०—यहाँ 'भ्रौणहत्य' में क्या निपातन है? यकारादि तद्धित परे रहने पर अङ्ग के अन्तिम अल् को तकारादेश का निपातन है। ['भ्रूणघ्नो भावः' इस विग्रह के अनुसार 'भ्रूणहन्' शब्द से 'गुणवचन-ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' (५.१.१२४) से ष्यञ्। इसके परे रहने पर प्रस्तुत निपातन से तकार आदेश।]

विशेष—'भ्रूणहन्' शब्द 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्' (३.२.८७) से क्विप् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न होता है। इस शब्द का अलग से विधान यह प्रकट करता है कि 'भ्रूणवध' करने वाले की निन्दित रूप में सविशेष प्रसिद्धि थी। सभी संस्कृतियों में इसे निन्दित रूप में देखा जाता था। गौतम बुद्ध ने पाली में 'भुनहा' कहते हुए इसकी निन्दा की है। फिर भी कभी-कभी गर्भपात कराना ही पड़ता था। उस समय बहुत ही असुरक्षित उपाय से इसे सम्पादित किया जाता था। इसे निन्दितत्व के प्रतीक के रूप में देखा जाता था। यहाँ भ्रौणहत्य यह विशिष्ट प्रयोग निन्दा की पहचान को प्रस्तुत करता है।

भ्रौणहत्ये तत्वनिपातनानर्थक्यं सामान्येन कृतत्वात्॥ १॥

भ्रौणहत्ये तत्वनिपातनमनर्थकम्। किं कारणम्? सामान्येन कृतत्वात्। सामान्येनैवात्र तत्वं भविष्यति—'हनस्तोऽचिण्णलोः' (७.३.३२) इति॥

ज्ञापकं तु तद्धिते तत्वप्रतिषेधस्य॥ २॥

एवं तर्हि ज्ञापयत्याचार्यः—न तद्धिते तत्वं भवतीति। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्? भ्रौणघ्नः, वार्त्रघ्न इत्यत्र तत्वं न भवति॥

ऐक्ष्वाकस्य स्वरभेदान्निपातनं पृथक्त्वेन॥ ३॥

ऐक्ष्वाकस्य स्वरभेदान्निपातनं पृथक्त्वेन कर्तव्यम्। ऐक्ष्वाकः, ऐक्ष्वाकः॥

एकश्रुति निर्देशात्सिद्धम्। एकश्रुतिः स्वरसर्वनाम, यथा नपुंसकं लिङ्गसर्वनाम॥

वा०—भ्रौणहत्य में तत्व निपातन का आनर्थक्य, सामान्य से कृत होने से।

भा०—भ्रौणहत्य में तत्व का निपातन अनर्थक है। क्या कारण है? सामान्य से सम्पादित होने से। यहाँ सामान्य सूत्र से तत्व हो सकता है 'हनस्तोऽचिण्णलोः' सूत्र से।

वा०—तद्धित में तत्व-प्रतिषेध का ज्ञापक।

भा०—अच्छा तो फिर, आचार्य ज्ञापित करते है कि तद्धित परे रहने पर तत्व नहीं होता। [इससे 'धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्यये कार्यविज्ञानम्' यह परिभाषा ज्ञापित होती है। परिभाषा का अर्थ यह है कि सूत्र में धातु के स्वरूप का ग्रहण करने पर उस धातु से विहित प्रत्यय परे रहने पर ही कार्य होता है। भ्रौणहत्य में भ्रूणहन् से ष्यञ् विहित है। अग्रिम 'भ्रौणघ्नः' में भ्रूणहन् से विहित अण् परे होने से तत्व नहीं होता।] इसके ज्ञापन में क्या प्रयोजन है? भ्रौणघ्नः, वार्त्रघ्नः, यहाँ तत्व नहीं होता।

वा०—'ऐक्ष्वाक' शब्द का स्वर-भेद से अलग-अलग निपातन करना चाहिये। ऐक्ष्वाकः, ऐक्ष्वाकः। [प्रथम 'ऐक्ष्वाकः' शब्द 'इक्ष्वाकोरपत्यम्' विग्रह के अनुसार 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्' (४.१.१६८) सूत्र से अञ्। उकारलोप का निपातन। प्रत्यय के ञित् होने से आद्युदात्त। यह इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न होने वाले को अभिहित करता है। द्वितीय 'ऐक्ष्वाकः' शब्द 'इक्ष्वाकुषु जातः' अर्थात् इक्ष्वाकु देश में उत्पन्न कोई भी मनुष्य अर्थ में 'ओर्देशे ठञ्' (४.२.११९) से ठञ् की प्राप्ति में उसे बाध कर 'अवृद्धादपि बहुवचनविषयात्' (४.२.१२५) से वुञ् की प्राप्ति में उसे बाध कर 'कोपधादण्' (४.२.१३२) से अण्। प्रत्यय उदात्त। इन भिन्न स्वर वाले दो शब्दों का सूत्र में सङ्ग्रह न हो पाने से यह वार्तिक।]

भा०—एकश्रुति-निर्देश से सिद्ध है। एकश्रुति का अर्थ स्वर का सामान्य होना है, अर्थात् सभी अर्थों के लिये एक ही स्वर होना है। जिस प्रकार 'नपुंसक' लिङ्ग सामान्य का द्योतक है।

अथ मैत्रेये किं निपात्यते?

मैत्रेये ढञि यादिलोपनिपातनम्॥ ४॥

मैत्रेये ढञि यादिलोपो निपात्यते॥ इदं मित्रयुशब्दस्य चतुर्ग्रहणं क्रियते— गृष्ट्यादिषु प्रत्ययविध्यर्थं पाठः क्रियते। द्वितीयेऽध्याये यस्कादिषु लुगर्थं

विशेष—यहाँ 'एकश्रुतिः' शब्द का स्वर-सामान्य अर्थ में प्रयोग किया है। महर्षि पाणिनि ने 'एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ' (१.२.३३) आदि से एक विशेष दशा में इस एकश्रुति का विधान किया है। यहाँ महर्षि पतञ्जलि ने इन शब्दों को भी एकश्रुति में सम्मिलित करते हुए माना कि उदात्त आदि स्वर अभेदक भी होते हैं। वैदिक युग में नियमित रूप से स्वरभेद से अर्थभेद तथा शब्दभेद था। पर महाभाष्यकार युग में यह व्यवस्था शिथिल हो चली थी। अतः उन्होंने दो अलग-अलग स्वर वाले शब्दों को एकश्रुति के अन्तर्गत मानते हुए एक ही शब्द में दोनों के सम्मिलन की सूचना दी है। इस तथ्य को भगवान् भाष्यकार ने 'वृद्धिरादैच्' (१.१.१) सूत्र में गुणों को अभेदक मानते हुए (अभेदका गुणाः से) प्रकट किया है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि अष्टाध्यायी के सूत्र एकश्रुति स्वर-सामान्य या अभेदक रूप से परिपठित हैं।

इस प्रसङ्ग में 'नपुंसक' का प्रस्तुत उदाहरण उनके द्वारा 'स्त्रियाम्' (४.१.३) सूत्र में मान्य सिद्धान्त के अनुसार प्रदान किया है। वहाँ आविर्भाव, तिरोभाव की सामान्य स्थिति वाले को अथवा इन दोनों स्थितियों की अविवक्षा वाले को नपुंसक माना है। जैसे मित्रम्, कलत्रम् जैसे शब्दों में क्रमशः आविर्भाव तथा तिरोभाव होने पर भी उन्हें अविवक्षित करते हुए, लिङ्ग-सामान्य के रूप में प्रस्तुत करते हुए इन शब्दों को नपुंसक लिङ्ग स्वीकार किया जाता है।

भा०—अच्छा, मैत्रेय में क्या निपातन है?

वा०—मैत्रेय में यादि-लोप का निपातन।

भा०—मैत्रेय शब्द में ढञ् परे रहने पर यकार आदि वाले अक्षर-समूह के लोप का निपातन है। [मित्रयोरपत्यम्' विग्रह के अनुसार 'गृष्ट्यादिभ्यश्च' (४.३.१३६) से ढञ्। 'मित्रयु एय' इस दशा में 'ओर्गुणः' (६.४.१४६) के गुण का अपवाद 'ढे लोपो...' (६.४.१४७) से लोप की प्राप्ति होने पर उसका अपवाद 'केकय-मित्रयु...' (७.३.२) से यादि को इयादेश प्राप्त होने पर प्रस्तुत सूत्र से लोप का निपातन है। इससे लोप होने पर 'मैत्र एय' इस दशा में इस लोप के असिद्ध होने से यस्येति लोप नहीं होता। तब 'अतो गुणे' (६.१.९७) से पररूप होकर 'मैत्रेय' सिद्ध होता है।

[प्रसङ्गान्तर—] यह मित्रयु शब्द का चार बार पाठ किया गया है—गृष्ट्यादि-गण में [ढञ्] प्रत्यय-विधि के लिये। [ताकि मैत्रेयः बन सके] द्वितीय अध्याय में ['यस्कादिभ्यो गोत्रे' (२.४.६३) के अन्तर्गत यस्कादि-गण में [बहुवचन में

ग्रहणं क्रियते। सप्तमेऽध्याय इयादेशार्थम्। इदं चतुर्थं यादिलोपार्थम्। द्विर्ग्रहणं शक्यमकर्तुम्। बिदादिषुअञि प्रत्ययविध्यर्थं पाठः कर्तव्यः। तत्र नैवार्थो लुका नापि यादिलोपेन। इयादेशेनैव सिद्धम्॥ नैवं शक्यम्। इह हि— मैत्रेयकः सङ्घ इति 'सङ्घाङ्कलक्षणेष्वञ्यञिञामण्' (४.३.१२७) इत्यण् प्रसज्येत॥

प्रत्यय के] लुक् के लिये शासन किया गया है। [ताकि 'मित्रयवः' सिद्ध हो सके।] सप्तम अध्याय में ['केकयमित्रयु...' सूत्र में यादि के स्थान में] इय आदेश करने के लिए। [ताकि इससे ढञ् से अन्य प्रत्यय परे रहने पर इय आदेश हो सके। इससे 'मित्रयोरिदम्' विग्रह के अनुसार 'मित्रयु+अ' इस दशा में इय आदेश होकर 'मैत्रेयम्' बनता है।] यह चौथा [ढञ् परे रहने पर यादि लोप के लिये] प्रस्तुत सूत्र में मैत्रेय का ग्रहण है।

यहाँ दो बार न कहें तो काम चल सकता है। मित्रयु शब्द से अञ् प्रत्यय परे रहने पर कार्य करने के लिये अञ् प्रत्यय के विधान के लिये बिदादि-गण में मित्रयु का पाठ करना चाहिये। ऐसा करने पर न तो लुक् की, न ही यादिलोप की आवश्यकता होगी। इय आदेश से ही सिद्ध हो जाएगा।

विवरण—इस प्रस्तावित परिस्थिति के द्वारा सभी कार्य निम्न प्रकार से सम्पादित किये जाते हैं—

शब्द	**सूत्रकार द्वारा प्रोक्त परिस्थिति**	**महाभाष्यकार द्वारा प्रस्तावित परिस्थिति**
१. मैत्रेयः	मित्रयु से गृष्ट्यादिगण में पाठ द्वारा ढञ्। प्रस्तुत सूत्र से यादिलोप	मित्रयु से बिदादिगण में पाठ द्वारा 'अनृष्यानन्तर्ये...' (४.१.१०४) सूत्र से अञ्। 'केकयमित्रयु' से यादि के स्थान में इय आदेश यादिलोप की आवश्यकता नहीं।
२. मित्रयवः	मित्रयु से पूर्वोक्त से ढञ् 'यस्कादिभ्यो गोत्रे' से ढञ् का लुक्	मित्रयु से पूर्वोक्त से अञ् 'यञञोश्च' (२.४.६४) से अञ् लुक्, ढञ् के लुक् की आवश्यकता नहीं।
३. मैत्रेयम्	मित्रयु से अण् 'केकयमित्रयु...' से यादि के स्थान में इय आदेश।	मित्रयु से अण् 'केकयमित्रयु...' से यादि के स्थान में इय आदेश।

भा०—यह सम्भव नहीं है। यहाँ—मैत्रेयकः सङ्घ में 'सङ्घाङ्क...' से अण् की प्राप्ति होगी। [यहाँ सूत्रकार द्वारा प्रोक्त दिशा के अनुसार 'मित्रयूणां सङ्घः' यह

हिरण्मये किं निपात्यते?

हिरण्मये यलोपवचनम्॥ ६॥

हिरण्मये यलोपो निपात्यते। हिरण्मयं कलशं बिभर्षि॥

अथ हिरण्यये किं निपात्यते?

हिरण्ययस्य च्छन्दसि मलोपवचनात्सिद्धम्॥ ७॥

हिरण्यये छन्दसि मलोपो निपात्यते। हिरण्ययी नौरभवत्। हिरण्ययाः पन्थान आसन्। हिरण्ययमासनम्॥

इति पातञ्जलमहाभाष्ये षष्ठाध्यायस्य चतुर्थपादे चतुर्थमाह्निकम्॥ पादश्च समाप्तः॥

॥ षष्ठोध्यायः समाप्तः॥

—०—

विग्रह रखते हुए ढञन्त 'मैत्रेय' शब्द से 'गोत्रचरणाद् वुञ्' (४.३.१२६) से वुञ् करते समय 'गोत्रेऽलुगचि' (४.१.८९) से पूर्वोक्त ढञ् का अलुक् हो जाता है। इससे मैत्रेयकः सङ्घः' सिद्ध होता है। परन्तु यदि महाभाष्यकार की प्रस्तावित दिशा के अनुसार मित्रयु से अञ् प्रत्यय करें तो इस अञ् प्रत्ययान्त से वुञ् नहीं हो सकेगा। अपितु इसके अपवाद 'सङ्घाङ्क...' (४.३.१२७) की प्राप्ति होगी। इससे 'मैत्रेयकः' नहीं बन सकेगा। अतः सूत्रकार का न्यास समुचित है।]

हिरण्मय में क्या निपातन है?

वा०—हिरण्मय में यलोपवचन।

भा०—हिरण्मय में यलोप निपातन है। हिरण्मयं कलशं बिभर्षि। (=सम्पूर्ण सोने के घड़े को धारण करते हो।) ['हिरण्यस्य विकारः' विग्रह के अनुसार 'मयड् वैतयोः...' (४.३.१४३) से मयट् परे रहने पर निपातन से यलोप।]

अच्छा हिरण्यय में क्या निपातन है?

वा०—हिरण्यय में छन्द में मलोप-वचन से सिद्ध।

भा०—हिरण्यय में छन्द में [प्रत्यय का] मलोप निपातित है। हिरण्ययी नौरभवत् (=सोने की नाव बनी)।... आदि।

—०—

रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा
प्रकाशित और प्रसारित प्रामाणिक ग्रन्थ

१. **वर्णोच्चारण**-शिक्षा-ऋषि दयानन्द ६.००
२. **शिक्षासूत्राणि**-आपिशल-पाणिनीय-चान्द्र १५.००
३. **पाणिनीय-शिक्षा**-पं० उदयनाचार्य ३०.००
४. **शिक्षा-शास्त्रम् (शिक्षातत्त्वालोकभाष्योपेतम्)** पं० उदयनाचार्य २५०.००
५. **निघण्टु-निर्वचनम्**-देवराजयज्वाकृत २००.००
६. **निरुक्त-श्लोकवार्त्तिकम्**-नीलकण्ठ ३५०.००
७. **निरुक्त-समुच्चय**-वररुचिकृत ३०.००
८. **अष्टाध्यायीसूत्रपाठः** २०.००
९. **अष्टाध्यायीसूत्रपाठः** (गुटका-आकार) २०.००
१०. **अष्टाध्यायीसूत्रपाठः** (यतिबोधयुक्तः) ५०.००
११. **अष्टाध्यायीभाष्य**- (संस्कृत-हिन्दी) प्रथमभाग- २५०.००, द्वितीयभाग-२००.००, तृतीयभाग-२५०.००
१२. **माधवीया-धातुवृत्ति**-आचार्य सायण रचित धातुपाठ की प्रामाणिक व्याख्या-सं०- डॉ० विजयपाल विद्यावारिधि ६५०.००
१३. **पारिभाषिकः**-व्याख्याकार-आचार्य प्रद्युम्न (व्याकरण की परिभाषाओं की प्रामाणिक व्याख्या) १००.००
१४. **काशिका-वामनजयादित्य**-सं०- डॉ० विजयपाल विद्यावारिधि ७००.००
१५. **भागवृत्तिसंकलनम्-अष्टाध्यायीवृत्ति** ३०.००
१६. **महाभाष्य**-यु०मी०कृत हिन्दीव्याख्यासहित- प्रथमभाग (१) २००.००, (२) २००.००, द्वितीयभाग २००.००, तृतीयभाग ३००.००
डॉ० सुद्युम्न आचार्य कृत हिन्दीव्याख्यासहित- चतुर्थभाग २००.००, पञ्चमभाग २००.००, षष्ठभाग २००.०० ५०.००
१७. **कात्यायन गृहसूत्र**- यु० मी० ३०.००
१८. **धातुपाठः** (धातुसूचीसहित) १७०.००
१९. **क्षीरतरङ्गिणी** (धातुपाठ-व्याख्या) अप्राप्य
२०. **धातुप्रदीप**-धातुपाठवृत्ति-मैत्रेयरक्षित ७०.००
२१. **संस्कृत-धातु-कोष**-यु० मी० ३०.००
२२. **संस्कृत-वाक्य प्रबोध**-ऋषि दयानन्द
२३. **संस्कृत-पठन-पाठन की अनुभूत सरलतमविधि** प्रथमभाग ९०.००, द्वितीयभाग ११०.००

	प्रथमभाग का अंग्रेजी अनुवाद	२००.००
२४.	**उणादिकोष**-ऋषि दयानन्द	१००.००
२५.	**गणरत्नावली**-भट्टयज्ञेश्वरकृत पाणिनीय गणपाठ की व्याख्या- सं०-चन्द्रदत्त शर्मा	अप्राप्य
२६.	**वामनीयं लिङ्गानुशासनम्**	अप्राप्य
२७.	**दैवं पुरुषकार-वार्त्तिकोपेतम्**	५०.००
२८.	**अष्टाध्यायीशुक्लयजुः प्रातिशाख्ययोर्मतविमर्शः- डॉ० विजयपाल विद्यावारिधि**	१००.००
२९.	**शब्दरूपावली**-विना रटे स्मरण करने योग्य	३०.००
३०.	**पिङ्गलनागछन्दोविचितिभाष्यम्**-यादव प्रकाश विरचित	६०.००
३१.	**बौधायन-श्रौतसूत्रम्**- (दर्शपूर्णमास)	१२०.००
३२.	**बौधायन-श्रौतसूत्रम्** (संस्कृत) आधान प्रकरण की व्याख्या एवं पद्धति सहित	८०.००
३३.	**दर्शपूर्णमास-पद्धति**- पं० भीमसेन	५०.००
३४.	**श्रौतपदार्थनिर्वचनम्** (संस्कृत)	१५०.००
३५.	**श्रौतयज्ञ-मीमांसा**-(संस्कृत-हिन्दी)	१००.००
३६.	**अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त श्रौतयज्ञों का संक्षिप्त परिचय**-	१२०.००
३७.	**यजुर्वेद का स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ समीक्षा**-	४०.००
३८.	**शतपथ ब्राह्मणस्थ अग्निचयनसमीक्षा**- पं० विश्वनाथ वेदालंकार	१००.००
३९.	**संस्कार-विधि**- ऋषि दयानन्द कृत	४०.००
४०.	**संस्कार-भास्कर**- स्वामी विद्यानन्द सरस्वती कृत संस्कार-विधि की व्याख्या	२००.००
४१.	**संस्कार-विधि-मण्डनम्**-पं० रामगोपाल	३०.००
४२.	**वेदोक्त-संस्कारप्रकाश**-पं० बाला जी विट्ठल गावस्कर कृत मराठी का हिन्दी अनुवाद	७०.००
४३.	**वैदिक-नित्यकर्मविधि**- (पञ्चमहायज्ञविधि के मन्त्रों की पदार्थ व भावार्थ सहित व्याख्या)	४०.००

पुस्तक-प्राप्ति-स्थान

रामलाल कपूर ट्रस्ट,

रेवली, पो०-ई० सी० मुरथल, सोनीपत (हरियाणा) पिन-१३१०३९

दूरभाष सं०- 7082111456 E-mail- rlktrust@yahoo.in

व्याख्याकार का परिचय
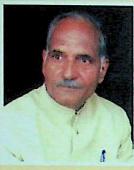
जन्म एवं शिक्षा– डॉ० सुद्युम्न का जन्म ९ जनवरी, सन् १९४६ में कोलगवाँ, सतना (मध्यप्रदेश) में एक सामान्य परिवार में श्रीमती हरदेवी आर्या एवं श्री कमला प्रसाद आर्य के यहाँ हुआ। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा गृहनगर में ही हुई। बाल्यकाल से ही आपको संस्कृत के गम्भीर अध्ययन के प्रति प्रेरणा प्राप्त हुई। आपके पिताजी बड़ी उम्र में भी प्रतिदिन अष्टाध्यायी का पारायण करते थे। पाणिनि महाविद्यालय, वाराणसी (वर्त्तमान रेवली) में आपने गुरुवर पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु तथा आचार्य विजयपाल जी विद्यावारिधि के सान्निध्य में लगभग १८ वर्ष तक अनेक वैदिक ग्रन्थों का अध्ययन किया। वाराणसी के ही पं० रामप्रसाद जी त्रिपाठी एवं पं० हरे राम जी शुक्ल जैसे प्रकाण्ड विद्वानों से आपने न्याय, वेदान्त आदि दर्शनों का अध्ययन किया।

आपने सन् १९७० में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से व्याकरणाचार्य (प्रथम श्रेणी), इलाहाबाद वि० वि०, इलाहाबाद से एम.ए. (प्रथम श्रेणी, ६ स्वर्ण तथा २ रजत पदक विजेता), इलाहाबाद वि० वि० से ही डी.फिल. की उपाधि प्राप्त की।

अध्यापन– आपने सन् १९६५-१९७० के वर्षों में गुरुकुल म० वि०, रुद्रपुर (उ०प्र०) में वेद, व्याकरण, दर्शनादि का अध्यापन किया तथा सन् १९७५ से २० जून सन् २००८ तक स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग मु०म० टाउन, पी.जी. कॉलेज, बलिया (उ०प्र०) में बी.ए., एम.ए. कक्षाओं के विषय तथा शोध कक्षाओं का अध्यापन किया। अनेक छात्रों ने आपके निर्देशन में शोध कार्य किया है।

आपकी बड़ी बहिन स्व० डॉ० प्रज्ञादेवी जी आर्यजगत् की सुविख्यात वेदविदुषी थीं। इसी प्रकार आपकी छोटी बहिन वेदविदुषी आचार्या मेधादेवी जी भी वाराणसी में पाणिनि कन्या महाविद्यालय का कुशल सञ्चालन कर रही हैं। आपकी तीनों पुत्रियाँ भी संस्कृत, विज्ञान आदि विषयों पर अध्ययन-अध्यापन में संलग्न हैं।

लिखित ग्रन्थ– रोचन्तां शब्दभूमयः, राजन्तां दर्शनांशवः, अधिविज्ञानं दर्शनशास्त्रम्, **The glory of the Vedas,** संस्कृत काव्यों के आधार पर बघेलखण्ड का इतिहास, भारतीय दर्शन तथा आधुनिक विज्ञान (५ खण्डों में), गणित शास्त्र के विकास की भारतीय परम्परा आदि।

सम्पादित ग्रन्थ– जगन्नाथ शतक, जगदीश-शतकम् (हिन्दी), वीरभानूदयकाव्यम्, वीरभद्रदेवचम्पूः, अकबरीकालीदासीयं पद्यपुष्पस्तबकम्, निघण्टु-निर्वचनम्, जगदीश- शतकम् (अंग्रेजी), त्रिशतिका अथवा पाटी गणित सार।

इनके अतिरिक्त देश-विदेश की अनेक संगोष्ठियों में शोधपूर्ण निबन्ध-पाठ किये तथा अनेक प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में लेख भी प्रकाशित हुए हैं। अवकाश-प्राप्ति के पश्चात् भी आप वैदिक वाङ्मय के अध्ययन-अध्यापन, लेखन तथा अनुसन्धान में ही अहर्निश प्रयासरत हैं।

सम्मान– प्राच्य विद्या में प्रकाण्ड वैदुष्य के लिए भारत के महामहिम राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित, इसके अलावा उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान द्वारा आठ बार, मध्यप्रदेश संस्कृत अकादमी द्वारा दो बार, दिल्ली संस्कृत अकादमी द्वारा अखिल भारतीय पुरस्कार से सम्मानित हुए हैं। इसके अलावा आर्यसमाज सान्ताक्रुज द्वारा वेद वेदाङ्ग पुरस्कार एवं पं० गङ्गा प्रसाद उपाध्याय द्वारा भी सम्मानित हुए हैं। आप देश तथा विदेश के अनेक सम्मेलनों में सभापतित्व कर चुकें हैं तथा सम्मान प्राप्त कर चुके हैं।

आवरण सज्जा : श्रीमहालक्ष्मी; ९८९९६५१५०३
E-mail : smcolour@gmail.com